दिल्ली आर्यप्रतिनिधि सभा का साप्ताहिक मुखपत्र

एक प्रति ३५ पैसे, वार्षिक १५ रुपये वर्ष ४ अंक २ रविवार, २ नवम्बर १९८० दयानन्दाब्द १५६

# आकर्षक शोभायात्रा : सामूहिक यज्ञ : वेद सम्मेलन : दिल्ली में आर्यसमाजों के उत्सवों की धूम

आर्यसमाज मोतीनगर का वार्षिकोत्सव बहुत धूमधाम से मनाया गया। इस वार्षिकोत्सव का सबसे बडा आकर्षण शोभायात्रा (जुलूस) था। २६ अक्तूबर को यह शोभायात्रा मोतीनगर, कीर्ति नगर, रमेश नगर, राजा गार्डन, बसई दारापुर, सुदर्शन पार्क, के क्षेत्रो मे होती हुई पुन. मोतीनगर आर्यसमाज मे आकर समाप्त हुई। यह जूलूस लगभग एक किलोमीटर लम्बा था और २-३० बजे मोतीनगर से शुरू होकर सायं ६-३० बजे इन उपनगरो की परिक्रमा करके समाप्त हुआ। इस क्षेत्र के लोगो ने इस शोभायात्रा के सम्बन्ध मे यह विचार प्रकट किया कि इससे पहले कभी इस प्रकार का जुलूस इस क्षेत्र मे नही निकला।

इस शोभायात्रा की विशेषता यह थी कि इसमे हाथियो, उनके पीछे घुडसवारो, जीपो, टैम्पू, ट्रको और बसों ने भाग लिया। इनके बीच-बीच आर्यजनो की टोलिया पैदल चल रही थी, जिनके मस्ती भरे गीतो ने वातावरण को बहुत ही उत्साहजनक बना रखा था। रमेशनगर के युवको की टोली ने गीतो का जो समा बाध रखा था उसका आकर्षण सबसे अधिक रहा। इसके साथ ही कन्या गुरुकुल राजेन्द्रनगर, श्रद्धानन्द बाल विद्यालय आर्यनगर पहाड गज, मुलतान डी०ए०वी स्कूल पटेलनगर के कार्यक्रमो और बच्चो के बैण्ड और बासुरी वादन ने भी इस शोभायात्रा की शोभा और अधिक बढाई।

इस शोभायात्रा मे पश्चिमी दिल्ली उपसभा की आर्यसमाजो ने विशेष रूप से योगदान दिया। दिल्ली की अन्य समाजों ने भी अपने प्रतिनिधि इस जुलूस मे सम्मिलित होने के लिए भेजे। शोभायात्रा मे सम्मिलित होने वाली आर्य समाजो के नाम हैं :—आर्यसमाज मोती नगर, सुदर्शन पार्क, कीर्तिनगर, रमेशनगर, बसई दारापुरा, न्यू मोतीनगर, कर्मपुरा, पश्चिमपुरी जनता क्वाटर, टैगोर गार्डन, तिलकनगर, पटेलनगर, राणा प्रतापबाग, सुभाषनगर और बिरला लाईन्स।

इस सारी शोभायात्रा के आयोजन का श्रेय पश्चिमी क्षेत्र की उपसभा के मन्त्री प्रो० भारत मित्र जी को है। वे दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के उपमन्त्री भी हैं। इस शोभायात्रा मे दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा का प्रतिनिधित्व सभा मन्त्री प० विद्यासागर विद्यालकार कर रहे थे।

वार्षिकोत्सव के उपलक्ष मे आर्य समाज मोतीनगर मे एक सप्ताह तक ईशावास्योपनिषद् का यज्ञ हुआ। २६ अक्तूबर को ही इस यज्ञ की पूर्णाहुति हुई। यज्ञ के बाद स्वामी वेदानन्द जी महाराज उपनिषद् के मन्त्रो की बडे सरल और सरस ढग से व्याख्या करते रहे। सायकाल स्वामी जी महाराज वेदो का प्रवचन करते रहे। इसके साथ सभा के भजनोपदेशक श्री सत्यपाल मधुर अपने भजनोपदेशो से कार्यक्रम को रोचक बनाते रहे।

आर्यसमाज देवनगर ने अपने यहा जिस प्रकार से वार्षिकोत्सव मनाया वह अपने आप म बिल्कुल भिन्न प्रकार का और बहुत ही आकर्षक था। इस समाज ने २६ अक्तूबर को वार्षिकोत्सव के उपलक्ष मे पूर्णाहुति के रूप मे १६ यज्ञकुण्डो की स्थापना करके, प्रत्येक यज्ञ कुण्ड पर औसतन दस व्यक्तियो ने निरन्तर आहुति देकर इस यज्ञ-कार्यक्रम को बहुत ही आकर्षक और प्रभावशाली बनाया। यज्ञ के ब्रह्मा अशोककुमार विद्यालकार थे और उनके साथ वेदपाठ मे उनकी सहायता गणेश प्रसाद जी कर रहे थे। १६ यज्ञकुण्डो मे दी गई आहुतियो के कारण आसपास के सारे क्षेत्र का वातावरण न केवल सुगन्धित हो उठा था बल्कि सामूहिक मन्त्रपाठ, 'स्वाहा' की उच्च ध्वनि और 'इदनमम्' के उच्चार के कारण सारा वातावरण गूज रहा था। जिस सुन्दर ढग से वेदपाठ किया जा रहा था वह हमारी वैदिक परम्परा का एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत कर रहा था। यज्ञ के मुख्य यजमान दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सरदारी लाल वर्मा थे। प्रत्येक यज्ञकुण्ड पर दस-दस के परिवारों और आर्यसमाजो के कारण आहुति देने वालो की कुल उपस्थिति दो सौ से अधिक थी। इस यज्ञकार्यक्रम की पूर्णाहुति दर्शनीय थी।

यज्ञ कार्यक्रम के बाद वेद सम्मेलन का आयोजन किया गया। सम्मेलन से पूर्व सार्वजनिक रूप से सभा के प्रधान श्री सरदारीलाल वर्मा का प्रधान पद पर निर्वाचित होने के कारण अभिनन्दन किया गया। आर्यसमाज देवनगर की ओर से उन्हे ५०१/-रुपये की थैली भेंट की गई।

वेद सम्मेलन की अध्यक्षता आर्य विद्वान प० शिवकुमार जी शास्त्री ने की। सम्मेलन के वक्ताओ मे डा० सत्यकाम वर्मा, डा० प्रशान्तकुमार वेदालंकार, श्री ओमप्रकाश शास्त्री, श्री विद्यासागर विद्यालकार थे।

इससे पूर्व सप्ताह भर आर्यसमाज मन्दिर मे श्री अशोककुमार विद्यालकार का प्रतिदिन प्रवचन हुआ। प्रवचन का विषय था 'यज्ञ'। श्री वेदव्यास भजनोपदेशक प्रतिदिन भजनोपदेश करते रहे।

आर्यसमाज बाजितपुर नागल ने भी २० से २६ तक अपना वार्षिकोत्सव मनाया और श्री सत्यदेव भजनोपदेशक ने इस अवसर पर प्रचार किया।

२७ अक्तूबर से २ नवम्बर तक श्री वैद्य रामकिशोर जी आर्यसमाज रोहतास नगर मे प्रवचन करेंगे। उनके साथ भजनोपदेशक श्री वेद व्यास रहेंगे। श्री हरिदेव जी सिद्धान्त भूषण आर्यसमाज दरियागज मे सप्ताह भर कथा करेंगे और यहां भजनोपदेशक श्री सत्यदेव जी प्रचार कार्य करेंगे। आर्यसमाज गोविन्द भठ दयानन्द वाटिका मे श्री अशोक कुमार विद्यालकार का सप्ताह भर का प्रवचन होगा और श्री सत्यपाल जी मधुर भजनोपदेशो द्वारा प्रचार करेंगे। जहांगीरपुरी मे श्री प्रकाशवीर व्याकुल के प्रवचन होगे।

## ऋषि निर्वाण उत्सव : भव्य समारोह

आर्य केन्द्रीय सभा दिल्ली के तत्वावधान मे शुक्रवार ७-११-८० को दीपावली के दिन दिल्ली के रामलीला मैदान मे सभी आर्यसमाजो एव आर्य शिक्षण सस्थाओं की ओर से सामूहिक तौर पर ८ से १२ बजे तक समारोह पूर्वक मनाया जायेगा। यह महर्षि दयानन्द का ९७वा निर्वाण उत्सव होगा।

समारोह की अध्यक्षता वीतराग आर्य सन्यासी स्वामी सर्वानन्द जी महाराज करेंगे। स्वामी जी महाराज दीनानगर पजाब के दयानन्द मठ के आचार्य है। ध्वजारोहण का कार्यक्रम स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती (पूर्व प्रिंसिपल लक्ष्मीदत्त दीक्षित) करेंगे। यज्ञ के ब्रह्मा वैदिक साधन आश्रम तपोवन देहरादून के आचार्य महात्मा दयानन्द होंगे। अनेक आर्यनेता विद्वान, राजनेता महर्षि को श्रद्धाजलि अर्पित करेंगे।

आर्य केन्द्रीय सभा ने आर्यजनों के नाम एक अपील निकाल कर यह अनुरोध किया है कि आर्य बन्धु इस समारोह मे अधिक से अधिक संख्या मे भाग लें।

### इस अंक में



सम्पादक :—वि० सा० विद्यालंकार

श्वेताश्वतरोपनिषद्

# सृष्टि के तीन तत्त्व : ईश्वर, जीव, प्रकृति
# ब्रह्म अभोक्ता : जीव भोक्ता, प्रकृति भोग्या

लेखक :
प्रो० सत्यव्रत सिद्धांतालंकार

३ ब्रह्माड मे । चक्र की, तथा पिंड 'नदी' की कल्पना ।

ब्रह्माड को 'ब्रह्म-चक्र' के रूप में वर्णन करके अब पिंड की एक प्रचंड नदी से तुलना करते हैं । जैसे नदी का जल मानो पाच स्रोतो से फूटता है वैसे शरीर-रूपी नदी की पाचो ज्ञानेन्द्रिया उसके पाच स्रोत है, जिनमे से ज्ञान-रूपी जल फूट पड़ता है—'पचस्रोत अम्बुम्', जैसे नदी के स्रोत की योनि, उसका कारण पहाड वैसे शरीर रूपी नदी के निर्माण मे पाचो महाभूत उसके उद्भव क पहाड है—'पच-योनि', जैसे नदी का वेग कही उग्रवद कही वक्र हो जाता है वैसे मानव-जीवन की प्रवृत्तिया कही तीव्र हो जाती है, कही टेढे-मेढे मार्गो मे चली जाती है—'उग्र वक्रा' जैसे नदी मे तरगे उठा करती है वैसे शरीर रूपी नदी मे पाचो प्राण उसकी तरगें है—'पच प्राण ऊर्मिम्', नदी का आदि-मूल होता है जहा से नदी प्रारम्भ होती है, वैसे मानव-जीवन की जैसे नदी का आदि-मूल शब्द, रूप, रस, गन्ध स्पर्श—ये पाँच प्रकार की बुद्धि हैं—पंचबुद्धि आदि मूलाम्, जैसे नदी मे आवर्त होते है, भवर होते हैं, वैसे जीवन रूपी नदी मे शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श — इन विषय मे डूब जाना भवर है—'पच आवर्ताम्' जैसे नदी मे कभी ज्वार आ जाता है, बाढ आ जाती है, वैसे जीवन रूपी नदी मे गर्व, जन्म, जरा, व्याधि, मरण—इन पाच प्रकार की बाढ आ जाती है—'पच दु ख-ओघ-वेगाम् ।

जैसे नदी को पार करने के पचासो तरीके है वैसे जीवन रूपी नदी को पार करने के भी पचासो तरीके हैं—'पचाशद भेदाम् । ऋषि कहते है कि इस जीवन-नदी को पार करने के मार्गो का आओ अध्ययन करें—अधीम ॥५॥

सबको जीवन देने वाले, सबके पालक—'सर्व आजीवे' सबको अपने मे धारण करने वाले—'सर्व सस्थे' उस महान्—बृहन्ते तस्मिन्' ब्रह्म-चक्र' मे इस जीव रूपी हस को कोई घुमा रहा है—'हस भ्राम्यते ब्रह्म-चक्रे' । जो व्यक्ति अपने को तथा अपने को प्रेरणा देने वाले को पृथक्-पृथक् जान जाता है—'पृथक् आत्मान प्रेरितार च मत्वा' वह उसके साथ प्रेम-भाव उत्पन्न होने पर—'जुष्ट. तत'—उससे अमृतत्व प्राप्त कर लेता है—'तेन अमृतत्वम् एति ॥६॥

**४. ईश्वर, जीव तथा प्रकृति—इन तीन का वर्णन**

जो ऋषि सृष्टि के कारणो के सबध मे चर्चा कर रहे थे वे कहते हैं कि हमने जो कुछ गाया वह परम ब्रह्म का गुणानुवाद किया—'उद्गीतम् एतद् परम तु ब्रह्म' । उस परम-ब्रह्म मे त्रिगुणात्मक प्रकृति तथा अक्षर जीव सुप्रतिष्ठित हैं—'तस्मिन् त्रयं सुप्रतिष्ठित अक्षर च' । ब्रह्मवेत्ता लोग इन तीनो के परस्पर अंतर (भेद) को जान लेने पर—'अत्र अन्तरं, ब्रह्मविदः विदित्वा—ब्रह्म मे लीन होकर, उसमें रम कर—'लीना: ब्रह्मणि तत्परा:' योनि से अर्थात् जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं—'योनि मुक्ताः ॥७॥

अभी कहा कि सृष्टि मे तीन तत्त्व है—प्रकृति, जीव तथा ईश्वर । इनमे से प्रकृतिक्षर भी है अक्षर भी है। 'क्षर' का अर्थ जाने वाली, 'अक्षर' का अर्थ है न खरने वाली है—'संयुक्तं एतत् क्षरम् अक्षरम् च' । प्रकृति व्यक्त भी है, अव्यक्त भी है—उसका क्षर रूप व्यक्त है, अक्षर रूप वाली । प्रकृति इन गुणो से युक्त दोनो अव्यक्त है—'व्यक्ताव्यक्तम्' । इस क्षर अक्षर तथा व्यक्ताव्यक्त प्रकृति का, विश्व का भरण ईश्वर करता है—'भरते विश्व ईशः' । ईश्वर तो सर्वशक्तिमान् है, ईश है आत्मा अनीश है—'अनीशः च आत्मा' । यह आत्मा ससार के विषयो के भोग में पड़ कर ससार के बन्धनों मे बध जाता है, यही उसका बध है—'बध्यते भोक्तृभावात्' । ससार में रम जाने के स्थान में जब वह ब्रह्म देव को जान लेता है—'ज्ञात्वा देवम्'—तब वह बन्धनो के सब पाशों से मुक्त हो जाता है—'मुच्यते सर्वपाशैः' ॥८॥

'ज्ञ' और 'अज्ञ'—ये दो 'अज' है, (अजन्मा) हैं, 'ज्ञ + अज्ञौ द्वौ अजौ' । इन मे से 'ज्ञ'—अर्थात् ज्ञानमय तो ईश है, परमात्मा है, 'अज्ञ' अर्थात् ज्ञानरहित जो है वह 'अनीश' है, जीवात्मा है । इन दो 'अजो' के अतिरिक्त एक तीसरी है 'अजा'—अजा हि एका, जो भोक्ता के भोग्य के लिये लगी हुई है—'भोक्तृ भोग्यार्थयुक्ता' । इस प्रकार तीन अज, अर्थात् अजन्मा है । एक अज परमात्मा है जिसे 'ज्ञ' कहा, 'ईश' कहा; दूसरा अज जीवात्मा है जिसे 'अज्ञ कहा, 'अनीश' कहा, तीसरी प्रकृति है जिसे स्त्रीलिंगी होने के कारण 'अजा' कहा, जीवात्मा की भोग्य कहा । इन तीनों में जो अनन्त है विश्व रूप है, प्रकृति का भोग नही कर रहा, अकर्ता है, वह परमात्मा है—'अनन्त च आत्मा विश्वरूप हि अकर्ता' । जब ज्ञानी इन तीनो को अपने-अपने रूप मे जान लेता है—'त्रय यदा विन्दते—तब समझ लो कि त्रय के यथार्थ रूप को जान लिया—ब्रह्म एतत् ॥९॥

इस सन्दर्भ मे स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्वेताश्वतर उपनिषद् के ये ब्रह्मज्ञानी जो सृष्टि के कारणो के विवेचन की चर्चा कर रहे हैं, सृष्टि-चक्र के तीन कारण मानते हैं—ईश्वर, जीव तथा प्रकृति ।

'प्रधान', अर्थात् प्रकृति 'क्षर' है, खर जाने वाली है—क्षरं प्रधानम्, 'हर' अर्थात् परमेश्वर 'अक्षर है, खर जाने वाला नही है, अमृत है—अमृताक्षर हर' । क्षर (अर्थात् प्रकृति) तथा आत्मा—इन दोनो पर स्वामित्व उसी एक देव परमात्मा का है—'क्षरात्मानौ ईशते देव एक' । उसी देव के ध्यान मे—'तस्य अभिध्यानात्' उसके साथ अपना सम्बन्ध जोड देने से—'योजनात्' अपने को उसी मे मिटा कर उसमे लीन हो जाने से—'तत्वभावात्' तत्पश्चात्—'भूय.' अन्त मे—'अन्ते' यह आत्मा विश्व-माया के बन्धनो से छूट जाता है—'विश्वमाया निवृत्ति. ॥१०॥

क्रमशः

वेदमनन

## सूर्य का अनुगमन

**स्वयंभूरसि श्रेष्ठो रश्मिर्वर्चोदा असि वर्चो मे देहि ।**
**सूर्यस्यावृत मन्वावर्ते ॥ यजु: २-२६**

ऋषि—वामदेव । देवता-ईश्वर सूर्यश्च ।

शब्दार्थ—हे परमेश्व ! (स्वयभू) अनादिस्वरूप और स्वयमेव सब को प्राप्त (रश्मिः) प्रकाशक तथा नियामक हैं, अतएव (श्रेष्ठ असि) ब्रह्माण्ड मे सर्व-श्रेष्ठ हो । आप (वर्चोदा) तेज, प्रकाश, ब्रह्मचर्यम तथा वेदाध्ययन एव ज्ञान को देने वाले हो (असि) हो, अत (मे) मुझे और मेरे पुत्र पौत्रादि को (वर्चः) तेज, प्रकाश, ब्रह्मवर्चस तथा वेदाध्ययन एव ज्ञान (देहि) प्रदान कीजिये । जिसमे (सूर्यस्य) सब को प्रकाश तथा कर्म मे प्रवृत्ति की प्रेरणा देने वाले आपके (आवतम्) मार्ग का (अनु आवृते) अनुगमन कर सकू ।

निष्कर्ष—१. इस मन्त्र का देवता ईश्वर भी है । सूर्य की स्थिति सौरमण्डल मे वही है, जो ब्रह्माण्ड मे ईश्वर की है । इसलिये 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।' यजु: ७-४२ तथा 'ब्रह्म सूर्य सम ज्योति.' यजु: २३-४८ वर्णन हुआ है । सूर्य का प्रकाश भी स्वयभू है, वह सब को प्रकाश तथा प्रेरणा देता है । ईश्वर राष्ट्रपति है तो सूर्य राज्यपाल है ।

२. सूर्य के मार्ग के अनुगमन का अर्थ है—उसके आचरण के अनुसार आचरण करना । क—सूर्य काल (दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष आदि) निर्माण के पालन मे कभी व्यतिक्रम नही करता । ख—वह प्रकाश तथा प्रेरणा देने में किसी के साथ पक्षपात नही करता । कोई पापी हो या धर्मात्मा, रोगी या स्वस्थ, मनुष्य या पशु पक्षी या कीट पतग सबको समान दान देता है । ग—पृथ्वी से जितना जल लेता है उसे सहस्रगुणित करके वर्षा कर देता है । 'सहस्रगुण-मुत्स्रष्टु मा दत्ते हि रम रवि. ।' कालिदास ।

उसी प्रकार वामदेव ऋषि बनने वाले व्यक्ति को भी—

क—समय तथा नियम और व्रत पालन मे पूर्ण बनने का प्रयत्न करना चाहिये ।

ख—सबके साथ समान व्यवहार, सहानुभूति तथा प्रेरणा—रखना व देनी चाहिये । किसी पापी या रोगी से घृणा या उपेक्षा नही करनी चाहिये ।

ग—परमात्मा, राष्ट्र, समाज या कुल मे जितने सुख या सुविधाए मिली हैं, उनको बढाकर उससे अधिक सुख सुविधाए दूसरे को प्रदान करनी चाहिये ।

३ परमेश्वर स्वयभू अर्थात् सबको सदा प्राप्त है । इस बात को जानने और अनुभव करने से मनुष्य जितना चाहे लाभ उठा सकता है । जैसे तजूरी या बैंक मे किसी के खाते मे कितनी ही रकम जमा हो, जब तक उसकी रकम का ज्ञान न हो, उसका उपयोग नही हो सकता; उससे लाभ नही उठाया जा सकता ।

४. वर्च: का अर्थ तेज, ज्ञान तथा ब्रह्मवर्चस तो प्रसिद्ध है । स्वामी दयानन्द ने इसका अर्थ वेदाध्ययन यजु. २-२४ में किया है । वेदाध्ययन द्वारा ही परमेश्वर को स्वयभू समझने की अनुभूति हो सकती है और तभी वह उसके सूर्य रूप का अनुवर्तन कर सकता है ।

स्वयंभू के लिये रश्मि (नियम मे बंधा) होना अनिवार्य है । अन्यथा वह श्रेष्ठ न बनकर अन्यायी, पक्षपाती तथा भयकर बन जाएगा ।

**अर्थ पोषक प्रमाण**—स्वयभू — स्वयं + भू सत्तायाम् भू प्राप्तौ । स्वयं भू: —स्वयं प्राप्त ।

वर्च: वेदाध्ययनम् स्वा० दया० । रश्मिर्यमनार्थ:—स्वामी भगवदाचार्य ।

आवृतम् आवर्तनम् — पन्थानम् । स्वा० भगव० ।

सूर्य.—सुप्रसवैश्वर्ययोः । सु० अभिषवे सू प्रेरणे ।ईश्वरः सूर्यश्च ।

—मनोहर विद्यालंकार

**सम्पादकीय**

# देश के विभाजन की फिर से मांग

आर्य सन्देश के स्तम्भो में इस बात की निरन्तर चर्चा की जाती रही है कि देश मे विघटनवादी तत्व सक्रिय हैं और इसलिए देश की अखडता को खतरा पैदा हो गया है। इसी प्रसग को लेकर पूर्वांचल क्षेत्र के विभिन्न भागो के आन्दोलनो, विद्रोहो और नरसहारो की चर्चा भी समय-समय पर की गई है। यह भी हम विचार व्यक्त कर चुके है कि कश्मीर और हैदराबाद के साम्प्रदायिक दंगे भी इन्ही विघटनवादी तत्वो की योजनाओ के परिणाम थे। मुरादाबाद सम्बन्धी पूरी घटनाओ का विश्लेषण करने के बाद हमारी यह राय है कि यह 'मुस्लिम विद्रोह' का प्रारम्भ था जिसे कुछ विघटनवादी तत्वो ने प्रारम्भ किया था। देश के विघटन के लिए प्रयत्नशील तत्वो की गणना यही समाप्त नही होती। काफी समय से इस सम्बन्ध मे पजाब से जो समाचार मिल रहे हैं वे बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण हैं। पंजाब के साम्प्रदायिक तत्व अब इतने क्रियाशील हो उठे हैं कि उन्होने खालिस्तान के नाम से एक अलग देश की मांग शुरु कर दी है। इससे पजाब के हिन्दुओ मे आतंक का वातावरण बन ही गया है इसके साथ ही देश भर के लिए ही एक गम्भीर समस्या पैदा हो गयी है।

'खालिस्तान' अथवा 'सिक्खिस्तान' बनाने की माग नई नही है। देश के स्वतन्त्र होने के बाद विभाजन के साथ ही दबे शब्दो मे यह माग शुरु हो गयी थी। उस समय पश्चिमी पजाब अर्थात् वर्तमान पाकिस्तान से आने वाले हिन्दू शरणार्थियो को तो हरियाणा, राजस्थान, उत्तरप्रदेश और गुजरात क्षेत्रों मे फैलाकर बसाया गया जबकि वहा से आने वाले सिक्ख शरणार्थियो को योजनाबद्ध रूप से पूर्वी पजाब मे केन्द्रित किया गया। उस समय के पजाब मे योजनाबद्ध तरीके से सिक्खो को बसाने पर भी वहां उनका बहुमत नही हो पाया। सिक्खों के निरन्तर आन्दोलन के कारण और इस आन्दोलन को भाषायी रूप दे देने के कारण पंजाब का विभाजन करके एक सिक्ख बहुल राज्य की स्थापना की गयी। उस समय देश भर मे भाषा के आधार पर राज्य बनाने के जो आन्दोलन चल रहे थे, उनका भी यह परिणाम था। यह सक्ख बहुल राज्य पजाबी भाषा के आधार पर बनाया गया था। यह तर्क दिया गया था कि पजाब की भाषा पजाबी है इसलिए पजाबी राज्य बनाया जाना चाहिए। राजनीति के अध्येताओ ने यह तभी चेतावनी दी थी कि भाषा के नाम पर यह जो राज्य बनाया जा रहा है वह एक सम्प्रदाय को बहुमत प्रदान करना है और इसके दूरगामी प्रभाव सम्पूर्ण देश की दृष्टि से हितकर नही होगे।

पजाबी राज्य बनते ही 'सिक्खिस्तान' की मांग का भी सरकारी सरक्षण मे प्रचार शुरु हो गया। पजाब मे चाहे अकाली सत्तारूढ रहे अथवा काग्रेस सत्तारूढ रही, प्रत्येक सत्तारूढ़ दल ने सिक्ख साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहित किया। अकालियो द्वारा इस साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन देने का कारण उनके उद्देश्यो मे निहित है, परन्तु काग्रेस ने सिक्ख वोटो को ध्यान मे रखते हुए इस सिक्ख साम्प्रदायिकता को प्रश्रय दिया। इस प्रतियोगिता मे विभिन्न कम्युनिस्ट पार्टिया भी पीछे नही रही और उन्होने भी मार्क्सवादी सिद्धान्तो की दुहाई देते हुए साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहित करने मे कोई कमी नही रखी। बल्कि कुछ ऐसे भी समाचार मिले कि कम्युनिस्ट दल 'सिक्खिस्तान' अथवा 'खालिस्तान' नाम से अलग देश बनाने के आन्दोलन का भी सक्रिय समर्थन करते रहे। राजनीतिक स्तर पर पजाब मे यह स्थिति पैदा हो गई कि इससे न केवल अकालियो का मनोबल बढा, लड़ाकू वृत्ति के कारण स्थान स्थान पर उनके आधिपत्य जमाने के उदाहरण सामने आये, विरोधियो को आतंकित करने के भी अनेक उदाहरण सामने आये। एक ओर राजनीतिक प्रश्रय मे अकालियों की शक्ति मे वृद्धि हुई तो दूसरी ओर हिन्दुओ की स्थिति निरन्तर कमजोर होती गई। आज स्थिति यह है पजाब मे हिन्दू दूसरी श्रेणी का नागरिक है। यह मान लिया जाता है कि यहां के हिन्दुओ को कोई राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक अथवा धार्मिक अधिकार नही है। इन सभी क्षेत्रो से हिन्दुओ को निकाल बाहर करने के प्रयत्न किये जाते हैं। ऐसे समाचार भी अनेक बार मिले है जब हिन्दुओ के मन्दिरो (इसमे आर्यसमाज मन्दिर भी सम्मिलित हैं) को अपवित्र करने के प्रयत्न किये गए।

इस प्रकार के वातावरण मे पजाब के आन्तरिक जन-जीवन मे जो सघर्ष चल रहा है उसकी केवल कल्पना ही जा सकती है। जो चीज बाह्य रूप से दिखाई नही देती, आन्तरिक रूप से वह उतनी ही अधिक बेचैनी पैदा करने वाली है। पजाब राज्य मे द्वितीय श्रेणी के नागरिक हिन्दुओं की जब यह स्थिति है तब उसके एक पृथक् देश बन जाने पर हिन्दुओ की क्या स्थिति होगी उसका आभास वर्तमान स्थिति मे हो जाता है। हमारे देश के राजनीतिज्ञो की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वे हिन्दू शब्द के आते ही उसे हिन्दु साम्प्रदायिकता से जोड़ देते हैं और देश की राजनीति पर पडने वाले व्यापक प्रभावो की वे उपेक्षा कर देते हैं। इसी नीति का परिणाम देश का विभाजन था। अब हम यदि वही उपेक्षा वृत्ति अपनाये रहेगे तो देश के विभिन्न भागो मे होने वाली विघटनवादी प्रवृत्तियो के कारण देश के कितने खंड हो जायेंगे इसे कोई नही जानता।

आर्यसमाज किसी भी प्रकार की विकट परिस्थितियो मे कदम उठाने मे सदा पहल करता रहा। इस बार यह पहल आर्य प्रतिनिधि सभा पजाब ने की है। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि देश के पुनर्विभाजन का सबसे पहला प्रभाव पजाब के लोगों पर ही होगा। ऐसे कठिन समय मे पजाब की जनता का नेतृत्व जिस सही रूप मे पजाब सभा ने किया है उसके लिए वह बधाई की पात्र है। पजाब सभा के आदेश के अनुसार पजाब भर मे २६ अक्तूबर को विरोध दिवस मनाने का आयोजन किया गया। इस विरोध दिवस मनाने का मुख्य प्रयोजन ही जन-साधरण को आने वाले संकट से सावधान करना है। हमे आशा है कि न केवल आर्य जनता बल्कि पजाब के अन्य निवासी भी इस सकीर्ण और आत्मघाती माग का विरोध करने के लिए सगठित हो जायेंगे। हम समझते हैं कि सिक्खो मे भी ऐसा वर्ग विद्यमान है जो कि अकालियो की साम्प्रदायिकता से बहुत चिन्तित, बल्कि कहना चाहिए आतंकित है और वे भी इस प्रकार की देश विरोधी माग का विरोध करने मे अन्य लोगो का साथ दे सकते हैं। यदि इन देश-विभाजन-विरोधी-तत्वो को सगठित कर लिया जाए तो यह आर्य प्रतिनिधि सभा पजाब की बहुत बडी विजय होगी।

# हिन्दू कोड बिल

अभी पिछले दिनो राजधानी मे एक विचार गोष्टी का आयोजन हुआ जिसमें दिल्ली के अनेक प्रमुख कानून वेत्ताओं विशेष रुप से महिला कानून वेत्ताओ ने भाग लिया। इस गोष्टी मे महिलाओं से संबद्ध अनेक कानूनी जटिल समस्याओं पर विचार हुआ। उसके साथ ही एक समस्या पर सब का ध्यान केन्द्रित हो गया और वह समस्या थी हिन्दू कोड बिल के सबन्ध मे। इस गोष्ठी मे एक विद्वान वक्ता ने ध्यान दिलाया कि यदि कोई विवाहित हिन्दू धर्म परिवर्तन करके मुसलमान हो जाता है, वह दूसरा करने को स्वतन्त्र हो जाता है। परन्तु उसकी हिन्दू पत्नी यदि हिन्दू पति के धर्म परिवर्तन के कारण अपना पुनर्विवाह करना चाहती है तो वह कानून की वर्तमान व्यवस्थाओ के अनुसार दूसरे विवाह की अपराधिनी बन जाती है। इस प्रकार सामान्य कानून की दृष्टि से अपराधी होने के साथ एक और विडम्बनापूर्ण स्थिति यह पैदा हो जाती है कि मुस्लिम व्यक्तिगत कानून के अन्तर्गत हिन्दू स्त्री का यह पुनर्विवाह 'अनियमित हो जाता है।

हमारे देश में इस समय कई कानून प्रचलित हैं। हिन्दू कानून, मुस्लिम कानून पारसी कानून, और सामान्य कानून। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कानूनी दृष्टि से हमारा देश एक बिखरा हुआ देश है। अन्य सभी सम्प्रदाय अपने विशेष कानूनो द्वारा अपनी स्थिति मजबूत बना लेते है जबकि उन कानूनो के प्रभाव से हिन्दूओ की स्थिति कानूनो दृष्टि से कमजोर हो जाती है। वैवाहिक सम्बन्धो की दृष्टि से हिन्दूओ की स्थिति कितनी कमजोर है इसका एक पक्ष तो ऊपर दे ही दिया गया है। साथ ही तलाक, बच्चो का अविभावकत्व और उत्तराधिकार सम्बंधी अनेक समस्याए भी है। इस ओर बार-बार ध्यान खीचा जाता रहा है कि देश के विभिन्न वर्गों के लिए विभिन्न कानूनो का होना केवल हिन्दूओ की दृष्टि से ही नही बल्कि सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि से भी तनाव पैदा करने वाला है। इसी कारण आर्यसमाज के मच से यह प्रश्न अब उठाया जा रहा है। यदि हमारे देश के विधिशास्त्रो विशेष रुप से सरकारी विधि शास्त्री और न्यायपालिका से सम्बद्ध लोग इस समस्या को सुलझाने के लिए देश भर मे एक ही प्रकार का कानून लागू करने की सम्भावना पर विचार कर सके तो अधिक उपयुक्त होगा। देश के जाने माने विधिवेत्ता मोहम्मद करीम छागला तो अनेक बार इस समस्या की ओर ध्यान खीच चुके है। वे इस माग के पक्ष मे ही नहीं हैं' बल्कि स्वय इस बात के प्रचारक है कि देश के सभी नागरिको के लिए एक ही प्रकार का कानून होना चाहिए। इसलिए आर्य समाज जब यह माग करता है तो वह देश के विख्यात विधि और न्यायशास्त्रियो के विचारो के अनुकूल होती है।

जहा तक हिन्दूओं का सम्बन्ध है यह समस्या केवल इसी देश तक सीमित नही है बल्कि देश से बाहर भी ऐसे कुछ मुस्लिम देश है जहा की व्यवस्था के

(शेष पृष्ठ ५ पर)

# क्रान्ति - दर्शन

ऋषिः—निध्र विः (निश्चित ध्रुव) । देवता-पवमान सोम. ।
छन्द — गायत्री । स्वर षड्जः ।

**अनुप्रत्नास आयवः पदं नवीयो अक्रमुः ।**
**रूचे जनन्त सूर्यम् ॥**

साम पूर्वार्चिक—६-२-६ ॥
ऋग्वेद—९-२३-२ ॥

१— जिसका भावी प्रगतिशील, उन्नति से कभी नही ससर्ग,
चाह रहा हू न वह आत्म सन्तुष्ट, शान्ति निमित अपवर्ग ।
मुझ को प्यारी चिर आविष्कारिणी, क्रान्तिकारिणी अशान्ति,
वही जगत-जजाल जिसे सब, नरक, समझने मेरा स्वर्ग ॥

२— जो अनादि से बैठे हैं अब तक, लकीर के बने फकीर,
नही चाहता हू उन देवो का, निर्भ्रान्त स्वर्ग चाचीर ।
मुझको प्यारो शका जिस पर, आश्रित कला और साहित्य,
नही सत्य पर सुन्दर को है, प्रेमी मेरी भ्रान्ति कुटीर ॥

३— लत का दास न बनना मुझको, मुझे एक- रमता है भार,
नव-रस क्या, है कोटि रसो का, इष्ट मुझे जग मे सवार ।
सुख,दुख, अमृत, गरल रण, हिंसा, प्रेम द्वेष या धर्म अधर्म,
सबके लिए समान खुला है, मेरी सहिष्णुता का द्वार ॥

४— हैं अछून पापो के ऊपर, देवालय मे शत प्रतिबन्ध,
पाप-पुण्य दोनो मे मुझको, एक समान किन्तु सबन्ध,
देवालय के यज्ञ पुण्य के, पक्षपात मे ही तल्लीन,
मेरे जग मे उठती है निष्पक्ष, न्याय की यज्ञ-सुगन्ध ॥

५— देवो को सुख-भोग इष्ट है, मुझको किन्तु कर्म से प्यार,
और न वे सामान्य कर्म जिनका, है सब स्वभाव आधार।
किन्तु कर्म वे, जिनसे पूरे, होते आदर्शों के स्वप्न,
जिनमे पीड़ाओ के उत्सव, जिन्हे हार भी है उपहार ॥

६— नही रुकेगी पा अप्राप्त स्वर्ग, भी मेरी गति गम्भीर,
कही स्वर्ग से आगे स्थिति है, मेरी उज्जवल क्रान्ति कुटीर,
कही चरम सीमा है मेरी, उन्नति की अक्षय आनन्द ।
मेरी तृष्णा की सतृप्ति कुछ, खेल नही, है टेढ़ी खीर ॥

७—भोले भाले देवगणो के, तुल्य न भोली मेरी प्यास,
केवल अमृत पिलाकर इसको, विष्णु नही सकते हैं टाल,
है अभाव की भाव भरी यह, अक्षय झोली मेरी प्यास ॥

८— कैसे हो अमरत्व सुरो, के सम, फिर मुझको अगीकार।
नवजीवन के आगे मुझको, सजीवद बिलकुल निः सार ।
वह तो कहो, मनुज की इच्छा, विधि ने की पहले ही पूर्ण,
उसे अन्यथा स्वय मृत्यु का, करना पड़ता आविष्कार ॥

९— किसी एक स्थिति को उन्नति की कैसे अन्तिम सीमा मान,
बैठू मैं, चाहे वह अपना हो या हो दैवीय विधान ।
कैसे फिर मुझको हो सकती, है अगीकृत मुक्ति अनन्त,
कैसे आवागमन छोड कर, दू समाप्त अपना आख्यान ॥

१०— अपना अपना दृष्टि कोण है. अपना अपना ज्ञान-विवेक,
तृप्ति अभीष्ट सुरो को, मेरी, मागो की अतृप्ति है टेक ।
देवो पर छा गया स्वर्ग का, मोह, अप्सराओं का जाल,
इस अतृप्ति ने किन्तु बिगाड़े, और बनाये स्वर्ग अनेक ॥

११—गाने दो देवो को मुख के, मद मे जीर्ण स्वर्ग का गीत,
अपने स भी तुष्ट न होगा, आत्म विवेचक मनुज विनीत ।
सर्वमुखी प्रतिभा वाले को पूर्ण भाव का साधन इष्ट,
केवल सात्विक देव नही, मुझ को बनना है त्रिगुणातीत ॥

१२—बार बार पतझड़ मे परिणत, होता इसीलिये मधु मास,
इस अतृप्ति को नही प्रकृति का, भाता जड़ता-ग्रस्त विकास ।
यह अतृप्ति ही की लीला है, यह अतृप्ति ही का है खेल,
स्वर्ग वही का वही रह गया, बदल गया जग का इतिहास ॥

१३— तृप्ति स्वार्थ मे डूबी बैठी, पर अतृप्ति को नही विराम,
तुम्ही बताओ इन दोनो मे, कौन सकाम कौन निष्काम ?
मैं तो कहता यदि अतृप्ति देती, न विधाता को सहयोग,
'अग्नि' नास्ति के सम हो जाती, और प्रलय सम सृष्टि ललाम ॥

१४—प्रलय हो गई अगर सो गया, इस अतृप्ति का भ्रमित मिलिन्द,
सृष्टि हो गई सत् युग आया, विकसा जब अतृप्ति-अरविन्द ।
इस अतृप्ति के पथ असीम पर, बैठ गया जब थकित मनुष्य,
तब सच्चा अध्यात्म मिल गया, को रूढ़ि-पूजक जन वृन्द ।

१५—तुम कहते हो क्रान्ति कर रही, क्यो अतृप्ति मेरी अविराम,
पूर्ण सृष्टि है, पूर्ण विधाता, फिर सशोधन का क्या काम ?
नास्तिकता या पाप यही है, जो बस देख दोष ही दोष,
नित अल्पज्ञ मनुज करता, सर्वज्ञ विधाता को बदनाम ॥

१६—सभी पिताओ को होता यह, इष्ट कि उनकी हर सन्तान,
उनमे भी कुछ अधिक कीर्ति-यश, पाये और करे उत्थान ।
क्या आदर्श पिता इतना सकुचित, कि निज पुत्रो हेतु,
नही करेगा अपने से कुछ अधिक, कीर्ति दायक सुविधान ।

१७—सभी पिता अपने पुत्रो को सौपा, करते अपना भार,
अपने परम पिता की वसुधा, का मानव भी है कर्तार ।
पुत्र पिता के सम हो जाये, इसमे कौन भला अनरीति,
पुत्र पिता से भी बढ जाये, इसमे कौन भला उपकार ॥

१८—क्रान्ति मनुज कर अपरिहार्य, ईश्वर-कृत जन्म सिद्ध अधिकार,
जन्मसिद्ध अधिकार न बस है, क्रान्ति मनुष्य धर्म का सार ।
इसी क्रान्ति के आविष्कारो पर, आश्रित जग का सुविकास,
इसी क्रान्ति से सदा नया, का नया नया बना रहता संसार ॥

१९—यदि दैवीय चमत्कृति से, काटो मे भी लग जाते फूल,
विष को शोध मनुज प्रतिभा भी, करती अमृत तुल्य अनुकूल ।
यदि दैवीय शक्ति कर सकती, पल ही मे राजा को रक,
बन सकती अनुभूति आन मे मेरी पतिता'अबला भूल ॥

२०—माना, सृष्टि रची विधना ने, किन्तु मनुज ने भी वह काम
करके दिखा दिया, जिससे, उसका विधि से कुछ गौण न नाम ।
वस्तु वस्तु का रूप बदलकर उसने रच दी सृष्टि नवीन,
बना निरर्थक को सार्थक कर, दिया विकृति को छवि अभिराम ॥

२१—प्रभु मे और भक्त मानव मे, चिर होती आई होड़,
जब जब उन्हें मनुज ने देखा, लिया उन्होने तब मुख मोड ।
यद्यपि सृष्टि-रहस्योद्घाटन, किया मनुज ने शत शत बार.
किन्तु बड़े से बड़े सत्य को, दिया रूढि ने तोड़-मरोड़ ॥

२२—लाख रूढियो के परदो मे, सतत जा छिपे कृपानिधान,
किन्तु सजग नर की अतृप्ति ने, लिया उन्हें तब भी पहिचान ।
इस झगड़े में मानव जीता, सिद्धि-विधाता ही को और
समय समय पर नर को करनी, पड़ी उच्च सिद्धिया प्रदान ॥
विधि का प्रतिद्वन्द्वी बनने मे ही, आस्तिकता का मर्म,
सच्ची ईश्वर-भक्ति यही है और यही सच्चा सत्कर्म ।
चिर अतृप्ति को निठुर नियति से, रण ही मे जीवन का सार,
मर मर कर भी निज अतृप्ति की, रक्षा करना मेरा धर्म ॥

२४—परम्परा का पथ होने ही से, होता पथ नही पुनीत,
चाहे वह विधिकृत हो या हो किसी ग्रन्थ द्वारा निर्णीत ।
मेरे मानव जीवन को यह, बात नही हो सकती सह्य,
मेरे वर्तमान के ऊपर, शासक हो निर्जीव अतीत ॥

२५—नही द्वेष उर को अतीत से, इसको पारतन्त्र्य से द्वेष,
सूर्य न इसका मार्ग प्रदर्शक. यह है अपना स्वय दिनेश ।
नही न्याय अन्याय तथा, उन्नति अवनति की तो कुछ बात,
अपना भाग्य-विधाता बनने, का इसमे है प्रश्न विशेष ॥

२६—यही क्रान्तिकारी अन्तः रवि, करता नवयुग का निर्माण,
नही आज से किन्तु सनातन, से यह अखिल विश्व का प्राण ।
नही क्रान्ति हित क्रान्ति किन्तु, इसकी अतृप्ति का यह सदेश,
आदि-अन्त मे भेद न कोई, 'पुरा नव' इत्येव पुराण ॥

२७—क्रान्तिशील यद्यपि अतृप्ति मेरी बस दुहराती इतिहास,
पर पुनरुक्ति दोष के बदले, इसमे मञ्जु विरोधाभास ।
यह आपेक्षिक उन्नति मे रत, इसे न आदि अन्त का मोह,
भव सागर की मध्य तरगो, पर इसका रमणीय निवास ॥

—**जगन्नाथ प्रसाद**

## आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की विज्ञप्ति

# अकालियों द्वारा देश के पुनर्विभाजन की मांग

## 'खालिस्तान' बनाने का आन्दोलन : विदेशों में प्रचार

कुछ साम्प्रदायिक, राष्ट्र विरोधी और विघटनवादी शक्तियां फिर से अपना सिर उठाने लगी हैं। पिछले दो साल से उत्तरप्रदेश, काश्मीर और कुछ अन्य प्रान्तो में जो कुछ हुआ है, उसकी अवहेलना नही की जा सकती। अब समय आ गया है कि इस देश की अखण्डता, को किसी प्रकार भी भग नही होने दिया जायेगा।

पंजाब मे कुछ अकालियों ने दो कौमो के सिद्धान्त को फिर से प्रतिपादित करके यह कहना शुरू कर दिया है कि हिन्दू और सिक्ख दो राष्ट्र हैं। मुहम्मद अली जिन्ना के पद चिन्हो पर चलते हुए उन्होने 'खालिस्तान' का भी एक लक्ष्य अपने सामने रख लिया है। प्रान्तीय स्वायत्तता के नाम पर वह पंजाब का और विभाजन चाहते हैं। उनके एजेंट और प्रचारक दूसरे देशो में जाकर हमारे देश के विभाजन के लिए प्रचार कर रहे हैं। यह एक ऐसी स्थिति है, जिसका सामना करने के लिए उन सभी व्यक्तियों और सस्थाओं को एक हो जाना चाहिये जो अपने देश की अखण्डता और उसकी एकता को सुरक्षित रखना चाहते हैं। आर्यसमाज ने देश के स्वाधीनता सग्राम में विशेष योगदान दिया था। इसलिए अब वह इस नई शरारत को मौन रह कर देख नही सकता। कुछ अकाली हमारे पंजाब प्रान्त के सामान्य जीवन को नष्ट कर देना चाहते हैं।

आर्यसमाज का अटल विश्वास है कि एक देश में एक ही राष्ट्र हो सकता है, इसलिए आर्यसमाज दो राष्ट्रो के सिद्धान्त को अस्वीकार करता है। उसका यह भी निश्चित मत है कि भारत मे एक राष्ट्र, एक विधान और एक राष्ट्रीय ध्वज रह सकता है, जो व्यक्ति दो 'राष्ट्र' का नारा लगा रहे है, उनके साथ वही व्यवहार होना चाहिए, जो विदेशियो के साथ होता है। यदि वे अपने आपको भारत राष्ट्र का एक अग नही समझते तो यही उचित होगा कि वे इस देश को छोडकर किसी ऐसे देश मे चले जाए, जहाँ वे अपने विधान द्वारा शासन चला सके। हमारे देश मे ऐसे व्यक्तियो के लिए कोई स्थान नही होना चाहिए। पजाबी सूबा बनने के पश्चात् हम समझ रहे थे कि अकालियों की ओर से अब कोई नई माग नही की जायेगी। परन्तु अब 'खालिस्तान' का नारा लगाकर और दो राष्ट्रो के सिद्धान्त को पेश करके उन्होने बता दिया है कि उन पर विश्वास नही किया जा सकता।

इसलिए आर्य-प्रतिनिधि सभा पजाब इस देश की सब राष्ट्रीय शक्तियो का आह्वान करती है कि वे हमारे देश की एकता और अखडता के लिए जो नया सकट पैदा हो रहा है, उसे रोकने के लिए कटिबद्ध हो जायें।

इसी के साथ आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, पंजाब की सब आर्यसमाजो को यह आदेश देती है कि रविवार २६ अक्तूबर को एकता दिवस मनाए और इस [f] षड्यन्त्र को जनता के सामने उसके वा[स्त]विक रूप मे रखें, जो हमारे राष्ट्र [औ]र हमारे देश की एकता और सगठन [के] विरुद्ध किया जा रहा है। हमे यह बि[ल]कुल स्पष्ट कर देना चाहिए कि हम कि[सी] भी अवस्था मे दो राष्ट्रो के सिद्धान्त [को] स्वीकार नही करते और प्रत्येक रूप [में] इसका विरोध करेंगे।



# आर्यवीरों की रैली

समस्त चोगामा क्षेत्र के आर्यवीरो की सयुक्त रैली १९ अक्तूबर १९८० को भडल आर्यसमाज के आमन्त्रण पर बडी ही धूमधाम और उत्साह पूर्ण वातावरण मे प्रारम्भ हुई। आर्य वीरो की अलग-अलग टोलिया नामपट्ट और ध्वज लहराते हुए साढे मात बजे रैली प्रागण मे पहुच गई थी।

सार्वदेशिक आर्य वीर दल के प्रधान सचालक श्री प० बालदिवाकर जी हस भी साढे आठ बजे दिल्ली से चलकर भडल ग्राम पधार गये थे इससे आर्य वीर बहुत ही उत्साह और जोश मे भरे हुए थे। सर्व प्रथम श्री प० फूलचन्द्र शर्मा ने यज्ञानुष्ठान कराया। चारो वेदो के विशेष मंत्रो से यज्ञ मे आहुति दी गई। तत्पश्चात् प्रधान संचालक श्री प० बालदिवाकर हस जी का यज्ञ की महत्ता पर बडा ही प्रभावोत्पादक भाषण हुआ। जिसकी उपस्थित जन-समूह ने नारे और तालिया बजाकर स्वागत किया।

मध्यान्ह मे ऋषि लंगर मे लगभग ५०० आगन्तुक अतिथियो को खीर आदि सुस्वाद भोजन खिलाकर आर्यसमाज भडल की ओर से प्रधान चौ० ह[र] सिह जी ने भारी आतिथ्य किया।

फूलसिह [...]
संयो[जक]

(पृष्ठ ३ का शेष)

अनुसार कोई भी हिन्दू-पुरुष अथवा [...] यदि किसी मुस्लिम स्त्री अथवा पुरु[ष से] विवाह कर ले तो वह विवाह करने व[ाला] हिन्दू भागीदार स्वत ही मुस्लिम [बन] जाता हैं। यह एक पक्षीय स्थिति [...] देशो मे हिन्दूओ को मुसलमान बना[ने के] अनुकूल है। हमारी कठिनाई यह है [कि] हमारे देश की सरकार इस प्रकार [की] विषमताओ से प्रवासी हिन्दूओं की [रक्षा] करने के लिए कोई कदम नहीं उठा[ती।] यदि हिन्दू कोड बिल मे परिवर्तन [की] मांग के साथ विदेशो के प्रवासी हि[न्दुओं] की इस विषम स्थिति मे परिवर्तन के लिए आर्यसमाज कोई वैचारिक [...] प्रदान कर सके अथवा इस प्रका[र की] कोई माग कर सके तो वह सम[य की] माग के अनुकूल होगा।

बोध कथा

# और एक मां

—नेमीचन्द पटोदिया

छत्रपति शिवाजी की शूरता और क्ति अपने मध्याह्न पर दमक रही । उसने दिल्ली के शाह शाह औरगजेब दात बार-बार खट्टे किये थे। दक्षिण मराठो से लोहा लेने वाला कोई राज्य ी था। निजाम और बीजापूर तो थ देकर अपने राज्य की सीमा बचाये : थे। हां दक्षिण मे एक छोटी स्वतन्त्र यासत थी 'बल्लारी; जिसकी शासिका एक विधवा स्त्री। नाम था रानी नवाई देसाई। रानी मलवाई वीरता ार आन की सजीव प्रतिमा थी। उसने ण रहते बल्लारी की स्वतन्त्रता को क्षुण्ण बनाये रखने की प्रतिज्ञा की थी, नेक और प्रजाजन अपनी शासिका के नन्य भक्त थे।

मराठो को यह स्वतन्त्र छोटी रिया- ा खलने लगी। उन्होने अपनी विशाल ा के साथ बल्लारी राज्य पर हमला ल दिया। रानी मलवाई देसाई स्वय र-बाना पहिन कर और हाथ मे नगी तलवार लेकर युद्ध मे पिल पडी। बल्लारी की मुट्ठी भर सेना ने एक दफे, तो मराठा सैनिको के पैर उखाड दिये, पर अन्त मे बहुसख्यक मराठा, सेना की ही विजय हुई, और अनेक सैनिक के साथ रानी मलवाई देसाई भी बंदी बना ली गयी।

शिवाजी की आज्ञानुसार बंदिनी मलवाई सम्मान के साथ उनके सामने लायी गयी। शिवाजी को देखते ही बंदिनी मलवाई गरजी कि "छत्रपति। आप महाराजा है, आपका बडा नाम है, इसलिए आज एक बदिनी स्त्री के सम्मान का ढोग रचाकर उसका अपमान करने पर तुले हैं ? फिर कुछ दर्द भरी आवाज मे कहा, "बल्लारी-राज्य ने आपके विरुद्ध कभी उगली तक नही उठायी, फिर क्यो उस पर युद्ध का प्रलय ढाया गया ? फिर सामान्य रुप से बोली: 'आपका राज्य स्वतन्त्र है, मेरा राज्य भी कुछ देर पहिले तक स्वतन्त्र था। अपने राज्य की स्वतन्त्रता की रक्षा करना प्रत्येक वीर शासक का कर्त्तव्य है, वही मैने किया। रही पराजय की बात तो हमारे मुट्ठी भर सैनिक आपकी विशाल सेना के आगे कब तक टिकते ? लेकिन हमारे वीर अन्तिम सांस तक भी पीछे नही हटे। मैं तुम्हारी बदिनी हू, मेरे सम्मान का इस प्रकार अभिनय करने से पहिले मुझे मृत्यु दण्ड दें। फिर एक तेज स्वर मे बोली, मैं बल्लारी की जय बोलते-बोलते हसते हुए प्राण विसर्जित करना चाहती हू।

शिवाजी का हृदय विशाल था। उन्होने देखा सुना, फिर एकाएक सिहासन से उतरे, और आकर रानी मलवाई के सामने सविनय हाथ जोड़े। फिर हाथ जोड़े हुए ही मस्तक झुकाकर बोले, हे माता रानी मलवाई! मेरा प्रणाम स्वीकृत हो। इस अप्रत्याशित दृश्य को देखकर रानी आश्चर्य से देखने लगी। फिर शिवा जी बोले 'मैं घोषणा करता हू कि बल्लारी जैसे पहिले स्वतन्त्र था, वह अब भी है। विश्वास कीजिये मैं आपका शत्रु नही, पुत्र हू। फिर रुक कर स्नेहपगी भाषा में वे बोले: 'माता जीजाबाई के देवलोक के बाद मैं मातृहीन हो गया था, लेकिन आप मे मुझे अपनी माता के तेजोमय दर्शन हो गये। मानो मुझे अपनी माता के पुर्नमिलन का सौभाग्य प्राप्त हो गया। उनका गला भर आया, और वे बोल न सके।

इस अप्रत्याशित और अनोखी वात्सल्य-भरी भूमिका से रानी मलवाई का जननी हृदय पानी-पानी हो गया। उनके नेत्र छलछला आये, और वे गद्-गद् वाणी मे रुक-रुक कर बोली, 'छत्रपति ! तुम सत्य ही छत्रपति हो। तुम हिन्दू धर्म के सच्चे रक्षक हो। तुमने मुझे मातृत्व का महान् पद दिया है, उसके गौरव की रक्षा मैं जीवन भर करूगीं। अब बल्लारी की संपूर्ण शक्ति सदा तुम्हारी सहायक होगी। ऐसा कहकर वह चुप हो गयी तो दोनों ओर की सेना छत्रपति महाराज की जय' की तुमुल ध्वनि करने लगी। शिवाजी महाराज ने भी ऊंचे स्वर मे हाथ उठाकर उद्घोष किया 'माता मलवाई की जाय।

मा—बेटे का यह पुनीत सम्बन्ध दोनो देशों ने अन्त तक निभाया। मराठा इतिहास के पृष्ठ इस घटना से दमक उठे। ससार का कोई भी देश ऐसे उदात्त उदाहरण रखने मे असमर्थ रहा है। भारत का अतीत न जाने कितने ऐसे जगमगाते गौरव को अपने में समेटे हुए कही छुपा पड़ा है।

# आर्यसमाजों के सत्संग

२-११-८०

अन्धामुगल प्रतापनगर—प०रामरूप शर्मा, अमर कालोनी—प्रो.वीरपाल विद्यालकार; अशोकविहार के-सी-५२-ए—श्रीमती प्रकाशवती शास्त्री, एम-ए; आर्यपुरा—प०सीस राम भजनोपेदशक, आर के पुरम सैक्टर ६—डा०वेद प्रकाश महेश्वरी; किंग्जवेकैम्प-श्रीमती सम्पदा आर्य; कृष्णनगर—लाला लखमीदास, कालकाजी—श्रीमती लीलावती आर्या; कालकाजी डी- डी- ए फलैट्स-एल-१।१४३ ए—डा०रघुनन्दन सिहं; करोलबाग-प०ईश्वरदत्त एम ए; गांधी नगर—प्रो०सत्य पाल वेदार, १५१-गुप्ता कालोनी- प० वेदपाल शास्त्री; गोविन्दपुरी—पं०हीराप्रसाद शास्त्री; १६-गोल्फलिक—आचार्य रामशरण मिश्रा शास्त्री; गोविन्द भवन दयानन्द वाटिका- प्रात १० के११-- प अशोक कुमार विद्यालकार; जंगपुरा भोगल-प० सत्यभूषण वेदालकार; जनकपुरी बी ब्लाक —श्री मोहन लाल गांधी, जहांगीरपुरी—प० प्रकाशवीर व्याकुल, झिलमिल कालोनी पं०तुलसीराम भजनोपदेशक, टैगोर गार्डन—प०प्रकाश चन्द शास्त्री; तिलकनगर—प०प्राणनाथ सिद्धान्तालकार; दरियागंज—आचार्य हरिदेव सि० मू०; देव नगर—प०सत्यकाम वेदालकार; नारायण विहार—पं० प्रकाशचन्द वेदालकार, नयाबांस —प० विश्व प्रकाश शास्त्री; न्यू मुलताननगर—पं०जगदीश प्रसाद विद्यावाचस्पति, पजाबी बाग—प० विष्णुदेव प्रसाद विद्यालकार, पजाबीबाग एक्स्टैनशन १४/३ —प० गजेन्द्र पाल शास्त्री; पश्चिमपुरी जनता क्वार्टरज—प०ओम प्रकाश भजनोपदेशक; बाग कड़ेखां—पं०बरकत राम भजनोपदेसक; माडल टाऊन—प०केशवचद्र मुन्जाल; मोती बाग—आचार्य कृष्ण गोपाल, माडल बस्ती, पं० हरीश वेदी; महरौली —प०महेन्द्र प्रताप शास्त्री, रमेश नगर—पं०ओमवीर शास्त्री, राजौरी गार्डन—पं०गणेश प्रसाद विद्यालकार; लड्डूघाटी—पं०अर्जुन देव प्रभाकर; लाजपत नगर —प०देवेश, विक्रम नगर—प०अर्जुन देव आर्य, विनय नगर—प०विजय पाल शास्त्री; सुदर्शन पार्क—प्रो०भारत मित्र शास्त्री, सराय रोहेला—प०देवराज, साउथ एक्स्टैनशन २—प०अशोक कुमार विद्यालकार श्रीनिवासपुरी—साय ४ से५।। प० मनोहर विरक्त; हनुमान रोड—प० हरिशरण, हौजखास ई-४९--प० मुनिशकर वानप्रस्थ तथा प०आशा नन्द भजनोपदेशक।

# आर्यसमाज गतिविधि

## हीरक जयन्ती महोत्सव

आर्य कन्या इण्टर कालेज इलाहाबाद हीरक जयन्ती महोत्सव रविवार १४ दिसम्बर से ३१ दिसम्बर ८० तक समारोह पूर्वक मनाया जायेगा। सम्पूर्ण यजुर्वेद से नित्य प्रातकाल यज्ञ होगा। छात्राओ के लिए कवि सम्मेलन, वेद सम्मेलन, वाद-विवाद प्रतियोगिता, यौगिक प्रदर्शन आदि का आयोजन है। आर्यजगत् के उच्चकोटि के विद्वान् सन्यासी, उपदेशक तथा भजनोपदेशक पधार रहे हैं।

## भाषण प्रतियोगिता

—आर्यसमाज (वैस्ट) पटेलनगर, नई दिल्ली के वार्षिकोत्सव के अवसर पर १५ नवम्बर ८० को मध्याह्न २ बजे 'महर्षि दयानन्द के जीवन से शिक्षा' विषय पर स्कूल के छात्र-छात्राओ की एक भाषण प्रतियोगिता होगी।

## वार्षिक शिविर

—वेद सस्थान, सी-२२ राजौरी-गार्डन नई दिल्ली का वार्षिक शिविर ११ से १६ नवम्बर ८० तक होने जा रहा है। इस अवसर पर स्वामी दयानन्द विदेह स्वामी दिर्मलानन्द विदेह, महात्मा दयानन्द जी (देहरादून), डा० महावीर, माता आर्या मीरा पति (ज्वालापुर) श्री कोमल भाई 'केश' (आजमगढ) तथा पं० जिजेन्द्र नाथ जी शास्त्री के मनोहर उपदेश व भजन होगें।

## शोक प्रस्ताव

—आर्यसमाज स्वामी दयानन्द बाजार लुधियाना की यह साधारण सभा गुरुकुल चित्तौड़गढ़ के संस्थापक श्री स्वामी व्रतानन्द जी की मृत्यु पर गहरा शोक प्रगट करती है व परमेश्वर से प्रार्थना करती है कि दिवगत आत्मा को कर्मानुसार पुण्य गति प्रदान करें।

कन्या गुरुकुल, नरेला (दिल्ली) की यह सभा, वैदिक विद्वान, अजीव ब्रह्मचारी तपस्वी, कर्मठ सन्यासी, गुरुकुल चित्तोडगढ के आचार्य स्वा० व्रतानन्द जी महाराज के निधन पर अत्यन्त शोक प्रकट करती है। परमात्मा से प्रार्थना है कि उनकी पवित्र आत्मा को सद्‌गति प्रदान करे एव आर्य नरनारी गण प्रेरणा प्राप्त हो कि वे उनके दिव्य उपदेशों को जीवन मे धारण करने शुभ नाम व कीर्ति को अमर बनाए रखें।

## चुनाव समाचार

—आर्यसमाज नागल राय नई दिल्ली (४६) का वार्षिक चुनाव १८-९-८० को सम्पन्न हुआ। जिसमे निम्न लिखित अधिकारी चुने गए हैं।—श्री रामचद्र वर्मा प्रधान, श्री लेखराज भगत उपप्रधान, श्री भगवानदास उपप्रधान, श्री रघुराज शास्त्री मन्त्री, श्री राजेन्द्रप्रसाद त्यागी उपमन्त्री, श्री अजीतकुमार कोषाध्यक्ष, श्री मगलदेव भंडारी, श्री दलीपसिंह लेखानिरीक्षक।

—श्री गोपाल प्रसाद लेखा निरीक्षक—९. श्री नरसिंह प० आर्यवीर—पुस्तकाध्यक्ष।

## आवश्कता है।

आर्यसमाज मौडल बस्ती दिल्ली को अपने अधीन सचालित 'पुष्पावती पुरी दयानन्द शिशु मन्दिर' की नर्सरी क्लास के लिए एक नर्सरी ट्रेण्ड अध्यापिका की आवश्यकता है। आर्यसमाजी विचारधारा रखने वाली को प्राथमिकता दी जाएगी, वेतन अनुभव एवं योग्यता के अनुसार दिया जाएगा। प्रार्थना-पत्र प्रधान आर्यसमाज, मौडल बस्ती. दिल्ली. ११-०००५ के नाम भेजें।

दिल्ली आर्यप्रतिनिधि सभा का साप्ताहिक मुखपत्र

एक प्रति ३५ पैसे, वार्षिक १५ रुपये वर्ष ४ अंक ३ रविवार, ९ नवम्बर १९८० दयानन्दाब्द १५६

# महर्षिदयानन्द निर्वाणोत्सव का विशेष आयोजन

## दीपावली के उपलक्ष में आर्यसमाजों में आयोजित सप्ताह भर के यज्ञों की पूर्णाहुति और वेद कथा का आयोजन

आर्य केन्द्रीय सभा दिल्ली के तत्वावधान में दीपावली के दिन शुक्रवार ७ नवम्बर १९८० को महर्षि दयानन्द सरस्वती के ९७वें निर्वाणोत्सव का आयोजन किया गया। यह कार्यक्रम रामलीला मैदान में आयोजित किया गया और दिल्ली राज्य की सभी आर्यसमाज और शिक्षण संस्थाओं ने पूरे उत्साह के साथ इसमें भाग लिया। समारोह का कार्यक्रम प्रातः ८ बजे यज्ञ के साथ प्रारम्भ किया गया। यज्ञ के ब्रह्मा वैदिक साधन आश्रम तपोवन, देहरादून के आचार्य महात्मा दयानन्द थे। समारोह में ध्वजारोहण का कार्यक्रम स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती ने सम्पन्न किया और समारोह की अध्यक्षता दयानन्द मठ दीनानगर के आचार्य श्री स्वामी सर्वानन्द जी ने की। आर्य-सन्देश के प्रेस में जाते समय अभी समाचार आ रहे थे जिनका पूरा विवरण अगले अंक में विस्तार के साथ दिया जायेगा।

इस सप्ताह का प्रमुख कार्यक्रम जहांगीरपुरी मे हुआ। यह समाज अभी निर्माण की अवस्था में है। इस बस्ती में यद्यपि अन्य धर्मों के पूजा स्थानो का निर्माण हो चुका है और यहां के निर्धन लोगों के धर्म परिवर्तन के लिए भी अन्य धर्मों के लोग प्रयत्नशील रहते हैं। यह ध्यान में रखते हुए यहां एक विशेष समारोह का आयोजन किया गया। इस आयोजन का श्रेय आजादपुर क्षेत्र की उपसभा के मन्त्री श्री प्रकाशचन्द को है। इस अवसर पर २७ अक्तूबर से २ नवम्बर तक प्रतिदिन यज्ञ का और सायकाल कथा का आयोजन हुआ। सभा के उपदेशक श्री प्रकाशवीर व्याकुल ने प्रवचन किए और इसके साथ श्री बालकृष्ण जी ने रामायण कथा बड़े प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत की। रामायण कथा का बस्ती के लोगों पर बहुत अधिक प्रभाव हुआ।

सप्ताह भर के इस यज्ञ की पूर्णाहुति रविवार २ नवम्बर को हुई। पूर्णाहुति का दृश्य विशेष रूप से दर्शनीय था क्यो कि इसमें सप्ताह भर के सभी यजमानो ने एक-साथ आहुतियां दीं और इसके अतिरिक्त अन्य लोगों ने भी विशेष आहुति दी। पूर्णाहुति का यह सारा कार्य इतने भव्य ढग से हुआ कि सभी उपस्थितों के लिए आकर्षण का केन्द्र बन गया। इस यज्ञ के ब्रह्मा श्री विजयभूषण आर्य, इसके अतिरिक्त श्री गणेशदास अग्निहोत्री और उनके धर्मपत्नी श्रीमती शान्तिदेवी अग्निहोत्री की उपस्थिति भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होने इस इस अवसर पर अपने आशीर्वाद से यज्ञ के कार्यक्रम को सफल बनाया।

जहांगीरपुरी के इस समारोह में स्थानीय लोगों ने बड़े उत्साह के साथ भाग लिया और इसके साथ ही आजादपुर मण्डल की सभी आर्यसमाजों तथा राणा प्रताप बाग, कमला नगर और अमर कोलोनी आर्यसमाजो के प्रतिनिधि भी इस समारोह में उपस्थित थे।

केन्द्रीय सभा की ओर से मन्त्री श्री ओम्प्रकाश तलवाड़ और श्री राजेन्द्र दुर्गा उपस्थित थे। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा का प्रतिनिधित्व सभा मन्त्री श्री विद्यासागर विद्यालंकार ने किया और सभा प्रधान श्री सरदारी लाल वर्मा भी कुछ समय के लिए इस समारोह मे पधारे। पूर्णाहुति के बाद एक सार्वजनिक सभा हुई जिसकी अध्यक्षता सभा मन्त्री ने की। इस सभा में प्रवचन करने वालो मे प्रमुख थे—श्री गणेशदास जी अग्निहोत्री, स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती, स्वामी सत्यपति जी महाराज। इस अवसर पर ब्रह्मचारी भजनमण्डली ने हृदयग्राही और प्रभावशाली ढंग से भजन उपस्थित किए। इस समारोह में दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत के पाठ्यक्रम मे वेद विषय लेने वाले छात्रों के लिए छात्रवृत्तियां देने के लिए अपील की गई। आर्यसमाज जहांगीरपुरी की ओर से श्री प्रकाशचन्द्र ने स्वामी विद्यानन्द जी को छात्रवृत्ति के लिए ४८०) रुपये अर्पित किए। अन्य अनेक लोगों ने भी छात्रवृत्तियां देने का संकल्प लिया। इस समय ७ छात्रों को ४०) रुपये प्रतिमास की छात्रवृत्ति देने का व्यवस्था श्री स्वामी विद्यानन्द जी के प्रयत्नो से की जा चुकी है। अगले वर्ष छात्रों की सख्या लगभग १५ हो जाने की सम्भावना है। यह ध्यान मे रखते हुए और अधिक धनराशि इस कार्य के लिए इकट्ठी की जा रही है।

इस अवसर पर आर्यसमाज जहांगीरपुरी की ओर से ऋषि लंगर का भी आयोजन किया गया था जिसमे न केवल अतिथियों ने बल्कि इस बस्ती के निर्धन वर्ग के लोगों ने भी भोजन किया।

### अभिनन्दन

२९ अक्तूबर को सुभाषनगर आर्यसमाज के कर्मठ और यशस्वी कार्यकर्त्ता श्री गुरमुखदास ग्रोवर का अभिनन्दन किया गया। इस समारोह मे इस क्षेत्र की अनेक समाजों ने भाग लिया और श्री सोमनाथ जी मरवाह की अध्यक्षता मे आयोजित इस सम्मान आयोजन मे श्री श्यामसुन्दर सेठ ने श्री गुरमुखदास ग्रोवर को अभिनन्दन पत्र प्रस्तुत किया। इस अवसर पर दिल्ली सभा का प्रतिनिधित्व सभा मन्त्री ने किया। इस समारोह के विशेष अतिथि श्री बलराज मधोक थे। उन्होने अल्पसख्यकों के भारतीयकरण पर बल देते हुए इस ओर ध्यान खींचा कि भारतीयकरण के अभाव में किस प्रकार देश में विघटन की प्रवृत्तियां पनप रही है। इस अवसर पर सभा के वरिष्ट उपप्रधान महाशय धर्मपाल जी भी उपस्थित थे।

आर्यसमाज कोटला ने १ नवम्बर से ७ नवम्बर तक यजुर्वेद पारायण यज्ञ का आयोजन किया है, साथ ही वेद कथा भी होगी। इस यज्ञ का समय प्रातः ६-३० से ८-३० तक है। इसी समाज की ओर से १० से १५ नवम्बर तक राति को वेदकथा का आयोजन किया गया है जिसमें श्री पुरुषोत्तम जी व्याख्याता हैं और महेशचन्द्र जी भजनोपदेशक।

क्षेत्रीय आर्य प्रतिनिधि उपसभा शाहदरा की ओर से आर्यसमाज मंदिर गीता कालोनी में महर्षि दयानन्द सरस्वती निर्वाण दिवस का आयोजन किया गया है जोकि ९ नवम्बर रविवार को होगा। इस समारोह के प्रमुख वक्ता वानप्रस्थ श्री रामगोपाल जी होगे। इसके अतिरिक्त स्वामी ओमानन्द जी सरस्वती, स्वामी स्वरूपानन्द जी सरस्वती, तथा श्री प्रकाशचन्द्र जी शास्त्री महर्षि दयानन्द के जीवन पर अपने विचार प्रकट करेंगे।

### इस अंक में



सम्पादक :—वि० सा० विद्यालंकार

वेदमनन

# अग्नि सेवा

**समिधाऽग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ।**
**आस्मिन्हव्या जुहोतन ।। यजु ३-१**

ऋषि — आंगिरस. । देवता-अग्नि ।

आधिदैविक अर्थ—(अग्नि) भौतिक अग्नि को (समिधा) लकडियो से (दुवस्यत) प्रज्वलित करो और अतिथिं) सतत प्रज्वलित रखने के लिये (घृतैः) स्निग्ध द्रव्यों से (बोधयत) प्रदीप्त करो। तदनन्तर (अस्मिन्) इस प्रदीप्त अग्नि में (आ) आवश्यकतानुसार (हव्या) समिधा, पेट्रोल, तेल घृतादि हव्य पदार्थों को (जुहोतन) प्रदान करो।

आधिभौतिक अर्थ—(अग्नि) ज्ञान द्वारा आगे ले जाने वाले गुरु की (समिधा) नमक, तेल, लकडी आदि लाकर (दुवस्यत) सेवा करो। (अतिथिं) प्रगतिशील अथवा अतिथि के समान पूजनीय गुरु का (घृतै.) घृतादि दीपक पदार्थों द्वारा (बोधयत) प्रबुद्ध रक्खो। और आवश्यकतानुसार अन्न आदि अन्य पदार्थ प्रदान करते रहो।

याज्ञिक अर्थ—यज्ञाग्नि को समिधाओं से प्रज्वलित करो। घृताहुतियों से प्रदीप्त करो। और प्रदीप्त होने के बाद तिल आदि सामग्री द्रव्यों की आहुतियां दो।

सामाजिक अर्थ—(अग्नि) सारे समाज या राष्ट्र की उन्नति चाहने वाले राजा की (समिधा) स्थूल द्रव्यों द्वारा परिचर्या करो। घृत के समान स्निग्ध तथा सारभूत पदार्थों से अतिथि के समान उसकी, कठिन परिस्थितयों में प्रतीक्षा किया करो। (आ) सकट पार हो जाने के बाद (हव्या) राष्ट्र के लिये आवश्यक भोज्य पदार्थ (जुहोतन) संग्रह करके प्रदान करो।

सामाजिक अर्थ २—यदि राजा दुष्ट, स्वार्थी या स्वेच्छाचारी हो जाए तो—(अग्नि) दुष्ट तथा स्वार्थी नेता अथवा राजा (समिधा) लकड़ी से दण्ड द्वारा (दुवस्यत) पीड़ित करो, परिताप पहुंचाओ। (अतिथि) दूसरों के अधिकार की उपेक्षा करके भाई भतीजावाद द्वारा अपना घर भरने वाले राजा को (घृतै.) नाशक उपायो द्वारा (बोधयत) हिंसित करो। (आ) आवश्यकतानुसार (अस्मिन्) इसके कोषागर मे सगृहीत (हव्या) भोज्य सामग्री को (जुहोतन) ले लो-छीन लो।

आध्यात्मिक अर्थ—(अग्निं) अपनी आत्मा की—परमात्मा को पाने के लिये (समिधा) नैतिक तथा योग साधनों द्वारा (दुवस्यत) परिचर्या तथा प्रसादन करो। (अतिथि) अतिथि के समान कभी भी प्रत्यक्ष दर्शन देने वाले प्रभु की (घृतै.) घृत तुल्य दीप्तिवर्धक ज्ञान साधनों द्वारा (बोधयत) बोध प्राप्त करो अथवा प्रत्यक्ष अनुभव करने का प्रयत्न करो।

(आ) प्रत्यक्षानुभूति के अनन्तर (अस्मिन्) इस परमात्मा में अथवा इसकी बनाई सृष्टि के उपकार निमित्त (हव्या) अपनी सब मनोवृत्तियो तथा भोज्य-पदार्थों का (जुहोतन) दान कर दो।

निष्कर्ष—१. अग्नि के यौगिक अर्थ पद्धति द्वारा भिन्न भिन्न अर्थ करके अग्नि परक मन्त्रों के अनेक संगत अर्थ हो सकते हैं।

२. प्रगतिशील और अतिथि बनकर आए व्यक्ति का उत्तम तथा स्निग्ध पदार्थों द्वारा सत्कार करना चाहिये।

३, अपने स्वार्थ के लिये जनता के अधिकारो का हनन करने वाले शासक को दण्ड देना चाहिये, देश निकाला देना चाहिये और अनिवार्य होने पर हिंसा भी कर देनी चाहिये।

४. यज्ञाग्नि को प्रज्वलित रखना चाहिये। इससे वायु शुद्ध होकर स्वास्थ्य ठीक रहता है।

५. प्राणायामादि योग साधनों द्वारा, गुरु की सेवा करके ज्ञान प्राप्ति द्वारा, परमात्मार्पण करके जनसेवा द्वारा, अतिथि परमात्मा का बोध प्राप्त किया सकता है। प्रत्यक्ष अनुभूति हो सकती है।

६. स्वार्थ भावना शून्यमन से परार्थ किये जाने वाले सब कर्म यज्ञ अथवा परमात्मार्पण निमित्त कर्म होते हैं।

अर्थपोषक प्रमाण —

अग्निः—१. सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमग्रेनयति इति—परमात्मा।

२. सम्यक् ज्ञान प्रदानेन शिष्यमग्रेनयति—गुरु :।

३. प्रजा राष्ट्रमग्रेनयति इति—राजा

४. हुत पदार्थं सूक्ष्मतया सर्वत्रा-प्रेनति —अग्निः।

दुवस्यत—दुवस् परिताप परिचरणयोः। पीड़ित करना, सेवा करना। संस्कृत धातु कोष.।

अतिथिम्—अ+तिथि। अत+प्रत्यय (सातत्यगमने)। अद् (भक्षणे)+प्रत्यय चाहे जब प्रकट होन वाला। प्रगतिशील। दूसरे का अधिकार हड़पन वाला।

घृतैः—घृक्षरण दीप्त्योः। क्षरण नाशनम्—काशकृत्स्नधातु पाठ।

जुहोतन— हुदानादानयोः। दान प्रदानम्। आदान हणम् छीनना।

बोधयत—बुध अवगमने। ज्ञान। बुध हिंसायाम्। काशकृत्स्न।

विशेष—अगो मे रस को स्थिर रखने वाल—अंगिरस का पुत्र आंगिरस अर्थात् वीर्यवान् और प्राणवान् व्यक्ति ही आंगिरस ऋषि बनता है।

तदनन्तर वह अग्निदेव पद को प्राप्त करता है।

—मनोहर विद्यालंकार

श्वेताश्वतरोपनिषद्

# देव रूप जान लेने से मनुष्य 'आप्तकाम' हो जाता है

उस परमात्म-देव को जानकर—ज्ञात्वा देवम्, समार के अविद्या, क्लेशादि सब बन्धन छूट जाते हैं—सर्वपाशापहानि, अविद्या क्लेशादि के छूट जाने से जन्म-मृत्यु का चक्र छूट जाता है—क्षीणैः क्लेशैः जन्म मृत्यु प्रहाणिः। उसे जान लेना ही पर्याप्त नहीं है, जान लेने के बाद उसका ध्यान करते रहने से एक तीसरी अनुभूति प्राप्त होती है—तस्य अभिध्यानात् तृतीयं। वह तृतीय अनुभूति क्या है? परमात्मा मे ध्यान जम जाने से मनुष्य अपने को देह से भिन्न अनुभव करने लगता है—देहभेदे। देह से भेद अनुभव करने पर क्या होता है? देह से अपने को भिन्न अनुभव करने पर सब ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है—विश्वैश्वर्यम् — मनुष्य अनुभव करने लगता है कि वह ऐश्वर्यादि गुणों की खान है, उसे ससार असार दीखने लगता है। अब तक वह प्रकृति के साथ बंधा हुआ था, अब प्रकृति के बन्धन से छूटकर वह अपने केवल स्वरूप मे आ जाता है—केवलम्। अब उसे विषयों में भटकाने वाला कोई नही रहता, वह 'आप्तकाम' हो जाता है 'आप्तकाम' ११

वह देव जिसको जान लेने से मनुष्य 'आप्तकाम' हो जाता है; कहाँ है? वह देव कही दूर नही, वह सदा अपने भीतर ही विराजमान रहता है, यह जान लो—एतत् ज्ञेयम् नित्यम् एव आत्म-संस्थम्; उसे जान लेने के बाद और कुछ जानने के लिये नहीं बच रहता—न अतः पर वेदितव्य हि किंचित्। यह जानकर कि जीवात्मा 'भोक्ता' है, प्रकृति 'भोग्य' है, और परमेश्वर 'प्रेरक है—भोक्ता, भोग्यं प्रेरितार च मत्वा, यह समझ लो कि ब्रह्म के विषय में जो तीन बातें कही जा सकती थीं कह दी गई—सर्वं प्रोक्तम् त्रिविधं ब्रह्म एतत्। या मेरे लिये ब्रह्म का यही रूप है—ब्रह्म मे तत् ।।१२।।

जिस प्रकार अग्नि अपने मूर्त या व्यक्त रूप को छोडकर अपने कारण अमूर्त या अव्यक्त रूप मे चली जाय—अग्नेः यथा योनिगतस्य, तो उसका मूर्त रूप नही दीखता—मूर्तिः न दृश्यते, परन्तु उसका कोई-न-कोई चिह्न बचा रहता है जिससे हम जान सकते हैं कि यहा अग्नि थी—न एव च लिंगनाश, उस अग्नि को जिसका कारण इंधन है हम फिर-से ग्रहण कर सकते है—स भूयः एव इन्धन-योनि गृह्य, इसी प्रकार आत्मा तथा परमात्मा जो अमूर्त हैं—तद् वा उभय वै, ओंकार से—प्रणवेन, इस देह में ग्रहण किये जा सकते हैं—देहे ।।१३।।

लेखक :
प्रो० सत्यव्रत सिद्धांतालंकार

अपने देह को नीचे की ओर प्रणव को ऊपर की अरणि बनाकर स्व देहं अरणिं कृत्वा प्रणवं उत्तरारणिं, ध्यान की रगड़ के अभ्यास से—ध्यान निर्मन्थन अभ्यासात्, अपने अन्तःकरण के भीतर निगूढ़वत् विद्यमान परमात्म-देव का दर्शन करे—देवं पश्येत् निगूढवत्—अर्थात् जैसे अरणियो में अग्नि निगूढ है वैसे विश्व में परमात्म देव निगूढ है ।।१४।।

जिस प्रकार तिलों मे तेल—तिलेषु तैलम्,' दही में घृत—'दधनि इव सर्पिः' स्रोतों में जल—आपः स्रोतःसु, अरणियो मे अग्नि विद्यमान रहती है—अरणीषु च अग्निः इसी प्रकार इस परमात्मा को आत्मा में ग्रहण किया जाता है—एवम् आत्मा आत्मनि गृह्यते असौ। परन्तु वह दीखता 'सत्य' और 'तप' की रगड़ से है—'सत्येन एनम् तपसा यः अनुपश्यति' ।।१५।।

सर्वव्यापी परमात्मा को इस प्रकार जानो—सर्वव्यापिनम् आत्मानम्, जैसे दूध में घृत व्याप रहता है—क्षीरे सर्पिः इव अर्पितम्। इस आत्म-विद्या का मूल तप है, बिना तप के आत्म-विद्या प्राप्त नही होती—आत्मविद्या तपोमूलम्। यही परम ब्रह्मोपनिषद् है—तद् ब्रह्मोपनिषत्पर, यही परम ब्रह्मोपनिषद् है—'तद् ब्रह्मोपनिषत्पर इति ।।१६।।

इस उपनिषद् के प्रथम अध्याय में सृष्टि के कारणो का विवेचन करते हुए काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पच महाभूत, स्त्री, पुरुष, इनका संयोग - इन सब पर विचार करते हुए इन सबका निराकरण

(शेष पृष्ठ ६ पर)

## सम्पादकीय

# राष्ट्रपति प्रणाली : नयी चर्चा

महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में वैदिक राजनीति पर विचार करते हुए जिस शासन प्रणाली की चर्चा की है उसमे 'राजा' को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। उन्होंने राजा के गुणों और उसके कर्त्तव्यो के सम्बन्ध मे जो कुछ लिखा है उससे यह स्पष्ट होता है कि वे जिस प्रकार के राजा अथवा शासक की चर्चा कर रहे थे, उसे आज की राजनीतिक भाषा में 'राष्ट्रपति' नाम से सम्बोधित किया जाता है। उन्होंने लिखा है कि राजा और प्रजा मिलकर राज्य का संचालन करें। इस सम्मिलित शासन व्यवस्था के लिए उन्होने तीन प्रकार के सदनो या सभाओं की व्यवस्था के बारे में भी लिखा है। ये तीनो मिलकर एक 'बड़ी सभा' बनाते हैं। इसके अतिरिक्त और भी शासन सम्बधी व्यवस्थाओं की चर्चा महर्षि ने की है। परन्तु साथ ही उन्होंने इस बात पर बहुत जोर दिया है कि सभा की सदस्यता केवल योग्यतम एवं धर्मयुक्त व्यक्तियों को ही दी जानी चाहिए। इस सभा का सभापति राजा होता है। प्रशासनिक दृष्टि से प्रजा, राजा और सभा के अधीन होती है। मुख्य प्रशासक होने के कारण राजा ही प्रजा का शासक होता है। परन्तु महर्षि के विचारानुसार राजा सभा के अधीन होता है और राजा और सभा दोनो ही प्रजा के आधीन होते हैं।

महर्षि द्वारा चर्चित इस शासन व्यवस्था की प्रासंगिकता आज के संदर्भ मे बहुत महत्त्वपूर्ण है। पिछले कुछ दिनो से यह चर्चा चल रही थी कि संविधान मे परिवर्तन कर देश में राष्ट्रपति-प्रणाली लागू की जाए। अब यह चर्चा एक निश्चित दिशा लेकर राष्ट्रपति प्रणाली की आधारभूमि तैयार करने के लिए प्रचार का रूप ले गई है। कुछ क्षेत्रो मे यह भी चर्चा है कि राष्ट्रपति प्रणाली लागू करने के लिए संविधान मे संशोधन के लिए लोक सभा के इसी शीतकालीन अधिवेशन मे एक विधेयक प्रस्तुत किया जाएगा। जिस तेजी से चर्चा, प्रचार और अब उसे कार्यान्वित करने के प्रयत्न हो रहे हैं, उसे ध्यान मे रखते हुए आदर्श और व्यवहार की दृष्टि से राजनीति विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए इस पर अधिक गहराई से विचार करने की आवश्यकता है।

जहां तक आदर्श का सम्बन्ध है और शासन व्यवस्था की दृष्टि मे व्यावहारिकता का प्रश्न है, राष्ट्रपति-प्रणाली पर तब तक किसी प्रकार की कोई आपत्ति नही की जा सकती जब तक कि वह महर्षि दयानन्द के शब्दो मे प्रजा के अधीन' न हो और आधुनिक शब्दो मे उसका आधार पूरी तरह से जनतान्त्रिक न हो। व्यावहारिक दृष्टि से अमरीका आदि देशो मे राष्ट्रपति प्रणाली बहुत कुछ विभिन्न संसदीय अंकुशो के कारण अपने आप मे बहुत स्वच्छन्द नहीं है, उसे निर्वाचित प्रतिनिधियो के दृष्टिकोण को हमेशा ध्यान में रखना पड़ता है। यह अवश्य है कि इस प्रणाली मे राष्ट्रपति को निषेधाधिकार प्राप्त होता है। परंतु इसकी भी एक सीमा है। अन्य देशो की राष्ट्रपति प्रणालिया इतनी लोकाश्रित नहीं हैं। अन्य देशो की प्रणालियो मे राष्ट्रपति को कही अधिक स्वच्छन्दता मिली हुई है और इसका परिणाम यह है कि इन देशों की राष्ट्रपति प्रणाली मे तानाशाही की प्रवृत्तियां भी देखने को मिलती हैं। हमारे देश मे इस समय राष्ट्रपति प्रणाली की जो चर्चा चल रही है, उसमे प्राय. फिलीपिन्स की राष्ट्रपति प्रणाली का उदाहरण दिया गया है। फिलीपिन्स की राष्ट्रपति प्रणाली मे राष्ट्रपति को कुछ ऐसे असाधारण अधिकार प्राप्त हैं जिनके कारण वहा तानाशाही की प्रवृत्तिया भी सामने आयी हैं। साथ ही वहा के कुछ क्षेत्रो से विद्रोह के भी निरन्तर समाचार मिलते रहते हैं।

स्वामी जी महाराज ने 'राजा' प्रणाली में राजा को प्रजा के अधीन रहने की जो बात उठाई उसका कारण यह था कि राजा कभी स्वच्छन्द न होने पाए। परन्तु आधुनिक राष्ट्रपति प्रणालियो मे अमरीका को छोड़कर प्राय: सब स्थानो पर राष्ट्रपति स्वच्छन्द और तानाशाह बन गए हैं। जब-जब इस प्रणाली की विकृतियो के कारण जनसाधारण की कठिनाइयां बढ़ी हैं और जनसाधारण ने आन्दोलन अथवा सघर्ष का रास्ता पकड़ा है तो उसका एक ही प्रकार से सामना किया गया है और वह रास्ता रहा है राष्ट्रपति के अधिकारो मे वृद्धि। इस प्रकार यह प्रणाली निरन्तर जन-साधारण की उपेक्षा करके और उनके अधिकारो को कुचलते हुए उन पर अपना शिकंजा कसने से कभी नही चूकी। हम अपने देश मे भी यह अनुभव करते हैं कि पिछले तैंतीस वर्षों मे जब-जब प्रशासनिक कुशलता के अभाव मे आन्दोलन और सघर्ष की स्थिति आई है तो सरकार और प्रशासन ने अपने हाथ में असाधारण अधिकार लिए है। सन् ७५ मे आपातस्थिति लागू करते समय तो यह स्थिति अपनी चरम सीमा पर पहुच गई। उस समय भी निरन्तर कमजोर वर्गों की आर्थिक स्थिति को सुधारने और समाज की असमानता को दूर करने के लिए जोरदार नारे लगाए गए और समाजवाद के नाम पर अधिकाधिक स्वच्छन्दतापूर्ण व्यवस्थाएं लागू की गई। अब इस समय फिर इसी प्रकार की चर्चा शुरू हो गई है कि कमजोर वर्गों की स्थिति में सुधार, आर्थिक असमानता को दूर करने तथा समाजवाद को लाने के लिए राष्ट्रपति प्रणाली लागू करने की बात की जा रही है। इसी से यह सन्देह होता है कि कि किसी आदर्श अथवा उदार प्रणाली को अथवा जन-साधारण की स्थिति को सुधारने के लिए इस प्रणाली को लागू करने की चर्चा हो रही है। पिछला अनुभव इस चर्चा का समर्थन नही करता।

हमारे प्रशासनिक इतिहास की एक यह भी विशेषता रही है कि प्रशासनिक अधिकारियों को अधिक से अधिक अधिकार प्रदान किये जाते रहे हैं। परंतु इसकी तुलना में उनके दायित्वों की कभी चर्चा नही हुई। परिणाम यह है कि अधिकार सम्पन्न अधिकारी वर्ग छोटे से छोटे कार्य के लिए भी उत्तरदायी नहीं है और इस दायित्वहीनता का दण्ड प्रतिदिन आम आदमी को भुगतना पड़ता है। कोई भी साधारण सा व्यक्ति इसकी पुष्टि कर सकता है। जब हमारी सारी शासन प्रणाली इस दायित्वहीनता पर पनप रही है तब अधिक अधिकार सम्पन्न राष्ट्रपति प्रणाली को लागू करने का परिणाम यह होगा कि जन-साधारण की कठिनाई और अधिक बढ जायेगी। जिस प्रकार पिछले तैंतीस वर्षों मे जनसाधारण की न तो गरीबी दूर हुई, न लोगों को समान अधिकार प्राप्त हुए और इसके विपरीत उन्हे निरन्तर अधिक मे अधिक दमनपूर्ण स्थितियो का सामना करना पड़ा। इसी प्रकार आगे भी अधिक अधिकार और शक्ति सम्पन्न प्रशासनिक अधिकारियो से पीड़ित होना पड़ सकता है।

यदि प्रस्तावित राष्ट्रपति प्रणाली मे राष्ट्रपति के निर्णयो को संसद की विभिन्न समितियो के साथ बांध दिया जाये, ये संसदीय समितिया लोकतन्त्रीय दृष्टि से अधिक शक्ति सम्पन्न हो, उन्हें अधिकार प्राप्त प्रशासको को बुलाकर उनके कार्यों की जांच करने का अधिकार प्राप्त हो तो राष्ट्रपति प्रणाली की सार्थकता हो सकती है। बिना अकुश के राष्ट्रपति प्रणाली की कल्पना बहुत भयावह है। हम अनुभव करते हैं और हमारी धार्मिक पृष्ठ-भूमि यह कहने को विवश करती है कि जब तक 'राजा' और 'सभा' आधुनिक शब्दो मे राष्ट्रपति, उसके सलाहकार और सदन प्रजा अथवा जनता के अधीन न हों अथवा जनसाधारण की आकांक्षाओ का प्रतिनिधित्व न करते हो तब तक राष्ट्रपति प्रणाली को देश मे लागू करना देश के लिए हितकर नही होगा। यह सम्भव हो सकता है कि हमे फिर उन परिस्थितियो मे लौटकर फंसना पड़े जिनका कुछ अनुभव हम आपातकाल मे कर चुके हैं। इस बार का अनुभव पहले की अपेक्षा अधिक भयंकर भी हो सकता है।

# सात्विकता का दण्ड

प्राय: समाचारपत्रों में यह पढने को मिलता रहा है कि मद्रास के भूतपूर्व राज्यपाल प्रभुदास पटवारी ने अपने कार्य काल मे राजनिवास में इस प्रकार के आदेश लागू कर दिये थे कि वहा मांस, मदिरा के प्रयोग पर पूरी तरह से प्रतिबन्ध लग गया था और साथ ही सात्विकता की दृष्टि से अन्य जो व्यवस्थाएं आवश्यक थी, वे सब भी वहां लागू कर दी गई। श्री पटवारी के दुर्भाग्य से यह सात्विक दृष्टिकोण राजनीतिक क्षेत्रों में कटु आलोचना का शिकार बन गया। न केवल तमिलनाडु के राजनीतिज्ञ बल्कि केन्द्र के राजनीतिज्ञ भी उनके इन निर्णयो से बौखला गये। अंग्रेजी समाचारपत्रो ने भी, जिनके सम्पादकीय विभाग के कर्मचारी प्राय: मांस-मदिरा के शौकीन होते हैं, इस पटवारी विरोधी आन्दोलन में कूद पड़े। परिणाम यह हुआ कि श्री पटवारी को उनके पद से हटा दिया गया और लगभग उन्हे अपमानित होकर मद्रास छोड़ना पड़ा।

यदि यह प्रश्न केवल राजनीति तक सीमित होता तो हमे उस पर किसी प्रकार की टिप्पणी करने की आवश्यकता न होती परन्तु हम लोग दैनिक जीवन मे जिस शुद्धता और सात्विकता के पक्षपाती हैं उस पर राजनीतिक आक्रमण हमे कष्टदायी प्रतीत होता है। हम इस बात का समर्थन नही कर सकते कि किसी व्यक्ति को उसके सात्विक आचरण के कारण उसके पद मे हटाया जाये। यदि उन्हें इस आधार पर हटाया जाता कि वे राज्यपाल पद पर जनता पार्टी द्वारा नियुक्त हुए थे तो उस पर कोई भी टिप्पणी करना हम अपने क्षेत्र से बाहर मानते क्योंकि इससे पहले अनेक राज्यो से जनता मन्त्रीमडलो को हटा दिया गया था। राजनीतिक स्थिति का मुकाबला

(शेष पृष्ठ ६ पर)

सार्वभौम आर्य महासम्मेलन, लन्दन

# इंगलैण्ड में आर्यसमाज का प्रचार: एक विहगावलोकन

लेखक :
डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार

इंगलैंड में आयोजित सार्वभौम आर्य सम्मेलन ने लोगों का ध्यान बहुत तेजी से आर्यसमाज की ओर खीचा है। इस महासम्मेलन का विवरण 'आर्य सन्देश' में प्रकाशित हो चुका है। महासम्मेलन के संबंध में अनेक क्षेत्रों में जो चर्चा हुई है, उसे ध्यान में रखत हुए सम्मेलन के संबंध में इतिहास के विद्वान् डा० सत्यकेतु का लेख यहां प्रस्तुत है। प्रस्तुत लेख में इंगलैंड मे आर्यसमाज की स्थापना और उसके सिद्धान्तों के प्रचार के लिए हुए प्रयत्नों का विहगावलोकन और आर्यसमाज के प्रचार में व्यस्त कुछ प्रमुख व्यक्तियों को चर्चा की गयी है।

लन्दन में सार्वभौम आर्य महासम्मेलन का आयोजन अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। विशाल ब्रिटिश साम्राज्य (राष्ट्रपरिवार) की यह राजधानी पाश्चात्य संस्कृति, ईसाई धर्म और अंग्रेजी सभ्यता का प्रधान केन्द्र है। अठारहवीं सदी में इसी नगरी से उन ईसाई मिशनों का संगठन हुआ था, जो भारत की सम्पूर्ण जनता को अपने धर्म में दीक्षित करने के लिये प्रयत्नशील थे, और अंग्रेजी राजशक्ति का प्रयोग कर देहात के लोगो को जबर्दस्ती ईसाई बनाने में भी संकोच नहीं करते थे। इसी नगरी में मैकाले ने यह स्वप्न लिया था, कि अंग्रेजी शिक्षा द्वारा ऐसे भारतीयों की एक श्रेणी उत्पन्न कर दी जाएगी जो केवल रंग और शकल में ही भारतीय होंगे और अंग्रेजी भाषा तथा रहन सहन को अपना कर अपने धर्म तथा संस्कृति को हीन समझने लगेंगे। इसमें सन्देह नहीं कि दो सदी तक लगभग संसार के बड़े भाग पर ब्रिटेन का प्रभुत्व रहा, और इस काल में एशिया तथा अफ्रीका के अनेक देशों में ईसाई धर्म एवं पाश्चात्य संस्कृति का खूब प्रचार हुआ। ब्रिटिश लोग अपने इस उत्कर्ष पर यदि गर्व अनुभव करते, तो यह स्वाभाविक ही था।

वेस्टइन्डीज, अफ्रीका, लेबेनान आदि के समान भारत में ईसाई धर्म पाश्चात्य संस्कृति को जो सफलता नहीं मिल सकी, उसका प्रधान श्रेय महर्षि दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज को प्राप्त है। भारतीय लोग केवल क्रिश्चिएनिटी के प्रबल आक्रमण से अपनी परम्परागत आर्य संस्कृति तथा सनातन वैदिक धर्म की रक्षा कर सकने में ही समर्थ हुये, अपितु विश्व के विभिन्न देशों में अपने धर्म एवं संस्कृति की उत्कृष्टता का सिक्का जमाने के लिये भी प्रवृत्त हुए। इसी का यह परिणाम है, कि आज यूरोप, ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका, कनाडा, थाईलैण्ड, अफ्रीका आदि सर्वत्र हिन्दू मन्दिर और आर्यसमाजें स्थापित हैं। इङ्गलैण्ड में आर्य धर्म का कितना प्रचार है, इसे अपनी आंखों से देखने का अवसर मुझे सार्वभौम आर्य महासम्मेलन में सम्मिलित होने पर प्राप्त हुआ। २१ अगस्त को लण्डन पहुंचते ही मैं सब से पहले वहां की आर्यसमाज में गया। लण्डन का एक मुहल्ला वेस्ट ईलिंग है, जहां सम्भ्रान्त वर्ग के अंग्रेज निवास करते हैं। भारतीय इस क्षेत्र में बहुत कम हैं। इसी की आरगाइल रोड पर आर्यसमाज मन्दिर है। जिस भवन में आर्यसमाज है वह पहले एक ईसाई गिरजाघर था। यह देखकर कौन आर्य गर्व अनुभव नहीं करेगा, कि जहां पहले ईसा और मरियम की प्रतिमाएं थीं, वहां अब महर्षि दयानन्द सरस्वती, स्वामी श्रद्धानन्द जी, महाराज और महात्मा हंसराज के तैल-चित्र हैं, और भवन के ऊपर जहां पहले क्रास था, वहां अब ओ३म् का झण्डा फहरा रहा है। लण्डन में प्रति सप्ताह आर्यसमाज का अधिवेशन होता है। सन्ध्या, हवन, तथा प्रार्थना के पश्चात् वेदमन्त्रों पर प्रवचन किया जाता है, और अच्छी बड़ी संख्या मे आर्य नरनारी सत्संग में सम्मिलित होते हैं। आर्यसमाज के चार साप्ताहिक अधिवेशनों में मैं उपस्थित रहा, और यह देखकर मुझे अपार हर्ष हुआ, कि किसी भी अधिवेशन में उपस्थिति सौ से कम नहीं थी। इङ्गलैण्ड के आर्यजनों में अपने धर्म के प्रति कितनी आस्था है, यह इसका प्रमाण है।

सार्वभौम आर्य महासम्मेलन का आयोजन लण्डन की आर्यसमाज द्वारा किया गया था। अतः इस समाज का कुछ अधिक विस्तार के साथ परिचय देना उचित होगा। इङ्गलैण्ड में आर्य धर्म का प्रवेश तो तभी हो गया था, जबकि उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में महर्षि दयानन्द सरस्वती की प्रेरणा से श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा ने आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में संस्कृत के अध्यापन के साथ-साथ वैदिक धर्म का प्रचार भी प्रारम्भ कर दिया था। उनके बाद लाला लक्ष्मीनारायण जी और लाला टेकचन्द जी सदृश अनेक सज्जनों ने लण्डन मे आर्यसमाज की स्थापना का प्रयत्न किया। सन् १९३७ में जब मैं लण्डन में था, तो लाला टेकचन्द जी के निवास स्थान पर आर्य नरनारी एकत्र हुआ करते थे, और सन्ध्या, हवन, प्रार्थना आदि किया करते थे। ऐसे दो अवसरों पर मैं भी सत्संग में सम्मिलित हुआ था। पर उस समय लण्डन मे भारतीयों की संख्या बहुत कम थी। और आर्यसमाज की स्थापना के ये प्रारम्भिक प्रयत्न सफल नहीं हो सके थे। जो थोड़े से भारतीय उस समय लंदन में थे, उन्होंने "हिन्दू एसोसियेशन आफ यूरोप" नाम से एक संगठन बना लिया था, जिसमें आर्यसमाजियों के अतिरिक्त सनातनधर्मी भी सम्मिलित थे। इस एसोशियेशन के माध्यम से डा० धर्मवीर चौधरी और पण्डित ऋषिराम जी ने वैदिक धर्म के प्रचार का प्रयत्न किया। डा० चौधरी की प्रारम्भिक शिक्षा गुरुकुल कांगड़ी मे हुई थी और उनके पिता मास्टर काशीराम जी गुरुकुल में चिरकाल तक अधिष्ठाता रहे थे। उनके लिये वैदिक धर्म के प्रति प्रेम होना सर्वथा स्वाभाविक था।

भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय लोग बड़ी संख्या मे ब्रिटेन जाने आने लगे, और वहां भारतीयों की संख्या मे निरन्तर वृद्धि होती गई। इस दशा में यह आवश्यकता अनुभव की जाने लगी कि लण्डन में हिन्दुओं का एक ऐसा केन्द्र होना चाहिये, जहां उन्हें अपने धर्म तथा संस्कृति से, परिचय प्राप्त करने का अवसर मिलता रहे। इसी के परिणामस्वरूप 'हिन्दू सेन्टर' की स्थापना हुई। इस संस्था के प्रथम प्रधान श्री फकीरचन्द सोंधी थे, जिन्होंने १९६२ से १९६६ तक हिन्दू सेन्टर को वैदिक धर्म तथा संस्कृति का केन्द्र बनाने के लिये अत्यन्त उत्साह से कार्य किया। उनके पश्चात् प्रोफेसर सुरेन्द्रनाथ भारद्वाज इस सेन्टर के प्रधान पद पर निर्वाचित हुए। वे १९७८ तक बड़ी लगन एवं उत्साह के साथ कार्य करते रहे, और उनकी अध्यक्षता मे इस सेन्टर ने अच्छी उन्नति की। श्री सोंधी और प्रोफेसर भारद्वाज-दोनो ही आर्यसमाजी हैं, अतः स्वाभाविक रूप से हिन्दू सेन्टर द्वारा वैदिक धर्म का प्रचार होता रहा। यद्यपि उसका नाम हिन्दू सेन्टर था, पर क्रिया में उस द्वारा वही प्रयोजन सिद्ध होता था, जो आर्यसमाज से होता। वर्तमान समय में भी हिन्दू सेन्टर एक पृथक् संस्था के रूप में विद्यमान है। उसके पुरोहित श्री हरवंशलाल 'हंस' आर्यसमाजी हैं। जो आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब मे उपदेशक भी रह चुके हैं। हिन्दू सेन्टर के अधिवेशनों में वे सन्ध्या हवन कराते हैं, और वेदमन्त्रों का प्रवचन करते हैं।

अफ्रीका महाद्वीप के विविध-देश जब स्वतन्त्र होने लगे, तो उनमें बसे हुए बहुत-से भारतीयों ने इङ्गलैण्ड में बसना प्रारम्भ कर दिया। उन्हें ब्रिटिश नागरिकता प्राप्त थी, अतः उनके लिये इङ्गलैण्ड में स्थायी रूप से बस जाने में कोई कठिनाई नहीं थी। इस स्थिति से लाभ उठा कर बहुत से भारतीय इङ्गलैण्ड के विविध नगरों—विशेषतया लण्डन में आकर बस गये, इनमें आर्यसमाजियों की संख्या बहुत अधिक है। विशेषतया केनिया से जो भारतीय इङ्गलैण्ड में गये, उनमें बहुसंख्यक आर्यसमाजी हैं। इसीलिये १९७० ईस्वी में लण्डन में वैदिक मिशन की स्थापना की गई, जिसकी स्थापना मे श्री. के. डी. कपिल, श्रीमती सावित्री छाबड़ा, श्री हरवंशलाल मौदगिल श्री दिलीप वेदालंकार और श्री फकीरचन्द मायर आदि का विशेष कर्तृत्व था। केनिया आदि से आकर बसे हुए जिन आर्य नर-नारियो ने वैदिक मिशन के कार्य को आगे बढ़ाने के लिये भगीरथ प्रयत्न किया और उसके लिये उदारतापूर्वक धन दान में दिया, उन सब के नामों का भी इस लेख मे उल्लेख कर सकना सम्भव नहीं है। वैदिक मिशन वही कार्य कर रहा था, जो आर्यसमाज का है। इसके प्राय सभी सदस्य महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म में पूर्ण निष्ठा रखते थे। कुछ वर्ष पश्चात् इस वैदिक मिशन ने ही आर्यसमाज का रूप प्राप्त कर लिया। पर अभी आर्यसमाज का कोई अपना भवन नहीं था। अपने भवन के अभाव में आर्यसमाज के कार्य की प्रगति मे बाधा पड़ती थी। पर लण्डन के आर्य बन्धुओं के लिये अपनी प्रिय संस्था के निमित्त धन संग्रह करना कोई कठिन बात नहीं थी। उन्होंने बड़े उत्साह तथा लगन के साथ धन एकत्र करना प्रारम्भ किया, और अनेक सम्पन्न आर्यजनो ने आर्यसमाज मन्दिर के लिये उदारतापूर्वक धन प्रदान किया। इन में पण्डित सत्यदेव भारद्वाज वेदालंकार का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के सुयोग्य स्नातक हैं और औद्योगिक क्षेत्र मे उन्होने असाधारण उन्नति की है। वैदिक धर्म के प्रति उनकी अगाध आस्था है, और वे न केवल धन द्वारा आर्यसमाज की सहायता करते हैं, अपितु स्वयं वैदिक धर्म के प्रचार में संलग्न रहते हैं। लण्डन मे आर्यसमाज के भवन के लिये उन्होंने ५,००० पौंड (९२,००० रुपये) प्रदान किये। लण्डन आर्यसमाज के लिये २९,३८१ पौंड में भवन को क्रय किया गया था, और उसकी मुरम्मत आदि में ४०,००० पौंड के लगभग खर्च हुए। इस प्रकार लण्डन के आर्यसमाज भवन पर कुल व्यय ६८ हजार पौंड (१२,५८,०००-

# इंगलैंड में आर्य धर्म के प्रचारक

## भारतीय प्रवासियों में धार्मिक प्रवृत्तियों को जागृत रखने वाले पुरोधा

रुपये) के लगभग हुआ, जो सब इङ्गलैण्ड में बसे हुए आर्य नर नारियो द्वारा प्रदान किया गया। लन्दन में आर्यसमाज के लिये कितना प्रेम है, यह इससे भली भांति स्पष्ट हो जाता है।

लन्दन के अतिरिक्त नाटिङ्घम, बर मिंघम आदि कतिपय अन्य नगरों में भी आर्य समाजें विद्यमान हैं। और वह समय दूर नहीं है जबकि इङ्गलैण्ड में आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना हो जाएगी।

इङ्गलैण्ड में वैदिक धर्म का जो प्रचार हुआ है, उसमें गुरुकुल कांगड़ी विश्व विद्यालय के स्नातकों का कर्तृत्व महत्वपूर्ण है। पण्डित सत्यदेव भारद्वाज वेदालंकार के अतिरिक्त गुरुकुल के जिन स्नातकों ने लण्डन तथा इङ्गलैंड के अन्य नगरों में आर्य धर्म के प्रचार में विशेष तत्परता दिखायी है, उनमें पण्डित अमृत वेदालकार का नाम उल्लेखनीय है। लीड्स को अपना केन्द्र बना कर वे वैदिक धर्म का प्रचार करते रहे हैं। इङ्गलैण्ड में बसे हुए भारतीय अपने परम्परागत धर्म से विमुख न हो जाएं, इस प्रयोजन से वे उन्हें गायत्री मन्त्र की दीक्षा देते रहते हैं। उनका कहना है, कि सब हिन्दू सम्प्रदाय ओंकार, वेद तथा गायत्री को समान रूप से मानते हैं। ये तीन तत्त्व ऐसे हैं, जिनको आधार भूत मान कर सब हिन्दुओं को संगठित किया जा सकता है। पंडित अमृत वेदालकार की यही धुन रहती है, कि सब हिन्दू यह जान लें कि वेद उनके धर्म ग्रन्थ हैं, ओंकार ईश्वर का सर्वोत्कृष्ट नाम है और गायत्री मन्त्र का हिन्दू धर्म में वही स्थान है जो इस्लाम में कलमे का है। वेदालंकार जी को अपने प्रयत्न में अच्छी सफलता भी हो रही है। गुरुकुल कांगड़ी के अन्य स्नातकों में श्री धर्मेन्द्रनाथ ने बरमिङ्घम मे और श्री श्यामसुन्दर स्नातक ने नाटिङ्घम में वैदिक धर्म के प्रचार के लिये प्रशसनीय कार्य किया है। पण्डित देवनाथ विद्यालंकार भी लण्डन में बसे हुए हैं, और गुजराती समाज में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए प्रयत्न करते रहते हैं।

हिन्दू सेन्टर तथा आर्यसमाज के अतिरिक्त लण्डन में अनेक हिन्दू मन्दिर भी हैं। इनमें से तीन मन्दिरो में जाने का मुझे अवसर मिला। इनमें राम, कृष्ण, हनुमान्, शिव, पार्वती आदि हिन्दू देवी देवताओं की मूर्तियां एव प्रतिमाए प्रतिष्ठापित हैं और पौराणिक विधि से पूजा की जाती है। यज्ञ-हवन भी इनमें होते रहते हैं, और हिन्दू त्योहार भी उत्साहपूर्वक मनाये जाते हैं। इङ्गलैण्ड के हिन्दुओं में आर्यसमाजी तथा सनातन धर्मियों में कोई विरोध भाव अथवा पृथक्त्व की भावना नहीं है। इसी कारण आर्यसमाज के सदस्य भी हिन्दू मन्दिरों में जाने मे कोई सकोच नहीं करते। और इन मन्दिरों मे आयोजित त्यौहारों तथा उत्सवों में उत्साहपूर्वक हाथ बटाते हैं। लण्डन के समीप ही स्लौ (slough) नाम का एक नगर है। वहां के हिन्दू मन्दिर द्वारा कृष्ण जन्माष्टमी बड़ी धूमधाम से मनायी गई। इस समारोह में भाषण करने के लिए मुझे भी निमन्त्रित किया गया, और मुझे यह देख कर सुखद आश्चर्य हुआ, कि इस उत्सव के आयोजन में एक सुप्रसिद्ध आर्य महिला भी उत्साह पूर्वक सहयोग दे रही थी। इङ्गलैण्ड मे बसे हुए विविध सम्प्रदायो के हिन्दुओं मे इस प्रकार का सहयोग वस्तुतः वाञ्छनीय है। इससे वहा के हिन्दुओं को बल मिलता है।

लण्डन में मैं पांच सप्ताह रहा। इस काल में मुझे बहुत से आर्य परिवारो के निकट सम्पर्क मे आने का अवसर प्राप्त हुआ। सब के सम्बन्ध मे यहां लिख सकना सम्भव नही है। पर कतिपय आर्य नर नारियों का उल्लेख करने के मोह का संवरण कर सकना मेरे लिये सम्भव नहीं हो सकेगा। लण्डन मे आर्य धर्म की दशा को समझने में भी इससे सहायता मिलेगी। श्री एम एल. कोछड़ इन्जीनियर हैं, और उनकी पत्नी श्रीमती शकुन्त कोछड़ लोक कल्याण विभाग में एक महत्त्वपूर्ण पद पर कार्यरत हैं। इनकी पुत्री का नाम एन्जेला और पुत्र का नाम अरुण है। यह एक आदर्श आर्य परिवार है। श्री और श्रीमती कोछड़ की एक ही आकांक्षा है। वे चाहते हैं, कि उनकी सन्तान अपना जीवन वैदिक धर्म के उच्च आदर्शों के अनुसार बिताए और आर्य समाज की सेवा में सदा तत्पर रहें। पाश्चात्य संस्कृति के हानिकारक प्रभाव से अपनी सन्तान को बचाने के लिये वे बहुत प्रयत्नशील हैं। आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्सगो तथा अन्य अवसरों पर कुमारी एन्जेला भक्ति के भजन गाती है। जिन्हें सुनकर श्रोता मन्त्र मुग्ध हो जाते हैं। अरुण भी आर्यसमाज के समारोहों में उत्साहपूर्वक भाग लेता है। इन भाई-बहनों पर जो संस्कार कोछड़ दम्पती द्वारा डाले जा रहे हैं, उनसे यह विश्वास पूर्वक कहा जा सकता है कि बड़े होने पर वैदिक धर्म के प्रचार व प्रसार में इनका कर्तृत्व अत्यन्त महत्त्व का होगा।

श्री हरबंस लाल मौद्गिल पहले सरकारी सर्विस में थे। अब सेवानिवृत्त हैं, और अपना समय आर्यसमाज के कार्य में लगाते हैं। वृद्ध होते हुए भी उनमें आर्य धर्म के लिये अनुपम उत्साह है, और वे पूरी लगन के साथ समाज सेवा में तत्पर हैं। लण्डन में वैदिक मिशन की स्थापना मे उनका कर्तृत्व महत्त्व का था, और इस समय वे अपना तन, मन, धन सब आर्य समाज के लिये अर्पित किये हुए हैं। उनका सारा परिवार लण्डन में बसा हुआ है, और उनके सब निकट सम्बन्धी भी लण्डन में ही रहते हैं। ये सब वैदिक धर्म के अनुयायी हैं, और इनके सम्पर्क में आकर बहुत सुखद व सात्त्विक अनुभूति होती है।

लण्डन के आर्य बन्धुओं में डा० बक्शी एक अत्यन्त उत्साही व प्रेमी सज्जन हैं। चिकित्सक के रूप में उनकी स्थिति बहुत ऊंची है। होमियोपैथी और एक्यूपंचर चिकित्सा विधि मे वे निष्णात् हैं और चिकित्सा के लिये किसी से कोई फीस नहीं लेते। सब कार्य वे सेवाभाव से करते हैं। वैदिक धर्म तथा संस्कृत भाषा से उन्हें अगाध प्रेम है। प्रौढ आयु के होते हुए भी वे संस्कृत सीखने मे लगे हैं। और इस भाषा मे उन्होने अच्छी प्रवीणता भी प्राप्त कर ली है। उपनिषदो को वे मूल संस्कृत मे पढते हैं और उनके अध्यात्मवाद के सम्बन्ध मे विचार विमर्श करते रहते हैं। हिन्दी भाषा की शुद्धता पर वे बहुत ध्यान देते हैं। अरबी, फारसी के शब्दों का हिन्दी में प्रयोग उन्हें जरा भी सह्य नही है। बातचीत मे यदि आप 'मुश्किल' 'इन्तजार' सदृश शब्दो का प्रयोग कर दें, तो बक्शी जी टोके बिना मानेंगे नही। उनका कहना है कि कौन-सा ऐसा भाव है, जिसकी अभिव्यक्ति शुद्ध हिन्दी मे नही की जा सकती? फिर उर्दू, फारसी के शब्दों से अपनी भाषा को भ्रष्ट क्यों किया जाए?

लण्डन में मेरी भेंट श्री वर्मा जी से भी हुई। वे मूलतः मेरठ के निवासी हैं, और उनका सारा परिवार कट्टर आर्य समाजी है। जब महर्षि दयानन्द सरस्वती ने मेरठ मे आर्यसमाज की स्थापना की थी, तो उसके प्रथम सदस्यों में वर्मा जी के पितामह भी थे। महर्षि के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। वर्मा जी के अनुसार उनके पितामह यह बताया करते थे कि सन् १८५७ के स्वाधीनता-संग्राम के समय महर्षि बहुधा मेरठ-दिल्ली आते-जाते रहते थे और ब्रिटिश शासन के विरुद्ध सघर्ष मे उनका कर्तृत्व महत्त्वपूर्ण था।

लण्डन के जिन आर्य परिवारो से मेरा सम्पर्क हुआ, उनमे श्रीमती वेदवती जी शर्मा के परिवार को मैं कभी भूल नही सकूंगा। श्रीमती शर्मा की वैदिक धर्म और आर्यसमाज में अगाध आस्था है। सन्ध्या हवन और अतिथि सेवा उनके जीवन के अभिन्न अग हैं। आर्यसमाज का कोई भी कार्य हो, उसमें सक्रिय रूप से सहयोग देने के लिये वे सदा तत्पर रहती हैं।

लण्डन रहते हुए अन्य भी अनेक आर्य नर-नारियों से परिचय पाने का मुझे अवसर मिला। सब के सम्बन्ध में इस लेख में लिख सकना न सम्भव है, और न उसकी आवश्यकता ही है भारत से हजारो मील की दूरी पर बसे हुए इन आर्यों मे अपने धर्म और संस्कृति के प्रति जो निष्ठा है, और अपने जीवन को महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं के अनुरूप बनाने का ये जिस ढग मे प्रयत्न करते हैं, उसे देखकर इस बात मे कोई सन्देह नही रह जाता कि वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। ●

(पृष्ठ २ का शेष)

कर दिया है, अन्त मे परमेश्वर को ही सृष्टि का कारण माना है। जो जिज्ञासु सृष्टि पर विचार कर रहे हैं उनका निर्णय यह है कि सृष्टि एक चक्र की तरह चल रही है, जीवन नदी के एक प्रवाह की तरह बह रहा है। सृष्टि-चक्र तथा जीवन प्रवाह मे तीन तत्व हैं जो नित्य हैं। वे हैं ईश्वर, जीव तथा प्रकृति इन तीनो को 'अज' संज्ञा दी गई है। 'अज' का अर्थ है—न जायते इति अजः जो उत्पन्न नहीं होता वह अज है। क्योंकि ये तीनो उत्पन्न नहीं होते इसलिये ये तीनों 'अज' होने के कारण अनादि हैं, इनका कोई आदि नहीं। ब्रह्म-ज्ञान का अर्थ है—इन तीनो के भेद को समझ लेना। इन तीनो मे भेद यह है कि जीवात्मा भोगता है, प्रकृति भोग्य है, परमेश्वर इन दोनों को प्रेरणा देने वाला है—भोक्ता, भोग्यं, प्रेरितार च मत्वा। इनमे प्रकृति भोग्य है, क्षर है, खर जाती है, परमात्मा तथा जीवात्मा अक्षर हैं, खरने वाले नहीं। प्राकृतिक पदार्थों के शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श के भोग के साथ बध जाने के कारण हम प्रकृति के पाशो से बध जाते हैं—अनीशः च आत्मा बध्यते भोक्तृ भावात्, प्रकृति मे अपने संबध को तोड लेना ही इन पाशो से मुक्त होने का रास्ता है—ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशैः। आत्मा के जानने की बात यह है कि प्रकृति जड है, आत्मा तथा परमात्मा चेतन हैं। आत्मा जड के साथ अपनी एकता स्थापित करेगा तो उसमे प्रकृति के राग, द्वेष, कलह कलेश आदि गुण आ जायेंगे, परमात्मा के साथ अपनी एकता स्थापित करेगा तो उसमे सच्चिदानन्द ईश्वर के गुणो की अभिव्यक्ति होगी। परमात्मा सर्वत्र है, परन्तु उसे पाने के लिये दूर जाने के स्थान में अपने भीतर ही उसे देख लेना सुगम है। यह काम प्रणव द्वारा परम देव के ध्यान से हर किसी के लिये सभव है। जैसे तिलो मे तेल, दूध में घी, स्रोतों में जल, अरणि मे अग्नि विद्यमान है, उसे प्रकाश मे लाने की जरूरत है, वैसे हमारे भीतर ही परमात्म-देव विद्यमान हैं, ध्यान द्वारा उन तक पहुचा जा सकता है। —क्रमशः

(पृष्ठ ३ का शेष)

राजनीतिक दावपेचो से किया जाना चाहिए और इसमें सात्विक वृत्तियो को सामने खडा करके उसके आधार पर किसी को दण्डित करना शोभनीय नहीं माना जा सकता। हमारी यह धारणा है कि यदि धर्म राजनीति मे प्रवेश करता है तो राजनीति को अधिक शुद्धता प्रदान करता है परन्तु यदि धर्म मे राजनीति का प्रवेश होता है तो धर्म विकृत हो जाता है, और जनसाधारण में विकृत धर्म की कोई प्रतिष्ठा नही होती। इस दुखद स्थिति पर अब केवल खेद ही प्रकट किया जा सकता है।

## आर्यसमाजों के सत्संग

९-११-८०

अन्धामुगल प्रतापबाग—प० केशवचन्द्र मुन्जाल; अमर कालोनी—डा० रघुनन्दनसिंह; आर्यपुरा- पं० जगदीशप्रसाद विद्यावाचस्पति, आर० के० पुरम सैक्टर ६—पं० सत्यभूषण वेदालकार; आनन्द विहार—प्रो० वीरपाल विद्यालकार; इन्द्रपुरी—पं० देवराज वैदिक मिश्नरी; किदवाईनगर—श्रीमती लीलावती आर्या; कालकाजी—पं० वेदपाल शास्त्री; करोलबाग—आचार्य कृष्णगोपाल; कोटला मुबारिकपुर—पं० हीराप्रसाद शास्त्री; कीता कालोनी—पं० प्रकाशचन्द्र शास्त्री तथा स्वामी स्वरूपानन्द भजनोपदेशक; ग्रेटर कैलाश I—प० दिनेशचन्द्र शास्त्री; ग्रेटर कैलाश-II—पं० आशानन्द भजनोपदेशक; गुडमण्डी—प० सीसराम भजनोपदेशक; १५१ गुप्ता कालोनी—पं० रामरूप शर्मा; गोविन्द भवन दयानन्द वाटिका—प० ओम्प्रकाश भजनोपदेशक; जनकपुरी बी० ब्लाक—श्रीमती सम्पदा आर्या; तिलकनगर—श्री मोहनलाल गांधी; तीमारपुर—पं० ईश्वरदत्त एम० ए०; दरियागंज—पं० महेन्द्रप्रताप शास्त्री; नारायण विहार—पं० खुशीराम शर्मा; न्यू मोतीनगर—पं० वीरव्रत शास्त्री; पजांबीबाग—पं० मुनिशंकर वानप्रस्थी; पजांबीबाग एक्स्टैनशन १४/३- पं० विष्णुदेवप्रसाद विद्यालंकार; बाग कड़ेखां—पं० बरकतराम भजनोपदेशक; बिरला लाईन्स—प्रो० सत्यपाल वेदार; माडल टाऊन—श्रीमती प्रकाशवती शास्त्री एम० ए०; मोतीबाग—पं० प्राणनाथ सिद्धान्तालकार; महावीरनगर—प० विश्वप्रकाश शास्त्री; मोतीनगर—पं० अर्जुनदेव प्रभाकर; माडलबस्ती—प० गजेन्द्रपाल शास्त्री; महरौली—पं० अर्जुनदेव आर्य; रघुवीरनगर—प० सत्यपाल मधुर भजनोपदेशक; रमेशनगर—पं० हुकीमचन्द्र; राणाप्रतापबाग—पं० विजयपाल शास्त्री; लड्डूघाटी—पं० तुलसीराम भजनोपदेशक; लाजपतनगर; ला० लखमीदास; विक्रमनगर—प० मनोहर विरक्त; विनयनगर—डा० वेदप्रकाश महेश्वरी; सदरबाजार पहाडी धीरज—प० गणेशदत्त वानप्रस्थी; सुदर्शन पार्क- प्रो० भारत मित्र शास्त्री, सरायरोहिला—पं० गणेशप्रसाद विद्यालकार; साऊथ एक्स्टैनशन-II—प० अशोककुमार विद्यालकार; हौजखास-ई-४१। साय ४ से ५, आचार्य हरिदेव सि० भू०।

## आर्यसमाज : गतिविधि

**आर्य प्रतिनिधि सभा अन्ध्रप्रदेश का निर्वाचन**—आर्य प्रतिनिधि सभा आन्ध्र प्रदेश की रविवार दिनाक २६ अक्तूबर ८० को आर्य समाज जड चलाक जिला : महबूबनगर मे सभा की वार्षिक साधारण सभा के अधिवेशन मे सभा के पदाधिकारियो एव अन्तरंग सदस्यो का निर्वाचन श्री रामचन्द्रराव जी कल्याणी प्रधान सभा की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुआ।

निर्वाचन से पूर्व एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया कि "आर्य प्रतिनिधि सभा मध्य दक्षिण "आज से" आर्य प्रतिनिधि सभा आन्ध्रप्रदेश" कहलाएगी। उपस्थिति १६० प्रतिनिधियो ने इस प्रस्ताव को सर्वसम्पति से पारित किया। निर्वाचन के अनुसार श्री रामचन्द्रराव जी कल्याणी प्रचण्ड बहुमत से प्रधान और डा० विजय वीर जी विद्यालकार सर्वसम्पति से निर्विरोध मन्त्री निर्वाचित हुए। उपप्रधान श्री देवेन्द्रनाथ जी भनोट, श्री के० वी० गगाधर जी तथा श्री गगाराम जी एडवोकेट के नाम स्वीकार किए गए। सदन ने उक्त पाँचों अधिकारियो को अधिकार दिया कि शेष सभी अधिकारियो अन्तरग सभासदो तथा अन्य सभाओ के अधिकारियों एवं सदस्यो का चयन करे।

इस अवसर पर श्री रामगोपाल जी वानप्रस्थ प्रधान सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा विशेष रूप से आमन्त्रित थे। उनकी उपस्थिति मे यह निर्वाचन निर्विघ्न संपन्न हुआ।

## ॥ भजनावली कार्यक्रम ॥

क्षेत्रीय आर्य प्रतिनिधि उपसभा—क्षेत्र सफदरजग, नई दिल्ली के अर्न्तगत आने वाली बारह आर्यसमाजो का सामुहिक साप्ताहिक सत्सग दिनाक २६-१०-१९८० को प्रात काल ८ बजकर ३० मिनट से लेकर दोपहर १२-०० बजे तक आर्यसमाज मन्दिर, मोतीबाग 'साऊथ' मे सम्पन्न हुआ। जिसमे सभी समाजो के अधिकाश सदस्यो ने सपरिवार भाग लिया और इस प्रकार सत्सग मे उपस्थिति लगभग तीन सौ तक रही। सत्सग की विशेषता यह थी कि यज्ञ के पश्चात् ढाई घन्टे तक केवल भजनों का ही कार्यक्रम 'भजनावली' के नाम से चलाया गया, जिसमे सभी समाजों से आये हुए सदस्यो ने वैदिक सिद्धान्त-पूलक प्रभुभक्ति के मनोहर भजन प्रस्तुत किए जिनका सभी उपस्थित आर्यजनो ने बड़ी तन्मयता से रसास्वादन किया।

उपरोक्त कार्यक्रम में महिलाओं का उत्साह, योगदान विशेषरूप से प्रशंसनीय था।

# दयानंद सा दीप बुझ स्वयं, बांट गया आलोक शिव अमर।

तम वैभव पर पली अमा में,
जब लगता था सब कुछ नश्वर ।
दयानन्द-सा दीप बुझ स्वय,
बाट गया आलोक शिव अमर ॥

जग मे आया, पला परिधि मे,
बधन तोड, बाध मर्यादा,
रूढिवाद का दुर्ग ढहाया,
पथ दिखलाकर श्रुति का सादा !

जडता का दृढ व्यूह तोडकर,
क्षमता का मुख मजग मोडकर।
भर अंकुत एकता जनो मे,
आग्रह किया सत्य पर ज्यादा ॥

प्रलोभनों पर लात मारकर,
मुखर कर गया प्रिय जीवन-स्वर।
दयानद-सा दीप बुझ स्वयं,
बांट गया आलोक शिव अमर ॥१॥

ढोगो की प्राचीर गिराकर,
तर्कों की पनपायी भाषा ।
पराधीनता की जड़ खोदी,
स्वतंत्रता की दे परिभाषा ॥

परदेशी शासन से हटकर,
प्रिय स्वराज्य मे बल-जीवट भर।
नैतिकता की नीद भगाकर,
शुद्ध सघटन को दी भाषा ॥

आर्य राष्ट्र का ऋक्थ सहेजा,
विभुता का बन नीड़ मनोहर ।
दयानद-सा दीप बुझ स्वय,
बाट गया आलोक शिव अमर । २ ॥

नव विकीर्ण अलोक वृत्त पर,
स्वामि श्रद्धामद पल गया।
गुरुदत्तो का गर्जन सुनकर,
घोर संकुचित अनृत दल गया।
लेखराम की त्याग-तपस्या,
ग्राम-नगर की जटिल समस्या ।
उभरी-मचली सफल बन गयी,
झूठा माया जाल जल गया।

शास्ता चेता चिति के बल पर,
कृति की पाली मधुर धरोहर।
दयानद-सा दीप बुझ स्वय,
बाट गया आलोक शिव अमर ॥३॥

दयानद की जय के बल पर,
क्यों तुम नीद नगर मे खोये ?
रचना-सघटना मे हट क्यो —
बीज कलह के कटुतम बोये ?

आर्य-भावना से कुछ हट कर,
ऋषि की थाती से कुछ कटकर,
आर्यो ! बोलो, अनार्यता के—
कलुष-शिविर मे क्यो जा रोये ?

विभव-मढ़ियो के पचड़ो मे,
कुचल रहा विज्ञान कलेवर।
दयानंद-सा दीप बुझ स्वय,
बाट गया आलोक शिव अमर ॥ ४ ॥

वर्षो से जो जगा रही है
दीवाली, तुम सभलो-जागो।
अन्धानुकरण, क्षुद्र आचरण,
सुप्ति-वरण की ममता त्यागो।

बन्धन, कर्म, संघटन जगा दो;
राष्ट्र-वाद से शक्ति रंगा दो।
मानवता का कलश सजाकर,
बनो पहरुए मत डर भागो ॥

तभी बचेगा भारत अपना,
विश्व-शांति की उठा नव लहर।
दयानंद-सा दीप बुझ स्वयं,
बांट गया आलोक शिव अमर ॥५॥

सार्वभौम आधार-विन्दु पर,
स्वस्थ प्रकाशन को प्रति पालो ।
वेद, स्मृति, वेदाग, ब्राह्मणो—
को हिन्दी माध्यम में ढालो ॥

ऋषि-ग्रन्थो के सुलभ सस्करण,
करो प्रचारित आर्य, आचरण।
एक मार्ग पर ओ३म ध्वजा ले,
एक साथ उठ मचलो लालो !

थिरकर मुहूर्त, कर्दम कांपे,
ऐसा व्यक्ति करो गौरव वर।
दयानंद-सा दीप बुझ स्वयं,
बांट गया आलोक शिव अमर ॥ ६ ॥

उसी समय ऋषि-ऋण से तुमको,
अधिक नहीं, कुछ मुक्ति मिलेगी ।
प्रश्नों के उत्तर उभरेंगे,
भावी पीढ़ी-कली खिलेगी।

संहारक आयुध न चलेंगे,
गुट बाजों के छल न पलेंगे,
स्वस्थ धर्म-समभाव भूति से,
सम्प्रदाय की मूल हिलेगी,

तभी स्वप्न साकार बनेगा,
बची रहेगी भली धरोहर।
दयानद-सा दीप बुझ स्वयं,
बांट गया आलोक शिव अमर ॥७॥

—भैरवदत्त शुक्ल

## 'ज्योति जलाओ'

दनुज वृत्तियां फैली भू पर, अट्टहास करते हैं निशिचर।
मानवता का रुदन चतुर्दिक, गूंज रहा धरती पर सत्वर ॥
उठो ! गरजते सिंह सदृश तुम, दनुजवृत्तियों से टकराओ।
जगमग जगमग ज्योति जलाओ ॥

घिरा धरा पर घना अंधेरा, लगता यहां तिमिर का फेरा।
पड़ा हुआ है देवभूमि पर, कंस तथा रावण का डेरा ॥
राम-कृष्ण के वंशज ! जाग्रत होकर, रण का बिगुल बजाओ।
जगमग जगमग ज्योति जलाओ ॥

ज्ञान प्रकाश धरा पर बिखरे, सुख-समृद्धि-सफलता सचरे।
मानवता पथ का अनुगामी-बन, मानव धरती पर विचरे ॥
शांति तथा समरसता भू-पर पुनः पुरातन सी ले आओ।
जगमग जगमग ज्योति जलाओ ॥

—राधेश्याम आर्य



दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के लिए श्री मन्दारी लाल वर्मा द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा आर्यधन प्रिंटिंग एजेन्सी द्वारा सैनी प्रिन्टर्स, पहाड़ी धीरज, दिल्ली, फो। ५१२१६३ में मुद्रित। कार्यालय १५ हनुमान रोड फोन नं० ३१०१५० नई दिल्ली

दिल्ली आर्यप्रतिनिधि सभा का साप्ताहिक मुखपत्र

एक प्रति ३५ पैसे, वार्षिक १५ रुपये वर्ष ४ अंक ४ रविवार, १६ नवम्बर १९८० दयानन्दाब्द १५६

# ऋषि-निर्वाणोत्सव पर नेताओं का आह्वान

## वैदिक धर्म के प्रचार और मातृभूमि की रक्षा के लिए दृढ़ संकल्प से आगे बढ़ने पर बल

सर्वतोमुखी क्रान्ति के मूल प्रणेता दिव्य द्रष्टा महर्षि दयानन्द का ९७ वा निर्वाण दिवस ७ नवम्बर को दिल्ली के विशाल रामलीला मैदान मे बडे समारोह से मनाया गया। इसका आयोजन दिल्ली राज्य की १८० आर्यसमाजो एव अनेक शिक्षण सस्थाओं ने आर्य केन्द्रीय सभा के तत्वावधान में किया। उत्सव की अध्यक्षता दयानन्द मठ के आचार्य स्वामी सर्वदानन्द जी ने की।

सभा से पूर्व बृहद् यज्ञ किया गया जिसके ब्रह्मा आचार्य महात्मा दयानन्द जी थे। यज्ञ के तीन विशिष्ट यजमान थे ट्रिनीडाड दक्षिणी अमेरिका के बैरिस्टर श्री लक्ष्मीदत्त शिवप्रसाद शुक्ल (सपत्नीक), श्री शादीलाल तथा श्री रघुवीर सिंह (आर्यसमाज माडल टाउन दिल्ली)। यज्ञ के समय लगभग दो हजार आर्य जन उपस्थित थे। यज्ञ की समाप्ति पर महात्मा दयानन्द जी ने अपने प्रवचन में इस ओर ध्यान खीचा कि यद्यपि हम 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का नारा लगाते हैं तो भी देश की समस्याएं हमारे नियन्त्रण से बाहर जा रही हैं। ऐसे अवसर पर चुनौतियो का सामना करने के लिए सगठित होकर गुरुवर दयानन्द के आदेशों का पालन करने के लिए तैयार हो जाना चाहिए।

इस अवसर पर स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती ने ध्वजारोहण का कार्य सम्पन्न किया। उन्होने इस अवसर पर कहा कि 'ओ३म्' ध्वज को विश्वभर मे फैलाने का हमें सकल्प लेना चाहिए। महर्षि ने हमें दो मुख्य काम सौंपे थे—विश्व मे वेद का प्रचार और भारत को आर्य राष्ट्र बनाना। अभी तो हमें अपनी आवाज शिक्षण सस्थाओ मे पहुँचाने मे भी कठिनाई पैदा हो रही हैं। इन सस्थाओ के १४ लाख छात्रो को आर्यो और वेदों के अपने सम्बन्ध मे जो भ्रामक शिक्षाए दी जाती हैं उसके कारण हमारी नई पीढी मे अपनी ही सस्कृति और परम्परा के विरोध भाव पैदा हो रहे हैं। इस ओर हमें विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है।

ध्वज गीत तथा वैदिक राष्ट्र गान श्री प्रकाशचन्द्र व्यवस्थापक आर्य बाल गृह ने बहुत ही मधुर स्वर मे प्रस्तुत किया।

### श्रद्धांजलि सभा--

महर्षि दयानन्द के निर्वाण के इस पर्व पर स्वामी सर्वदानन्द जी की अध्यक्षता मे अनेक वक्ताओ ने अपनी श्रद्धाजलि अर्पित की। श्रद्धाजलि अर्पित करने वालों में सार्वदेशिक सभा के प्रधान वानप्रस्थ श्री रामगोपाल जी, गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय के कुलपति श्री बलभद्र कुमार हूजा, ससद सदस्य श्री यशपाल कपूर, ट्रिनिडाड की आर्य प्रतिनिधि सभा के भूतपूर्व प्रधान श्री लक्ष्मी दत्त शिवप्रसाद गुप्त श्री बनारसी सिंह श्री बनवारीलाल शादा, श्रीमती शान्ता भंडारी, वयोवृद्ध श्री केशवचन्द मुत्जाल, श्री सत्यपाल बेदार, और श्री करतार सिंह था।

श्री रामगोपाल जी वानप्रस्थ ने अपने भाषण में हिन्दू कोड बिल की व्यवस्थाओं के केवल हिन्दुओं पर लागू होने तथा उसमे अन्य अल्पसख्यक वर्गों के मुक्त रहने के दुष्परिणामो की ओर ध्यान खीचा। उन्होने इस बात पर ध्यान दिलाया कि जब तक देश भर के लिए सभी सम्प्रदायो के लिए एक जैसा कानून नही बनाया जायेगा, तब तक हिन्दू कोड बिल समाज मे असतुलन पैदा करता रहेगा। इसके कारण हिन्दुओ को अनेक बार धर्म परिवर्तन करना पडता है।

इसी प्रसग मे उन्होने मुरादाबाद के दगो की चर्चा करते हुए ध्यान दिलाया कि मुरादाबाद के मुस्लिम विद्रोह के कारण वहा के हरिजनो को सबसे अधिक हानि हुई है। हरिजनो के मकान जला दिये हैं और उन्हे अन्य प्रकार से भी पीडित और अपमानित किया गया। उन्होंने इन हरिजनो के पुर्नवास के लिए जोरदार प्रयत्न करने की आवश्यकता पर जोर दिया। उन्होने कहा कि सार्वदेशिक सभा इस दृष्टि से कदम उठा रही है और आशा है जल्दी ही सभा की ओर से हरिजनो के लिए मकान बनवा दिये जायेंगे।

वीर अर्जुन के सम्प्रादकीय विभाग से सबद्ध श्री बनारसी सिंह ने आह्वान किया कि महर्षि को सच्ची श्रद्धाजलि यही होगी कि हम राष्ट्र रक्षा का व्रत लेकर भारत में पनप रहे देशद्रोही तत्वो से लोहा लें। उसका आधार उन्होंने तीन देवियो मातृभाषा, भारतीय संस्कृति और भारत भूमि के प्रति निष्ठा को प्रबल रूप में जगाना बताया।

ससद सदस्य श्री यशपाल कपूर ने आर्यसमाज को सामाजिक कुरीतियो के निवारण हरिजन एव दलितोद्धार तथा देशभक्ति के विशाल आन्दोलन की संज्ञा देते हुए कहा कि इसमें कहीं कोई संकीर्णता नहीं है। बाहरी प्रदूषण को दूर करने के लिए यज्ञ का विधान सर्वोत्तम है।

ट्रिनीडाड की आर्य प्रतिनिधि सभा के पूर्व प्रधान श्री लक्ष्मीदत्त शुक्ल एडवोकेट ने कहा कि आर्यसमाज और महर्षि दयानन्द का संदेश उनके देश के लोगो को शान्ति प्रदान कर रहा है। बारह लाख जनसंख्या के उस देश मे आर्यसमाज के हजारो सदस्य हैं। वहाँ १५ आर्य समाजें हैं और ९ आर्य विद्यालय हैं।

अध्यक्ष पद से बोलते हुए स्वामी सर्वदासनन्द जी महाराज ने आह्वान किया कि वैदिक धर्म के प्रचार और महर्षि के सिद्धान्तो के प्रचार के लिए हमें दृढ सकल्प लेना होगा और आर्यसमाज के संगठन को मजबूत बनाने को सक्रियता प्रयास करनी होगी। उन्होने स्वाध्याय द्वारा जीवन निर्माण और दान की प्रवृत्ति को बढाने पर भी जोर दिया और कहा कि शुद्धिकार्य मे तेजी लाने की जरूरत है।

इस सारे आयोजन को सफल बनाने के लिए सर्वश्री महेन्द्रकुमार शास्त्री, राजेन्द्र दुर्गा एव प्राणनाथ घई ने अथक

(शेष पृष्ठ ४ पर)

### सम्पन्न परिवार विवाह सम्बन्ध

सम्पन्न परिवारो के आपसी वैवाहिक सबंध कराने के लिए सुप्रसिद्ध श्री राममूर्ति जी कैला-प्रधान, आर्य समाज हनुमान रोड, नई दिल्ली आर्य समाज मे सायकाल ६ से ७ घजे तक उपस्थित रहते हैं। श्री कैला सपन परिवारो एवं उद्योगपतियो के आपसी वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कराने के लिए प्रसिद्ध हैं। उनकी सेवाओ का लाभ उठाने के लिए सायंकाल आर्य समाज में उनसे सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है।

### इस अंक में



सम्पादक :—वि. सा. विद्यालंकार

**वेदमनन**

# अग्नि (परमात्मा) के तीन रूप तथा कार्य

**भूर्भुवः स्वद्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा । तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठे अग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे । यजु : ३-५**

ऋषिः—प्रजापतिः । देवता-अग्निः ।

शब्दार्थ—(अग्निः) परमात्मा (भूः) सबको उत्पन्न करके उनके निवास, मगल और वृद्धि का कारण है। (भुव) स्वय चित् स्वरूप होते हुए चेतन मात्र की चेतना को उच्चतर पर ले जाने वाला है। (स्वः) स्वय आनन्द स्वरूप होने हुए प्राणी मात्र को आनन्द प्राप्त कराने वाला है। वह (भूम्ना द्यौरिव) महिमा मे द्युलोक के समान तथा (वरिम्णा-पृथिवी इव) विस्तार में पृथिवी के समान अगम्य है।

हे (देवयजनि पृथिवि) देवजनों के यज्ञो की आधार भूमि (तस्याः ते पृष्ठे) उस तेरे ऊपर (अन्नाद्याय) अन्नादि की प्राप्ति तथा भक्षण के लिये (अन्नादम्) अन्न (भोग्य) द्वारा बाधने वाले (अग्निम्) परमात्मा अथवा भौतिक अग्नि को (आदधे) मन मे धारण करता हूँ, तथा उपयोग के लिये स्थापित करता हूँ।

निष्कर्ष :- परमात्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है। तीनो लोको का स्रष्टा, धर्ता है। उसकी महिमा और विस्तार अनन्त तथा अगम्य हैं। सब भोग्य पदार्थों का दाता वही है। इसलिये उसे अपने मन मे सदा धारण किये रहना चाहिये।

२- भौतिक अग्नि ही सब अन्नों को पकाने का निमित्त है। इसलिये भौतिक भोगो की प्राप्ति के लिये उसकी स्थापना करके उसका भरपूर उपयोग करना चाहिये।

३- पृथ्वी सब कर्मों की आधार भूमि है। अच्छे या बुरे दोनो तरह के सब कर्म इसी पर होते हैं। परमेश्वर ऐसी कृपा करें कि यह भूमि हमारे लिये सदा देव-यजनी बनी रहे।

विशेष :- प्रजा मात्र की रक्षा चाहने वाला ऋषि प्रजापति ही अपनी साधना को बढाते-बढाते सब को भोग्य पदार्थ प्रदान करने वाला और उन्हें आगे बढाने वाला अग्नि बनाता है।

परमात्मा ही प्रजापालन के कारण प्रजापति और सबको अन्न प्रदान करके उन्हें कर्म बन्धन मे बाँधने वाला अन्नाद अग्नि है।

अर्थ पोषक आधार :- अन्न+अद (भक्षणे, अदिबन्धने च) अन्नादः ।
भू - सत्तायां मगले वृद्धौ निवासे व्याप्ति सम्पदोः ।
अभिप्राये च शक्तौ च प्रादुर्भावे गतौ च भूः ॥
भुवः-भुवो अवकल्कने । स्व-सुखमुदक वा, मोक्षसुख, सुखस्वरूपम् । (स्वामी दयानन्द)
अन्नाद्याय—अन्न+अद्य (भक्षणम्)+चतुर्थी ।

—मनोहर विद्यालंकार

# सुधारक, सेवी, सम्पादक :
# स्व० द्वारकाप्रसाद सेवक

**लेखक :**
**द्वा० न० वर्मा**

लगभग ६० वर्ष की आयु मे बम्बई मे, ३० अक्तूबर को श्री द्वारका प्रसाद जी सेवक का निधन उन निर्भीक तथा पुराने मूल्यो, आस्थाओ और आदर्शों को मानने वालो की घटती हुई सख्या को और कम करने वाली घटना है, जो सेवा को निस्वार्थ कर्म, पत्र-सम्पादन को सामाजिक क्रान्ति और समाज-सुधार को अपने जीवन का ध्येय बनाकर चले थे। सेवक जी ने अपने जीवन का आरम्भ इसी मिशन' मे किया और विदाई की वेला तक इसी को लेकर चलते रहे। वे पद-लोलुपता से दूर स्वाधीनता-सग्राम मे भी सक्रिय रहे और अनेक क्रान्तिकारियों से भी उनका निकट सम्पर्क था।

आर्यसमाज उनका प्रमुख कार्यक्षेत्र था परन्तु वहां भी बागी, विद्रोही कहे जाने वाले सेवकजी ने सदा अपने ही समाज मे सुधार को अन्यो मे सुधार से अधिक महत्व दिया। चार दशक पूर्व उनकी प्रेरणा परिश्रम और प्रकाशन के फल, 'आर्य समाज किस ओर", पुस्तक ने आर्य समाज में आ रही बुराइयों को उखाड फेंकने का प्रयास किया था। उनका वहीं मिशन हाल तक बना रहा। कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित "पतन के कगार पर" पुस्तक (जो श्री दीनानाथ जी सिद्धातालकार के सहयोग से सेवक जी ने लिखी और स्वय प्रकाशित की) जैसे उनके समस्त जीवन के इस सुधारवादी दृष्टिकोण का जीवन्त प्रमाण है।

फीरोजाबाद मे जन्म, शाहजहापुर, बुलदशहर और नैनीताल मे शिक्षा के बाद सेवक जी ने अपना सक्रिय सामाजिक साहित्यिक जीवन इन्दौर मे प्रारम्भ किया और आचार्य केशवदेव शास्त्री के 'नव-जीवन' का सम्पादन सभाला। शास्त्री जी को सेवक जी अपना गुरु मानते थे और जब शास्त्री जी अमरीका चले गये तब सेवक जी ने पत्रिका का कार्यभार सभाला। सेवक जी ने अपनी निर्भीकता का परिचय उस समय भी दिया जब उनके गुरु एक अमरीकी महिला से विवाह कर बैठे। तब उन्होने लिखा था कि अन्तर्राजीय, अन्तर प्रान्तीय विवाह तो उचित है वाछनीय है, परन्तु अतर राष्ट्रीय विवाह के लिए अभी उचित समय नहीं है। उस विवाह का क्या हुआ, कहा तक उसने आर्य समाज और हिन्दू जाति को समर्थ बनाने मे योग दिया, किसी को नही मालूम।

सेवक जी अपने आरम्भिक कार्यक्षेत्र, इदौर, मे करीब २० वर्ष सक्रिय रहे। वही उन्होंने मातृ मदिर व अनाथालय की स्थापना की और वही सरस्वती सदन के माध्यम से ऐसी प्रसिद्ध पुस्तकें लिखवाई/प्रकाशित की जिन्होने देश और समाज की बहुत सेवा की। प्रवासी भारतवासी (लेखक श्री बनारसी दास चतुर्वेदी), 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' (स्वामी भवानी दयाल सन्यासी), फीजी में २२ वर्ष, जैसी महत्वपूर्ण पुस्तकों का श्रेय सेवक जी को है। कुली प्रथा को बंद करवाने का श्रेय यदि किसी पुस्तक को दिया जा सकता है तो वह प्रवासी भारतवासी ही है। महात्मा गाँधी को हिन्दी जगत मे परिचित करवाने का श्रेय दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास ही है। आर्य मार्तण्ड, भारतीय आदर्श, सद्धर्म प्रचारक, वैदिक सदेश आदि पत्र-पत्रिकाओं का कुशल सम्पादन भी सेवक जी ने पूरी निष्ठा से किया। वे सम्पादन के सबध मे अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण रूप से निभाते थे। रचनाओ को निखारते थे, और लेखको तथा कवियो को प्रोत्साहन देने मे सदा तत्पर रहते थे।

इदौर मे समाज-सेवा मे सेवकजी का अद्वितीय स्थान था। वस्तुतः सेवक जी का उपनाम उन्हे तभी मिला जो उन्होने सहर्ष स्वीकार किया। अधिकांश उन्हे सेवक जी नाम से ही जानते थे।

इदौर, मसूरी और उसके बाद दिल्ली तथा अब पिछले ४० वर्ष से बम्बई ही सेवक जी का कार्यक्षेत्र रहा जहाँ उन्होने प्रकाशन और समाज सेवा तथा एक नये क्षेत्र—चिकित्सक मे भी सेवा की। दिल्ली मे उन्होने सेवा सदन नाम से आयुर्वैदिक औषधियो की फार्मेसी भी स्थापित की और अनेक उपयोगी दवाइयाँ तैयार कराईं। व्यापारिक बुद्धि और रुचि के अभाव के कारण यह उपक्रम अधिक समय चल नही सका और बंद करना पडा।

बम्बई मे सेवक जी ने नालन्दा प्रकाशन के माध्यम से अनेक पुस्तको का प्रकाशन किया जिनमें भारत की भाषा (श्री सत राम जी बी ए.), हमारा समाज, शबनम (श्री जहूर बख्श), दो फूल (श्रीमती सत्यवती मलिक), ग्राम स्वराज आदि महत्वपूर्ण पुस्तको का स्थान है। इन सभी प्रकाशनो के पीछे कुछ उद्देश्य था, कुछ संदेश था।

हिन्दी प्रचार भी सेवक जी के जीवन का एक पवित्र उद्देश्य था जो उन्होने अहिन्दी भाषी बम्बई मे १६४० से ही शुरू कर दिया था। उन्होंने अहिन्दी भाषियो को, विशेष रूप से युवक-युवतियों को निःशुल्क हिन्दी पढाने का कार्य किया और पुस्तको के साथ उन्हे स्नेह भी प्रदान किया। उनमे से अनेक सेवक जी को पिताजी ही कहते थे।

सेवकजी जात पाँत के कट्टर विरोधी रहे। उनकी सतान को भी बहुत समय तक पता ही न था कि वे हिन्दू जाति की किस उपजाति के है। सेवक जी ने कभी अपनी उपजाति अपने नाम के साथ नही लिखी, जनगणना मे वे धर्म के कालम मे वैदिक लिखवाते थे। वे मानते थे कि जात पाँत के कारण हिन्दू समाज दुर्बल हुआ है। इसी फूट ने जर्जर उसे किया है और इसी ऊच-नीच के कारण यह 'पतन के कगार पर' पहुँच गया है उनकी अतिम पुस्तक का शीर्षक भी यही था।

रूढियो और जातपात के विरुद्ध विद्रोह सेवकजी का प्रिय विषय था, शौक और मिशन था। उन्होने ईसाई बन चुके बाजपेयी परिवार को फिर शुद्ध कर उसी परिवार की कन्या से उनका विवाह कराया, दहेज का तो प्रश्न ही नही उठता था। उस समय यह भी एक साहसिक कार्य था परन्तु सेवकजी ने सदा ही साहस और विद्रोह के कार्य किये है। सेवकजी कहा करते थे : मैने अनेक बार धोखे खाये हैं। लाहौर मे एक स्वामी (आर्य स्वामी जी नहीं) के हाथो जहर भी खाया और तब मुश्किल से उनकी प्राणरक्षा हो सकी थी—परन्तु उनका कहना था कि मुझे एक ही बात का सन्तोष है कि मैने कभी किसी को धोखा नही दिया। नई पीढी को सेवकजी के आदर्शो से साहस, निष्ठा, सेवा और सन्तोष की प्रेरणा लेनी चाहिए।

सम्पादकीय

# राजनीति की शिकार हरिजन समस्या

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने अभी कुछ दिन पूर्व मुरादाबाद के मुस्लिम विद्रोह के शिकार हरिजनो की सहायता के लिए एक अपील की थी। इस विद्रोह के समय न केवल मुरादाबाद के हरिजनो की सम्पत्ति नष्ट की गयी बल्कि उन्हे अनेक यातनायें भी सहनी पडी और साथ मे हरिजन महिलाओ को भी अपमानित होना पडा। ऐसी पीडाजनक स्थिति मे किसी भी सभ्य समाज का हरिजन के प्रति सहानुभूति का होना और उनकी सहायता के लिए आगे आना एक स्वाभाविक और मानवीय कार्य है। हमे विश्वास है कि हमारी शिरोमणि सभा ने सकटग्रस्त हरिजनो की सहायता के लिए और उनके आवास की व्यवस्था के लिए जो अपील की है उसका हमारे समाज पर अच्छा प्रभाव होगा और इस मानवीय कार्य के लिए लोग उदारतापूर्वक आगे आयेंगे।

जैसाकि हम इस सारे सकट को मानवीय रूप लेते है इसी प्रकार यदि इसे राजनीतिक क्षेत्रो में भी मानवीय रूप में लिया जाय तो सम्भवत हरिजनो का सकट इतना उग्र न होने पाता और उन्हें इतनी यातनाएँ न सहनी पडती और न अपमानित होना पडता। स्थिति से ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे राजनीतिज्ञ मानवीय सकट को उस रूप में नही ले रहे जिस रूप में उसे लिया जाना चाहिए। राजनीतिज्ञों का अनुगमन करने वाले अग्रेजी समाचार पत्र भी हरिजनो के इस सकट पर लगभग मौन रहे हैं। यह एक बडी विचित्र सी स्थिति है कि जब सवर्ण और पिछडी जाति कहे जाने वाले समृद्ध हरिजनो पर किसी भी प्रकार का अत्याचार करते हैं तो अग्रेजी समाचार पत्रो के कालम के कालम इन घटनाओ से रंगे रहते हैं और महीनो तक इनकी चर्चा होती हैं। इन घटनाओ के विश्लेषण के नाम पर सारे हिन्दू समाज को अपराधी बनाकर कटघरे में खडा कर दिया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे देश के राजनीतिज्ञो और अग्रेजी समाचार पत्रो का मानवीयता केवल तभी जाग्रत होती है जब हिन्दुओं का एक वर्ग अपने दूसरे कमजोर वर्ग से दुर्व्यवहार करता है। इन लोगो ने सामान्य मानवीय व्यवहार को भी बहुसख्यक और अल्पसख्यक वर्गो में बाँट रखा है और ये लोग अपना अधिकार समझते हैं कि केवल बहुसख्यक वर्ग के दुर्व्यवहार को ही प्रचारित किया जाय।

फिर भी समस्या को चाहे किन्ही रूपो में क्यो न बाँटा जाये वह मूलत मानवीय ही रहती है। इसलिए समाज के किसी भी कमजोर अथवा पीडित वर्ग को किसी भी सकट का सामना क्यो न करना पडे उसके प्रति सहानुभूति व्यक्त करना और स्थिति में सुधार लाकर सामान्य जीवन व्यतीत करने के लिए वातावरण तैयार करना पूरे सगठित समाज का कर्तव्य है।

इसके साथ जुडी हुई एक और समस्या भी है और यह है कि देश के कमजोर वर्गों को यातनाए देकर अथवा उन्हें प्रलोभन देकर धर्म परिवर्तन के लिये मजबूर करना, धर्म परिवर्तन के लिये बलप्रयोग भारतीय इतिहास से परिचित लोगो के लिये कोई नयी चीज नही है। हम बलप्रयोग मध्य युग में भी करते थे जबकि हिन्दु एक शासित वर्ग था और अपनी रक्षा करने में भी पूरी तरह से समर्थ नही था। उस स्थिति में शक्तिशाली वर्ग के लिए बलप्रयास सामान्य बात थी। फिर भी यह एक आश्चर्य की बात है कि इस राजनीतिक दासता के युग में भी हिन्दुओ के धर्म परिवर्तन का रूप इतना उग्र नही था जितना देश स्वतन्त्र होने के बाद उग्र हो गया। विडम्बना यह हिन्दु बहुमत द्वारा निर्वाचित सरकार अपने आपको हिन्दू कहने और समझने में अपने आपको लज्जित अनुभव करती है और इसलिए उसका यह नारा रहता है कि वर्तमान सरकार एक धर्म-निरपेक्ष सरकार है। अर्थात धर्म-निरपेक्षता केवल हिन्दुओ तक सीमित है और हिन्दुओ के क्षेत्र से बाहर धर्म निरपेक्षता समाप्त हो जाती है और उनके हिन्दुओ के कमजोर वर्गो पर किये जाने वाले अत्याचारो को भी बहुधा उपेक्षा की दृष्टि से और वोट जमा करने की प्रवृति के कारण इस स्थिति को प्रोत्साहन भी दिया जाता है। इसके उदाहरण देने की आवश्यकता नही है, फिर यह सत्य है कि हमारा हरिजन वर्ग देश के अल्पसख्यक कहे जाने वाले लोगो से उतना ही पीडित है और उनके आक्रामक रवैये का उतना सी शिकार बना है जितना कि आर्थिक कारणो से अपने समान धर्म वाले हिन्दुओ केआक्रमण का। फिर भी जब इस आक्रमण का साम्प्रदायिक आधार पर बाटकर एक ओर तो हरिजनो की सब प्रकार की सहायता की जाती है और आक्रमणकारियो के विरुद्ध समाजसम्मत कार्यवाई की जाती है, दूसरी ओर आक्रमण से पीडित हरिजनो की न तो कोई सहायता की जाती है (साम्त्वना देने की बात तो दूर रही) उल्टा उन्हें ही अपराधी घोषित कर उन्हें और अधिक यातनाएं दी जाती हैं। मुरादाबाद में यही सब कुछ घटित हुआ है।

जहाँ तक धर्म परिवर्तन का सबध है इसमें भी [illegible] परिवर्तन की अनेक घटनाए सामने आई है। शक्ति प्रयोग [illegible] राजनीतिक दबाव के कारण इस प्रकार के धर्म परिवर्तनो की चर्चा को साम्प्रदायिकता का नाम दे दिया जाता है और साम्प्रदायिकता के होने से घबराकर प्राय: समाचार पत्र भी ऐसी घटनाओ को प्रकाशित [illegible] कर देते है।

जिस स्थिति में से इस समय देश गुजर रहा है उसे ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक है कि देश के प्रबुद्ध बुद्धिजीवी वर्ग इस समस्या पर गहराई और गम्भीरता से विचार करें। देश के स्वतन्त्र होने के बाद में जिस [illegible] प्रकार के विचारों से होकर और कुछ पूर्वाग्रहो के साथ इस समस्या पर चिन्तन किया गया है वह इतना दोशपूर्ण है कि उसने हमारे समाज को छिन्न-भिन्न कर दिया है। इसके साथ ही समाज का साम्प्रदायिक सन्तुलन इतना बिगड गया है कि अब अल्पसख्यक वर्गों के बहुमत में बदल जाने का खतरा पैदा हो गया है। इस स्थिति से जहाँ अल्पसख्यक वर्ग उत्साहित होकर और अधिक दबाव डालने की नीति अपना कर हिंसात्मक कार्यवाहियो पर उतर रहा है और अपने आपको अल्पसख्यको का हितैषी कहने वाले वर्गो से भी प्रोत्साहन पा रहा है। इसका परिणाम हमारे सामने है। दूसरी ओर बहुसख्यक वर्ग अपनी आन्तरिक विसगतियों से भी टूट ही रहा है उसके। साथ ही शासक वर्ग भी प्रत्येक प्रकार के हिंसात्मक कार्य के लिये केवल [illegible] बहुसख्यक को ही दोषी ठहराता है और उन्हें ही सभी प्रकार की यातनाएँ देता है। इसका फल यह होता है कि अपनी विसगतियो के कारण निरन्तर विघटित होता बहुसख्यक समाज अब और तेजी से विघटित होने लगा है। आज न केवल शिक्षित और सवर्ण वर्ग के लोग अपने आपको अपने ही समाज से जुडा हुआ मानने से इनकार कर रहे हैं, बल्कि वह वर्ग जो कि कमजोर है और जिसे कानूनी तौर पर अनसूचित जाति और अनसूचित जनजाति का नाम दिया गया है, वह अपने आपको बहुसख्यक वर्ग का हिस्सा मानने को तैयार नही है, अब तो उसकी यह खुली माँग है कि उसे स्वतन्त्र जाति के रूप में स्वीकार किया जाये और उसे उसी रूप में मान्यता प्रदान की जाये। यह एक प्रकार से एक ऐसी स्थिति बन गयी है कि हमने स्वय ही अपने बहुसख्यक समाज को छोटे छोटे वर्गो मे बाँट दिया है और उनमे से प्रत्येक वर्ग अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की बात करने लगा है।

देश की हरिजन समस्या जितनी हिन्दू समाज की अपनी पैदा की हुई है उससे अधिक विकराल रूप हमारी प्रशासनिक नीतियो ने दिया है। उसका परिणाम यह है कि हरिजन वर्ग अलग-थलग पड गया है और प्रत्येक ऐसा वर्ग जो अपने आपको हिन्दू मानने से इन्कार करता है उसे अपने मे पचाने को तैयार है। हरिजनो पर इस समय जो अत्याचार हो रहे है उसके पीछे यही मनोवृति भी काम कर रही है। ऐसे समय में हमारे समाज को जागरूक होकर हरिजनो को अपने साथ लेने की जरूरत है और उन्हें केवल यह बताने की नही बल्कि यह विश्वास दिलाने की जरूरत है कि वे उसी वर्ग का अग हैं जिसके हम सदस्य है। वे अपने सकट के समय हमें पूरे विश्वास के साथ देख सकते है।

## सार्वभौम आर्य महासम्मेलन, लन्दन

# क्या विदेशियों में भी आर्य धर्म का प्रचार हुआ है ?

लण्डन का आर्य महासम्मेलन इन अर्थो मे अवश्य 'सर्वभौम' था, क्योकि बहुत से देशो के आर्य नर-नारी उसमे सम्मिलित हुए थे। इस अवसर पर न केवल भारत के प्रायः सभी प्रदेशो के आर्य लोग लण्डन गये थे, अपितु अफ्रिका (केनिया, तन्जानिया, दक्षिण अफ्रिका), मारीशस, फिजी, अमेरिका (सुरीनाम, गुयाना, ट्रिनिडाड, सयुक्त राज्य), दक्षिण पूर्वी एशिया (थाईलैण्ड, सिगापुर, बर्मा), और यूरोप (डेनमार्क, हालैण्ड, पश्चिमी जर्मनी) आदि से भी आर्यजन अच्छी बडी सख्या मे महासम्मेलन मे सम्मिलित होने के लिए इङ्गलैण्ड आये थे। विभिन्न देशो से आये हुए नर-नारियो की सख्या एक हजार के लगभग थी। सम्मेलन मे उपस्थित लोगो पर दृष्टि पड़ते ही इस बात मे कोई सन्देह नही रह जाता था, कि आर्य समाज ने अब एक सर्वभौम व अन्तर्राष्ट्रीय सगठन का रूप प्राप्त कर लिया है और उसका कार्यक्षेत्र केवल भारत तक ही सीमित नही है।

पर अभी विदेशो मे वैदिक धर्म का प्रचार केवल उन्ही लोगो मे हुआ है, जो भारत से जा कर वहाँ बसे है। यह सही है कि इनमे से बहुत से विदेशी नागरिकता प्राप्त कर चुके है। इङ्गलैण्ड मे बसे हुए भारतीय मूल के व्यक्ति ब्रिटिश नागरिक है, और दक्षिण अफ्रिका मे बसे हुए भारतीयो ने वहा की नागरिकता स्वीकार कर ली है। यही बात उन आर्यो के सम्बन्ध मे कही जा सकती है, जो सुरीनाम, मारीशस फिजी, गुयाना, ट्रिनिडाड आदि से महासम्मेलन मे सम्मिलित होने के लिये लण्डन आये थे। इस दृष्टि से इन देशो से आये हुये आर्यो को विदेशी अवश्य कहा जा सकता है, पर भाषा सस्कृति आदि की दृष्टि से वे अब तक भी भारतीय ही है और उनमे वैदिक या आर्य धर्म का प्रचार होने का विशेष महत्व नही रह जाता। उल्लेखनीय बात यह है कि इङ्गलैण्ड के अग्रेजो, अफ्रीका के नीग्रो और मारीशस, फिजी आदि के निवासियो ने अभी वैदिक धर्म को नही अपनाया है। सार्वभौम आर्य महासम्मेलन के अधिवेशनो मे हजारो की उपस्थिति होती थी, और ये अधिवेशन लण्डन मे हो रहे थे पर उनमे एक भी अग्रेज नही दिखायी देता था। केवल योग सम्मेलन मे सात आठ अग्रेज नर-नारियो ने योग के आसनो का प्रदर्शन किया था। पाश्चात्य देशो मे योग का प्रचार निरन्तर बढ रहा है, पर उसका प्रधान श्रेय आर्य समाज के प्रचारको को नही दिया जा सकता। यह बात विचार करने की है कि विदेशो मे इतनी आर्य समाजो और आर्य प्रतिनिधि सभाओ के होते हुए भी वहा के मूल निवासियो मे अब तक आर्य धर्म का प्रचार क्यो नही हुआ ?

लण्डन मे रहते हुए मुझे 'हरे रामा हरे कृष्णा' के आन्दोलन से सम्पर्क प्राप्त करने का अवसर मिला। उसका एक आश्रम लण्डन से कोई बीस मील की दूरी पर है। बीसो एकड के बीच मे एक अत्यन्त विशाल व भव्य भवन मे यह आश्रम विद्यमान है। इसमे दो सौ से अधिक नर-नारिया निवास करते है। जिनमे बहुत बडी सख्या (९० प्रतिशत के लगभग) अग्रेजो व अमरिकनो की है। इन सब की वेशभूषा भारतीय है। पुरुष धोती पहनते है, और सिर पर चोटी (शिखा) रखते है। केवल नाम की चोटी नही अपितु खूब मोटी और लम्बी शिखा। स्त्रिया साडी पहनती है। आश्रम मे मद्य, मास व तमाखू का सेवन सर्वथा निषिद्ध है। शुद्ध सात्विक व निरामिष भोजन की ही वहा अनुमति है। ब्राह्ममुहूर्त मे जागकर सब कोई नित्यकर्मो से निवृत्त होते है, और फिर कीर्तन मे सम्मिलित होते है। कीर्तन के पश्चात् श्रीमद्भागवत का प्रवचन होता है। बच्चो की शिक्षा के लिये पृथक् विद्यालय है, जिसे 'गुरुहाल' कहते हैं। सस्कृत भाषा तथा भागवत धर्म की शिक्षा इस 'गुरुहाल' मे सब के लिये अनिवार्य है। अग्रेजी, गणित इतिहास, भूगोल, विज्ञान आदि की शिक्षा की व्यवस्था भी इस विद्यालय मे है ही। बच्चो का रहन-सहन सादा एव तप का है, ठीक वैसा जैसा कि स्वामी श्रद्धानन्द जी और आचार्य रामदेव जी के समय मे गुरुकुल कागडी के ब्रह्मचारियो का था। मुझे यह भी ज्ञात हुआ, कि ऐसे ही अन्य भी बहुत से आश्रम अमेरिका, कनाडा, यूरोप अफ्रिका आदि मे स्थापित है, और उनमे भागवत धर्म तथा भारतीय सस्कृति का वैसा ही वातावरण है जैसाकि मैंने इङ्गलैण्ड के आश्रम मे देखा।

मुझे यह जानने की इच्छा हुई, कि किन कारणो से ये अग्रेज तथा अमरिकन भागवत धर्म और राम-कृष्ण की पूजा के प्रति आकृष्ट हुए हैं। इस सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त करने के लिये मैंने आश्रम के प्रमुख स्वामी अखण्डादिनाथ जी से समय मागा। अखण्डादिनाथ जी अमेरिकन है, पर सस्कृत का भी उन्हे ज्ञान है। गीता और भागवत के अनेक श्लोक उन्हें कण्ठस्थ है, यथा स्वामी जयतीर्थ स्वामी राधा गोकुलनन्द आदि। यद्यपि ये सब अग्रेज या अमेरिकन है। आश्रमवासी गृहस्थो के नाम इसी ढग से भारतीय है। अखण्डादिनाथ जी ने बातचीत मे मुझे बताया, कि पाश्चात्य लोग भौतिक वाद (Materialism) से परेशान हो चुके है। अपने धर्म व सस्कृति से उन्हे शान्ति प्राप्त नही होती। यही कारण है जो अमेरिकन, इङ्गलैंड और यूरोप के विभिन्न देशो के लोग भारत के उस धर्म की ओर आकृष्ट हो रहे हैं, जो उन्हे अध्यात्मवाद और भक्ति की शिक्षा देता है। इस धर्म से वे शान्ति अनुभव करते है। उनके रहन-सहन,

लेखक :
डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार

भौतिक मूल्यो और जीवन के आदर्शो मे जो परिवर्तन आया है, वह गीता और भागवत की शिक्षाओ का ही परिणाम है। बातचीत मे मैने स्वामी जी से कहा—कि आप जिस भारतीय आर्य धर्म का अनुकरण कर रहे हैं, वह एकाङ्गी है। शास्त्रो के अनुसार धर्म वह है, जिससे सासारिक अभ्युदय तथा निःश्रेयस (मोक्ष) दोनो की प्राप्ति हो सके। मानव जीवन के लिये भौतिक उन्नति की भी आवश्यकता है, और आध्यात्मिक उन्नति की भी। हमारे शास्त्रो ने जो चार आश्रमो की व्यवस्था की गई है, उसका मूल आधार यही तथ्य है। ब्रह्मचर्य आश्रम मे मनुष्य शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति पर ध्यान दे, गृहस्थ आश्रम मे धन का उपार्जन कर भौतिक सुखो का भोग करें। पर, धन-सम्पत्ति एव सुखभोग को ही वह अपना चरम लक्ष्य न समझे। इसीलिये शास्त्रो द्वारा वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रमो का भी विधान किया गया है। वैदिक धर्म समन्वयात्मक है। उसमे भक्ति के साथ-साथ कर्म और ज्ञान का भी महत्वपूर्ण स्थान है। ईश्वर की भक्ति तो करनी ही चाहिये, और एक आदर्श व आप्त पुरुष के रूप मे कृष्ण के गुणो का स्मरण करना भी उचित है, पर कर्ममार्ग तथा ज्ञानमार्ग का भक्तिमार्ग से कोई विरोध नही है। तीनो मे समन्वय ही वैदिक धर्म को अभिप्रेत है। केवल राम और कृष्ण की भक्ति, उनके नामो का कीर्तन तथा उनके जीवन का अभिनय पर्याप्त नही है। स्वामी अखण्डादिनाथ जी के लिये आर्यधर्म का यह रूप सर्वथा नया था। इसे सुनकर वे प्रभावित भी हुए। तब मैंने अनुभव किया, कि यदि सत्य सनातन आर्यधर्म का एकाङ्गी व विकृत रूप भौतिकवाद से परेशान हुए पाश्चात्य लोगो को इतना आकृष्ट कर सकता है, तो उसका यथार्थ रूप उन्हे क्यो प्रभावित नही करेगा। सम्भवत, इस तथ्य की ओर अभी आर्यसमाज का ध्यान ही नही गया है। उसके प्रचारको कार्यक्षेत्र अभी भारतीय मूल के लोगो तक ही सीमित रहा है।

सार्वभौम आर्य महा सम्मेलन मे विदेशो (या विदेशियो) मे वैदिक धर्म के प्रचार के प्रश्न पर भी विचार-विमर्श हुआ। सर्वसम्मति से स्वीकृत हुए एक प्रस्ताव द्वारा सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा से यह अनुरोध किया गया कि वैदिक धर्म के प्रचारको तथा पुरोहितो के प्रशिक्षण के प्रयोजन से विशेष केन्द्र स्थापित किये जाएँ जिनमे शिक्षा प्राप्त कर आर्य विद्वान् अग्रेजी तथा अन्य विदेशी भाषाओ के माध्यम से वैदिक धर्म तथा सस्कृत का प्रचार कर सकें। इस सम्बन्ध मे श्री स्वामी ओमानन्द जी का यह सुझाव महत्व का था कि गुरुकुलो मे विद्यार्थियो को विदेश प्रचार के लिये विशेष प्रशिक्षण देना चाहिये और जिस देश मे उन्हे भेजना हो वहाँ के इतिहास, भूगोल, भाषा और राजनीतिक परिस्थिति आदि का भी उन्हे विशेष अध्ययन करना चाहिये। मारीशस के प्रसिद्ध आर्यनेता श्री मोहनलाल जी मोहित इस प्रयोजन से एक बडी योजना भी तैयार कर रहे हैं। आशा करनी चाहिये कि निकट भविष्य मे विदेशी लोगो मे भी वैदिक धर्म का सुचारू रूप से प्रचार प्रारम्भ हो जाएगा।

---

(शेष पृष्ठ २ का)

प्रयत्न किया। यहाँ व्यवस्था बनाये रखने के लिए आर्य बाल गृह, चन्द्र आर्य विद्या मन्दिर, डी०ए०वी० स्कूल बेयर्ड रोड, के बालक बालिकाओ तथा केन्द्रीय आर्य युवक परिषद के युवको ने असाधारण रूप से सहयोग प्रदान किया।

श्रोताओ और दर्शको ने इतनी बडी सख्या मे इस बार उत्साहपूर्वक भाग लिया कि प्रतीत होने लगा कि आयोजन के लिए लगाया गया पण्डाल छोटा पड गया है। इसके बावजूद श्रोताओं और दर्शको ने जिस अनुशासनबद्ध रूप से सारी कार्यवाही मे भाग लिया वह आर्य समाज के सदस्यो की अनुशासनप्रियता का एक अच्छा उदाहरण है।

## वैदिक-समारोह

### 'योग-साधना प्रशिक्षण शिविर

श्री विग्जानन्द वैदिक साधनाश्रम वेद मन्दिर, वृन्दावन मार्ग, मथुरा में दिनांक १० से १२ नवम्बर तक श्रद्धेय स्वामी सत्यपति जी के निर्देशन में योग साधना प्रशिक्षण शिविर सम्पन्न हुआ।

इसके अतिरिक्त वैदिक परिवार साधना शिविर, शहीद नारायण दत्त वैदिक मिशनरी संगोष्ठी, वैदिक परिवार संगोष्ठी, सत्यप्रकाशन विकास संगोष्ठी तथा गोपाष्टमी पर्व समारोहपूर्वक सम्पन्न हुए।

—आर्य समाज अशोक विहार दिल्ली-५२ के तत्त्वावधान में आर्यसमाज का ८वाँ वार्षिकोत्सव १० से १६ नवम्बर तक एफ-५ अशोक विहार फेज-१ में समारोह पूर्वक मनाया गया। अनेक सन्यासी एवं विद्वानों के प्रवचन हुए।

### ऋषि निर्वाणोत्सव

केन्द्रीय आर्ययुवक परिषद् दिल्ली प्रदेश के तत्वावधान में ऋषि निर्वाण-उत्सव धूमधाम से मनाया गया। परिषद के महामन्त्री श्री अनिलकुमार आर्य ने सार्वदेशिक सभा द्वारा संचालित आयोजन जिसमें मुरादाबाद में उजड़े हरिजन तथा अन्य गरीब धर्मबन्धुओं के पुनर्वास हेतु का समर्थन किया दिल खोलकर दान देने की अपील की, इस पुनीतपर्व पर आपने जुआ, शराब तथा मांसाहार आदि कुप्रथाओं को तोड़ फेंकने की भी अपील की।

—पलवल आर्यवीर दल के तत्वावधान में स्थानीय आर्य बाल गृह में ऋषि निर्वाणोत्सव श्री स्वामी ध्यानानन्द जी की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। अनेक विद्वानों ने ऋषि को भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की।

### विश्व कल्याण महायज्ञ

आर्य समाज नेमदार गंज (नवादा-विहार) द्वारा श्री सुरेशचन्द्र जी आर्य भजनोपदेशक एवं पं० श्री सत्यदेव शास्त्री (वाराणसी) के माध्यम से वैदिक धर्म प्रचार तथा विश्व कल्याण यज्ञ सम्पन्न हुआ।

### महात्मा हंसराज दिवस

आर्यसमाज (अनारकली) मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली में महात्मा हंसराज दिवस रविवार २३ दिसम्बर ८० को प्रातः ६ से १२ बजे तक आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, दिल्ली के समस्त आर्य समाजों एवं डी०ए०वी० संस्थाओं की ओर से समारोह पूर्वक मनाया जायेगा। अध्यक्षता पं० सत्यदेव भारद्वाज वेदालंकार (नैरोबी-निवासी) करेंगे।

अधिक से अधिक संख्या में पधार कर स्व० महात्मा जी को अपनी सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित करें।

## ऋषि-मेला

महर्षि दयानन्द सरस्वती के ९७वें निर्वाण-दिवस के उपलक्ष्य में दिनांक १५-१६-१७ नवम्बर ८० को परोपकारिणी सभा अजमेर के तत्त्वावधान में सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर श्री स्वामी सत्यप्रकाश जी लाला रामगोपाल शालवाले, ओम्प्रकाश त्यागी, महात्मा आर्य भिक्षु जी, प० आनन्द प्रिय जी बड़ौदा आदि ने महर्षि को श्रद्धांजलि अर्पित की।

## गुरुकुल महाविद्यालय-वैद्यनाथ धाम का त्रैवार्षिक अधिवेशन

गुरुकुल महाविद्यालय वैद्यनाथ धाम सन्थाल परगना (विहार) का बृहद् त्रैवार्षिक अधिवेशन एवं निर्वाचन दिनांक २ अक्टूबर ८० को गुरुकुल भूमि में शान्त वातावरण में सम्पन्न हुआ। पदाधिकारी एवं अन्तरंग सदस्य सर्व-सम्मति से निर्वाचित हुए। श्री नगेन्द्र कुमार पोद्दार भूतपूर्व सांसद प्रधान, श्री जगदीशप्रसाद मन्त्री तथा श्री गजानन्द आर्य कोषाध्यक्ष के पद पर चुने गये। अन्तरंगसदस्य २१ निर्वाचित हुए।

### खड़वा में वृष्टि यज्ञ

दिनांक-२२-१०-८० से आर्य जगत् के प्रसिद्ध विद्वान् प० वीरसेन जी वेदश्रमी वेद-विज्ञानाचार्य के आचार्यत्व में वृष्टि यज्ञ का शुभारम्भ हुआ। पूर्णाहुति दिनांक—२३-१०-८० को हुई यज्ञ कार्य को सफल बनाने हेतु अनेक विद्वानों का नगर में आगमन हो चुका है।

दिनांक २३-१०-८० को रात्री में सम्पन्न पत्रकार परिषद् में पण्डित वीरसेन जी वेद विज्ञानाचार्य ने यह स्पष्ट घोषणा की कि यज्ञद्वारा वृष्टि कराई जा सकती है और यज्ञ द्वारा अतिवृष्टि को रोका भी जा सकता है। यज्ञ से ही औद्योगिक प्रदूषण-निवारण संभव है। यह आयुर्वेद से उत्पन्न विज्ञान है वैदिक मन्त्रों की ध्वनि सोमलतादि औषधियाँ गाय के घृत की आहुतियाँ प्रदूषण को दूरकर वातावरण को शुद्ध कर इच्छित वायु, अनुकूल ऋतु, मौसम का निर्माणकर विनाशक प्रभाव से प्राणीमात्र को बचाया जा सकता है। देश की अनेक समस्यायें यज्ञ द्वारा सुलझाई जा सकती है। अणुबम विस्फोट जन्य प्रदूषण का निराकरण भी वैदिक यज्ञ से ही हो सकता है।

यज्ञ-कार्य की सफलता हेतु नगर के प्रसिद्ध व्यवसायी श्री पूनमचन्द जी श्री नारायण सहाय जी खण्डेलवाल, श्री मुक्ति लाल जी नरेडी, श्री ताराचन्द जी अग्रवाल आर्य समाज के अध्यक्ष श्री कन्हैयालाल जी आर्य विशेष रूप से सक्रिय थे।

## मुरादाबाद को बचाने के लिए मुस्लिम क्षेत्रों में जमा शस्त्रों को निकालने की माँग

नयी दिल्ली, १३ नवम्बर, मुरादाबाद क्षेत्र में पूर्ण शान्ति के लिए आवश्यक है कि वहाँ ४८ घंटे का कर्फ्यू लगा कर मुस्लिम घरों और मस्जिदों की तलाशी सेना द्वारा ली जाए, क्योंकि मुसलमानों के पास भारी संख्या में घातक हथियार जमा हैं। मुरादाबाद क्षेत्र का दौरा करने के बाद अखिल भारतीय हिन्दू रक्षा समिति के अध्यक्ष महात्मा वेद भिक्षु ने ये विचार आज प्रकट किए।

आपने कहा कि हिन्दुओं के घर जले पड़े हैं, उन्हें शासन की ओर से सहायता नहीं मिल पा रही। मुसलमानों की दुकानें सरकार बनाकर दे रही है, जिन पर ८०० रुपये व्यय आ रहा है और हिन्दुओं को केवल २५० रु० दिए जा रहे है।

महात्मा वेद भिक्षु के साथ मुरादाबाद गए श्री देवकी नन्दन शर्मा एडवोकेट ने हिन्दुओं के रिक्शों घरों के सामान, जली हुई कोनवाली देखी गुंडागर्दी से त्रस्त लोगों की बातें सुनी तो वे रो पड़े। महात्मा वेद भिक्षु ने कहा कि स्थिति दिन पर दिन बिगड़ती जा रही है और यदि अविलम्ब प्रभावशाली पग न उठाया गया तो निकट भविष्य में मुरादाबाद में फिर उपद्रव भड़कने की आशंका है।

हिन्दू समिति ने प्रधान मन्त्री से अपील की है कि वे व्यक्तिगत रुचि लेकर इस नर-संहार को रोकें और मुरादाबाद को बचाए।

## शहीद भगतसिंह की शहीदी अर्द्धशताब्दी मनाने की अपील

इस अवसर पर श्री चन्द्रमोहन आर्य ने समस्त भारतीय जनता से अपील की कि २३ मार्च, १६८१ को अमर हुतात्मा श्री भगतसिंह जी की शहीदी अर्द्धशताब्दी उत्साह पूर्वक मनायें।

# महाशय चुन्नीलाल धर्मार्थ ट्रस्ट
# वार्षिक विवरण

महाशय चुन्नीलाल धर्मार्थ ट्रस्ट (पर्जीकृत) द्वारा सचालित श्रीमती चन्ननदेवी आर्य समाज नेत्र धर्मार्थ चिकित्सालय, सुभाष नगर, नई दिल्ली-२७ ने अपनी पाचवी वर्षगाँठ १४ नवम्बर १९८० को मनाई। इसकी स्थापना १४ नवम्बर १९७५ को आपात काल के समय पं० जवाहरलाल नेहरू के जन्म दिवस पर हुई थी। आरम्भ मे इसमे केवल १० बिस्तर थे, एवम् दो डाक्टर कार्य कर रहे थे।

आज इसमे ३० बिस्तरो के साथ क्लीनिकल लैबोरेट्री, ५ डाक्टरो के साथ लगभग बीस कर्मचारी कार्य कर रहे है। पिछले ५ साल मे इसने जो कार्य किया वह किसी बडे नेत्र चिकित्सालय से कम नहीं हैं। इसने अपनी सेवा से अपनी ख्याति प्राप्त की है। दिल्ली से ही नही बल्कि दिल्ली से दूर प्रदेशो जैसे पजाब, मध्यप्रदेश, हरियाणा, राजस्थान, जम्मू कश्मीर आदि प्रान्तो के साथ विदेशो मे जैसे :- मलेशिया, लन्दन आदि देशो से आये हुए कई रोगियो के नेत्र-आप्रेशन व उपचार किये गये। इसमे लगभग ५००० नेत्र रोगियो के आप्रेशन जिसमे ३५०० बडे आप्रेशन व १५०० छोटे आप्रेशन किए एवम् एक लाख से ऊपर नेत्र रोगियों के उपचार किए।

चिकित्सालय मे आये हुए रोगियो की हर सुविधा का विशेष ध्यान रखा जाता है उनको खाना, दूध, चाय निःशुल्क दी जाती है। इस चिकित्सालय का वार्षिक व्यय ५०,००० रुपये था अब आँखो के रोगियो के उपचार के लिए ढाई लाख से ज्यादा रुपया खर्च किया जा रहा है।

चिकित्सालय ने जहाँ नेत्र रोगियो का उपचार किया वहाँ दिल्ली मे आई दो भयकर बाढो के अवसर पर दिल्ली मे पानी से घिरे गावों मे जा-जा कर चिकित्सालय के डाक्टरो एव कर्मचारियो ने नेत्रो के साथ अन्य सभी बीमारियो का भी इलाज किया। उन दोनो बाढो मे लगभग ६०,००० बाढ से घिरे भाई-बहनो की पूरी चिकित्सा कैम्पो एव गाँवो मे जा-जाकर की गई।

पिछले बाल वर्ष के उपलक्ष मे लगभग २५,००० से ऊपर अपने क्षेत्र के स्कूलो मे जाकर विद्यार्थियों के नेत्र-परीक्षण किये गये। इस चिकित्सालय में आर्य जगत के महान सन्यासी महात्मा आनन्द स्वामी महाराज ने १६ मई १९७६ को चिकित्सालय मे पधार कर जहाँ अपने नेत्रो का परीक्षण कराया वहाँ उन्होने चिकित्सालय को एक सौ एक रुपये दान देकर चिकित्सालय के संस्थापक महाशय धमपाल को आदेश दिया कि इसे सौ बिस्तर का चिकित्सालय बनाया जाए। उसी वचन को पूरा करने के लिए महाशय चुन्नीलाल धर्मार्थ ट्रस्ट वचन बद्ध है और सरकार से इस चिकित्सालय को भूमि एलाट करने के लिए प्रार्थना की जा रही है।

इस स्थान पर लगभग २० बिस्तर और बढाये जा सकते है जिससे इसका कार्य चौगुना हो जायेगा परन्तु रिहायशी क्षेत्र में होने के कारण दिल्ली विकास प्राधिकरण इसको नो आबजेक्शन सर्टिफिकेट देने को तैयार नही है। जिससे दिल्ली के स्वास्थ्य निर्देशालय ने लगातार पाँच वर्षो तक हमारे प्रयत्न करने पर भी लाईसैंस नही दिया है यदि यही हालत रही या सरकार ने शीघ्र ही इसको भूमि प्रदान न की तो इस चिकित्सालय के बन्द हो जाने का अन्देशा है।

इस चिकित्सालय को सनातन धर्म जगत के महान् संन्यासी स्वामी गुरुचरण दास जी महाराज, अखिल भारतीय हर मिलापी मिशन के प्रधान स्वामी हर मिलापी जी महाराज, सार्वदेशिक आ० प्र० सभा के प्रधान ला० राम गोपाल शालवाले, दिल्ली के प्रसिद्ध हिन्दुनेता श्री प्रेम नाथ जी महाराज, श्री रनवीर जी सम्पादक—मिलाप, आर्य नेता श्री० बलराजमधोक इत्यादि कई साधु सत और कई राजनैतिक नेताओ के नेत्र परीक्षण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

चिकित्सालय को भूमि प्रदान करने के सम्बन्ध मे ला० राम गोपाल जी शाल वाले प्रधान—सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, श्री रनवीर जी सम्पादक मिलाप, श्री जगदीश टाईटलर ससद सदस्य, श्री सरदारी लाल वर्मा प्रधान दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा एव दिल्ली के कई काग्रेसी नेताओ ने प्रधानमन्त्री का ध्यान इस ओर खींचा है।

## ग्राहकों से निवेदन

'आर्य संदेश' के अनेक कृपालु ग्राहको का चन्दा २-२,३-३ वर्ष से नहीं प्राप्त हुआ है। इस अत्यन्त महगाई के युग मे यदि आपका चन्दा हमे नही मिलेगा तो आप स्वय ही विचार कीजिये कि पत्र कैसे चल सकेगा! कृपया अपना पूरा चन्दा जितना भी आपकी ओर निकलता है, तुरन्त भेजने का कष्ट करें।

सभा-मन्त्री

## आर्यसमाजों के सत्संग

१६-११-८०

अन्धानुगल प्रतापनगर—प ओम्प्रकाश भजनोपदेशक, अमर कालोनी—आचार्य हरिदेव सि०भू०; अशोक विहार के सी ५२-ए कविराज बनवारीलाल शादा—भजनमन्डली, आर्यपुरा—प० रामरूप शर्मा, आर० के० पुरम सैक्टर-६—प० हीराप्रसाद शास्त्री; इन्द्रपुरी - प० खुशीराम शर्मा; किंग्जवे कैम्प—श्रीमती प्रकाशवती शास्त्री; किशनगज मिल एरिया—प० विजयपाल शास्त्री; कालकाजी डी० डी० ए फ्लैट्स —प्रो० वीरपाल विद्यालंकार; करोलबाग—प० अशोककुमार विद्यालकार; गांधीनगर - प० महेन्द्रप्रताप शास्त्री; गीताकालोनी—प० तुलसीराम भजनोपदेशक; ग्रेटर कैलाश-I —प० मुनिशंकर वानप्रस्थी; गुडमंडी—प० देवराज वैदिक मिशनरी; गोविन्दपुरी—श्रीमती शीलावती आर्य; जगपुरा भोगल —प० अर्जुनदेव आर्य; जनकपुरी सी-III—प प्रकाश वीर व्याकुल; जनकपुरी बी ब्लाक - प० विश्व प्रकाश शास्त्री; जहांगीरपुरी —प० जगदीशप्रसाद विद्यावाचस्पति; टैगोरगार्डन —प० वेदपाल शास्त्री; तिलकनगर—प० सीमराम भजनोपदेशक; तीमारपुर—प० प्राणनाथ सिद्धान्तालकार; दरियागंज—पं० ईश्वरदत्त; नारायण विहार —श्री मोहन लाल गांधी; पंजाबीबाग —प० प्रकाशचन्द्र वेदालकार; पंजाबीबाग एक्सटेंशन-१४/३—प सत्यकाम वेदालकार; पश्चिमपुरी जनता क्वार्टरज—प० विष्णुदेव प्रसाद विद्यालंकार; बाग कड़े खां—प० बरकतराम भजनोपदेशक; माडलटाऊन—आचार्य कृष्ण गोपाल; मोतीनगर—प० केशव चन्द्र मुन्जाल; माडलबस्ती—पं० गणेशप्रसाद विद्यालकार; महरौली—प० मनोहर विरक्त; रमेशनगर—प० गजेन्द्रपाल शास्त्री; राणाप्रताप बाग—श्रीमती सम्पदा आर्य; लाजपतनगर—प्रो० सत्यपाल बेदार; विक्रमनगर—ला० लक्ष्मीदास; सराय रोहला—प्रो० भारत मित्र शास्त्री; सोहनगंज श्री वीरव्रत शास्त्री; श्रीनिवासपुरी—डा० वेदप्रकाश महेश्वरी; हौजखास ई-४६—आचार्य रामशरण मिश्रा शास्त्री; कीर्तिनगर—डा० रघुनन्दन सिंह; लक्ष्मीनगर प० वेद व्यास भजनोपदेशक;

## स्वामी पूर्णानन्द जी का मूल निवास स्थान

सन् १८५८ में एक सैनिक न्यायालय के समक्ष गवाही देते हुए सीताराम नाम के एक व्यक्ति ने कहा था कि सन १८५७ के स्वाधीनता संग्राम के वास्तविक संचालक एक 'दस्स' या दश संन्यासी हैं। सीताराम के अनुसार उस समय इस सन्यासी की आयु १०० वर्ष से ऊपर थी, और मूलत वे कांगड़ा तथा जम्मू के मध्यवर्ती प्रदेश मे स्थित कालीधार नामक स्थान के निवासी थे। महर्षि दयानन्द सरस्वती की जीवनी के सम्बन्ध मे प्रकाशित अनेक ग्रन्थो के अनुसार स्वामी विरजानन्द जी के गुरु स्वामी पूर्णानन्द थे, जो दशनामी सम्प्रदाय के सन्यासी थे। यह बात विचारणीय व अनुसन्धान योग्य है कि सीताराम ने अपनी गवाही मे जिन दस्स या दश (दशनामी) सन्यासी को सन ५७ के स्वाधीनता संग्राम का संचालक कहा है, कहीं वे स्वामी पूर्णानन्द ही तो नहीं हैं। इस बात के संकेत तो मिलते ही हैं, कि स्वामी विरजानन्द जी का स्वाधीनता संग्राम में महत्वपूर्ण कर्तृत्व था।

आर्यसमाज के इतिहास के लिये हमे स्वामी पूर्णानन्द जी के विषय मे जानकारी प्राप्त करनी है। 'दश' सन्यासी के मूल निवास स्थान को रोमन अक्षरो मे KALI DHAR लिखा गया है, जो कालीधार, कालाधड, कालाधर आदि कुछ भी हो सकता है जम्मू और कांगड़ा के मध्यवर्ती प्रदेश मे स्थित यदि किसी ऐसे स्थान का पता हमे ज्ञात हो सके जिसका नाम कालीधार से मिलता-जुलता हो, तो वहाँ से स्वामी पूर्णानन्द जी के विषय मे जानकारी प्राप्त कर सकना सम्भव होगा। पाठको से प्रार्थना है कि इस स्थान के सम्बन्ध मे इस पते पर सूचित करने की कृपा करें।

डा० सत्यकेतु विद्यालकार, ए-१, ३२ सफदर जंग एन्क्लेव, नई दिल्ली-२६



दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के लिए श्री सरदारी लाल वर्मा द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित तथा भाटिया प्रेस ७३७/१-सी, गुरुनानक गली, गांधीनगर दिल्ली-३१ के लिए निरुपमा प्रिंटर्स, पहाड़गंज, नई दिल्ली में मुद्रित। कार्यालय १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली फोन नं० ३१०१५०

GOODS TRANSPORT HELPS NATIONAL INTEGRATION
EFFICIENT MOVEMENT OF TRAFFIC, PASSENGER AND GOODS, IS A PRE-REQUISITE FOR HEALTHY GROWTH OF THE ECONOMY OF ANY COUNTRY:
THE WHEELS OF TRADE AND COMMERCE.
We, South Eastern Roadways, have been in the transport business for more than two decades. We have established regional offices and branches(375) all over India, at Bangalore, Bombay, Delhi, Gauhati, Hyderabad, Patna and Poona. We have a fleet of 1,000 trucks, 3,000 trained personnel and 'pucca' godowns fully equipped with loading and unloading facilities, telex, telephones etc. From Kashmir to Kanya Kumari and Kandla to Kohima. Thus, by associating people from all walks of life in different parts of the country, we cut across all barriers of languages, caste, creed and religion and help national integration.
We have booking and delivery branches at all the industrial and commercial towns.
materials from remote and distribute finished to the length and breadth of the country.
SER
SOUTH EASTERN ROADWAYS
HEAD OFFICE : 134/4 Mahatma Gandhi Road CALCUTTA-700007.
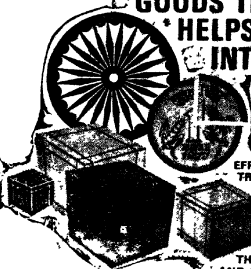
दिल्ली आर्यप्रतिनिधि सभा का साप्ताहिक मुखपत्र

एक प्रति ३५ पैसे, | वार्षिक १५ रुपये | वर्ष ४ . अंक ६ | रविवार, ३० नवम्बर १९८० | दयानन्दाब्द १५६


# देशोन्नति में आर्यसमाज के योगदान पर बल

## दूषित और दिशाहीन शिक्षाप्रणाली को बदलने के लिए आह्वान : महात्मा हंसराज-स्मृतिदिवस

महात्मा हंसराज स्मृति दिवस के उपलक्ष में आयोजित समारोह की अध्यक्षता करते हुए नगर के प्रमुख उद्योगपति तथा आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० सत्यदेव भारद्वाज वेदालंकार ने कहा कि भारत में जो शिक्षा प्रणाली चल रही है वस्तुत: वह बहुत ही दोषपूर्ण है। यह शिक्षा आधुनिक युवक एवं युवतियों को पाश्चात्य सभ्यता की ओर ले जाने के लिये उन्मुख करती है। देश में इस समय धार्मिक वातावरण दूषित हो उठा है और प्राय: नयी पीढ़ी के लोग धर्म और धर्म द्वारा प्रतिपादित नैतिक सिद्धान्तों से दूर भागने लगे हैं। अब आर्यसमाज पर यह दायित्व आ गया है कि वह स्थिति का और इस चुनौती का शक्तिभर सामना करे। उन्होंने आर्य समाज में आत्मिक शक्ति जगाने का आह्वान किया और कहा कि इसी आत्मिक शक्ति के अभाव में हमारा पतन हुआ था और इसी आत्मिक शक्ति के उत्थान से यह भारत पुन: महान बन सकेगा। अन्त में सभापति ने 'हंसराज' शब्द की सही व्याख्या प्रस्तुत की।

महात्मा हंसराज दिवस २३ नवम्बर को प्रात: ९ बजे आर्यसमाज (अनारकली) मन्दिर मार्ग में मनाया गया। प्रारम्भ में पं० सत्यदेव जी भारद्वाज का परिचय श्री दरबारीलाल ने दिया और उनसे सभापति का आसन ग्रहण करने की प्रार्थना की। उनके सभापति आसन ग्रहण करने के बाद आर्यसमाज अनारकली के मन्त्री श्री रामनाथ सहगल ने तथा अन्य लोगों ने उन्हें माल्यार्पण किया।

इस समारोह में केन्द्रीय राज्य ऊर्जा मन्त्री श्री विक्रम महाजन ने आर्यसमाज का आह्वान करते हुए कहा कि हमें अपनी विचारधारा को संकीर्ण अथवा सीमित न बनाते हुए जनजागरण जैसे राष्ट्र सेवा के कार्य में संलग्न हो जाना चाहिये। उन्होंने कहा कि आर्यसमाज ही एक ऐसी संस्था है जो सम्प्रदायवाद से दूर रहकर शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखने में अधिक सहयोग प्रदान कर सकती है। श्री विक्रम महाजन इस समारोह के मुख्य अतिथि थे।

इस अवसर पर महात्मा हंसराज को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए दिल्ली कांग्रेस (ई) के अध्यक्ष तथा संसद् सदस्य श्री हरिकृष्णलाल भगत ने कहा कि देश को आगे बढ़ाने के लिये आर्य-समाज के सिद्धान्तों का अनुसरण करना चाहिए। उन्होंने कहा कि महात्मा हंसराज ने डी० ए० वी० संगठन द्वारा अनेक युवकों को राष्ट्रसेवा के लिए प्रेरित किया तथा अनेक राष्ट्रसेवक देश को प्रदान किये।

दिल्ली प्रशासन के भूतपूर्व मुख्य-कार्यकारी पार्षद श्री केदारनाथ साहनी ने महात्मा जी को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उन्हें आधुनिक भारत का निर्माता बताया तथा कहा कि उनका जीवन एक ऐसा उज्ज्वल प्रकाश था जिसके प्रभाव से सभी का जीवन प्रकाशित होता है।

भाई परमानन्द जी के सुपुत्र संसद सदस्य डा० भाई महावीर ने बड़ी पीड़ा के साथ यह बात कही कि आर्यसमाज और उसकी शिक्षा संस्थाओं के भवनों की ज्यों-ज्यों विशालता बढ़ती जाती है त्यों त्यों उनका भीतरी प्राणतत्व कम होता जा रहा है। उन्होंने कहा कि आज हमें ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है जो तपस्या और साधना से अपना पूरा जीवन किसी महान ध्येय के पीछे लगा दें। राजनीति ने बुद्धिजीवियों को दिशाहीन और विदेशोन्मुख बना दिया है। हम अपने देश की हर समस्या का निदान विदेशों में खोजते हैं और उनकी नकल करते हैं।

इन वक्ताओं के अतिरिक्त कुमारी विद्यावती आनन्द, श्री तिलकराज गुप्त, और श्री दरबारीलाल ने महात्मा हंसराज

(शेष पृष्ठ ८ पर)

## महाशय चुन्नीलाल का स्वर्गवास

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के उपप्रधान महाशय धर्मपाल जी के पूज्य पिता महाशय चुन्नीलालजी का १८ नवम्बर को देहावसान हो गया। १९ नवम्बर को उनकी शवयात्रा उनके मकान से शुरू हुई, जो आर्यसमाज करोलबाग होती हुई पंचकुइयाँ श्मशान घाट पर पहुँची, जहां वैदिक विधि से अन्त्येष्ठि संस्कार संपन्न हुआ। इस अवसर पर बड़ी संख्या में आर्य जन और आर्यनेता उपस्थित थे। सार्वदेशिक सभा के प्रधान श्री रामगोपाल वानप्रस्थ, दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के मंत्री श्री विद्यासागर विद्यालंकार, श्री सोमनाथ मरवाह आदि आर्यजगत् के अनेक गणमान्य नेता उपस्थित थे। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से तथा आर्य-समाज हनुमान रोड की ओर से आर्यसमाज के प्रधान श्री राममूर्ति कैला द्वारा अन्तिम दर्शन के समय फूलमालाएं अर्पित की गयी।

इस अवसर पर महाशय जी की पुण्य स्मृति में आर्य प्रतिनिधि सभा का कार्यालय बन्द रखा गया।

अन्तिम श्रद्धांजलि सभा ३० नवम्बर रविवार को दोपहर २ से ४-३० बजे तक ६/९, अजमल खाँ रोड (रूपक स्टोर के पीछे) होगी।

## आर्य महासम्मेलन को सफल बनायें : अधिक से अधिक सहयोग का अनुरोध

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान और मन्त्री ने आर्य महासम्मेलन को सफल बनाने के लिये दिल्ली की सभी आर्यसमाजों से धन संग्रह के काम में अधिक से अधिक सहयोग देने की अपील की है। इस प्रयोजन से सभी आर्यसमाजों को अलग पत्र भी लिखे गये हैं। आशा है कि सभी आर्यसमाजें कटिबद्ध होकर धन संग्रह के काम में जुट जायेंगी।

धन संग्रह के लिये नोट के रूप में रसीदें छपाई गई हैं। ये नोट दो रुपये, पांच रुपये, दस रुपये और सौ रुपये के हैं। कुछ आर्यसमाजों ने धन संग्रह के लिए इनकी कापियाँ ले ली है और शेष आर्यसमाजों से अनुरोध है कि वे भी शीघ्र से शीघ्र सभा के कार्यालय से ये कापियां प्राप्त करके धन संग्रह का कार्य पूरा कर लें।

सभा ने प्रमुख चौराहों और सड़कों पर सूचना पट्ट लगाने के लिए कपड़े के माटो तैयार कराये हैं। ये माटो सार्व-जनिक स्थानों पर लगवाने की व्यवस्था करने का भी समाजों से अनुरोध है।

सम्पादक :—वि. सा. विद्यालंकार

**वेदमनन**

# अग्नि की कृपा सब कमियों को दूर करती है

**तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि, आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि । वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि, अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आ पृण ।। ऋषि :—अवत्सारः । देवता-अग्निः । यजुः—३-१७**

शब्दार्थ—(अग्ने) हे जाठराग्ने: तू (तनूपा) शरीर की रक्षा करने वाला है, (मे) मेरे (तन्व) स्थूल शरीर की (पाहि) रक्षा कर (अग्ने) हे प्राणाग्ने तू (आयुर्दा) जीवनदायी है (मे) मुझे (आयु.) जीवन (देहि) दे । (अग्ने) हे ज्ञानाग्ने ! तू (वर्चोदा) विज्ञान और तेज प्रदान करने वाला है । अतः (मे) मुझे (वर्च.) विज्ञान और तेज (देहि) प्रदान कर । और इस प्रकार (अग्ने) भिन्न-भिन्न अग्नियो द्वारा कार्य करने वाले प्रभो (मे) मेरे (तन्वा) शरीर में जो (ऊन) कमी आ गई है (मे) मेरी (तत्) उस कमी या अपूर्णता को (आपृण) सब प्रकार से पूर्ण कर ।

निष्कर्ष—१. इस मन्त्र में अग्नि शब्द चार बार प्रयुक्त हुआ है । इसलिये उसका पृथक्-पृथक् अर्थ होना चाहिये । अन्यथा पुनरावृत्ति दोष हो जाएगा ।

२ स्थूल शरीर को स्वस्थ रखने के लिये जाठराग्नि का ठीक रहना आवश्यक है । उसके ठीक रहने पर शरीर ठीक रहता है । सूक्ष्म शरीर को स्वस्थ रखने के लिये प्राण का ठीक रहना आवश्यक है । अत. प्राणायाम करना चाहिये । कारण शरीर का सम्बन्ध प्रज्ञा से है । प्रज्ञा विज्ञानमय कोश में रहती है । इस वर्चस् (प्रज्ञा+तेज) को बढाने वाली ज्ञानाग्नि की साधना ही वर्चस् को बढा सकती है ।

३. इस मन्त्र का ऋषि अवत्सार संकेत करता है कि जिस कोश की रक्षा करनी हो, उसके सार भाग की रक्षा तथा वृद्धि का प्रयत्न करना चाहिये ।

४. इसलिये स्थूल शरीर या अन्नमय कोश की रक्षा करनी हो तो अन्नमय शरीर के सार भाग वीर्य की रक्षा तथा वृद्धि करनी चाहिये । सूक्ष्म शरीर या प्राणमय+मनोमय कोश के सार प्राण+मनन की साधना करके इनकी रक्षा तथा वृद्धि करनी चाहिये । और कारण शरीर या विज्ञानमय कोष की रक्षा करनी हो तो विज्ञानमय कोश की सार भूत प्रज्ञा (विज्ञान+तेज) की रक्षा तथा वृद्धि करनी चाहिये ।

५ जाठराग्नि, प्राणाग्नि और ज्ञानाग्नि तीनो में आत्माग्नि की शक्ति कार्य करती है । इसलिये मनुष्य को सम्पूर्ण विकास के लिये चारो अग्नियो की साधना करनी चाहिये ।

विशेष—अवत्सार ऋषि का नाम सिंह की तरह बना है । हिनस्ति (हिंस) के विपर्यय से जैसे सिंह बनता है, वैसे ही (सार अवति) के शब्द-विपर्यय से अवत्सार बन गया है । यह सकेत करता है कि हमें जहाँ, जिस क्षेत्र या कोश में रक्षा या वृद्धि की आवश्यकता हो, वहाँ उस क्षेत्र या कोष में सार भाग, विशिष्ट तत्वो को और पहिले ध्यान देना चाहिये ।

- शब्दार्थ का आधार— वर्च: विज्ञानं तेजो वा । स्वामी दया० यजु. ४-१७

अवत्सार·—सार अवति-अव रक्षण-वृद्धि-गत्यादिषु ।

—मनोहर विद्यालङ्कार

**श्वेताश्वतरोपनिषद्**

# सृष्टि में ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन

**लेखक :**

**डा० सत्यव्रत सिद्धांतालंकार**

[गताक से आगे]

द्वितीय अध्याय के १६ वें श्लोक मे कहा है · प्रत्यङ् जनान् तिष्ठति सर्वतो मुख' । इस अध्याय के दूसरे श्लोक मे कहा गया है । 'प्रत्यङ् जनान् तिष्ठति' इन पद वाक्यो का यह अर्थ है कि परमात्मदेव हर व्यक्ति के प्रति उसके सामने विराजमान है । जो प्रत्येक व्यक्ति के सामने मौजूद हो उसे हम न जानें— यह अचम्भे की बात है । अभी ऊपर हम ब्रह्मवादियो की वाणी मे कह चुके है—वही परमात्म-देव अग्नि मे है, जल मे है, वायु मे है, औषधियो तथा वनस्पतियो मे है । ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषियो ने सृष्टि को ही प्रत्यक्ष-ब्रह्म कहा है । 'शनो मित्र: शवरुण'— इत्यादि मत्र मे भी 'त्वमेव, प्रत्यक्ष ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्ष ब्रह्म वदिष्यामि' कहा है कि जिसका अभिप्राय भी यही है कि यह विशाल तथा विविध रूपा सृष्टि ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है । १६ वें श्लोक मे उसे 'सर्वतोमुख'— कहा है जिसका मुख सृष्टि मे सब जगह विद्यमान है । वैदिक साहित्य मे यह भाव इतना व्यापी है कि गीता (७-८, ९) मे कहा है :

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशि सूर्ययो ।
प्रणव. सर्ववेदेषु शब्द. खे पौरुष नृषु ।।८।।
पुण्यो गन्ध: पृथिव्या च तेजश्चास्मि विभावसौ: ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ।। ९ ।।

मैं जलो में रस हूँ, चन्द्र तथा सूर्य की प्रभा मैं हूँ, पुरुषो मे पौरुष मैं हूँ, पृथ्वी मे सुगन्ध मैं हूँ, अग्नि में तेज मैं हूँ, सब प्राणियो में जीवन मैं हूँ, तपस्वियों में तप मैं हूँ । यही गीता के ११ वे अध्याय मे, जहाँ भगवान् का विराट् रूप दर्शाया गया है, पाया जाता है । वहाँ अर्जुन श्री कृष्ण को प्रतीक मानकर भगवान् का वर्णन करते हुए कहते है ।

अनेक बाहूदरवक्त्रनेत्र पश्यामि,
त्वा सर्वतोऽनन्त रूपम् ।
नान्त न मध्य न पुनस्तवादि,
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपम्
।।१६।।

परमात्म-देव के सर्वव्यापी का भाव अभिप्राय ही यह है कि जब वह हर वस्तु मे विराजमान है, तब जो दीखता है उसमे भगवान् के ही दर्शन हो रहे हैं । हर वस्तु की सत्ता उसी की सत्ता के कारण सतीवान् है, वह न हो, तो उसके बिना कुछ रहता ही नही है । हम आत्मा का दर्शन इस चलते-फिरते शरीर मे करते है, भगवान का दर्शन इस चलायमान विश्व मे करते है । आत्मा न हो तो शरीर नही रहता, परमात्मदेव न हो तो सृष्टि नही रहती । शरीर की सार्थकता इसके भीतर विद्यमान चेतन-सत्ता से है, सृष्टि की सार्थकता सृष्टि मे विद्यमान चेतन-शक्ति से है जिसे ऋषियो की परिभाषा में परमात्म-देव या ब्रह्म कहा गया है । इसी विचार को ध्यान में रखते हुए तृतीय अध्याय में कहा गया है :

उसके नेत्र सब जगह है, वह सब कुछ-देख रहा है—विश्वत चक्षु' उसक मुख सब ओर है—विश्वत मुख, उसकी भुजाए सब जगह हैं — विश्वतः बाहु, और उनके पाँव सब जगह है—उतविश्व-पस्पात् । जैसे कोई लोहार किसी वस्तु की रचना करता हुआ हाथो से धोकनी को धोकता है—स बाहुभ्या धमति स पतत्रै:—वैसे वह इकला परमात्मदेव सृष्टि को उत्पन्न करता हुआ द्यु और पृथ्वी को मानो धोक रहा है ।—द्यावा पृथ्वी जनयन् देव एक, जिससे यह द्यु-लोक तथा पृथिवी लोक मानो सुलग रहे हैं ।।३।।

जो देवो का प्रभव तथा उद्भव करने वाला है— यदेवाना प्रभव, च उद्भव, च, जो विश्व का स्वामी है—विश्वाधिप, जो विकराल रूप है—रुद्र, जो महर्षि है महर्षि, जिसने सृष्टि-रचना करते हुए पहले हिरण्यगर्भ (Nebula) की सृष्टि की—हिरण्यगर्भं रचयामास पूर्वम्, वह परमात्मदेव हमे सद्बुद्धि से संयुक्त करे—स: न: बुद्धया सयुनक्तु ।।४।।

मैं उस महान् परम पुरुष परमात्म-देव को जानता हूँ—वेद अहम् एतम् पुरुष महान्तम्, जो आदित्य की तरह प्रकाशवान् है ।— आदित्यवर्ण जो अन्धकार से अत्यन्त दूर है—तमस परस्तात् । उसी को जानकर त एव विदित्वा, मृत्यु के पार हुआ जाता है— मृत्यु अत्ति एति, मृत्यु से छुटकारा पाने का दूसरा कोई रास्ता नही है—न अन्य: पन्था विद्यते अयनाय ।।८।।

जिससे न कुछ परे है न वरे है—यस्मात् पर न अपरं अस्ति किंचित्, जिससे न कुछ सूक्ष्मतर है न बृहत्तर है—यस्मात् न अणीय. न ज्याय: अस्ति किंचित्, जो इकला वृक्ष की जडो की तरह पृथिवी मे दृढ खडा तथा उसके शिखर की तरह द्यु-लोक में ऊपर उठा हुआ स्थित है—वृक्षइव स्तब्ध दिवि तिष्ठति एक, उस परमात्मदेव से इस विश्व का अणु-अणु भरा पडा है—तेन इद पूर्ण पुरुषेण सर्वम् ।।९।।

(क्रमश )

## बृहद्यज्ञ एवं वेदोपदेश

आर्यसमाज माडल टाउन, दिल्ली-९ के तत्वावधान में दि० २४ नवम्बर से ३० नवम्बर तक बृहद्यज्ञ एवं वेदोपदेश का कार्यक्रम रखा गया है । प्रतिदिन प्रात: ६-३० से ८-३० तक बृहद्यज्ञ तथा वेदोपदेश सम्पन्न होगा । रात्रि में ८ से ८-३० तक आर्यसमाज समाज द्वारा भजन एवं ८-३० से ९-३० तक वेदोपदेश होगा । "जीवन में सुख और शान्ति कैसे मिल सकती है" विषय पर ब्र० रामप्रकाश जी का ओजस्वी भाषण भी होगा ।

३० नवम्बर ११-३० से १२-१५ तक श्री सरदारीलाल वर्मा प्रधान दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा की अध्यक्षता में आर्यकुमार सभा का कार्यक्रम होगा ।

## सम्पादकीय

# अविश्वसनीय क्रूरता : अमानवीय कृत्य

बिहार राज्य से प्राप्त समाचारो के अनुसार भागलपुर की पुलिस ने कई दर्जन विचाराधीन कैदियो की आँखें निकाल ली। पुलिस द्वारा समय-समय पर लोगो को दोषी बताकर उन्हे जो क्रूर यातनाएँ दी जाती हैं, वह किसी भी सभ्य समाज के लिए असाधारण रूप से लज्जा की बात है। पुलिस सूत्रो ने इस घटना के बारे मे कानाफूसी द्वारा अपने कार्य के औचित्य का जो विवरण दिया है उसके अनुसार जिन लोगो की आखें निकाली गयी हैं वे समाज विरोधी तत्त्व थे।

औचित्य के इस तर्क को सुनते ही पहला प्रश्न मन में यह उठता है कि क्या हमारे देश मे ऐसा कोई कानून विद्यमान है जिसके अन्तर्गत किसी भी अपराधी को पुलिस ही अपराधी घोषित करके स्वय उसे दण्ड दे दे। जहाँ तक कानून को हम जानते हैं उसके अनुसार पुलिस का काम अपराधियों को पकडना, उनके अपराध की छानबीन कर उचित आधार विद्यमान होने पर अपराधियो को किसी भी न्यायालय मे प्रस्तुत करना, न्यायालय में उनका अपराध सिद्ध करना है। कोई व्यक्ति अपराधी है या नही और उसके अपराध का आधार सही है या नहीं इसका निर्णय न्यायालय करता है और वही उसे सजा भी देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि बिहार राज्य में तथा अन्य स्थानो पर भी अपराध का फैसला करने का दायित्व पुलिस ने अपने ऊपर ले लिया है। और उसके इस प्रकार के गैर कानूनी काम को रोकने की हमारे देश में कोई व्यवस्था नही है।

जिन लोगों को पुलिस ने अपराधी घोषित कर उन्हे स्वय अमाननीय दण्ड दिया है, उन्हे दण्ड देने का तरीका भी इतना क्रूर और यन्त्रणा पूर्ण है कि समाचार सुनकर रोंगटे खडे हो जाते हैं। प्राप्त समाचारो के अनुसार इन अभागे लोगो की आँखे फोड कर उनकी आँखो की पुतलियाँ निकाल ली गयी और बाद में उनको को हमेशा के लिए बन्द कर देने के लिए तेजाब का प्रयोग किया गया। समाचारों के इसके साथ उनकी पलकें तो सदा के लिए बन्द हो ही गयी, उनका चेहरा भी विकृत हो गया। समाचारों में यह भी बताया गया है कि उच्च पुलिस अधिकारियो ने निम्न कर्मचारियो की इस तथाकथित 'गंगाजल' की चिकित्सा की सराहना की क्योंकि उनका कहना है कि इस प्रकार के कार्यों से विचाराधीन अपराधी भविष्य में कभी कोई अपराध तो कर ही नहीं पायेगा इसके साथ ही अन्य लोग भी इस प्रकार के किसी भी गैर कानूनी काम के लिए साहस नहीं कर पायेंगे।

प्राथमिक छानबीन से यह भी तथ्य सामने आया है कि सभी विचाराधीन कैदियो के साथ इस प्रकार का अमानवीय व्यवहार नही किया गया। कुछ सौभाग्य शाली अपराधी ऐसे भी थे जिन्होने पुलिस की जेब भरने की व्यवस्था कर ली थी, उन्हे इस यातना से मुक्ति मिल गयी।

इस प्रसंग से देश भर मे घटी इस प्रकार की अन्य घटनाएँ आखो के सामने घूम जाती हैं जबकि इस देश की पुलिस ने अपराधी और निरपराधी दोनो प्रकार के लोगों को क्रूरतापूर्वक यातनाएं दी है। उनकी हत्याएं की है और बलात्कार किए है। कानून और व्यवस्था के नाम पर जनसाधारण को दी जाने वाली इस प्रकार की यातनाओ से क्या हम पूरे समाज से पनप रही अपराधवृत्तियों को रोकने में सफल हो सकते है। प्राय समर्थ अपराधी पुलिस अधिकारियो प्रशासनिक अधिकारियो राजनीतिज्ञो की सहायता से कानून की गिरफ्त से बच निकलते है और वे न केवल समाज मे अपने अपराधो का जाल और अधिक व्यापक रूप से फैलाते हैं बल्कि सारा समाज उन लोगो से आतंकित हो उठता है।

पुलिस प्रशासन और राजनीतिज्ञों की इस मिलीभगत का परिणाम यह है कि देश भर मे हिंसा और हत्याओ का वातावरण उग्र से उग्रतर होता जा रहा है। पुलिस अपराधो को रोकने के स्थान पर उन मे केवल सहायक ही नही हो रही बल्कि स्वय भी अपराधो मे लिप्त हो रही है। इस प्रकार समाज को अपराधों की जिस दोहरी लहर का सामना करना पड रहा है उसके कारण समाज विस्फोट होना अनिवार्य है। दमन का रूप जितना उग्र होता जा रहा है उसी और लोगों को यातनाए देने का क्षेत्र जितना अधिक व्यापक होता जा रहा है उतना ही हिंसाओं और हत्याओ का क्षेत्र भी बढ़ता जा रहा है। इसके साथ प्रतिक्रिया के रूप मे होने वाली हिंसा और हत्याएं भी अधिक भयानक पूर्ण होती जा रही है। इस प्रसंग मे हम बेलगाडी के हत्याकाण्ड को याद किए सकते है जबकि बदला लेने के लिए पिछड़े वर्ग के कुछ लोगों ने हरिजनो का उनके गाव मे घेरा कर चिता बनाकर घरो मे एक एक व्यक्ति को पकडकर जीवित ही आग मे झोंक दिया था। इस हत्याकाण्ड मे बच्चो को भी नही छोड़ा गया। यह हत्याकाण्ड भी इसी लिए सफल हो सका क्योंकि आक्रमणकारियों को पुलिस का समर्थन मिला हुआ था।

पुलिस की स्वेच्छाचारिता इस सीमा तक बढ़ गयी है कि न्यायालयों द्वारा पुलिस के व्यवहार के बारे मे की गयी आलोचना भी कारगर नहीं हो पा रही है। पिछले वर्ष ही उच्चतम न्यायालय ने बिना मुकदमा चलाये वर्षों तक लोगो को जेलो मे बन्द रखने के कारण पुलिस की कटु आलोचना की थी। अन्य भी अनेक ऐसे मामले सामने आये है जबकि उच्चतम न्यायालय को तीखी कटु आलोचना करनी पडी है। यदि यही स्थिति रही तो देश भर में अराजकता का पूरा दायित्व पुलिस विभाग पर आ पडेगा हमे यह नही भुलाना चाहिए कि कठोरता नियन्त्रण यातनाए अन्यायपूर्ण कार्यवाहियो से विरोध को रोक नही सकते। सोवियत संघ में इस समय जितने कठोर नियन्त्रण है और लोगों को जिस प्रकार यातनाए दी जाती उसके विरोध मे वहा भी जनता और बुद्धिजीवियों की आवाज दृढ से दृढतर होती जा रही है। पोलेण्ड में इस विरोध ने विद्रोह का रूप धारण कर लिया है। सच बात तो यह है कि मानवीय प्रवृत्ति अत्याचार और अन्याय के विरोध मे सदा प्रबल रहती है। हमें इस बात पर गर्व है कि हमारे प्रशासक और राजनीतिज्ञ इस पर गम्भीरतापूर्वक ध्यान देगे और स्थिति मे सुधार के लिए प्रयत्नशील होंगे। □

# साम्प्रदायिक नियुक्तियां

लोकसभा मे विधि मन्त्री श्री शिवशंकर ने घोषणा की है कि जल्दी ही उच्चतम न्यायालय मे एक हरिजन न्यायाधीश नियुक्त किया जायेगा। यह पहला अवसर है जबकि उच्चतम न्यायालय में किसी हरिजन की नियुक्ति होगी। अपने इस निर्णय के कारणो पर प्रकाश डालते हुए विधि मत्री ने बताया कि यदि हमें सामाजिक न्याय के लक्ष्य प्राप्त करने हैं तो समाज के विभिन्न वर्गो से न्यायाधीश नियुक्त किये जाने चाहिये। इन विभिन्न वर्गों में पिछडे वर्ग और अल्पसंख्यक भी आते है।

यदि योग्यता के आधार पर किसी हरिजन की उच्चतम न्यायालय मे न्यायाधीश के पद पर नियुक्ति की जाती है तो किसी को भी इसमें आपत्ति नहीं होगी, पर जिस प्रकार सरकारी नौकरियो मे योग्यता के स्तर की उपेक्षा करके भी अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जन जातियो और पिछडे वर्गों के लोगों को नौकरी मे लिया जाता है और जिस प्रकार योग्यता की उपेक्षा करके केवल इन्ही आधारो पर कुछ वर्गो को पदवृद्धि दी जाती है तो यह हमारे लिए चिन्ता की बात है। उच्चतम न्यायालय को हम एक ऐसा स्थान मानते हैं जहां केवल मात्र योग्यता के आधार पर ही नियुक्ति होनी चाहिये, वर्ग जाति अथवा राजनीतिक आधार पर नही। यह बात भी बार-बार उठायी जाती है कि राजनीति आधार पर, विशेष प्रकार के सिद्धान्तों अथवा विशेष दलो मे निष्ठा रखने वाले लोगो की उच्चतम न्यायालय मे नियुक्ति न की जाये।

जिस प्रकार सामाजिक न्याय के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विभिन्न वर्गों को प्रतिनिधित्व देने की बात की जाती है इसी प्रकार से सामाजिक न्याय की दृष्टि से ही यह एकदम अनिवार्य है कि वर्ग, जाति राजनीति और दलीय निष्ठा के आधार पर नियुक्तियाँ की जायें। इससे न्याय के क्षेत्र मे इतना असन्तुलन पैदा हो जायेगा कि पूरी सामाजिक व्यवस्था को सम्भालना कठिन हो जायेगा।

प्रशासन मे जिस प्रकार कुछ वर्गो जातियो की संरक्षण के आधार पर जो नियुक्तियां की जाती है अथवा राजनीतिक और दलीय निष्ठा के आधार पर जो नियुक्तियां की जाती है उसके कारण हमारी सम्पूर्ण शासन व्यवस्था भ्रष्ट हो चुकी है और इस भ्रष्ट शासन व्यवस्था मे पूरे देश की व्यवस्था को अस्त व्यस्त कर दिया है जिससे हम निरन्तर अराजकता और विघटन की ओर बढ़ते चले जा रहे है। हमें भय है कि उच्चतम न्याय व्यवस्था में भी यदि इसी प्रकार कुछ विशिष्ट वर्गो के लोगो को उनके वर्ग-जाति के आधार पर नियुक्त किया गया तो केवल उच्च न्याय व्यवस्था की प्रतिष्ठा की समाप्ति तक ही स्थिति सीमित नहीं रहेगी बल्कि जिस अराजकता विघटन की ओर हम बढ़ रहे है उसकी गति और अधिक तेज हो जायेगी।

हमें आशा करनी चाहिये कि हमारे न्याय और विधि मन्त्री इस स्थिति को ध्यान मे रखते हुए लोकसभा मे दिये अपने वक्तव्य का और अधिक स्पष्टीकरण करेंगे और विश्वास दिलायेंगे कि हरिजन अथवा इस प्रकार के वर्गों के किसी भी व्यक्ति की नियुक्ति उसकी योग्यता के आधार पर ही की जायेगी।

# धर्म का आदि स्रोत

धर्म जो कि सार्वभौम सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् जिस को सदा से सब मानते आये, मानते है और मानेंगे भी, और इसलिए जिसे सनातन नित्य धर्म कहते है और जिसका विरोधी संसार में कोई भी (चाहे किसी भी मत का हो) नही हो सकता, उसका आदि स्रोत वेद है। यह धर्म है वेदोक्ताज्ञा अर्थात पक्षपात रहित सत्य-न्यायाचरण या परोपकार (सर्वजनहित) है। इस वेदोक्त धर्म का विरोध तो कोई ईश्वर को न मानने वाला भी नही कर सकता। सब विधान इसी वेदोक्त धर्म आधार पर ही बनते हैं और यदि यह उददेश्य पूरा नही होता तो वह विधान ठीक नही समझा जाता और परिवर्तन के योग्य होता है। वरन्च यहा तक कि सब पोलिटिकल पार्टीया भी इसी वेदोक्त धर्म के आधार पर ही अपना अपना प्रोग्राम बनाती है—सब सार्वजनिक हित वा दरिद्रता दूर करने की ही घोषणा करते है यद्यपि भावना विचार उददेश्य वा साधन उन के भिन्न-भिन्न होते है।

उपरोक्त वेदोक्त धर्म का निष्कर्ष सूत्र रूप में ऋषि दयानन्द ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के "वेदोक्त धर्म विषय" प्रकरण में इन शब्दो में निकाला है— "न्याय्य, पक्षपात रहित सत्याचरणयुक्त परोपकार धर्म" अर्थात पक्षपात रहित न्यायसत्याचरण और परोपकार ही धर्म है। वह अपनी अमर पुस्तक "सत्यार्थ-प्रकाश" के अन्त में "स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश" में धर्म वा अधर्म का लक्षण इस प्रकार करते हैं।

"जो पक्षपातरहित न्यायाचरण, सत्यभाषणादियुक्त ईश्वराज्ञा वेदो से अविरुद्ध है उस को धर्म और पक्षपात सहित अन्यायाचरण मिथ्याभाषणादि ईश्वराज्ञा भङ्ग वेदविरुद्ध है उसको अधर्म मानता हूं।

उक्त ऋषि के बनाये हुए आर्य-समाज के दस नियमो में से निम्न-लिखित ५ नियम भी इसी बात को प्रदर्शित करते है।

४ सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोडने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५ सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार कर करने चाहिए।

६ संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७ सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए।

९. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति मे सन्तुष्ट न रहना चाहिए किन्तु सब की उन्नति मे अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

अब मैं कुछ वेद मन्त्र, जिन में उपरोक्त धर्म का प्रतिपादन किवा गया है, प्रस्तुत करता हूं।

दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ यजु० ॥३६।१८॥

भावार्थ—हे सब दुःखों को दूर करने वाले परमेश्वर! आप मुझ पर ऐसी कृपा कीजिए कि मैं सत्य धर्म को यथावत् जानूं अर्थात् पक्षपात रहित मित्र दृष्टि से सब प्राणियो के साथ प्रेम भाव से बर्तू और सब प्राणी मुझ को प्रेमभाव से मित्र की दृष्टि से देखें। और हम सब परस्पर द्वेष को छोडकर एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें। (और सत्य धर्म के आचरण से सुखो को नित्य बढायें)।

लेखक :
प्रेमनाथ चड्ढा

२. अग्ने व्रत चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥यजु० ५॥

भावार्थ—हे सत्यव्रतपते प्रकाशवान् परमेश्वर! मैं सत्य धर्म अर्थात् न्याय्य पक्षपातरहित सत्याचरण का अनुष्ठान करना चाहता हूँ। इस के पालन के लिए मुझ को आप सामर्थ्य देवें। इस व्रत की सिद्धि करने वाले आप ही हो सो यह मेरा व्रत है कि मैं झूठ को छोड कर सत्याचरण में सदा दृढ। रहूँ।

३ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्याञ्जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥यजु० ४०। १॥

भवार्थ—हे मनुष्यों! यह सारा जग परमेश्वर मे व्याप्त है हममें ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है। ऐसे सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी परमात्मा का निश्चय कर के कभी अन्याय से किसी दूसरे का द्रव्य ग्रहण करने की अभिलाषा न करूं।

४. यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत. ॥ यजु० ४०।७॥

भावार्थ—जो विद्वान् लोग एक ही परमात्मा में वास करते हुए प्राणी मात्र को अपने आत्मा के तुल्य जानते हैं। अर्थात् जैसे अपना हित चाहते हैं वैसे अन्यो का भी हित चाहते हैं और उस द्वितीय परमेश्वर की शरण को प्राप्त होते हैं उन को मोह (मूढावस्था) शोकादि कभी प्राप्त नही होते।

५. संगच्छध्वं सवंदध्वसवो मनासि जानताम्।

देवा भाग यथा पूर्वे सजानना उपासते। ऋ० अ० ८, ऋ० ८ व० ४९, म० २॥

भाषार्थ— हे मनष्यों! न्याय्य पक्षपात रहित सत्याचरणयुक्त धर्म को आप सम्यक् प्राप्त होओ। और इसकी प्राप्ति के लिए सदा आपस मे विरोध छोडकर मिल कर रहो, जिससे तुम्हारा उत्तम सुख सदा बढ़ता रहे। और तुम्हारे सब दुःखो का नाश हो। तुम लोग जल्प वितंडादि विरुद्ध वाद को छोडकर प्रीति से विचार विमर्शपूर्वक संवाद करो जिस से तुम्हारी सत्य विद्या और उत्तम गुण सदा बढते रहें। जैसे पहले धर्मात्मा विद्वान् लोग वेदोक्त धर्म का आचरण करते आये है वैसे तुम भी करो। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से मन्त्र वेदों मे धर्म के विषय पर हैं। जिनके यहा देने लेख बढ जाने के भय से आवश्यकता नही। वैदिक धर्म को संक्षेप मे निरूपण करने के लिए उपरोक्त मन्त्र ही पर्याप्त हैं।

यद्यपि उपरोक्त सार्वभौम धर्म का विरोध कोई भी मतवाला नही कर सकता और ईश्वर को न मानने वाला भी कहता है कि मैं इस (वेदोक्त) धर्म को अर्थात् पक्षपातरहित सत्यन्यायाचरण परोपकार

(शेष पृष्ठ ८ पर)

# समाज सेवा में समर्पित महात्मा हंसराज

लेखक :
सरदारीलाल वर्मा
प्रधान दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा

बहुत पुरानी कहावत है कि "परोपकाराय सतां विभूतयः" सज्जनों का शरीर सदा दूसरों का उपकार करने मे ही काम आता है। ऐसे सज्जनो की गणना मे महात्मा हंसराज का नाम प्रथमश्रेणी मे ही गिना जाता है। अपने जीवन भर बिना किसी स्वार्थ और बिना किसी लोभ-लालच के समाज-सेवा ही की।

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती की मृत्यु के पश्चात् आपने देखा कि भारत-वासियों की शिक्षा लार्ड मैकाले की योजना के अनुसार ही चल रही है जिससे देश के युवक ऊपर से भारतीय किन्तु भीतर से अंग्रेजी बन जायेंगे। महात्मा जी चाहते थे कि इस देश के युवक ऊपर से भारतीय हैं, तो भीतर से भी पूरे भारतीय ही रहें। हमारी संस्कृति और सभ्यता का पूर्ण विकास हो।

इस विचारधारा को सफल और कार्यान्वित करने के उद्देश्य से आपने शिक्षा के क्षेत्र में दयानन्द ऐंग्लोवैदिक का आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया, जिसके परिणाम स्वरूप देश में सर्वत्र डी० ए० वी० स्कूलों और डी०ए०वी० कालिजों का जाल बिछ गया।

प्रारम्भ में डी० ए० वी० स्कूलों की शिक्षा का पाठ्यक्रम पूर्ण वैदिक था। खेद है कि अब वैसा नहीं रहा अब तो डी०ए० वी० स्कूल भी मैकाले के ही अनुयायी हो गये हैं।

महात्मा जी सच्चे सन्यासी थे और उनकी आत्मा तप से तपकर कुन्दन बन गई थी। आप सरलता और सादगी की मूर्ति थे। डी० ए० वी० कालेज का एक भी पैसा उन्होने कभी अपने प्रयोग मे नही लिया। जनता के पैसे को अपने प्रयोग मे लाना वे पाप और समाज के धन का दुरुपयोग समझते थे। सारे जीवन मे आपने कालिज की छोटी-से-छोटी वस्तु, यहाँ तक कि कागज का टुकडा भी अपने प्रयोग मे नही लिया। आप कालिज के प्रधान रहे और आचार्य भी रहे, चाहते तो अपने लिये कालिज का अधिक से अधिक प्रयोग कर सकते थे, किन्तु उस सच्चे संन्यासी और महात्मा ने अपने लिये कालिज का जरा सा भी उपयोग ठीक नही समझा। आप सर्वथा निर्लिप्त होकर, निस्वार्थ भाव से, बिना कुछ दक्षिणा लिये ही अवैतनिक रूप से कालिज की सेवा करते रहे।

महात्मा जी का स्मृति दिवस इस वर्ष २३ नवम्बर को आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के तत्वावधान मे विशेष समारोह के साथ आर्यसमाज मन्दिर (अनारकली), मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली के प्रांगण में मनाया गया है। इस अवसर पर अनेक प्रतिष्ठित नागरिक, विद्वान्, उपदेशक और नेताओं में महात्माजी प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। महात्मा जी के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि यही होगी कि हम अपना जीवन तपस्या का जीवन बनायें तथा निस्वार्थ भाव से समाज की सेवा करने का व्रत लें।

# रमो रमो अभिराम

सोम ! रारन्धि नो हृदि
गावो न यवसेष्वानध्वा
मर्य इव स्व ओक्ये ।।

ऋ० १।९१।१३

हे सोम ! (गावोन यवसेषु) जैसे जौ के खेतो में गायें रमण करती हैं। और (मर्य) मनुष्य (स्व ओक्ये इव) अपने घर मे निवास करता है वैसे ही (त्व) तुम (नः हृदि) हमारे हृदयो मे (आ) आकर सदा रमण करो या बस जाओ।

मनुष्य जीवन में सुख चाहता है। इस सुख और आनन्द की प्राप्ति का एक ही उपाय है और वह यह कि प्रभु के समीप पहुचना या प्रभु को अपने मन मन्दिर में बसा लेना। हम प्रभु के जितना निकट रहते हैं उतनी ही हमारी शक्तिया बढ जाती हैं। वास्तव में प्रभु के निकट आने से हमारे ज्ञान का क्षेत्र बढ जाता है। जहां ज्ञान होता है, शक्तिसत्ता आती है। और जहां शक्ति होती है वहा आनन्द का अनुभव किया जा सकता है। इस प्रकार प्रभु के साथ अपनी एकता अनुभव करने से जीवन मे एक नया उत्साह, उल्लास व शक्ति आ जाएगी और हम आनन्द का अनुभव कर सकेंगे।

प्रभु को अपने हृदय में बैठाने के लिए मनुष्य को आत्मपरिष्कार करना होगा। हृदय को पवित्र बनाना होगा। हृदय से झूठ, हिंसा, कुटिलता, द्वेष असंयम आदि विचारो के मैल को मिटाना होगा। आत्मनिरीक्षण द्वारा हृदय से रागद्वेष के मैल को खुरच खुरच कर निकालना होगा तभी इस हृदय के आसन पर प्रभु बैठ सकेगा।

सद्विचार मनुष्य को ईश्वर के निकट ले जाते है। ईश्वर के स्मरण से ही हम ईश्वर से स्वाभाविक सबंध बना लेते हैं। और तब ससार मे हमे कभी भी अकेलापन अनुभव नही होता क्योकि हमारे साथ हमारा ईश्वर रहता है। उस महान् सृष्टा से अटूट नाता जोडकर ही हम उनके निर्माण कार्य मे हाथ बटा सकते हैं। पृथ्वी का कण-कण उसी निर्माता की अपूर्व योजना की गवाही देता है। हमारा जीवन भी तभी सच्चा मानव जीवन होगा जब हम पृथ्वी के सुन्दर रूप को और भी सुन्दर बनायेगें, मनुष्यता को ईश्वर के पास ले जाएगें। ईश्वरत्व के पास जाने का मतलब है आनन्द के स्रोत के पास चले जाना। उससे हममे दिव्यता का समावेश हो जाता है। ईश्वरीय सत्ता से अलग होने का विचार निर्णय की सारी शक्तियो से वचित कर देता है।

लेखक :
**श्री सुरेशचन्द्र वेदालंकार**

सच तो यह है कि ईश्वर के प्रकाश में कदम रखते ही मनुष्य की सब दुर्बलताए, सब दुख, सब पाप सूर्य के सामने के अन्धकार की तरह नष्ट हो जाते हैं। बस एक बार ईश्वर मे विश्वास रख उसके पास जाओ, वह अपने सौन्दर्य से तुम्हे सुन्दर बना देगा, अपनी उज्ज्वलता से तुम्हे उज्ज्वल बना देगा। और जब हम उस प्रभु के 'सत्य, शिव, सुन्दरम्' रूप को पहचानने लगें तब हम कह उठेगें हे सोम ! तुम मेरे हृदय मे ऐसें आ जाओ जैसे जो के हरे खेत मे गौवे आकर खाने का आनन्द लेती है। हे प्रभो ! तुम मेरे हृदय मे केवल आओ ही नही परन्तु तुम इसमे वैसेही बस जाओ, जैसे मनुष्य अपने घर मे बसता है। तुम्हारे आने से मेरा हृदय मेरा नही रहा, मेरा मन मेरा नही रहा मैने इसमे से मैं को निकाल दिया है। यह हृदय अब तेरा घर है, अब यह शरीर तेरा है। इसमे आकर अपनी इच्छापूर्वक रमण करो। विचरो - यह तुम्हारा है।

रमो रमो अभिराम
जैसे धनु रमे यववन में,
बसे मनुज निज सौध्य मे,
वैसे ही प्रिय मेरे मन मे,
विहरो तुम अभिराम
भक्तो के प्रेमार्त हृदय मे
करो हरे विश्राम ।।

## अजमेर में वेद संगोष्ठी

ऋषि मेला के अवसर पर १९-११-८० को विश्व वेदपरिषद् के तत्त्वावधान मे श्री डा० सुधीरकुमार गुप्त की अध्यक्षता और डा० भवानीलाल भारतीय के संयोजकत्व मे वेदसगोष्ठी हुई जिसमे निर्णय लिये है।

१ वेदो का प्रकाशन मोटे टायप मे विराम चिह्नो को प्रयोग करते हुए और शब्दो को अलग-अलग छापकर उनका अनुवाद सरल भाषा मे किया जाये।

२. प्रत्येक आर्य का वेदारम्भ संस्कार किया जाये।

३ आर्यसमाज स्थापना दिवस चैत्र शुक्ल ५, १०-४-१८७५ को ही माना जाये।

४. वेदसृष्टि सवत् ऋषि दयानन्द निर्दिष्ट १९६०८५३०८१ ही मान्य है।

५ ऋग्वेद की मन्त्र सख्या १०५८८ ठीक है।

६ ६ या ५ का उच्चारण ग्वन् करना अशुद्ध है। यह अनुस्वार का गहरा रूप है।

७ प्रत्येक आर्यसमाज मे वेद विद्यालय अवश्य सचालित हो (चाहे एक घटे के लिये ही हो)।

८ पारायण यज्ञो मे मन्त्रान्त मे स्वाहा आने पर उसे मन्त्रांश समझकर आहुति के लिए पुन 'स्वाहा' का प्रयोग किया जाये।

९. ऋग्वेद तथा अथर्व का द्रुत यजुर्वेद का मध्यम और सामवेद का विलम्बितलय मे पाठ किया जाये।

१० मन्त्रो का पाठ ७ घन्टो के ७ स्वरो मे किया जाये जैसे गायत्री छन्द का षड्ज मे त्रिष्टुप् का धैवत स्वर मे आदि।

११. सामान्य यज्ञ संस्कार विधि के सामान्य प्रकरण के क्रमानुसार क्रिया

आर्यसमाज के इतिहास की कुछ अप्रकाशित घटनाएँ

# ऐसे थे हमारे 'संन्यासी'

उपासना का एक फल निर्भयता है। यदि ईशोपासक के मन में निर्भयता का भाव नहीं है तो समझ लीजिए कि वह अब पिछड़ा साधक है। आत्मबल आत्मोन्नति की कसौटी है तभी तो महर्षि दयानन्द ने आर्याभिविनय में एक से अधिक बार प्रभु से निर्भयता की विनय की है।

आर्यसमाज की विचारधारा में जीव मात्र को भय मुक्त करने का उपदेश, सन्देश और आदेश है। प्राणियों को अभय देखने से पूर्व आर्य विचारधारा से विभूषित व्यक्ति का अभय होना आवश्यक है। आर्यसमाजी का आर्तनाद है :—

'जो बोले सो अभय,
वैदिक धर्म की जय।'

महान् मनीषी श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय ने अपने एक ग्रंथरत्न में महर्षि दर्शन के विषय में एक मार्मिक बात लिखी है,

'He has given us a bold philosophy of life A philosophy of the reality of god, reality of man and the reality of the universe in which man has to live in His is a philosophy of bold actions and not of idle musings"

महर्षि का दर्शन निश्चय ही वीरोचित (Bold Philosophy) दर्शन है। आर्यसमाजी बनते ही व्यक्ति में निडरता का भाव उभरना आरम्भ होता है। यदि किसी व्यक्ति में यह भाव नहीं उभरता तो वह व्यक्ति आर्यसमाज में घुसा है, उस व्यक्ति में आर्यसमाज नहीं घुसा। हमारे हृदयों में आर्यसमाज का प्रवेश हो।

आर्यसमाज में प्रवेश करके व्यक्ति कल्याण मार्ग का पथिक बनता है। ऐसे एक पथिक महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) थे। अभी वह राजनीति के विस्तृत क्षेत्र में नहीं उतरे थे तब की एक घटना हम पाठकों के सामने रखते हैं। हमें पूर्ण आशा है कि भारतीय स्वाधीनता संग्राम के इतिहास लेखक, गवेषक तथा आधुनिक भारतीय इतिहास के पंडित इस घटना का ठीक ठीक मूल्यांकन करेंगे।

१८९७ ई० में कांग्रेस अभी शैशव काल में थी। राजनीति का स्वर अभी मन्द था। राजनैतिक चेतना अंगड़ाई लेने लगी थी। कांग्रेस कुछ एक बाबुओं, वकीलों व डाक्टरों की टोली थी। जनसाधारण से अभी कोसों दूर थी। तब अपने उग्र अग्रलेखों के कारण लोकमान्य तिलक को बम्बई हाईकोर्ट ने १॥ वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड दिया। यह एक ऐतिहासिक अभियोग था। अंग्रेजी न्यायालयों में न्याय के नाम पर एक विचित्र नाटक हुआ करता था। जनता तो क्या, बड़े-बड़े नेता तब साम्राज्य के भय से त्रस्त थे। लोकमान्य जब कारागार से छूटे तो महात्मा मुंशीराम ने उनके मुक्त होने पर लिखित रूप से हर्ष व्यक्त किया और अपने लेख में यहाँ तक लिखा था कि यद्यपि उनको एक हाईकोर्ट के न्यायाधीश ने दण्ड दिया था तथापि जनमत प्रायः यही था कि वह निर्दोष हैं।

हमारे पाठक मुंशीराम जी की निर्भयता को उस युग की परिस्थितियों को अध्ययन करके न्यायतुला पर तोलें। कितने साहस के साथ महात्मा जी ने अंग्रेज Judiciary को रगड़ा दिया है। यह न्यायालय का अपमान है। अपने आपमें एक अपराध है। Contempr of Court का साहस करके देशवासियों को भयमुक्त करने का यह प्रशंसनीय प्रयास था। महात्मा जी का यह लेख बड़े परिश्रम से हमने खोजा है।

लेखक :
प्रा. राजेन्द्र 'जिज्ञासु'

महान् श्रद्धानन्द के जीवन की एक और ऐसी ही अद्भुत घटना हमारे सामने आई है। संयोग की बात है कि इस घटना का सम्बंध भी लोक मान्य तिलक से है। १९०२ ई० में लोकमान्य पर अंग्रेजी शासन ने पुनः एक अभियोग चलाया इस अभियोग पर देव पुरुष मुन्शीराम ने लिखा :—

मिस्टर बाल गंगाधर तिलक के जो फौजदारी अभियोग, झूठ बोलने व ठग्गी का पूना में चल रहा है, वह यद्यपि इस दृष्टि से साधारण है कि सदा ऐसे अभियोग महापुरुषों के विरुद्ध चला ही करते हैं, परन्तु जब एक ओर भारतीयों में यह प्रसिद्ध है कि मिस्टर तिलक की अपकीर्ति के लिए पूना के अंग्रेजों ने यह अभियोग चलाया है और दूसरी ओर अंग्रेजी पत्र यह दिखा रहे हैं कि हिन्दु लोग बुरे चलन के व्यक्ति के पीछे लगने में भूल पर थे तो इस अभियोग का परिणाम भारतीयों के लिए विशेष रुचि रखता है"

पाठकवृन्द ! नूर उलहसन हों, किंवा खुशवन्त सिंह जी, रोमीला थापर हों अथवा डा० राधा कृष्णन का चिरञ्जीव पूर्वाग्रह से आर्यसमाज के विरुद्ध बिना जांच पड़ताल के—अनेक व्यक्ति आए दिन कुछ न कुछ लिखते रहते हैं। आर्यसमाज के निर्माताओं की उपलब्धियों को घटाकर (Belittle) दिखाने की घिनौनी दुष्प्रवृत्ति चल पड़ी है। हमें आशा है कि स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज की ये पंक्तियां इतिहास वेत्ताओं का ध्यान एक दिन अवश्य खींचेंगी। भारतीय इतिहास में इन दोनों घटनाओं का स्थान Milestone (मील पत्थर) से कम नहीं।

आर्यसमाज के और महान् संन्यासी के जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना देकर हम अपनी लेखनी को विराम देते हैं। लौह पुरुष स्वामी स्वतन्त्रानन्द अजमेर गये। होली के दिन थे। प्रो० घेसूलाल जी एम० ए० के साथ बाजार में से निकल रहे थे। किसी ने रंग की पिचकारी मारी।

स्वामी जी वहीं रुक गये। प्रो० घेसूलाल जी से कहा लौटिए। साधु के लिए साधु वेश रहना ही उचित है। भगवा रंग ही पहना जा सकता है और कोई नहीं। ये वस्त्र तो बिगड़ गये। इन्हें नहीं पहना जा सकता।"

महाराज वापस लौटे। वे वस्त्र उतारे। कौपीन लगाकर दिन भर कमरे में पड़े रहे और वस्त्र थे नहीं। प्रो० महोदय कुर्त्ता सिलने दिया। नये वस्त्र पहनकर फिर सामाजिक कार्यों के लिए यतिवर बाहर निकले।

सहृदय पाठक इस घटना पर विचारें। आर्यसमाज में अब तो [illegible] बीस पैसे का गेरु लेकर कपड़ा रंगकर गृहस्थी भी मंच पर बैठकर 'स्वामी जी' बन बैठता है। बाद में फिर गृहस्थी। संन्यास धर्म की मर्यादाओं का हमारे संन्यासी कितनी कड़ाई से पालन करते थे—इसका एक उदाहरण उपरोक्त घटना है। अभी-अभी अजमेर में प्रो० महोदय के परिवार ने श्री स्वामी ओमानन्द जी को यह घटना सुनाई। सुनकर हमने कहा, स्वामी जी इस घटना का महत्त्व महाराज के लोहारू के बलिदान से कम नहीं।

उनका भी यही मत था। स्वर्गीय स्वामी वेदानन्द जी ने ठीक ही लिखा है कि स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी साधुओं के रीति नीति को विशेष रूप से जानते थे और अपने आश्रम की मर्यादाओं का पालन करने के लिए उन्होंने कठोर तप किया। उनकी सतत साधना को प्रणाम।

## निर्वाचन

'गुरुकुल महाविद्यालय बैरगिनिया (सीतामढ़ी) बिहार का नया चुनाव। श्री रामगोपाल जी अग्रवाल मुजफ्फरपुर (प्रधान), श्री शोभाचन्द जी अग्रवाल गौर (प्रधानमंत्री), श्री द्वारिका प्रसाद जी बेरोगिनिया (कोषाध्यक्ष) श्री पं० रामावतार शर्मा विद्यावाचस्पति मुख्याधिष्ठाता।

—आर्यसमाज तिलकनगर, नई दिल्ली का वार्षिकोत्सव दिनांक ३० नवम्बर से ७ दिसम्बर तक मनाया जा रहा है। प्रतिदिन प्रातः ६ बजे से ७-३० तक यजुर्वेदपारायण यज्ञ तथा रात्रि ७-३० से ९-३० बजे तक वेदोपदेश श्री महाशय शिवकुमार जी शर्मा द्वारा अनेक विद्वानों तथा साधु-सन्तों के व्याख्यान एवं प्रवचन और भजनोपदेश होंगे।

## ग्राहकों से निवेदन

'आर्य संदेश' के अनेक कृपालु ग्राहकों का चन्दा २-२,३-३ वर्ष से नहीं प्राप्त हुआ है। इस अत्यन्त महगाई के युग में यदि आपका चन्दा हमें नहीं मिलेगा तो आप स्वयं ही विचार कीजिये कि पत्र कैसे चल सकेगा ! कृपया अपना पूरा चन्दा जितना भी आपकी ओर निकलता है, तुरन्त भेजने का कष्ट करें।

सभा-मन्त्री

## आर्यसमाजों के सत्संग

१०-११-८०

कालका जी—पं० ओम वीर शास्त्री; ग्रेटर कैलाश-I—पं० सत्य काम वेदालंकार; जंगपुरा भोगल—पं० मुनिशंकर वान-प्रस्थ; तिलक नगर—पं० वेद व्यास भजनोपदेशक; नारायण विहार—आचार्य कृष्ण गोपाल; पंजाबी बाग—पं० प्राणनाथ सिद्धान्तालंकार; बाग कड़े खां—पं० बरकत राम भजनोपदेशक; बाजार सीताराम—पं० केशवचन्द्र मुन्जाल; माडल टाउन—पं० प्रकाशवीर व्याकुल; लाजपत नगर—आचार्य रामशरण मिश्रा शास्त्री; लक्ष्मीबाई नगर—पं० गणेश प्रसाद विद्यालंकार; सुदर्शन पार्क—प्रो० भारत मित्र शास्त्री; साकेत—प्रो० वीरपाल विद्यालंकार; जोर बाग—प्रो० सत्यराज वेदार; नया बांस—श्री चिमनलाल आर्य।

(शेष पृष्ठ ४ का)

को मानता हूँ परन्तु वेद से भिन्न सब मतवालों ने इसकी उच्चता या दूसरे महत्व को मिट्टी में मिला दिया है क्योंकि वे सब कहते हैं कि उनके (व्यक्तिगत पूजा वाले) मत को मानने वालों के पापों (दुराचारों) की क्षमा हो जायेगी और वे स्वर्ग को प्राप्त करेंगे दूसरे मत वाले चाहें वे कितने ही ऊँचे आचरण के हों, नरक में जायेंगे। यह कितने अंधेर की बात है। इसी से ही तो संसार में झगड़े की बात है मतमतान्तर चल रहे हैं और इतनी अशांति फैली हुई है। केवल वैदिक मत ही कहता है कि उपासना केवल ईश्वर की ही करनी चाहिए, किसी अन्य व्यक्ति की नहीं, और कभी क्षमा नहीं होगा। उनके फल को तो ईश्वर की व्यवस्था से भोगना पड़ेगा। और बिना उपरोक्त वैदिक धर्म के पालन किये, मनुष्य को सुख शान्ति या ईश्वर-प्राप्ति (मोक्ष प्राप्ति) नहीं। हो सकती अर्थात् उपरोक्त वैदिक धर्म के पालन से अर्थात् अनुष्ठान से ही ऐहिक (सांसारिक) या पारमार्थिक (निः श्रेयस-मोक्ष)-सुख की सिद्धि हो सकती है। अन्त में मेरी सर्वान्तर्यामी सच्चिदानन्द परमपिता परमात्मा से सविनय प्रार्थना है कि वह हम को सामर्थ्य दे कि हम वेद विरुद्ध सब मत-मतान्तरों के आपस के झगड़ों को मिटा कर उपरोक्त सर्वसत्य वेदोक्त सर्व सत्य का प्रचार कर सब को ऐक्यमत का बना सब को सुख लाभ पहुंचाने के लिए प्रयत्नशील हों जिससे सब लोग सहज में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि कर के सदा उन्नत वा आनन्दित होते रहें।

## दिल्ली आर्य महासम्मेलन

२६ से २८ दिसम्बर ८० तक

रामलीला मैदान में मनाया जा रहा है।

इस अवसर पर

**'आर्य सन्देश' का विशेषांक**

सजधज के साथ निकलेगा।

आर्य महासम्मेलन के भारी व्यय को पूरा करने के लिये आप इस विशेषांक में अपना अच्छा विज्ञापन देकर महासम्मेलन के कार्य में सहयोग देने की कृपा करें।

महासम्मेलन की सहायता होगी और आपका व्यापार चमकेगा।

सभा-मन्त्री

१४ नवम्बर से १४ दिसम्बर १९८० तक

**जवाहरलाल जी के ९१ में जन्मदिवस**

तथा

महाशय चुन्नीलाल धर्मार्थ ट्रस्ट द्वारा संचालित

श्रीमती चन्ननदेवी आर्यसमाज नेत्र धर्मार्थ चिकित्सालय

सुभाष नगर, नई दिल्ली-२७

की

पाँचवीं वर्षगांठ पर

## अन्धापन मिटाओ महीना

मनाया जा रहा है। इस अवसर पर

- गरीब और बेसहारा रोगियों को निःशुल्क चश्मे
- गरीब निःसहाय रोगियों के लिये निःशुल्क दवाईयां
- निःशुल्क लैंस ऑप्रेशन

औरतों के हर रोग के लिये आज ही पधारें

निवेदक :

| महाशय धर्मपाल | (डा०) सुखमुखकदास सोवर | ओम्प्रकाश आर्य |
|---|---|---|
| प्रधान | वरिष्ठ उपप्रधान | मन्त्री |

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के लिए श्री [illegible] द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा भाटिया प्रेस ७३७/१-सी, गुरुनानक गली, गांधीनगर दिल्ली-३२ के लिए निरुपमा प्रिंटर्स, पहाड़गंज, नई दिल्ली में मुद्रित। कार्यालय १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली फोन नं० ३१०१५०

## वैवाहिक विज्ञापन

२८ वर्षीय कद पाच फुट दो इच मासिक आय ८५४ रु० अपना मकान दिल्ली राजकीय विद्यालय मे M A Bed TGT अध्यापक मध्यमवर्गीय प्रतिष्ठित अग्रवाल कुलोत्पन्न आयसिद्धान्तो के प्रवक्ता हेतु दिल्ल मे ही सेवारत सुसस्कृत (M A या B A) आय सिद्धान्तनिष्ठ स्वस्थ सुदर कन्या की आवश्यकता है। अध्यापिका को प्राथमिकता। दहेज और जाति बन्धन नही। सादा विवाह प्रथम बार मे ही फोटो सहित पूर्ण विवरण के साथ मिले — बाबूलाल अग्रवाल ६७४ मिवट्री रोड पजाबी बस्ती आनन्द पवत नई दिल्ली ११०००५।

## देशोन्नति में आर्य समाज के योगदान पर बल

(शेष पृष्ठ १ का)

जी को अपनी श्रद्धाजली अर्पित क । इस अवसर पर सार्वदेशिक सभा क प्रधान श्री रामगोपाल वानप्रस्थ मन्त्री श्री ओम्प्रकाश त्यागी कोषाध्यक्ष श्री [illegible] सभा के प्रधान श्री सरदारीलाल वर्मा [illegible] के प्रधान श्री राममूर्ति कैला अखिल भारत य श्रद्धानन्द ट्रस्ट के मन्त्री श्री नवन त लाल एडवोकेट, तथा अन्य आय नेता गुण श्री अच्छी संख्या में उपस्थित थे।

दिल्ली आर्यप्रतिनिधि सभा का साप्ताहिक मुखपत्र

वार्षिक १५ रुपये | वर्ष ४ अंक ७ | रविवार ७ दिसम्बर १९८० | दयानन्दाब्द १५६

## आर्यसमाज के एक समर्पितजीवन की समाप्ति :

# महाशय चुन्नीलाल जी की स्मृति में श्रद्धांजलि सभा

यह बड़े दुःख की बात है कि आर्य-समाज के एक ऐसे निष्ठावान, कर्मठ और सौम्य व्यक्ति का देहावसान हो गया, जिन्होने केवल अपने परिश्रम से ही अपना और अपने परिवार का निर्माण किया। महाशय चुन्नीलाल जी आर्य-समाज के उन कुछ चुने हुए लोगों में से थे जिन्होंने आर्यसमाज मे प्रवेश करने के साथ उसकी शिक्षाओं से प्रभावित होकर धार्मिक जीवन व्यतीत करने का निश्चय किया। [illegible] आर्यसमाज के प्रचार के कारण ही महाशय जी सांसारिक [illegible] अपने जीवन के अनुभव बिना किसी लाग लपेट के सबको सुना दिया करते थे। ऐसे [illegible] व्यक्ति व्यापारिक जगत में दुर्लभ होते हैं। स्वाभाविक है कि इस प्रकार के कर्मठ व्यक्ति को खोकर आर्यसमाज का प्रत्येक सदस्य यह अनुभव करे कि आर्य जगत् का एक ऐसा [illegible] व्यक्ति उनके बीच से उठ गया है जिसकी पूर्ति नहीं हो सकती।

महाशय चुन्नीलाल जी का देहावसान १८ नवम्बर को हुआ और ३० [illegible] को एक विशाल सभा में उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की गई। इस श्रद्धांजलि सभा में महाशय जी के जीवन और उनके [illegible] के कोनों से आए थे जिन्होने कमाई तो केवल दो हाथो से की परन्तु अपनी कमाई का धन हजारों हाथो से बांटा। श्रद्धांजलि सभा मे उपस्थित ऐसे बहुत से लोग थे जिन्होने समय-समय पर महाशय जी से सात्विक सहायता प्राप्त की थी। कोई भी अपंग, असहाय विधवा सार्वजनिक और सामाजिक संस्थाएं और राजनीतिक दलो के कार्यकर्ता भी उनके दरवाजे पर पहुंच कर कभी निराश नहीं लौटे। उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करने वालो में सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री श्री ओम्प्रकाश त्यागी भू पू मुख्य कार्यकारी पार्षद श्री केदार नाथ साहनी, भू पू कार्यकारी पार्षद श्री मदनलाल खुराना, श्री बलराज मधोक, आर्यसमाज के वयोवृद्ध नेता प्रो रामसिंह और वैद्य श्रद्धादत्त जी, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के कोषाध्यक्ष श्री सोमनाथ मरवाह, दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री श्री विद्यासागर विद्यालंकार, आदि ने अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। इसके अतिरिक्त सभा में दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सरदारीलाल वर्मा भी उपस्थित थे। आर्य केन्द्रीय सभा तथा अन्य संस्थाओं के प्रतिनिधि भी उपस्थित थे।

श्रद्धांजलि सभा का कार्यक्रम यज्ञ से आरम्भ हुआ और उसकी पूर्ति भजनों की धुन से हुई। श्रद्धांजलि सभा की विशेषता यह थी कि ५,००० से अधिक श्रद्धांजलि अर्पित करने वाले लोगो की भीड के बावजूद पूरी सभा मे पूर्ण शांति थी। सारा वातावरण ऐसा ही था जैसाकि महाशय जी का अपना सौम्य व्यक्तित्व था।

महाशय जी का जन्म २४ जुलाई १८८७ को हुआ था। उनका प्रारम्भिक जीवन बहुत कष्टकर गरीबी मे बीता परन्तु वे इतने अधिक अध्यवसायी थे कि नाम मात्र की पूंजी से उन्होंने अपना काम शुरू किया और आयु पूरी होने के समय वे एक बहुत बड़े प्रतिष्ठान 'महाशया दी हट्टी के' संस्थापक थे और उनका व्यापार बहुत फैल चुका था। उन्होंने जीवन मे आर्यसमाज तथा अन्य सार्वजनिक कार्यों के लिए लाखो रुपये खर्च किए। महाशय जी से मिलने वाले लोग प्राय इस बात पर आश्चर्य प्रकट करते थे कि अपने जीवन के प्रारम्भिक दिन उन्होंने जिस गरीबी और उपेक्षा मे काटे उसकी कोई कटुता उनके जीवन मे नहीं दिखाई देती थी। उनका स्वयं यह कहना था कि अभाव के दिनो मे मुझे बहुत कष्ट सहने पड़े, मैं नहीं चाहता कि इसी प्रकार के कष्ट किसी दूसरे को भी उठाने पड़ें। यह उनकी आन्तरिक भावना थी जो महर्षि दयानन्द के उपदेशों के कारण पैदा हुई और वह स्वयं कहा करते थे महर्षि जी ने तो विष पीकर भी जीवन दान किया, है क्या मैं इतना भी नहीं कर सकता।

इस उदारमना व्यक्ति और महाशय परिवार ने सरस्वती शिशु मन्दिर के संचालन मे महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। सुभाष नगर दिल्ली मे एक नेत्र चिकित्सालय की श्रीमती चन्नन देवी धर्मार्थ नेत्र चिकित्सालय के नाम से स्थापना की और श्रीमती चन्ननदेवी सरस्वती शिशु मन्दिर नाम से एक विद्यालय का संचालन करते रहे। अपने कारखानो मे श्री प्रति मंगलवार कथा कीर्तन और प्रत्येक संक्रान्ति को यज्ञ के आयोजन की व्यवस्था करते रहे। वस्तुत उन्होने अपने व्यापार मे केवल धर्म के इस बाहरी रूप को प्रचलित नही किया बल्कि धर्म और सत्य को अपने व्यापार का एक उद्देश्य बनाया। महाशया दी हट्टी' के नाम से चलने वाला उनका व्यापार इसका एक जीता जागता उदाहरण है।

महाशय जी सरलता और सादगी के मूर्तिमान उदाहरण थे। बदन पर खद्दर के मोटे कपड़े पैरो मे सादे जूते और हाथ मे मामूली सी छड़ी, यही उनका बाहरी रूप था। कोई अपरिचित व्यक्ति उन्हें देखकर यह नही कह सकता था कि वे इतने बड़े व्यावसायिक प्रतिष्ठान के संस्थापक हैं। लगभग अन्तिम समय तक ९३ वर्ष की आयु मे भी, उनकी ओजस्वी वाणी और प्रखर व्यक्तित्व ही उनका विशेष आकर्षण था। महाशय जी देह

(शेष पृष्ठ ८ पर)

वेदमन्त्र

# अपना पार पाने की क्षमता प्रदान कर

**इन्धाना स्त्वा शतं हिमा द्युमन्त समिधीमहि वयस्वन्तो वयस्कृतं सहस्वन्तः सहस्कृतम् । अग्ने सपत्न दम्भ नमदब्धासो अदाभ्यम् । चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीय॥ यजु: ३-१८**

ऋषि:—अवत्सार । देवता-अग्नि: ।

शब्दार्थ—हे (अग्ने) सबके प्रेरक उन्नायक और प्रकाशक प्रभो (द्युमन्तम्) स्वयं द्युतिमय तथा दूसरो को दीप्त करने वाले आपको (इन्धाना.) दीप्ति की कामना करने वाले हम दीप्ति के लिए प्रयत्न करते हुए; (वयस्कृतम्) आयु अन्न और जीवन प्रदान करने वाले आप की (वयस्वन्त:) कामना वाले हम, आयु, अन्न, और जीवन इनके लिए प्रयत्न करते हुए, (सहस्कृतम्) सहिष्णुता और साहस प्रदान करने वाले आपको (सहस्वन्त) सहिष्णुता तथा साहस की कामना वाले हम, इनको प्राप्त करने का प्रयत्न करते हुए (सपत्न-दाम्भनम्) सब प्रकार के बाह्य तथा अभ्यन्तर शत्रुओं का नाश करने वाले (अदाभ्यम्) किसी भी प्रकार हिंसित न होने वाले आपको (अदब्धास.) अहिंसित होने की कामना वाले हम, अहिंसित होने का प्रयत्न करते हुए (शतहिमा) १०० वर्ष तक (समिधीमहि) आपको ध्यान द्वारा अपने अन्दर दीप्त करने का प्रयत्न करते हैं । हे (चित्रावसो) विचित्र वस्तुओं वाले (ते) आपकी कृपा से (स्वस्ति) हमारे लिए सब प्रकार से कल्याण हो । और हम आपकी (पारम-शीय) शक्तियो का पार पा सकें । अर्थात् आपको पूर्णतया समझ सकें । तुझे व्याप्त कर सकें ।

निष्कर्ष—१—जिस चीज की कामना हो, उसे प्राप्त करने के प्रयत्न के बाद ही प्रार्थना करनी चाहिये ।

२—प्रार्थना उससे करनी चाहिए, जिसके पास वह चीज हो । परमेश्वर सारे ब्रह्मांड की संपूर्ण वस्तुओ का स्वामी है । इसलिए उससे किसी भी वस्तु की प्रार्थना की जा सकती है ।

३—परमेश्वर से जिस वस्तु की प्रार्थना करनी हो, उस वस्तु के रचयिता स्वामी या दाता के रूप में उसका ध्यान करते हुए उससे प्रार्थना करनी चाहिए ।

४—आयु अन्न और जीवन का सम्बन्ध स्थूल शरीर से है । स्थूल शरीर बिना अन्न के रह नहीं सकता । जब तक स्थूल शरीर रहता है, तब तक ही मनुष्य का जीवन तथा आयु गिनी जाती है । सहिष्णुता तथा साहस का सम्बन्ध मन से है । मन के हारे हार है, मन के जीते जीत । आत्मा अमर होने से अदाभ्य है । इसकी सहायता से ही काम, क्रोध आदि का दमन या नियमन किया जा सकता है ।

५ इस मन्त्र में शरीर मन और आत्मा—तीनों के कल्याणपूर्ण अस्तित्व की प्रार्थना है । यदि इन तीनो का कल्याण हो जाएगा, तो परमात्मा की शक्तियों का पार पाया जा सकता है, उसे समझा जा सकता है, उसका साक्षात्कार किया जा सकता है ।

विशेष—इस मन्त्र का ऋषि अवत्सार है, जो संकेत करता है कि सार का ध्यान करो, सारभाग की रक्षा करो । गौण तत्वों पर ज्यादा ध्यान मत दो ।

शरीर को दीप्त रखने के लिए अन्न का विशेष ध्यान रक्खो । अन्न पवित्र, बलदायक तथा पवित्र उपायों से प्राप्त किया हो ।

मन को दीप्त करने के लिए सहिष्णुता-(दूसरों की कमियों, तथा ज्यादतियों को सहने की क्षमता) तथा साहस (अपने से बड़ों तथा शक्तिशालियों के सम्मुख सत्य प्रकट करने की क्षमता) पर विशेष ध्यान देना चाहिए ।

आत्मा को दीप्त करने के लिए काम, क्रोध, मोह, ईर्ष्या, द्वेष तथा मद का विशेष नियमन करना चाहिए । ये सब आत्मा के सपत्न है, क्योंकि उसी की तरह अव्यक्त, अदृश्य तथा स्वभावजन्य हैं ।

इन्धाना:—इन्धी दीप्तौ । वय:-अन्न-नाम । नि० २-७ । वय: आयु । स्वा० द०, अदब्धास:=दंभाहंकार रहिता: । स्वा० द० पारम्-पारती स्कर्मसमाप्तौ । दम्नोति बधकर्मसु नि० २-१९ अदाभ्यम् । अशीय—अशूङ् व्याप्तौ ।

—मनोहर-विद्यालंकार

[गतांक से आगे]

# परमात्मदेव का अनुभव अंगुष्ठमात्र का अनुभव है

तू ही इस सृष्टि मे दीख रहा है । उसका जो रूप उसके दृश्यमान रूप से अतिरिक्त है—तत: यद् उत्तरतम्, वह रूप रहित है—अरूपम्, वह जरा-मरण आदि रोगों से रहित है—अनामयम् । जो परमात्मा के इस व्यक्त तथा अव्यक्त सपूर्ण रूप को जान लेते हैं—ये एतद् विदु:, वे अमर हो जाते हैं—अमृता ते भवन्ति, जो परमात्पदेव के इस पूर्ण रूप को नही जान पाते—अथ इतरे—वे संसार मे दु:ख-ही दु:ख पाते हैं—दु:खं एव अपि यन्ति ॥१०॥

जितने सृष्टि में मुख हैं, सिर हैं, गर्दन हैं वे सब उसी के हैं—सर्व आनन शिर: ग्रीव:, सब प्राणियो के हृदय रूपी गुहा में वही विद्यमान है—सर्वभूत गुहा-शय:, सब जगह वह व्याप रहा है—सर्वव्यापी । वह भगवान् है—स: भग-वान् । क्योंकि वह सृष्टि में दीख रहे मुखों, सिरो, गर्दनों—सबमें व्याप रहा है, इसलिए सर्वगत है—तस्मात् सर्वगत:, वह सबका कल्याण करने वाला है—शिव: ॥११॥

'सब उसी के हैं'—इसका यही अभि-प्राय है जिसकी तरफ़ हम गीता के ११ वें अध्याय के १६वें श्लोक का उल्लेख करते हुए इशारा कर आये हैं । जड़-चेतन मे जो-कुछ दिखाई देता है वह दीखने में भले ही कुछ हो, परन्तु उसी की सत्ता से वह सत्तावान् है । वह अपना हाथ खींच ले तो कुछ नहीं रहता । उप-निषदों में जगह-जगह इसी भाव को भिन्न-भिन्न प्रकार से कहा गया है ।

वह महापुरुष परमात्मदेव सर्वव्यापी है, परन्तु उसका अंगुष्ठमात्र अनुभव हम सभी को अपने अन्तरात्मा में होता है—अंगुष्ठमात्र पुरुष: अन्तरात्मा । वह सदा सब जनों के हृदय में संनिविष्ट है—सदा जनांनां हृदये संनिविष्ट: । उसे हृदय से—हृदा, मन की जो स्वामिनी बुद्धि है उससे—मनीषा, तथा संकल्प-विकल्प करने वाले मन से—मनसा, जाना जाता है—अभिक्लृप्त: । जो इस प्रकार परमात्मदेव को जान जाते हैं—ये एतद् विदु:, वे अमर हो जाते हैं—अमृता: ते भवन्ति ॥१२॥

यहां दो बातों पर ध्यान देना आव-श्यक है । पहली बात तो यह कि हृदय में परमात्म-देव का अनुभव उनके अंगुष्ठमात्र का अनुभव है । हृदय मे सब कोई परमात्मा का अनुभव करता है । ज्ञान का स्थान मस्तिष्क है, अनुभव का स्थान हृदय है । परमात्मदेव का ज्ञान नही होता, अनुभव होता है, हृदय में अनुभव होता है क्योंकि परमात्मा प्रेम-मय है । प्रेम की अनुभूति का स्थान हृदय है, इसलिए इस श्लोक में कहा

लेखक :

श्री डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

गया है कि परमात्मदेव का निवास हृदय-प्रदेश में है । इसका यह अर्थ नहीं है कि परमात्मदेव अन्यत्र नहीं मिलते । वर्तमान तो वे सब जगह हैं, परन्तु हृदय में उनका अनुभव होता है क्योंकि अनुभव हृदय से ही होता है । स्मरण रहे, यह अनुभव अंगुष्ठमात्र है, सिर्फ उसकी झांकी है । उसे पूर्णतया अनुभव करने के लिए हृदय का साथ मनीषा तथा मन का साथ देना आवश्यक है । दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि श्लोक में परमात्मा के अंगुष्ठ-मात्र का उल्लेख इसलिए किया गया कि जैसे अंगूठे से पकड़ कर संपूर्ण मनुष्य को पकड़ा जा सकता है, वैसे अंगुष्ठमात्र परमदेव को पकड़ कर उसे संपूर्ण रूप में हृदय, मनीषा तथा मन से पाया जा सकता है ।

इस श्लोक में 'बुद्धि' तथा 'मन' के भेद को भी स्पष्ट किया है । तैत्तिरीयो-पनिषद् में जहां कोशों का वर्णन है, वहां भी विज्ञानमय-कोश तथा 'मनोमय-कोश—ये दो कोश कहे गए हैं । विज्ञान का अर्थ 'बुद्धि' है, मन का अर्थ 'मन' है । बुद्धि मे निश्चय होता है—'निश्चया-त्मिका बुद्धि:'; मन में संकल्प-विकल्प होता है । कठोपनिषद् में लिखा है—बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मन: प्रग्रहमेव च ।

सृष्टि का दर्शन ही परमात्मदेव का दर्शन है—इसी दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए अगले श्लोक में कहा है—वह परमात्मदेव नामक पुरुष सहस्र सिरों वाला है—सहस्रशीर्षा पुरुष:, वह सहस्र आंखों वाला है—सहस्राक्ष:, वह सहस्र पावों वाला है—सहस्रपात् । वह हाथ से ब्रह्मांड को सब तरफ से छूए हुए है—स: भूमि सर्वत: वृत्वा, फिर भी उसकी दसों अंगुलियां मानो बाकी रह जाती हैं—अति अतिष्ठत् दश अंगुलम् । यहां 'भूमि' वृत्वा' कहा है । 'वृङ्' से 'वृत्वा' बना है । वृङ का अर्थ छूना । भूमि को छूए रहने वाला भूमि को घेरे रहा है—यह बात यहां ध्यान देने की है ।

॥१४॥

(शेष पृष्ठ ७ पर)

सम्पादकीय

# आर्य महासम्मेलन

काफी लम्बे समय से 'आर्य सन्देश' में यह बात दोहरायी जा रही है कि दिसम्बर २५ से २८ तक रामलीला मैदान दिल्ली में आर्य महासम्मेलन होगा। यह सम्मेलन दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्वावधान में हो रहा है और इस महासम्मेलन के लिए साधारण सभा और अन्तरंग सभा से स्वीकृति प्राप्त की जा चुकी है। इसलिए दिल्ली की सभी आर्य समाजें और आर्य सदस्य इस निश्चय को कार्यान्वित करने के लिए बंधे हुए है और इसे सफल बनाना प्रत्येक आर्यसमाज और प्रत्येक आर्य सदस्य का कर्त्तव्य है।

यह बात बार-बार पूछी गयी है कि इस सम्मेलन का उद्देश्य क्या है? यद्यपि साधारण अधिवेशन, अन्तरंग सभा तथा अन्य समितियो की बैठकों में महासम्मेलन का उद्देश्य बार-बार दोहराया जा चुका है फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि अभी एक बडा वर्ग ऐसा है जिसे महासम्मेलन के उद्देश्य की ठीक से जानकारी नहीं है। इसलिए यदि इस उद्देश्य को यहां एक बार फिर से चर्चा कर दी जाये तो कुछ अनुपयुक्त न होगा।

सामान्य रूप से हमारा उद्देश्य वैदिक और आर्य सिद्धान्तों का प्रचार है और उसके साथ ही देश के जीवन मे समय-समय पर जो उतार-चढाव होते हैं और जिन संकटों का हमे निरन्तर सामना करना पड़ता है उसे ध्यान में रखते हुए आर्यसमाज के क्षेत्र से बाहर जाकर भी मार्गदर्शन करना हमारे कर्त्तव्यों में है, देश की किसी भी समस्या से क्योकि आर्यसमाज अछूता नही रह सकता इसलिए उन समस्याओं की चर्चा करना और सम्मेलन के माध्यम से उन समस्याओं का मार्ग ढूंढने का प्रयत्न करना महासम्मेलन का उद्देश्य है।

सभी परिचित हैं कि इस समय हमारे देश में विघटन की प्रवृत्तियां पैदा हो चुकी हैं। एक ओर पूर्वांचल क्षेत्र में, विशेष रूप से त्रिपुरा और मिजोरम मे ईसाई मिशनरियो के नेतृत्व मे स्थानीय लोगो ने विद्रोह कर दिया है। इसी प्रकार मणिपुर मे भी स्थिति विस्फोटक है। नागालैंड की समस्या तो काफी पुरानी हो गई है। और वहां अभी तक हम ऐसा वातावरण नहीं बना पाये कि विभिन्न वर्ग इस राज्य मे एक दूसरे के साथ सहयोग की भावना से मिलकर रह सकें और एक दूसरे के प्रति विश्वास-भावना के साथ काम कर सकें। राज्य की राजनीतिक अस्थिरता भी यहां की स्थिति को हमेशा अशान्त बनाए रखती है।

इस क्षेत्र की इस समय एक और सबसे बडी चिंताजनक स्थिति असम समस्या है। यह एक विचित्र परिस्थिति है कि केन्द्रीय सरकार १९५१ को आधार मानकर विदेशी नागरिकों को राज्य से बाहर निकालने मे हिचकिचा रही है। दूसरे देशो के नागरिको के इस देश मे चोरी-छिपे आ जाने के कारण इस राज्य में आबादी का जो असतुलन पैदा हो गया है और जिसके कारण स्थानीय लोगों को अपने ही घर में अपनी स्थिति आरक्षित मालूम होती है, इस भावना को दूर कराना और स्थानीय लोगों के अपने बहुमत बनाये रखने की इच्छा का केन्द्र सरकार द्वारा सम्मान न किए जाने के कारण स्थिति विकट हो गई है। स्थानीय लोगों की अपनी स्थिति के बारे में घबराहट और विदेशी नागरिक की इस देश के प्रति निष्ठाहीनता दोनों मिलकर अपने आप मे समस्या को विकट बनाने के लिए पर्याप्त थे, परन्तु केन्द्र सरकार ने इसमें दो प्रश्न जोड़ कर समस्या को अधिक जटिल बना दिया है। केन्द्र-सरकार के प्रवक्ता बार-बार यह बात दोहराते हैं कि वे इस क्षेत्र मे ऐसा कोई काम नही होने देंगे कि जिससे अल्पसंख्यकों और बंगला भाषियों के हितों को किसी प्रकार की आंच आये। ऐसा प्रतीत होता है कि केन्द्र-सरकार विदेशी नागरिकों की समस्या के साथ इन दो प्रश्नों को जोड़कर समस्या को और अधिक उलझा रही है जोकि सपूर्ण देश की दृष्टि से हितकर नहीं प्रतीत होती। यदि विदेशी नागरिकों की अल्पसंख्यकता और भाषा के आधार को इस प्रकार सुरक्षित रखा गया तो यह समस्या केवल असम तक सीमित न रह कर पूरे देश की समस्या बन जायेगी। हमारा दुर्भाग्य यह है कि हमारे शासकगण विदेशों के प्रति निष्ठा रखने वाले लोगों को जितना महत्व देते हैं उसकी तुलना में इस देश की मिट्टी से जुड़े लोगों की उतनी ही उपेक्षा करते है। स्थानीय विस्फोटक स्थिति और प्रशासकीय उपेक्षा दोनों मिलकर चिन्ता का विषय बने हुए हैं।

इसी प्रकार की एक और समस्या झारखंड मोर्चा के कारण पैदा हो चुकी है। इस आन्दोलन का नेतृत्व भी ईसाई मिशनरियों के हाथ में है। राजनीतिक लाभ उठाने की दृष्टि से देश का सत्तारूढ़ दल और मार्क्सवादी पार्टियां इस मोर्चे का समर्थन कर रही है। इस देश के प्रति निष्ठा रखने वाले किसी भी व्यक्ति के लिए यह समझ पाना कठिन हो रहा है कि हमारे ये राजनीतिक दल क्यों इन विघटनकारी तत्वों का समर्थन कर रहे हैं।

इसी प्रकार की समस्या का सामना हमें केरल मे और कुछ अंशो में तमिलनाडु मे भी करना पड़ रहा है। केरल में समस्या का रूप राजनीतिक अधिक हो गया है। इस राज्य में सत्तारूढ़ मार्क्सवादी दल जिस प्रकार से खुलेआम अपने विरोधियों की हत्या कर रहा है और जिस प्रकार यहा की पुलिस केवल मूक-दर्शक बन कर इन हत्याओ को देखती है और किसी प्रकार की कोई कार्यवाही नही करती। वह अपने आप में देश की कानून और व्यवस्था पर एक टिप्पणी है।

देश के पश्चिमी क्षेत्रो मे दलित पैन्थर ने जिस प्रकार से इस सारे क्षेत्र के वातावरण को अशान्त कर रखा है वह भी इसलिए अधिक चिंता का विषय है क्योंकि दलित पैन्थर आन्दोलन केवल बाह्य आन्दोलनों तक सीमित नही है बल्कि वह दलित पैन्थर आन्दोलन बौद्धिक स्तर पर भी पूरी भारतीय परम्परा को नकारने के लिए प्रयत्नशील है। इसका प्रभाव वहां के हरिजन वर्गो पर इतना भयंकर हुआ है कि वे किसी भी भारतीय परम्परा, विश्वास, जीवन पद्धति को अब मानने से इन्कार करने लगे हैं। भारतीयता के प्रति विद्रोह का यह रूप उन हिंसात्मक आन्दोलनो से कहीं अधिक भयंकर है। सम्भवतः इसी कारण इस आन्दोलन की ओर हमारे शिक्षित वर्ग का ध्यान नहीं गया क्योकि वे यह समझ रहे हैं कि यह कोई एक नया वैधानिक आन्दोलन है।

जब हम उत्तर की ओर घूमते हैं तो हम पाते है कि कश्मीर में, जहां स्थानीय लोगो के अतिरिक्त किसी भी अन्य भारतीय नागरिक के बसने पर रोक है, अल्पसख्यको की स्थिति निरन्तर विकट होती जा रही है। कश्मीर घाटी मे तो हिन्दुओ के मन्दिर तक सुरक्षित नही हैं और प्राय वहा से हिन्दू मन्दिरो की जमीन बहुसख्यक वर्ग के लोगो द्वारा दबा लेने के समाचार मिलते रहते हैं और तो और, पर्यटन के लिए जाने वाले लोग और इस घाटी के तीर्थ स्थानो की यात्रा पर जाने वाले लोग अपने आपको बहुत सुविधाजनक स्थिति मे नही पाते। इस प्रदेश की एक विचित्र स्थिति यह है कि यहा की भाषा तो कश्मीरी है परन्तु इसे सरकार की मान्यता प्राप्त नही है और राज्यभाषा उर्दू है। इस प्रकार भारत मे राज्यभाषा के रूप मे हिन्दी को जो स्थान प्राप्त है उसके समानान्तर यहा उर्दू को मान्यता दी गई है। भारत मे जबकि अन्य प्रादेशिक भाषाओ का अपने-अपने क्षेत्र मे खुलकर प्रयोग होता है और उन्हें सरकारी मान्यता मिली हुई है वहां कश्मीर मे कश्मीरी, डोंगरी और लद्दाखी को सरकारी मान्यता प्राप्त नही है। यह समस्या यहीं तक सीमित नही है बल्कि कश्मीर घाटी में भारतीय क्षेत्र के मुसलमानो को लाकर बसाया जा रहा है। राजनीतिक स्तर पर इस असतुलन का परिणाम यह हो रहा है कि कश्मीर राज्य मे जमाते इस्लामी जसी पर साम्प्रदायिक सस्था का महत्व दिन प्रतिदिन बढता जा रहा है।

पजाब मे हमे एक और खालिस्तान की माग का सामना करना पड़ रहा है और इसीलिए यहां अकालियो के धार्मिक उन्माद के कारण यहा के हिन्दू केवल द्वितीय श्रेणी के नागरिक बन गए हैं। इस राज्य मे अकालियो द्वारा हिन्दी का इतना प्रबल विरोध किया जाता है कि सभी राजकीय कार्यो से हिन्दी का बहिष्कार कर दिया है। यहा के अल्पसख्यकों को अल्पसख्यक होने के नाते हिन्दी के प्रयोग की उसके शिक्षण की व्यवस्था की जो सुविधायें मिलनी चाहिए, पजाब सरकार वह भी देने को तैयार नहीं है। पिछले कुछ समय से अकालियो के धार्मिक उन्माद के कारण राज्य मे जो हिंसात्मक वातावरण बना है उसके कारण किसी भी अन्य धर्म के अनुयायी अपने आपको वहां सुरक्षित नही समझते।

देश के मध्य भाग मे अभी हमे जिस मुस्लिम विद्रोह का सामना करना पडा है वह केवल स्थानीय विद्रोह नही है। वस्तुत बहुत लम्बे समय से यह विद्रोह की भावना मुस्लिम जगत में पनप रही है। यहा भी हमारे राजनीतिक दल इस विद्रोह को पूरा पता देते रहे हैं। अब मुसलमान अपनी किसी भी समस्या के लिए इस देश के नेताओं तो क्या अपने ही पड़ोस मे रहने वाले लोगो की तरफ नही देखते बल्कि उनका ध्यान हमेशा देश से बाहर रहता है। देश के लगभग ७ करोड़ व्यक्तियों का इस प्रकार देश मैं निष्ठा का अभाव एक बहुत बडे खतरे की घटी है। अभी हमे इसका समाधान भी नहीं दिखाई दे रहा है।

देश की इन समस्याओं पर आर्य जगत को बहुत गंभीरता और सतुलित दृष्टि से विचार करना है। यदि आर्य जगत इन समस्याओ को सुलझाने के लिए देश का मार्गदर्शन नही कर सके अथवा कोई नई वैचारिक धारा प्रदान नहीं कर सका तो देश के खंडित होने और इस प्रकार संपूर्ण भारतीयता के समाप्त हो जाने का मार्गदर्शन हो जायेगा। आर्य जनता पर हमारा विश्वास है कि वह इसका समाधान ढूढने के लिए सम्मेलन को अधिक से अधिक सफल बनाने के लिए अपना पूरा योगदान करेगी। •

# तब से तो मैं दिग्विजयी हूँ

अजैष्माद्यासनामाद्यनभूमाना-
गसो वयम् ।

(अद्य) आज (अजैष्म) हमत सव तरह (अपनी दुवृ त्तियो-दुर्भावनाओ पर) विजय प्राप्त कर ली है (अद्य असनाम) आज हमको जिस वस्तु की कामना थी वह प्राप्त हो गई । इस तरह अव (वयम्) हम (अनागस) निष्पाप (अभूम) हो गए हैं ।

मनुष्य का जीवन एक यात्रा है। इस यात्रा द्वारा मनुष्य ससार सागर को पार करता है। परतु जो व्यक्ति यात्रा करते हुए अपने गुप्त खजाने को खो देता है वह अपनी यात्रा मे घबरा जाना है। यह गुप्त खजाना धन नही है ? सुरक्षित चहार दिवारी के भीतर रखी हुई तुम्हारी सपत्ति से भी अधिक निश्चित और सुरक्षित तुम्हारा एक गुप्त खजाना है जो सदा तुम्हारे पाम ही रहता है। यह खजाना हो तुम्हारी असली पूजी है। तुम अपनी प्रत्येक प्रकार की क्षति को, चाहे वह सम्पत्ति की हो, मित्रता की हो, अथवा स्वास्थ्य की ही क्यो न हो—इस पूजी से पूर्ति कर सकते हो।

यह पूजी है - ईश्वर विश्वास। ईश्वर विश्वास ही वह वस्तु है जो मनुष्य मे साहस की स्थापना करती है।

सारे विश्व मे एक ही तत्व काम कर रहा है, एक ही जीवन, एक ही सत्य वर्तमान है। हम सब उसी दैवी प्रवाह की ओर जा रहे हैं जो ईश्वर तक जाता है। इस तरह का मनोभाव रखने से, हमें एक अलौकिक प्रोत्साहन प्राप्त होता जाता है, हममे से मन का भय नष्ट हो जाता है। हम अपनी दुवृ त्तियो, दुर्भावनाओ, कमजोरियो और पापो पर विजय प्राप्त कर लेते हैं।

लेखक :
**श्री सुरेशचन्द्र वेदालंकार**

याद रख लो ! मनुष्य में जितनी कमजोरियाँ, जितने कष्ट, जितनी विपत्तिया और आपदाएँ आती हैं उनका कारण यही है कि हम अपने इस सर्व-शक्तिमान् अनत ऐश्वर्य युक्त परमात्मा मे भिन्नता का भाव रखते हैं। यह एक निश्चित सत्य है कि मनुष्य जीवन मे उतनी अधिक सफलता प्राप्त करेगा, उतनी अधिक विजये प्राप्त करेगा। जितना वह अपनी आत्मा मे सत्य, त्याग, दया, प्रेम, और शक्ति का विकास करेगा, और इन सबके मूल ईश्वर के प्रति अपना विश्वास रखेगा और परमात्मा से अपना सम्बन्ध जोड़ेगा।

पुराने यहूदी ग्रथों में एक कहानी है एक ऐसे सेनाध्यक्ष की जो एक लड़ाई मे हार गया था।

हार का समाचार इसके घर पर पहुचने पर उसकी स्त्री अपने कमरे मे गई। उसने अपने पति के पराजित चेहरे पर भय और आशका के चिह्न देखे।

सेनाध्यक्ष अपनी पत्नी को खड़ी देखकर बोला "बडी बुरी खबर है प्रिये, मेरी सेना के पैर उखड गए, वह हार के निकट हैं।'

स्त्री ने उत्तर दिया' यह मैं जानती पर मेरे पास तो इससे भी बुरी खबर है।"

"इससे भी बुरी" सेनाध्यक्ष चिल्लाया "इससे भी बुरी क्या हो सकती है ?"

लेकिन उनकी पत्नी रुकी नहीं कहती ही गई "सुना मैंने कि तुम लडाई मे हार गए, लेकिन वातचीत से तो देख रही हूँ कि तुममे ईश्वर विश्वास और साहस भी खो दिया है। अब सोचो कि वह हार बड़ी कि यह ? यह खबर ज्यादा बुरी कि वह ?

सचमुच मनुष्य जब तक अपने जीवन धन को पहचानता नही है उसमें पराजय और कमजोरी की भावना आती है और जब वह अपने जीवन धन को जान लेता है तब वह अपनी दुर्भावनाओ पर विजय प्राप्त कर लेता है। उस समय उसके हृदय से दुर्भावना, कायरता और भय के भाव दूर हो जाते हैं और वह साहस-पूर्वक बढता जाता है। वह कहता है —

हे विश्वनाथ ! हे विश्वम्भर
पर जबसे शरण नहीं तेरी।
तब से तो मैं दिग्विजयी,
तब से ससृति दासी मेरी।
इसलिए कि मेरी इच्छा अब,
तेरे इगित पर अवलम्बित .
किसमें है इतनी शक्ति मुझे
[illegible]
यदि तुम सबके स्वामी मैं भी
स्थावर जगम सब मेरे हैं।
व्यापार प्रकृति के है जितने
इगित पर वे अब मेरे है
निर्भय और निष्कलक
निर्दोष अपरिच्छिन्न हूँ मैं ।
जैसे ये तेरे चरण कमल
जिनसे अव तो अभिन्न हूँ मैं।
मुझको अब कोई कमी नहीं
है विश्व कोष मेरा ही धन,
मुझमें अब कोई कमी नहीं
हूँ पूर्ण तूर्ण मैं भगवान् ॥ □

# नया वैदिक साहित्य

**पुस्तक वेदव्याख्या ग्रन्थ; लेखक : डा० अभयदेव शर्मा : प्रकाशक : वेद संस्थान अजमेर । मूल्य : ७.०० रु० ।**

समीक्ष्य ग्रंथ, जैसा कि कोष्ठकगत (बीसवां पुष्प शब्दो से स्पष्ट है, पूर्ण यजुर्वेद-समीक्षा-रूपी बृहद योजना की एक कड़ी है । यह योजना स्वामी विद्यानन्द विदेह ने आरम्भ की थी । वे इसके उन्नीस खड ही पूरे कर पाये थे । उनमे यजुर्वेद के प्रथम उन्नीस अध्यायों की व्यापक व्याख्या की गई है । उनके योग्य पुत्र डा० अभयदेव शर्मा ने उसी योजना को आगे बढाने का मानवीय कार्य हाथ में ले लिया है । प्रस्तुत ग्रंथ में यजुर्वेद के बीसवें अध्याय की व्याख्या की गई है । लेखक ने प्राक्कथन में "आधुनिक जीवन के परिप्रेक्ष्य में, आधुनिक दृष्टिकोण से वेदो का चिंतन करते हुए साथ ही पारम्परिक वैदिक चिंतन की विरासत में उसका समन्वय करने की प्रतिज्ञा की है । तदनुसार ही मन्त्रविनियोग को पूर्ण महत्व देते हुए मन्त्रव्याख्या में उसका आश्रय लिया गया है ।

यजुर्वेद के उन्नीसवे अध्याय की व्याख्या मे स्वामी विद्यानन्द विदेह ने जगती के आनन्दमयीकरण का विधान माना था बीसवें अध्याय मे 'विवेकमय जीवन' का प्रतिपादन माना गया है । 'इन्द्र और उसके इन्द्रिय का विवेचन इस अध्याय का प्रमुख विषय है ।' विवेकवती बुद्धि में, वैदिक प्रतीक शैली मे इन्द्र कहा जाता है ।' वही जीवन का रक्षक है । अत. उसे सुत्रामा कहा जाता है । लेखक का कहना है कि सुत्रामा इन्द्र जीवन मे से सोम और सुरा, दोनो का सेवन करता है । पर वह सुरा को भी सोम बनाकर ग्रहण करता है । लेखक ने स्पष्ट किया है कि यह क्रिया वस्तुत: जीवन की पाशविक वृत्तियो का दिव्यीकरण है ।

वा० स० २०।८ सिञ्चन्ति परि षिञ्चन्त्युत सिञ्चन्ति पुनन्ति च ।
सुरायै बभ्र्व्यै मदे किन्त्वो वदति किन्त्व: ॥" मन्त्र की व्याख्या में डा० अभयदेव ने सुरा सोम की परिणति का और अधिक स्पष्टीकरण किया है । तदनुसार "सुरा का प्राण रूप पात्र मे सेवन-ग्रहण होने पर प्राणबल उत्तेजना से भर जाते हैं । यह स्थिति बभ्रु—पीतवर्ण, अर्थात् तमनमाहट की है ।

फिर सुरा मे वीर्यरूप पय के मिश्रण से मन में सुरा का परिसक, परित: सेवन होता है । यह स्थिति मद अभियान की है । इसमें माम उभारता है और प्राणबल भोगार्थ चित्त चांचल्य में बदल जाता है । पर सुरा का पवित्रीकरण होकर अन्त में सुरा का सोम बनता है और उसकी उर्ध्वेव=ऊर्ध्वगमन और विभिन्न देवों के लिए उसका ग्रहण होता है । इस सोम का पान इन्द्र=बुद्धि करती है । फलत: बुद्धि मे विवकोदय होता है । अब बुद्धि आत्मा और प्रकृति का भेम कर लेती है । मन्त्र में आए दो किन्त्व पद आत्म-अनात्म के लिए हैं ।

इस प्रकार प्रत्येक मन्त्र का सुन्दर स्पष्टीकरण एक नई शैली द्वारा किया गया है । वस्तुत: यह शैली मूल रूप मे विदेह जी द्वारा प्रतिपादित है । लेखक ने स्थान-स्थान पर उनकी पूर्व व्याख्याओ के उद्धरण दे देकर अपनी व्याख्या की संपुष्टि की है ।

वस्तुत आधुनिक जीवन के दृष्टिकोण पारम्परिक (ब्राह्मण, श्रौतसूत्रादि के) चिंतन का यह समन्वय वेदव्याख्या की दृष्टि से स्तुत्य है । परन्तु इससे दो मौलिक प्रश्न उठ खड़े होते हैं । एक तो यह कि परवर्ती ब्राह्मणों, सूत्रग्रन्थो में वर्णित कर्मकांड और उसमे मन्त्रविनियोग को हम मौलिक मानते हैं ? दूसरे शब्दो मे क्या मन्त्र अपने मूल-रूप तत्तद् विनियोग के लिए ही उद्दिष्ट थे ? ब्राह्मण अथवा सूत्र-निर्देशों के अतिरिक्त मन्त्रांश मे उन विनियोगो का क्या प्रमाण है ? विशेष रूप से जिस सौत्रामणी यज्ञ में इन (बीसवे अध्याय के) मन्त्रों का विनियोग स्वीकार किया गया है, यह शब्द ही समस्त अध्यायमे विद्यमान नहीं । हां उन्नीसवें अध्याय में सौत्रामणी शब्द अवश्य आया है । स्वामी दयानन्द ने उसकी व्याख्या की है—सुत्राणि यज्ञोपवीतादीनि मणिना ग्रथिना युक्तानि ध्रियन्ते यस्मिन् यज्ञे । ऐसी स्थिति में ब्राह्मण ग्रंथो मे वर्णित सौत्रामणी याग मानने की अनिवार्यता समझ में नहीं आती । इसके अतिरिक्त विनियोग मे क्रम बद्धता का अभाव भी दृष्टिगोचर होता है । आरम्भिक मन्त्र (वा० स० २०।१) "क्षत्रस्य योनिरसि राष्ट्र को सम्बोधित माना गया है और आसन्दी को राष्ट्र श. ब्रा. के आधार पर सिद्ध किया गया है । किंतु इससे पूर्व उन्नीसवें अध्याय के अन्तिम मन्त्र मे कही आसन्दी का प्रसंग नहीं, जिससे यहा सकेत मिले कि बीसवे अध्याय के प्रथम मन्त्र मे आसन्दी अथवा राष्ट्र का अध्याहार किया जाना चाहिये इस स्थिति मे प्रस्तुत व्याख्या उतनी मूल वेदमन्त्रो की प्रतीत नही होती जितनी ब्राह्मण अथवा श्रौतसूत्रों की । इसी प्रकार द्वितीय मन्त्र मे 'मृत्यो पाहि' वाक्य 'दक्ष' को सम्बोधित होने का भी मन्त्र में कोई आधार दिखाई नही देता ।

इन्द्र को बुद्धि मानने का कोई आधार नहीं बताया गया जब कि इन्द्र को मन मानने के अनेक आधार हैं । उदाहरणार्थ इन्द्र को, मनस्वान् कहा गया है । (ऋ. २।१।११) गोपथ ब्राह्मण (२।४।११) मे भी मन को इन्द्र बताया गया है (मन: स. इन्द्र) ।

वेद-व्याख्या के प्रसंग मे व्याकरण जैसे महत्वपूर्ण वेदाग की उपेक्षा आश्चर्यजनक प्रतीत होती है । यदि व्याख्या मे व्याकरण सम्बन्धी टिप्पणिया भी रहती तो व्याख्या और अधिक सम्पुष्ट हो जाती (इसमे कोई सदेह नही कि इसमे स्थान तो अधिक घिरता ही) । इससे सम्बद्ध ही एक और अभाव भी खटकता है । हम जानते हैं कि मन्त्रो के शब्दो के अर्थ-निर्धारण में स्वर चिन्हों की महत्वपूर्ण भूमिका है । परन्तु प्रस्तुत व्याख्याग्रन्थ में स्वरचिन्हों का नितात अभाव खटकता है । आशा है कि भावी संस्करण में मन्त्रों पर स्वरचिन्ह अंकित करने पर विचार किया जायेगा ।

अन्यथा वेद—व्याख्या के प्रसंग में यह अभिनव स्तुत्य समन्वयात्मक प्रयास है वेद-चिंतन चिन्ता के क्षेत्र मे नये ढंग से सोचने की प्रेरणा प्रदान करता है । कम से कम ब्राह्मण मे और श्रौत सूत्रो के प्रति एक नई दृष्टि इनसे अवश्य बनती है ।

डॉ० बृजलाल, उपाचार्य संस्कृत विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय ।

—०—

**पुस्तक : वेद मीमांसा लेखक स्वामी विद्यानन्द सरस्वती, प्रकाशक ईस्टर्न बुक लिंकर्स ५८२५ चन्द्रावल रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७ पृष्ठ २०५, मूल्य ४०.०० रुपये ।**

प्रस्तुत समीक्ष्य ग्रन्थ स्वाध्यायनिरत स्पष्ट वक्ता स्वामी विद्यानन्द सरस्वती की सशक्त लेखनी की अमूल्य भेट है । इसके विषय मे और कुछ कहने से पूर्व इसके भूमिका—लेखक प्रो. डॉ सत्यव्रत शास्त्री, अध्यक्ष संस्कृत विभाग दिल्ली वि. वि. के कुछ वाक्य उद्धृत करना मैं आवश्यक समझता हूँ—'अनेक भ्रांतियां वेदो के विषय मे चल निकली । उन्ही भ्रांतियो के निराकरण के रूप मे प्रस्तुत वेद मीमासा पुस्तक लिखी गई है । ग्रन्थकार ने इसमे सूत्र शैली को अपनाया है प्रत्येक सूत्र के नीचे हिन्दी मे उसकी विस्तृत व्याख्या दे दी गई है । प्रतिपाद्य विषय को प्रामाणिकता प्रदान करने हेतु विद्वान लेखक ने प्राचीन ग्रंथों से नाना प्रमाणो को उद्धृत किया है ।

वेदमीमासा लेखक के वर्षो के गहन अध्ययन एव अनुसंधान का परिणाम है । इसमे पाश्चात्य एवं तदनुयायी भारतीय वेदालोचक विद्वानों के मतो की तीव्र आलोचना की गई है । एवच सही भारतीय मत को प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है ।"

वस्तुत: भूमिका के रूप मे यह अंश पुस्तक की संक्षिप्त समीक्षा ही प्रस्तुत कर देता है । मूल पुस्तक सूत्रो मे प्रारभ होती है । इसमे पूर्व समस्त सूत्रो की आकारादिक्रम मे सूची दी गई है । उसमे भी पूर्व लेखक का पुरोवाक् पृष्ठभूमि के रूप में अत्यन्त महत्वपूर्ण है । इसमे सभी प्राचीन एव अर्वाचीन, भारतीय एव पाश्चात्य विद्वानो द्वारा किये गए वेद-व्याख्या के प्रयासो का सक्षिप्त किन्तु आलोचनात्मक इतिहास प्रस्तुत किया जाता है । जिसमे सहज ही वेदव्याख्या के प्रतापों का मूल्याकन और वर्तमान पुस्तक की आवश्यकता का ज्ञान होता है ।

सूत्रशैली अपनाने के लिए विद्वान्, लेखक बधाई के पात्र है, केवल इसलिए नही कि प्राचीन शास्त्रग्रन्थो में प्राय सूत्रशैली रखी गई है, अपितु इसलिए कि सूत्रशैली की अपनी यह विशेषता है कि उसमें व्यर्थ की असम्बद्ध बातो के लिए अवकाश ही नही होता । गागर मे सागर भरने का यह सर्वोत्तम उपाय है । सूत्रशैली मे जो एक दुरूह और अन्यान्य अन्वय या अर्थ करने की छूट हो जाती है, उसका निराकरण स्वय लेखक द्वारा की गई विशद व्याख्या से हो जाता है । लेखक के मन्तव्य मे संदेह का अवसर ही नही रहता ।

सूत्र वेदसज्ञा, वेदाविर्भाव, वेद-नित्यत्व, वेद मे पुनरुक्ति, वेदार्थ-प्रक्रिया वेद मे इतिहास, वेदविषय, वेदाध्ययन मे अधिकार शीर्षक आठ अध्यायों मे सगृहीत हैं । समस्त सूत्र संख्या २५४ हैं । अन्त मे अकारादिक्रम से पुस्तक मे चर्चित विषयो की निर्देशिका दी गई है । सूत्रो मे लेखक का प्रौढ़ संस्कृतज्ञान लक्षित होता है । अध्यायों के शीर्षकों से विषयो की विविधता एव व्यापकता अत्यन्त स्पष्ट है । प्रत्येक विषय प्रमाणो द्वारा सम्पुष्ट है ।

उदाहरणार्थ 'वेद मे इतिहास' विषय बहुत विवादास्पद हैं । परन्तु विद्वान् 'लेखक ने' नेतिहासोपपनिरसामुञ्जस्यात् सूत्र द्वारा यह विषय स्पष्ट किया है कि वेदान्तर्गत तथाकथित नामो को यदि ऐतिहासिक मान लिया जाये तो उनका इतिहास से सामञ्जस्य होना चाहिए, परन्तु ऐसा नही है । इसके लिए उन्होने अनेक उदाहरण दिए है, अन्यथा कृष्णाया पुत्रोऽर्जुन. (अथर्व. १३।३।२६) के अनुसार अर्जुन को द्रौपदी का पुत्र होना चाहिए, परन्तु हम देखते हैं कि इतिहास प्रसिद्ध अर्जुन द्रौपदी का पुत्र नही पति था । परन्तु यौगिक अर्थ से स्थिति स्पष्ट होती है शतपथ ब्राह्मण के अनुसार 'रात्रिर्वै कृष्णा, असावादित्यो

(शेष पृष्ठ ८ पर)

# साम्प्रदायिक तनाव के पीछे काम करने वाली प्रवृत्तियाँ

मुरादाबाद, अलीगढ, हैदराबाद कश्मीर और गुजरात के साम्प्रदायिक दंगो ने देश मे एक बार फिर साम्प्रदायिक उत्तेजना को आंच दी है। इन दगो के कारण हिन्दु मन कितना टूटा है अथवा मुसलमान मन कितना आतंकित या उत्तेजित हुआ हैं इसका आकलन आज बेहद जरूरी हो गया है। भारत एक धर्मनिरपेक्ष देश है यहाँ बहुसंख्यक समझे जाने वाले हिन्दू वर्ग को संविधान मे जो अधिकार प्राप्त हैं अल्पसंख्यक की श्रेणी मे आने वाले मुसलमान और ईसाई वर्ग को भी वही अधिकार प्राप्त हैं उनके पूजा-पाठ त्योहारो और अन्य धार्मिक उत्सवो पर कोई पाबन्दी नही लगाई गई। फिर वे कौन मे कारण हैं जो हिन्दु के प्रति मुसलमान के मन में और मुसलमान के प्रति हिन्दू के मन मे, सदेह और अविश्वास को जन्म देते रहते है। और आजादी के ३३ वर्ष के बाद भी साम्प्रदायिक सौहार्द और भाई चारे की भावना को पनपने नही देते।

इन अलगाव और फूट की प्रवृत्तियों के पीछे जो मन काम कर रहा हैं वह इतना स्थूल और सर्वविदित है कि उसकी खोज मे ज्यादा गहराई मे जाने की आवश्यकता दिखाई नही देती।

भारत के बँटवारे के बाद, पाकिस्तान के निर्माण से लेकर आज तक भारतीय मुसलमान की देश भक्ति पर हमेशा प्रश्न चिन्ह लगाया जाता रहा। कहा जाता रहा है कि वह अपनी मातृभूमि से अधिक अपनी अन्तर्राष्ट्रीय बिरादरी के प्रति ज्यादा बफादार हैं कि उसकी बफादारी हिन्दुस्तान से ज्यादा पाकिस्तान के प्रति है, कि मक्का की घटना को लेकर वह हिन्दुस्तान मे दंगे छेड़ता है, कि पाकिस्तानी खिलाड़ियो की जीत की कामना करता है कि जमायत ए इस्लाम की बफादारी भारत के अतिरिक्त कही और है, कि भारत में रहने वाले मुसलमान भारतीय नही है, और कि कश्मीर के मामले मे वह मौन साधे रहता है कि बांगला देश मुक्ति संग्राम के समय उसने कभी भारत का साथ नही दिया, कि भारतीय मुसलमान अरबों से प्यार करता है और इस्राइल से घृणा। और इनके साथ ही और अनेकानेक प्रश्न।

एक मुसलमान को भारतीय या अभारतीय समझने से पूर्व हमे उसके धर्म की मूल धारणा को समझना होगा। इस्लाम का क्षेत्र व्यापक है और विश्व मे इस्लाम के आधार पर कई इस्लामिक देश हैं। नेपाल को छोड़कर विश्व में कोई भी हिन्दू देश नहीं है। इस्लाम की मान्यता है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय बिरादरान से प्यार करे, चाहे उनमें जातीय या क्षेत्रीय अन्तर कैसा भी हो, चाहे वह नीग्रो ही क्यों न हो, भारतीय या ट्यूनिशियन ही क्यों न हो। हालांकि हजरत मुहम्मद ने अपने अनुयायियों से कहा हैं कि वे अपनी मातृभूमि को प्यार करें और जिन देशों मे जनमे है उनके प्रति बफादर रहें किन्तु मुसलमान अपने अन्तर्राष्ट्रीय भाईयों से प्यार करता है और उसका वह प्यार राष्ट्रभक्ति से ऊपर है।

भारतीय मुसमान की देश के प्रति वफादारी मे सदेह का एक मात्र कारण धार्मिक ही नही है इसमे आर्थिक, सामाजिक असमानता का भी बहुत बड़ा हाथ है। यह सच हैं कि व्यापार के क्षेत्र मे घुसे मुसलमान धनवान है आजादी के बाद और धनवान हुए हैं अथवा सरकारी नौकरी मे ऊँचे ओहदो पर आसीन मुसलमान साधन सम्पन्न हैं किन्तु आम मुसलमान या तो रिक्शा चलाता है या फिर मिल या कारखानो में मेहनत मजूरी करता है। दरजी धोबी या मणिहार का काम करके जीवन- यापन कर रहा है। हालत हिन्दू बहुमत की भी उससे बेहतर नही है किन्तु उसके साथ राष्ट्रियता का प्रश्न जुड़ा हुआ है।

उत्तर और दक्षिण के मुसलमान की मानसिकता में भी एक बड़ा अन्तर देखा जा सकता है। उत्तर का मुसलमान जहाँ सतत चौकन्ना, शंकित और आत्मरक्षा के लिए सन्नद्ध दिखाई देता है, दक्षिण में खास तौर पर तमिलनाडु, केरल और कर्नाटक का मुसलमान सहज और अपने काम से काम रखने वाला है। उसके साथ उत्तर के मुसलमान की भाँति भाषा का भेदभाव भी नही है। तमिलनाडु का मुसलमान तमिल भाषी है केरल का मलयालम-भाषी और कर्नाटक का कनड़ भाषी। वेश-भूषा भी स्थानीय है उसकी किन्तु जब जब उत्तर में साम्प्रदायिकता की लहर उठती है, तब तब वह भी कुछ चौकन्ना हो जाता हैं किन्तु वहाँ कभी अप्रिय घटनाएं नहीं होती, हैदराबाद को छोड़कर।

इस वक्त भारत में मुसलमानो की आबादी १२ प्रतिशत है सन् ५२ में जब चुनाव-युग का प्रारम्भ हुआ तो पंडित जवाहरलाल नेहरू ने मुसलिम वोट हासिल करने के लिए मुसलमानों को संरक्षण देने का नारा दिया। यह नारा वोट की राजनीति में आज तक जिन्दा है और यह भी अन्य कारणों में से एक कारण है जो कि मुसलमान के मन में सदैव असुरक्षा को बनाये रखता है कि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ अथवा जनसंघ अथवा हिन्दू महासभा जैसे किसी दल की सरकार कभी भारत में कायम हुई तो भारतीय मुसलमान का क्या होगा ? जब तक यह प्रचारजनित भय मुसलमानके मन से नहीं जायेगा तब तक उसकी राष्ट्र-भक्ति संदिग्ध ही बनी रहेगी और उस पर प्रश्न चिन्ह लगते ही रहेंगे।

मुसलमानो को इस देश में सभी अधिकार प्राप्त है दो-दो मुसलमान राष्ट्रपति रह चुके हैं। प्रदेशों और केन्द्र की सरकारो मे उनका समुचित प्रतिनिधित्व है स्थल सेना, वायु सेना और नौ सेना में उन्हें ऊँचे और सम्मान पूर्ण स्थान प्राप्त है फिर भी उनकी राष्ट्र भक्ति पर शंका के आखिर क्या कारण है ? एक मुसलमान को खुद इस पर सोचना और सोचकर [illegible] हिन्दू रात दिन सड़क के किनारे से लगी दुकानो पर गाय का गोश्त लटकाता देख सकता है, बूचड़खाने मे कटने के लिए जाती गायो को देख सकता है तो एक मुसलमान मस्जिद मे घुसते सुअर के लिए मुरादाबाद जैसा हत्याकांड करने के लिए कैसे अमादा हो जाता है ? मन्दिरों के सामने से ताजे और अलम खूब ज़ोर शोर से निकल सकते हैं लेकिन मस्जिद के सामने से जब धार्मिक जुलूस या विवाह शादी का बैंड बाजा जाता है तब हमेशा टोकाटाकी की जाती है और तनाव पैदा करने की कोशिश की जाती है। हिन्दू के घर में अपनी सुरक्षा के लिए एक मामूली डंडा खोज पाना जहाँ मुश्किल काम है, मुसलमान के पास अपने ही पड़ोसी दूसरे धर्म के निहत्थे भाईयो को मार डालने के लिए पिस्तौल, बम, हथगोले राईफलें, तोपें और छुरे, चाकू और करोड़ों रुपयों का विस्फोटक सामान कहां से आ रहा है ? देश का शिक्षित और सेक्युलर मन वाला तबका (निश्चित ही हिन्दू समाज का) मांग करता है कि धार्मिक स्थानों मे मस्जिदो और मन्दिरो मे राजनीतिक प्रचार और भाषण की इजाजत नहीं दी जानी चाहिये. लेकिन भारत के गृहमन्त्री जैलसिंह इसे अनावश्यक मानते है इसे धार्मिक हस्तक्षेप मानते हैं।

और ऐसे ही कई प्रश्न हैं जो हिन्दुस्तान के हिन्दू-मुसलमान रिश्ते के बीच आज चिन्ता का विषय बने हुए हैं। ●●

## आर्यसमाजों के सत्संग

७-१२-८०

कम्बा मुमल (प्रताप नगर)—पं० प्रकाश चन्द वेदालंकार, अमर कालोनी—पं० विजयपाल शास्त्री,— अशोक विहार के—सी ५२ ए—पं० ओमवीर शास्त्री, आर्यपुरा—पं० देवराम वैदिक मिश्नरी; आर के पुरम् सैक्टर—श्रीमती नीलावती आर्या; किंग्जवे कैम्प—लाला लखमी दास; कालका जी—पं० सत्य भूषण वेदालंकार; कालका जी डी० डी० ए० फ्लैटस एन-१/१४१ ए—पं०हीरा प्रसाद शास्त्री; करोल बाग—पं० प्राण नाथ सिद्धान्तालंकार;गांधी नगर—श्रीमती प्रकाश वती शास्त्री एम ए; गीता कालोनी—पं० ओम्प्रकाश भजनोपदेशक; गुड़ मन्डी—पं० विश्व प्रकाश शास्त्री; १५१ - गुप्ता कालोनी—वैद्यारामकिशोर; गोविन्द पुरी—श्री मोहनलाल गांधी;गोविन्द भवन (दयानन्द वाटिका)—डा० रघुनन्दनसिंह;जंगपुरा भोगल—पं० अशोक कुमार-विद्यालंकार; जनकपुरी सीमा पंखा रोड—डा० महावीर सांख्य दर्शनाचार्य; जनकपुरी बी ब्लाक—पं० ईश्वर दत्त एम ए, जहांगीर पुरी के १४३८—आचार्य हरिदेव - सि० भू०; झिलमिल कालोनी - पं० प्रकाश वीर व्याकुल; तिलक नगर—पं० वेद व्यास भजनोपदेशक, देव नगर—आचार्य कृष्ण गोपाल; नारायणा विहार—पं० महेन्द्र प्रताप शास्त्री; पंजाबी बाग—प्रो० सत्य पाल बेदार; पंजाबी बाग एक्सटेन्शन १४/३—पं० खुशीराम शर्मा; पश्चिम पुरी जनता क्वाटरंज - पं० रा.रूप शर्मा; नाम कड़े वां—स्वामी स्वरूपानन्द भजनोपदेशक; ... विद्यालंकार; माडल टाउन—स्वामी मित्र लेश;माडल बस्ती—पं० वीर व्रत शास्त्री; महरौली—पं० गणेश प्रसाद विद्यालंकार; मोती बाग—डा० वेदप्रकाश माहेश्वरी; रघुवीर नगर—पं० जगदीश प्रसाद विद्यावाचस्पति; रमेश नगर—श्री चिमन लाल; राणा प्रताप बाग—पं० गजेन्द्र पाल शास्त्री, राजौरी गार्डन—पं० केशव चन्द्र मुन्जाल; रोहतास नगर—ज्ञानचन्द डोंगरा गायक; लड्डू घाटी—पं० शीशराम भजनोपदेशक; लाजपत नगर—पं० देवेश; विक्रम नगर—श्रीमती सम्पदा आर्या; विनय नगर—पं० मनोहर विरक्त; सुदर्शन पार्क—प्रो० भरत सिंह शास्त्री; सराय रोहिला—पं० सत्यकाम वेदालंकार; साउथ एक्सटेंशन-डी०डी०ए०-१२ सायं ४से ५-३०—पं० अशोक कुमार विद्यालंकार; श्री निवास पुरी—आचार्य राम शरण मिश्रा शास्त्री;हनुमान रोड—पं० हरिशरण, होज खास इ-४६—पं० मुनि शंकर वानप्रस्थ, सरस्वती विहार—पं० आशा नन्द भजनोपदेशक; नया बांस डा० सुख दयाल भूटानी; ।

(पृष्ठ २ का शेष)

अगले दो श्लोकों में परमात्मदेव के सर्व व्यापकत्व तथा सृष्टि में ही परमात्मदेव के दर्शन करने की बात कही गई है। उसके हाथ पैर सब जगह हैं—सर्वत: पाणिपादं, उसकी आंखें, सिर, मुख सब जगह हैं—तत्: सर्वत: अक्षि-शिर: मुखम् । संसार में सब जगह उसके कान हैं—सर्वत: श्रुतिपत् लोके, वह सबको घेर कर बैठा हुआ हैं -सर्व आवृत्य तिष्ठति । यहां भी 'आवृत्य-शब्द का प्रयोग किया गया है जो 'वृत'-शब्द से बना है ॥१६॥

सब इन्द्रियों के गुण उसमे भास रहे हैं—सर्वं इन्द्रिय गुण आभासम्, फिर भी सभी इन्द्रियों से वह रहित है—सर्व इन्द्रिय विवर्जितम् । सबका वह प्रभु स्वामी है—सर्वस्य प्रभुम्, ईशानम्, फिर वह सबको आश्रय देने वाला, शरण-देने वाला है—सर्वस्य शरणं बृहत् ॥१७॥

पहले कहा कि परमात्मदेव के हाथ, पांव, आंख, कान आदि सब जगह है, परन्तु कोई यह न समझ ले कि सृष्टि के प्राणियों के हाथ, पांव आदि उसी ब्रह्म के है, उनसे अलग उसकी सत्ता नहीं है, इस मिथ्या-भ्रम को दूर करने के लिए अब कहते हैं : वह हाथ-पांव रहित है—अपाणि पाद:, हाथ-पांव न होने पर भी वह गतिशील है, बिना हाथों के जोर-से पकड़ लेता है—जवनो ग्रहीता, वह नेत्रो से रहित है परन्तु बिना आंखो को देखता है—पश्यति अचक्षु:, वह कानो से रहित है परन्तु बिना कानो के सुन लेता है—स: शृणोति अकर्ण: । जो-कुछ भी जाना जा सकता है वह उसे जानता है—स: वेत्ति वेद्यं, परन्तु उसे कोई नही जानता—न च तस्य अस्ति वेत्ता, उसी को आदि-महापुरुष कहते है—तम् आहु: आद्यम् पुरुषं महान्तम् ॥१९॥

वह अणु से अणु है—अणो: अणीयान्, महान् से महान् है—महत-महीयान् । वह इस जीव की हृदय रूपी गुहा मे निहित है—आत्मा गुहायाम् निहित: अस्य जन्तो: । वह कर्ता नही है, अक्रतु को—तं अक्रतुं, शोक-सागर से पार तर जाने वाला—वीत शोक , देखता है—पश्यति । उस परमात्मदेव की महिमा को सबको धारण करने वाले ईश के प्रसाद से ही प्राप्त किया जा सकता है—धातु: प्रसादात् महिमान ईश ॥२०॥ □

(पृष्ठ १ का शेष)

और धर्म के कारण कई बार जेल भी गये। गौ हत्या निषेध आन्दोलन मे वे एक महीना जेल में रहे। व्यापार मडल के प्रधान रहते हुए भी वे एक बार डेढ महीने तक जेल में रहे। १९४२ के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के समय भी वे दो महीने तक मुलतान जेल मे रहे।

महाशय जी अपने पीछे एक भरापूरा परिवार छोड़ गए हैं। उनके ३ सुपुत्र महाशय धर्मवीर, महाशय धर्मपाल और महाशय सत्यपाल अपने पिता के चरण चिह्नों पर बराबर चलते रहे हैं और चल रहे हैं। पिता की धर्मनिष्ठा और सत्यवादिता इस परिवार मे पूरी तरह समा गई है। महाशय धर्मपाल जी दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के वरिष्ठ उपप्रधान हैं और दिल्ली के सार्वजनिक जीवन में उनकी प्रतिष्ठा है। अनेकों धार्मिक संस्थाएं और सार्वजनिक संस्थाएं महाशय धर्मपाल जी तथा महाशय परिवारों मे नियमित रूप से सहायता प्राप्त कर रही हैं। ऐसे परिवार के प्रति जहां हमारी सद्भावनाएं हैं वहां भगवान से प्रार्थना है कि वह इस परिवार को पितृवियोग सहने का सामर्थ्य प्रदान करे और उनकी आत्मा को सद्गति प्रदान करे।

आर्य जनता के पथ-प्रदर्शन, वेद-विचार को प्रगति देने एवं राष्ट्र की ज्वलन्त समस्याओं पर विचार हेतु

## दिल्ली आर्य महासम्मेलन

का आयोजन

### दिल्ली के रामलीला मैदान में

बृहस्पतिवार, २५ दिसम्बर से रविवार २८ दिसम्बर १९८० तक

हैदराबाद आर्य सत्याग्रह के वीर सेनानी

**श्री रामचन्द्र राव वन्देमातरम्**

की अध्यक्षता में होगा।

**मुख्य आकर्षण :**

- वेद परायण बहु कुण्डीमहायज्ञ
- आर्य सम्मेलन
- वेद सम्मेलन
- संस्कृत सम्मेलन
- युवक सम्मेलन
- महिला सम्मेलन
- राष्ट्र सम्मेलन

**विशाल जलूस :**

२५ दिसम्बर को प्रातः १० बजे से महासम्मेलन का जुलूस

**स्वामी श्रद्धानन्द बलिदान दिवस**

के जलूस में सम्मिलित रहेगा

इस महत्वपूर्ण आयोजन में देश के सुप्रसिद्ध संन्यासी महात्मा, विद्वान राष्ट्रीय एवं सामाजिक नेता पधार रहे हैं। आप से अनुरोध है कि तन-मन-धन से अपना सहयोग देकर इस आयोजन को सफल बनायें और सपरिवार तथा इष्ट मित्रों सहित सम्मिलित होकर अनुगृहीत करें। निवेदक :

सरदारीलाल वर्मा, प्रधान — महामन्त्री ...

विद्यासागर विद्यालंकार, मंत्री — स्वागताध्यक्ष महासम्मेलन

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा (पंजीकृत)

१५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-१

दूरभाष : ३१०१५०, ३१११९०

(पृष्ठ ५ का शेष)

तस्यावसोऽजु म:' है। इसी आधार पर उन्होंने निष्कर्ष दिया है कि "वास्तव में वेदमन्त्रों के ठीक ठीक अर्थों की प्रतीति निरुक्त सम्मत विवेचन के द्वारा हीं हो सकती है।"

इस प्रकार स्वामी विद्यानन्द जी ने युक्तियुक्त ढग से वेद-सम्बन्धी सभी विषयों का स्पष्टीकरण दिया है। यह केवल सम्यक् भारतीय दृष्टि ही नहीं, अपितु तर्कसम्मत वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी है। इसलिए वेदाध्येताओं के लिए यह पुस्तक अवश्य पठनीय है।

कहीं-कहीं यदि सन्दर्भों का अभाव न होता और उदाहरणों के पाठ पूर्ण शुद्ध होते तो पुस्तक की उपादेयता कई गुणा बढ़ जाती। ऊपर उदाहरण में ही एक तो शतपथ ब्राह्मण ... दूसरे पाठ में 'असावादित्यो तस्या:' अशुद्ध है (असावादित्यस्तस्या.)। अनेक स्थानों पर मुद्रणसम्बन्धी दोषों के लिए मुद्रणालय दोषी है।

निस्सन्देह वेदजगत् अध्यवसायी स्वामी विद्यानन्द के द्वारा उपहार से उपकृत हुआ है और उनसे अनेक ऐसे ग्रन्थरत्नों की आशा करता है। स्वामी जी समाज में स्पष्ट सुलझे विचारों के लिए सुविख्यात हैं। वे विद्वज्जगत् को बहुत कुछ दे सकते हैं।

—डॉ० कृष्णलाल



दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के लिए श्री सरदारी लाल वर्मा द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित ... दिल्ली-३१ में मुद्रित। कार्यालय १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली फोन नं० ३१०१५०

दिल्ली आर्यप्रतिनिधि सभा का साप्ताहिक मुखपत्र

एक प्रति ३५ पैसे, वार्षिक १५ रुपये वर्ष ४ : अंक ८ रविवार १४ दिसम्बर १९८० दयानन्दाब्द १५६

# महासम्मेलन की तैयारियों में प्रगति

## राष्ट्र रक्षा सम्मेलन के अध्यक्ष : सत्यदेव जी भारद्वाज वेदालंकार, वेदसम्मेलन के अध्यक्ष : स्वामी विद्यानंद जी सरस्वती, संस्कृत सम्मेलन के अध्यक्ष : श्री विशुद्धानंद शास्त्री और महिला सम्मेलन की अध्यक्षा : श्रीमती प्रभात शोभा पण्डित

दिल्ली में आर्य महासम्मेलन की जो तैयारियां हो रही है उसके कार्य मे निरन्तर प्रगति हो रही है। यह सूचना दी जा चुकी है कि इस महासम्मेलन के स्वागताध्यक्ष महाशय धर्मपाल होंगे जो कि दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के वरिष्ठ उपप्रधान हैं। महाशय जी की आर्य सभा के प्रति निष्ठा को ध्यान में रखते हुए तथा आर्य समाज संगठन से उनके लम्बे सम्बन्धों को ध्यान में रखते हुए सर्वसम्मति से उन्हें इस महासम्मेलन का स्वागताध्यक्ष चुना गया है। इस महा सम्मेलन की अध्यक्षता हैदराबाद के आर्य सेनानी श्री रामचन्द्र राव वन्देमातरम् कर रहे हैं।

इस अवसर पर अन्य भी महत्वपूर्ण सम्मेलन और गोष्ठियां होंगी उनमें राष्ट्र रक्षा सम्मेलन, वेद सम्मेलन, संस्कृत सम्मेलन, महिला सम्मेलन और आर्य युवक सम्मेलन हैं। राष्ट्र रक्षा सम्मेलन के अध्यक्ष पद पर श्री सत्यदेव जी भारद्वाज वेदालंकार सुशोभित होंगे। श्री सत्यदेव जी से आर्य जगत् भलीभांति परिचित है क्योंकि लन्दन में आयोजित सार्वभौम आर्य महासम्मेलन के वे अध्यक्ष थे। पूर्वी अफ्रीका नैरोबी में आर्य समाज के प्रचार का उन्हें बहुत बड़ा श्रेय है। [illegible] में आर्य समाज के प्रचार का [illegible] जितने बड़े पैमाने पर उन्होंने किया है, इतना बड़ा संगठन अनेक [illegible] भी नहीं कर पायीं। श्री सत्यदेव जी [illegible] और वैदिक [illegible] के प्रकांड पंडित हैं। उन्होंने [illegible] आर्य समाज के प्रचा[illegible]क के रूप में किया था। जिस निष्ठा और लगन के कारण वे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त करने में सफल हुए है वह उन जैसे यशस्वी व्यक्ति के लिए सभव है।

वेद सम्मेलन के अध्यक्ष स्वामी विद्यानन्द जी के सम्बन्ध में पहले ही घोषणा की जा चुकी है। संस्कृत सम्मेलन के अध्यक्ष श्री विशुद्धानन्द जी शास्त्री होंगे जोकि संस्कृत साहित्य के प्रकांड पंडित हैं। इन दोनों सम्मेलनों के संयोजक दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के उपाचार्य डा० कृष्ण लाल हैं। इन दोनों सम्मेलनों में भाग लेने वालों में आचार्य प्रियव्रत जी, पं० शिवकुमार जी शास्त्री, प्रज्ञादेवी जी वाराणसी, श्री सुरेन्द्र कुमार शास्त्री, डा० हर्षलाल और प्रिंसिपल अग्निहोत्री हैं।

राष्ट्र रक्षा सम्मेलन २७ दिसम्बर को मध्यान्होत्तर काल में होगा। इसका समय १०-३० बजे तक होगा। इसी दिन मध्यान्हपूर्व १०-३० से १२-३० बजे तक वेद सम्मेलन सम्पन्न होगा। संस्कृत सम्मेलन का समय २६ दिसम्बर को मध्यान्हपूर्व १०-३० से १२-३० बजे होगा।

महिला सम्मेलन २६ दिसम्बर को मध्यान्होत्तर १ से ५ बजे तक होगा। इसकी अध्यक्षा श्रीमती प्रभातशोभा पण्डित होंगी। इसमें भाग लेने वालों में श्रीमती [illegible] बहन पू. पू. संसद सदस्य, श्रीमती सावित्री देवी रस्तोगी, मेरठ, [illegible] जी शास्त्री एवं डा० सुषमा आर्य हैं।

आर्य सम्मेलन अथवा खुला अधिवेशन २८ दिसम्बर को मध्यान्होत्तर १ से ५ बजे तक श्री रामचन्द्र राव वन्देमातरम् की अध्यक्षता में होगा। इस सम्मेलन का उद्घाटन करने के लिए विधि मन्त्री श्री शिवशंकर जी से अनुरोध किया गया है और आशा है कि वे इस अनुरोध को स्वीकार कर लेंगे। इस सम्मेलन के प्रमुख वक्ता आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान श्री वीरेन्द्रजी, इसी सभा के वरिष्ठ उपप्रधान श्री पृथ्वीसिंह आजाद और सार्वदेशिक सभा के प्रधान श्री रामगोपाल जी वानप्रस्थ होंगे।

इसी २८ तारीख को ही मध्यान्हपूर्व लगभग ११ बजे आर्य युवा सम्मेलन होगा जिसमे वैदिक परिवार सम्मेलन भी सम्मिलित रहेगा। इसके वक्ताओं में अन्य लोगों के अलावा श्री आर्य नरेश होंगे।

इस सारे सम्मेलन में यज्ञ सम्बन्धी जो व्यवस्था की गई है उसके अन्तर्गत प्रातः ७ से ८-३० बजे और सायं ५ से ६-३० बजे यज्ञ होगा। २८ दिसम्बर को प्रातः पूर्णाहुति होगी। सपूर्ण यज्ञ व्यवस्था के ब्रह्मा गुरुकुल कांगडी के भू. पू. आचार्य प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति होंगे। यज्ञ के बाद आचार्य जी का प्रवचन भी हुआ करेगा।

इसके अतिरिक्त २६ और २७ दिसम्बर को रात्रि के समय भजनोपदेशों और उपदेशों की भी व्यवस्था की जा रही है जिसके संबंध में विस्तार से सूचना बाद में दी जायेगी।

---

## आर्य प्रतिनिधि सभा हरियाणा का वार्षिक चुनाव सम्पन्न

आर्य प्रतिनिधि सभा हरियाणा का वार्षिक साधारण अधिवेशन ३० नवम्बर को दयानन्द मठ रोहतक में सम्पन्न हुआ इस अधिवेशन में हरियाणा की आर्यसमाजों के ५५० प्रतिनिधियों ने भाग लिया। अधिवेशन में सभा का ५,१०,११५ रुपये का बजट स्वीकार स्वीकार किया गया।

आगामी वर्ष १९८०-८१ के लिए पदाधिकारियों का चुनाव किया गया जोकि सर्वसम्मति से हुआ। चुनाव के परिणाम इस प्रकार रहे—प्रधान, लाला दलीप सिंह आर्य पानीपत; उपप्रधान—चौ० माडू सिंह भू० पू० शिक्षा मन्त्री हरियाणा, दीवान भीमसेन गुडगावा, डा० हरिप्रकाश अम्बाला छावनी, मन्त्री महाशय भरतसिंह वानप्रस्थ, रोहतक; उपमन्त्री : प्रो० सत्यवीर सिंह विद्यालंकार, हिसार, श्री सत्यवीर शास्त्री, महीवोहर, कोषाध्यक्ष : वेदव्रत शास्त्री, रोहतक, पुस्तकाध्यक्ष : महेश्वरसिंह शास्त्री खानपुरकला।

# निराश होकर जीवन से मत भागो

**रेवती रमध्वमस्मिन्योनावस्मिन् गोष्ठेऽस्मिन्लोकेऽस्मिन्क्षये ।**
**इहैवस्तं मापगात ॥ यजु: ३-२१**

ऋषि—याज्ञवल्क्य । देवता-गावो विश्वेदेवाश्च ।

शब्दार्थ—हे (रेवती) रयि प्रदान करने वाली शक्तियो तथा वस्तुओ अस्मिन् योनौ) इस योनि में (अस्मिन् (गोष्ठे) इस शरीर में (अस्मिन् लोके) इस लोक मे (अस्मिन् क्षये) इस घर मे—कर्मानुसार जो तुम्हे प्राप्त है—(रमध्वम्) रमण करो और दूसरों को आनन्दित करो । (इह एवस्तम्) इन्हीं मे स्थिर तथा स्वस्थ रहो (मा अपगात) इन्हे छोड़ कर दूर मत जाओ और न ही दु खीया निराश होकर मरने की इच्छा करो।

निष्कर्ष—इस मन्त्र का देवता गाव. तथा विश्वेदेवा: है। गौ का अर्थ इन्द्रिय और विश्वेदेवा का अर्थ सब इन्द्रियाँ भी होता है। इसलिए यहा—

१—इन्द्रियो को सम्बोधन करके कहा है कि तुम्हे (क) भू-अन्तरिक्ष-द्यु मे से जो लोक मिलता है । (ख) मनुष्य-पशु-पक्षी आदि मे से जो योनि मिली है। (ग) इन योनियो मे भी जो शरीर (गो+स्थ) मिला है और फिर (घ) अच्छे बुरे, छोटे बड़े जिस घर मे तुम्हें जन्म या स्थान मिला है—उन्ही मे अपनी बियति मान कर रमण करो और पूर्ण आयु पर्यन्त अपने स्वामी जीव को आनन्द प्रदान करती रहो।

२—इस शरीर मे सन्तुष्ट रहो। अपनी योनि और शरीर के सामर्थ्य की मर्यादा का उल्लंघन करके अति कामना मत करो।

३—गोष्ठ—इन्द्रिय निवास शरीर की सामर्थ्य के अनुसार भोग करो। अमर्यादित होकर सामर्थ्य से अधिक अथवा योनि के प्रतिकूल भोग मत करो।

४—जिस लोक मे तुम्हें जन्म मिला है उसी के उपयुक्त शरीर तथा इन्द्रियां मिली हैं। उसी लोक मे अपना कार्य क्षेत्र चुनोगे तो जल्दी सफलता मिलेगी और अधिक सेवा कर सकोगे। इसलिए दूसरे लोकों मे जाने के व्यर्थ स्वप्न मत लो।

५—कर्मानुसार तुम्हें जो घर प्राप्त हुआ है, उसे बृहत्तर (बेहतर) बनाने का सदा प्रयत्न करते रहो। लेकिन जब तक उसमे रहना पड़े, तब तक सन्तोष पूर्वक रहो।

६—रेवती का अर्थ वानी तथा गौ भी है। गौ भूमि या जन्म भूमि का वाचक भी है। इसलिए यह भी प्रेरणा मिलती है कि अपनी जन्म भाषा तथा जन्म भूमि को सदा बेहतर बनाने का प्रयत्न करते हुए, उनमें सन्तुष्ट रहना चाहिए, अपितु उनमें गौरव अनुभव करना चाहिए। अपनी वाणी को मधुर तथा संयत बना कर सबको आनन्द प्रदान करना चाहिए।

७—किसी रोग, शोक या कष्ट, अनिष्ट के कारण अपने जीवन से असन्तुष्ट या निराश होकर जल्दी मरने की अथवा जन्मभूमि को छोड़ने की इच्छा न करके, उसे बृहत्तर (बेहतर) बनाने का प्रयत्न करना चाहिये।

विशेष—इस मन्त्र का ऋषि याज्ञवल्क्य, यज्ञ कर्म का प्रवचन और तदनुकूल आचरण करने वाले यज्ञवल्क का पुत्र या शिष्य है। इसलिए इस ऋषि से प्रेरणा लेकर जो व्यक्ति अपने जीवन को यज्ञ मानकर जीने का प्रयत्न करता है, वह हर स्थिति को अपने कर्मों का फल तथा आगे बढ़ने की सीढ़ी मानता है।

जो आगे बढने का पूर्ण प्रयत्न करते हुए भी अपनी वर्तमान स्थिति से निराश नहीं होता। उसकी बाधाओं को समझते हुए उनको दूर हटाने का प्रयत्न करता है। अपनी वर्तमान स्थिति से संघर्ष करता है, दूर नहीं भागता।

जो याज्ञवल्क्य बनेगा, इन्द्रियां, वाणी, मातृभूमि आदि विश्व की सब दिव्य शक्तियां उसकी सहायता करेगी।

अर्थ—पोषक-प्रमाण-लोक—भू. अन्तरिक्ष. द्यु मुख्य हैं। क्षय—गृह. क्षिनिवासे।

योनि—मनुष्य-पशु-पक्षी-सरीसृप आदि हैं। गोष्ठ—इन्द्रिय स्थान=शरीर।

रेवती—रयि: ऐश्वर्यं अस्यास्तीति सा—रेवती। रयि-भोग्य, प्राण-भोक्ता।

वाणी, गौ (इन्द्रिय-भूमि) दुर्गा, एक ओषधि, एक नक्षत्र पुंज। (आपटे कोश)।

याज्ञवल्क्य—यज्ञं वल्कयति (वल्क परिभाषसे) तस्यापत्यम्।

यज्ञ का प्रवचन तथा तदनुकूल आचरण करने वालों के कुल में उत्पन्न अथवा—शिष्य।

—मनोहर विद्यालंकार

## पंजाबी विश्वविद्यालय में वेदमन्दिर की स्थापना

पंजाबी विश्वविद्यालय पटियाला में गीता मन्दिर तथा वेद मन्दिर की स्थापना की गई है। शिलान्यास २४ नवम्बर को महन्त श्री चरणदास जी के करकमलो से हुआ। इस भवन में वैदिक साहित्य पर अनुसन्धान किया जायेगा, इस के लिए आरम्भ मे ३ लाख रुपयो के व्यय का अनुमान है। किन्तु इस कर्म के लिए पर्याप्त धन सग्रह किया जा चुका है। संस्कृत विभाग के अध्यक्ष श्री डा० धर्मेन्द्र कुमार गुप्त का इस कार्य मे विशेष परिश्रम रहा।

## विदेह स्मृति-सप्ताह

दि० ११ से १६ नवम्बर ८० तक वेद सस्थान राजौरी गार्डन, नई दिल्ली में विदेह-स्मृति-सप्ताह समारोहपूर्वक मनाया गया। महात्मा श्री दयानन्द जी (देहरादून) के ब्रह्मत्व मे स्वस्तियाग तथा मार्मिक वेदोपदेश हुए। अन्तिम दिवस पूर्णाहुति समापन-कार्यक्रम के पश्चात् ऋषि लगर (प्रीति भोज) सफलता-पूर्वक सम्पन्न हुआ। इस समारोहमें बिहार, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, हिमाचल, पजाब, हरियाणा, व दिल्ली से पधारे शिविरार्थियों ने भी भाग लिया। मध्याह्न मे आर्या मीरा यति की अध्यक्षता में प्रतिदिन महिला सत्संग भी होता रहा।

## कन्या गुरुकुल, हाथरस हीरक जयंती महोत्सव

कन्या गुरुकुल के हीरक जयन्ती महोत्सव की जो ७ से १५ फरवरी १९८१ को होगा, तैयारियाँ उत्साह-पूर्वक की जा रही है। यह आर्य समाज का एक महत्वपूर्ण उत्सव होगा, जिसमे देश-देशान्तरो के आर्य बन्धु बड़ी सख्या में सम्मिलित होगे।

इसी अवसर पर प्रदेश की आर्य-कन्या शिक्षा संस्थाओं की छात्राओ की व्यायाम, सांस्कृतिक कार्यक्रम आदि की प्रतियोगिताए भी होगी, जिसके सम्बन्ध मे शिक्षा संस्थाओ को अलग से लिखा जा रहा है।

हीरक जयन्ती के उपलक्ष्य में आरम्भ की जाने वाली विविध योजनाओ के लिए धन सग्रह का कार्य भी आरम्भ हो गया है। आर्य समाजों एवं दानी महानुभावों से अधिक से अधिक दान देने की प्रार्थना है। ५०० रु० से अधिक दान देने वालों के नाम पत्थर पर लिखे जाएगे।

अक्षय कुमारी शास्त्री
मुख्याधिष्ठात्री

## सम्पादकीय

# दो भाषा, दो कानून, दो राष्ट्र

बिहार के राज्यपाल श्री ए० आर० किदवई ने एक अध्यादेश जारी करके उर्दू को बिहार की दूसरी राजभाषा घोषित कर दिया है। इस प्रकार अब हम बिहार में स्वतन्त्रता से पहले के युग में पहुंच गये हैं जबकि उत्तर प्रदेश, बिहार तथा कुछ अन्य राज्यो से उर्दू दूसरी राज भाषा के रूप मे काम मे लायी जाती थी। एक ही राज्य मे अब बहुसंख्यकों की भाषा हिन्दी हो गई है और अल्पसंख्यकों की भाषा उर्दू हो गई है। इस प्रकार बिहार राज्य ने एक उदाहरण पेश किया है जिसके अन्तर्गत राज्य की आबादी राज्यपाल की कलम की नोक के एक ही झटके से दो हिस्सों में बँट गई है। एक हिन्दीभाषी और दूसरी उर्दूभाषी।

यह कदम तब उठाया गया जबकि पूरे बिहार राज्य मे जनपदीय भाषाएं और बोलियां लम्बे समय से निरन्तर यह आन्दोलन कर रही हैं कि उन्हे भी अपने अपने क्षेत्र की राजभाषा स्वीकार कर लिया जाये। इनमे मुख्य रूप से मैथिली भोजपुरी और मगही हैं। इनके अतिरिक्त वनवासी जातियो ने भी अपने लिए पृथक् भाषा की मांग का आन्दोलन शुरू किया हुआ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी-भाषी राज्य मे बहुसंख्यक होते हुए भी जनपदीय भाषाओ के मोह के कारण बटे हुए हैं जबकि अपने आपको उर्दूभाषी घोषित करने वाले लोग पूरी तरह से संगठित हैं। विभाजित हिन्दीभाषी और संगठित उर्दूभाषी इस राज्य की राजनीति को किस सीमा तक विभाजित करेंगे, इसके परिणाम शीघ्र ही सामने आ जायेंगे। देश के विभाजन से पहले उर्दूभाषी अपने लिए पृथक् देश की माग किया करते थे और देश के विभाजन के बाद वही उर्दूभाषी अब फिर से इस स्थिति मे आ गये हैं कि वे भाषा के आधार पर एक अलग देश की फिर से दुबारा माग करे।

देश के विभाजन के समय हमारे देश मे उर्दू के लिए कोई स्थान नही रह गया था। उस समय इस देश में उर्दू को फिर से प्राणदान देने के लिए स्व० श्री जवाहरलाल नेहरू ने वकालत की थी और भारतीय सविधान आठवी अनुसूची मे परिगणित १४ भाषाओ मे से उर्दू को भी स्थान दे दिया गया। उस समय तथा उसके बाद निरन्तर यह प्रचार किया गया कि उर्दू का जन्म इसी देश मे हुआ है इसलिए देश में उर्दू को मान्यता मिलनी चाहिये और उसका व्यवहार होना चाहिये। इसी का परिणाम यह हुआ कि जब कश्मीर ने अपना अलग से सविधान तैयार किया तो उसमे कश्मीरी, डोगरी और लद्दाखी के स्थान पर राज्य की भाषा उर्दू घोषित कर दी गई। परिणाम यह है कि कश्मीर मे कश्मीरी बोलने वाले मुसलमान अपनी भाषा उर्दू बताते हैं और कश्मीरी के स्थान पर उर्दू का व्यवहार करते है। दुःख यह है कि कश्मीर मे कश्मीरी भाषा उस घुटनशील स्थिति मे आ गई है जहा कि उसे न सास लेने की स्वतन्त्रता है और न अपनी घाटी मे आत्महत्या कर लेने की।

इस सारी भ्रान्ति का मूल यहा पर है कि उर्दू को इस देश मे उत्पन्न हुआ मानकर किसी राज्य और प्रदेश की भाषा न होने हुये भी मान्यता प्रदान कर दी गयी और उसे मुसलमानो के धार्मिक आग्रह के कारण सविधान मे भी स्थान दे दिया गया। पर यह बात भुला दी गयी कि जिन्ना और लियाकतअली, और पाकिस्तान जाने वाले मुसलमानों का जन्म भी इसी देश मे हुआ था। इस देश मे जन्म लेने के आधार पर न तो इन लोगों को इस देश की नागरिकता प्रदान की गई और न किसी अन्य प्रकार की मान्यता प्रदान की गई। यदि उर्दू को दी गयी मान्यता की भांति भारत से जाने वाले सभी मुसलमानों को भी इसी प्रकार की मान्यता प्रदान कर दी जाये तो इस देश की राजनीतिक स्थिति क्या होगी इसके सम्बन्ध में भविष्यवाणी करते हुए भी आज सकोच होता है। फिर भी हमारे देश के राजनीतिज्ञों की जो मनोवृति है उसे देखकर यह सोचने की आवश्यकता हो गई है कि क्या हमारे देश के राजनीतिज्ञ इतिहास के अनुभव से कोई लाभ उठाने को तैयार है या नही।

कांग्रेसी संस्कृति में पले लोग स्वतन्त्रता से पहले निरन्तर यह घोषणा किया करते थे कि इस देश की संस्कृति एक है। इस एक संस्कृति के नारे को सुनकर कितनी प्रसन्नता होती थी, इस सम्बन्ध में किसी उल्लेख की आवश्यकता नही। परन्तु उस समय एक ओर तो कांग्रेसी एक ऐसी मिली-जुली और एक संस्कृति की बात करते थे जिसके सभी भारतीय अंग थे दूसरी ओर वे मुसलमानो, मुस्लिम लीग तथा मुसलमानो मे पृथकतावादी आन्दोलन के बीज बोने वाले वर्गो को सन्तुष्ट करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे। इस तुष्टीकरण की नीति का जो परिणाम निकला वह यह था कि इस देश के मुसलमान निरन्तर देश की राष्ट्रीयता और संस्कृति से दूर हटते चले गये और प्रत्येक भारतीय वस्तु के प्रति विद्रोह करने लगे। इसलिए जब आर्थिक आधार पर मुसलमानो को आकृष्ट करने की सजीवनी बूटी लेकर स्व० श्री नेहरू मुस्लिम जनसाधारण से जन सम्पर्क करने के लिए निकले तो यह सजीवनी बूटी हमारे देश के लिए विष बूटी बन गई। मुसलमान अधिक से अधिक मुस्लिम लीग मे शामिल होने लगे और मुसलमानो के जो वर्ग तटस्थ भी थे वे भी मुस्लिम लीग के साथ कधा भिडाकर खड़े हो गये और तब उन्ही लोगो ने देश का विभाजन स्वीकार कर लिया जो यह कहते थे कि पाकिस्तान उनकी लाश पर बनेगा।

विभाजन की इस स्वीकृति ने उस मिली जुली भारतीय संस्कृति की धारणा को एक दम समाप्त कर दिया, पर पिछले ३३ वर्षो मे घटनाचक्र घूमकर पुन उसी मिली जुली भारतीय संस्कृति वाले बिन्दु पर आ पहुचा है। इसी मिली जुली संस्कृति के अन्तर्गत उत्तर भारत के लोगो की दो भाषाए घोषित कर दी गयी हैं। एक ही मुहल्ले और एक ही दीवार से जड़े दो मकानो मे रहने वाले लोगों को दो प्रकार की भाषाएं बोलने वाले मान लिया गया है। बीच मे केवल एक दीवार होने के कारण एक व्यक्ति जो हिन्दीभाषी है और उस पर हिन्दू विवाह अधिनियम और हिन्दू उत्तराधिकारी अधिनियम लागू होता है, जबकि दीवार के दूसरी ओर रहने वाले व्यक्ति की भाषा उर्दू है और उस पर मुस्लिम व्यक्तिगत कानून लागू होता है। एक ही मुहल्ले मे रहने वाला एक ही व्यक्ति केवल एक ही विवाह कर सकता है जबकि उसका पडोसी चार विवाह तक कर सकता है। एक व्यक्ति उसी मुहल्ले मे रहता हुआ 'भारत माता की जय' के नारे लगाता है तो दूसरा व्यक्ति अवसर पाते ही 'पाकिस्तान जिन्दाबाद' के नारे लगाता है। वस्तुतः ये नारे हमे विभाजन से पूर्व की याद दिलाते हैं कि यह देश एक नही दो राष्ट्र है, और ये दोनों राष्ट्र कब एक दूसरे के विरुद्ध उठ खडे होंगे —इसे कोई नही जानता।

परन्तु इसका भी कभी कभी प्रदर्शन होता रहता है। यही प्रदर्शन अभी कुछ दिन पहले मुरादाबाद मे हुआ। उसके परिणाम स्वरूप अपनी पृथक् राष्ट्रीयता मानने वाले लोगों को ही हानि नही उठानी पड़ी बल्कि इस देश की मिट्टी से प्यार करने वाले लोगो को भी बड़े पैमाने पर जन धन की क्षति उठानी पडी।

हम अपने राजनीतिज्ञो का ध्यान इस ओर खीचना चाहेगे कि इस देश के लोगो ने एकता का स्वप्न देखा था और इस देश के लोगो ने बडे-बड़े बलिदान किये थे। देश के विभाजन के साथ स्वप्नभंग हो गये, बलिदान व्यर्थ हो गये, हम हार गये। यह हमारा दुर्भाग्य है कि जिस राष्ट्रीय एकता और अखड भारतीय संस्कृति के लिए महर्षि दयानन्द से लेकर बाद के नेताओं ने सघर्ष किया वह बाद के अदूरदर्शी नेतृत्व के कारण असफल रहा। यदि हमारे राजनीतिज्ञ स्वतन्त्रता पूर्व के सारे इतिहास पर विचार करते हुए सारी स्थिति पर पुनर्विचार करे और पुराने अनुभवो से लाभ उठाये तो उन्हें स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के ३३ वर्षो मे अपनायी गई नीतियो पर फिर से विचार करने की आवश्यकता प्रतीत होगी। यह सही है कि इन नीतियो पर पुनर्विचार करते समय उन्हे मुस्लिम और ईसाई वोट बैंकों का मोह छोडना होगा। जिससे देश की अखडता की रक्षा के लिए पिछले ३३ वर्षों के अनुभवो के आधार नई नीतियाँ तैयार की जा सकें।

नई नीतियों का निर्धारण करते समय उन्हें इस बात का ध्यान रखना होगा कि धर्म निरपेक्षता का सिद्धान्त केवल बहुमत के लिए नही है बल्कि वह सिद्धान्त देश के सभी वर्गों के लिए है। धर्म निरपेक्षता बहुमत के गले मे चक्की के पाट की भांति न लटकता रहे, बल्कि इसका बोझ भूमि पर समान रूप से पडना चाहिए। इस समय मुसलमान घोषणापूर्वक और ईसाई अपने पूरे व्यवहार मे धर्म निरपेक्षता को स्वीकार नही करते। यदि हमारे राजनीतिज्ञ इन दो मुख्य सम्प्रदायो को धर्म निरपेक्षता का सिद्धात स्वीकार करा सके तो इस देश मे उसकी कुछ उपयोगिता हो सकती है।

इस सिद्धात को बिल्कुल अस्वीकार कर दिया जाना चाहिये कि एक ही क्षेत्र में रहने वाले लोगो की दो अलग-अलग भाषाएं हैं। दो भाषाओ के सिद्धांतों ने हमारे समाज में बीज बोये हैं उन्हें भारतीय इतिहास से परिचित व्यक्ति भुला नही सकता।

इस प्रकार प्रत्येक सम्प्रदाय के लिए अलग-अलग कानूनो की व्यवस्था देश की एकता के मूलाधार पर ही प्रहार है। यह एक आश्चर्य की बात है कि देश के दो नागरिकों के लिए दो प्रकार के कानून हो।

यदि हम इन परिस्थितियो मे परिवर्तन नहीं कर सके और इसी प्रकार से धीमे-धीमे देश के नागरिको को अलग-अलग खेमो मे बाँटकर अलग-अलग व्यवस्थाएं करते रहे तो वह दिन दूर नही जबकि दो राष्ट्र का सिद्धात फिर से उठ खडा होगा और उस स्थिति मे इस देश के टुकड़े-टुकड़े होने मे कोई शक्ति नही बचा सकती।

# और किसका आश्रय लूँ ?

ओइम् न ह्य ंग नृतो त्वदन् विन्दामि राधसे। राये द्युम्नाय शवसे च निर्वंणः। ऋ० ८/२४/१२

(अंग) हे प्रिय (नृत) नचाने वाले! (राधसे) साधना सिद्धि व सफलता के लिए (त्वद्) तुझसे (अन्य) अन्य किसी को (न हि) नहीं (विदामि) पाता हूं (निर्वणः) हे वाणी से सभजनीय (राये) धन के लिए (द्युम्नाय) तेज के लिए (च) और (शवसे) बल के लिए मैं और किसी को नही पाता!

आश्रय किसका लिया जा सकता है? जो अपने से बड़ा और शक्तिशाली हो। शक्ति और बल के विषयो में विचार करते हैं तो प्रभु से बड़ा और महान् हमें कोई नहीं दिखाई देता। कभी कभी मनुष्य अभिमान या अवमान की अवस्था से ग्रस्त होकर मार्गभ्रष्ट हो जाता है। इन दोनों अवस्थाओं से बचने का एक मात्र तरीका है प्रभु के दोनो विराट रूप का दर्शन। यह वह रूप है जहा पहुंच कर मनुष्य के सब दुखो, कष्टों कामनाओं का अन्त हो जाता है। बूंद से पूछिए वह किसको खोज रही है? वह कहेगी समुद्र को। दीपक की लौ किसकी तलाश में है? वह सूर्य को खोज रही है जो ज्योतियो की ज्योति है—स्रोत है। मन से पूछो तू किसकी खोज में भटक रहा है तो वह कहेगा—उस लक्ष्य को पाने के लिए जहां पहुंचकर यात्रा की थकान मिट जाती है, जहाँ पहुंचकर आगे चलने की चाह नहीं रहती। वह कौन है? वह सबको नचाने वाला वह एकमात्र प्रभु है। छान्दोग्योपनिषद् का ऋषि कहता :-"यो वै भूमा तत्सुखम् नाल्पे सुखमस्ति 'जो महान है, फैला हुआ है, व्यापक है, उसी में सुख है अल्प सुख नहीं। महान में ही सुख है। इसलिए उसी महान प्रभु का आश्रय लो। वह प्रभु 'रसो वै सः रसो का रस है।

लेखक :
सुरेशचन्द्र वेदालंकार

इसलिए अनन्त आनन्द के लिए उसी की शरण जाना होगा। इस प्रभु की सत्ता को समझना हो तो देखो-नजर उठाकर इस विशाल विश्व को देखो, जिसके हर पत्ते की रचना को समझने में, मनुष्य का सपूर्ण ज्ञान, जिसका उसे अभिमान है असमर्थ है। उस प्रभु के नियम अटूट और अविचल है, जिनकी व्यवस्था अचम्भे में डालती है, जिसका न्याय अक्षुण्ण और अपूर्व है, सम्पूर्ण विषयों के भण्डार वेद जिसके निश्वास मात्र हैं अनन्तकाल से संसार में प्रकाश-प्रसार करने वाले सूर्य और चांद जिसकी लीला के निमेष मात्र है, ऊंची लहरो में उमडता समुद्र जिसकी आज्ञा से सीमा न छोड़ने को विवश हैं और जिसके हुकुम को बजाने के लिए हजारों आत्माएं हर समय हाथ जोड़कर खड़ी हैं। यही प्रभु जब प्रलय का महातांडव करता हैं, धरती कांप उठती हैं आसमान में चमकने वाले चन्द्र सूर्य और सितारे टूट पड़ते हैं, ऊंचे खड़े पहाड़ों के कण-कण चकनाचूर हो जाते हैं, विशाल समुद्र की बूंद-बूंद सूखकर आसमान मे विलीन हो जाती हैं। इस विशाल विश्व के सचालक प्रभु की कृपा से हमें ऐश्वर्य मिलता है, धन मिलता हैं, तेज मिलता है, बल मिलता हैं तब मैं दूसरी जगह क्यों भटकूं? इस 'अणोरणीयान् महतो महीयात्' अणु से अणु और महान् से महान् प्रभु के रूप का जो दर्शन कर लेता हैं तब वह उसे छोडकर कही और नही जाना चाहता। एक कवि ने प्रभु की विशालता का उल्लेख करते हुए कहा है :—

किसका था भूमं प्रलय सा
जिसमें ये सब विकल रहे।
अरे प्रकृति के शोभा चिन्ह ये
फिर भी कितने निबल रहे।
विकल हुआ सा कांप रहा था
सकल भूत चेतन समुदाय
उनकी करनी बुरी दशा थी
वे थे विवश और निरुपाय

सृष्टिकर्ता के लिए कुछ भी असंभव नहीं वह नीचे पड़े हुओं को उठाता है। डूबतो को बचाता है। पतित से पतित का उद्धार कर सकता है। उसकी एक वर्षा से सूखे और मुरझाए हुए घास पत्ती और पेड़-पौधे फिर से लहलहा उठते हैं। इसलिए हमें विश्वकर्ता की शरण के सिवाय और किसी का भरोसा नहीं। बिगड़े जीवन को वह बना देगा, सब तुच्छता को मिटा देगा, हमें महान बना देगा।

अतः यदि हम अपने को सुखी बनाना चाहते है तो हमें उस सुख सागर के पास जाना चाहिए। सिकन्दर, सीजर हिटलर, मुसोलिनी, हिन्दी अमीन सबने उसकी शक्ति को नहीं पहचाना, अपने को सब कुछ समझा पर कोई जीतेजी और कोई मरकर अपनी स्थिति में नही बचे -चले गये। अतः हे प्रभु' अब मैं तुम्हारी शरण से आया हूं, तुम्हारे सिवाय और कोई नहीं जो मुझे सफलता और सिद्धि दिला सके। मुझे धन तेज बल जो भी कुछ मिलता है, वह सब तेरा है, तेरी कृपा का पुल ही है। अतः मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ, भव सागर से पार करो।

छोड़कर नर नगर जाऊं कहां?
तुम सा वरदाता भूला पाऊं वहां?
शक्ति दो, धन दो प्रभो, बल दो मुझे
पूर्ण कर सब कामना फल दो मुझे।
गा रही सब वाणियां तुमको यहां
भेंट मैं अन्यत्र पहुंचाऊं कहां?

## काशी हिन्दू विश्वविद्यालय : मालवीय व्याख्यानमाला के अन्तर्गत सार्वदेशिक सभा के मन्त्री श्री ओम्प्रकाश त्यागी का भाषण।

छात्रसंघ काशी हिन्दू विश्व विद्यालय के तत्वावधान मे मालवीय व्याख्यानमाला के अन्तर्गत सार्वनिदेशक आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री श्री ओम्प्रकाश त्यागी का भाषण १६ नवम्बर १६८० को मालवीय भवन मे आयोजित किया गया। किसी भारतीय विश्वविद्यालय द्वारा सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री का प्रथम बार मानक भाषण आयोजित किया गया। श्री त्यागी जी ने महामना मालवीय जी की चिन्तन-धारा एव हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना के उद्देश्यो की विशद व्याख्या की। आपने बताया कि भारत को खण्डित करने के लिए इस समय तीन प्रकार के षड्यन्त्र कार्यरत हैं। साम्यवादी शक्तियां जो पहले दक्षिण भारत मे अलगाव पैदा करना चाहती थी, अब उत्तरी सीमा पर आक्रमण कर रही हैं। विदेशी एजेन्ट नागालैंड तथा अन्य पूर्वोत्तर प्रान्तों और आदिवासी क्षेत्रो मे अराष्ट्रीय मनोवृति उत्पन्न कर रही है। धर्म के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय सगठन बनाकर इस्लामी देश कश्मीर तथा अन्य विभिन्न स्थानों पर अशान्ति उत्पन्न कर रहे है। और पाकिस्तान को शस्त्र भेज रहे है। इन खतरो से निपटने के लिए राष्ट्रवादी शक्तियो को सशक्त बनना चाहिए। श्री त्यागी जी ने विद्यार्थियो का आह्वान किया कि वे दहेज प्रथा को समाप्त करने, जातीय भेद-भाव मिटाने और गरीबो की सेवा करने का व्रत लें, सभा के अध्यक्ष अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के वैज्ञानिक डा० रामलोचन सिंह जी ने अपने भाषण में विद्यार्थियो से अपील की कि वे अपने जीवन को उन्नत बनायें और इस विश्वविद्यालय में मालवीय जी के आदर्शों का प्रचार करें। अफ्रीका से पधारी हुई श्रीमती विद्यावती ने अपने देश में बसे भारतीयो के जन-जीवन का परिचय दिया। प्रारम्भ मे डा० आनन्द प्रकाश ने सभा-मन्त्री का परिचय देते हुए यह बताया कि वे ऐसे गिने-चुने व्यक्तियो मे से एक है जिन्होने सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक सभी क्षेत्रो मे उल्लेखनीय कार्य किया और देश-विदेश में व्यापक भ्रमण कर भारतीय संस्कृति के सशक्त प्रवक्ता के रूप अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की है। छात्रसघ के उपाध्यक्ष श्री गोपाल रेड्डी ने छात्रों की ओर से एव डा० रणधीर सिंह ने अध्यापको की ओर से मान्य वक्ता को धन्यवाद दिया।

□

अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष

# महिला जागृति में आर्यसमाज का योगदान

महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज ने महिला वर्ग की प्रगति और नारी जागरण के लिये जो कार्य किया है, अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष मे उस पर एक विहगम दृष्टि डालना उपयुक्त होगा। स्वामी दयानन्द सरस्वती और आर्य समाज ने यह कार्य दो रूप में किया : (क) सैद्धान्तिक रूप में (ख) रचनात्मक रूप में।

सैद्धान्तिक रूप मे देव दयानन्द भारत की समृद्ध आचार्य-परम्परा में सर्वाधिक उदार थे। नारी जाति के प्रति उनके हृदय में अपार स्नेह, ममता, निष्ठा तथा श्रद्धा की भावना थी। गांधीवादी भारत ने दयानन्द के भारत का विकास तथा परिष्कार किया था। नारी जागरण में गांधी जी का योगदान महर्षि के पश्चात् आता है। इसीलिए कांग्रेस के इतिहासकार डॉ० पट्टाभि-सीतारमैया ने यदि गांधीजी को 'राष्ट्र-पिता' कहा तो दयानन्द को 'राष्ट्रपिता-मह'। महात्मागांधी ने लिखा था कि "ब्रिटिश राज्य स्थापित होने के पश्चात् जनता के साथ सीधा सम्पर्क रखने का श्रेय महर्षि दयानन्द और उनके आर्य-समाज को प्राप्त है। महर्षि दयानन्द तथा उनके आर्यसमाज ने प्रजा में नव-चेतना पैदा की है। हिन्दू समाज की अनेक कुरीतियो को दूर करने का प्रयत्न किया है, राष्ट्रीय शिक्षण, स्त्री शिक्षण तथा दलितोद्धार आदि न भुलाई जा सकने जैसी राष्ट्र की महान सेवा की है। मुझे आर्यसमाज बहुत ही प्रिय है।"

एक बार दयानन्द ने एक मन्दिर के चबूतरे पर खेलती हुई छः वर्षीया बालिका के समक्ष अपना मस्तक झुका लिया था। लोगो ने इसे उन पर प्रतिमा की शक्ति का प्रभाव माना, परन्तु उन्होंने उत्तर दिया था :—मैंने अपना माथा मूर्ति को नहीं झुकाया, अपितु इस छोटी-सी बालिका को झुकाया है। मैं इसका अभिवादन कर रहा हू।

स्वामीजी चाहते थे कि भारतीय नारियां सुशिक्षित-सुसंस्कृता होकर गार्गी, मैत्रेयी आदि विदुषियों के समान महिमामंडिता बनें। नारी-उत्थान, नारी-शिक्षा तथा नारी-स्वातन्त्र्य की दिशा मे स्वामीजी के विचार प्रगतिशील थे। इस क्षेत्र में आर्यसमाज अपने युग से काफी आगे था।

उन्नीसवीं शताब्दी में, नारीजाति असंस्कार, अशिक्षा, परदा प्रथा, रूढ़ियो तथा अधकार से परिपूर्ण थी। न उसका कोई सम्मान था और न कोई प्रतिष्ठा। वह अत्यन्त उपेक्षिता, विस्मृता, त्यक्ता पद-दलिता, संत्रस्ता तथा दुखी थी। उसे नारकीय यातनाएं सहन करनी पडती थीं। उसे घोर परदा प्रथा में जकड़ दिया गया था। ऐसे परिवेश मे स्वामीजी शलाका पुरुष सिद्ध हुए।

स्वामीजी ही प्रथम आचार्य थे जिन्होंने यह उद्घोष किया कि नारी को वेद पढ़ने का पूरा अधिकार है। उनसे पूर्व समस्त आचार्यों ने स्त्रियों तथा शूद्रों को वेदाध्ययन से सर्वथा वंचित कर दिया था। इस क्षेत्र में स्वामी जी ने क्रांति का बिगुल बजाया और विद्रोह का मार्ग प्रशस्त किया। स्त्री जाति के प्रति पूर्व आचार्यों के संकुचित-सकीर्ण तथा कलु-षित विचारों की कारा के विध्वस का श्रेय आर्यसमाज को है।

स्वामी जी के युग में इस्लाम धर्म तथा ईसाई मत का जो प्रवाह चल रहा था उसमें भी स्त्रियों को स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्राप्त नहीं था। इस्लाम के मतानुसार स्त्रियों में कोई रूह नहीं होती ईसाई विचारधारा भी उनके साथ पुरुष के चाहे जैसे व्यवहार का समर्थन करती है।

लेखक :
डॉ. लक्ष्मीनारायण दुबे

वेदों की व्याख्या में स्वामी जी ने क्रांतिकारी परिवर्तन करते हुए आचार्यो की परम्परा से अलग हटकर, स्त्रियों के मामले में अनुकूल, विश्वसनीय और निष्ठामयी उपपत्तियां प्रस्तुत की और अनुदार अभिमतो का जबर्दस्त खडन किया। स्वामी जी ने ग्रन्थ लेखन, व्याख्यान, भाषण, प्रवचन शास्त्रार्थ तथा अपनी टिप्पणियो के द्वारा नारी-जाति के सम्मान तथा अभ्युत्थान मे अपना संपूर्ण योगदान दिया। इस दिशा मे उनका 'सत्यार्थप्रकाश' दीपस्तम्भ का कार्य करता है। जगद्गुरु आचार्य शकराचार्य ने 'ब्रह्मसूत्र भाष्य' मे वेदो के पठन-पाठन से स्त्रियो एव शूद्रो को सर्वथा वंचित कर दिया था।

सुविख्यात वेद भाष्यकार सायणा-चार्य भी वेदाध्ययन का अधिकार स्त्रियो को नही देते। इस बात को उन्होने अपने ग्रंथ 'ऋग्वेद सहिता भाष्य' मे स्पष्ट किया है। इस परम्परा के रहते हुए भी वैदिक धर्म के परम उद्धारक महर्षि दयानन्द ने अपने हृदय की विशालता, सहिष्णुता तथा उदारता का भव्य परिचय दिया। वे 'ऋग्वेदादिभाष्य' की भूमिका में सबको वेद शास्त्रों के पढ़ने का अधिकार प्रदान करते है। आर्य-समाज अपने पूर्व तथा युग के नारी अत्याचार को सहन नहीं कर सका। उसने सिंह गर्जना करते हुए घोषित किया कि नारी नर की अर्धांगिनी है। गृहस्थ के आधे अंग को पुरुष बनाता है तो आधा अग नारी के द्वारा निर्मित होती है। उसका उद्बोध वेदों के आधार पर यह है—

ब्रह्मचर्येण कन्यायुवानं विन्दते-पतिम्।

अर्थात् जैसे लड़के ब्रह्मचर्य सेवन से पूर्ण विद्या और सुशीलता को प्राप्त होकर युवती विदुषी तथा अपने अनुकूल नारियो के साथ विवाह करते हैं; वैसे ही कन्या भी ब्रह्मचर्य से वेदादि को पढ़कर युवा-अवस्था में अपने सहाय युवक-पुरुष को प्राप्त हो।

आर्यसमाज ने शुरू से ही नारियों को शुद्ध, पुनीत तथा यज्ञाधिकारिणी के रूप में स्वीकार किया—

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञियो इमाः।

आर्यसमाज नारियों को गृह-संर-क्षिका मानता है—

एषा ते कुलपा राजन्। तामुते परि-दद्मसि।

उसकी मातृभूमि से यह विनती है कि कन्याओ मे जो तेज होता है वह हमें प्रदान करा कन्यायां यद् भूमे। तेनास्मा अपि समृज।

आर्यसमाज महिलाओ को कल्याण-कारिणी तथा उद्देश्य-सहयोगी के रूप से स्वीकार करता है—सुमंगली प्रतरणी गृहाणाय।।

आज आर्यसमाज के सत्यप्रयासो तथा निरन्तर क्रियाशीलता के कारण ही समाज में नारियो को यथेष्ठ सम्मान तथा गौरवमय स्थान मिला है। उसने यह प्रमाणित कर दिया कि 'माता निर्माता भवति।'

'सत्यार्थ प्रकाश' तृतीय समुल्लास में उन्होने नारी जाति के अनेक तात्त्विक तथा व्यावहारिक प्रकरणों पर गंभीरता तथा सहानुभूति पूर्वक विचार किया है। उन्होने स्त्रियो के प्रति उच्चाभाव तथा सद्भाव प्रकट किए है। उन्होने वेदो मे कन्याओं को पढ़ने-पढाने के प्रभाव ढूढे और स्पष्टोक्ति की जो स्त्रियो के पठन का निषेध करते है, वे अपनी मुर्खता, स्वार्थ तथा निर्बुद्धिता का परिचय देते हैं। स्त्रियों को ब्रह्मचर्य तथा विद्या ग्रहण करना चाहिए। उनका स्पष्ट अभिमत का था कि स्त्री के लिए पति और पति के लिए पत्नी पूजनीय है। उन्होंने शतपथ ब्राह्मण (का० १४) से भी उद्धृत करके स्पष्ट किया है कि प्राचीन भारत मे भ्रमण रूप गार्गी=आदि वेदादि शास्त्रों को पढ़ के पूर्व विदुषी हुई थी। वे पुरुष विद्वान और स्त्री अविदुषी तथा स्त्री विदुषि और पुरुष अविद्वान के पग मे नही थे। ऐसी में तो नित्य प्रति घर मे देवासुर संग्राम मचा रहता है। उन्होने दृष्टात से पुष्टि की है कि आर्यावर्त्त के राजपुरुषों की स्त्रियां धनुर्वेद अर्थात् युद्ध विद्या भी अच्छी प्रकार जानती थी क्योंकि जो न जानती होती कैकेयी आदि दशरथ आदि के साथ युद्ध में क्यो कर जा सकती? उनके मतानुसार स्त्रियों को व्याकरण, धर्म वैद्यक गणित शिल्प विद्या आदि अवश्य सीखनी चाहिए। उन्होने चतुर्थ समुल्लास में बताया है कि लडकी की शादी दूर करनी चाहिए। उत्तम कुल के लड़के और लड़कियों का आपस में विवाह होना चाहिए। उन्होंने लड़की की शादी की आदर्श उम्र सोलहवें वर्ष से लेकर चौबीसवें वर्ष तक की मानी है। स्वामी जी की विचार धारा में इतनी आधुनिकता थी कि वे विवाह माता-पिता की सम्मति से नहीं अपितु, लड़के-लडकी की सम्मति से करने के पक्ष मे थे।

स्वामी जी तथा आर्यसमाज बहु-विवाह, वृद्ध विवाह, बाल विवाह अन-मेल विवाह, सती प्रथा, परदा पथा आदि के परम विरोधी रहे हैं। वे विधवा विवाह के परम पक्षधर थे। इन समस्त सामाजिक समस्याओ का सम्बन्ध नारी जगत् से रहा है।

इस प्रकार आर्यसमाज ने नारी को परदे तथा घर की दोहरी से बाहर निकालकर, स्वच्छ, निर्मल तथा स्वस्थ परिवेश में ससम्मान सस्थित किया। उसने समाज सुधार के अपने रचनात्मक कार्यक्रमों के अन्तर्गत नारी कल्याण को सर्व प्राथमिकता दी। आर्यसमाज ने स्त्री-शिक्षा के साथ ही साथ सार्वजनिक समारोहों में स्त्रियो की उपस्थिति के प्रति विशेषाग्रह किया। आर्यसमाज ने नारी जाति के कोढ दहेज प्रथा के विरोध मे आन्दोलन चलाया। स्वामी जी ने नारियो की स्वाधीनता, स्वाभिमान, शालीनता, मर्यादा, मुक्ति, सुरक्षा तथा जागरण की दुदुभि-बजायी और इस प्रकार भारतीय सस्कृति के उज्ज्वलतम पक्ष को प्रस्तुत किया। उन्होने महिला जगत् को नव जीवन, नव चेतना, नई नव स्फूर्ति तथा नई दिशा प्रदान की।

रचनात्मक कार्यो मे आर्यसमाज ने सर्वप्रथम नारी-शिक्षा की सुविन्यस्त व्यवस्था की। महर्षि के स्वर्गवास (सन् १८८३) के सिर्फ तीन वर्ष (सन् १८८६) बाद ही, देश मे जालधर मे सर्वप्रथम कन्या महाविद्यालय स्थापित हुआ।

पहले की अपेक्षा बाल विवाह और वृद्ध विवाह मे काफी कमी आ गई है। विधवा विवाह और अन्तर्जातीय विवाह बढ गए हैं। अंग्रेजो के शासनकाल में केन्द्रीय विधान परिषदो मे हरबिलास शारदा और चौधरी मुख्त्यारसिंह ने बाल विवाह पर प्रतिबध लगाने और अन्तर्जातीय अथवा अन्तधर्मीय हिन्दू शादी को वैध-घोषित करने सम्बन्धी दो कानून बनवाये। ये कानून 'शारद' 'एक्ट' तथा आर्य मैरिज ऐक्ट' कहलाते है। श्री दयानन्द जन्म शताब्दी के अवसर पर आर्य सम्मेलन के अधिवेशन में स्वामी श्रद्धानन्द ने यह प्रस्ताव प्रस्तुत किया था—

यह आर्य सम्मेलन निश्चय करता हैं कि शीघ्र ही लेजिस्लैटिव असेम्बली मे आर्य-विवाह बिल को उपस्थित कराया जाये ताकि अर्यसमाज के प्रचार मे जो बाधाए उपस्थित होती हैं; उनका निवारण हो सके और आर्य जनता में गुण कर्म और स्वभावानुसार विवाह आदि सस्कारों का प्रचार हो सके।

सन् १९३७ में जो बिल पारित हुआ। उसका मुख्य भाग यह है—

चाहे हिन्दू कानून प्रथा अथवा रिवाज कुछ ही हो आर्य समाजी पुरुष और स्त्री का कोई विवाह जो इस कानून के बनने से पूर्व अथवा पीछे आर्य समाज की विधि से सम्पन्न हुआ हो, फिर चाहे वह पुरुष और स्त्री भिन्न-भिन्न जातियो के हो या विवाह से पहले वह किसी अहिंदू धर्म को मानने हो, नियम विरुद्ध नहीं माना जायेगा।

गढवाल जिले में हरिजन कन्याए विवाहोपरान्त पालकी में बैठकर नही जा सकती थी क्योंकि सवर्णों ने उनका विरोध किया था। आर्यसमाज-सेवको ने उनकी पालकियां उठायी, लाला लाजपत राय ने उनको जनेऊ दिया और इस प्रकार समस्या का समाधान किया गया।

आर्यसमाज ने लडको की शिक्षा की अपेक्षा कन्याओं की शिक्षा पर अधिक बल दिया था। इससे पूर्व शिक्षा का प्रसार ईसाईयो द्वारा होता था। इसलिए आर्य समाजियों को ईसाईयों के एजेन्ट होने का लांछन भुगतना पडा। आर्यसमाजियों ने कन्या-शिक्षा का प्रसार करके ईसाईयों को मुंहतोड जवाब दिया था।

सैद्धान्तिक और रचनात्मक मोर्चे के बाद आर्यसमाज ने संगठनात्मक धरातल पर भी नारी समाज के लिए महत्वपूर्ण कार्य किए। स्वामी जी नागरिक निर्माण हेतु नारी को 'मातृमान् पितृ-'मानाचार्यवान् पुरुषोवेद,' की उक्ति के आधार पर सर्वोपरि गरिमा प्रदान करते थे। बम्बई में सन् १९१४ में आर्य स्त्री समाज की स्थापना की गई जिसमें साठ-सत्तर-नारियाँ सम्मिलित होती थीं। उनका प्रत्येक कार्य मे महत्वपूर्ण योगदान रहा करता था। सन् १९४७ में बम्बई में आर्य समाज अनाथाश्रम, आर्य हिन्दू शिशुगृह तथा आर्य बालाश्रम की स्थापना की गई थी। इनमे हिन्दू महिला को तथा बच्चों को सरक्षण प्रदान किया। इस समय आर्यसमाज की लगभग पाँच सौ महिला समाए हैं।

महिला शिक्षण सस्थाओं में आर्य कन्या महाविद्यालय बड़ौदा, कन्या गुरुकुल देहरादून, गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय कनखल, आर्य कन्या महाविद्यालय, आर्यसमाण, भूड, आर्य कन्या महाविद्यालय हापुड आदि विशेष उल्लेखनीय है।

आर्य महिलाओ मे श्रीमती दमयन्ती श्रीमती लक्ष्मी देवी, श्रीमती मीठांबाई, श्रीमती बेलुबाई दामजी, ईश्वरदेवी प्रभाकर, रुक्मिणीदेवी सोरोत, सुमित्रा देवी अमीन, सुशीला पण्डित जी, चन्द्रावती जी, कमल सिघवीं, प्रमिला बहेन मणिलाल शाह, यशोदाबेन पटेल, नर्मदाबेन वी० जेठवा, वीरादेवी जी, सुमित्राजी आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है। आर्यसमाज के अन्तर्गत आर्य वीरांगना दल भी है। श्रीमती शिवराजवती के आर्यसमाज सम्बन्धी गीतों को रिकार्ड का रूप प्राप्त हो चुका है।

आर्यसमाज का प्रदेय तथा महान उपलब्धि स्त्री-शिक्षा है जिस पर आज समूचे भारत को गर्व है। उसी का ही यह सुफल मिला कि गाधी जी द्वारा प्रवर्तित राष्ट्रीय आन्दोलन में नारियो ने पुरुषों के साथ-साथ कंधे से कन्धा मिलाकर कार्य किया और प्राणोत्सर्ग किये।

'आर्य समाज' ने भारत मे 'मनुस्मृति' के इस श्लोक को चरितार्थ कर दिया कि जिस गृह में स्त्रियों का सत्कार होता है, उसमें देवता रमण करते है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता :।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला क्रिया :।।

# आर्यसमाज के उत्सव और विशेष कार्यक्रम

पिछले सप्ताह आर्यसमाज माडल टाउन और आर्यसमाज कीर्ति नगर ने अपने वार्षिकोत्सवों का आयोजन किया। आर्यसमाज माडल टाउन ने ३० नवम्बर रविवार को एक विशेष कार्यक्रम का आयोजन किया, जिसमे श्री स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती की अध्यक्षता मे एक सम्मेलन हुआ। स्वामी जी के ओजस्वी भाषण का यह प्रभाव हुआ कि दिल्ली विश्वविद्यालय मे सस्कृत मे वेद विषय लेकर पढ़ने वाले, छात्रो के लिए छात्रवृतियो की घोषणाए की गई। इस अवसर पर स्वामी जी महाराज ने यह भी बताया कि एम. ए. के पाठ्यक्रम मे जो वैदिक मन्त्र पढाये जाते हैं उनका भाष्य महर्षि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य के आधार पर तैयार कर लिया गया है जिसके प्रकाशन की व्यवस्था की जा रही है। यह भाष्य आर्यसमाज के जाने-माने विद्वान और दिल्ली विश्वविद्यालय के सस्कृत विभाग के उपाचार्य डा. कृष्णलाल ने तैयार किया है। स्वामी जी की इन घोषणाओ का सम्मेलन मे हर्षध्वनि के साथ स्वागत किया गया।

सभा के मन्त्री श्री विद्या सागर विद्यालकार ने यहा स्वामी जी को उनके वेद सम्बन्धी कार्यो के लिए बधाई दी, साथ ही उन्होने देश की वर्तमान ज्वलत समस्याओ की ओर भी श्रोताओ का ध्यान खींचा। जिनके कारण आर्य-समाज को तथा देश को कठिनाइयो का सामना करना पड रहा है।

इस अवसर पर सभा की ओर से श्री प्रकाशवीर व्याकुल भी उपस्थित थे और उनके भजनोपदेशो का बहुत अच्छा प्रभाव रहा। श्री व्याकुल पिछले एक सप्ताह से निरन्तर समाज मे भजनोपदेश कर रहे थे।

इस कार्यक्रम में बच्चों को विशेष रूप से आमन्त्रित किया गया था। बच्चो के कार्यक्रम की सराहना तो हुई, इसके साथ ही आर्यसमाज मे बच्चो की रूचि को जागृत करने मे भी सहायता मिली।

आर्यसमाज कीर्ति नगर का वार्षिकोत्सव २५ नवम्बर से ३० नवम्बर तक मनाया गया। प्रारम्भिक तीन दिन दैनिक यज्ञ, वेद कथा, प्रवचन और भजनों तक सीमित रहे! २८ नवम्बर को स्वामी जगदीश्वरानन्द जी के निरीक्षण मे बड़ा यज्ञ हुआ और उन्होंने ध्वजारोहण भी किया। इसी दिन शाम को महाशय धर्मपाल जी की अध्यक्षता मे सगीत सम्मेलन हुआ। २९ तारीख मे महिला सम्मेलन हुआ जिसमे श्रीमती प्रेमशीला जी की अध्यक्षता मे वेद सर्वोत्तम क्यों है? विषय पर भाषण हुए। इसी दिन रात्रि को एक कवि सम्मेलन हुआ। ३० नवम्बर को यज्ञ की पूर्णाहुति हुई और दोपहर बाद वेद-सम्मेलन हुआ जिसकी अध्यक्षता स्वामी जगदीश्वरानंद जी ने की। वक्ताओ मे भूतपूर्व संसद सदस्य श्री शिवकुमार शास्त्री, महेशचन्द्र विद्यालकार, स्वामी मुनीश्वरानंद जी, आनन्दवेश जी और श्री वेदप्रकाश शास्त्री थे।

## आर्यसमाजों के सत्संग

१४-१२-८०

अन्धा मुगल, प्रताप बाग—श्रीमती प्रकाशवती शास्त्री, अमर कालोनी—पं० विष्णु देव प्रसाद विद्यालंकार, आर्यपुरा—पं० विश्व प्रकाश शास्त्री, आनन्द विहार—डा० रघुनन्दन सिंह, इन्द्रपुरी—पं० विजयपाल शास्त्री; किदवई नगर—पं० तुलसी राम भजनोपदेशक; कालकाजी—प० देवेश, करौलबाग—प० मुनि शंकर वान प्रस्थी; कोटला मुबारिक पुर—पं० सत्य भूषण वेदालंकार; गांधीनगर—प्रो० वीरपाल विद्यालंकार; गीता कालोनी—श्री मोहनलाल गांधी; ग्रेटर कैलाश-I—प० दिनेश चन्द शास्त्री; ग्रेटर कैलाश-II—पं० प्रकाश वीर व्याकुल, गुड़ मन्डी—प० ओम-प्रकाश भजनोपदेशक, १५१-गुप्ता कालोनी—प० गणेश प्रसाद विद्यालकार तथा पं० आशानन्द भजनोपदेशक; गोविन्द भवन दयानन्द वाटिका—आचार्य कृष्णगोपाल, जंगपुरा भोगल—श्रीमती लीलावती आर्या; जनकपुरी सी III—वैद्य राम किशोर, जनकपुरी बी ब्लाक—ला० लखमी दास; टैगोर गार्डन- स्वामी मिथिलेश, तिलक नगर—पं० ईश्वर दत्त एम० ए; तीमारपुर—आचार्य हरिदेव सि० भू०, दरियागज पं० खुशीराम शर्मा; नारायण विहार—पं० हरीश वेदी; न्यू मुलतान नगर—प० रामरूप शर्मा; न्यू मुलतान नगर—पं० महेन्द्र प्रताप शास्त्री; निर्माण विहार—आचार्य राम शरण मिश्र शास्त्री, पजाबी बाग—प० गुरुदत्त एम०ए, पजाबी बाग एक्स्टेनशन १४।१—प्रो० सत्यपाल बेदार; बाग कड़े खां—पं० बरकत राम भजनो-पदेशक, बसई दारा पुर—पं० जगदीश प्रसाद विद्यावाचस्पति; बिरला लाईन्स—डा० सुख दयाल भूटानी, माडल टाउन—पं० अशोक कुमार विद्यालंकार, माडल बस्ती—पं० ओमवीर शास्त्री; महावीर नगर—पं० वीरव्रत शास्त्री; महरौली—डा० वेद प्रकाश महेश्वरी; मोती नगर—पं० मजेन्द्रपाल शास्त्री, मोती बाग—पं० वेदपाल शास्त्री; रमेश नगर—पं० वेद व्यास भजनोपदेशक; राणा प्रताप बाग—प० प्रकाश चन्द वेदालंकार; लड्डू घाटी—पं० देवराज; लक्ष्मीबाई नगर—प० केशव चन्द्र मुन्जाल, विनय नगर—प० हीरा प्रसाद शास्त्री; सदर बाजार पहाड़ी धीरज—पं० प्राणनाथ सिद्धान्तालकार; सुदर्शन पार्क—प्रो० भारत मित्र शास्त्री; सराय रोहल्ला—श्रीमती सम्पदा आर्या; हौजखास ई-४६—पं० सत्यपाल मधुर भजनोप-देशक; शादीपुर—पं० सीसराम भजनोपदेशक; सरस्वती विहार सी-३४१—पं० सत्यदेव भजनोपदेशक; कृष्ण नगर—स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती।

आर्य जनता के पथ-प्रदर्शन, वेद-प्रचार को प्रगति देने एवं राष्ट्र की ज्वलन्त समस्याओं पर विचार हेतु

## दिल्ली आर्य महासम्मेलन

का आयोजन

**दिल्ली के रामलीला मैदान में**

बृहस्पतिवार, २५ दिसम्बर से रविवार २८ दिसम्बर १९८० तक

हैदराबाद आर्य सत्याग्रह के वीर सेनानी

**श्री रामचन्द्र राव वन्देमातरम्**

की अध्यक्षता में होगा।

**मुख्य आकर्षण :**

- वेद पारायण बहु कुण्डी महायज्ञ
- आर्य सम्मेलन
- वेद सम्मेलन
- सस्कृत सम्मेलन
- युवक सम्मेलन
- महिला सम्मेलन
- राष्ट्र सम्मेलन

**विशाल जलूस :**

२५ दिसम्बर को प्रातः १० बजे से महासम्मेलन का जुलूस

**स्वामी श्रद्धानन्द बलिदान दिवस**

के जुलूस में सम्मिलित रहेगा

इस महत्वपूर्ण आयोजन में देश के सुप्रसिद्ध संन्यासी महात्मा, विद्वान् राष्ट्रीय एवं सामाजिक नेता पधार रहे हैं। आप से अनुरोध है कि तन-मन-धन से अपना सहयोग देकर इस आयोजन को सफल बनायें और सपरिवार तथा इष्ट मित्रो सहित सम्मिलित होकर अनुगृहीत करें। निवेदक :

सरदारीलाल वर्मा, प्रधान — महाशय धर्मपाल
विद्यासागर विद्यालकार, मत्री — स्वागताध्यक्ष महासम्मेलन

**दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा (पंजीकृत)**

१५, हनुमान रोड, नई दिल्ली-१

दूरभाष : ३१०१५०, ३१११२८०

## डा० भवानीलाल भारतीय पंजाब विश्वविद्यालय में दयानन्द चेयर के अध्यक्ष

आर्य जगत् को यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता होगी कि प्रसिद्ध लेखक तथा अनुसंधान विद्वान् डा० भवानीलाल जी भारतीय को पंजाब विश्वविद्यालय चन्डीगढ़ के अन्तर्गत उच्चतर वैदिक अध्ययन हेतु स्थापित दयानन्द चेयर (पीठ) के प्रोफेसर तथा अध्यक्ष पद पर नियुक्त किया गया है। डा० भारतीय शीघ्र ही अपना कार्यभार संभालेंगे। यह स्मरणीय है कि डा० भारतीय विगत ३० वर्षों से आर्य समाज के साहित्य की सेवा में संलग्न हैं। अखिल भारतीय प्राच्य विद्या परिषद के ३०वें शान्तिनिकेतन अधिवेशन में डा० भवानीलाल भारतीय ने अपना निबंध "स्वामी दयानन्द की वैदिक अध्ययन को देन" विषय पर पढ़ा अब तक उनकी लगभग दो दर्जन पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। स्वामी दयानन्द तथा स्वामी विवेकानन्द' नामक ग्रन्थ पर उन्हें पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय पुरस्कार तथा आर्य समाज की अतीत कालीन उपलब्धियां तथा भविष्य के पंथ नामक पुस्तक पर पं० लेखराम स्मारक पुरस्कार मिल चुका है। भारतीय जी अजमेर स्थित परोपकारिणी सभा के संयुक्त मन्त्री हैं तथा सभा के मासिक शोध पत्र परोपकारी का विगत ७ वर्षों से सम्पादन कर रहे हैं। एक प्रौढ़ लेखक [illegible] के सम्पन्न वक्ता प्रमुख विचारक तथा चिंतक भी हैं।

□

उत्तम स्वास्थ्य के लिए गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, हरिद्वार की ओषधियाँ सेवन करें

शाखा कार्यालय : ६३ गली राजा केदारनाथ, चावड़ी बाजार, दिल्ली-६

रजि० सी (डी) ७३९

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के लिए श्री सरदारी लाल वर्मा द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा [illegible] ७२७/१-बी, गुरुनानक मार्केट, कोटीनगर दिल्ली-११ में मुद्रित। कार्यालय १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली [illegible] ३१०१५०

दिल्ली आर्यप्रतिनिधि सभा का साप्ताहिक मुखपत्र

एक प्रति ३५ पैसे, वार्षिक १५ रुपये वर्ष ४ : अंक ६ रविवार २१ दिसम्बर १६८० दयानन्दाब्द १५६

# आर्य महासम्मेलन के अध्यक्ष वीर शिरोमणि वन्दे मातरम् रामचन्द्र राव का भव्य स्वागत करें

## दिल्ली की आर्य जनता से सभा प्रधान श्री सरदारी लाल वर्मा का अपील

दिल्ली के रामलीला मैदान में २६ से २८ दिसम्बर १६८० को आयोजित आर्य महा सम्मेलन के मनोनीत अध्यक्ष आन्ध्र प्रदेश के सुप्रसिद्ध आर्य नेता वीर-शिरोमणि वन्दे मातरम् रामचन्द्र राव का दिल्ली आने पर भव्य स्वागत करके दिल्ली की आर्य जनता अपनी संगठित शक्ति का परिचय दे। वीर रामचन्द्र राव वह महानुभाव हैं जिन्हें अंग्रेज सरकार ने वन्दे मातरम् का उद्घोष करने पर चौबीस बैंतों की सजा दी थी। यह वीर प्रत्येक बैंत लगने के पश्चात् वन्दे मातरम् का उद्घोष करता ही रहा। उसके शरीर से बैंत पड़ने पर मांस के लोथड़े एवं रक्तधारा बह रही थी परन्तु [illegible] करने से वह वीर नहीं रुका।

यह [illegible] का समय था जब भारत वर्ष अंग्रेजों की शासन में पूरी तरह जकड़ा हुआ था। और यह [illegible] के [illegible] [illegible] के लिए [illegible] [illegible] हैदराबाद में निजाम सरकार के विरुद्ध आर्यसमाज का सत्याग्रह जोर पकड रहा था और जेलों मे हवन, संध्या, भजन, कीर्तन के साथ वन्दे मातरम् भी गाया जाने लगा। जब अंग्रेज जेलर को पता लगा तो उन्होने इसे रोकने के लिए सख्ती करनी प्रारम्भ की। वन्दे मातरम् गाने वालों का नेतृत्व श्री रामचन्द्र राव कर रहे थे। जेलर ने एकदिन इन्हें बुला कर वन्दे मातरम् का अंग्रेजी में भाव पूछा और उन्हें यह जयघोष करने से रोका। उस आज्ञा का पालन न करने पर उन्हें चौबीस बैंतों की सजा सुनाई गई। दूसरे दिन इस वीर को बुलाया गया और जेल के मैदान में इनके शरीर से कपड़े उतरवा दिए गये। दोनों हाथों में कमरे के ऊपर करके बांध दिया गया और एक [illegible] पहलवान को [illegible] कर बैंत लगाने की आज्ञा दी गई। प्रत्येक बैंत पर यह वीर वन्दे मातरम् कहता ही चला गया। सारे शरीर से लहू की धारा बह रही थी और मांस की बोटियां और लोथड़े निकल रहे थे। इस प्रकार के यह वन्दे मातरम् वीर हैं। ऐसे वीर का स्वागत करना प्रत्येक देश भक्त एवं आर्य बहिन भाई का कर्तव्य है।

यह भी एक सौभाग्य का अवसर है कि अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के बलिदान दिवस के भव्य शहीदी जलूस का नेतृत्व इस वर्ष आर्य महा सम्मेलन के अध्यक्ष श्री रामचन्द्र राव वन्दे मातरम् करेंगे।

मेरा दिल्ली की आर्य हिन्दू जनता से अनुरोध है कि बृहस्पतिवार २५ दिसम्बर को इस जलूस में भारी संख्या में भाग लेकर अपने कर्त्तव्य का पालन करें। यह जलूस प्रातः १० बजे स्वामी श्रद्धानन्द बाजार स्थित बलिदान भवन से चल कर यथा पूर्व नगर के मुख्य द्वारों से होता हुआ गांधी मैदान मे श्रद्धाञ्जलि सभा मे परिवर्तित होगा।

२६ से २८ दिसम्बर रामलीला मैदान मे विभिन्न सम्मेलनो एवं बहु कुण्डी वेद परायण महायज्ञ में दर्शनीय सुन्दर आयोजन में श्रद्धा एवं उत्साह पूर्वक भारी सख्या में पधार कर देश और धर्म की ज्वलन्त समस्याओ के परिप्रेक्ष्य में आर्यसमाज के भावी कार्यक्रम के विषय में अपने नेताओ के विचार सुनें और इस आयोजन को सफल बनाये।

## शंकराचार्यों को शास्त्रार्थ के लिए आह्वान

केन्द्रीय आर्य युवक परिषद की बैठक में एक प्रस्ताव द्वारा शंकराचार्यों द्वारा हरिजनों व स्त्रियों को वेद न पढ़ने एवं यज्ञ न करने के अधिकार हनन पर तीव्र प्रतिक्रिया की गई। तथा शंकराचार्यों एवं करपात्री जी को इस सम्बन्ध में शास्त्रार्थ के लिए आह्वान किया।

एक अन्य प्रस्ताव में परिषद् ने देश के सभी हरिजनों एवं स्त्रियों से अपने अधिकार हनन के विरोध में शंकराचार्यों द्वारा सब्जी मण्डी दिल्ली में १२ दिसम्बर से २२ दिसम्बर तक कराये जा रहे विष्णु महायज्ञ के अवसर पर शंकराचार्यों के समक्ष प्रदर्शन करने के लिए आह्वान किया।

इसी अवसर पर केन्द्रीय आर्य युवक परिषद् दिल्ली प्रदेश की ओर से भी यजुर्वेद परायण महायज्ञ १५ दिसम्बर से २२ दिसम्बर तक डेसू कालोनी, दिल्ली-७ मे कराया जायेगा।

**वेद मनन**

# अदिति के पुत्र प्रकाश प्रदान करते हैं

महित्रीणामवोऽस्तु द्युक्ष मित्रस्यार्यम्णः । दुराधर्षं वरुणस्य ।।यजु: ३-३१
नहि तेषाममा चन नाध्वसु वारणेषु । ईशे रिपुरघशंसः ।। यजु: ३-३२
तेहि पुत्रासो अदिते. प्रजीवसे मर्त्याय । ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम् । यजु: ३-३३

ऋषि:—सत्यधृतिर्वारुणिः । देवता-आदित्यः।

शब्दार्थ—(ते) मित्र, वरुण और अर्यमा (अदिते.) पूर्णता प्रदान करने वाली देवमाता के (पुत्रा स ) पुत्र हैं। वे (मर्त्याय जीव से) मर्त्य (प्राणी को जीवन प्रदान करने के लिए (अजस्र) निरन्तर (ज्योतिः) प्रकाश (यच्छति) देते हैं। (त्रीणा) तीनों अर्थात् (मित्रस्य) मित्रता की भावना उत्पन्न करने वाले प्राण का (वरुणस्य) शत्रुनाशक पाप, रोग निवारक अपान का (अर्यम्ण.) श्रेष्ठ जन को मान प्रदान कराने वाले तथा शत्रु को प्रतावित करने वाले व्यापक मन का (महि) महत्वपूर्ण (द्युक्ष) प्रकाश युक्त (दुराधर्ष ) किसी भी अनिष्ट से नष्ट न होने वाला (अवः) रक्षण तथा वर्धन (अस्तु) प्राप्त हो। (तेषां) तीनो अदिति पुत्रों से प्राप्त रक्षण वालो के (अमा) घर से (चना) तथा (वारणेषु अध्वसु) विघ्नयुक्त मार्गों में अथवा वर्णीय धर्म मार्गों में (अघशंस:) अनिष्ट चिन्तन करने वाला (रिपु:) आन्तर या बाह्य शत्रु (हि) निश्चय से (न) कभी भी नहीं (ईशे) प्रबलता प्राप्त करता है, या उन पर शासन करने में समर्थ होता है।

निष्कर्ष—१—मित्र वरुण और आदित्य तीनो अदिति देवमाता के पुत्र हैं। तीनों मिलकर मनुष्य के जीवन को पूर्णता प्रदान करने वाली ज्योति निरन्तर प्रदान करते रहते हैं।

२ - जिसके जीवन में इन तीनों का रक्षण प्राप्त है। उसके विघ्नयुक्त मार्गों में भी कोई अनिष्ट अचिन्तक शत्रु प्रबल होकर हावी नही हो सकता।

३—इसलिये हम प्रार्थना करते कि हममें—(क) प्राणी मात्र के प्रति मित्रता की भावना उत्पन्न हो, हम किसी का अनिष्ट न चाहें। इसके लिए हमे प्राण की साधना करनी होगी।

(ख) प्राणीमात्र को पवित्र करने—की इच्छा हो, उसके रोग, शोक, दु:ख दुरित को दूर करने का प्रयत्न चलता रहे। इसके लिए हमें अपान की साधना करके उसे अपने वश में करना होगा।

(ग) यदि मनुष्य मे मित्र वरुण की भावना स्थिर हो जाएगी तो वह अर्यमा (न्याय कर्ता) स्वय बन जाएगा। इस अवस्था में यदि वह किसी को दंड देगा तो वह भी डाक्टर की आपरेशन की तरह दया से प्रेरित और हित के लिए होगा।

४—इस मन्त्र का ऋषि सत्यधृतिः वारुणि है। यह संकेत करता है कि यदि मनुष्य अपने जीवन में सत्य को धारण करेगा, जिसे मानेगा उसे जीवन में अपनाएगा तो वह स्वय ही वरणीय भावनाओं से युक्त और निवारण करने योग्य भावनाओं से मुक्त होकर वरुण का सच्चा पुत्र वारुणि बन जायेगा। वारुणि बनने के बाद आदित्य=अदिति (परमात्मा) का पुत्र ईश्वर पुत्र (अर्य) बन जाएगा और अर्य की पूजा करने वाला तथा अरि (शत्रु) की हिंसा करने वाला अर्यमा बन जाएगा।

अर्थ-पोषक प्रमाण—प्राणो मित्रः। शत० ७-५-१-५ त्रिमिदा स्नेहने। अपानो वरुणः। शत० ८-४-२-६ वृञ् वरणे। नि-वारण करना।

अर्यमा—सप्त होतॄणां होता। ते. २-३-५-६ अर्यान् स्वामिनः श्रेष्ठ पुरुषान् मान्यान् करोति। स्वा० द० अरीन् नियच्छति। नि० ११-२३ इन्द्रियं वै सप्त होता। तै० २-२-८-२, इन्द्रियाणां होता—मनः।

अर्यमा—आर्यं आचार्यं मन्यते पूज्यत्वेन जानाति इति। भगवदाचार्यः अमा गृहनामसु। नि० ३-४। अमगति भक्ष शब्देषु। अजस्र निरन्तरम्। (स्वा० द०)

अघशंस:—अघं पाप अनिष्टं वा शंसति—पापाचार:।

अदितिः—'देवमाता! दो अवखंडने अ + दितिः—पूर्णता देने वाला अखंड परमात्मा।

वरुण:— शत्रुनाशक— पापनिवारक; वरुणं चरिशादसम्। ऋ: १-२-७

मित्र:—पवित्र बल वाला, हित-चिंतक, मित्रं च पूतदक्षम्। ऋ. १-२ ७

—मनोहर विद्यालंकार

**श्वेताश्वतर उपनिषद्**

# प्रकृति, जीव, परमेश्वर का अज तथा सुपर्ण के रूप में वर्णन

[गतांक से आगे]

वह जो एक है, अद्वितीय है—यः एकः, रंग-रूप रहित है—अवर्णः, उसने अपनी शक्ति से अनेक तथा रंग-रूप सहित—बहुधा शक्तियोगात् वर्णान् अनेकान्, वस्तुओं मे अर्थ, अर्थात् प्रयोजन निहित कर दिया है—निहितार्थः दधाति। स्वयं एक है पर अनेक वस्तुओं का निर्माण कर दिया, स्वयं अवर्ण है परन्तु सवर्ण वस्तुओं को पैदा कर दिया, स्वयं का कोई प्रयोजन नहीं परन्तु सब वस्तुओ में प्रयोजन डाल दिया—ऐसी शक्ति है भगवान् की। वह परमात्मदेव ससार का अन्त में संहार कर देता है—विच एति अन्ते, परन्तु आदि में विश्व का निर्माण करता है—विश्वं आदौ सः। ऐसा परमात्मदेव हमें शुभ बुद्धि से युक्त करे—देवः स नः बुद्धया शुभया संयुनक्तु ।।१।।

वही देव अग्नि है, वही आदित्य है, वही वायु है, वही चन्द्रमा है, वही शुक्र है, वही ब्रह्म है, वही जल है, वही प्रजापति है ।।२।।

हे देव ! तू ही स्त्री है, तू ही पुरुष है, तू ही कुमार है, तू ही कुमारी है, तू ही वृद्ध होकर दंड से हमें ठग लेता है—हम तुझे इन भिन्न-भिन्न रूपों में अलग-अलग समझ कर भरमा जाते हैं, पर असल में सब तू—ही—तू हैं। तू जब सृष्टि के रूप में प्रकट होता है, तो स्वयं एक होता हुआ भी नाना-रूप हो जाता है—त्वं जातः भवसि विश्वतोमुखः ।।३।।

इस उपनिषद् में सृष्टि के तीन अनादि-तत्व माने गए हैं। तीनों को 'अज' कहा है। 'अज' दो अक्षरों से बना है—'अ' तथा ज। 'अ' का अर्थ है—नहीं, 'न' का अर्थ है—जन्म। जो उत्पन्न नहीं हुआ, सदा से वर्तमान है, अजन्मा है, अनादि है, उसे 'अज' कहते हैं। जीव तथा परमात्मा 'अज' हैं—अजन्मा हैं। प्रकृति स्त्री-लिंगी होने के कारण 'अजा' है। प्रकृति के लिए कहा गया है—'सत्व रजस् तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः'—सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण की समावस्था का नाम प्रकृति है। सतोगुण का प्रत्यक्ष रूप शुक्ल है, रजोगुण का प्रत्यक्ष रूप लोहित है, तमोगुण का प्रत्यक्ष रूप कृष्ण है। इस सब आधार को सम्मुख रखकर ५वें श्लोक में कहा गया है कि एक अजा है जिसका स्वरूप लोहित कृष्ण है—अजां एकाम् लोहित शुक्ल कृष्णां, वह अजा, अर्थात् प्रकृति, जो अपने जैसे अनेक प्रकार के पदार्थों का सर्जन कर रही है—बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः, उसे दूसरा अज, अर्थात् जीव—अजः हि एकः, भोग रहा है, उसके साथ सबंध कर रहा है—जुषमाणः अनुशेते, और तीसरा अज, अर्थात् परमेश्वर इस भोग-भुक्ता अजा, अर्थात् प्रकृति को छोड़ कर अलग रहता है, वह प्रकृति का भोग नहीं करता—जहाति एना भुक्तभोगां अजः अन्यः। इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि एक अजा अर्थात् प्रकृति है, और दो प्रकार के अज, अर्थात् दो प्रकार के जीव हैं। एक जीव प्रकृति के भोग में लगा, दूसरा जीव प्रकृति से अपने को अलग रखता है, उसे छोड़ देता है। प्रकृतिवादी भोग का जीवन बिताता है, अध्यात्मवादी त्याग का जीवन बिताता है ।।५।।

लेखक :
सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

उक्त श्लोक में जिस 'अज' को 'अज'—नाम से कहा, उसी को छठे श्लोक में 'सुपर्ण'—अर्थात् पक्षी के रूप में कहा है। क्या कहा है? दो सुन्दर पक्षी हैं—द्वा सुपर्णा, साथ-साथ मिल-जाल के रहते हैं—सयुजा सखाया के

(शेष पृष्ठ ८ पर)

## आर्यसमाजों के सत्संग

२१-१२-८०

अन्धा मुगल प्रताप नगर—पं० सत्य काम वेदालंकार; अशोक विहार के सी ५२-ए पं० वेद व्यास भजनोपदेशक; आर्य पुरा—पं० जगदीश प्रसाद विद्यावाचस्पति; आनन्द विहार—पं० विश्व प्रकाश शास्त्री; इन्द्रपुरी—पं० प्रकाशवीर व्याकुल; किंग्जवे कैम्प—पं० खुशीराम शर्मा; किशन गंज मिल एरिया—प० राम रूप शर्मा; कालका जी डी० डी० ए फ्लैटस—पं० मनोहर विरक्त, गांधी नगर—पं० विजयपाल शास्त्री; गीता कालोनी—पं० तुलसीराम भजनोपदेशक, ग्रेटर कैलाश-I—आचार्य राम शरण मिश्रा शास्त्री; गुड़ मन्डी—आचार्य कृष्ण गोपाल; १५१- गुप्ता कालोनी—स्वामी स्वरूपा नन्द भजनोपदेशक तथा पं० ज्योति प्रसाद ढोलक कलाकार; गोविन्द पुरी—पं० देवेश; गोविन्द भवन दयानन्द वाटिका—प्रो० वीरपाल विद्यालंकार; जंगपुरा भोगल—पं० गणेश प्रसाद विद्यालंकार; जनकपुरी बी ब्लाक—श्रीमती प्रकाशवती शास्त्री; जहांगीर के-१४३६—पं० वेदपाल शास्त्री; टैगोर गार्डन—पं० महेन्द्र प्रताप शास्त्री; तिलक नगर—पं० वीर व्रत शास्त्री; तीमारपुर—प० विष्णु देव प्रसाद विद्यालंकार; दरियागंज—पं० केशव चन्द—मुन्जाल; नारायण विहार—वैद्य राम किशोर; पंजाबी बाग—डा० सुखदयाल भूटानी; पंजाबी बाग एकस्टेंशन १४।३—श्री चिमन लाल; पश्चिम पुरी जनता क्वार्टर्स—आचार्य हरिदेव सि० भू०, बाग कड़े खां—पं० बरकत राम भजनोपदेशक; बिरला लाईन्स—पं० प्रकाश चन्द वेदालकार, माडल बस्ती—पं० ईश्वर दत्त एम० ए०; महरौली—श्रीमती लीलावती आर्या; मोती नगर— प्रो० सत्यपाल बेदार; रघुबीर नगर—श्रीमती सम्पदा आर्या; रमेश नगर—ला० लखमी दास; राणा प्रताप बाग—प० प्राण नाथ सिद्धान्तलंकार; लड्डू घाटी—पं० ओमप्रकाश भजनोपदेशक; लाजपत नगर—पं० हीरा प्रसाद शास्त्री; विक्रम नगर—पं० सीसराम भजनोपदेशक; सुदर्शन पार्क—प्रो० भारत मित्र शास्त्री; सराय रोहिल्ला—पं० भजेन्द्रपाल शास्त्री; सोहनगंज—पं० आशा नन्द भजनोपदेशक; श्री निवास पुरी—श्री मोहन लाल गांधी; हनुमान रोड—पं० शिवकुमार शास्त्री; हौज खास ई-४९ पं० मुनि शंकर वान प्रस्थी; शादीपुर—पं० देव राज वैदिक मिशनरी; सरस्वती विहार—पं० सत्यपाल मधुर भजनोपदेशक; ।

## आर्यसमाजों की गतिविधियां

आर्य समाज लल्लापुरा वाराणसी का वार्षिकोत्सव १८ दिसम्बर से २१ दिसम्बर ८० तक अतिरिक्त जिलाधीश कार्यालय के मैदान में समारोह पूर्वक संपन्न होगा। इस अवसर पर आर्य-जगत् के विख्यात आर्य संन्यासी, महापदेशक, एवं प्राध्यापक और भजनोपदेशक पधार रहे हैं।

### आर्यसमाज नारायणा विहार की स्थापना

आर्य समाज नरायण विहार नई दिल्ली २८-के. ब्लाक (पंजाब नैशनल बैंक के पीछे) की भूमि में, नई दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के वरिष्ठ उप-प्रधान एवं आर्य महासम्मेलन दिल्ली के स्वागताध्यक्ष श्री महाशय धर्मपाल जी की अध्यक्षता में, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री लाला रामगोपाल जी वानप्रस्थ (शालवाले) के द्वारा रविवार २१ दिसम्बर को मध्यान्ह १२ बजे आर्यसमाज मन्दिर का चारों वेदों सहित) शिलान्यास होगा। कार्यक्रम प्रातः ७-३० बजे हवन-यज्ञ से प्रारम्भ होकर १-३० बजे तक ऋषि लंगर के साथ सम्पन्न होगा।

### निर्वाचन

आर्य समाज अशोक नगर (रजि.) नई दिल्ली-संरक्षक—श्री सुखदेव जी, श्री राजाराम आर्य, श्री होशियार सिंह जी, श्री देवेश्वर जी महेन्द्र, प्रधान—श्री पुरुषोत्तम जी सेठ, मन्त्री श्री प्रकाश चन्द्र आर्य, कोषाध्यक्ष—श्री मिट्ठन लालजी।

### 'धर्म स्वतन्त्रता बिल १९८०' का घोर विरोध

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री ला. रामगोपाल शालवाले ने समस्त आर्यसमाजों को आदेश दिया है कि वे २१ दिसम्बर ८० के साप्ताहिक सतसंग में श्री रामजेठ मलानी के 'धर्म स्वतन्त्रता बिल १९८०' का घोर-विरोध करें, साथ ही भारतीय जनता पार्टी के अध्यक्ष श्री अटल बिहारी बाजपेयी से अनुरोध करें कि वे श्री जेठमलानी को इस बिल को वापिस लेने के लिए बाध्य करें अन्यथा उन्हें पार्टी से निष्कासित कर दें।

ओ३म्                कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

# आर्य सन्देश

दिल्ली आर्यप्रतिनिधि सभा का साप्ताहिक मुखपत्र

एक प्रति ३५ पैसे, वार्षिक १५ रुपये | वर्ष ४ : अंक ११ | रविवार ११ जनवरी १९८१ | दयानन्दाब्द १५६

# आर्य महासम्मेलन सफलता पूर्वक सम्पन्न

## वेद प्रचार की वृहद् योजना बनाने और समाज निर्माण के कार्यों को तीव्रगति देने के निर्णय :

## 'राष्ट्र-रक्षा के लिए आर्यसमाज फिर आन्दोलन का रूप धारण करे।

देश की विस्फोटक स्थिति के परिप्रेक्ष्य में हिन्दुओं के पथ प्रदर्शन, वेद प्रचार को प्रगति देने एवं राष्ट्र की ज्वलन्त समस्याओं पर विचार करने के लिए दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्त्वावधान में गत २५ से २८ दिसम्बर तक 'आर्य महासम्मेलन' का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता स्वतन्त्रता सेनानी श्री रामचन्द्र राव 'वन्देमातरम्' ने की। दिल्ली व आसपास के क्षेत्रों की आर्य जनता भारी संख्या में सम्मिलित हुई और यह महासम्मेलन सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ।

२५ दिसम्बर को स्वामी श्रद्धानन्द जी की बलिदान-जयन्ती के अवसर पर विशाल शोभा यात्रा निकाली गई जिसका आयोजन केन्द्रीय सभा ने किया था।

२६ दिसम्बर को महासम्मेलन का समारम्भ स्वामी विद्यानन्द सरस्वतीजी द्वारा ध्वजारोहण से हुआ। तीनों दिन सुबह शाम बहुकुण्डी महायज्ञ होता रहा।

इस सम्मेलन में संस्कृत सम्मेलन, वेद सम्मेलन, महिला सम्मेलन, राष्ट्र रक्षा सम्मेलन का भी आयोजन किया गया।

संस्कृत सम्मेलन में इस बात पर जोर दिया गया गया कि संस्कृत देश की सभी भाषाओं की जननी है और स्कूलों में इस भाषा का अध्ययन अनिवार्य होना चाहिए। श्री गुलाबसिंह राघव ने संस्कृत में गीत गाकर जनता को मन्त्र-मुग्ध कर दिया।

वेद सम्मेलन में मांग की गई कि वेदों के अध्ययन व अध्यापन के लिए सभी विश्वविद्यालयों में दयानन्द पीठ स्थापित किये जायें।

राष्ट्र रक्षा सम्मेलन में वक्ताओं ने जोर दिया कि आर्यसमाज को फिर एक आन्दोलन का रूप धारण करना चाहिए।

## 'आर्यसमाज के सम्पर्क से ही मैं ऊंचे पद पर पहुंच सका'

—विधि मन्त्री श्री शिवशंकर

२५ दिसम्बर को स्वामी श्रद्धानन्द की बलिदान जयन्ती के अवसर पर बोलते हुए केन्द्रीय-विधिमंत्री श्री शिवशंकर ने कहा कि "आर्य समाज के सम्पर्क में आने से ही मैं इस ऊंचे पद पर पहुंच सका हूं।"

स्वामी श्रद्धानन्द जी की जयन्ती पर आमन्त्रित होने को अपना सौभाग्य मानते हुए मंत्री महोदय ने कहा कि हैदराबाद रियासत में जो धार्मिक और राजनीतिक क्रान्ति हुई थी उसका श्रेय केवल आर्य समाज को है।

श्री शिवशंकर ने खेद प्रकट किया कि हैदराबाद के भारत में विलय के बाद वहां के आर्य प्रभावी नेता राजनीति में कूद पड़े। उन्होंने कहा कि इससे आर्यसमाज की धार्मिक, सामाजिक और नैतिक क्रान्ति की प्रगति रुक गई।

उन्होंने आशा प्रकट की कि आर्यसमाज आज की युवकों को नैतिक पतन से बचाकर उन्हें देश तथा जाति की सेवा के लिए प्रेरित कर सकता है।

इस सार्वजनिक सभा की अध्यक्षता वैदिक साधु आश्रम रोपड़ (पंजाब) के अधिष्ठाता स्वामी वेदानन्द ने की।

इससे पहले आर्य केन्द्रीय सभा के तत्वावधान में दिल्ली के तथा आसपास के क्षेत्रों के आर्यसमाजियों ने एक विशाल जलूस निकाला। स्वतन्त्रता सेनानी श्री रामचन्द्र राव 'वन्देमातरम्' ने इस जलूस का नेतृत्व किया।

श्रीमती शकुन्तला आर्य, श्री पृथ्वी सिंह आजाद श्री शमीम अहमद शमीम, हरिकीर्तन सभा के लाला आज्ञाराम आदि वक्ताओं ने स्वामी जी के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की।

—ओमप्रकाश, मंत्री आर्य केन्द्रीय सभा

## 'वेदों का सन्देश आम जनता तक पहुंचायें'

—श्री जैल सिंह

नयी दिल्ली, २८ दिसम्बर, केन्द्रीय गृहमन्त्री श्री जैलसिंह ने आज यहां कहा कि अभी भी महर्षि दयानन्द तथा वेदों का सन्देश आम जनता तक नहीं पहुंचा है। उन्होंने कहा कि आर्यसमाज इस कार्य को पूरा करने में आगे आये।

श्री जैलसिंह ने कहा कि आर्यसमाज ने ऐसे युवा पैदा किये जिन्होंने स्वतन्त्रता संग्राम में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने कहा कि महर्षि दयानन्द ने न केवल कुरीतियों को दूर किया बल्कि देश को स्वतन्त्र कराने में भी सहयोग दिया।

गृहमन्त्री ने आर्यसमाज के कार्यो और गतिविधियों की प्रशंसा करते हुए कहा कि छुआछूत को दूर करने, स्त्रियों को बराबरी का दर्जा दिलवाने, रूढ़िवाद को खत्म करने तथा शिक्षा के क्षेत्र में उस समय कार्य किया जब देश मे अन्य संस्थाएं इस ओर सोच भी नही पा रही थीं।

इससे पहले श्री जैलसिंह का स्वागत महाशय धर्मपाल, लाला रामगोपाल शालवाले तथा अन्य नेताओं ने किया। श्री वीरेन्द्र ने कहा कि श्री जैलसिंह आर्यसमाज के हर काम मे सहायक रहे हैं।



सम्पादक—वि० सा० विद्यालंकार

वेदमनन :

# अबाध गति रथ

**परि ते दूडभो रथोऽस्माँ अश्नोतुविश्वत: । येन रक्षसि दाशुष: । यजु: ३-३६**

ऋषि:—वामदेव । देवता-अग्नि ।

शब्दार्थ – हे (अग्ने) सबकी उन्नति चाहने वाले परमेश्वर (येन) जिस रमणीय साधन ज्ञान-विज्ञान द्वारा अथवा जिस शरीर रथ को प्रदान करके आप (दाशुष) ईश्वरार्पण कर्म करने वाले भक्तो की (रक्षसि) रक्षा करते हैं। (ते) आपका (दूडभ) अबाधित अर्थात् सर्वत्र गति करने मे समर्थ ज्ञान विज्ञान और कर्मानुसार प्राप्त शरीर रथ (विश्वत) सब प्रकार से (परि) सब परिस्थितियो मे (अश्नोतु) व्याप्त हो—प्राप्त रहे।

निष्कर्ष- -१—परमेश्वर द्वारा प्रदत्त शरीर, योनि के अनुसार अपनी मर्यादा में रहते हुए सर्वत्र अबाध गति होता है।

२—परमेश्वर द्वारा प्रदत्त ज्ञान-विज्ञान के साधन बड़े दुर्गम अर्थात् कष्ट साध्य हैं। लेकिन जो उन्हें प्राप्त कर लेता है उसकी सर्वत्र अबाध गति हो जाती है।

३—परमेश्वर आत्मार्पण करने वाले लोक कल्याण में लगे। भक्तो का सदा ध्यान रखता हैं, विपत्ति पड़ने पर उनकी रक्षा करता है।

४–मनुष्य यदि अपने शरीर (रथ) को अबाध गति स्वस्थ रखना चाहता है तो उसे अपनी इन्द्रियों को सुन्दर, स्वस्थ रखना चाहिए। कभी उनके अधीन होकर कुमार्गगामी नहीं नहीं बनना चाहिये।

५—यदि सब इन्द्रियां स्वस्थ सुन्दर रहेगी। तो ज्ञान-विज्ञान प्राप्ति के रमणीय साधन स्वय प्राप्त होते रहेगे। उसका शरीर जीवन पर्यन्त अबाधगति होकर ईश्वरार्पण, कर्मों में लगेगा। वह अग्नि का सखा समानधर्मा बनेगा। परमात्मा उसकी सदा रक्षा और वृद्धि मे सहायक बना रहेगा।

अर्थ पोषक प्रमाण—रथ.—रयतं जानाति येन स.—विज्ञानम्। स्वामी दया०

रथ:—रमते अस्मिन् येन वा स:—यानं शरीरं पादोवा। हंसादिक ोष।

रथ: —रमण साधनं—ज्ञानं विज्ञानं शरीरं च।

दूडभ:—दु:खेन हिंसितुं योग्य: —अबाधगति। दुर्दभ: दुर्गमो वा।

वामदेव:—वाम (सुन्दर+स्वस्थ) +देव (इन्द्रियां) अग्नि:—अग्रेनयति।

आत्मानं रथिन विद्धि शरीरं रथमेव च।

—मनोहर विद्यालंकार



श्वेताश्वतर उपनिषद्

# प्रकृति, जीव, परमेश्वर का क्षर-अक्षर के रूप में वर्णन

[गतांक से आगे]

इस उपनिषद् में मुख्य तौर पर त्रित्ववाद पाया जाता है। बार-बार प्रकृति-जीव-ईश्वर का उल्लेख मिलता है। पहले प्रकृति को 'अजा' तो जीव तथा ईश्वर को 'अज' कहा, फिर प्रकृति को 'वृक्ष' तथा उस पर बैठे दो पक्षियों 'सुपर्णा' का जिक्र किया जिनमे से एक वृक्ष का फल खाता है, दूसरा सिर्फ देखता है। इस अध्याय मे दो 'अक्षरो' का वर्णन है, इन दो के अलावा तीसरे ब्रह्म का वर्णन है जो है तो अक्षर, परन्तु उसे यहा अक्षर नही कहा, इन सब से प्रतीत होता है कि उपनिषदो मे भले ही 'सर्व खल्विद ब्रह्म' का वर्णन हो, परंतु साथ ही ब्रह्म के अतिरिक्त जीव तथा प्रकृति का भी अज, सुपर्णा, अक्षर आदि नामो से उल्लेख हैं। इस अध्याय का आरम्भ करते हुए कहा गया है :

दो 'अक्षर' हैं। 'अक्षर'—अर्थात्, जो खरते नही, नित्य हैं—ये'अक्षर'। ये दो अक्षर ब्रह्म पर हैं —अर्थात्, ब्रह्म ही इनका लक्ष्य है—ब्रह्मपरे—ब्रह्म ही इनका आधार है, ब्रह्म पर ही ये टिके हुए हैं, परंतु येदोनो अनंत हैं—तु अनंते इन दोनों में से एक में विद्या गूढ़ रूप में, छिपे रूप मेंविद्यमान हैं, दूसरे में अविद्या भरी पड़ी है—विद्या अविद्या निहिते यत्र गूढे। विद्या जीव का और अविद्या प्रकृति का गुण है। इनमे से अविद्या टिकने वाली नहीं है—क्षरं तु अविद्या, और निश्चय से विद्या अमरता देने वाली है—हि अमृत तु विद्या। प्रकृति तथा जीव के अतिरिक्त एक अन्य है जो विद्या तथा अविद्या का नियमन करने वाला है—विद्या अविद्या ईशते य:तु स. अन्य. ॥१॥

लेखक :
सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

इस श्लोक में चार बातें कही गई हैं। पहली बात यह है कि 'अक्षर'—सताएं तीन हैं—प्रकृति, जीव तथा ईश्वर; दूसरी बात यह है कि इन तीनों में से एक ब्रह्म है, अन्य दो—प्रकृति तथा जीव ब्रह्म पर आश्रित हैं—ब्रह्मपर है, तीसरी बात यह है कि विद्या जीवात्मा का और अविद्या प्रकृति का स्वाभाविक गुण हैं, चौथी बात यह है कि विद्या तथा अविद्या दोनों का नियमन ईश्वर कर रहा है। ईश्वर के विषय में २,३,५ श्लोकों में कहा है।

वह इकला एक-एक कारण अधिष्ठाता है—य: योनिं योनिं अधितिष्ठति एक। इन कारणों से जो कुछ निर्माण होता है, जिस-किसी रूप का भी निर्गाण होता है—विश्वानिरूपाणि, और इन कारणों से जो अन्य कारण उत्पन्न हो जाते हैं· योनी: च सर्वा:, उन सब का वही अधिष्ठाता है—योनि: स्वभावान् अधितिष्ठति एक:। सब को फल देने वाला वही है—सर्वान् परिणामयेत् य:, वही इकला विश्व का अधिष्ठाता है—सर्वम् एतत् विश्वम् अधितिष्ठति एक:, प्रत्येक वस्तु के गुण का विनियोजन वही करता है—गुणान् च सर्वान् विनियोजयेत य: ॥२, ३, ५॥

## जीव के विषय में विचार

जीवात्मा सत्य, रज, तम—इन तीनों गुणों के पीछे चलने वाला है—गुण अन्वय:, जीवन में जो सुख-दु:ख आदि कर्मों के फल मिलते हैं उन कर्मों को करने वाला जीव ही है—कर्म फल कर्ता, जो कर्म वह करता है—कृतस्य, उसका वह उपभोक्ता है—तस्यैव च उपभोक्ता, यह नहीं हो सकता कि वह कर्म करे—अच्छा या बुरा और उसका फल वह न भोगे। वह अपने कर्मों के फल के अनुसार सब प्रकार के रूपों को धारण करता है—स: विश्वरूप:। क्योंकि वह सत्व, रज, तम—इनके द्वारा त्रिगुणात्मक है इसलिए उसके जीवन के मार्ग भी तीन प्रकार के हैं—त्रिगुण. त्रिवर्त्मा· प्राणों का वह स्वामी है—प्राणाधिप, अपने कर्मों के कारण वह भटकता-फिरता है—संचरति स्वकर्मभि·। ॥७॥

जीवात्मा का रूप क्या है, परिमाण क्या है? इस सम्बन्ध में चर्चा करते हुए अगले श्लोकों में कहा है—जीवात्मा अंगुष्टमात्र है—अंगुष्ठमात्र:, परन्तु फिर भी सूर्य के समान है—रवि तुल्य रूप:—अर्थात्, सूर्य के तुल्य उसका प्रकाश है। ऐसे रूप के साथ दो गुण और जुड़ जाते हैं—वे हैं 'संकल्प (Determined will) तथा 'अहंकार' (Ego) —संकल्प अहंकार समन्वित: य:। सकल्प बुद्धि का गुण है, अहकार आत्मा का गुण है—बुद्धे· गुणेन आत्मगुणेन च एव। इस प्रकार भौतिक (अंगुष्ठमात्र) तथा मानसिक (संकल्प तथा अहंकार) गुणों वाला आत्मा सुई के नोक के बराबर—आरा अग्रमात्र: —है। यह आत्मा अपर है, अर्थात् इस प्रकार के गुणों वाला कोई दूसरा नहीं है—हि अपर: अपि दृष्ट: ॥८॥

अंगुष्ठमात्र का अर्थ अंगूठे के समान—यह नहीं है। अंगूठे के समान का अर्थ है, इतना सूक्ष्म जैसा बड़े-से शरीर में छोटा-सा अंगूठा होता है। इस बात को स्पष्ट करते हुए अगले श्लोक में कहा है यदि बाल के अग्रभाग के सौ भाग किये जायें—बाल अग्रभागस्य, और फिर उसके सौ भागों की कल्पना की जाय—शतधा कल्पितस्य च, तो उस

(शेष पृष्ठ ६ पर)

## सम्पादकीय

# आभार-प्रदर्शन

आर्य महासम्मेलन दिल्ली के रामलीला मैदान में गत २६ से २८ दिसम्बर को सफलता पूर्वक सम्पन्न हुआ। आयोजन के प्रबन्ध में अनेक प्रकार की कठिनाईयां उपस्थित हुई परन्तु प्रभु कृपा से समस्त प्रबन्ध बहुत ही उत्तम प्रकार से हो गया। २१ दिसम्बर से शीत लहर एवं बादलों का इतना अधिक प्रभाव था कि विश्वास नहीं होता था कि समारोह सफलता पूर्वक हो सकेगा। परंतु परमपिता परमात्मा की कृपा हुई और सारा आयोजन सुचारु रूप से सफल हुआ।

इस अवसर पर बहुकुण्ड चारवेद शतक परायण महायज्ञ एवं अन्तिम दिवस राष्ट्रमेध यज्ञ का आयोजन था। बहुकुण्ड यज्ञ के उपलक्ष में कई महानुभावों को भ्रम था कि यह परम्परा पौराणिक है अथवा वेद एवं सिद्धांत विरुद्ध है परन्तु इस भ्रम को आर्य जगत के सुप्रसिद्ध विद्वानों ने मिथ्या बतलाया है और आर्य जगत के महान विद्वान श्री पं० शिवकुमार जी शास्त्री ने इस यज्ञ के ब्रह्मा का पद स्वीकार करके बहुत ही सुन्दर रीति से यज्ञ को सम्पन्न कराया। शरीर को चीरने वाली शीत लहर के होते हुए भी प्रातः ७बजे आर्य नरनारी बड़ी ही श्रद्धा से यज्ञ में भाग लेने के लिए दूर-दूर से पधारते रहे। इस बात का विशेष ध्यान रखा गया था कि यज्ञ मंडप में धुआं न उठे। इस सुन्दर प्रबन्ध के लिए यज्ञ समिति के संयोजक श्री महेन्द्र कुमार जी शास्त्री एवं उनके सहयोगी बधाई के पात्र हैं।

बहुकुण्ड यज्ञ के अतिरिक्त संस्कृत सम्मेलन, महिला सम्मेलन, वेद सम्मेलन, राष्ट्र रक्षा सम्मेलन, युवा सम्मेलन एवं आर्य सम्मेलन के खुले अधिवेशन का आयोजन था। इन सम्मेलनों की अध्यक्षता क्रमशः पं० विशुद्धानन्द जी शास्त्री, श्रीमती प्रभातशोभा पण्डित सुपुत्री स्वर्गीय स्वामी समर्पणानन्द जी स्वामी विद्यानंद जी, पं० सत्यदेव जी भारद्वाज, श्री संजयसिंह एवं डा० कृष्णलाल जी, श्रीमती प्रेमशील महेन्द्र, डा० सत्यकाम वर्मा एवं श्री विमल चन्द्र विमलेश ने किया।

युवा सम्मेलन के उद्घाटनार्थ श्री कृष्ण दत्त जी शर्मा अध्यक्ष मध्य प्रदेश विधान सभा एवं आर्य महासम्मेलन के खुले अधिवेशन में अध्यक्ष श्री वन्दे मातरम् जी राम चन्द्र राव हैदराबाद के अतिरिक्त भारत के गृहमन्त्री ज्ञानी जैलसिंह जी, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान श्री वीरेन्द्र जी, उपप्रधान श्री पृथ्वीसिंह जी आजाद, एवं सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के मान्य प्रधान श्री रामगोपाल जी शालवाले ने पधार कर जनता का मार्गदर्शन किया। हम इन सभी महानुभावों के आभारी हैं।

सम्मेलन संबंधी सभी प्रबन्ध कार्यों में सभी कार्यकर्ताओं एवं संयोजक महानुभावों ने जिस तत्परता एवं लगन से कार्य किया उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं। केन्द्रीय युवक परिषद के नवयुवकों ने भी प्रशंसनीय कार्य किया। सभा के सभी अधिकारीगण, कार्यालय के कर्मचारी एवं सेवक, आर्य समाज हनुमान रोड, दीवान हाल, बाजार सीताराम, आर्य बाल गृह दरिया गंज एवं अन्य सभी आर्य समाजों के अधिकारी एवं कार्यकर्ताओं का हम इस सम्मेलन की सफलतार्थ सहयोग के लिए हार्दिक धन्यवाद करते हैं।

आर्य समाज से संबद्ध संस्थाओं—गुरुकुल मथपुरी, गुरुकुल खेड़ाखुर्द, दयानन्द वेद विद्यालय गौतम नगर, कन्या गुरुकुल नरेला, चन्द्रविद्या मन्दिर सूरज पर्वत के छात्र-छात्राओं ने सम्मेलन में भाग लिया। दिल्ली की अन्य आर्य शिक्षण संस्थाओं के छात्र-छात्राओं ने शोभायात्रा में भाग लिया। इन सभी संस्थाओं के अधिकारियों के प्रति हम आभार प्रदर्शित करते हैं। □

# गुरुकुल कांगड़ी में क्या देखा ?

गत दिसम्बर माह के मध्य में मैंने दो दिन गुरुकुल कांगड़ी मे व्यतीत किये थे। मैं वहां देखने गया था कि परिस्थितियां अब कैसी हैं। जुलाई मे सहारनपुर के जिला न्यायाधीश के एक निर्णय के अनुसार गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय एक बार फिर हमारी सभा के अधिकार में दे दिया था। उसके पश्चात १३ जुलाई को यहां आर्य विद्या सभा की पहली बैठ हुई थी जिसमे गुरुकुल के प्रबन्ध को नियमानुसार चलाने के लिए कुछ आदेश दिये गये थे। मैं अब छ. मास के पश्चात् वहां गया था यह देखने के लिए कि वहा अब स्थिति कैसी है और जो आदेश दिए गये थे उनके अनुसार गुरुकुल का प्रबन्ध किया जा रहा है या नहीं।

दो दिन मैं वहां रहा और जो कुछ मैंने वहा देखा और जो कुछ सुना उसके आधार पर कह सकता हू कि आज गुरुकुल का वातावरण बिल्कुल ही बदला हुआ है। जहा पहले गोलियां चलती थी और शराब की बोतलें जगह जगह पडी दिखाई देती थी वहां अब एक स्वच्छ वातावरण दिखाई देता है। अनुशासन पहले से बहुत अच्छा है। गुरुकुल का परिसर भी अब साफ सुथरा दिखाई देता है। विद्यालय के छोटे छोटे बच्चे जब प्रात पांच बजे उठकर वेद मन्त्रो का उच्चारण प्रारम्भ करते हैं तो लाऊड स्पीकर के द्वारा उसकी ध्वनि गुरुकुल के सारे परिसर में सुनाई देने लगती है। उसके पश्चात कोई सोना भी चाहे तो नहीं सो सकता। जब प्रात. हवन यज्ञ होता है तो विश्वविद्यालय के कई प्राध्यापक भी वहां पहुंच जाते हैं। बच्चो को प्रत्येक दिन वेद मन्त्र याद कराया जाता है। उनके रहन सहन का प्रबन्ध पहले से अच्छा है। गुरुकुल कोई अनाथालय दिखलाई नही देता, परन्तु एक ऐसी संस्था दिखाई देती जिसमें किसी आदर्श को लेकर बच्चो को शिक्षा दी जाती है। जुलाई १९८० मे जब हमने गुरुकुल का कार्य भार फिर से सम्भाला था उस समय गुरुकुल विद्यालय में विद्यार्थियों की संख्या केवल ३४ थी, आज वह १४० के लगभग है। इसी से हम अनुमान लगा सकते हैं कि अब गुरुकुल ने किस दिशा में अपनी यात्रा प्रारम्भ कर दी है और जहां तक विश्वविद्यालय का सबन्ध है वहा अब वह पहले जैसा तनाव का वातावरण दिखाई नहीं देता, प्रत्येक प्राध्यापक यह समझता है कि उसका कुछ उत्तरदायित्व है और उसे वह पूरा करना है। इसलिए गुरुकुल के प्राध्यापकों का सहयोग भी अब पहले से अधिक मिल रहा है।

यह सब कुछ होते हुए भी मुझे यह कहने मे कोई सकोच नहीं कि अभी भी बहुत कुछ करना बाकी है। पिछले तीन-चार वर्षों में इस संस्था का जो सत्यानाश करने का प्रयत्न किया गया है, उसके कारण जो कठिनाईया पैदा हुई हैं उन्हें ठीक करने में कुछ समय लगेगा। जिस प्रकार एक फुलवाड़ी के सब फूल तोड लिये जाएं उसके पौधे उखाड़ दिये जाएं, जो स्थिति उसकी होती है वही स्थिति गुरुकुल की थी उस दिन जिस दिन हमने इसका कार्य भार सभाला था, आर्य जनता को यह सुनकर आश्चर्य भी होगा और दु.ख भी होगा कि जिन लोगो के हाथ में गुरुकुल रहा है वह वहां से जाते समय गुरुकुल का बहुत सा सामान उठाकर ले गये। कई स्थानों पर शराब की बोतलें पड़ी थीं और कई जगह गोलियो के निशान लगे हुए थे। ऐसी स्थिति में इस संस्था को फिर से अपने पांव पर खड़ा करना आसान न था परन्तु मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं, अपितु प्रसन्नता है कि पिछले छः मास में वहां स्थिति बहुत बदल गई है और उत्साह जनक वातावरण दिखाई देता है। जो कुछ हुआ है इसके लिए मैं गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति श्री बलभद्र कुमार हूजा, उपकुलपति आचार्य श्री निरुपणजी विद्यालंकार और डा० हरिप्रकाश जी का धन्यवाद करता हूं। इन सब ने मिलकर और इनके साथ गुरुकुल के प्राध्यापको ने वातावरण को स्वच्छ बनाने में जो परिश्रम किया है और जिस लगन से वह सब काम कर रहे हैं वह वास्तव में सराहनीय है। इसमें जिला के राज्याधिकारियों का भी पूरा पूरा सहयोग हमें मिला है। मैं उनका भी धन्यवाद करता हू। विशेष कर जिलाधीश, सहारनपुर जिला के पुलिसकप्तान और हरिद्वार के डी० एस० पी० व रैजिडेंट मैजिस्ट्रेट का भी धन्यवाद करता हूं क्योंकि अब वह इस राष्ट्रीय विद्यालय में सामान्य स्थिति बनाने में बहुत बड़ा योगदान दे रहें हैं। आशा रखनी चाहिये कि अब अप्रैल में गुरुकुल का वार्षिक उत्सव होगा तो आर्य जनता एक बिलकुल ही नया गुरुकुल देखेगी।

—वीरेन्द्र

# आर्य महासम्मेलन के अध्यक्ष श्री रामचन्द्रराव 'वन्देमातरम् हैदराबाद का अध्यक्षीय भाषण :

बन्धुओ तथा मित्रो,

इस आर्य महासम्मेलन की अध्यक्षता का आपने मुझे जो सम्मान प्रदान किया है, उसके लिए मैं आपका अत्यन्त आभारी हू। हमारे मध्य अनेक शीर्षस्थ नेता, त्यागी, सन्यासी, वानप्रस्थी तथा प्रतिष्ठित व्यक्ति विराजमान हैं। मैं उनके प्रति आदरभाव प्रकट करता हू और अपने लिए उनके आशीर्वाद एव कृपावृष्टि की प्रार्थना करता हू, ताकि मैं इस महत्वपूर्ण दायित्व को वहन कर सकू और

१. अपने देशवासियो के कल्याण तथा

२ जिन सिद्धातो के लिए महर्षि दयानन्द सरस्वती जीवित रहे और अपना बलिदान दिया, उनके प्रसार एवं प्रचारके लिए आयोजित इस समारोह के सफलतापूर्वक सम्पन्न होने मे योगदान दे सकू।

इस अवसर पर, मेरठ मे १८८१ मे महर्षि दयानन्द के भाषण के आशय को मैं यहाँ उद्धृत करना चाहता हू :—

परन्तु मेरे भाइयो! निश्चित ही मैं अधिक दिनो तक जीवित रहने वाला नहीं हू। यह मेरा शरीर भी नश्वर है। इसका अन्त भी निश्चित है। किन्तु मृत्यु से पूर्व मैं आप लोगों को आत्मनिर्भर देखना चाहता हूं।...मुझे विश्वास है कि आप लोगो मे से ही कुछ महान् व्यक्तियों के रूप में विकसित होंगे और हमने जो लक्ष्य बनाए हैं उनको प्राप्त करने के लिए भगीरथ प्रयत्न करेंगे। ... मुझे इस बात का भी विश्वास है कि आर्यसमाज एक विशाल पेड़ के समान विकसित होकर पल्लवित, पुष्पित तथा फलित होगा। प्रभु की कृपा से यह सब कुछ होगा, पर यह सब कुछ देखने के लिए मैं नहीं रहूगा।"

मेरठ के इस भाषण का ध्यानपूर्वक विश्लेषण करने से तीन मुद्दे स्पष्ट होते हैं—

१. अपने स्वर्गवास से पूर्व स्वामीजी हमें आत्म-निर्भर देखने की इच्छा रखते थे।

२. उन्हें आशा थी कि उनके स्वर्गवास के बाद कुछ व्यक्ति ऐसे उभरेंगे जो स्वामीजी द्वारा निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करेंगे।

३. और अन्तत. आर्यसमाज एक विशाल पेड़ के रूप मे अवश्य विकसित होकर पुष्पित एवं फलित होगा।

महर्षि के स्वर्गवास से पाँच मास पूर्व घटित एक घटना का स्मरण हो आया है। २९ मई, सन् १८८३ के दिन स्वामीजी अजमेर मे थे। महर्षि जोधपुर जाना चाहते थे। स्वामीजी के कुछ भक्त आए और स्वामी जी को जोधपुर जाने से रोकने लगे। इसका कारण यह था कि उन्हें वहां स्वामीजी महाराज के साथ किसी अनिष्ट के घटने की आशका थी। इस पर स्वामीजी ने जो कुछ कहा वह इस प्रकार था—

"इसमें (मेरे जीवन के सम्बन्ध में) चिंता करने की आवश्यकता नही।" "सत्यार्थ प्रकाश" अपने असली रूप में पूर्ण हो गया है। मैंने अपना कार्य पूर्ण कर दिया है। मुझे करने के लिए अब कुछ नही बचा।"

भक्तो द्वारा चेतावनी-पूर्ण वाक्यों के उत्तर मे स्वामीजी की प्रतिक्रिया अत्यन्त स्पष्ट और बोधक है। इससे यह स्पष्ट होता है कि स्वामीजी को अपनी मृत्यु की पूर्वकल्पना थी। पं० कमलनयन जी ने इस बात का समर्थन किया है) और वे इस सांसारिक रंगमच से प्रस्थान करने की पूर्ण तैयारी कर चुके थे। उन्होंने हर तरह से प्रयत्न किया था कि भावी पीढ़ी को लक्ष्य-प्राप्ति की ओर अग्रसर होने के लिए तैयार किया जाए। स्वामीजी महाराज ने अपने विश्वविख्यात ग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश की ओर भी संकेत किया था। उन्हें इस बात का भी समाधान था कि भावी पीढ़ी के मार्गदर्शन के लिए उन्होंने अपने अनुभव की बहुमूल्य निधि को उस ग्रन्थ के रूप में उपयुक्त समय पर छोड़ा है। स्वामी जी अनेक रूपों में हमारे लिए आशीर्वचन छोड़े हैं। उन्होंने "कृण्वंतो विश्वमार्यम्" का नारा दिया है, एक ध्वज, एक सांझी भाषा और एक संगठित राष्ट्र के रूप में विकसित होने की प्रेरणा दी। उन्होंने हमारे शानदार भूतकाल का स्मरण करवाया और सनातन सामाजिक व्यवस्था वर्णाश्रम धर्म को पुनर्जीवित किया। इन सबके अतिरिक्त स्वामीजी ने हमें आर्यसमाज दिया।

तात्पर्य यह है कि स्वामीजी ने अपनी ओर से वह सब कुछ किया था जिससे प्रेरित होकर उनकी अपेक्षा के अनुरूप हम आत्मनिर्भर हो सकें। पर यहाँ एक प्रश्न उभरता है कि १८८३ मे स्वामीजी महाराज के स्वर्गवास के अवसर पर क्या हम आत्मनिर्भर हो गये थे? आत्मनिर्भर होने के लिए हमारे लिए सभी बातें अनुकूल थी। एक अवधि तक हम आत्मनिर्भर हो भी गये थे। स्वामीजी के तुरन्त बाद प० लेखराम जी, स्वामी श्रद्धानन्दजी, पं गुरुदत्त जी तथा देश के ऐसे ही अन्य अनेक सुपूतों ने अपने कार्यों द्वारा उज्जवल उदाहरण प्रस्तुत किया। परन्तु वर्तमान स्थिति बदली हुई है।

मैं निराशा का वातावरण पैदा करना नही चाहता। किन्तु हमें स्थिति की वास्तविकता का भी मूल्यांकन करना चाहिए। हमने करोड़ों रुपयो की लागत से आर्यसमाज के मन्दिरो और शैक्षिणक संस्थाओं की भव्य इमारतें खडी कर दी हैं। इस दिशा मे हमने मात्र अपने सनातनी भाइयों से होड़ ली है। उन्होंने प्राचीन काल से अपने देवी देवताओं के लिए अरबों और खरबो की लागत के मन्दिर बनाये हैं।

आर्यसमाज के मन्दिरो और शैक्षणिक सस्थाओं का निर्माण करना बुरा नहीं है। किन्तु ऐसी परिस्थिति का उत्पन्न होना आक्षेपनीय है कि बिना आत्मा के भौतिक ढांचे खडे किए जाये। राम के परम भक्त हनुमान को सीता ने उनकी सेवा के पुरस्कार स्वरूप अपनी बहुमूल्य माला दी। किन्तु हनुमान ने जब माला की मणियो मे राम के दर्शन नहीं किए तो उन मणियों का उनके पास कोई मूल्य नहीं रहा।

आर्यसमाज के मन्दिरों और शैक्षणिक संस्थाओं में सच्चे आर्य समाजियो का निर्माण होना चाहिए। मेरा विचार है कि चार-पाँच वर्षों के अल्पायु बालकों की ओर हमें ध्यान देना चाहिए और उन्हें ऐसे वातावरण में इस तरह संस्कारित करना चाहिए कि उनमें —

१. आर्यसमाज के प्रति प्रेम उत्पन्न हो।

२. देश के प्रति प्रेम उत्पन्न हो और

३. कठोर अनुशासन प्रियता तथा बड़ों के प्रति आदर उत्पन्न हो।

## आर्यसमाज : एक समाज

महर्षि दयानन्द की श्रेष्ठता यह है कि उन्होंने कोई कार्य ऐसा नहीं किया जिसके पीछे कोई श्रेष्ठ उद्देश्य न हो। हर समय उनके मस्तिष्क में महान् विचार आये, ऐसे विचार जिनमें सामान्य मानव के कल्याण की भावना निहित थी। उनमें सुंकुचितता लेशमात्र नही थी। वे क्षेत्रीय, साम्प्रदायिक, मत-मतान्तर इत्यादि की सीमाओं के परे थे।

स्वामीजी ने सीधे कार्य क्षेत्र में प्रवेश नही किया। उन्होंने पहले अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। तत्पश्चात् उन्होने आर्यसमाज की स्थापना की। १६ मार्च १८७५ के दिन इसकी शुरुआत हुई। भारत की सुप्रसिद्ध नगरी बम्बई को इस ऐतिहासिक घटना की आरम्भ स्थली होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। स्वामीजी ने जब इसको प्रारम्भ किया था तो उन्होंने आर्य समाज को व्यक्तियो के एक शिथिल संगठन की कल्पना नहीं की थी, जैसा कि भेड़ों या पशुओं का झुड होता है, उनके सामने ऐसे व्यक्तियो के सुदृढ संगठन की परिकल्पना थी, जो निम्न सामान्य-सूत्रों में आबद्ध थे :—

१. समान परिपाटि
२. समान संस्कृति
३. समान भाषा
४. समान धर्म
५. समान लक्ष्य और आकांक्षा

स्वामीजी ने आर्यसमाज के रूप में कभी भी विषम तत्वों के समूह की कल्पना नहीं की थी।

आज भी राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और शैक्षणिक संगठन हैं। उनके सन्मुख एक विशिष्ट लक्ष्य होता है। लक्ष्य की प्राप्ति होते ही उस संगठन की उपयोगिता समाप्त हो जाती है। महात्मा गांधी ने स्वाधीनता प्राप्ति के तुरन्त बाद कांग्रेस को विघटित करने की सलाह दी थी। उनका चिंतन स्पष्ट था। १८८५ में जिस लक्ष्य को लेकर कांग्रेस का निर्माण हुआ था, स्वाधीनता प्राप्ति के साथ ही वह समाप्त हो गया था।

उन्होंने यह अनुभव किया था कि एक सामान्य लक्ष्य को लेकर जो विषम-तत्व इकट्ठा हुए थे, उन्हें अलग होने दिया जाए। कांग्रेस एक ऐसी धुरी थी जिसके चारों ओर विभिन्न विचारों के लोग इकट्ठे हुए थे। आजादी के बाद जब तत्व अपने-अपने विचारों का आग्रह करने लगे, तो गांधी जी ने ऊपर की सलाह देना उचित समझा, मैंने इसका उल्लेख इसलिए नहीं किया है कि कांग्रेस के संगठन की आलोचना करूं या उसके विघटन की वकालत करूं। मैंने अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए इस संगठन

संगठन का नामोल्लेख मात्र किया है कि स्वामीजी ने आर्य समाज की स्थापना ऐसा कोई संगठन बनाने के उद्देश्य से नही की थी।

वे चाहते थे कि जनता आर्य जीवन पद्धति को अपनाए। आर्यसमाज जीवन यापन की एक पद्धति है—एक पूर्ण जीवन दर्शन है। सार्वदेशिक सभा तथा अन्य प्रतिनिधि सभाएं ऐसे संगठन हैं जिनका गठन एक विशिष्ट लक्ष्य को लेकर किया गया है। अर्थात् भारत और भारत से बाहर लोगों को आर्य जीवन पद्धति के अनुसार जीवनयापन के लिए संगठित करना।

आर्यजीवनपद्धति का शाब्दिक अर्थ ऐसी जीवन पद्धति से है जिसको आर्यावर्त की जनता ने प्रस्तुत किया था। स्वामीजी ने आर्यसमाज के जिन दस नियमों का निर्माण किया है, वस्तुतः वे हमारे शास्त्रों का सारमात्र हैं। इन्ही सूत्रो को लेकर आर्यजीवनपद्धति का ताना-बाना बुना गया है। वर्णाश्रम क्या है? यह एक सामाजिक व्यवस्था है, जिसके द्वारा समाज को चारों वर्णों मे और एक व्यक्ति के जीवन को चारों अशों मे विभक्त किया गया है। समाज को इसी आधार पर संगठित करने की स्वामीजी की इच्छा मूर्तरूप ले नहीं सकी, यद्यपि १०५ वर्ष बीत गये। आर्य प्रतिनिधि सभाओ के सामने विस्तृत कार्यक्षेत्र है। इस कार्य मे अकर्मण्यता के परिणाम निश्चित ही कष्टदायक होगे।

जनसमूह राज्य का प्राथमिक भौतिक तत्त्व है। अतः यह स्वाभाविक ही था कि स्वामीजी ने समाज के सुधार की ओर प्रथमतः ध्यान दिया। किन्तु उनके कार्य की यह इतिश्री नहीं है। इस बात के अब प्रमाण मिल चुके हैं कि १८५७-५८ में प्रथम स्वाधीनता संग्राम के अवसर पर स्वामीजी ने महत्वपूर्ण कार्य किया था। किसी भी जनता को राज्यत्व प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि उसके लिए एक भू-भाग हो, एक शासन हो और पूर्ण प्रभुसत्ता हो।

इसीलिए स्वामीजी ने अंग्रेजों को देश से निकालने, भारतीयों को पूर्ण प्रभुसत्ता दिलाने और स्वशासन की स्थापना के उस प्रयत्न में पूर्ण योगदान दिया। आर्य प्रतिनिधि सभाएं स्वामीजी के इन कार्यों से मार्ग-दर्शन प्राप्त कर सकती है। आर्यसमाज में कुछ लोग हैं जो राजकारण (राजनीति) मे भाग लेने का विरोध करते हैं। वे केवल आत्मा और परमात्मा से सम्बन्धित ज्ञान के प्रसार तक ही आर्यसमाज को सीमित रखने में ही सन्तुष्ट हैं। उनका विश्वास है कि यही उनके [illegible] है।

मुझे यहां पर राजधर्म के सम्बन्ध में युधिष्ठिर का स्मरण हो रहा है। भीष्म पितामह युद्ध क्षेत्र में घायल पड़े हैं। युधिष्ठिर समीप आकर पितामह से राजकरण के सम्बन्ध से पूछते हैं:—

राजधर्मान् विशेषेण कथयस्वपितामह।
सर्वस्य जीवलोकस्य राजधर्मः परायणम्॥

"पितामह, राजकारण प्रत्येक के लिए महत्वपूर्ण आश्रय है। कृपा करके राजकरण के सम्बन्ध में मुझे जानकारी दीजिए।"

युधिष्ठिर द्वारा राजकरण को सभी के लिए महत्वपूर्ण आश्रय समझना बहुत सार्थक है। भीष्म ने कहा—

उदयन् हि *यथासूर्यो नाशयत्यशुभं*।
राजधर्मास्तिथालोल्या निक्षिपन्त्यशुभा गतिम्॥

"जिस प्रकार सूर्य उदित होकर अंधेरे के घेरे को छिन्न-भिन्न कर देता है, उसी तरह राजकरण मानव जाति को स्वर्ग से वंचित करने वाले दुष्कार्मों से सुरक्षित रखता है।"

इस मे स्पष्ट होता है कि राजधर्म में रुचि लेना आर्य-जीवन-पद्धति का एक अंग था। इसी लिए स्वामीजी ने धर्मार्थ सभा और विद्यार्य सभा के साथ-साथ राजार्य सभा के निर्माण पर काफी बल दिया है। आज हमारे इस भू-भाग भारत को बाहर और भीतर के आक्रमण का खतरा लगा हुआ है। हमारी क्षेत्रीय अखण्डता असुरक्षित है। राज्य के निर्माण में क्षेत्र का दूसरा है। और वह भू क्षेत्र जिस पर हम निवास करते हैं, उसी को खतरा है। क्या आर्य समाजी अपनी मातृभूमि के इस संकट में भी केवल दर्शक बनकर शान्त रहेगे? हमारे भीतर की देश-भक्ति की भावना हमे ऐसा नही करने देगी।

हमारे देश की सुरक्षा के खतरे के साथ हमारी जीवन-पद्धति लिए भी खतरा पैदा हो गया है। एक ओर ईसाई प्रचारक, दूसरी ओर ऐसे धर्मान्ध मुसलमान, जो ऐसे सभी देशों को "दारुल-हरब" कहते हैं जिनका पूर्णतः इस्लामीकरण नहीं हुआ है, और किसी भी कीमत पर उनको "दारुल-इस्लाम" करने पर तुले हुए हैं और तीसरी ओर मास्को तथा पेकिंग छाप कम्युनिस्ट हैं। ये सब देश में विध्वंसकारी कार्यों में लगे हुए हैं, और ऐसे कार्यों को प्रोत्साहन देते रहते हैं। आजकल देश में जितने भी "बन्द" हो रहे हैं जिनमें अधिकांश इन्हीं कम्युनिस्टों द्वारा आयोजित तथा प्रेरित हैं। मुरादाबाद या हैदराबाद जैसे साम्प्रदायिक संघर्षों के पीछे बड़े चतुर हाथ काम कर रहे हैं, और जो निश्चित ही हमारे देश के अकल्याण के उद्देश्य से इन संघर्षों को भड़काने में साधन जुटा रहे हैं। विदेशों में निर्मित शस्त्रास्त्र पकड़े गये हैं, जिनका देश की आन्तरिक शांति का नाश करने के लिए प्रयोग किया जा रहा है। यह एक गम्भीर समस्या है, और विशेष रूप से जब आल इण्डिया मुस्लिम लीग के अध्यक्ष श्री सुलेमान सेठ ने लन्दन मे १९८० मे आयोजित मुसलमानो के एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में यह बयान दिया कि भारत में प्रतिदिन सैंकड़ों मुसलमानों की हत्या की जाती है, तो फलस्वरूप मुरादबाद जैसे संघर्ष फूट पड़े, जिससे देश की अपरिमित हानि हुई। इनके अतिरिक्त भी देश के सामने अनेक गम्भीर संकट है। इनमे से कुछ वैधानिक प्रकार के हैं। उदाहरणार्थ हमारे संविधान की धारा(१)का मैं प्रथमतः उल्लेख करूंगा। विधान की पहली अनुसूची में, जिस की ओर उल्लिखित धारा मे संकेत किया गया है, जम्मू-कश्मीर को भारत का अभिन्न बतलाया गया है। किन्तु संविधान की धारा ३७० के द्वारा देश के इस भू-भाग को अन्य प्रदेशो से भिन्न स्वरूप दिया गया है। संविधान में प्रदत्त बुनियादी अधिकार का यह स्पष्ट उल्लंघन है। यहां बरबस ही मुझे स्व० प. प्रकाशवीर शास्त्री का स्मरण हो रहा है, जिन्होने धा. ३७०को हटाने का प्रयत्न किया था। आप जानते हैं कि जब भी काश्मीर की समस्या का उनके सामने उल्लेख होता था वे कितने उद्विग्न हो उठते थे। काश्मीर की समस्या भीतर ही भीतर सुलगती रहती है और समय-समय पर देश में ही नहीं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर भी उभरती रहती है और उसका कारण यही है कि उक्त धारा में हमने उसको पृथक महत्व दे दिया है। एक बार इस धारा का विधान से पूर्ण लोप हो जाए, तो दुनिया इस समस्या को ऐसे ही भूल जायेगी, जैसे हैदराबाद राज्य की समस्या को भूल गई है।

दूसरी समस्या उन लोगों की है जो राष्ट्रीय धारा में अपने आपको समालेने से बचने के निरन्तर प्रयत्न में है। ये लोग अपने आपको अल्पसख्यकों के रूप में प्रस्तुत करते हैं। अल्पसख्यक कौन हैं? हमारे विधान मे इसकी कहीं व्याख्या नहीं की गई है। किन्तु ऐसों के प्रति हमारी उदार चित्त-वृत्ति अब तक आम क्षति के रूप में ही प्रगट होती रही है। स्वाधीनता से पूर्व परिस्थिति कुछ ऐसी बना दी गई थी कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के हमारे हर प्रयत्न को यह अल्पसंख्यक बड़ी सफलता के साथ "विटो" किया करते थे। ब्रिटिश सरकार के साथ उनके साठ-गांठ ने देश का विभाजन कर दिया १९४७ के पृथककरण से यह वर्ग सन्तुष्ट न होकर अब पुनः उसी नीति का अवलम्बन कर रहा है। उनके इस भयानक षड्यन्त्रकारी कार्यो को सफल बनाने के में ऐसा लग रहा है कि कुछ अन्तर्राष्ट्रीय "एजेंसियां क्रियात्मक रूप से इस वर्ग की सहायता कर रही है। इस परिस्थिति मे आर्य समाज की चुप्पी उनके बहुमूल्य सर्वस्व की क्षति के रूप प्रगट होगी।

इस संदर्भ में मैं कुछ ऐसे तथ्य आप के सामने प्रस्तुत करना चाहता हु, जो बड़े उग्र रूप में हमारे सामने उपस्थित हैं। हमारे चारों ओर प्राय सभी मजहबी राष्ट्र हैं, या ऐसे राष्ट्र है जिन्होंने साम्यवाद को स्वीकार कर लिया है। हमारे देश के दो प्रदेश भी ऐसे ही हैं—एक, देश के पूर्वी तट पर—पश्चिमी बंगाल और दूसरा, देश के पश्चिमी तट पर—केरल। दोनों का प्रशासन कम्युनिस्टों के हाथो मे है। और पश्चिम बंगाल पूर्णतः मार्कसवादी कम्युनिस्टो के हाथों मे है। और केरल मे कम्युनिस्ट-प्रधान संयुक्त मन्त्रिमन्डल है। ईसाई नागालैंड और उसके आतराफ़ एक तरह से गुरीला ढंग की लड़ाई लड़ रहे है। उनका लक्ष्य है हमारे देश की पूर्वी सीमा पर एक स्वतन्त्र ईसाई-राज्य की स्थापना। क्या मैं अपने आर्य समाजी बन्धुओ से पूंछ सकता हू कि जब हमारी परम्परागत आर्य जीवन पद्धति तथा देश के सन्मुख इतनी भयंकर दुर्गति की स्थिति खड़ी हुई है, तो आप राज्य या शासन के कार्यो से अपने आप को पृथक रखकर तमाशाई बने रहना पसन्द करेंगे? शायद कुछ महानुभावों का यह तर्क होगा, "हम प्रचलित राज्य या शासन के कार्यकलापों की ओर से पूर्णतः सजग है और अपनी-अपनी विभिन्न राजनैतिक पार्टियों के माध्यम से अपने-अपने तरीको से कार्य कर रहे हैं।' हम इस प्रकार के कथन से पूर्णतः सहमत हैं। परन्तु हम उन से एक बात पूछना चाहते हैं, "क्या पार्टी के अनुशासन को महत्व देते हैं या देश के हित को?' आज तक का अनुभव यह दर्शाता है कि पार्टी के अनुशासन को ही महत्व देना पड़ा है और देश के हित की ओर से दुर्लक्ष्य करना पड़ा है।

आज भी आर्य समाज एक प्रभावी शक्ति है, इसकी प्रादेशिक सभाएं सुव्यवस्थित और संगठित है। मैं यह चाहता हूं कि हमारी प्रादेशिक सभाए और अधिक सशक्त और प्रभावशाली बनें, ताकि देश की कोई पार्टी राष्ट्रीय महत्व के राजनैतिक कार्यों और समस्याओ का निपटारा करते समय आर्य समाज की सम्पति की अवहेलना कर सके। आर्य समाज की सभी प्रादेशिक सभाओं का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वे देश की समस्याओ की ओर सजग रहकर अभिरुचि ले। मैं यह नही कहता कि उन्हें राजनैतिक कार्यो मे प्रत्यक्ष रूप मे अपने आपको झोकना चाहिए। किन्तु राजार्य सभाएं अपने पवित्र दामन और

—क्रमशः

(पृष्ट २ का शेष)

हजारवा भाग जीव का है—भाग: जीव: स: विज्ञेय: ।एक बाल के अग्रभाग का दस हजारवा हिस्सा कल्पना का ही विषय हो सकता है, इसलिए जीव के परिमाण की यहां कल्पनामात्र की गई है, उसका परिमाण नहीं बतलाया गया। ऐसा सूक्ष्मतम जीवात्मा अनन्त सामर्थ्यवाला है— यह कल्पना की बात है —स च आनन्त्याय कल्पते ॥९॥

अ गुष्टमात्र की बात इसी उपनिषद् के तृतीय अध्याय के १३वें श्लोक में परमात्मा के विषय मे भी कही गई है। वहा भी अ गुष्ट केवल सूक्ष्मता का प्रतीक है, परिमाण का नही।

आत्मा का रूप तथा परिमाण कहने के बाद उसके लिंग के विषय मे कहते हैं वह स्त्री नही, पुरुष नही—नैव स्त्री न पुमान् एप, न ही आत्मा नपुंसक है—न चैव नपुंमक। जिस-जिस शरीर को यह ग्रहण करता है— यद् यद् शरीर आदत्ते, उसी-उसी शरीर के लिंग के साथ उसका नाम रखा जाता है— तेन तेन स: रक्ष्यते। यहा 'रक्ष्यते' से अभिप्राय 'लक्ष्यते' से है, या रखा जाता है। ॥१०॥

जैसे घास की वृद्धि वृष्टि के जल से होती है, वैसे ही संकल्प-मोह, स्पर्शन-मोह तथा दृष्टि-मोह रूपी जल से आत्मा की विवृद्धि—आत्मा का प्रपंच बढता हैं। यह देही—जीवात्मा— कर्मों के अच्छे-बुरे अनुक्रम से - कर्मानुगानि अनुक्रमेण, भिन्न-भिन्न स्थानो में —स्थानेषु, भिन्न-भिन्न रूपों को— रूपाणि, प्राप्त होता है—अभिसंप्रपद्यते ॥११॥

संकल्पन - मोह, स्पर्शन-मोह तथा दृष्टि-मोह का क्रम बडा मनोवैज्ञानिक है। संसार में मनुष्य जो कर्म करता है उनका क्रम यही है। पहले सकल्प होता है, फिर वह सकल्प जब वार-वार आता है तब सकल्प -मोह की अवस्था मनुष्य पर छा जाती। उसके बाद उस संकल्प को पूरा करने के लिए हाथ-पैर चलने लगते हैं। बार-बार इस क्रम मे पड जाने की अवस्था स्पर्शन-मोह है—स्पर्श से अभिप्राय निकटता मे जाने से है। कर्म की तीसरी अवस्था तब आती है जब जो काम हम करना चाहते हैं वह आँखो के सामने लगातार बना रहता है। इसी को उपनिषत्कार ने दृष्टि मोह कहा है। इन तीनों अवस्थाओं का परिणाम जीवात्मा के भिन्न-भिन्न कर्म हैं। इसका यह भी अर्थ है कि संकल्प, स्पर्श, दृष्टि तथा इनके मोह से मनुष्य कर्म के प्रपंच में फसता है;

जीवात्मा स्थूल-सूक्ष्म तथा अनेक रूपों को—स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि च रूपाणि देही, अपने अच्छे-बुरे या सत्व, रज, तम आदि गुणो के कारण - स्वगुणै, अनेक रूपो को ग्रहण करता है— वृणोति। ये गुण दो प्रकार से जीवात्मा के साथ आते हैं। एक प्रकार तो वह है जो इसने इस जन्म में क्रियाएं या कर्म किये होते हैं—क्रियागुणै:, दूसरा प्रकार वह है जो इसके पिछले जन्म के कर्म किये होते हैं जो इसका आत्मगुण बन चुके होते हैं—आत्मगुणै: च। इन दोनों प्रकार के गुण—वर्तमान तथा भूत— इनके सयोग का कारण, अर्थात् इन सबको मिलाकर उनका यथार्थ फल देने वाला—संयोगहेतु, कोई अपर है, दूसरा है—अपर: अपि दृष्ट:। वह दूसरा परमात्मा के सिवाय कौन हो सकता है? ॥१२॥

वह अनादि तथा अनन्त - अनादि अनन्तम्, जो इस परिवर्तनशील संसार के बीच—कलिलस्य मध्ये, इस विश्व का स्रष्टा है—विश्वस्य स्रष्टारम्, जिसके पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश आदि अनेक रूप हैं—अनेक रूपम्, जो संपूर्ण विश्व को इकला परिवेष्टन कर रहा है —विश्वस्य एकं परिवेष्टितारम्, उस देव को जान कर—ज्ञात्वा देवम्, जीव सब बन्धनों से मुक्त हो जाता है— मुच्यते सर्वपाशै: ॥१३॥

उसे भावना से, श्रद्धा तथा भक्ति से ही प्राप्त किया जा सकता है—भावग्राह्यम्। उसका कोई नीड—स्थान विशेष नहीं है, वह सब जगह मौजूद है, इसलिए उसे 'अनीड्य' कहा जाता है— अनीड्याख्यम्। वह कल्याणकारी है इसलिए यथोचित रूप मे भाव तथा अभाव दोनो कर देता है—भाव अभाव करं विश्वम्। वह सौन्दर्ययुक्त सृष्टि का रचनेहारा है—कला सर्ग करम् देवम्। जो सृष्टि के रचनहारे भगवान् को जान जाते है वे उस देव की अराधना में इस शरीर को आहुति के रूप में दे देते हैं, अर्थात् फिर उनका पिंड में इस शरीर से तथा ब्रह्मांड में इस संसार से मोह नहीं रहता ये विदु ते जहु तनुम् ॥१४॥

□

## आर्यसमाजों के सत्संग

११-१-८१

अन्धा मुगल प्रताप नगर—पं० महेन्द्र प्रताप शास्त्री; अमर कालोनी—पं० सत्य भूषण वेदालंकार; आर्यपुरा—आचार्य हरिदेव सि० भू०; आर० के० पुरम सैक्टर- —पं० हरीश वेदी; आनन्द विहार हरिनगर एल ब्लाक—पं० दिनेश चन्द्र शास्त्री पाराशर; इन्द्रपुरी - पं० ओमवीर शास्त्री; किदवई नगर—आचार्य रामशरण मिश्रा शास्त्री; कालका जी—पं० प्रकाश चन्द शास्त्री; कोटला मुबारिक पुर—श्रीमती लीला वती आर्या; गीता कालोनी—प्रो० वीर पाल विद्यालंकार; ग्रेटर कैलाश-II—पं० मुनि शकर वानप्रस्थी; गुड़मन्डी—प० रामरूप शर्मा; १५१-गुप्ता कालोनी—प० मजेन्द्र पाल शास्त्री; गोविन्द भवन दयानन्द-वाटिका—पं० वीरव्रत शास्त्री; जगपुरा भोगल—पं० प्रकाश वीर व्याकुल; जनकपुरी सी-III—पं० हीरा प्रसाद शास्त्री; जनकपुरी बी ब्लाक—प० ओमप्रकाश भजनोपदेशक; तिलक नगर—प० विजय पाल शास्त्री; तीमार पुर—वैद्य राम किशोर; दरियागज—श्रीमती प्रकाशवती शास्त्री; देव नगर—श्रीमती सुशीला—राजपाल; नारायण विहार—ला० लखमी दास; न्यू मोती नगर—पं० विश्व प्रकाश शास्त्री, निर्माण विहार—प० आशा नन्द भजनोपदेशक; पंजाबी बाग—पं० खुशीराम शर्मा, पजाबी बाग एक्स्टैनशन १४/३ - पं० गणेश प्रसाद विद्यालंकार; बाग कड़े खां—प० बरकत राम भजनोपदेशक; बासई दारापुर—पं० सीसराम भजनोपदेशक; बिरला लाईन्स—आचार्य कृष्णगोपाल; माडल टाउन—पं० दिवाकर शर्मा माडल बस्ती—प० वेदव्यास भजनोपदेशक; महावीर नगर—श्री मोहन लाल गांधी; महरौली—पं० देवेश; मोती नगर—प० देवराज वैदिक मिशनरी; मोती बाग—डा० महावीर दर्शनाचार्य, रमेश नगर - पं० जगदीश प्रसाद विद्यावाचस्पति; लड्डू घाटी—प० तुलसीराम भजनोपदेशक; लाजपत नगर—पं० ईश्वर दत्त; लक्ष्मी बाई नगर ई-१२०८—पं० सत्यपाल मधुर भजनोपदेशक; विक्रम नगर—पं० अशोक कुमार विद्यालकार; विनय नगर—पं० प्राण नाथ सिद्धान्तालकार; सदर बाजार पहाड़ी धीरज; प्रो० सत्यपाल बेदार; सरस्वती विहार—पं० केशव चन्द्र मुन्जाल, सुदर्शन पार्क—प्रो० भारत मित्र शास्त्री; सराय रोहिल्ला—डा० रघुनन्दन सिंह; शादी खामपुर—पं० हरिदत्त शास्त्री वेदाचार्य; हौजखास ई-४६—पं० सत्यदेव स्नातक भजनोपदेशक;

(ज्ञानचन्द डोगरा वेद प्रचार विभाग)

## शोक समाचार

### श्री पं० विद्यानन्द जी मस्तकी अब नहीं रहे।

आर्य समाज के विद्वान् उपदेशक, अद्वितीय शास्त्रार्थ-महारथी श्री प० विद्यानन्द जी मस्तकी का देहावसान ६४ वर्ष की अवस्था में २८ नवम्बर १९८० ई० को साय काल उनके निवास स्थान (बड़ागणेश) पर हो गया। आदरणीय पंडित जी आर्य सिद्धान्तों के पूर्ण विद्वान्, प्रतिभावान्, ओजस्वी व्याख्याता, तथा अद्भुत शास्त्रार्थ महारथी थे। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन आर्य-समाज के प्रचार-प्रसार में व्यतीत किया। पिछले कुछ वर्षों से आप रुग्ण थे और वाराणसी मे ही अपने घर पर रहते थे।

उनका अन्त्येष्टि संस्कार २९ नवम्बर को मध्याह्न पूर्ण वैदिक रीति से मणिकर्णिका घाट पर किया गया। उनकी अन्तिम यात्रा में नगर के सभी आर्य-समाज-लल्लापुरा, मुगलसराय, भोजूबीर, शिवपुर, तथा बुलानाला के आर्यसदस्य तथा अधिकारीगण एवं काशी के संभ्रात नागरिकगण सम्मिलित हुए।

### महाशय चुन्नीलाल के निधन पर शोक सभा

दिनांक २३-११-८० रविवार को आर्य समाज राजौरी-गार्डन मे एक-शोक-सभा का आयोजन किया गया, जिसमें सभी सदस्यो ने महाशय चुन्नीलाल जी का निधन समाचार अत्यन्त शोक के साथ सुना।

दिवगत आत्मा अत्यन्त ही दानशील समाजसेवी, धर्म-परायण एवं कर्मठ रही है। उनका जीवन वैदिक सस्कृति से ओतप्रोत रहा है। अपनी सतति को भी उन्होंने आर्य विचार धारा मे दीक्षित किया। उनके सुपुत्र महाशय धर्मपाल जी दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के उप-प्रधान पद पर रह कर आज भी समाज की सेवा में सलग्न हैं। महाशय चुन्नीलाल जी के दिवगत होने से न केवल उनके परिवार को अपितु समाज को भी अपार क्षति हुई है।

यह सभा दिवगत आत्मा की सद्गति के लिए प्रभु से प्रार्थना करती है एवं उनके शोक-सन्तप्त परिवार के लिए धैर्य की याचना करती है।

स्वामी श्रद्धानन्द ५४वीं बलिदान जयन्ती के अवसर पर :—

## विशाल जलूस

(हमारे संवाददाता द्वारा)

हर वर्ष की तरह इस वर्ष भी दिल्ली के आर्यसमाजियो ने स्वामी जी की बलिदान जयन्ती के अवसर पर एक विशाल जलूस निकाला। लगभग तीन लाख लोगों ने भाग लिया।

प्रात: १० बजे श्रद्धानन्द बलिदान भवन में यज्ञ के पश्चात जलूस प्रारम्भ हुआ जो पुरानी दिल्ली के विभिन्न मुख्य मार्गों से होता हुआ गांधी मैदान पहुंच कर एक सभा में परिवर्तित हो गया।

जलूस में सबसे आगे 'ओ३म्' ध्वज लिए आर्य वीर चल रहे थे। फिर हाथियों पर सवार सम्मानित, स्कूटर सवार तथा एक खुली जीप में श्री वन्देमातरम्, आर्य केन्द्रीय सभा के प्रधान श्री वेदराज चौधरी, सार्वदेशिक सभा के प्रधान श्री रामगोपाल शालवाले, एवं महासम्मेलन के स्वागताध्यक्ष दानवीर महाशय धर्मपाल जी विराजमान थे। उनके पीछे आर्य बन्धु, स्कूली बच्चे तथा बैण्ड बाजों के साथ आर्यसमाजों तथा संस्थाओं की टोलियां भजन गाती चल रही थीं।

जलूस का आकर्षण युवकों का व्यायाम तथा लाठी प्रदर्शन था। जगह-जगह पर तोरण द्वार लगाए गए थे। घंटाघर टाउन हाल चौक पर जलूस का स्वागत दीवान हाल आर्यसमाज ने किया। कई आर्यसमाजों ने बच्चों में मिठाई बांटी। □



रजि० डी (सी) ७५३

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के लिए श्री सरदारी लाल वर्मा द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा [illegible] ७२७/१-बी, [illegible] दिल्ली-२१ में मुद्रित। कार्यालय १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली फोन नं० ३१०१५०

ओ३म्

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

# आर्य सन्देश

दिल्ली आर्यप्रतिनिधि सभा का साप्ताहिक मुखपत्र

एक प्रति ३५ पैसे, वार्षिक १५ रुपये वर्ष ४ : अंक १३ रविवार २५ जनवरी १९८१ दयानन्दाब्द १५६
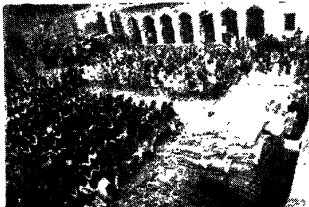
आयोजित सभा का एक दृश्य, सिलाई की मशीनें और रजाईयां बीच में रखी हैं।

सार्वदेशिक सभा के प्रधान श्री लाला रामगोपाल जी शालवालो का स्वागत करते हुए श्री राममोहन।

# मुरादाबाद में दंगापीड़ित हरिजनों की आर्यसमाज द्वारा सहायता :

## पीड़ितों में सिलाई मशीनों और रजाईयों का वितरण

मुरादाबाद में मुसलमानों द्वारा हरिजन बस्ती पर आक्रमण करके उनके मकान आदि नष्ट करने और उनकी महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार करने के समाचार आर्य संदेश में दिए जा चुके हैं। इन पीड़ित हरिजनों की सहायता के लिए सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री लाला रामगोपाल शालवाले इस क्षेत्र का निरीक्षण करने गये थे और वहां उन्होंने इस दंगाग्रस्त क्षेत्र के पीड़ित और गरीब हरिजनों की सहायता के प्रथम चरण का श्रीगणेश किया। लाला जी के वहां पहुंचने पर जनता की ओर से उनका भव्य स्वागत किया गया। आर्यसमाज गंज तथा आर्य कन्या विद्यालय ने मिलकर इस स्वागत समारोह का आयोजन किया था।

इस सारे आयोजन का संयोजन मुरादाबाद के प्रमुख सामाजिक कार्यकर्ता श्री राम मोहन ने किया था और उन्होंने मान्य अतिथि श्री लाला रामगोपाल जी तथा अन्य प्रमुख अतिथियो का मान्लाए अर्पित करके स्वागत किया।

लाला रामगोपाल जी ने उन महिलाओं को सिलाई की मशीनें भेट की जिनके पतियो की दगो मे हत्या कर दी गई थी। इसके साथ ही असहाय गरीबो को भी रजाईयां वितरित की गई। दंगों के कारण नष्ट हुए मकानो के निर्माण का कार्य भी शुरू करा दिया गया है। यह भी घोषणा की गई है कि इस क्षेत्र के पीड़ित नवयुवकों को बैण्ड का पूरा सामान दिया जायेगा जिससे वे अपनी आजीविका के लिए किसी पर निर्भर न रहें। साथ ही यहां के लोगों को बर्तनों पर कलात्मक काम का प्रशिक्षण देने की व्यवस्था करने में आर्यसमाज की ओर से सहायता देने की घोषणा की गई।

इस अवसर पर विद्यालय की छात्राओ को भी परीक्षा मे उत्तीर्ण होने पर पारितोषिक वितरण किया गया।

### मुस्लिम विश्वविद्यालय के निर्माण का विरोध

मुरादाबाद मे ही जैन मदिर के प्रांगण में आयोजित हिन्दू नागरिको को एक विशाल सभा में मुस्लिम तुष्टिकरण की सरकारी नीति का विरोध करते हुए मांग की गई कि मुरादाबाद में बन रहे मुस्लिम विश्वविद्यालय का निर्माण रोका जाये। इस आयोजन के प्रमुख वक्ता प्रो० रामसिंह और महात्मा वेदभिक्षु थे।

इसी सिलसिले मे महिलाओ की हुई एक सभा मे भी इन मागो को दोहराया गया। □

### रिश्ते ही रिश्ते !

सभ्रान्त परिवारो के पुत्र-पुत्रियो के वैवाहिक सम्बन्धो के लिए श्री राममूर्ति कैला, प्रधान आर्यसमाज हनुमान रोड, नई दिल्ली की सेवाओं से लाभ उठायें।

### इस अंक में......



सम्पादक—वि० सा० विद्यालंकार

**वेद मनन :**

# व्रत पूरा करना है तो त्याग के लिए उद्यत रहो

**व्रत कृणुत, अग्नि ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः ।**
**दैवींधियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसम्;**
**सुतीर्था नो असद्वशे ये देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवः,**
**तेनोऽवन्तु ते न पान्तु तेभ्यः स्वाहा ।। यजु. ४-११**

ऋषय :—आंगिरसः । देवता—अग्निः, यज्ञो वा ।

शब्दार्थ—अंग-अंग मे जीवन शक्ति को धारण करने वाला गुरु (ऋषि) शिष्य को जीवनयापन का प्रकार बताने की इच्छा से उपदेश देता है कि —

(अग्नि) स्वयं प्रगति करने और दूसरो को आगे बढाने का सकल्प (ब्रह्म) ब्रह्म के समान सखा, बडा बनाने वाला है। (अग्नि) प्रगति सकल्प ही (यज्ञ:) श्रेष्ठ कर्मों का प्रवर्तक है। (वनस्पति) ज्ञान अथवा सम्यक् भक्ति मे श्रेष्ठता (स्वामित्व) प्राप्त करके ही मनुष्य (यज्ञिय) पूजा के योग्य, सगति के योग्य अथवा ज्ञान या भक्ति का प्रसार करने योग्य बनता है। इसलिए इन तीनों बातो को ध्यान मे रख कर (व्रतं कृणुत) अपने जीवन के लिए कोई सकल्प—ग्रहण करो और उसे रूप मे परिणत करने के लिये जीवन भर उसके लिए अनुष्ठान करो।

शिष्य गुरु से प्रार्थना करते हैं कि —

हम (समृडीकाम्) सुगमता से सुख प्राप्त कराने वाली (वर्चोधाम्) ज्ञान और दीप्ति धारण कराने वाली (यज्ञवाहसम्) सब श्रेष्ठ कर्मों तथा परमेश्वरोपासन को प्राप्त कराने वाली (दैवीधियम्) दिव्य बुद्धि तथा तदनुसारिणी क्रिया शक्ति की (अभिष्टये) अपने अभीष्ट सकल्पो की पूर्णता तथा प्राप्ति के लिए (मनामहे) याचना करते है। आप ऐसी कृपा कीजिये कि आपके सान्निध्य मे निवास करते हुए (सुतीर्था) सब बाधाओ को पार करा के, सकल्प को पूर्ण कराने वाली तथा जीवन नदी को तराने वाली दिव्य बुद्धि (नः) हमारे (वशे) वश में (असत्) रहे।

गुरु शिष्य दोनों मिलकर परस्पर सहयोग भावना से प्रण करते हैं कि हम दोनों को इस सकल्प को पूर्ण कराने के लिए —

(मनोजाता.) मन मे उत्पन्न हुई (ये) जो (देवा:) दिव्य भावनाए हैं, और (मनोयुज:) मन से संयुक्त होकर कार्य करने वाली (ये) जो (देवा.) ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, और (दक्षक्रतव.) बल तथा दक्षता से कार्य करने वाली (ये) जो (देवा:) कर्मेन्द्रियाँ है (ते) वे सब (न) हमे (अवन्तु) प्रगति, ज्ञान, क्रिया शक्ति प्रदान करके सदा आगे बढाती रहे। (ते) उपरोक्त सब देव (न) हमारी आपत्तियाँ तथा कठिनाइया आने पर (पान्तु) रक्षा करते रहे।

(तेभ्य:) इन सब दिव्य भावनाओ संकल्पों को पूर्ण करने के लिए हम (स्वाहा=सु—आ—हा) अच्छे रूप में, सब प्रकार के, अपने सुख सुविधाओ को त्यागने के लिए उद्यत रहने का प्रयत्न करते हैं और अभ्यास के द्वारा उनका पूर्ण त्याग करते हैं।

यदि हम अपने संकल्प के लिए जीवन को स्वाहा कर सके, तो हमारे बाद जनसमूह अवश्य कहेगा कि—(स्वाहा) इन गुरुशिष्यो की बुद्धि सत्यमयी थी, वाणी सत्य थी, और जो कहते थे उसे करके दिखाने वाले थे—इनकी क्रिया सत्य थी।

निष्कर्ष—१—प्रथम आगे बढने, बडा बनने, पूज्य बनने के उपाय तथा प्रकार जानने चाहिए। उसके बाद उनमें से किसी एक को अपना लक्ष्य निर्धारित करना चाहिए। लक्ष्य प्राप्ति का संकल्प लेकर उसे पूरा करने के लिए तदनुकूल ज्ञान प्राप्त करके कर्म करते रहना चाहिए।

सकल्प सिद्धि के अनुकूल अपनी भावनायें बनानी चाहिये। अपनी ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों का प्रयोग करना चाहिए। यहाँ तक कि संकल्पपूर्ति के लिए आत्म बलिदान (स्व आहुति) तक करने को उद्यत रहना चाहिए।

२—इस प्रकार अपने लक्ष्य प्राप्ति के लिए सकल्प को पूर्ण करने की इच्छा से आत्म बलिदान करने वाले महापुरुष —स्वामी दयानन्द, महात्मा ईसा, स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा बुद्ध और महात्मा गाधी प्रभृति महान् (ब्रह्मसमान) बन जाते हैं। सब उनकी (यज्ञिय) मानकर पूजते हैं। ये महापुरुष ही जाति और देश को आगे बढाने वाले (अग्नि) होते हैं।

विशेष—इस मन्त्र का ऋषि—अगिरस या आंगिरस सकेत करता है कि जब तक गुरु और शिष्य दोनो के अंगो मे जीवनी शक्ति, मनो में दृढ़ सकल्प और आत्मा में परमात्म विश्वास नहीं होगा तब तक वे न स्वयं अग्नि बन पायेंगे, न किसी यज्ञ को पूरा कर पायेंगे।

अर्थ पोषक प्रमाण—मनामहे याञ्चा कर्मसु। नि. ३-१९-१६, यज्ञियः—यज्ञार्हः।

यज्ञ—यज्ञ देव पूजा संगति करण दानेषु। अवन्तु—अव—गति—अवगम क्रिया—वृद्धिषु।

वनस्पति :—वनु ज्ञाने, ज्ञानाध्यक्ष। वणषण सभक्तौ भक्तशिरोमणिः।

व्रत: व्रतम्—सकल्प, आचरण, जीवनचर्या, अनुष्ठान, कर्म। आपटेकोश

अगिरस :—अंग-अंग में जिनके रस (जीवनी शक्ति) है।

आंगिरस :—अंगिरा का पुत्र या शिष्य।

अग्नि :—परमात्मा, प्रगति, संकल्प

वर्चोधाम्—विद्यां दीप्ति दधातिताम्। यज्ञवाहसम्—यज्ञ परमेश्वरोपासनं वहति प्रापयति। स्वामी दया०। मनोजाता—मन में उत्पन्न भावनाए।

मनोयुजः—मन से जुड़कर कार्य करने वाली ज्ञानेन्द्रियां। दक्षक्रतवः—दक्षता तथा बल सहित कार्य करने वाली कर्मेन्द्रिया।

स्वाहा—सत्यामतिः, सत्यावाणी, सत्याक्रिया। स्वामी दया०। सु+आ+हा (भगवदाचार्य)

—मनोहर विद्यालंकार



**'लेह लद्दाख को केंद्र शासित बनायें' :**

# शेख अब्दुल्ला के पुराने पैंतरे फिर चालू

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री लाला रामगोपाल शालवाले ने भारत की प्रधान मन्त्री को पत्र लिखकर लेह लद्दाख की स्थिति की ओर ध्यान आकृष्ट किया है और अपने पत्र में लाला जी ने लिखा है कि यदि तुरन्त लेह लद्दाख को शेख के चगुल से नहीं बचाया गया तो वह क्षेत्र मुसलमान बहुल बना दिया जायेगा।

लेह के सम्बन्ध मे शेख की चाल को उजागर करते हुए आपने लिखा है कि वहां पर नियुक्त किए जाने वाले अधिकारी मुसलमान ही होते हैं। ये अधिकारी अपने प्रशासनिक कार्यों के साथ-साथ तबलीग (धर्म परिवर्तन) कराकर उनको मुसलमान बनाते हैं।

लेह लद्दाख का व्यापार भी केवल मुसलमानों के हाथ में ही दिया गया है। वहां के निवासी बौद्धों के हाथ से जिविका के साधन छीने जा रहे हैं। जिससे मजबूर होकर बौद्ध इस्लाम को स्वीकार करने पर मजबूर होते है। उनके मुसलमान बन जाने पर शेख सरकार सभी सुविधायें प्रदान कर देती है। अपने पत्र को पूरा करते हुए श्री लाला जी ने शेख साहब के जम्मू में किए कारनामों का भी जिक्र किया है जिसमें बताया है कि जम्मू में अबक खान मुसलमानों को बसाकर हिन्दुओं को अल्पसख्यक बनाने की कोशिशें पूरे जोर से चल रही हैं।

भारत सरकार चेते और लेह लद्दाख को केन्द्र शासित बनाकर शेख के चंगुल से बचाये और वहाँ के निवासी बौद्धों और लामाओं को कम जातियों में सम्मिलित करके सुविधा प्रदान करें।

इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि लद्दाख क्षेत्र में काफी समय से यह आन्दोलन चल रहा है कि उसे कश्मीर राज्य से अलग करके केन्द्र शासित क्षेत्र बना दिया जाए। इस मांग का मुख्य कारण स्थानीय लोगों की यह शिकायत है कि उनके साथ भेदभाव बरता जाता है और उनके क्षेत्र के आर्थिक विकास पर किसी प्रकार का ध्यान नहीं दिया जाता। अब यह आन्दोलन इस रूप में

(शेष पृष्ठ ६ पर)

**ग्राहकों से निवेदन है जिनका वार्षिक शुल्क समाप्त हो गया है, वे कृपया अपना शुल्क शीघ्र से शीघ्र भेजने का कष्ट करें।**

## सम्पादकीय

# साम्प्रदायिक नियुक्तियां

समाचार पत्रों से पता चलता है कि आन्ध्र प्रदेश में केन्द्रीय रिजर्व पुलिस के १५५ स्थानों को भरने के लिए ४६ मुसलमान २६ अनुसूचित जाति, ११ अनुसूचित जनजाति, ११ भूतपूर्व सैनिक भरती करने का निश्चय किया गया है। शेष ५७ स्थान सर्वसाधारण के लिए होंगे। साम्प्रदायिक आधार पर इस प्रकार की नियुक्तियां न केवल संविधान के विरुद्ध हैं बल्कि भारत सरकार की अब तक की नीतियों के भी विपरीत हैं। सरकारी नियमों के अनुसार अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और सैनिकों के लिए तो स्थान सुरक्षित रखे जा सकते हैं परन्तु मुसलमानों, ईसाईयों, सिखों, हिन्दुओं या अन्य सम्प्रदायों अथवा वर्गों के लिए आरक्षण की कोई व्यवस्था नहीं है। पिछड़े वर्ग के लोगों के लिए स्थान सुरक्षित रखने की भी सरकारी नियमों में कोई व्यवस्था नहीं है।

साम्प्रदायिक आधार पर की जाने वाली नियुक्तियां क्योंकि संविधान विरोधी हैं। इसलिए सरकार भी इस प्रकार की नियुक्तियों के समाचारों का खंडन करती रही है। सरकार ने अतिरिक्त केन्द्रीय रिजर्व पुलिस की ७ बटालियन बनाने का जो फैसला किया है उसके प्रथम चरण में ही इस प्रकार की साम्प्रदायिक नियुक्तियों की व्यवस्था की गई है। इसकी पुष्टि स्वयं सरकार द्वारा इन नियुक्तियों के लिए दिये गये विज्ञापनों से हो जाती है।

पिछले दिनों उत्तर प्रदेश तथा देश के अन्य भागों में जो साम्प्रदायिक दंगे हुए अथवा मुरादाबाद में जो मुस्लिम विद्रोह हुआ, उसके बाद निरन्तर कुछ राजनीतिक दलों और मुस्लिम संगठनों द्वारा यह मांग की जाती रही है कि पुलिस में मुसलमानों को उनकी जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व दिया जाये। इस प्रकार की मांग करने वालों में कांग्रेस आई के संसद सदस्य भी रहे हैं। इसी मांग अथवा राजनीतिक दबाव के सामने भारत सरकार झुक गई और उसने ७ या ८ अतिरिक्त केन्द्रीय रिजर्व पुलिस दल बनाने की घोषणा की इसके साथ ही यह भी समाचार अखबारों में छपा कि इन बटालियनों ने कुछ अल्पसंख्यक सम्प्रदायों को विशेष प्रतिनिधित्व दिया जायेगा। परन्तु इस समाचार का केन्द्रीय गृहमन्त्री ने खण्डन किया। गृहमन्त्री का कहना था कि इन विशेष बटालियनों का उद्देश्य केवल दंगों का सामना करना होगा। परन्तु अब तथ्य जिस रूप में सामने आ रहे हैं उनसे यह स्पष्ट हो गया है कि देश में एक बार फिर से साम्प्रदायिक नियुक्तियों का नया दौर शुरू हो गया है।

ऐसा प्रतीत होता है साम्प्रदायिक आधार पर नियुक्तियां करने का फैसला करते समय केवल अपने वोट बैंक के विस्तार का ध्यान रखा गया। इससे उत्पन्न होने वाले राजनीतिक परिणामों पर ध्यान नहीं दिया गया। दुर्भाग्यवश स्वतन्त्रता पूर्व के उन तथ्यों को भी सामने नहीं रखा गया जिनके कारण सन् ४७ तक आते-आते देश की पूरी प्रशासनिक व्यवस्था साम्प्रदायिक आधार पर बंट चुकी थी और प्रशासन के विभिन्न सम्प्रदाय परस्पर विरोधी और देश के हितों के विपरीत कार्य करने में लगे हुए थे। ये नई साम्प्रदायिक नियुक्तियां अब फिर से प्रशासन तन्त्र के भीतर उन साम्प्रदायिक तत्वों को एक दूसरे के आमने-सामने एक दूसरे के विरोधी शिविरों में लाकर खड़ा कर देंगी और इस प्रकार पूरा प्रशासन तन्त्र प्रभावहीन हो जायेगा और देश के विभिन्न सम्प्रदायों को एक दूसरे के विरुद्ध खड़ा करने के काम में जुट जायेगा।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हमारे देश में इस समय विभिन्न सम्प्रदायों के लिए अलग-अलग कानूनों की व्यवस्था, एक ही क्षेत्र में दो भाषाओं की व्यवस्था, पहले ही देश को एक नये विभाजन की दिशा में ले जा रही है। अब ये साम्प्रदायिक नियुक्तियां इन विभाजनवादी प्रवृत्तियों को और अधिक प्रोत्साहन देंगी और इस प्रकार एक बार फिर से देश के खंडित होने का खतरा पैदा हो जायेगा।

□

# जनगणना और आर्यसमाज

इस बार देश भर में जनगणना का अन्तिम दौर फरवरी १९८१ के प्रथम सप्ताह से प्रारम्भ हो रहा है। इसमें अन्य सूचनाओं के साथ परिवार के मुखियों और व्यक्तियों के धर्म भाषा और जाति सम्बन्धी जानकारी भी एकत्रित की जायेगी। आर्यसमाज की दृष्टि से भी इस जनगणना में इन आकड़ों का बड़ा महत्व है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है, प्रजातन्त्र में संख्या का वैसे भी बड़ा महत्व है उसी के आधार पर सरकार की धार्मिक, सामाजिक आदि अनेक नीतियां निर्धारित होती हैं।

### सार्वदेशिक सभा का आदेश

गत जनगणनाओं के समान इस बार भी सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने अपने २३ सितम्बर १९८० के सर्व सम्मत निश्चय द्वारा सब आर्य समाजों, आर्य प्रतिनिधि सभाओं, शिक्षण संस्थाओं और आर्य स्त्री, पुरुषों को यह आदेश दिया है कि प्रत्येक आर्य नर-नारी अपनी जाति आर्य और धर्म वैदिक और भाषा हिन्दी लिखाये। संगठन और अनुशासन की दृष्टि से इस आदेश का पालन जरूरी है ही किन्तु सिद्धांत और ऋषि दयानन्द के स्पष्ट आदेशों के आधार पर अपने को केवल आर्य लिखना प्रत्येक आर्यसमाजी का नैतिक कर्त्तव्य भी है। सन् १८८१ की जनगणना के समय स्वयं ऋषि दयानन्द ने अपने एक परिपत्र द्वारा यह आदेश दिया था कि सब आर्य अपनी जाति 'आर्य' तथा धर्म 'वैदिक धर्म' ही लिखाये।

(देखिए कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार पत्र संख्या २०६) इसी आदेश के अनुसार १८८१ से अभी तक की सारी जनगणनाओं में आर्यों ने अपने को आर्य ही लिखाया हैं।

### हिंदू आर्य विवाद :—

यह स्मरण रखने योग्य बात है कि जब हिन्दू और आर्य शब्दों के सम्बन्ध के विवाद था तब भी आर्यों ने विरोध और बहिष्कार की चिन्ता किए बिना अपने को सब जनगणनाओं में आर्य ही लिखाया है, अब तो यह विवाद समाप्त प्रायः होकर नमस्ते के समान आर्य शब्द भी लोकप्रिय हो गया है। इस पर भी यदि हम अपने को आर्य लिखाने में किसी प्रकार का संकोच करते हैं तो यह केवल हमारी अपनी कायरता और कमजोरी का प्रमाण समझा जायेगा।

आर्य लिखने से हम हिन्दू समुदाय से अलग या भिन्न समझे जायेंगे यह आशंका भी अब नहीं रही। जैसा सार्वदेशिक सभा ने अपने आदेश में स्पष्ट कर दिया है कि आर्यों की पृथक गणना होने पर भी उनको हिन्दुओं से अलग नहीं समझा जायेगा, और उनकी गिनती हिन्दुओं की संख्या के योग में ही की जायेगी। यह स्पष्टीकरण भारत सरकार के जनगणना विभाग से अधिकृत सूचना प्राप्त करने के बाद किया गया है। सन १९७१ की भारत की जनगणना की रिपोर्ट के भाग २ (सी) के पृष्ठ ११० से ११६ तक में दिये गये धर्म सम्बन्धी आंकड़ों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि आर्य या आर्य समाजी अथवा वैदिक धर्म इनमें से कुछ भी लिखाने पर इन सबकी गणना हिन्दुओं के मुख्य शीर्षक के अन्तर्गत ही की गई है।

लेखक :
श्री दत्तात्रेय वाब्ले

### हिन्दू एकता और संगठन

हिन्दू एकता की दृष्टि से भी यदि सनातनी और पौराणिक धर्म से भिन्न होने के कारण हम अपने को आर्य लिखाते हैं तो उनके कारण जैन, बौद्ध और सिक्खों को भी ऐसा करने की प्रेरणा दी जा सकती है, उनके धर्म ग्रन्थों में और प्राचीन साहित्य में उन्हें भी आर्य कहा गया है। किन्तु वर्तमान में हिन्दू का गलत अर्थ केवल हिन्दू धर्म किए जाने के कारण वे अपने को हिन्दुओं से पृथक होने का आग्रह करते हैं। आर्य शब्द वैसे भी श्रेष्ठ तथा स्वाभीमान का वाचक है यही हम सबका अपनी व प्राचीन नाम भी है। इसलिए हम सब आर्य लिखाकर भी अपने भिन्न धर्मों के अन्तर्गत माने जा सकते हैं।

### सावधानी की आवश्यकता

आगामी जनगणना में धर्म, जाति आदि की सूचना परिवार के मुखिया या उस समय घर में उपस्थित व्यक्ति से ली जायेगी इसलिए हमें उन्हें अभी से सावधान कर देना चाहिए कि वे धर्म के उत्तर में आर्य, आर्य समाजी तथा वैदिक धर्म ही बताए। केवल आर्य लिखाने से भी धर्म वैदिक ही समझा जायेगा। चाहे जाति के उत्तर में हम और कुछ भी लिखा दें यद्यपि आर्यों को जाति के कालम में भी आर्य ही लिखाना चाहिये। इसी प्रकार आर्य या वैदिक के साथ हिन्दू लिखाने की भी आवश्यकता नहीं हैं। बल्कि दोनों लिखने से खतरा है कि गणक केवल हिन्दू ही लिखे और आर्य लिखना छोड़ दे या भूल जाये। कई राज्यों में गणकों को

(शेष पृष्ठ ८ पर)

आर्य महासम्मेलन, दिल्ली के अवसर पर :—

# स्वामी विद्यानन्द सरस्वती का वेद सम्मेलन में अध्यक्ष पद से दिया गया भाषण :

**(गतांक से आगे)**

पकड़-पकड़ कर बलात् यज्ञक्रिया में घसीटा जाने लगा। इतना ही नहीं, शतपथ ब्राह्मणादि वेद के व्याख्यान ग्रन्थों तक में प्रक्षेप कर उन्हें दूषित करने की चेष्टा की जाने लगी। यजुर्वेद के २३वें अध्याय के राजधर्म का प्रतिपादन करने वाले १९ से ३१ तक के मन्त्रों का इतना अश्लील और बेहूदा अर्थ किया गया है कि वैसा करने पर स्वयं महीधर ग्लानि अनुभव कर ३२वें मन्त्र का अर्थ करते हुए कहते हैं—"अश्लीलभाषणेन दुर्गन्धं प्राप्तानि अस्माकं मुखानि सुरभीणि यज्ञः करोतु।" अर्थात् इस अश्लील भाषण के कारण जो हमारे मुख दुर्गन्धित हो गये इन्हें यज्ञ सुगन्धित कर दे। मन्त्र में न अश्लील शब्द है और न मन्त्रों के अर्थों में कहीं अश्लीलता है। स्वयं ही पहले अश्लीलता आरोपित कर दी और स्वयं ही उस अपराध के लिए प्रायश्चित की बात कह डाली। शतपथ ब्राह्मण में भी इन मन्त्रों का वैसा अर्थ उपलब्ध है। परन्तु शतपथ ब्राह्मण में ही अन्यत्र इस मन्त्र का अत्यन्त शुद्ध, युक्तियुक्त एवं उपादेय अर्थ भी उपलब्ध है। इससे स्पष्ट है कि मांस भक्षण, मदिरापान, पशुबलि गुप्तेन्द्रिय-पूजन आदि आसुरी प्रवृत्तियों का ब्राह्मणादि ग्रंथों में प्रक्षेप कर दिया गया और उन्हें वेद की संज्ञा देकर अपनी मान्यताओं की वेद के नाम पर पुष्टि कर दी गई। क्या वेद इसी प्रकार के कुकृत्यों का प्रतिपादन करता है? यदि इसका उत्तर 'हां' में है तो बुद्ध जैसे पवित्र हृदय महात्मा के स्वर में स्वर मिला कर लोग यही कहने को विवश होंगे कि हम ऐसे वेदों को नहीं मानते। परन्तु इसमें वेद का दोष नहीं है। दोष उस ऐनक का है जिसमें से देखने पर सब हरा ही हरा दीख पड़ता है।

इसमें सन्देह नहीं कि सायणाचार्य ने अपने समय में वैदिक साहित्य में महान् प्रयास किया। इस प्रयास के लिए हम उन्हें साधुवाद दिये बिना नहीं रह सकते। परन्तु मूलभूत धारणा के भ्रान्त होने के कारण उन्होंने स्वयं ही अपने किये कराये पर पानी फेर दिया।

"सर्वं वेदात् प्रसिध्यति"—मानों भगवान् मनु के वचन की व्याख्या करते हुए सायणाचार्य ने तैत्तिरीय संहिता भाष्य के उपोद्घात में स्पष्ट घोषणा की—

"प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।

एतं विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता॥

अर्थात्—प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से जो नहीं जाना जाता वह वेदों से अवश्य जाना जाता है। यही वेद का वेदत्व है।

परन्तु 'राजा कालस्य कारणम्'—शासन व्यवस्था का प्रभाव साधारणतया छोटे बड़े सभी पर पड़ता है। सायणाचार्य विजयनगरम् राज्य में प्रधान मंत्री थे। वह यज्ञप्रधान युग था और यज्ञों में हिंसा अनिवार्य मानी जाती थी। उसी को लक्ष्य करके उसने वेदभाष्य किया। कारण कुछ भी रहा हो, जब सायणाचार्य के मन में यह धारणा घर कर गई कि वेदमन्त्र यज्ञ क्रिया का ही प्रतिपादन करते हैं और याज्ञिक अर्थ को ही कहते हैं तो यह स्वाभाविक था कि वेद सर्वज्ञानमयत्व विषयक अपनी प्रतिज्ञा को भूल कर वह अपना समस्त बौद्धिक वैभव यज्ञ प्रक्रिया के लिए समर्पित कर बैठने। त्रिविधप्रक्रिया में याज्ञिक प्रक्रिया भी एक है, तदनुसार भी मन्त्र का अर्थ होना चाहिए। पर सायणाचार्य ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की परम्परा का परित्याग कर वेद मन्त्रों का केवल याज्ञिक प्रक्रिया परक ही अर्थ किया। कर्मकाण्ड की भवर में फँसा होने के कारण उसने वेदार्थविषयक मूलभूत सिद्धांतों की अवहेलना वेद के आशय को यत्नपूर्वक कर्मकाण्ड के संकुचित सांचे में ढालने की चेष्टा की की जिससे प्रभु की पवित्र वाणी वेद का गौरव जाता रहा। वस्तुतः यज्ञविषयक मिथ्या धारणा ने सायण को वेदमन्त्रों के यथार्थ तक पहुंचने ही नहीं दिया। महीधर आदि का भाष्य वाममार्ग के रंग में रंगा है। इन भाष्यों को पढ़ने के बाद वेद में किसी की श्रद्धा नहीं रह सकती और पढ़ने वाला कभी नहीं मान सकता कि वेद परमेश्वर की बुद्धिपूर्वक रचना है (बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे-वै० द०) या उसमें उत्कृष्ट भावनाओं, उच्च आदर्शों या ज्ञान-विज्ञान का प्रतिपादन है। वेदार्थ के विषय में भ्रान्ति उत्पन्न करके संसार को वेद से विमुख करने में सबसे बड़ा हाथ सायण का रहा है। सायण का नाम बार-बार इसलिए भी आता है कि वेदों तथा ब्राह्मण ग्रंथों पर सबसे अधिक भाष्य सायण के ही उपलब्ध हैं।

इधर अनेक पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों ने सायणादि भाष्यकारों के आधार पर अथवा तुलनात्मक भाषाशास्त्र और निजी उद्भावनाओं के आधार पर वेदों के अर्थ किए। विदेशी विद्वानों का उद्देश्य ही भारतीय जनता में अपनी प्राचीन संस्कृति, सभ्यता तथा साहित्य के प्रति अश्रद्धा और घृणा पैदा करना था। इस दृष्टि से उन्हें सायण का भाष्य अपने अनुकूल जान पड़ा। उन्होंने वेद और वैदिक वांगमय के जो अर्थ अंग्रेजी में किए, वे सब सायण के आधार पर ही किए और इस प्रकार वे वेदों को गडरियों के गीत या जंगलियों की बड़बड़ाहट सिद्ध करने में सफल हुए। यह ठीक है कि विदेशी विद्वानों ने भारतीय न होते हुए भी संस्कृत साहित्य में, विशेषतः वैदिक वांगमय में अनुकरणीय उद्योग किया। परन्तु पक्षपात तथा शास्त्र विषय में गहरा ज्ञान न होने के कारण वे वैदिक साहित्य को उसके यथार्थ रूप में प्रस्तुत न कर सके। विदेशियों ने जिस ध्येय को लक्ष्य में रखकर हमारे साहित्य में इतना घोर परिश्रम किया उसका पता मोनियर विलियम्स द्वारा अपनी संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी की भूमिका में लिखे इन शब्दों से लग जाता है—

"That the special object of this munificent bequest (Boc'ek Chair) was to promote the translation of the scriptures into sanskrit, so as to enable his countrymen to proceed in the conversion of the natives of India to the christian religion.'

भाव यह है कि मिस्टर बोडन के ट्रस्ट द्वारा संस्कृत के ग्रन्थों के अनुवाद का कार्य भारतीयों को ईसाई बनाने में अपने देश (इंग्लैंड) वासियों को सहायता पहुंचाने के लिए हो रहा है। यही मोनियर विलियम्स अपनी पुस्तक The Study of Sanskrit in relation to missionary work in India (1861) में लिखते हैं।

"When the walls of the mighty fortress of Hinduism are encircled, undermined and finally stormed by the soldiers of the cross, the victory of christianity must be signal & complete."

इससे स्पष्ट है कि मोनियर विलियम्स का सारा परिश्रम हिन्दुत्व को नष्ट करके भारत में ईसाईमत की पताका फहराने का था।

समूचे भारत को ईसाई बना डालने का स्वप्न देखने वाले लार्ड मैकाले के जरखरीद गुलाम प्रो० मैक्समूलर का स्थान संस्कृत के यूरोपियन विद्वानों में सर्वोपरि माना जाता है। वेद के अनुसंधान और अनुवाद कार्य में प्रवृत्त होने का क्या उद्देश्य था, यह उन्होंने अपनी पत्नी के नाम लिखे एक पत्र में स्पष्ट किया है—

"This edition of mine and the translation of the vedas will hereafter, tell to a great extent on the fate of India. It is the root of their religion, and to show them what the root is, I feel sure, is the only way of uprooting all that has sprung from it during the last three thousand years."

(Life and Letters of Fredrick Maxmullar, Vol. I, Chapter XV, P. 34)

अर्थात् मेरा यह संस्करण और वेदों का अनुवाद भारत के भाग्य को दूर तक प्रभावित करेगा। यह उनके धर्म का मूल है, और उन्हें यह दिखा देना कि यह मूल कैसा है, गत तीन हजार वर्षों में इससे उत्पन्न होने वाली सब बातों को जड़मूल से उखाड़ फेंकने का एक मात्र उपाय है।

इतना ही नहीं, भारत सचिव (Secretary of State for India) के नाम १६ दिसम्बर १८६८ को लिखे अपने पत्र में मैक्समूलर ने लिखा—

"The ancient religion of India is doomed. Now, if Christianity does not step, in whose fault will it be ?"

(Ibid , Vol I, Chap. XVI, P. 378).

अर्थात् भारत का धर्म नष्टप्राय है, अब यदि ईसाईमत इसका स्थान नहीं लेती तो यह किसका दोष होगा ?

सन् १८३३ मे अपनी पुस्तक Religious and Philosophical System of the Hindus के लिखने का उद्देश्य प्रो० विलसन ने इनशब्दों में व्यक्त किया है—

'These lectures were written to help candidates for a prize of f200 given by John Muir, a great Sanskrit Scholar, for the best refutation of the Hindu religious system.''

भाव यह है कि संस्कृत के महान् विद्वान् जानम्यूर न हिन्दू धर्म का खंडन करने वाले सर्वश्रेष्ठ निबन्ध लेखक को २०० पौंड का पुरस्कार देने की घोषणा की। उन निबन्ध लेखकों की सहायता के लिए विलसन ने अपने भाषणों को लेख बद्ध किया।

कीथ, वेबर, विण्टरनित्ज, बुहलर, ग्रिफिथ, मैकडानल आदि सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे थे। सभी ने अपने-अपने ढंग से वैदिक साहित्य एवं संस्कृत को विकृत रूप देने का प्रयास किया। वस्तुत: इस सारे अनर्थ की जड़ मध्य कालीन आचार्यों विशेषत: सायण की वेदार्थ विषयक भ्रान्त धारणायें हैं। यदि इन विदेशी विद्वानो को सायण की अपेक्षा वेद का उत्तम भाष्य मिला होता तो संभवत: वेद की दुर्दशा न होती। पाश्चात्यों के द्वारा प्रस्तुत वेदादि शास्त्रों का वह स्वरूप अवश्य ही न होता जो अब है। सायण के वेदार्थ ने सबकी आंखों पर पट्टी बांध दी और अब राजनैतिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो जाने पर भी पाश्चात्यों के भारतीय मानस पुत्रो की आँखों पर वह ज्यों की त्यों बंधी है। ऐसा न होता तो मैं इस विषय का इतना विस्तृत विवेचन न करता भारतीय विद्याभवन के सस्थापक,गुजराती के महान साहित्यकार और भारतीय संस्कृति के प्रसिद्ध पोषक श्री कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी ने ऋग्वेद के आधार पर तत्कालीन आर्यों के विषय में लिखा है—

"इनकी भाषा में अब भी जंगली दशा के स्मरण मौजूद थे। मांस भी खाया जाता था, और गाय का भी। 'अतिथिग्व' जो मांस खिलाने वाले की बहुमानास्पद उपाधि थी। सर्वसाधारण सुरा पीकर नशा करते थे। ऋषि सोमरस पीकर नशे मे चूर रहते थे। वे रूपवती स्त्रियो को आकर्षित करने के लिए मन्त्रों की रचना करते थे। कुमारी से उत्पन्न बच्चे अधम नही समझे जाते थे। कई ऋषियों के पिताओं का पता न था। आर्य भेड़िये की तरह लोभी होते थे। बीभत्सता या अश्लीलता का कोई विचार न था आत्मा का कोई ख्याल ही नही था। ईश्वर की कल्पना नहीं, नाम नहीं, मान्यता नही। भारतवर्ष के मूल निवासी शिवलिंग पूजक दस्यु थे।"

—लोपामुद्रा की भूमिका

जब मैंने पत्र लिखकर ऋग्वेद के उन मन्त्रो को बताने का आग्रह किया जिनके आधार पर उन्होने यह सब लिखा था तो उन्होने अपने पत्र दिनांक २ फरवरी १९५० में मुझे लिखकर भेजा—

"I believe the Vedas have been composed by Human beings in the very early stage of our culture and my attempt in this book has been to create an atmosphere which I find in the Vedas as translated by western Scholars and as given in Dr. Keith's Vedic Index. I have accepted their views of life and conditions of those times."

अर्थात् मैं वेदो को संस्कृति के प्रारंभिक काल मे मनुष्य द्वारा रचित ग्रन्थ मानता हूँ। मैंने अपनी पुस्तक मे आर्यों के सम्बन्ध मे जो कुछ लिखा है उसका आधार पाश्चात्य विद्वानो, विशेषत: डा० कीथ द्वारा किया हुआ वेदो का अनुवाद है। मैंने उस समय के लोगो के जीवन और रहन-सहन आदि के सम्बन्ध मे उनका प्रमाण स्वीकार किया है।

श्री मुंशी ने अपनी पुस्तक The Creative Art of Life मे लिखा है।

"Westernism has taught us false values and that to under stand, recapture and live up to the best in our culture it is necessary for a student to discover for himself the Aryan disciple character and outlook and to wrest the secrets of the vedas"

अर्थात पाश्चात्यों ने हमे गलत बातें सिखाई हैं। स्वामी दयानन्द की प्रशंसा करते हुए उस पुस्तक में लिखा— Dayanand was learned beyoud the measure of man."

"अर्थात दयानन्द की विद्वता का पार मनुष्य नहीं पा सकता। जब मैंने श्री मुंशीलाल का ध्यान अपने कथन की ओर दिला कर पूँछा कि जब आप स्वामी दयानन्द की इतनी प्रशंसा और पाश्चात्यों की निन्दा करते हैं तो वेद के विषय में आप दयानन्द की बात न मानकर पाश्चात्य विद्वानो की बात को प्रमाण क्यो मानते है तो अपने पत्र दिनांक ३-२-५१ के द्वारा यह कह कर बात को समाप्त कर दिया—"I am afraid I am too occupied at present with other more important matters to discuss the points raised by you. We shall meet and discuss these academic matters when I have time."

अर्थात् हम कभी फुर्सत के समय मिल कर इन साहित्य सबन्धी बातों पर विचार करेंगे।

लोकमान्य तिलक की देशभक्ति एवं विद्वता पर तनिक भी सन्देह नहीं किया जा सकता। तथापि वेद के सबन्ध मे उनका दृष्टिकोण भी सामान्य लोगों जैसा ही था। 'मानववेर जन्मभूमि' के अनुसार जब उनसे पूँछा गया कि आर्यों के मूलस्थान के विषय मे आपने जो कुछ लिखा है वह वेदो मे कहाँ है ? तो तिलक महोदय ने स्पष्ट कह दिया— आमि मूल वेद अध्ययन करि नाई। आमि साहिब अनुवाद पाठ करियाछे।" अर्थात् हमने मूल वेद नही पढ़े। हम तो साहब लोगो के अनुवाद पढ़े हैं।

प्रसिद्ध भारतीय विद्वान बाबू सम्पूर्णानन्द ने अपनी पुस्तक 'गणेश' में यजुर्वेद (२३-१९) के प्रसिद्ध मन्त्र 'गणानां त्वा गर्भधम्' के महीधर कृत भाष्य को और उसमें होने वाले कृत्य को अत्यन्त अश्लील विचित्र तथा बेहूदा और फिर भी ठीक मानते हुए मेरे नाम अपने पत्र दिनांक १५ फरवरी १९५१ मे लिखा —"इस मन्त्र का जो अर्थ आपने लिखा है, सभव है, वह ठीक हो। फिर भी मैं ऐसा मानता हू कि वैदिक काल मे मद्य माँस आदि का व्यवहार होता था। पशु बलि भी होती थी।"

दुर्भाग्यवश, प्रकारान्तर से—प्राचीन भारत के इतिहास को निर्मित बनाकर— वेद और वैदिक कालीन आर्यो का जो चित्र वर्तमान और भावी पीढियो के सामने प्रस्तुत किया जा सकता है उसे पढ़ कर सुनकर किसी के भी हृदय मे अपने अतीत के प्रति गौरव भावना नही बनी रह सकती। इस सदर्भ मे दिल्ली में १३-१४ फरवरी १९६९ को सम्पन्न India History and Culture Society के वार्षिक अधिवेशन मे दिया बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डा० लल्लनजी गोपाल का यह वक्तव्य महत्वपूर्ण है—

"Dr. D. N. Jha of Delhi University who is joint Secretary of India History Congress said that beef-eating was part of Socio-economic life of the people of ancient India. He and his colleagues in Delhi University did not hide their Communistic leanings and said that they would live to interpret historical events and facts in Marxian terms. Before the communist party formed its government in China, it carried on for 20 years a systematic Compaign of books interpreting every aspect of chinese life in Marxian terms. The aim behind it was to prepare the minds of the people to accept the correctness of various phases of man's history as described by Marx. A similar attempt is being made by historians here."

—Indian Express, dated February 14-15, 1979.

सारांश यह है कि भारत के प्राचीन इतिहास की रचना योजनाबद्ध रूप से साम्यवादी रंग देकर की जा रही है। परिणामत: कुछ समय बाद बुद्धिजीवी वर्ग ही नही, साधारण लोग भी वेद की अमूल्य निधि से हाथ धो बैठेंगे।

सायण और उसके अनुगामी पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानो के निरुक्त प्रक्रिया की उपेक्षा करके लौकिक संस्कृत के आधार पर वेदार्थ करने का यह दुष्परिणाम हुआ कि हम सभ्य ससार के सामने मुंह दिखाने योग्य न रहे। इतना ही नही. ब्राह्मण ग्रंथो, शाखाओ श्रौतसूत्रो आदि अनेकानेक ग्रन्थो को भी वेद मानकर समय-समय पर उनमे हुए प्रक्षेपो सहित सब कुछ वेद के मत्थे मढ़ दिया गया। यौगिक अर्थों को न लेकर रूढ अर्थों के आधार पर उन्हे मनोरजक किस्से कहानियों का पिटारा बना दिया। इस प्रकार हमारी मस्तिष्क रूपी भूमि मे वेदो के प्रति अश्रद्धा की चट्टानें खड़ी हो गई।

वेद का एक-एक शब्द अपने पेट मे न जाने कितने ज्ञात एवं अज्ञात अर्थों को समेटे हुए हैं और फिर उन अर्थों के विशाल क्षेत्र मे जितना विचरण करते चले जायेंगे, उत्तरोत्तर नवीन अर्थ और ज्ञान की उपलब्धि के कारण वैदिक शब्दों के वास्तविक अर्थों से अनभिज्ञ होने के अतिरिक्त पाश्चात्य विद्वान् विकासवाद के खूटे से भी बंधे थे। यद्यपि मानव मे ज्ञान का विकास उसकी चिन्तन शक्ति के साहचर्य से होता है, तथापि जो कुछ ज्ञान वह प्राप्त करता है उसका आदि मूल वह स्वय नहीं है। वेद की ध्वनि अपने आदि स्रोत परमेश्वर से नि:श्वसित

—क्रमशः

(पृष्ठ २ का शेष)

भी उग्र हो गया है कि धार्मिक दृष्टि से भी यहाँ के बौद्ध लोग अपने धार्मिक और सास्कृतिक अस्तित्व को भी संकट में पाते हैं। अपनी माँगें मनवाने के लिए लद्दाख मे स्थानीय लोगों ने जो आदोलन शुरू किया है इसके कारण दिसम्बर की समाप्ति पर लेह में पुलिस ने गोली चलाई। इसके कारण स्थिति वहाँ और भी अधिक अशान्त हो गई है और असन्तोष फैलता जा रहा है।

लद्दाख क्षेत्र के लोगों की शिकायतो की जांच के लिए लगभग दो दशक पूर्व श्री पी० बी० गजेन्द्रगडकर की अध्यक्षता मे एक आयोग नियुक्त किया था। इस आयोग ने जो सिफारिशे की थी उनसे स्थिति में सुधार नही हुआ। पिछले वर्ष जम्मू क्षेत्र मे क्षेत्रीय भेदभाव की शिकायत होने की उच्चतम न्यायालय के एक और सेवा निवृत न्यायाधीश श्री एस० एन० सीकरी की अध्यक्षता में एक आयोग नियुक्त किया गया था जिससे कि जम्मू कश्मीर राज्य के कश्मीर घाटी जम्मू क्षेत्र और लद्दाख क्षेत्र के असन्तुलन को दूर किया जा सके। इस आयोग ने जब अपना प्रतिवेदन दिया उस समय जम्मू के स्थान पर लद्दाख में क्षेत्रीय आन्दोलन उग्र हो चुका था।

यद्यपि सीकरी आयोग ने अखिल भारतीय दृष्टि से यह बात स्वीकार नहीं की कि लद्दाख को एक स्वशासित क्षेत्र बना दिया जाए अथवा केन्द्र शासित क्षेत्र बना दिया जाए तो भी इस बात पर जोर दिया गया कि लद्दाखी लोगों की भावनाओं को ध्यान मे रखते हुए इस क्षेत्र के आर्थिक विकास के साथ उनके धर्म और उनकी सास्कृतिक परम्परा को सुरक्षित रखने के प्रयत्न किए जाने चाहिए।

यह एक उल्लेखनीय बात है कि जम्मू कश्मीर राज्य का बहुत बड़ा क्षेत्र लद्दाख क्षेत्र में आता है। इस क्षेत्र की तुलनात्मक दृष्टि से आबादी बहुत कम है। आर्थिक विकास के लिए इस क्षेत्र को जो पैसा दिया जाता है वह आबादी के हिसाब से दिया जाता है। परिणाम यह होता है कि इस क्षेत्र के विकास के लिए बहुत ही कम पैसा उपलब्ध हो पाता है। उनके इस आर्थिक पिछड़ेपन का लाभ कश्मीर सरकार के सरक्षण प्राप्त मुल्ला वर्ग उठाता है जिसके कारण धीमे-धीमे इस क्षेत्र में बौद्धों की संख्या कम होती जा रही है। शिक्षा की दृष्टि से भी यह क्षेत्र इतना पिछड़ा हुआ है कि इस सारे क्षेत्र में एक भी कालिज नहीं है। पिछड़े सितम्बर मे लद्दाख क्षेत्र के जनस्कार क्षेत्र में जब पुलिस ने गोली चलाई तो पुलिस की गोली से घायल हुए लोगों को ३०० किलोमीटर दूर एक हस्पताल में ले जाना पड़ा क्योंकि इससे अधिक निकट और कोई हस्पताल नहीं था। यह स्थिति इस क्षेत्र के पिछड़ेपन पर अच्छा प्रकाश डालती है। ऐसी स्थिति में इस क्षेत्र के लोगो की अपने आर्थिक विकास के लिए अधिक धनराशि की मांग और अपनी संस्कृति और परम्पराओं की रक्षा की मांग किसी भी प्रकार अनुचित नहीं कही जा सकती।

राजनीतिक स्तर पर लद्दाखी लोगो का कहना है कि शेख अब्दुल्ला उनके क्षेत्र की ओर इसलिए ध्यान नहीं देते क्योंकि लोकसभा और राज्य विधान सभा, दोनों के चुनावों के समय उन्होंने शेख साहब के उम्मीदवारो को वोट नहीं दिए थे। राजनीतिक स्तर पर इस प्रकार का भेदभाव पृथकता की भावना को पैदा करता है और जब उसके साथ धार्मिक समस्या भी जुड़ जाती है तो स्वाभाविक है कि स्थानीय असन्तोष और अधिक बढ़े। □

## गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन का हीरक जयन्ती समारोह

गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन (मथुरा) का चिर प्रतीक्षित ६१वाँ वार्षिकोत्सव दि० ४, ५, ६ तथा ७ फरवरी १९८१ तदनुसार माघ कृष्णा ३० से माघ शुक्ला ३ सम्वत् २०३७ बुधवार से शनिवार तक हीरक जयन्ती के रूप मे समारोहपूर्वक कुलभूमि में सोत्साह आयोजित किया जा रहा है।

उत्सव में आर्य जगत् के गणमान्य नेता, केन्द्रीय एव प्रान्तीय स्तर के मन्त्री उच्चकोटि के साधु, सन्यासी, महोपदेशक एव भजनोपदेशक पधार रहे हैं।

इसी अवसर पर नवीन स्नातकों का समावर्त्तन संस्कार एव दीक्षान्त समारोह भी सम्पन्न होगा। साथ ही वेद सम्मेलन, सस्कृत सम्मेलन, राष्ट्रभाषा सम्मेलन, गुरुकुल सम्मेलन, आर्य-सम्मेलन, कवि सम्मेलन आदि का अभूतपूर्व आयोजन भी है।

# आर्यसमाजों के सत्संग

२५-१-८१

अंधा मुगल प्रताप नगर—वैद्यरामकिशोर; अमर कालोनी—श्रीमती लीलावती; अशोक विहार के-सी-५२-ए—पं० आशा नन्द भजनोपदेशक; —आर के पुरम सैक्टर६—पं० अशोक कुमार विद्यालंकार; आर के पुरम सैक्टर ६—प० हीरा लाल शास्त्री; आनन्द विहार हरि नगर एल ब्लाक—पं० सत्य पाल मधुर भजनोपदेक; किंग्ज वे कैम्प—पं० प्रकाश चन्द्र वेदालंकार; किदवई नगर—प० देवेश; कालका जी—डा० सुखदयाल भूटानी; कालका जी डी. डी, ए. फ्लैटस एल-१/१४३-ए—प० प्रेम श्रीधर; कोटला मुबारिक पुर—पं० दिनेश चन्द्र शास्त्री; गांधी नगर—पं० वेदपाल शास्त्री; ग्रेटर कैलाश I—डा० महावीर सांख्य दर्शनाचार्य, ग्रेटर कैलाश II—आचार्य रामशरण मिश्रा शास्त्री; १५१-गुप्ता कालोनी—पं० सीसराम भजनोपदेशक; गोविन्द भवन दयानंद वाटिका—पं० जगदीश प्रसाद विद्यावाचस्पति; जंग पुरा भोगल—प्रो० वीर पाल विद्यालंकार; जनकपुरी बी/३/२४—पं० प्राणनाथ सिद्धातलंकार; तिलक नगर—डा० लखमी दास; तीमार पुर—प० देवराज वैदिक मिश्नरी; दरियागंज—पं० वीर व्रत शास्त्री; नारायण विहार—प० राम रूप शर्मा; न्यू मोती नगर—पं० महेन्द्र प्रताप शास्त्री; न्यू मुलतान नगर प० प्रकाश वीर व्याकुल पंजाबी बाग—प्रो० सत्य पाल वेदार; पंजाबी बाग एकस्टैंशनन १४/३—प० ओम प्रकाश भजनोपदेशक; बाग कड़े खां—पं० बरकत राम भजनोपदेशक; बाजार सीताराम—पं० ईश्वर दत्त एम-ए; माडल टाऊन—पं० प्रकाश चन्द शास्त्री; माडल बस्ती—पं० विजय पाल शास्त्री तथा स्वामी स्वरूपा नन्द भजनोपदेशक; महावीर नगर—प० केशव चन्द्र मुन्जाल; महरौली—पं० हरीश वेदी; मोती नगर—प० हरि दत्त शास्त्री; रमेश नगर—पं० सत्य काम वेदालंकार; राणा प्रताप बाग—श्रीमती प्रकाश वती शास्त्री; रोहतास नगर—पं० दिवाकर शर्मा; लाजपत नगर -पं० सत्य भूषण वेदालंकार; विक्रम नगर—पं० महेश चन्द भजनोपदेशक; विनय नगर—प० गणेश प्रसाद विद्यालंकार; सदर बाजार पहाड़ी धीरज—प० खुशी राम शर्मा; सुदर्शन पार्क—प्रो० भारत मित्र शास्त्री; सोहन गंज—प० विश्व प्रकाश शास्त्री; साकेत—आचार्य हरिदेव सि० भू०; हौज खास ई-४६—डा० रघुनन्दनसिंह;

(ज्ञानचन्द डोगरा वेद प्रचार विभाग)

# आर्यसमाज की गतिविधियां

## गुरुकुल घरौंडा का उत्सव

श्री वेद विद्यालय गुरुकुल घरौंडा जि० करनाल हरियाणा का ४३वां वार्षिक महोत्सव अन्य वर्षों की भांति फाल्गुन सुदी ८, ६, १० संवत् २०३७ तदनुसार १३, १४, १५, मार्च १६८१ को मनाया जा रहा है। जिसमें आर्य जगत् के विद्वान तथा भजनोपदेशक पधारेंगे। १० मार्च से १५ मार्च तक यजुर्वेद परायण यज्ञ सम्पन्न होगा, पूर्णाहुति १५ मार्च को प्रातः ६ बजे होगी जिसमे आसपास के देहात के यजमान आहुति देकर लाभ उठायेंगे। उत्सव पर गो रक्षा आदि अनेक सम्मेलनों का भी आयोजन किया जायेगा।

## जिला आर्य सभा लुधियाना का निर्वाचन :

प्रधान—श्री रणवीर भाटिया

मन्त्री—डा० एस० वी० बांगिया

कोषाध्यक्ष—श्री बलदेव राज सेठी

तीनो पदाधिकारी सर्व सम्मति से चुन लिए गए। साधारण सभा ने श्री भाटिया जी को अन्य अधिकारी तथा अन्तरंग सभा के सदस्यों की नियुक्ति का अधिकार दे दिया। शान्ति पाठ के पश्चात वार्षिक अधिवेशन समाप्त हुआ।

## वार्षिक निर्वाचन आर्य पुरोहित सभा दिल्ली प्रदेश

१. पं० चन्द्रभानु जी सिद्धान्त भूषण —संरक्षक
२. वैद्य आचार्य विक्रम जी एम. ए. —प्रधान
३. श्री प. चिन्तामणि जी एम. ए. एल. एल० बी० —उपप्रधान
४. श्री यशपाल जी शास्त्री —मन्त्री
५. श्री मेघ श्याम वेदालंकार उपमन्त्री
   श्री रूप किशोर शास्त्री ,,
६. श्री पं. ओमप्रकाश आर्य पथिक —कोषाध्यक्ष
७. श्री जयप्रकाश शास्त्री प्रचार मन्त्री
८. श्री प. प्रकाश चन्द्र शास्त्री (पटौदी हाउस) —लेखा निरीक्षक

□



## लाला किशोरी लाल शोकग्रस्त

आर्य समाज सदर बाजार, दिल्ली के प्रधान श्री किशोरीलाल जी की धर्मपत्नी का रविवार ११ जनवरी को देहावसान हो गया। परमात्मा से प्रार्थना कि दिवंगत आत्मा को सद्गति एवं उनके परिवार को धैर्य प्रदान करे। 'आर्य संदेश' परिवार अपनी हार्दिक संवेदना प्रकट करता है।

## आर्यवीरदल होडल की स्थापना

आर्य वीर दल, हरियाणा के तत्वावधान मे आर्य वीर दल, होडल की स्थापना की गई है जिसमे सर्व सम्मति से निम्नलिखित पदाधिकारी निर्वाचित हुए :—

सर्वश्री हेतराम जी (संचालक), अग्रसैन सचदेव (नगर नायक), यशपाल जी (मन्त्री), गुरुदत्त जी, (व्यायाम, शिक्षक), ठाकुरदास जी (बौद्धिकाध्यक्ष, उदयभान जी (अर्थनायक) तथा जगदीशचन्द जी (कुमार सभा संचालक)।

(पृष्ठ ३ का शेष)

आदेश है कि वे हिन्दू या आर्य में से एक ही लिखें दोनों नहीं।

इस प्रकार केवल आर्य लिखाने से हिन्दुओ मे अपने आप ही गिनती हो जायेगी किन्तु दोनों लिखाने से तो आर्यों में गिनती न किए जाने की आशंका रहेगी। सार्वदेशिक सभा ऋषि दयानन्द के आदेश के अनुसार जनगणना में आर्य ही लिखाने के सम्बन्ध में अभी से आवश्यक सूचना छपवाकर प्रत्येक घर मे बटनी चाहिए तथा सभाओं और प्रभात फेरी और व्यक्तिगत सम्पर्क द्वारा प्रचार करना चाहिए। यह कार्य स्थानीय प्रान्तीय व सार्वदेशिकस्तर पर नियमित और संगठित रूप से होना चाहिए। ऐसा न करने से आर्यों की संख्या [illegible] और परिणामस्वरूप यह आर्य समाज की निर्बलता और प्रभावहीनता का ही द्योतक बनेगा और धीरे-धीरे आर्य तथा आर्य समाजियो का नाम तक मिट जायेगा। इसलिए आर्यसमाज की शक्ति और प्रभाव का सही चित्रण करने के लिए भी आर्यों की अधिक से अधिक संख्या होना आवश्यक है।

## महात्मा हंसराज जन्म दिवस समारोह

आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, [illegible] संस्थाओं की ओर से महात्मा हंसराज जन्मदिवस रविवार, १९ [illegible] १९८१ को प्रात: ८ बजे से १२ बजे तक आर्य समाज मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली में मनाया जायेगा।

इस समारोह में आर्य नेता, सन्यासी गण तथा डी० ए० वी० के प्राध्यापक आदि पूज्य महात्मा जी को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करेंगे।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के लिए श्री [illegible]

ओ३म् कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

# आर्य सन्देश

दिल्ली आर्यप्रतिनिधि सभा का साप्ताहिक मुखपत्र

एक प्रति ३५ पैसे, वार्षिक १५ रुपये वर्ष ४, अंक १४ रविवार १ फरवरी १९८१ [illegible]ब्द १५६

# इतिहास की पाठ्य पुस्तकों के पुनर्लेखन का निर्णय

## सभा मन्त्री द्वारा इस निर्णय को सतर्कतापूर्वक लागू करने की अपील : आर्यसमाजों को सतर्क होने की आवश्यकता

प्रचार, शिक्षा और रोजगार सबधी विभिन्न मन्त्रालयो के अधिकारियो की एक बैठक मे यह निर्णय किया गया है कि १९८२ और ८३ के शिक्षा वर्ष के शुरू होने से पहले इतिहास और भाषा सम्बन्धी सभी पाठ्यपुस्तको की पूरी तरह से जाँच करके उनमें से साम्प्रदायिक पक्षपात के अश हटा दिये जायेंगे। इसका उद्देश्य यह बताया गया है कि लोगो में विशेष रूप से युवको मे धर्म निरपेक्षता की भावना पैदा की जा सके।

इस प्रयोजन से सरकार के प्रचार विभाग और जनसपर्क के माध्यमो को निर्देश दिए गए हैं कि वे लोगो मे धर्म निरपेक्षता की प्रवृत्ति पैदा करें और इसी आधार पर कार्यक्रम तैयार कर प्रचरित प्रसारित करने के लिए इन विभागो से कहा गया है।

श्रम मत्रालय से कहा गया है कि वह अपने रोजगार विभागसे अल्पसख्यको को पर्याप्त सख्या मे रोजगार दिलाने की व्यवस्था करे। इसी निश्चय के अनुसार बैंकिग विभाग साम्प्रदायिक दगों के शिकार लोगो के तेजी से पुनर्वास के लिए आदेश जारी करेगा।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के मंत्री ने सरकार के इस निर्णय का स्वागत किया है कि साम्प्रदायिक दगो के पीडित लोगों के पुनर्वास के लिए देश के राष्ट्रीय बैंक भी हिस्सा लेंगे। उन्होंने आशा व्यक्त की है कि सहायता सम्बन्धी नीति के अन्तर्गत वैसा भेदभाव नही बरता जायेगा जैसाकि मुरादाबाद के मुस्लिम विद्रोह और उसके बाद हरिजन बस्ती पर आक्रमण के बाद बरता गया। मुरादाबाद मे मुस्लिम विद्रोह मे मारे गये लोगो के परिवारो के बसाने की जितनी तेजी से व्यवस्था की गयी उसकी तुलना मे दगे से पीडित हरिजन के पुनर्वास पर बहुत कम ध्यान दिया गया। साम्प्रदायिक सद्भाव के लिए इस असन्तुलन को दूर करने पर ध्यान देने की आवश्यकता है।

विभिन्न मत्रालयों के अधिकारियों के द्वारा पाठ्य पुस्तको के ऐतिहासिक अशो के पुनर्लेखन की नयी नीति की कमी की ओर ध्यान खींचते हुए उन्होने कहा कि देश भर की पाठ्य पुस्तको मे निरतर यह पढाया जाता है कि आर्य लोग इस देश के बाहर से आए हैं और यहाँ आकर उन्होने विनाश कार्य किये। आर्यों के आचार और विचार भी इन पुस्तको मे विकृत रूप मे प्रस्तुत किये जाते हैं। आर्यों के बाहर से आने के प्रमाण न तो भारतीय साहित्य मे मिलते हैं न इस सम्बन्ध मे कोई पुरातत्वीय प्रमाण उपलब्ध हैं फिर भी पाठ्य पुस्तको मे यूरोपीय लेखको की कल्पनाये प्रस्तुत करके देश भर के इतिहास को ही विकृत नही किया जा रहा बल्कि विद्यार्थियो के मन मे निरन्तर यह धारणा पैदा की जा रही है कि इस देश मे विभिन्न सस्कृतियो, विभिन्न धर्मों के लोग देश के इतिहास के प्रारम्भिक काल से ही एक दूसरे के विरुद्ध खूनी सघर्ष करते रहे हैं। एक सहज धारणा इससे यह बनती है कि इस देश के लोग स्वभाव से हिंसा वृति के क्रूर, अत्याचारी, भ्रष्ट, और आचरणहीन लोग हैं। सभवत इन इतिहास लेखको के दिमाग मे यह बात कभी नहीं आयी कि इस प्रकार के विध्वसकारी लोग कैसे विश्व का श्रेष्ठतम साहित्य तैयार करने, कलात्मक कृतियां प्रस्तुत करने और एक उच्चकोटि की अखिल भारतीय सस्कृति का निर्माण करने मे कैसे सफल हुए।

उन्होने इस ओर भी ध्यान खींचा कि धर्म निरपेक्षता का राजनीतिक क्षेत्रो मे जिस प्रकार दुरुपयोग किया जा रहा है। इसका परिणाम यह न हो कि मध्य काल के ऐतिहासिक तथ्यो को विकृत कर दिया जाये और इतिहास को इस रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाये कि मध्य काल मे जिन विदेशी आक्रमणकारियो ने इस देश पर हमला किया उनका यहाँ के लोगो द्वारा विरोध किया साम्प्रदायिक था, और उस विरोध के परिणामस्वरूप उन्हे जो अत्याचार सहने पडे और जिस प्रकार अपमानित होना पडा उसकी ऐतिहासिक प्रासगिकता नही है।

सभा मत्री ने सरकारी प्रचार और जनसपर्क माध्यमो की धर्म निरपेक्षता सम्बन्धी नीति की ओर ध्यान दिलाते हुए कहा कि आकाशवाणी और दूरदर्शन के कार्यक्रमो मे बहुत अधिक साम्प्रदायिक असतुलन रहता है। उन्होने बताया कि जहाँ एक ओर मुस्लिम, सिख और ईसाई पर्वों और त्यौहारो के समाचार विस्तार के साथ प्रस्तुत किए जाते हैं वहाँ आर्यसमाज जैसे नितान्त धर्म निरपेक्ष सगठन के समाचारो की प्राय उपेक्षा की जाती है और उन्हे बहुत कम समय दिया जाता है।

उन्होने आशा व्यक्त की कि देश के नीति निर्धारण करने वाले लोग यह असतुलन जल्दी से जल्दी दूर करेंगे।

## जौनपुर-शाहगंज में ईदमिलादुलनबी के जलूस के दिन आर्यसमाज के कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारी

### सभा प्रधान श्री लाला रामगोपाल शालवाले द्वारा न्यायिक जाँच की माँग

जौनपुर और शाहगंज मे ईदमिलादुलनबी के जलूस पर दगा हो जाने मे आर्यसमाज के प्रधान श्री बाबूराम जी तथा अन्य १४ कार्यकर्ताओ की गिरफ्तारी के समाचार पर सार्वदेशिक सभा के प्रधान माननीय श्री लाला रामगोपाल शालवाले ने उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री तथा केन्द्रीय गृहमंत्री ज्ञानी जैलसिंह जी को तार तथा पत्र लिखकर माँग की है कि इस काण्ड की न्यायिक जाँच कराई जाये। उन्होंने कहा है कि जिलाधीश ने बिना सोचे-समझे इस आधार के साम्प्रदायिक जलूस की अनुमति दे दी जो पहले वहा कभी नहीं निकला था। उन्होने स्पष्ट किया कि जलूस वालो ने साम्प्रदायिकता को बढाने का कार्य किया और झगडा हो गया।

श्री शालवाले ने पुलिस द्वारा एक तरफा गिरफ्तारियों की निंदा करते हुए आर्यसमाज के सम्भ्रान्त नागरिकों की तुरन्त रिहाई की माँग की और सरकार से न्यायिक जाँच कराने का अनुरोध किया। यह स्मरणीय है कि आर्यसमाज के प्रधान श्री बाबूराम व अन्य गिरफ्तारियों के विरोध में जौनपुर-शाहगंज मे हडताल की गई।

### इस अंक में



सम्पादक—वि०सा० विद्यालंकार

**वेद मनन :**

# नेता और प्रजा दोनों जागरूक रहें

अग्ने त्वं सुजागृहि वयं सुमन्दिषीमहि ।
रक्षाणो अप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनस्कृधि ॥ यजु: ४-१४

ऋषि – अंगिरस. । देवता— अग्नि: ।

शब्दार्थ—हे (अग्ने) हे मार्ग दर्शक गृहपते अथवा राजन ! (त्वं सुजागृहि) तू अच्छी तरह से जागकर देखभाल तथा प्रबन्ध करता रह, जिससे (वयं) हम (सुमन्दिषीमहि) आराम से सोते रहे और निर्विघ्न आनन्दपूर्वक अपने काम चलाते रहे । (अप्रयुच्छन्)बिना प्रमाद के (न:) हमारी(रक्षा)देखभाल—रक्षा करता रह और समय आने पर (न:) हमे (पुन:) बार-बार (प्रबुधे कृधि) चेतावनी दे, समयोचित ज्ञान दे और बेखबर सोए पड़े हो तो झटक कर जगा दे ।

निष्कर्ष—१—प्रत्येक (अग्नि) अग्रज, अधिकारी, नेता या शासक का कर्त्तव्य है कि वह अपने अधीनस्थ जनो की सुख सुविधाओ को प्राप्त कराने तथा विघ्न बाधाओ को दूर करने के लिए सदा जागरूक रहे ।

२—जिससे उसकी सुरक्षा मे काम करने वाले कर्मचारी, गृहस्थ में सब पुत्र पौत्रादि तथा राष्ट्र के सब अधिकारी निश्चिन्त होकर सो सकें, और नित्य के मनोरंजन की गतिविधियों में सम्मिलित हो सके ।

३—नेता, राजा या गृहपति को कभी प्रमाद करने का अधिकार नही है । क्योंकि उसके प्रमाद करते ही गृह, राष्ट्र और समाज की रक्षा खतरे मे पड़ जाती हैं ।

४—अग्नि स्थानीय व्यक्ति का परम कर्त्तव्य है कि वह अपने अधीनस्थ व्यक्तियों को गलती या प्रमाद करने पर बार-बार प्रबोध-प्रेरणा देता रहे । यदि वे अपने कर्त्तव्यो के प्रति सोए पड़े हो तो उन्हें बार-बार जगाए, जिससे सपूर्ण गृह, समाज या राष्ट्र सुव्यवस्थित रह कर उन्नति करते जाएं ।

५—अग्नि (नेता) तो सदा जागरूक रहे । हम भी सदा मस्ती के साथ तेरी स्तुति (आज्ञा पालन) करते हुए क्रियाशील बने रहें ।

विशेष—इस मंत्र का ऋषि अंगिरस सकेत करता है कि यदि इस मंत्र की भावना को चरितार्थ देखना है तो न केवल नेता अपितु प्रत्येक घटक अपने अंग-अंग में रस को धारण करे । केवल नेता के बलवान या जागरूक होने से रक्षा पूर्ण रूप से संभव नहीं । यदि प्रत्येक व्यक्ति अंगिरस बन गया तो नेता का कार्य बहुत सरल हो जाएगा । वह राष्ट्र समाज या घर को बहुत जल्दी अग्रणी बना देगा ।

अर्थपोषक प्रमाण—

अंगिरस :—अंगे अंगे रस: शक्तिर्यस्य सः—शक्तिशाली, क्रियाशील ।

सुमन्दिषीमहि—मदिस्तुति मोदमद स्वप्न कान्ति गतिषु ।

स्तुति करते हुए, मस्त होकर क्रियाशील बने रहें । तेरी देखभाल में निश्चिन्त होकर आनन्दपूर्वक सो सकें ।

—मनोहर विद्यालकार

# मानव का सर्वोत्कृष्ट गुण वीरता :

## ईश्वर भक्ति और आत्म विश्वास की अनिवार्यता

ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ।
मध्यम् नमन्तां प्रदिशश्चत स्रस्त्वयाध्यक्षेण पृतनाजयेम । अ. ५-३-१

हे (अग्ने) तेजस्वी ईश्वर ! (विहवेषु) युद्धो मे (मम वर्च: अस्तु) मेरा तेज होवे । (वयं) हम (त्वा) तुझे (इन्धाना) प्रदीप्त करते हुए, प्रज्वलित करते हुए (तन्वं पुषेम) अपने शरीर को पुष्ट करें । (चतस्र:) चारो (प्रदिश:) दिशायें (मध्य) मेरे सामने (नमन्तां) नम्र हो । (त्वया अध्यक्षेण) तुझ अध्यक्ष के साथ (पृतना: जयेम) युद्धो मे विजयी बनें ।

वीरता मानवो का सर्वोत्कृष्ट गुण है । वीरता की पताका ज्ञान, प्रेम, युद्ध और सामाजिक कार्यों मे फहराया करती है । परन्तु वीरता का आधार परमेश्वर की शक्ति है । हमारी आत्मा में एक अलौकिक शक्ति भरी हुई है, जिसका विवेचन या वर्णन तो नहीं किया जा सकता परन्तु उसे अनुभव किया जा सकता है ।

मान लीजिए, हम यह विचार करें कि हम नाचीज तुच्छ, क्षुद्र और हीन हैं तो हमारी आत्मा के रजिस्टर में ये सब बाते लिख ली जायेंगी और उसका परिणाम यह होगा कि हम सचमुच वैसे ही बन जायेंगे । अगर हम निश्चयपूर्वक यह विश्वास अपने हृदय में बैठा दें कि विश्व की सम्पूर्ण उत्तम भावनायें मुझमें हैं और मैं उनको प्राप्त करके रहूंगा, भले ही मुझे इसके लिए आत्मोत्सर्ग भी क्यो न करना पड़े तो मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि यह वीरता जीवन के मार्ग में आने वाली सपूर्ण कठिनाइयो और पराजयों को समाप्त कर देगी । यदि हमारा यह निश्चय है कि शक्ति मेरी है, स्वास्थ्य मेरा है, ज्ञान और बल मुझमें हैं, आधि, व्याधि, निर्बलता और विरोध से मेरा कोई मतलब नहीं है तो मानो हम मन में उत्पादक और निश्चयात्मक शक्ति उत्पन्न कर रहे होगे जो हमारी सपूर्ण अभिलाषाओं, मनोरथो एवं ऊंचे जीवनोद्देश्यों को परिपुष्ट कर सफल करेगी । बिना घबराये जीवन के लक्ष्यो की ओर बढ़ना ही तो वीरता है । वीरता एक ऐसी वस्तु है जिसे देखकर दूसरे स्वयं प्रभावित होते हैं । परन्तु उस प्रभाव से दूर भगते हैं, भिन्न उस प्रभाव से श्रद्धान्वित बनते हैं । उदासीन बचते नहीं । इसलिये मंत्र में अग्नि स्वरूप परमेश्वर से प्रार्थना की गई है कि हे तेजस्वी ईश्वर, युद्धों में मेरा तेज हो । युद्ध राष्ट्रो के बीच होते हैं, युद्ध समाज मे होते हैं, युद्ध आत्मा में होता है । युद्ध किसी भी क्षेत्र में हो उसमे हमारी विजय हो । हिन्दी के एक कवि ने लिखा है :—

युद्ध निरन्तर, युद्ध विश्व हैं, युद्धों की ही एक कहानी ।
शान्ति । शान्ति कहां है ?
यहां तो प्रतिपल रिपुओं से लड़ना है।
नित्य उलझना समरांगण मे,
निज सीना ताने अड़ना है ।
भोले-भाले सीधे-सादे,
नही यहाँ पर जीने पाते ।
जो लड़ते आगे बढ़ते हैं,
वे ही जीवन गाना गाते ।
नहीं मिली है, शक्ति बैठने को ।
हमको यह अनमोल जवानी ।
युद्ध निरन्तर युद्ध विश्व है,
युद्धों की ही एक कहानी ।

वैदिक धर्म युद्ध से डरता नहीं । ऋग्वेद ८।१९।२० मंत्र के एक भाग मे कहा है 'भद्रं मन. कृणुष्व वृत्रतूर्ये' तू संग्राम में भी अपने मन को कल्याणकारी कर । छत्रपति शिवाजी और वीर दुर्गादास का जीवन पढ़िए । औरंगजेब की बेगम गुलेनार ने दुर्गादास के चरणो मे अपने को समर्पित कर दिया परन्तु उसने उसे स्वीकार नहीं किया । शिवाजी के सामने औरंगजेब की पुत्री को लाया गया तो उन्होंने अपने सेनापति से कहा 'काश, मेरी मां इतनी सुन्दर होती ?' यह कल्याणकारी युद्ध है ।

कल्याणकारी युद्ध के लिए ईश्वर भक्ति और आत्म विश्वास की आवश्यकता होती है । ईश्वर में विश्वास रखता हुआ मनुष्य विजयी बनने के लिए अपनी आत्मोन्नति करे । परन्तु आत्मारी उन्नति के लिये शरीर का विकास आवश्यक है । 'शरीरमाद्यं खलुधर्म साधनम्' शरीर ही धर्म का पहला साधन है । 'नायमात्मा बलहीने लभ्य:' निर्बल शरीर इस आत्मा को नही प्राप्त कर सकता ।

धर्माचरण के कार्यों के लिए, जिनमें वीरता का प्रभाव आवश्यक होता है, बिना शरीर के विकास के नहीं हो सकता । जब शरीर में वीरता होगी, हृदय मे परमेश्वर की भक्ति होगी तब हममें पराक्रम स्वत: आएगा । और उस पराक्रम की बदौलत हम ससार की शक्तियो का, उन शक्तियों का जो हमें दुष्टता की ओर ले जाती हैं, सामना करने को उद्यत हो जायेंगे । उस समय चारो दिशायें हमारी वीरता से नत हो जाएगी और विश्व में हमारा जय जयकार होने लगेगा ।

लेखक :
**सुरेशचन्द्र वेदालंकार**

भाद्रपद संवत् १९३६ में स्वामी जी बरेली ठहरे हुए थे । वहाँ उनके व्याख्यानों में पादरी, कलक्टर, कमिश्नर, यूरोपियन आदि सभी आया करते थे । एक दिन स्वामी जी ने पुराणों की आलोचना और खंडन किया तो यह सब बहुत प्रसन्न हुए । पर, ज्यों ही ईसाई मत की बारी आई तो उनकी आलोचना सुनकर कमिश्नर साहब का चेहरा क्रोध से तमतमा उठा । उन्होंने सेठ लक्ष्मी नारायण को जहाँ स्वामी जी ठहरे हुए थे बुलाया और कहा 'आप पंडित जी को कह दीजिये, कि

(शेष पृष्ठ ९ पर)

**सम्पादकीय**

# हिन्दी की स्थिति और संविधान

संविधान की व्यवस्था के अनुसार १९६५ में देश की राजभाषा के रूप में हिन्दी का व्यवहार शुरू हो जाना चाहिए था। राजभाषा के रूप में हिन्दी के व्यवहार में सम्भावित कठिनाईयों की भी पहले से ही कल्पना कर ली गयी थी। यह आसंका थी कि तकनीकी और वैज्ञानिक कार्यों के लिए हिन्दी के प्रयोग में कुछ कठिनाई हो सकती है। इसलिए संविधान मे ही यह व्यवस्था कर दी गयी कि यदि आवश्यकता अनुभव हो तो सन् १९६५ के बाद तकनीकी और वैज्ञानिक कार्यों के लिए अंग्रेजी का प्रयोग सीमित समय के लिए जारी रखा जा सकता है। परन्तु सविधान द्वारा अंग्रेजी के इस सीमित प्रयोग की व्यवस्था की उपेक्षा करके १९६३ मे एक भाषा अधिनियम पारित किया गया जिसमे अंग्रेजी के अबाधित प्रयोग की छूट दे दी गयी। स्पष्ट रूप से यह व्यवस्था संविधान के प्रावधान के अनुकूल नही है।

इसे हिन्दीभाषियों की कमजोरी कहा जाये अथवा हिन्दी विरोधी आदोलन का आतंक कहा जाये, यह स्पष्ट है कि सविधान की भावना के प्रतिकूल इस व्यवस्था को किसी हिन्दी प्रेमी ने कभी चुनौती नही दी। सम्भव है कि कुछ लोग इसे हिन्दी प्रेमियों की सहिष्णुता बताकर उनकी प्रशसा करें परन्तु तथ्य यह है कि इस अवधि में जितना हिन्दी विरोधी वातावरण तैयार किया गया उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी प्रेमी हतोत्साह हो गये हैं और सविधान द्वारा स्वीकृत राजभाषा के रूप में हिन्दी को उसका उपयुक्त स्थान दिलाने मे हिन्दी प्रेमी समर्थ नहीं रहे।

अपनी इस सफलता के बाद अंग्रेजी प्रेमियो का उत्साह अब इस सीमा तक पहुंच गया है कि अनेक अंग्रेजी प्रेमियो ने यह कहना शुरू किया है कि इस देश मे हिन्दी की कोई आवश्यकता नहीं है और सम्पर्क भाषा का काम अंग्रेजी पूरी तरह से कर सकती है। देश की ९९ प्रतिशत जनता से सम्पर्क न रखने वाले लोगो का यह आंदोलन समझ मे आता ह क्योंकि इस एक प्रतिशत की सम्पर्क भाषा अंग्रेजी है जिसे वे देश के ९९ प्रतिशत लोगो पर लादे रखना चाहते हैं।

देश पर अंग्रेजी को लादे रखने के लिए निरन्तर यह प्रचार किया जा रहा है कि इस देश की जनता पर हिन्दी नहीं लादी जानी चाहिए। अभी पिछले दिनो मद्रास में एक सार्वजनिक सभा मे भूतपूर्व केन्द्रीय मत्री श्री सी० सुब्रह्मण्यम् ने बहुत जोरदार शब्दो में इस बात का विरोध किया कि अहिन्दीभाषियो पर हिन्दी लादी जा रही है। यद्यपि वहां उपस्थित श्री कमलापति त्रिपाठी न इसका खडन किया कि किसी पर हिन्दी लादी जा रही है तो भी श्री सुब्रह्मण्यम् अपनी बात को बराबर दोहराते रहे।

इस घटना के कुछ ही दिन बाद अन्तर्राष्ट्रीय तमिल सगम के मदुराई अधिवेशन में प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने यह घोषणा की कि हिन्दीतर भाषियों पर हिन्दी नहीं लादी जायेगी। प्रधानमत्री ने यह घोषणा कितनी ही सद्भावना से क्यों न की हो, यह प्रश्न बार-बार उठ खड़ा होता है कि यदि सविधान मे की गई व्यवस्था के अनुकूल हिन्दी प्रचार अथवा हिन्दी पढ़ाने की व्यवस्था हिन्दी लादना है तो यह सोचने की बात होगी कि अन्य सवैधानिक प्रावधानो को भी लादना कहा जा सकता है या नही? ऐसी स्थिति मे सविधान में 'धर्म निरपेक्षता' और 'लोकतन्त्र' का जो प्रावधान किया गया है क्या उसे देश पर लादने का नाम देकर इसका विरोध किया जा सकता है या नहीं? हमारी दृष्टि से यह सविधान द्वारा की गयी व्यवस्था के बिल्कुल विपरीत स्थिति है कि देश का कोई भी नेता इस देश के लोगों को हिन्दी पढने और सीखने की प्रेरणा देने और हिन्दी के प्रयोग को प्रोत्साहन देने के स्थान पर ऐसा वातावरण तैयार करे, जिसमे ऐसा प्रतीत हो कि हिन्दी लोगों पर संविधान की भावना के विरुद्ध लादी जा रही है और हमारे देश के नेता उस स्थिति से बचना चाहते हैं।

अब समय आ गया है कि देश के बुद्धिजीवी इस समस्या पर गंभीरता पूर्वक विचार करें कि राजनीतिक लाभ उठान के लिए निरन्तर जो हिन्दी विरोधी प्रचार किया जा रहा है उसे किस प्रकार रोका जा सकता है। यदि सविधान की किसी अन्य व्यवस्था के विरोध में कोई प्रचार सहन नहीं किया जा सकता तो हिन्दी विरोधी प्रचार भी सहन नहीं किया जाना चाहिए और इस पर तत्काल रोक लगायी जानी चाहिए।

बुद्धिजीवियों के सामने हमने यह समस्या इसलिए रखी है क्योंकि देश के प्रथम श्रेणी के कुछ बुद्धिजीवियो ने यह बौद्धिक प्रचार शुरू किया है कि राष्ट्रीय एकता और अखंडता के लिए भाषा का कोई महत्त्व नहीं है। इस नये सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले और कोई नहीं बल्कि अल्पसंख्यक आयोग के अध्यक्ष न्यायमूर्ति श्री एम० आर० अन्सारी हैं। उन्होंने इस पर भी संदेह व्यक्त किया कि राष्ट्रीय एकता के लिए हिन्दी कोई महत्वपूर्ण योगदान कर सकती है। उनके इस सिद्धान्त की सबसे रोचक बात यह है, जो उनके इस प्रतिपादन का खंडन भी करती है, कि १९५६ मे भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन प्रादेशिक सकीर्णता को जन्म देने वाला रहा है। यह सत्य है कि भाषाओं के आधार पर बनाये गये राज्यो के कारण संकीर्णता और प्रान्तीयता को प्रोत्साहन मिला है इसलिए स्वय यही तथ्य यह सिद्ध करता है कि देश को राष्ट्रीय एकता बनाये रखने के लिए केवल एक राजभाषा अथवा सम्पर्क भाषा की ही जरूरत नहीं है बल्कि एक 'राष्ट्रभाषा' की भी जरूरत है। सम्भवत: अपनी बात की विसगति को न्यायमूर्ति अन्सारी स्वय भांप गये और इसलिए तत्काल उन्होने यह भी कह दिया कि हिन्दी के बाद उर्दू एक अखिल भारतीय भाषा हो सकती है जो कि सभी प्रादेशिक भाषाओ से अधिक उन्नत है। यद्यपि हिन्दी, प्रादेशिक भाषाओं और उर्दू की तुलना अथवा उनमे से किसी की श्रेष्ठता के बारे मे यहा कहने का अवसर नही है तो भी इस समय देश की भाषाओं का जिस तेजी से विकास हो रहा है उसे ध्यान मे रखते हुए यह कहा जा सकता है कि देश की अनेक भाषाओ के स्तर तक पहुचने के लिए अभी उर्दू को कम से कम आधी शताब्दी का समय चाहिये। प्रश्न उर्दू का नही परन्तु हिन्दी-उर्दू का विवाद खड़ा करके हिन्दी की समस्या को उलझाये रखने में न्यायमूर्ति अंसारी का यह वक्तव्य अतुलनीय है इसीलिए देश के बुद्धिजीवियो को सतर्क करने की आवश्यकता अनुभव हुई है।

हमारे सामने मुख्य समस्या देश के विभिन्न वर्गो और विभिन्न भाषाभाषी लोगो को एक सूत्र में बांधने की है। यह कार्य न तो अंग्रेजी सम्पन्न कर सकती है और न उर्दू। पिछले २०० वर्ष से इस देश पर अंग्रेजी लादने का प्रयत्न किया जा रहा है। अंग्रेजी के प्रचार और इसे देश पर लादे रखने के लिए ब्रिटिश साम्राज्य के उदय के साथ अब तक जितनी धनराशि खर्च की गयी है और इस समय की जा रही है वह धनराशि खरबों की संख्या में पहुचती है। फिर भी, अंग्रेजी के प्रचार पर पानी की तरह से पैसा बहाने पर भी देश का दशमलव एक प्रतिशत व्यक्ति भी ठीक से न तो अंग्रेजी बोल पाता है और न लिख पाता है। सबसे बडी विसगति यही है कि स्थिति के प्रत्यक्ष होते हुए भी देश पर निरन्तर अंग्रेजी लादी जा रही है और राजनीतिक नारा यह लगाया जाता है कि किसी पर हिन्दी लादी नहीं जायेगी। क्या यह विसंगति हमें भाषा सम्बन्धी सारी नीति पर फिर से विचार करने के लिए प्रेरित नहीं करती और क्या राजनीतिक नेताओ से हमे यह अनुरोध करने पर बाध्य नहीं करती कि वे केवल वोट प्राप्त करने के लिए इस प्रकार के भ्रामक प्रचार बन्द कर दे।

## तमिलनाडु और हिन्दी

देश भर में एकमात्र तमिलनाडु राज्य ही ऐसा है जहां सरकारी स्तर पर हिन्दी पढ़ाने की कोई व्यवस्था नहीं की गयी। यह भी उल्लेखनीय है कि देश भर के किसी अन्य राज्य ने शिक्षा के लिए त्रिभाषी फारमूले का विरोध नही किया जबकि तमिलनाडु राज्य सरकार त्रिभाषी फारमूले का खुला विरोध करती है और केवल द्विभाषी फारमूल को मान्यता प्रदान करती है।

इसका परिणाम यह है कि तमिलनाडु में हिन्दी पढ़ाने की राजकीय व्यवस्था नहीं है फिर भी वहां हिन्दी प्रचार संस्थाएं स्वयं अपने प्रयत्नो से हिन्दी को देश की राष्ट्रभाषा और अनिवार्य रूप से जनसपर्क की एकमात्र भाषा स्वीकार करते हुए उसके प्रचार कार्य में लगी हुई है। इन्ही हिन्दी प्रचार सस्थाओ के प्रयत्नों का परिणाम है कि अब इस राज्य में अंग्रेजी लिखने-पढने वालों की तुलना में हिन्दी लिखने पढ़ने वालों की सख्या कहीं अधिक है। हिन्दी के प्रचार का एक बडा कारण यह भी है कि यहा के लोग यह अनुभव करते हैं कि हिन्दी सीख लेने के बाद उत्तर भारत में उनके लिए रोजगार के अवसर अधिक सुलभ हो जाते हैं क्योंकि रोजगार की दृष्टि से उत्तर भारत कहीं अधिक व्यापक और विस्तृत क्षेत्र है।

स्थानीय लोग यह भी अनुभव करते हैं कि अंग्रेजी सीखने के लिए उन्हे जो मेहनत करनी पड़ती है उसकी तुलना में हिन्दी सीखने मे उन्हें कम श्रम करना होता है। इसका एक कारण यह भी है कि राजनीतिक प्रचार के बावजूद वे अपने अनुभव से जानते हैं कि तमिल में ५०% शब्द संस्कृत के हैं जो कि बहुधा समान अर्थ में हिन्दी में भी प्रयुक्त होते हैं।

फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी-विरोध की राजनीतिक जडें इस प्रदेश में बहुत गहराई तक गयी हुई है। इस विरोध भावना को दूर करने के स्थान पर जब हमारे राजनीतिज्ञ इस क्षेत्र मे जाकर हिन्दी न थोपने के आश्वासन देते हैं

(शेष पृष्ठ ७ पर)

# आहुति के लिए 'स्वाहाकार का प्रयोग'

मार्ग शीर्ष मास के कृष्णपक्ष की १४ शनिवार के दिन प्रातः काल आर्य समाजमन्दिर नया बांस दिल्ली के वाचनालय मे बैठे एक सज्जन ने आर्य सन्देश नई दिल्ली ३० नवम्बर १६८० के पृष्ठ ५ कालम ४ पक्ति १४।१५।१६। १७ मे छपे विश्व वेद परिषद् के निर्णय (पारायण यज्ञों में मन्त्रान्त में स्वाहा आने पर उसे मन्त्रांश समझ कर आहुति के लिए पुनः स्वाहाकार का प्रयोग किया जावे) के सम्बन्ध मे मेरे से पूछा कि क्या निर्णययह ठीक है ?

मैंने माननीय निर्णायक विद्वानो के लिए नमस्कृति पुर्वक उन्हें कहा कि नही, यह निर्णय ठीक नही है। क्योकि यह निर्णय महर्षि दयानन्द सरस्वती जी महाराज एवं श्रौत और गृह्य सूत्रो के बिपरीत है। यतः विश्व वेद परिषद् की गोष्ठी में भाग लेने वाले माननीय विद्वान प्रायः सभी सेवानिवृत्त या सेवारत प्राध्यापक हैं। जिन्होंने जीवनभर कालिजों मे सस्कृत साहित्य के ग्रंथ पढाए हैं। कर्मकाण्ड के ग्रंथ कभी न पढ़े हैं और न ही पढाएहैं। निर्णय को देखकर यह भी निःसंकोच कहा जा सकता है कि मान्य निर्णायिको ने महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज की प्रयोग शैली तथा संस्कार विधि ग्रंथ प्रथम संस्करण संहित को या तो समझा नहीं या उसकी उपेक्षा करके 'वयमपिस्म' की भावना से प्रेरित होकर यह निर्णय किया है।

अस्तु । देखो महर्षि ने संस्कारण विधि में यजुर्वेद, अथवर्वेद, मन्त्रब्राम्हाण ऐतरेयारण्यक, काल्यायन् श्रौत सूत्र, आश्वलायन गृह्य सूत्र, पारस्करगृह्य सूत्र एव गोभिल गृह्य सूत्र के२५० के लगभग ऐसे मन्त्र सग्रह किये हैं, मूल ग्रंथों में जिनके अन्त मे स्वाहा पद पढ़ा गया है। क्योकि श्री महाराज यह जानते थे कि—

१. स्वाहाकार शब्दः वषट् शब्दश्च प्रदानार्थः ।

२. स्वाहाकार वषट् कारेण वा देवेभ्यो हविः प्रदीयते ।

३. स्वाहाकार विधानं अविहित स्वाहाकारेषु प्रदानेषु ।

शाबर भाष्य ८।४।५।१७ तथा १०। ८।१०

(द्रष्टव्य मीमांसाकोष सातवां भाग पृ. ४४८५ पर स्वाहा शब्दार्थ)

(१) स्वाहा शब्द तथा वषट् शब्द हवि प्रदानार्थक हैं (२) स्वाहाकार और वषट् कार यज्ञों में देवो के लिए हवि दी जाती है (३) जिन मन्त्रों के अन्त में स्वाहाकार उपदिष्ट नहीं हुआ है उन्हीं के अंत में स्वाहाकार का विधान है।

यतः उपरोक्त संस्कार विधि में उद्धत यजुर्वेद एवं अथर्ववेदादि ग्रंथों के समस्त मन्त्रों के अन्त में स्वाहा शब्द का प्रयोग आहुति देने के लिए ही हुआ है, इसीलिए महाराज नेतत्तत् स्थलो पर प्रयुक्त मंत्रों के अंत में पढ़े गये स्वाहा, कारों के बाद पुनः स्वाहाकार का प्रयोग नहीं किया और न ही किसी विनियोजक पूर्वाचार्य ने ऐसा नही किया हैं।

अब हम श्रौत सूत्रों, गृह्यसूत्रो एवं महर्षि दयानंद सरस्वती जी महाराज के संस्कार विधि ग्रथ के कातिपय प्रमाणों द्वारा यह दिखलाने का प्रयत्न करेगे कि उक्त विश्व वेद परिषद् के विद्वानों का कथित निर्णय कल्प शास्त्र सम्मत हैं।

---

लेखक :

**स्वामी मुनीश्वरानन्द सरस्वती**

---

अनुष्ठीयमान अग्निहोत्र, संस्कार, संहिताहोम अथवा संहिता स्वाहाकार (वेद पारायण यज्ञ) आदि प्रत्येक कर्म में मंत्र के आदि मध्य तथा अंत में पढ़ा गया स्वाहाकार आहुति प्रदानार्थ होता है। इसलिए जिन मंत्रों केअंत मे स्वाहाकार नहीं पढ़ा गया है उन्ही के अंत में अतिरिक्त स्वाहा शब्द का उच्चारण करके आहुति डालने का विधान किया गया है। यथा—

मंत्रान्ते स्वाहाकारः॥ गोभिल गृह्य सूत्र १।६।२१.

भट्ट नारायण,वृत्ति— मन्त्रस्य अन्तोऽवसानं मन्त्रान्तः तस्मिन् मन्त्रान्ते स्वाहाकारो वक्तव्य इति वाक्य शेषः। अधिकाराद् होम मन्त्रान्ते एव न तु जपादिष्वपीति। कुतः स्वाहाकारः प्रदानार्थत्वाद् हविष : तस्य चार्थस्याम्नायसिद्धेनैव कृतत्वात्। द्वितीयाम्नानमनर्थकं स्यात्।

यत्र मन्त्रास्यादौ स्वाहाकारः यथा 'स्वाहामरुद्भिः परिश्रीयस्य' यजु० ३७।१३ इति, तत्रापि नैवान्ते स्वाहा, कारः स्यात्। तुल्य त्वात् कारणस्य। तत्रापि स्वाहाकारेणैव हविः प्रदानं कृत्वा मन्त्रं समाधत्तयित् एवमर्थत्वात् तस्य। तथा चोक्तम्—

स्वाहां कुर्यान्निचाऽन्त्रान्तेन चैव जुहुयाद्धविः।
स्वाहाकारेणहुत्वाग्नौ पश्चान्मंत्रं समापयेत्॥ कर्म प्रदीप २।७।१४

भावार्थ—वृत्ति में दो बातें कहीं गई हैं। पहली—होम मन्त्रों के अंत में स्वाहाकार का प्रयोग (उच्चारण) करके आहुति डालनी चाहिए। उन में भी उन्हीं मंत्रों के अंत में स्वाहाकार का प्रयोग करना चाहिए जिनके अंत में संहिता में स्वाहाकार नहीं पढ़ा है। जिन मन्त्रों के अन्त में संहिता (वेद) में स्वाहाकार पढ़ा गया है उनके अन्त में आहुति देते समय पुनः स्वाहाकार का उच्चारण नहीं करना चाहिए। क्योंकि स्वाहाकारहवि प्रदानार्थ पढ़ा जाता है। हवि प्रदान रूप इस प्रयोजन की सिद्धि आम्नाय (वेद) में पढ़े गए स्वाहा शब्द से ही हो जाने से दूसरा स्वाहा पद अनर्थक हो जावेगा।

दूसरी बात यह है कि जहां मंत्र के आदि में स्वाहाकार पढ़ा गया है वहां भी अंत में स्वाकार का प्रयोग नहीं होना चाहिए। कारण एक सा है। इसलिए ऐसे स्थलों में भी आदि में पढ़े स्वाहाकार से आहुति देकर शेष मंत्र का पाठ मात्र कर देना चाहिए। इस सम्बन्ध में काव्यायन प्रणीत कर्म प्रदीप में ऐसा विधान है कि—आदि में स्वाहाकार वाले मन्त्र के अन्त में पुनः स्वाहाकार पद का उच्चारण करके आहुति नहीं देनी चाहिए अपितु आदि के स्वाहाकार से आहुति देकर पश्चात् मन्त्र पूरा पढ़ देना चाहिए।

इस प्रकार सूत्र में एक तो जिन मंत्रों के अन्त में स्वाहा पद संहिता में ही पढ़ा गया है उन मंत्रों के अंत में आहुति के लिए पुनः स्वाहाकार के उच्चारण का निषेध किया गया है और दूसरे जिन मंत्रों आदि में स्वाहा पद उपदिष्ट है उन मंत्रों के आदि में पढ़े गए स्वाहाकार से आहुति देकर शेष मंत्र का पाठ मात्र कर देना चाहिए। मंत्र के अंत में पुनः स्वाहाकार का उच्चारण करके आहुति नहीं देनी चाहिए।

ननुः यजुर्वेद अध्याय ४ मंत्र ६ के आदि में मध्य में तथा अंत में भी स्वाहाकार उपदिष्ट हुआ है। इसकी आहुति देने का प्रकार क्या होगा ?

समाधानः मूल मंत्र का पाठ इस प्रकार है—

स्वाहा यज्ञं मानस स्वाहोरोरन्तरिक्षात्।

स्वाहा द्यावा पृथिवीभ्यां स्वाहा वातादार भो स्वाहा।

इस मन्त्र से आहुतियां यजु० ३६।१ मंत्र के अनुसार देनी चाहिए। वहां महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने मन्त्र में आए प्रत्येक स्वाहाकार से आहुति देने का विधान किया है नासिकवासी श्री पं० अन्नाशास्त्री वारे अपने संहिता स्वाहाकार प्रदीप में लिखते हैं कि—

यत्र तु मंत्र मध्ये स्वाहाकारः तत्र तु तस्मिन्नेव स्वाहान्ते होमः पश्चात् मंत्र समाप्तिः। न तु मंत्रान्ते स्वाहाकारः।

शास्त्रार्थ परिच्छेद पृ. २३१.

जहां मंत्र के मध्य में स्वाहाकार है वहीं उसी स्वाहाकार से होम अर्थात् आहुति देनी चाहिए। पश्चात् मन्त्र समाप्त करना चाहिए। मंत्रान्त में पुनः स्वाहाकार पढ़ कर आहुति नहीं देनी चाहिए।

इस प्रकार महर्षि दयानंद सरस्वती जी महाराज और वारे शास्त्री के अनुसार—

१. स्वाहा यज्ञं मनसः। २. स्वाहा उरोरन्तरिक्षात्।

३. स्वाहा द्यावा पृथिवीभ्याम्। ४. स्वाहा वातादारभे।

इस रीति से चार आहुतियों के पश्चात् एक स्वाहाकार और शेष रह जाता है। इसके संबंध में लाट्यायन श्रौत सूत्र में इस प्रकार विधान किया है कि—

स्वाहाकारेणोत्तराम्॥ ला. श्रौ. सू. ३।७।६.

वृत्ति :—उत्तरामाहुति केवलेन स्वाहाकारेण जुहुयादित्यर्थः।

अर्थात् अगली आहुति केवल स्वाहाकार से देवे।। कहना यह है कि यह असली आहुति 'ओ३म् स्वाहा' ऐसा उच्चारण करके देनो चाहिए।

प्रसिद्ध वैदिक श्री धुण्डीराज बापट शास्त्री जी के अध्वर्यु हमारे गुरुवर्ण पूज्यवाद श्री पं० दिगम्बर वासुदेव नेत्रे शास्त्री ने हमें अध्ययन काल में अनुष्ठान का यही प्रकार बतलाया था।

इसी प्रकार यजुर्वेद के लगभग १०६ मंत्रों में आदि में अथवा मध्य में अनेक बार स्वाहाकार उपदिष्ट हुआ है। उनके सम्बन्ध मे पूर्वाचार्यों के समान ही महर्षि दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने भी संस्कार विधि प्रथम संस्करण पृ. १४८ पर ऐसा विधान किया है कि—

'अब स्वाहा प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्यः इत्यादि मन्त्रों से चिता में होम करना। सो जहां-जहां मंत्रो के बीच स्वाहाकार शब्द है वहां-वहां आहुति देना। जैसे स्वाहा प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्यः और पृथिव्यै स्वाहा यहां दूसरी आहुति देना। इसी प्रकार सर्वत्र जानना'।

ऐसा ही मन और व्यवहार दूसरे गृह्य सूत्रकार आचार्यों का है। महर्षि ने उद्धृत संस्कार की विधि के अनुसार ही तत्तत् स्थलों पर मंत्र के आदि तथा मध्य में आए स्वाहाकार से आहुति देने का विधान किया है। यथा —

वानप्रस्थ संस्कार में यजुर्वेद अ. २२ के मंत्र २०।३२।३३।३४ में ४३ बार स्वाहाकार का पाठ होने से ४३ ही आहुतियां देने का विधान किया है। इसी प्रकार अन्त्येष्टि में भी यजुर्वेद अ. ३९ के १ से ३ तथा १० से १३ इन सात मंत्रों में ६३ बार स्वाहाकार का पाठ है। अतः इन से ६३ ही आहुतियां देने का विधान किया है। इसी प्रकार दैनिक अग्नि होम में मंत्रों के बीच में उपदिष्ट प्रत्येक स्वाहाकार से आहुति दी जाती है। एवमेव 'अम्पकं यजामहे' यजुर्वेद के इस मंत्र से दो आहुतियां दी जाती हैं। यजुर्वेद अ. १८ मंत्र ३८ से ४३ तक के ६ मंत्रों से विवाह संस्कार में

(शेष पृष्ठ ८ पर)

आर्य महासम्मेलन, दिल्ली के अवसर पर :—

# स्वामी विद्यानन्द सरस्वती का वेद सम्मेलन में अध्यक्ष पद से दिया गया भाषण :

(गतांक से आगे)

वेद की ध्वनि अपने आदि स्रोत परमेश्वर से निःश्वसित होकर परा, पश्यन्ती तथा मध्यमा मार्गों से होती हुई वैखरी रूप में हमें प्राप्त हुई। जिन ऋषियों के माध्यम से वह हम तक पहुंची वे उसके रचयिता या प्रणेता न होकर अभिव्यंजक मात्र थे। अनादि काल से मनुष्य वेद रूपी ज्ञान के निरतिशय एवं अक्षय कोष से अपनी बुद्धि की ज्ञान प्राप्त करने की चेतना अथवा शक्ति के अनुसार ग्रहण करता रहा है। विकासवाद को मानने वाले वेदज्ञान के अनादित्व के सिद्धांत को कैसे स्वीकार कर सकते हैं ? सुदूर अतीत में भारती, आर्योंको अत्यन्त सभ्य, सुसंस्कृत तथा ज्ञान-विज्ञान में अत्यधिक उन्नत जाति अथवा समाज के रूप में देखने में उनका जातीय पक्षपात भी आड़े आता है।

भारतीय साहित्य के अध्ययनार्थ अपनाई गई अर्वाचीन वैज्ञानिक गवेषणापद्धति के उत्साह बाहुल्य में विदेशीय तथाकथित गवेषक विद्वानों द्वारा प्रस्थापित तथा अन्धाधुन्ध उनका अनुसरण करके 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' इस उक्ति को चरितार्थ करने वाले भारतीय विद्वानो द्वारा अनुमोदित प्रस्थापनाओं को युक्ति, प्रमाण तथा विवेचन द्वारा निराधार सिद्ध करने का श्रेय युगप्रवर्तक महर्षि दयानन्द को है। उन्हीं के प्रयास से याज्ञिकवाद की मिथ्या धारणाओं रूपी घटाटोप बादलों के छिन्न-भिन्न हो जाने पर उनके पीछे अन्तर्हित वेदों के वास्तविक स्वरूप के दर्शन हुए। वस्तुतः ऋषि दयानन्द ने वेदों की अद्‌भुत तथा अनन्त ज्ञानराशि को उस पर पड़ी हुई धूलि और गर्द गुबार को झाड़ पोंछकर हमारे सामने पुनः प्रस्तुत किया।

वेद भारतीय संस्कृति और भारतीय विचारधारा के आधारभूत स्तम्भ है। उन्हें किसी जाति, मत या सम्प्रदाय के साथ सम्बद्ध नहीं किया जा सकता। वस्तुतः वे विश्वधारा प्रथमा संस्कृति का मूल हैं। आज चाहे संसार ने कितनी ही उन्नति कर ली हो, परन्तु मानवीय समस्या का जैसा समाधान वेद में है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। मानव जीवन के लिए जो कुछ उपयोगी है, वेद में उस सबका निदर्शन है। वेदमें ऐहिक के साथ पारलौकिक ज्ञान, भौतिक के साथ आध्यात्मिक ज्ञान और अभ्युदय के साथ निःश्रेयस् का विवेचन है। यदि मानव के लिए वेद इतना उपयोगी न होता तो ब्राह्मणों ने अपने प्राण देकर उनकी रक्षा के लिए प्रयास न किया होता। दाक्षिणात्यों ने वेदों को कण्ठाग्र करना अपने जीवन का लक्ष्य न बनाया होता और 'ब्राह्मणेन निष्कारण षडंगो वेदोऽध्येयः' के अनुसार बिना किंचित् लाभ की आशा के वेद के पाठन में सारा जीवन न खपाया होता।

परन्तु अब भारत और नेपाल दोनों में कुल मिलाकर १७५० पंडित और ६५० शिष्य रह गये हैं। अपने मूल रूप में ११३१ शाखाओ मे से केवल १० उपलब्ध हैं। कारण है वेदानुयायियों की अपनी उदासीनता। पहले महाराष्ट्र मे गणेश चतुर्थी के अवसर पर तथा अन्य समारोहों मे वेदपाठ के लिए पंडितों को आमन्त्रित करने की प्रथा थी। परन्तु अब उनका स्थान अश्लील और बेहूदा फिल्मी गानों को प्रसारित करने वाले ध्वनि विस्तारकों (Loud Speakers) ने ले लिया है। उधर पारिवारिक, सामाजिक, तथा आर्थिक व्यवस्थायें भी आड़े आ रही हैं। पहले ऐसे लोगो को राजा महाराजाओं का संरक्षण प्राप्त था अब वह भी जाता रहा। ऐसी अवस्था मे ब्राह्मणों में वेद के प्रति पहले जैसा उत्साह कैसे बना रह सकता था ?

१९६३ में कांची कामकोटि पीठ के जगद्‌गुरु स्वामी चन्द्रशेखरानन्द सरस्वती ने 'वेदरक्षणनिधि' ट्रस्ट की स्थापना की है। ट्रस्ट का उद्देश्य प्रारम्भ में उन शाखाओं के अध्ययन के लिए पाठशालाओं का संचालन करना है जिनके जल्दी ही लुप्त हो जाने की आशंका है। वेदों को सुरक्षित करने के लिए इलेक्ट्रिक उपकरणों की भी सहायता ली जा रही है। राष्ट्रीय सस्कृत संस्थान तथा तिरुमल तिरुपति देवस्थान पहले ही कुछ मन्त्रों के पाठ को टेप रिकार्ड कर चुके हैं। यह सारा प्रयत्न वेद के शब्दों को सुरक्षित करने के लिए है। इस तोतारटन्त का भी अपना महत्व है, क्योंकि 'नष्टे मूले न फलं न पुष्पम्। जड़ ही न होगी तो फूल पत्ते कहा लगेगे ? किन्तु यह न भूलना चाहिए कि बीज बोने का अंतिम ध्येय फल को प्राप्त करना है, जो वेदार्थ के बिना संभव नहीं। परन्तु यदि वह अर्थ सारहीन संकुचित, दरिद्रता पूर्ण रीति से किया जायेगा तो वह वेद और वैदिक वाङ्‌मय के विषय में अनेक भ्रान्त धारणाओं को उत्पन्न करके उनके संबन्ध में हमारी पवित्र एवं उदात्त भावनाओं को वेद की प्राणामिकता और उसके दिव्य रूप को हेय बना देगा।

हमारी मान्यता रही है कि वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। ज्ञान विज्ञान की ऐसी कोई बात नही जो बीज रूप में वेद में न हो। परन्तु मुख्य उद्देश्य को गौण बना, इधर-उधर की बातों में फंसे रहने के कारण १०० वर्ष से अधिक बीत जाने पर भी हम दुनियाँ को अपनी बात का विश्वास नहीं करा पाये। वेदों के भाष्यकारों को चूंकि स्वयं उन विद्याओं का परिज्ञान नहीं, इसलिए वे वेदों में वैज्ञानिक निर्देशों को ठीक प्रकार समझ नहीं सकते। वास्तव में वेदों की पूर्ण तथा सन्तोषप्रद व्याख्या के लिए आवश्यक हैं कि व्याख्याता को सभी विद्वानों और उनकी शाखाओं का ज्ञान हो। ऐसे व्यक्तियों द्वारा किया गया वेदभाष्य ही सब प्रकार के संशयोंको मिटा कर हमारी प्रतिज्ञा को सत्य सिद्ध कर सकता है। जब तक वर्तमान में वैज्ञानिकों द्वारा लिखे गये ग्रंथों के समान वेद तथा वेदानुकूल ग्रंथों के आधार पर एक-एक विद्या को सांगोपांग और क्रमबद्ध प्रस्तुत नहीं किया जायेगा तब तक हमारी स्थापना को मान्यता नहीं मिलेगी। आवश्यकता इस बात की है कि कम से कम २० ऐसे विद्वान् तैयार करें, जो सस्कृत के तो पूर्ण विद्वान् हों ही, उनमें से प्रत्येक एक-एक विद्या का पारंगत विद्वान् हो। प्रत्येक को वेदों में से एक-एक विद्या की खोज करके क्रमबद्ध विवेचन करते हुए स्वतन्त्र ग्रंथ लिखने का काम सौंपा जाये।

विश्वविद्यालयों में सस्कृत पढ़ाने वाले प्राध्यापक स्वयं सायणादि पौराणिक एवं पूर्वाग्रहों से युक्त अधकचरे पाश्चात्य विद्वानों से प्रभावित हैं। इसलिए अपने छात्रों को वे वही कुछ पढ़ाते हैं जो उन्होंने पढ़ रखा है। आगे चल कर यही छात्र अध्यापक बनते और वही कुछ अपने छात्रो को पढ़ाते हैं। इस प्रकार शिक्षित वर्ग वेदों के उसी स्वरूप को जानता और मानता है। इसलिए आर्यसमाज के नेताओं, विद्वानों तथा संस्थानों को चाहिये कि वे विश्वविद्यालयों और कालिजों को अपने प्रचार का केन्द्र बनाये और वहां अध्यापन-कार्य में लगे सस्कृत तथा इतिहास विभाग के अध्यापकों से सम्पर्क स्थापित कर वेदों के संबन्ध में उनका दृष्टिकोण ठीक करें उनके दिमाग बदल जायें तो कालान्तर मे सारा सिलसिला बदल जायेगा। एतदर्थ यह भी आवश्यक है कि हमारी वेद विषयक मान्यताओं के पोषक उच्चस्तरीय मौलिक ग्रन्थों का प्रणयन तथा प्रकाशन सुविचारित योजना के अधीन इस प्रकार कराया जाये कि उनकी पहुंच स्वतः सर्वत्र हो सके।

दिल्ली विश्वविद्यालय में दयानन्द पीठ की स्थापना के लिए सार्वदेशिक सभा, दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, प्रादेशिक सभा तथा डी० ए० वी० कालिज मैनेजिंग कमेटी को एक जुट होकर प्रयास करना चाहिए। मैं सार्वदेशिक सभा से अनुरोध करूंगा कि वह समस्त प्रान्तीय सभाओं को प्रेरणा करे कि वे सब अपने-अपने क्षेत्र में स्थित विश्वविद्यालयों में दयानंद पीठों की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हों।

विदेशों में वेदों का प्रचार एवं प्रसार करने के लिए आवश्यकता है कि वेदों के प्रकाण्ड विद्वानों को जर्मन, फ्रेंच, रशियन, चीनी, जापानी आदि विदेशी भाषाओं का प्रशिक्षण दिया जाये। और जब वे इन भाषा को बोलने लिखने में समर्थ हो जायें तो उन्हें स्थायी रूप से उन-उन देशो मे नियुक्त किया जाये।

समाज तथा राष्ट्र की अनेक समस्यायें हैं। किन्तु एक काम ऐसा है जिसे आर्यसमाज के सिवा अन्य किसी ने न किया है और न करना है। और वह है प्राचीन ऋषियों की अनुसारिणी ऋषि दयानन्द की मान्यताओं के अनुसार वेद का प्रचार एवं प्रसार। जिस काम को करने वाला दूसरा कोई नही, आर्यसमाज की सारी शक्ति उसी काम को करने में लगनी चाहिये। वेद का पढ़ना-पढाना और सुनना-सुनाना आर्यों का परम धर्म है। इस परम धर्म का पालन करने वाले जितने लोग होंगे वे ही महर्षि के सच्चे अनुयायी होंगे। प्रत्येक आर्य-गृह में वेदों की पुस्तकें हों। उनके समझने के लिए प्रत्येक स्त्री-पुरुष संस्कृत सीखें। प्रतिदिन जितना संभव हो, वे उतना वेदमन्त्रों का मनन करें और उन के द्वारा प्राप्त शिक्षाओं के अनुकूल आचरण करें।

□

## ग्राहकों से निवेदन

'आर्य सन्देश' के अनेक कृपालु ग्राहको का चन्दा २-२, ३-३ वर्ष से प्राप्त नहीं हुआ है। इस अत्यन्त महंगाई के युग में यदि आपका चंदा हमें नही मिलेगा तो आप स्वय ही विचार कीजिए कि पत्र कैसे चल सकेगा। कृपया अपना पूरा चंदा जितनी भी आपकी ओर निकलता है, तुरन्त भेजने का कष्ट करें।

चदा भेजते समय अपनी ग्राहक संख्या अवश्य लिखा कीजिए। आपकी ग्राहक संख्या पत्र पर आपके पते के साथ लिखी रहती है।

—सभा मंत्री

# आर्यसमाज का निर्णय

आर्यसमाज ने निर्णय किया है, कि मुरादाबाद के दंगा पीड़ित हरिजनों को आर्यसमाज की ओर से मकान बना कर दिये जायेंगे। इस निर्णय को दिल्ली निवासी श्री नूर मुहम्मद ने पसन्द नहीं किया। जिन व्यक्तियों ने 'दैनिक हिन्दुस्तान' हिन्दी के लोकवाणी स्तम्भ में २४-११-८० को नूर साहब का विचार पढ़ा होगा, यदि वे निष्पक्ष या होकर विचार करेंगे, तो समझ जायेंगे कि उनका वह कथन न तो न्यायपूर्ण है और न ही सद्भावना से प्रेरित। वे लिखते हैं, कि आर्यसमाज का उद्देश्य सारे संसार का उपकार करना है, फिर मुरादाबाद के दंगा पीड़ित गरीब मुसलमानों की तरफ भी आर्यसमाज के नेताओं का ध्यान जाना चाहिये था। इस बारे में मेरा यह कहना है, कि मुरादाबाद के मुसलमानों का झगड़ा पुलिस के साथ था, तो फिर निरपराध हरिजनों के मकानों में आग लगाना कहां का विवेक है।

सिद्धांत के साथ कुछ ध्यान हार्दिक पक्ष को देखना भी आवश्यक होता है। नूर साहब ने आर्यसमाज के नेताओं को उनके कर्त्तव्य बोध का उपदेश दिया है, कितना अच्छा होता कि मुस्लिम यूनीवर्सिटी अलीगढ द्वारा भेजी गई आर्थिक सहायता जब मुरादाबाद के मुसलमानों में बांटी जा रही थी, तो उसका कुछ अंश वहां के हरिजनों के हिस्से में भी आ जाता। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। आर्यसमाज का निर्णय न्यायपूर्ण और तर्कसंगत होने के साथ व्यवहारिक भी है। मुरादाबाद के आस-पास जो नई कालोनियाँ बनाई जा रही हैं, उनमें वहीं के गरीब मुसलमानों को बसाया जायेगा। गरीब हरिजनों की उपेक्षित दशा को देखते हुए आर्यसमाज का निर्णय प्रत्येक दृष्टि से उचित ही ठहरता है। जिसके पास एक महीने का राशन पानी पहिले ही मौजूद हो, उसी को और देने जाना और जिसके पास आज के खाने का भी पूरा प्रबन्ध न हो, उसे कुछ भी न देने की बात का कोई भी संवेदनशील व्यक्ति किसी भी हालत में समर्थन नहीं कर सकता। सहायता के पात्र किसी भी व्यक्ति अथवा समुदाय को यदि कहीं से सहायता का आश्वासन मिल रहा हो, तो देने वाले की आलोचना करना, उसके नुक्स ढूंढना आदि से खुदा या ईश्वर नाराज होता है।

— धर्मसिंह आर्य

# हवन नगर

जिला गुड़गांव में नगीना से पुनाहाना सड़क पर एक ग्राम है "हवन-नगर"। कभी इस शब्द पर ध्यान नहीं गया कि इस गांव का नाम हवननगर क्यों रखा। परन्तु जब आर्य महासम्मेलन के अवसर पर रामलीला ग्राउंड में बहुकुण्डी यज्ञ का दृश्य देखते ही सहसा मुख से निकल पड़ा—"हवननगर" और तुरन्त उस ग्राम के नाम का अर्थ भी स्पष्ट हो गया कि यह वह नगर है जहाँ घर घर यज्ञ होता रहता होगा।

बड़ी श्रद्धापूर्वक दिल्ली नगर की अनेक आर्य समाजों से बहुत भाई पधारे और अपनी अपनी यज्ञवेदियों पर आसन ग्रहण किया। मध्य में एक बड़ी यज्ञ वेदी और साथ ही अन्य यज्ञवेदियों में स्वाहाकार के साथ समर्पित हव्य की सुगन्ध ने आस-पास के वातावरण को महका दिया।

इस महासम्मेलन में कुछ शंका युक्त "विचार भी आए" हैं यह बहुकुण्डी यज्ञ की प्रथा आर्यसमाज में श्रद्धा पैदा करने के लिए डाली जा रही है। वस्तुत. एक ही कुण्ड के आस-पास सब को बैठना चाहिए ताकि सामूहिक उपासना की भावना की पूर्ति हो सके। (समाधान) यह है कि यज्ञ कर्मकाण्ड का एक महत्व पूर्ण अंग है जो श्रद्धा से किया जाता है यज्ञश्रद्धा पैदा करता है इसमें कोई संदेह नहीं। बहुकुण्डी यज्ञ का विरोध वेद शास्त्रों में भी नहीं है। महर्षि दयानंद जी ने भी कहीं विरोध नहीं किया। इसमें एक भावना सामूहिक संगठन की ही है। जिस प्रकार आर्यसमाजों में एक यज्ञकुण्ड के आस-पास बैठ कर यज्ञ करते हैं वह एक सीमित व्यवस्था है परन्तु बहुकुण्डी यज्ञ में अनेक क्षेत्र के आर्यसमाजों के बहुत भाई सम्मिलित यज्ञ करते हैं। यह अनेक आर्यसमाजों के संगठन का परिचायक है।

दूसरी बात यह है कि पुरोहितजनों से आशीर्वाद भी प्राप्त किया जाता है। महर्षि दयानन्द ने प्रत्येक संस्कार के यज्ञ के सम्पन्न होने पर आशीर्वाद का विधान लिखा है क्योंकि आशीर्वाद से यजमानों को मानसिक प्रसन्नता के साथ प्रेरणा भी मिलती है आशीर्वाद से यजमान को कोई हानि नहीं होती।

तीसरी बात दक्षिणा की है। महर्षि दयानन्द जी ने दक्षिणा का विधान किया है। शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में तो दक्षिणा को पत्नी की संज्ञा दी है। गीता में भी "विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणाम्" दक्षिणारहित यज्ञ को दोषयुक्त माना है।

(रामकिशोर वैद्य महोपदेशक)

# सम्पादक के नाम पत्र

## सन्मार्ग की बहक !

साप्ताहिक "आर्य सन्देश" २१ दिसम्बर १९८० में अमेठी के राजा—राजर्षि राजा रणंजय सिंह, के सम्पादक के नाम पत्र को पढ़ने से मुझ जैसे हजारों जनों को जो राजा रणंजय सिंह जी के तपः पूत व्यक्तित्व और आदर्श आर्य के उनके आचरण से परिचित हैं अपार क्लेश हुआ है। राजा रणंजय सिंह के समान सरल स्वभाव वाले महत् जन के प्रति ऐसे ओछे वक्तव्य देकर काशी के प्रतिष्ठित "सन्मार्ग" पत्र के माननीय सम्पादक महोदय ने स्वयं अपने को अपमानित किया है। इससे "सन्मार्ग" की कीर्ति को भी बट्टा ही लगेगा। क्या आशा की जाये कि "सन्मार्ग" के वरिष्ठ सम्पादक महोदय राजा रणंजय सिंह के प्रस्तुत पत्र को पढ़ने के बाद अपनी भूल का सुधार करके सभा-भावना प्रकाशित करने की उदारता प्रदर्शित कर सकेंगे ?

राजनाथ पाण्डेय
लक्ष्मी निवास: सिविल लाइन्स,
सुलतानपुर २२८००१

# 'आर्य संदेश' महासम्मेलन विशेषांक



(पृष्ठ २ का शेष)

कठोर खंडन न किया करें, अन्यथा उनके व्याख्यान बन्द कर दिये जायेंगे।'

अगले दिन स्वामी जी ने बड़ी निर्भीकता के साथ सिंह गर्जना करते हुए कहा "लोग कहते हैं सत्य का प्रकाश न कीजिये क्योंकि कलक्टर कुपित होगा, कमिश्नर प्रसन्न नहीं रहेगा, गवर्नर पीड़ा पहुंचायेगा। अरे ! चाहे चक्रवर्ती राजा भी अप्रसन्न क्यों न हो जाये हम तो सत्य ही कहेंगे। आत्मा सत्य है। उसकी सत्ता को न कोई शस्त्र छेदन कर सकता है और न अग्नि जला सकता है; वह एक अजर अमर अविनाशी पदार्थ है। शरीर तो अवश्य नाशवान है, जिसका जी चाहे इसका नाश कर दे, परन्तु हम देह की रक्षा के लिये सनातन धर्म को नहीं त्यागेंगे—सत्य को नहीं छोड़ेंगे। वह शूरवीर पुरुष मुझे दिखलाओ जो मेरे अन्तरात्मा को छिन्न-भिन्न करने का घमंड करता हो। जब तक ऐसा पुरुष दृष्टिगोचर नहीं होता दयानन्द के लिए सत्य में संदेह करना स्वप्न में भी असंभव है।"

इसी वीरता ने महाराणा प्रताप को स्वतंत्रता के लिए लड़ने की प्रेरणा दी, इसी वीरता ने छत्रपति शिवाजी को शत्रुओं का मुकाबला करने का साहस दिया, इसी वीरता ने सावरकर को समुद्र में कूदने का बल प्रदान किया, इसी वीरता के वशीभूत होकर स्वामी श्रद्धानन्द ने अंग्रेजों की विशाल सेना के आदेश की अवहेलना कर अपनी नंगी छाती उनकी बन्दूकों के सामने कर दी, इसी वीरता ने भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त को पार्लियामेंट में बम फेंकने की हिम्मत दी, इसी वीरता ने रामप्रसाद बिस्मिल, रोशनसिंह और अशफाकुल्लाह को फाँसी की रस्सी चूमने का साहस प्रदान किया, यही वह वीरता है जिसके दिल में आने पर पंजाब के हिन्दी रक्षा सत्याग्रह में सुमेरसिंह ने अपना बलिदान किया। क्या सुकरात और अभिमन्यु की वीरता हमें प्रेरणा न भरेगी ? 'योगी' कवि ने लिखा है :—

लड़ते आओ, बढ़ते जाओ
रुकने का क्या यहाँ काम है ?
रुकना मृत्यु और बढ़ना ही
जीवन का बस एक नाम है ?
जो लड़ता है वही राम है,
उसको ही मिलती है सीता,
यही युद्ध की शिक्षा देती,
कृष्ण कन्हैया की है गीता।
जहाँ सत्य, सुन्दर, शिव बसते,
बसती जहाँ शक्ति कल्याणकारी
युद्ध निरन्तर युद्ध, विश्व है,
युद्धों की ही एक कहानी।
प्रभु ! हमें यह वीरता प्रदान करो।

## आर्यसमाजों के सत्संग

१-२-८१

अंधा मुगल प्रताप नगर—पं० प्राणनाथ सिद्धान्तलंकार; अमर कालोनी—पं० हीरा प्रसाद शास्त्री; अशोक विहार के- सी-५२-ए—श्री चिमनलाल; आर्य पुरा—पं० वेदपाल शास्त्री; आर के पुरम सैक्टर६—श्री मोहनलाल गाधी; आनन्द विहार हरि नगर एल ब्लाक—पं० गणेश प्रसाद विद्यालंकार; किंग्ज वे कैम्प—आचार्य हरिदेव सि० भू०; कालका जी—पं० मुनि शंकर वानप्रस्थी; कालका जी—डी-डी-ए फ्लैटस—वैद्य राम किशोर; करौल बाग प्रात:९ से १०—पं०अशोक कुमार विद्यालंकार; गांधीनगर—पं० खुशीराम शर्मा; गीता कालोनी—प० देवराज वैदिक मिश्नरी; १५१-गुप्ताकालोनी—पं०रामरूप शर्मा;गोविन्दपुरी—प०तुलसीराम भजनोपदेशक; गोविन्द भवन दयानन्द वाटिका—पं० महेन्द्र प्रताप शास्त्री, जग पुरा भोगल—पं० सत्य भूषण वेदालंकार; जनक पुरी सी-३—पं० प्रकाश चन्द्र शास्त्री; जनक पुरी बी/३/२४—पं० वीरव्रत शास्त्री; जहांगीर पुरी—पं० सत्य पाल माथुर भजनोपदेशक; तिलक नगर—पं० प्रकाश चन्द वेदालंकार, देव नगर—डा० सुख दयाल भूटानी; नारायण विहार—आचार्य कृष्ण गोपाल शास्त्री; न्यू मोती नगर—पं० छज्जू राम शास्त्री; पंजाबी बाग—प० दिवाकर शर्मा; पजाबी बाग एक्स्टैशन १४/३—प्रो० सत्य पाल बेदार; पश्चिम पुरी जनता क्वार्टरज—प० जगदीश प्रसाद विद्या वाचस्पति; बाग कड़े खां—पं० बरकत राम भजनोपदेशक; बसई दारा पुर—स्वामी स्वरूपा नन्द भजनोपदेशक; बिरला लाईन्स—प्रो० वीर पाल विद्यालंकार;माडल बस्ती—ला०लखमी दास,महरौली—आचार्य रामशरण मिश्रा शास्त्री; मोती बाग—श्रीमती लीलावती आर्या; रघुवीर नगर—पं० विश्व प्रकाश शास्त्री; रमेश नगर—पं० आशा नन्द भजनोपदेशक; राणा प्रताप बाग—प० ओम वीर शास्त्री; लड्डू घाटी—पं० हरि दत्त शास्त्री; विक्रम नगर—प० गजेन्द्र पाल शास्त्री; विनय नगर—श्रीमती प्रकाश वती शास्त्री; सरस्वती विहार—प० ओम प्रकाश भजनोपदेशक; सराय रौहेला—डा० रघुनन्दन सिंह; सुदर्शन पार्क—प्रो० भारत मित्र शास्त्री; साउथ एक्स्टैनशन-II३॥ से ५—प०अशोक कुमार विद्यालंकार, श्री निवास पुरी—प० केशव चन्द्र मुन्जाल; हनुमान रोड—पं० हरि शरण, होज खास ई- ४९—पं० ईश्वर दत्त एम-ए।

(ज्ञान चन्द डोगरा वेद प्रचार विभाग)

## आर्यसमाज की गतिविधियां

### टंकारा में ऋषि मेला

हर वर्ष की भांति इस वर्ष भी महर्षि दयानन्द जन्म स्थान टंकारा में शिवरात्रि पर ऋषि मेला मनाया जा रहा है। टंकारा महर्षि दयानन्द जन्म स्थान है। इसलिए भारत भर की आर्य जनता से प्रार्थना है कि वहां चलने की अभी से ही तैयारी कर लें। ऋषि मेला शिवरात्रि पर तीन दिन रहेगा, जिसमे आर्य जगत् के प्रसिद्ध विद्वान, सन्यासी वहां पहुंचेंगे और ऋषि दयानन्द को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करेंगे।

—मन्त्री, टंकारा सहायक समिति

### सीता जयन्ती बोधोत्सव

"आर्यसमाज गुप्ता कालोनी-विजय नगर, रविवार दिनांक २२-२-१९८१ से रविवार दिनाक १-३-१९८१ तक सीता जयन्ती, ऋषिबोधोत्सव स्थापना दिवस एव वार्षिकोत्सव मनायेगा। प० रामकिशोर जी वैद्य २३-२-१९८१ से प्रातः यज्ञ और रात्रि को कथा किया करेंगे।

### आर्यसमाज गोविन्दपुरी के सदस्यों का चुनाव

आर्यसमाज गोविन्दपुरी की साधारण सभा की बैठक आर्यसमाज गोविन्दपुरी में दि० २१-१२-८० को हुई और उसमें अगले वर्ष के लिए निम्न पदाधिकारियो का चुनाव सर्व सम्मति से हुआ :—

प्रधान—श्री चमनलाल। उपप्रधान—श्री राजसिंह वर्मा। मन्त्री—विजेन्द्र कुमार सिहल। उपमन्त्री—श्री सोमदेव मलहोत्रा। कोषाध्यक्ष—टेकचन्द कथूरिया।

इसके अतिरिक्त अन्तरग सभा के सदस्यो का चुनाव भी सर्वसम्मति से हुआ।

(पृष्ठ ३ का शेष)

तो प्रकारान्तर से वे पृथकता और विघटन की राजनीति को प्रोत्साहन दे रहे होते हैं। इसका अभी एक उदाहरण सामने आया है जबकि तमिलनाडु की विधान मण्डल की सयुक्त बैठक मे वहां के राज्यपाल श्री सादिक अली ने प्रधानमत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी द्वारा मदुराई में आयोजित विश्व तमिल संगम में हिन्दी न थोपने के आश्वासन पर तमिलनाडु की ओर से आभार व्यक्त करते हुए यह घोषणा की कि तमिलनाडु सरकार 'सब कुछ तमिल और सब जगह तमिल' सिद्धान्तों को पूरी तरह से लागू करेगी। स्पष्ट रूप से यह भाषण तमिलनाडु में वहां की राज्य सरकार द्वारा अपनायी जा रही पृथकतावादी और विघटनवादी नीति का परिचायक है।

ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी देश भर में इस पर विचार करने की जरूरत है कि ऐसे कौन से ठोस ऐतिहासिक तथ्य हैं जिनके आधार पर तमिल अथवा द्रविड संस्कृति के अलग होने की चर्चा की जाती है और उसके आधार पर देश के विभिन्न वर्गों मे भेदभाव की दीवार खड़ी की जाती है। इस समय स्थिति यह है कि ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय साहित्य मे किसी पृथक द्रविड़ और तमिल संस्कृति की चर्चा नहीं मिलती। फिर भी इस देश के इतिहास को विकृत करने वाले कुछ यूरोपीय लेखको की मान्यताओ को आधार बनाकर हमारे शिक्षण पाठ्यक्रमों मे निचली कक्षाओं से लेकर उच्च कक्षाओं तक बार-बार दोहरा कर छात्रों के दिमाग मे यह बात भरी जाती है कि द्रविड़ और तमिल पृथक संस्कृतियां रही है। इस ऐतिहासिक अराजकता को जितनी जल्दी दूर किया जा सके उतना ही देश के हित मे होगा।

# अल्पसंख्यक आयोग के अध्यक्ष का दुर्भाग्यपूर्ण वक्तव्य :

अल्पसंख्यक आयोग के अध्यक्ष श्री आर० अंसारी के समाचार पत्रों में प्रकाशित वक्तव्य पर टिप्पणी करते हुए सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के मंत्री तथा भू० पू० संसद सदस्य श्री ओश्म् प्रकाश त्यागी ने इसे दुर्भाग्यपूर्ण एवं संविधान के विरुद्ध बतलाया है। श्री त्यागी ने कहा कि श्री अंसारी एक सरकारी आयोग के अध्यक्ष होने के नाते उनके मुख से संविधान द्वारा स्वीकृत देश की सम्पर्क भाषा हिन्दी का विरोध शोभा नहीं देता है।

श्री त्यागी ने कहा कि श्री अंसारी की यह मान्यता कि हिन्दी भाषा कुछ पढ़े-लिखे लोगों की सम्पर्क भाषा बन सकती है, परन्तु जन सम्पर्क की भाषा नहीं बन सकती, उनकी अनभिज्ञता की द्योतक है। श्री अंसारी जी को विदित होना चाहिए कि मुसलमान और अंग्रेज आक्रान्ताओं से पूर्व भले ही राजनीतिक दृष्टि से देश विभिन्न राज्यों में बंटा था, परन्तु सांस्कृतिक एवं धार्मिक दृष्टि से यह देश एक था।

श्री अंसारी की यह मान्यता कि देश की एकता के लिए भाषा का प्रश्न असंगत एवं महत्वहीन है—को हास्यास्पद बतलाते हुए श्री त्यागी ने कहा कि यह सर्वमान्य तथ्य है कि भाषा और संस्कृति ही किसी भी राष्ट्र की आत्मा होती है और वे ही उसे एकता के सूत्र में बांधती हैं। प्रतीत होता है कि श्री अंसारी जी ने जानबूझकर हिन्दी भाषा का विरोध करने के लिए ऐसा कहा है। वह संसार में कोई ऐसा राष्ट्र बतला सकते हैं—जहां कि कोई संपर्क भाषा या राष्ट्रभाषा न हो।

श्री त्यागी ने कहा कि श्री अंसारी ने दबी जबान में सम्पर्क भाषा की आवश्यकता को तो अनुभव किया है परन्तु हिन्दी भाषा को इस योग्य नहीं माना कि वह देश की सम्पर्क भाषा बन सके। परन्तु उन्होंने यह नहीं बतलाया कि हिन्दी के स्थान पर दूसरी कौन सी भाषा सम्पूर्ण भाषा बन सकती है? क्या उन्हें इस बात का ज्ञान नहीं। सभी भारतीय भाषाओं का अध्ययन कर संविधान के निर्माताओं ने हिन्दी भाषा को ही बहुमत की भाषा मान इसे संपर्क भाषा बनाने का निर्णय लिया।

श्री त्यागी ने कहा कि श्री अंसारी ने परोक्ष रूप से उर्दू भाषा की वकालत की है। उनका यह कहना सत्य है कि उर्दू भाषा का जन्म भारत में ही हुआ है। उनको ज्ञात होना चाहिए कि उर्दू भाषा की जननी भाषा हिन्दी ही है। परन्तु खेद इस बात का है कि इसे विदेशी लिपि और फारसी आदि विदेशी भाषाओं के शब्द [illegible] मनोवृत्ति के लोगों ने एक विशेष वर्ग की भाषा बना दिया है। यदि [illegible] ही महत्वपूर्ण हो और राष्ट्रीय [illegible] का प्रतीक हो तो भी [illegible] [illegible] भारत में हुआ था। इसलिए इन्हें अखिल भारतीय मान्यता दी जानी चाहिये।

श्री त्यागी ने कहा कि दुर्भाग्य इस बात का है कि सरकार के महत्वपूर्ण पदों पर विराजमान होकर लोग एक ओर एकता के सूत्रों का विरोध करते हैं तो दूसरी ओर एकता की रट लगाते हैं।

□

(पृष्ठ ४ का शेष)

बारह आहुतियां दी जाती हैं। ये सब आहुतियां मंत्र गत स्वाहाकार से ही दी जाती हैं। कहीं भी ऐसा देखने में नहीं आता कि मंत्र पठित स्वाहाकार-के बाद आहुति के लिए एक और स्वाहाकार पढ़ा गया हो। इसीलिए हमने प्रारम्भ में ही लिखा है कि विश्व वेद परिषद् की अजमेर में हुई गोष्ठी में मंत्र के अंत में आए स्वाहाकार के बाद आहुति के लिए एक और स्वाहाकार के [illegible] का निर्णय महर्षि दयानन्द और [illegible] कर्मकाण्ड के आक्रमण के विरुद्ध है। इसलिए यह निर्णय किसी रूप में स्वीकार करने योग्य नहीं कहा जा सकता।

[illegible] के आदि में [illegible] स्वाहाकार को उस मंत्र के अंत में के बाद [illegible] है। यथा— [illegible] में [illegible] स्वाहाकार को अंत में [illegible] 'ओ३म् [illegible]' स्वाहा' इस प्रकार पढ़कर आहुति दिलवाते हैं। [illegible] महाराज ने भी [illegible] में स्वाहाकार को [illegible] उठाकर [illegible] 'ओ३म् प्राणेभ्यः [illegible] स्वाहा' इस प्रकार आहुति देने का विधान किया है। अस्तु।

यद्यपि पारायण यज्ञ विधि ग्रंथों से सर्वथा बहिष्कृत पौराणिक संहिता होम एवं [illegible] स्वाहाकार का [illegible] कर के आर्यों द्वारा ग्रहण किया गया एक [illegible] इसे कराना ही है तो प्रत्येक अनुष्ठान उसी प्रकार के विधि विधान पूर्वक हो सके इसके लिए यह आवश्यक है कि अनुष्ठानदिवस से १०।१५ दिन पूर्व वेदपाठी महानुभाव किसी अच्छे विधि विधान के जानने वाले विद्वान् के सामने बैठकर प्रशिक्षण लेकर ही अनुष्ठान करावें। यजुर्वेद पारायण यज्ञ के लिए तो अनुष्ठान से पूर्व प्रशिक्षण बहुत ही आवश्यक है। इन वेद पाठियों के प्रशिक्षण काल में उनका भोजनादि का सारा व्यय उदारता पूर्वक यजमान को वहन करना चाहिए।

□



दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के लिए श्री सरदारी लाल वर्मा द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा वाटिका प्रेस ७२७/१-बी, गुरुनानक पंथा, [illegible] दिल्ली-३१ में मुद्रित। कार्यालय १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली फोन नं० [illegible]

ओ३म्                    कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

# आर्य सन्देश

दिल्ली आर्यप्रतिनिधि सभा का साप्ताहिक मुखपत्र

एक प्रति ३५ पैसे, वार्षिक १५ रुपये | वर्ष ४ : अंक १५ | रविवार ८ फरवरी १९८१ | दयानन्दाब्द १५६

# धर्म मन्दिरों के नाम पर जमीनों पर कब्जा

## सरकार और प्रशासन द्वारा कोई कार्यवाही न करने के कारण उग्र सम्प्रदायों और पन्थों द्वारा कब्जा करने के कार्य को प्रोत्साहन

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से पिछले दिनों इस बात का सर्वेक्षण किया गया कि सरकार की विभिन्न एजेंसियों द्वारा विकसित बस्तियों में धर्म स्थानों के लिए कितनी और किस प्रकार की भूमि उपलब्ध है। इस सर्वेक्षण का मुख्य रूप से प्रयोजन नई बस्तियों में आकर बसने वाले आर्य-जनों की मांग के अनुसार नये आर्य-समाज के भवनों और मन्दिरों के लिए भूमि की व्यवस्था करना था। इस सर्वेक्षण में यह बात उभर कर सामने आयी कि जबकि आर्यसमाजों की ओर से वैधानिक रूप से आवेदन पत्र ही दिये जाते रहे हैं और अनेक मामलों में तो भूमि संबंधी ये आवेदन पत्र अभी सरकारी दफ्तरों की फाइलों में घूम रहे हैं और आर्यजन उत्सुकतापूर्वक परिणाम की प्रतीक्षा में हैं, दूसरे सम्प्रदायों के लोग इन स्थानों पर अधिकार करके उन पर अपने धार्मिक चिन्ह खड़े कर रहे हैं। ऐसी मान्यता है कि यदि अनधिकृत रूप से इन भूमियों पर कब्जा करके वहां कोई धार्मिक चिह्न खड़ा कर दिया जाये तो सरकार इस अधिकार को बाद में स्वीकार कर लेती है। इस प्रकार के कई मामले इस सर्वेक्षण में सामने आये जबकि किसी जमीन के लिए किसी आर्यसमाज ने आवेदन पत्र दिया और वह इस बात की प्रतीक्षा में रहे कि उसे वह भूमि मिलेगी इस बीच में दूसरे सम्प्रदायों के लोगों ने अनधिकृत रूप से जमीन पर कब्जा करके वहां गुरुद्वारे अथवा मस्जिदें बना ली हैं। इस संबंध में जब अधिकारियों का ध्यान खींचा गया तो उनका एक ही बंधा बधाया उत्तर था कि आप क्यों झगड़े में पड़ते हैं आपको इसके बदले में कोई और जमीन दे दी जायेगी।

अभी हाल ही में दिल्ली विकास प्राधिकरण द्वारा बसायी जा रही नयी बस्ती शालीमार बाग में स्थानीय आर्य-समाज ने जमीन प्राप्त करने के लिए आवेदन पत्र दिया। इस बीच आवेदन पत्र में उल्लिखित जमीन पर सिक्खों ने अधिकार कर लिया और वहां अपना झण्डा गाड़ कर अखण्ड पाठ भी शुरू कर दिया। इसके कारण वहां पर काफी तनाव पैदा हो गया परन्तु बाद में दिल्ली विकास प्राधिकरण द्वारा तत्काल दूसरी जमीन देने के कारण और आर्य-समाज के लोगों द्वारा उस जमीन पर अपना दावा छोड़ देने के कारण स्थिति शान्त हो गयी।

जहांगीरपुरी एक ऐसा क्षेत्र है जहां निम्न आय वर्ग के लोग बसाये जा रहे हैं। यहां पर भी कई स्थानों पर गुरुद्वारे बनाने के लिए जमीनों पर कब्जा कर लिया गया है और यह भी बात सामने आयी कि यहां मस्जिदें भी बना दी गयी हैं।

इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि दोनों क्षेत्रों में सिक्खों और मुसलमानों की आबादी बहुत ही कम है। शालीमार बाग में सिक्खों की आबादी एक प्रतिशत भी नहीं है फिर भी वहां सिक्खों ने तीन जमीनों पर कब्जा कर लिया है और अनधिकृत रूप से वहां कमरे बना लिये हैं। जहांगीर पुरी में भी यही स्थिति है। जहांगीर पुरी में ईसाई लोग भी अपना गिरजाघर बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं हालांकि वहां ईसाईयों की आबादी लगभग नहीं है। परन्तु उनके प्रचारक धर्म परिवर्तन द्वारा कुछ ईसाई बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं और उन्हें विश्वास है कि वे जल्दी ही इस क्षेत्र में कुछ परिवार ईसाई बना लेंगे और इस प्रकार उन्हें वहां अपना गिरजाघर बनाने के लिए जमीन प्राप्त करने का अधिकार मिल जायेगा।

यहां केवल दो नयी बस्तियों की चर्चा की गयी है परन्तु दिल्ली भर में यह स्थिति बनी हुई है कि कोई भी उग्र सम्प्रदाय और पन्थ किसी भी जमीन पर कब्जा कर लेता है और वहां अपना निर्माण कार्य शुरू कर देता है। इस अनधिकृत कब्जे को विभिन्न सम्प्रदायों के राजनीतिज्ञ प्रोत्साहन देते हैं और इस काम में उन सम्प्रदायों के सरकारी अधिकारी भी शामिल हो जाते हैं। अकेले शालीमार बाग में सिक्खों ने तीन भूमिखण्डों पर कब्जा कर लिया है और यह भूमिखण्ड एक दूसरे के पास पास हैं। इस प्रकार का कब्जा राजनीतिज्ञों और सरकारी अधिकारियों की इच्छा के बिना नहीं किया जा सकता। जब तक दूसरे सम्प्रदाय और धर्मों के लोग इस बारे में सतर्क नहीं होंगे तब तक कब्जा करने का यह काम तेजी से चलता रहेगा। □

### श्रीमती कमला देवी को हार्दिक श्रद्धांजलि

आर्य सन्देश-परिवार को यह जानकर यह हार्दिक संवेदना हुई कि २१ जनवरी के दिन आर्य नेता एवं दैनिक वीर अर्जुन के सम्पादक श्री के० नरेन्द्र की धर्मपत्नी श्रीमती कमला देवी का आकस्मिक देहावसान हो गया। दीवान हाल तथा दिल्ली की दूसरी आर्यसमाजों में शोक सभाएं कर दिवंगत आत्मा के प्रति श्रद्धांजलि अभिव्यक्त की गई। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान लाला रामगोपाल शाल वाले ने एक शोक सन्देश में कहा कि श्रीमती कमला देवी और म. कृष्ण के समस्त परिवार ने आर्यसमाज, हिन्दू समाज और देश की सेवा में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

आर्य सन्देश-परिवार परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करता है कि वह दिवंगत आत्मा को सद्गति दे और शोक संतप्त परिजनों और इष्ट मित्रों को सान्त्वना दें।

# जनगणना का कार्य आरम्भ

## सभी आर्य जनों से अपने आपको आर्य लिखाने की अपील

देश भर में जनगणना के अन्तिम दौर का कार्य शुरू हो गया है। जनगणना करने वाले लोग घर-घर जाकर अन्य सूचनाओं के साथ परिवार के प्रमुख और अन्य व्यक्तियों के धर्म, भाषा और जाति सम्बन्धी जानकारी इकट्ठी कर रहे हैं। आर्यसमाज से सम्बद्ध सभी लोग जानते हैं कि दस वर्ष में एक बार मिलने वाले इस अवसर का बहुत अधिक महत्त्व है क्योंकि लोकतन्त्र में सरकार की धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक नीतियां विभिन्न वर्गों, सम्प्रदायों और धर्मों के आधार पर निश्चित की जाती हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि इन नीतियों के निर्धारण में आर्यसमाज का भी अपनी जनसंख्या के आधार पर प्रमुख रूप से हाथ हो।

इसी बात को ध्यान में रखते हुए सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने अपने २३ सितम्बर १९८१ के सर्वसम्मत निश्चय द्वारा सभी आर्यसमाजों, आर्य प्रतिनिधि सभाओं, शिक्षण संस्थाओं और आर्य स्त्री-पुरुषों को यह आदेश दिया था कि प्रत्येक आर्य नर-नारी अपनी जाति आर्य, धर्म वैदिक और भाषा हिन्दी लिखाये। सगठन और अनुशासन की दृष्टि से सार्वदेशिक के इस आदेश का पालन करना सभी आर्य सदस्यों का कर्त्तव्य है।

इस बारे में यह भी सावधानी बरतने की जरूरत है कि जनगणना के लिए धर्म, जाति भाषा आदि की सूचना परिवार के प्रमुख अथवा उस समय घर में उपस्थित व्यक्ति से ली जायेगी। इसलिए हमें अभी से अपने परिवार के प्रत्येक सदस्य को यह सावधान कर देना चाहिये कि सब अपने आपको आर्य, धर्म वैदिक और भाषा हिन्दी लिखाये।

(शेष पृष्ठ ६ पर)

सम्पादक—वि०सा० विद्यालंकार

**वेद मनन :**

# देवी की कृपा दृष्टि

**समख्ये देव्याधिया सं दक्षिणयो रुचक्षसा।**

**मा म आयुः प्रमोषीर्मो अहं तव वीरंविदेय, तव देविसंदृशि ॥ यजु: ४-२३**

ऋषि :—वत्स. । देवता—वाक्-विद्युत् वा।

शब्दार्थ—वत्स अर्थात् अविवाहित मैं (दक्षिणया) दाक्षिण्यपूर्ण (उरुचक्षसा) दूर दृष्टि सम्पन्न (धिया) क्रियात्मक बुद्धिमती (देव्या) पवित्र शीलवती देवी के साथ (समख्ये) प्रतिज्ञा करता हू और अपने सम्बन्ध को प्रख्यात करता हूं कि आज से हम दोनो विवाहित हो गये हैं।

(देवि) हे दिव्य गुणों को प्रकट करने वाली देवि ! (तव सदृशि) अपने निरीक्षण मे रखकर (मे आयुः) मेरी आयु को (मा प्रमोषी) लुप्त मत कर, कममत होने दे। (अहं) मैं (तव) तेरी आयु को (मा) कम नहीं होने दूंगा। और (तव संदृशि) तेरी कृपा दृष्टि होने पर (वीरं विदेय) उत्तम गुण सम्पन्न वीर पुत्र को प्राप्त करूं।

निष्कर्ष—१—वाणी में शांति और शत्रुता दोनों को उत्पन्न करने का सामर्थ्य है। विद्युत् में प्रकाश और दाह अथवा निर्माण तथा संहार दोनो सामर्थ्य हैं। इसी प्रकार पत्नी मे घर को बनाने और बिगाड़ने की शक्ति है। इसलिए उसकी सदृक्—कृपा दृष्टि की प्रार्थना की है।

२—पति पत्नी एक दूसरे का ख्याल रक्खें तो दोनों सन्तुष्ट रहते हैं। उनकी आयु सुख पूर्वक गुजरती है। यदि एक दूसरे की उपेक्षा करें तो असंतोष उत्पन्न होता है और उनकी आयु घटती है।

३—पत्नी की कृपा दृष्टि या सहमति हुए बिना उत्तम सन्तान नहीं बन सकती। सन्तानोत्पत्ति तथा उसके सत् निर्माण में पत्नी का प्रत्यक्ष सहयोग आवश्यक है। अन्यथा सन्तान होगी ही नहीं, और यदि हो जाएगी तो उत्तम तथा विद्युत् के समान विख्यात या द्युतिसम्पन्न नहीं बन पाएगी।

४—अपनी बुद्धि को उदार, दूरदृष्टि तथा कर्ममय बनाना चाहिये और फिर इन गुणों से युक्त बुद्धिमती स्त्री को विचार-विमर्श तथा आलाप-संलाप करने के बाद अपनी सहयोगी बनाने की घोषणा करनी चाहिए और तदनन्तर आयुपर्यन्त साथ रहने की प्रतिज्ञा करनी चाहिए।

विशेष—इस मंत्र का ऋषि वत्स है। वत्स, बछड़े को तब तक कहते है, उस पर जब तक जुआ नहीं रक्खा जाता है। उसके बाद वह बैल बन जाता है। इसी प्रकार मनुष्य सतान तब तक वत्स है, जब तक उस पर गृहस्थी का जुआ नहीं रक्खा गया है। यह ऋषि वाक् और विद्युत् गुणो वाली देवी की संदृष्टि प्राप्ति में प्रवृत्त है।

अर्थ पोषक प्रमाण—वत्स:—वह बछड़ा जिस पर अभी तक जुआ नही रक्खा गया है, बैल बनने को उद्यत आपटे कोष।

वाक्—वाणी, सरस्वती, प्रतिज्ञा। विद्युत्—विद्युत्, वज्र। आपटे कोष

सदृशि—सम्यक् निरीक्षणे,

समख्ये—ख्या प्रकथने। ख्यापयामि—वच्मि प्रतिजानामि च।

—मनोहर विद्यालंकार

---

**वीरता का घोष :**

# कर्म करो कर्म करो

**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।**

**एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ यजु: ४०।२**

(इह) इस ससार मे (कर्माणि) कर्म (कुर्वन्) करता हुआ ही (शतं समा.) सौ वर्ष तक (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे (एव) इस प्रकार (त्वयि नरे) तुम, मनुष्य मे (कर्म न लिप्यते) कर्म नही लिप्त होंगे।

इस संसार मे हमे कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करनी चाहिए। गति, कर्मशीलता ही जीवन है। गतिहीन अकर्मण्य मनुष्य पापी हो जाता है। ईश्वर को भी वे ही लोग प्राप्त करते हैं जो कर्मशील हैं, जिनके जीवन में जागृति है, जो सदा सावधान रहते हैं। वेद कहता है—

इच्छान्ति देवा सुन्वन्त
न स्वप्नाय स्पृहयन्ति।
यन्ति प्रमादमतन्द्राः। ऋ. ८।२।१८

विद्वान् लोग कर्मशील को ही चाहते हैं, कर्मशील ही प्रेम करता है, वे निद्रा में पड़े हुए, आलस्य में डूबे हुए, जंभाई लेने वाले आलसी पुरुष से प्रेम नहीं करते। आलस्य रहित मनुष्य ही उस आनन्द स्वरूप परमात्मा को प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार इस संसार में कर्म का सम्बन्ध प्रत्येक मनुष्य से है। परन्तु यह कर्म ज्ञानपूर्वक भी हो सकता है, अज्ञान पूर्वक भी। और तीसरी स्थिति यह भी हो सकती है कि हमें कार्य का न्यास या त्याग कर दें। त्याग करने का मतलब होगा कि हम आलसी बन जांय। भर्तृहरि नीति शतक में कहा गया है:—

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो
महान् रिपुः।
नास्त्युद्यम समोबन्धुः य कृत्वा
नावसीदति।
भर्तृ. नीति. ८०

आलस्य मनुष्य के शरीर में विद्यमान सबसे बड़ा शत्रु है और परिश्रम के समान मनुष्य का दूसरा कोई मित्र नहीं है। कई मनुष्य आलस्य के कारण तो नहीं परन्तु ज्ञानमार्गी होने से वैराग्य धारण कर लेते हैं और वे वैराग्य का मतलब यह समझते हैं कि हमें कर्म नही करना चाहिए। कर्म करने को वे संसार में फंसना मानते हैं। परन्तु वेद का ऊपर का मंत्र बिना शर्त यह बात कहता है कि दुनिया में यदि तुम जीना चाहते हो तो कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करो। संसार को कुछ लोग जिन्हें हम प्रकृतिवादी कहते हैं सार समझते हैं और वे संसार को भोगने में डटे रहते हैं। अध्यात्मवादी लोग संसार को असार मानते हैं, वे संसार को छोड़ कर भाग जाते हैं परन्तु एक तीसरा दृष्टिकोण यह है कि संसार असार हो सकता है पर इसे छोड़ो नहीं—इससे भागो नहीं, संसार सत् या सारमय है यह ठीक नही परन्तु इसमें डटो रहो। इसे सुन्दर से सुन्दरतर बनाते जाओ। यही दृष्टिकोण इस मंत्र का है। वह कहता है सौ वर्ष तक कर्म करते हुए भी जीवित रहो। श्रीकृष्ण ने गीता में उसे निष्काम कर्म का नाम दिया है। निष्काम कर्म का मतलब कर्म छोड़ देना या निष्कर्मण्यता नहीं। निष्कर्मण्यता में आदमी काम नहीं करता और निष्काम कर्म में लगे रहना है। वैसे तो गीता ने कहा है :—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु
तिष्ठत्यकर्मकृत्।
(गीता ३।५)

कोई मनुष्य बिना कर्म के एक क्षण भी नहीं रह सकता। और कोई कर्म न सही, आंख की पलक गिरेगी, उठेगी। सांस बाहर निकलेगा, अन्दर आएगी अत: गीता कहती है :—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु
कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भूः मा ते
सङ्गोस्त्वकर्मणि ॥
विहाय कामान् यः सर्वान्
पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स
शान्तिमधिगच्छति ॥
(गीता २।७२)

तुम्हारा कार्य करने में अधिकार है परन्तु फल में तेरा अधिकार नहीं। फल में तू अपना अधिकार न समझ। फल में तू आसक्त मत हो अन्यथा फल न मिलने पर तू कर्म ही छोड़ देगा।

इस श्लोक से ऊपर के मंत्र की दूसरी पंक्ति का भाव स्पष्ट हो जाएगा। मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है। वह अच्छा या बुरा जैसा चाहे कर्म कर सकता है पर फल की प्राप्ति उसके वश की बात नही। अत: गीता कहती है 'मा कर्मफल हेतुर्भूः' मनुष्य ! तू समझ ले कि फल का कारण तू नहीं है अर्थात् फल तेरे हाथ में नहीं है। मनुष्य कर्म करेगा तो फल की आशा करेगा ही परन्तु फल यदि इच्छानुकूल न मिले तो निराशा नहीं होना चाहिए क्योंकि फल देने वाला तो दूसरा है। फल देना उसके हाथ की बात है। तुझे इस संसार में खेलना है। जीत और हार तेरे रहे वश की बात नही।

**लेखक :**
**सुरेशचन्द्र वेदालंकार**

यह समझ कर जो कर्म करता है, कर्म उससे लिप्त नहीं होते। मन्त्र कहता है 'एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यतेनरे' इस प्रकार कर्म करने से कर्म तुझमें लिप्त नहीं होंगे ?"

निष्काम शब्द का उल्टा या विपरीतार्थक शब्द सकाम है। सकाम कर्म का अर्थ है—मन में कामना या वासना उत्पन्न हो जाना। निष्काम कर्म का अर्थ है वासना या आकांक्षा मुक्त कर्म। आकांक्षा या वासनायुक्त या सकाम कर्म में मनुष्य के अन्दर सदा असन्तोष विद्यमान रहता है और उसे शांति नहीं मिलती। निष्काम कर्म में वासना या आकांक्षा न होने से सारा ध्यान कर्म की ओर रहता है और कर्म की ओर ध्यान होने से हम कार्य को अच्छी तरह करना चाहते हैं। साधनों की पवित्रता का ध्यान रखते हैं। अनुचित साधनों का प्रयोग करके येन केन प्रकारेण कार्य

(शेष पृष्ठ ७ पर)

## सम्पादकीय

# ईसाईयों द्वारा सुविधाओं की मांग

अभी कुछ दिन पूर्व ईसाईयों के प्रतिनिधिमण्डल ने प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी से भेंट कर एक स्मरण पत्र दिया जिसमें यह मांग की गई है कि अनुसूचित जातियों और जनजातियों के जो लोग धर्म परिवर्तन करके ईसाई हो जाते हैं उन्हें भी वही सुविधाएं दी जायें जो कि अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लोगो को प्राप्त है। इस मांग के समर्थन में उन्होंने तर्क यह दिया है कि धर्म परिवर्तन के बाद भी इन जातियो के लोगों का आर्थिक स्तर नहीं बदलता। इन लोगों के आर्थिक स्तर को ऊंचा उठाने के लिए अनुसूचित जातियों और जनजातियों के ईसाई बने लोगो को सुविधाएं दिलाने का प्रचार समाचार पत्रों के माध्यम से भी शुरू कर दिया है।

इस सम्बन्ध मे सबसे पहले सवैधानिक स्थिति को समझ लेने की जरूरत है। भारतीय संविधान में अनुसूचित जाति आदेश १९५० मे यह व्यवस्था है कि कोई भी वह व्यक्ति अनुसूचित जाति अथवा जनजाति का नही माना जाएगा जो धर्म से हिन्दु या सिख न हो। इस आदेश को बाद में १९५० के सवैधानिक सशोधन मे भी स्वीकार किया गया था। इस संवैधानिक व्यवस्था का कारण यह था कि हिन्दुओं में जातिगत आधार पर जो विभिन्न वर्ग बने हुए हैं उस व्यवस्था के अन्तर्गत सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से सारा प्रभुत्व उच्च वर्गों के हाथ में है। ऐसी स्थिति में निम्न वर्गों और जातियों के लोगों को अपनी प्रगति और विकास के अवसर उपलब्ध नहीं हो पाते। राजनीतिक दृष्टि से संविधान द्वारा जब सभी के लिए समानता का सिद्धान्त स्वीकार किया गया तो यह अनुभव किया गया कि राजनीतिक स्तर पर समानता प्रदान करने पर भी सामाजिक दृष्टि से और प्रशासनिक दृष्टि से निम्न वर्गों और जातियों के लोगों को अपने विकास और प्रगति में बाधाओं का सामना करना पड़ सकता है। इसीलिए यह विशेष रूप से व्यवस्था की गयी कि न केवल इन लोगों को समानता के अधिकार प्रदान किये जायें बल्कि ये लोग अपने अधिकारो का प्रयोग भी कर सकें, इसलिए कुछ विशेष व्यवस्थाएं की गई और संविधान में कुछ निदेशात्मक प्रावधान विशेष रूप से किए गये। यह प्रावधान करते समय इस आशंका को ध्यान मे रखा गया था कि विकास और प्रगति का कार्य क्योंकि समयापेक्षी होता है इसलिए धार्मिक दृष्टि से अन्य धार्मिक समुदाय इन कमजोर वर्गों की स्थिति का लाभ उठाते हुए उन्हें प्रलोभन देकर अपने धर्म में दीक्षित कर सकते हैं। इसी आशंका को दूर करने के लिए अनुसूचित जाति आदेश १९५० की व्यवस्था की गयी थी।

उस समय व्यक्त की गई यह आशंका बाद में वास्तविक रूप धारण करने लगी। इसका उदाहरण सबसे पहले झारखण्ड में देखने को मिला। स्व० प० जवाहरलाल नेहरू के काल में झारखण्ड क्षेत्र में झारखण्ड पार्टी को इस क्षेत्र के विकास कार्य के लिए करोडों रुपये की राशि दी गयी। परन्तु इस पार्टी ने इस पैसे का उपयोग विकास कार्यों में न करके अपने राजनीतिक और धार्मिक कार्यों के लिए किया। परिणाम यह हुआ कि इस क्षेत्र में बड़े पैमाने पर ईसाईयों ने धर्म परिवर्तन का कार्य किया। इसमे इस क्षेत्र के गैरईसाई अनुसूचित जातियों और जनजातियों में बहुत असन्तोष पैदा हुआ। कुछ समय पूर्व इसी क्षेत्र के एक संसद सदयस्य कार्तिक औरांव के नेतृत्व में संसद सदस्यो को एक ज्ञापन दिया गया था जिसमें यह मांग की गयी थी कि अपने धर्म को छोड़कर ईसाई बनने वाले लोगों को विशेष संरक्षण और आर्थिक सुविधाएं प्राप्त नहीं होनी चाहिए। कार्तिक औराव ने तो एक विधेयक भी तैयार करके पेश किया था परन्तु बाद में सरकार के दबाव के कारण यह विधेयक वापिस ले लिया गया।

ईसाईयों द्वारा संरक्षण और आर्थिक सुविधाओं की मांग का उद्देश्य राजनीतिक और धार्मिक अधिक है क्योंकि सामाजिक स्तर पर यह देखा गया है कि विदेशो से प्राप्त होने वाले पैसे से जिन आदिवासी क्षेत्रों में धर्म परिवर्तन के जिस कार्य में ये लोग लगे रहते हैं वहां ये लोग न केवल शिक्षा और चिकित्सा की व्यवस्था करते हैं बल्कि इन क्षेत्रों की ईसाई बस्तियों के रहन-सहन के स्तर को भी ऊपर उठा देते हैं। इसका परिणाम स्थानीय कमजोर वर्गों के लोगों पर यह होता है कि वे इस प्रकार का जीवन स्तर प्राप्त करने के लिए तेजी से ईसाईयों की ओर आकृष्ट होते हैं। अब अपने इस कार्य को अर्थात् इन कमजोर वर्गों के लोगों को ईसाईयत की ओर आकृष्ट करने के लिए तथा अपने कार्य को राजनीतिक मान्यता दिलवाने के लिए अब वे संरक्षण और आर्थिक सुविधाओं की मांग करने लगे हैं।

ईसाईयों ने अपने दबाव को और अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए गृह मन्त्रालय द्वारा नियुक्त अल्पसंख्यकों, अनुसूचित जातियों और जनजातियों की समिति के अध्यक्ष डा० गोपाल सिंह को भी एक स्मरण पत्र दिया है जिसमें यह शिकायत की गई है कि ईसाई बनने के बाद अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लोगों को संरक्षण और आर्थिक सुविधाएं प्राप्त नहीं होतीं। इस आयोग से उन्होंने माग की है कि वह इस स्थिति को समाप्त करवाके ईसाई धर्म स्वीकार कर लेने के बाद भी उन्हें यह सब सुविधाएं दिलाने की व्यवस्था करे। इस प्रकार न केवल प्रधानमंत्री के स्तर पर बल्कि आयोग के स्तर पर भी ईसाई लोग संविधान की भावना के विरुद्ध देश भर में ईसाई साम्राज्य स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील हैं।

ईसाई साम्राज्य की बात इसलिए करनी पड़ती है क्योंकि जिन क्षेत्रों में ईसाईयों का बहुमत हो गया है वहाँ पृथकतावादी आन्दोलन शुरू हो गया है। झारखण्ड क्षेत्र, नागालैंड तथा पूर्वांचल के अन्य क्षेत्र इसके उदाहरण हैं। केरल तथा तमिलनाडू के जिन क्षेत्रों में ईसाईयों की स्थिति बन गयी है वहाँ भी प्राय: हिन्दू-ईसाई संघर्ष निरन्तर होते रहते हैं। ऐसी स्थिति में ईसाईयो को इस प्रकार की दी गयी सुविधाएं देश में पृथकतावाद के पक्षधरों की स्थिति को मजबूत बनायेंगी।

# समान हिन्दु मुस्लिम कानून की मांग

'आर्य सन्देश' द्वारा निरन्तर यह मांग की जा रही है कि देश भर के सभी नागरिकों के लिए कानूनी व्यवस्थाएं एक सी हो। केवल हमी नहीं बल्कि मुहम्मद करीम छागला जैसे न्यायशास्त्री भी लम्बे समय से इस बात का समर्थन करते रहे हैं कि देश के सभी नागरिकों पर सभी कानून समान रूप से लागू होने चाहिए। अभी इसकी पुष्टि फिर से एक तीन दिवसीय अन्तर्राष्ट्रीय इस्लामिक गोष्ठी में की गयी है। यह गोष्ठी नई दिल्ली में आयोजित की गयी थी और इसका विषय था "भारत के विशेष उल्लेख के साथ विश्व संस्कृति और सभ्यता मो इस्लाम की देन।" इसी गोष्ठी में दिल्ली विश्वविद्यालय के डा० ताहिर मुहम्मद, जामिया मिलिया इस्लामिया के प्राध्यापक श्री अली अशरफ, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के इतिहास के रीडर डॉ. एस० बी० पी० निगम ने यद्यपि अवसर के अनुकूल इस्लाम के भारत पर प्रभाव के बारे में बहुत बढा-चढ़ाकर बातो की, परन्तु सभी ने निर्विवाद रूप से जिस बात पर जोर दिया वह था कि पश्चिमी प्रभाव की उपेक्षा कर इस्लामी न्यायपद्धति और हिन्दु स्मृति और कानूनी पद्धति को मिलाकर एक नयी राष्ट्रीय कानूनी पद्धति तैयार की जानी चाहिये।

यद्यपि मुस्लिम समाज पर कट्टर पन्थियों का बहुत प्रभाव है, तो भी मुस्लिम जगत में बुद्धिजीवियो द्वारा इस प्रकार की आवाज उठाना अपने आप मे महत्त्वपूर्ण है। मुस्लिम व्यक्तिगत कानून और इस्लाम के अनुसार बहुविवाह की अनुमति के कारण देश में लम्बे समय से तनाव चला आ रहा है जिसका हमारे सामाजिक जीवन को अस्त-व्यस्त करने में बहुत बड़ा हाथ है। इस सामाजिक तनाव के परिणामो को देखते हुए भी मुस्लिम समाज की ओर से इस दिशा मे कोई पहल कभी नही हुई। ऐसी स्थिति मे कुछ मुस्लिम बुद्धिजीवियों द्वारा हिन्दु और मुस्लिम न्यायपद्धतियो के एकीकरण की बात उठाना स्वागत योग्य है।

इस अवसर पर उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्ति पी० एन० भगवती ने यह सुझाव दिया कि इस दिशा मे मुसलमानों को स्वय आगे बढकर अपने न्यायिक सिद्धान्तों को भारतीय आचार-सहिता में सम्मिलित कराने के प्रयत्न करने चाहिये और समाज का पथपदर्शन करना चाहिये। इस गोष्ठी मे उच्चतम न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश श्री वी० आर० कृष्ण एय्यर ने भी भारतीय आचार संहिता में इस्लामी न्याय प्रणाली को सम्मिलित करने की आवश्यकता पर जोर दिया। इसी प्रकार के विचार भारत के भू. पू. प्रधान न्यायाधीश श्री एम० एच० बेग और उपराष्ट्रपति श्री हिदयातुल्ला ने भी व्यक्त किये।

प्रबुद्ध वर्ग का प्रत्येक व्यक्ति सैद्धान्तिक स्तर पर इस बात का समर्थन करेगा कि देश के सभी नागरिको के लिए समान आचार संहिता हो और उसमे सभी धर्मों की स्मृतियों, आचार सहिताओ की उपयोगी बातें ग्रहण कर ली जायें। परन्तु धर्म विशेष के आधार पर समान आचार सहिता में कुछ बातो का ग्रहण किया जाना अपनी सम्पूर्ण न्याय प्रणाली को विकृत करना होगा। अधिक उपयुक्त यह होगा कि अब तक के व्यावहारिक अनुभवो के आधार पर जो न्यायिक और वैधानिक मुद्दे उभर कर आये है समान आचार संहिता मे उन्हीं मुद्दो पर ध्यान दिया जाये। अधिक उपयुक्त यह होगा कि इस प्रकार की आचार सहिता तैयार करने के लिए एक विशेषज्ञ समिति बना दी जाये जिसमें अनुभवी न्यायशास्त्रियो को रखा जाये। इन लोगों द्वारा तैयार की गई आचार संहिता देश भर के सभी वर्गों और सम्प्रदायो पर समान रूप से लागू कर दी जाये।

# उत्तर पूर्व भारत में आर्यसमाज की आवश्यकता

## गंगतौक (सिक्किम) में आर्यसमाज की स्थापना

अभी कुछ दिन पूर्व मैं उत्तर पूर्वी भारत गया। वहां मैंने आर्यसमाज की स्थिति व आवश्यकता का भी अध्ययन किया।

सर्वप्रथम मैं सिलीगुड़ी पहुंचा। महानदी के तट पर ही वहां आर्य समाज बना है। यह मन्दिर वहां हरियाणा के श्री रतिराम जी शर्मा जैसे कुछ कार्य-कर्त्ताओ के उत्साह से बना है। अभी तक उसका निर्माण-कार्य चल रहा है। श्री रतिराम जी के घर पर भी यज्ञशाला है। पूरा परिवार हवन करता है। उनके पुत्र पुत्री, पोता, पोती सभी को कुछ वेद मंत्र याद थे। वे मौरीशस तथा लन्दन आर्य महासम्मेलनों में भाग ले चुके थे। श्री रतिराम जी ने बताया कि उत्तर भारत से आए हुए कुछ लोग ही आर्य-समाज की गतिविधि मे भाग लेते हैं। यहा के बगाली इसमे रुचि नहीं ले पाते। वे वहां आर्यसमाज के नेतृत्व तथा सगठन का अभाव अनुभव करते हैं। उनका यह भी कहना था कि हमने यहा आर्यसमाज के कई नेताओं को निमन्त्रित किया है पर इधर आने में उनका उत्साह नही है। वे फरवरी के मास में अच्छे स्तर का एक उत्सव अवश्य करते हैं। उसमें विद्वानों व नेताओं को निमन्त्रित भी करते हैं। पर वे वहा सगठन के गतिशील होने की आवश्यकता अनुभव करते हैं।

सिलीगुड़ी से फुन्तसिलिग (भूटान) गया। वहां आर्यसमाज के होने का प्रश्न ही नहीं था। वहा मैं पी० डब्ल्यू० डी० के मुख्य अभियन्ता श्री प्रधान से मिला। उनसे जब मैने पूछा कि क्या उन्होंने महर्षि दयानन्द का नाम सुना है, तो उन्होंने हा में सिर हिलाया। पर वे उनके बारे मे इससे अधिक नहीं जानते। उन्हें सत्यार्थ प्रकाश के बारे में भी अधिक ज्ञान नहीं था। एक सत्यार्थप्रकाश मैंने श्री प्रधान को दिया। उन्होंने उसे पढ़ने का आश्वासन दिया। भूटान में हिन्दू व बौद्ध संस्कृति है। वहा भी आर्यसमाज के प्रचार की संभावना अत्यधिक है।

केलिम्पांग पश्चिमी बंगाल का पर्वतीय प्रदेश है। बहुत सी जनता वहां घूमने के लिए आती है। वहां श्रीमती कमला (श्री राहुल सांस्कृत्यायन की पत्नी) की बहन से मिला। लगभग ५० वर्ष की थी।

मुझे रतिराम शर्मा ने बतायाथा कि उनका आर्यसमाज से कुछ संबंध है। उनसे मिलने पर पता चला कि उनके दिवंगत पति वकील थे और कुछ लोगो को एकत्र कर यज्ञ आदि भी करते थे। दयानन्द की पुस्तकों को भी पढ़ते थे पर यहां न आर्यसमाज है और न उनके बाद कोई इसमें रुचि लेता है। उन्होंने मुझे एक नवयुवक श्री लोकराज अग्रवाल से सम्पर्क करने के लिए कहा। उनमें मैंने आर्यसमाज की स्थापना की सम्भावनाओं के विषय में पूछा तो बोले यहां उसकी बहुत आवश्यकता है। विशेष रूप से स्कूल अवश्य खोलना चाहिए। उन्होंने भी अभी तक कभी सत्यार्थ-प्रकाश नहीं देखा था। उन्हें भी मैंने एक सत्यार्थप्रकाश भेंट किया।

गगटोक (सिक्किम) पहुंचने पर पाया कि यहां तो आर्यसमाज का कोई नाम ही नहीं जानता था। पर कुछ लोग इस बात के लिए तैयार हो गए कि वे यहा के लोगों की एक बैठक बुला कर मेरा परिचय करा देंगे। इसी मध्य मेरा सम्पर्क एक उत्साही सज्जन श्री गंगदेव वानप्रस्थी से हुआ। वे मुझसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुए। यह बात भी उनको अच्छी लगी कि मैं चाहता हूं कि यहां एक आर्यसमाज की स्थापना की जाए। वहा बैठक रखने का एक मात्र स्थान ठाकुरवाड़ी था, जहां हनुमान राम आदि की मूर्तियां थीं। मेरे कहने पर उन्होने वहीं बैठक रखी। बैठक में बारह-तेरह लोग उपस्थित थे। मेंने उन्हें सिक्किम में आर्यसमाज की आवश्यकता समझायी। कई लोग तब बहुत देर तक निराशा की बात करते रहे। उनका कहना था कि यहां आर्यसमाज की स्थापना कठिन काम है। ये सभी धन कमाने के लिए दूर देश से आए हैं। हम व्यापारियों के लिए समय निकालना कठिन काम है। बारम्बार उन्हें प्रेरित करने पर एक समिति बनाने का निश्चय किया जिसमें स्वेच्छा से लोगों ने नाम दिये और गगटोक (सिक्किम) में पहले आर्यसमाज की स्थापना हो गयी। समिति का गठन इस प्रकार है—प्रधान: श्री गंगदेव वानप्रस्थी, मन्त्री: श्री चौधरी, कोषाध्यक्ष: श्री मुरारीलाल, अन्य सात सदस्य भी चुने गये। उन लोगों को मैंने सत्यार्थप्रकाश भी दिये तथा अपनी लिखी हुई अन्य पुस्तकें भी दीं। यह भी निश्चय करवाया कि वे प्रति सप्ताह एक दिन किसी के घर एकत्र होकर पारिवारिक सत्संग किया करेंगे। उसमें सत्यार्थप्रकाश आदि की कथा भी होगी। यह उल्लेखनीय है कि श्री वानप्रस्थी जी अब दैनिक हवन करते हैं। आर्य-समाज के लिए भूमि प्राप्त करने का प्रयास आरम्भ करने के लिए भी मैंने कहा। यह सत्य है कि गंगटोक में आर्य-समाज की स्थापना हो गयी है पर इसको शक्ति नीचे से ही भेजनी होगी। वहां की कठिनाइयों को देखते हुए वे स्वयं उसको खड़ा कर लेंगे यह कठिन लगता है।

---

लेखक :

**डा० प्रशान्त वेदालंकार**

---

सिक्कम में शिक्षा मन्त्रालय की सहायता से गांधी सेवाश्रम के तत्वावधान में संचालक श्री सुब्बाराव जी ने राष्ट्रीय योजना का एक शिविर लगाया था, मैं उसी में भाग लेने के लिए गया था। असम, नागालैंड, मणिपुर, पश्चिमी बंगाल तथा सिक्किम के अनेक युवक युवतियो से मैंने साक्षात्कार किया। उनमे से कोई भी आर्यसमाज का नाम नहीं जानता था। दो-एक को महर्षि दयानन्द सरस्वती के नाम का कुछ ध्यान अवश्य था। आधुनिक इतिहास में कुछ ने यह नाम सुना हुआ था। यह भी उल्लेखनीय है कि इन सभी प्रदेशों मे हिन्दी की दुर्गति तो है ही। संस्कृत के अध्ययन की तो कहीं सुविधा नही है। वेद की बात ही क्या करें।

### दार्जिलिंग में आर्यसमाज की दुर्दशा

गंगटौक से मैं दार्जलिंग आया। यहां से मैं आर्यसमाज में गया। एक कमरा है उसी में पत्र पत्रिकाएं हैं। होम्योपेथी औषधालय हं। कमरे से ही उसकी दीन-हीन स्थिति का परिचय मिल गया। दार्जलिंग क्षेत्र में ईसाई धर्म प्रचार से वहां के लोग भयभीत थे। इस आर्यसमाज की स्थापना सन् १८८२ सम्वत १९३९ में महर्षि दयानन्द के जीवन-काल में ही हुई थी। नेपाली तथा हिन्दी में साहित्य भी यहां प्रकाशित हुआ है। दो वर्ष बाद इस आर्यसमाज की शताब्दी भी मनायी जायेगी। पर कार्य में शिथिलता के कारण वहां के आर्यसमाजी निराश ही थे। इस समय वहां के अध्यक्ष रत्नभारती प्रधान हैं। मंत्री श्री टोलाप्रसाद जी हैं। इन्होंने नेपाली में वैदिक साहित्य की रचना की है। २३ दिसम्बर को स्वामी श्रद्धानन्द का बलिदान दिवस था। दार्जलिंग तथा सिलीगुड़ी में मेरे कहने से मनाया गया था।

दार्जिलिंग में ५-६ नेपाली सज्जन थे हमने पहले यज्ञ किया, फिर दार्जलिंग आर्यसमाज की स्थिति तथा उसकी गतिविधियों का परिचय प्राप्त किया। बाद मे स्वामी श्रद्धानन्द की बलिदान की गाथाओं को स्मरण करके उनको श्रद्धांजलि अर्पित की।

दार्जलिंग आर्यसमाज इस समय एक छोटे से कमरे में चल रहीं हैं। इससे सम्बद्ध दो आर्य विद्यालय भी हैं। पर जहां तक आर्यसमाज के प्रचार और प्रसार का सम्बन्ध है, वहां यह काफी पीछे हैं। यद्यपि वहां नेपाली तथा हिन्दी में प्रकाशित आर्य साहित्य था, जिससे यह अनुमान होता था कि कभी यहां प्रचार भी अच्छा चलता था। पर इस समय बहुत शिथिलता थी। शिथिलता का कारण यह बतलाया गया कि पुराने आर्यसमाजी वृद्ध हो गये हैं। नये कार्य-कर्त्ताओ का निर्माण नहीं हो सका। यह उल्लेखनीय है कि बूढ़े कहे जाने वाले आर्यसमाजी कलकत्ता आर्यसमाज के एक उत्सव में गये हुए थे। जो व्यक्ति उत्साहपूर्वक आर्यसमाज के उत्सव में एक दूर के नगर में जा सकता है, वह अपने नगर के आर्यसमाज को ऊंचा क्यों नहीं उठा सकता? यह प्रश्न अनुत्तरित रहा।

मैंने उन लोगों को यह परामर्श दिया कि वे मार्च या अप्रैल १९८२ में अपने आर्यसमाज की शताब्दी समारोह पूर्वक सम्पन्न करें। मैंने उनसे यह भी कहा कि सार्वदेशिक सभा को कहूंगा कि वे तब यहां एक आर्य महासम्मेलन करें। उस सम्पूर्ण क्षेत्र मे आर्यसमाज में जो शैथिल्य है, वह उस आर्य महासम्मेलन से दूर हो सकता है। वहां के लोग बढ़ते हुए ईसाईयत के दुष्प्रभाव से चिन्तित थे। पर चिन्ता के शमन का कोई उनमें उत्साह नहीं था।

सिलीगुड़ी आर्यसमाज में भी श्रद्धानन्द बलिदान-पर्व उसी दिन शाम को मनाया गया। मैंने स्वामी श्रद्धानन्द जी के बलिदान की कहानियां सुनाकर उनको उसी बलिदान भावना से आर्य-समाज के कार्य को बढ़ाने के लिए प्रेरित किया। वहां के लोगों में उत्साह भी था। पर उनका कहना था कि हम लोग व्यापारी हैं, उतना समय नहीं दे सकते। यदि सार्वदेशिक सभा हमें सहयोग दे दे, कुछ कार्यकर्त्ता जुटा दें, तो उनका सारा व्यय हम सहन कर लेंगे। उनकी सहायता से सारा कार्य किया जा सकता है।

—क्रमशः

# पाकिस्तान में विस्मृत धर्म स्थान

जिस प्रश्न पर मैं कई वर्ष से विचार कर रहा था, उस विषय पर पिछले दिनो 'आर्य सन्देश' में सामग्री देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। मैं इस बात का दृढ़ समर्थक और अभिलाषी हूं। कि पाकिस्तान तथा यूगांडा जैसे अन्य देशों में, जहां से ईदी अमीन ने सारे भारतीयों को निकाल दिया था, आर्य समाज मन्दिरों की सुरक्षा का प्रश्न आर्यसमाज के नेता बड़े गम्भीर रूप से भारत सरकार तथा संयुक्त राष्ट्र संघ में उठाये। 'एमनेस्टी इण्टरनेशनल' जैसी संस्थाओं के माध्यम से भी इस सम्बन्ध में आन्दोलन उठाया जाना चाहिये और पाकिस्तान में आर्यसमाज की संस्थाओं की स्थिति के निरीक्षण के लिए आर्य नेताओं तथा आर्य जनो को वहां जाने की अनुमति लेनी चाहिए।

इस सम्बन्ध में चर्चा होने पर भी प्राचार्य लक्ष्मी दत्त जी दीक्षित (अब स्वामी विद्यानन्दजी सरस्वती) का कहना था कि हम किन्हीं भवनों के साथ धर्म या ईश्वर का सम्बन्ध नहीं जोड़ सकते उधर श्री ओमप्रकाश जी पुरुषार्थी का कहना था कि हमने क्योंकि आर्यसमाज मन्दिरों के साथ मुसलमानों की तरह धर्म, ईश्वर या पवित्रता का सम्बन्ध जोड़ा नही, अतः हम इस प्रश्न को गम्भीरता से उठा नहीं सकते। एक अन्य बड़े नेता का उत्तर था कि यह प्रश्न तो देश-विभाजन के समय आर्य समाज के नेतृत्व (म. कृष्ण आदि) को उठाना चाहिए था—अब हम क्या कर सकते हैं ?—आदि आदि।

इस सदर्भ मे यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि पाकिस्तान मे श्री धर्मपाल (अब्दुलगफूर) ने वहां की सरकार से मांग की थी कि आर्यों के प्रतिनिधि के रूप मे मुझे आर्यसमाज मन्दिरों की व्यवस्था करने का अधिकार मिलना चाहिए। कई वर्ष पूर्व पाकिस्तान के हरिजनों और पिछड़े वर्गों के प्रवक्ता एक कबीरपन्थी ने पाकिस्तान के शासको से मांग की थी कि उनके उद्धारक के रूप मे महर्षि दयानन्द का स्मृति-दिवस पाकिस्तान में मनाया जाये। प्रसिद्ध लेखक होशियारपुर के श्री सन्तराम बी.ए. ने उनकी अपील आर्य पत्रों में प्रकाशित करायी थी। अब भी पर्याप्त सख्या में हिन्दू (विशेषकर दलित वर्ग) पाकिस्तान मे हैं। हमारी वहा की यात्राओ से उन पर एक स्वस्थ प्रभाव पडेगा।

लेखक :
**जयदेव आर्य**

गत वर्ष जब मलयेशिया मे हिन्दू मन्दिरों के तोड़े जाने पर अनेक विरोध सभाएं हुई, तो दरियागंज के एक नये से सनातन धर्म मन्दिर में दिल्ली (संभवत: भारत नगर) के एक सज्जन ने पाकिस्तात के हिन्दू मन्दिरों की सुरक्षा के सम्बन्ध में भारत सरकार से किये गये अपने पत्र-व्यवहार और शीर्षस्थ नेताओ के साथ अपने सम्पर्क का कुछ विस्तृत विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया था। बाद मे मुझे बात-चीत में उन्होंने बताया था कि आर्यसमाज मन्दिरों का प्रश्न भी उसमे सम्मिलित हैं। इस समय घर से दूर बैठे मेरे पास उन सज्जन का पता नही है।

कुछ मिलाकर कहा जा सकता है कि यदि पवित्र स्थानों के रूप में न हो, तब भी ऐतिहासिक स्थानो के रूप में अपनी जन्मभूमि के रूप में तथा अपनी मानव-सुलभ भावनाओं की सतुष्टि के लिए हमें पाकिस्तान में अपने ऐतिहासिक स्थानो की रक्षा और उसके दर्शन का प्रयास अवश्य करना चाहिये। आर्यसमाज के इतिहास को पढ़ते हुए हम नयी पीढी के आर्यों को उन स्थानों को देखने की उत्कण्ठा अवश्य होती है। जब दोनो देशों के मध्य आवागमन बढाने के समझौतों की चर्चा होती है, तो हमें भी वहां जाने की अनुमति की मांग अवश्य करनी चाहिए। इसकी कार्यवाही करना आर्यसमाज के नेताओ का कर्तव्य है।

□

# आर्यसमाज शालीमार बाग के लिए भूमि प्राप्त

आर्यसमाज शालीमार बाग के साप्ताहिक सत्संग पिछले कुछ समय से पारिवारिक सत्संगों के रूप में चल रहे थे और स्थानीय लोग निरन्तर प्रयत्न कर रहे थे कि यहां पर आर्यसमाज मन्दिर निर्माण के लिए भूमि प्राप्त कर ली जाये। हमें प्रसन्नता है कि दिल्ली विकास प्राधिकरण ने स्थानीय आर्यसमाज और दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के अनुरोध को स्वीकार करते हुए शालीमार बाग में आर-९ बी० जे० प्लाट मन्दिर निर्माण के लिए दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा को देने की स्वीकृति प्रदान कर दी है। इस भूमि का क्षेत्रफल ५०० वर्ग मीटर है। भूमि राशि लगभग ३६,००० रुपये दो महीने के भीतर दिल्ली विकास प्राधिकरण को दी जानी है इसलिए दिल्ली की सभी आर्यसमाजों से यह प्रार्थना की जा रही है कि स्थानीय समाज की स्थिति को ध्यान में रखते हुए सभी समाजें भूमि का पैसा चुकाने और उस पर मन्दिर निर्माण के लिये अधिक से अधिक सहयोग प्रदान करने की कृपा करें।

यहाँ भूमि प्राप्त करने के लिये सब से अधिक कार्य इस क्षेत्र के डा० ओम प्रकाश मान ने किया। उन्हीं के प्रयत्नों के कारण तथा दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री के व्यक्तिगत सहयोग के कारण यह भूमि प्राप्त हो सकी है। इस कार्य में संसद सदस्य श्री सज्जन कुमार तथा भू० पू० संसद सदस्य चौ० दिलीप सिंह ने भी सहायता प्रदान की है। दिल्ली विकास प्राधिकरण के उपाध्यक्ष श्री एलावाडी, कमिश्नर श्री के० एल० भाटिया और डी० डी० आई० श्री गुप्त ने भी बहुत सहानुभूतिपूर्वक भूमि संबन्धी आवेदनों पर विचार करके भूमि प्रदान करने के आदेश जारी किये।

## आर्यसमाज मन्दिर पश्चिमपुरी

आर्यसमाज पश्चिमपुरी जनता क्वाटर काफी समय से अपने क्षेत्र में आर्यसमाज के निर्माण के लिए प्रयत्नशील हैं। इस क्षेत्र में भी दिल्ली प्राधिकरण ५०० वर्ग मीटर जमीन देना स्वीकार कर लिया है परन्तु अभी इस की राशि जमा करायी जानी है। आर्यसमाज पश्चिमपुरी ने यह अपील की है कि आर्यसमाजें, तथा अन्य संस्थाएं और दानी महानुभाव इस कार्य में उनकी सहायता करें। आशा है कि इस अपील को ध्यान में रखते हुए सभी अपना अंशदान देने की कृपा करेंगे।

## आभार प्रकट

मेरी पूज्यनीया माता श्रीमती जसवन्ती देवी के आकस्मिक निधन पर मित्रों, शुभ चिन्तकों, आर्य समाजों व संस्थाओं ने इस महान दुःख में अपनी संवेदना प्रकट करते हुए पत्र लिखकर हमें सबल प्रदान किया है। सबको अलग-अलग पत्र लिखकर भेजना संभव न देखकर इस पत्र से मैं सभी का हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

सोमनाथ मरवाहा
सीनियर एडवोकेट
कोषाध्यक्ष-सार्वदेशिक सभा,
दिल्ली

## आर्य जगत् समाचार

# बच्चों का सांस्कृतिक व मनोरंजक कार्यक्रम

आर्यसमाज मन्दिर बाई ब्लाक सरोजिनीनगर नई दिल्ली में रविवार ८ फरवरी को प्रातः १० से १२ बजे तक यह कार्यक्रम आयोजित किया गया है। इसमें पांचवीं से बारहवीं श्रेणी तक के बच्चे भाग ले सकेंगे। प्रत्येक वक्ता बच्चे को ४ मिनट का समय दिया जायेगा। बच्चे धर्मवीर हकीकतराय के बलिदान सम्बन्धी गायन, कविता एवं भाषण आदि का कार्यक्रम प्रस्तुत कर सकेंगे। तीनों विषयों में प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय आने वाले बच्चों को पारितोषिक तथा अन्य सभी वक्ता बच्चों को भी उत्साहित करने के लिए श्रीयुत उत्तमचन्द जी चोपड़ा मालिक कैपिटल सरजिकल कम्पनी दरियागंज नई दिल्ली-२ अपनी स्वर्गीया धर्मपत्नी श्रीमती पुरुषोत्तम देवी जी की पुण्य स्मृति में अपने कर कमलों से पारितोषिक वितरण करेंगे।

माता-पिता तथा आचार्यगण भाग लेने के इच्छुक केवल एक छात्र-छात्रा का नाम ५ फरवरी १९८१ तक प्रतियोगिता संयोजक श्री पं० देवव्रत धर्मेन्दु आर्योपदेशक १६५४, कूचा दखिनीराय दरियागंज नई दिल्ली-२ या मन्त्री हकीकतराय समिति जी-१६१ सरोजिनी नगर नई दिल्ली के पते पर भेज देंवे तथा बच्चों के उत्साह सम्बर्द्धनार्थ स्वयं भी इष्ट-मित्रों सहित बहुसंख्या में प्रतियोगिता के अवसर पर पधार कर पुण्य व यश के भागी बनें। □

## यज्ञ कथा का आयोजन

आर्यसमाज ग्रेटर कैलाश बी के तत्वाधान में गत वर्षों की भांति इस वर्ष भी शान्ति प्रकाश जी बहल अपने पूज्य पिता परमेश्वरीदास जी की पुण्य स्मृति में १६ से २२ फरवरी १९८१ तक चतुर्वेदीय यज्ञ तथा वेद कथा का आयोजन किया है। यज्ञ प्रातः ७ बजे से ८-३० तक श्री पं. वन्दे कुमार वेदालंकार ई-१० ग्रेटरकैलाश १ में करवाया करेंगे और वेद कथा सायं ८-३० बजे से ९-३० बजे तक आर्यसमाज मन्दिर ग्रेटरकैलाश में दयानन्दजी विदेह किया करेंगे।

(पृष्ठ १ का शेष)

## दूसरी भाषा

जनगणना की जानकारी लेते समय दूसरी भाषा और अन्य भाषाओं के बारे में भी पूछताछ की जाती है क्योंकि आर्य नरनारी वेद आदि शास्त्रों का अध्ययन श्रवण करते हैं इसलिए सभी आर्य नरनारी संस्कृत भाषा और उसके महत्त्व से परिचित हैं। इसलिए अपनी भाषा हिन्दी लिखाने के बाद दूसरी दो भाषाएं लिखाते समय संस्कृत को भी अपनी भाषा के रूप में अवश्य लिखवा दें। अपनी संस्कृति और वैदिक धर्म की रक्षा तथा प्रचार-प्रसार के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री ने सभी आर्यों से इस बारे में सावधान रहने की अपील की है और अनुरोध किया है कि उपर्युक्त आदेश का पूरी तरह पालन किया जाये। साथ ही अपने परिचितों और मित्रों को भी इसके लिए प्रेरित करें।

# 'आर्य संदेश' महासम्मेलन विशेषांक

आर्य महासम्मेलन का यह विशेषांक ऐसी महत्वपूर्ण सामग्री से भरा हुआ है कि इसे आप अपने पास सुरक्षित रखना चाहेंगे।

१. इसमें भारतीय इतिहास की भ्रान्त वैदिक धारणाओं की ओर ध्यान खींचा गया है।

२. आज की परिस्थितियों में आर्यसमाज की प्रासंगिकता का विवेचन किया गया है।

३ वेद भाष्यों का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है और वैदिक राज्य व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है।

४. महर्षि दयानन्द के जीवन और कार्यों का नये दृष्टिकोण से अध्ययन किया गया है।

५. स्वामी श्रद्धानन्द जी के जीवन का मर्मस्पर्शी संस्मरण।

मूल्य : ६.००

'आर्य संदेश' के नये ग्राहकों को यह विशेषांक निःशुल्क भेंट किया जायेगा।

वार्षिक मूल्य : १५.०० रुपये

# सम्पादक के नाम पत्र

'आर्य सन्देश' के विशेषांक में लेखों का संयोजन बड़ी सूझबूझ से किया गया है। इन लेखों को जुटाने के लिए जो श्रम आपको करना पड़ा होगा उसका अनुमान मैं लगा सकता हूं। आपका श्रम सफल हुआ, इसकी विशेष प्रसन्नता है। आपको बहुत-बहुत बधाई आर्यसमाज की प्रासंगिकता से संबद्ध तीनों लेख बहुत अच्छे लगे। स्वामी श्रद्धानन्द जी का संस्मरण प्रेरक है। वे और भी होने चाहिये थे। महर्षि दयानन्द पर तीनों लेख प्रभावशाली हैं। इतनी उपयोगी सामग्री जुटाने के लिए आपको हार्दिक बधाई।

प्रूफ की जो गलतियां रह गई हैं वे खटकती हैं।

डा० रवीन्द्र अग्निहोत्री, पो. पी. शिक्षा महाविद्यालय, बबड़ (संगरूर)

'आर्य सन्देश' के विशेषांक के लिए मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार कीजिये। आपके सम्पादकत्व में आर्य सन्देश निखर रहा है। सामग्री, सम्पादन, तथा विचार प्रत्येक दृष्टि से आर्यसन्देश प्रगति की ओर अग्रसर हो रहा है, यह हर्ष का विषय है। 'आर्य सन्देश' आर्यों को संदेश देता रहे तथा हम उस सन्देश को घर घर पहुंचायें यही कामना है। एक बार पुनः हार्दिक बधाई स्वीकार कीजिए।

रामकृष्ण भारती, बी. ७८, बाली नगर, नयी दिल्ली-१५

## आर्यसमाजों के सत्संग

-८-२-८१

अन्धा मुगल प्रताप नगर—स्वामी स्वरूपा नन्द; अमर कालोनी—पं० बुद्धी सम शर्मा; आर्य पुरा—पं० राम रूप शर्मा; आर के पुरम सैक्टर ६—पं० सत्य भूषण वेदालंकार; आनन्द विहार हरि नगर एल ब्लाक—पं० सत्य पाल मधुर भजनोपदेशक; इन्द्र पुरी—आचार्य हरि देव सि० भू०; किंग्ज वे कैम्प—पं० प्रकाश चन्द शास्त्री; किदवई नगर—पं० प्रकाश वीर व्याकुल ; कृष्ण नगर—पं० देवेश; कालका जी—आचार्य कृष्ण गोपाल; करोल बाग—प० मुनि शंकर वानप्रस्थी; कोटला मुबारिकपुर—पं० हीरा प्रसाद शास्त्री; गांधी नगर—प्रो० वीर पाल विद्यालंकार; गीता कालोनी—पं० दिवाकर शर्मा; ग्रेटर कैलाश-II—प० हरीश वेदी; गुड़मन्डी—पं० वीर व्रत शास्त्री; १५१ गुप्ता कालोनी—पं० देव राज वैदिक मिशनरी; गोविन्द भवन दयानन्द वाटिका—पं० ईश्वर दत्त एम-ए; जंग पुरा भोगल—पं० वेद पाल शास्त्री; जनक पुरी सी-३—डा० सुख दयाल भूटानी; जनक पुरी बी ३/२४—पं० ओम वीर शास्त्री; टैगोर गार्डन—पं० गणेश प्रसाद विद्यालंकार; तिलक नगर—पं० प्राण नाथ सिद्धान्तलंकार; तीमार पुर—पं० महेन्द्र प्रताप शास्त्री; दरियागंज—श्री चिमन लाल; नारायण विहार—प० गजेन्द्र पाल शास्त्री; निर्माण विहार सी-२०६—वैद्य राम किशोर; पंजाबी बाग—प० दिनेश चन्द्र पराशर शास्त्री; पंजाबी बाग एक्सटेंनशन १४/३—पं० तुलसी राम भजनोपदेशक; बाग कड़े खां—पं० बरकत राम भजनोपदेशक; बसई दारा पुर—पं० आशा नन्द भजनोपदेशक; बिरला लाईन्स—प्रो० सत्य पाल वेदार; माडल टाऊन—पं० हरि कृष्ण शास्त्री; माडल बस्ती—प० जगदीश प्रसाद विद्यावाचस्पति; महावीर नगर—पं० विश्व प्रकाश शास्त्री; महरौली—पं० शीश राम भजनोपदेशक; मोती नगर—पं० प्रकाश चन्द वेदालंकार; मोती बाग—प० केशव चन्द्र मुन्जाल; रमेश नगर—पं० छज्जू राम शास्त्री; राणा प्रताप बाग—श्री मोहन लाल गांधी; लड्डू घाटी—ला० लक्ष्मी दास; लक्ष्मी बाई नगर ई।२०८—श्रीमती लीलावती आर्या; विक्रम नगर—श्रीमती प्रकाश वती शास्त्री, विनय नगर—डा० रघुनन्दन सिंह; सदर बाजार पहाड़ी धीरज—पं० अशोक कुमार विद्यालंकार, सराय रोहेला—पं० सत्य देव भजनोपदेशक; सुदर्शन पार्क—प्रो० भारत मित्र शास्त्री; शादीपुर—पं० ओमप्रकाश भजनोपदेशक; हौज खास ई-४६—आचार्य राम शरण मिश्रा शास्त्री ।

(ज्ञान चन्द डोगरा वेद प्रचार विभाग)



## कन्या गुरुकुल हाथरस हीरक जयन्ती महोत्सव

कन्या गुरुकुल, हाथरस की हीरक जयन्ती ७ से ११ फरवरी १९८१ को होगी। उसकी तैयारियां पूर्ण उत्साह के साथ की जा रही हैं। अनेक विद्वान संन्यासियों, व्याख्याताओं, और भजनोपदेशकों के पधारने की स्वीकृति आ चुकी है। थाईलैंड नेपाल और मारीशस से भी कुछ सज्जन आ रहे हैं।

धन संग्रह का कार्य भी किया जा रहा है। गुरुकुल के स्थायी कोष के लिए पांच-पांच हजार रुपये देकर अब तक दस महानुभाव गुरुकुल के संरक्षक बन चुके हैं। आर्यसमाज बैंकाक, थाईलैंड ने पांच हजार एक सौ ग्यारह रुपये दिये हैं।

उत्तर प्रदेश के माननीय मुख्यमंत्री ८ फरवरी को दीक्षान्त भाषण देंगे। १७ फरवरी माननीया श्रीमती शीला कौल, शिक्षा राज्य मंत्री भारत शासन सरस्वती परिषद् की हिन्दी बैठक की अध्यक्षता तथा पारितोषित वितरण करेंगी।

जयन्ती का एक विशेष आकर्षण उन दस महानुभावों का अभिनन्दन करना होगा, जिन्होंने अपना जीवन गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के उन्नयन में लगाया है। इसी अवसर पर कन्या गुरुकुल के कुलपति श्री महेन्द्र प्रताप शास्त्री जी को उनकी अस्सीसिवर्ष पूर्ति अभिनन्दनग्रंथ—आर्यसमाज शिक्षा जगत—भेंट किया जावेगा।

इसी अवसर पर प्रदेश की आर्य कन्या पाठशालाओं की छात्राओं की क्रीड़ाओ (योगासन, कबड्डी, खो आदि) भाषण, वाद-विवाद आदि की प्रतियोगितायें भी होंगी।

६ फरवरी १९८१ को गायत्री महायज्ञ के साथ बृहद् यज्ञ का कार्य आरम्भ होगा। ७ फरवरी को प्रात दिल्ली निवासी श्री गणेशदास अग्निहोत्री जी यजमान का आसन ग्रहण करेंगे और नवीन यज्ञशाला की आधारशिला रखेंगे। शेष दिन चारो वेदो के शतको से यज्ञ होगा। जो सज्जन यजमान बनना चाहें शीघ्र ही सूचित करने की कृपा करें।

दिल्ली, हरियाणा, हल्द्वानी से यात्रियों की बसें आयेंगी। उधर से आने वाले यात्री उनका लाभ उठा सकते हैं।

## सूचना

आर्य युवक परिषद (पंजी०) दिल्ली का वार्षिक अधिवेशन १ फरवरी १९८१ रविवार को मध्याह्न २ बजे आर्य समाज दरियागज अन्सारी रोड, दरियागज में हुआ। इस अवसर पर वार्षिक अधिवेशन के साथ वर्ष का विवरण, आय-व्यय व पद अधिकारियों का निर्वाचन भी सम्पन्न हुआ।

(पृष्ठ २ का शेष)

सिद्धि नहीं करना चाहते। यदि कर्म मे असफलता भी होती है तो क्योंकि हमारी फल में आसक्ति नही होती अतः हमे कई लाभ होते हैं। एक तो असफलता के बाद निराशा नही होती और हमे सन्तोष रहता है कि हमने कार्य ठीक तरह से तो किया। तीसरा लाभ यह होता है कि हम साधनों की पवित्रता का ख्याल रखते हैं अतः बुरे कार्य नही करते। यह है 'एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे' का भाव। आइए, भगवान से प्रार्थना करें :—

नाथ ! करें शुभ कर्म स्मरण कर,
सदा तुम्हारा नाम।
उन्हें तुम्हें ही अर्पित कर दें,
स्वयं बनें निष्काम।
दो सुबुद्धिमानव हृदयो को,
ठीक-ठीक पहचाने।
पार करें जीवन पथ दुर्गम,
कुछ भी कठिन न जाने।

# अमर शहीद पं० लेखराम स्मारक के लिए धन की अपील

अमर शहीद पंडित लेखराम जी आर्य-पथिक का ६ मार्च १८९७ को बलिदान हुआ था। उनकी वसीयत थी कि आर्यसमाज का तहरीर (लेख) और तकरीर (भाषण) का काम बन्द न हो। पण्डितजी आर्य समाज के निःस्वार्थ तथा अनथक सेनानी थे। उन्होंने अपने एक मात्र पुत्र की बीमारी की भी परवाह न कर उसे मौत से जूझते हुए छोड़ शुद्धि के लिए चल पड़े थे। लड़का मर गया तो कह दिया कि लड़का मरा तो क्या हुआ मैंने जाति के सैकड़ों लाल बचा लिए हैं। उन्हें कत्ल की धमकियां दी गईं, किंतु वे घबराये नहीं और शहीद हो गये। सारा जीवन जिसने तिल तिल जलते हुए वैदिक धर्म की ज्योति को जगाये रखा उस महान बलिदानी का स्मारक अभी तक नहीं बन पाया।

अब जिला केन्द्रीय आर्य सभा गुरुदासपुर ने इस वर्ष अमर शहीद पण्डित लेखराम स्मारक बनाने का संकल्प किया है।

इस संदर्भ में पूज्यपाद स्वामी सर्वानन्द जी महाराज ने अपने कर कमलों द्वारा स्मारक के भवन का शिलान्यास करके निर्माण कार्य शुरू कर दिया है। सभी धर्म प्रेमी भाई बहनों से अपील है कि इस पुनीत कार्य को पूरा करने के लिए दिल खोल कर दान दें ताकि हम सब इस महान ऋण से उऋण हो सकें।

रामकिशन प्रधान जिला केन्द्रीय आर्य सभा गुरुदासपुर

□





दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के लिए श्री सरदारी लाल वर्मा द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा ... मुद्रक ... दिल्ली ३१ में मुद्रित। कार्यालय १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली फोन नं० ३१०१५०

ओ३म्

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

# आर्य सन्देश

दिल्ली आर्यप्रतिनिधि सभा का साप्ताहिक मुखपत्र

एक प्रति ३५ पैसे, वार्षिक १५ रुपये वर्ष ४ : अंक १६ रविवार १५ फरवरी १९८१ दयानन्दाब्द १५६

# अखिल भारतीय स्तर पर आर्यवीर दल का सुदृढ़ संगठन

## सार्वदेशिक सभा का महत्वपूर्ण निर्णय : युवा-आर्यशक्ति को आमन्त्रण

अधिकृत सूत्रों से ज्ञात हुआ है कि सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की अंतरंग सभा एक विशेष बैठक में आर्यसमाज के अधिकारों की रक्षा के लिए अखिल भारतीय स्तर पर आर्य वीर दल के सुदृढ़ संगठन की महत्ता अंगीकार की गई और निश्चय किया गया कि जल्दी ही इस प्रकार का संगठन स्थापित किया जाए।

यह भी निश्चय किया कि सार्वदेशिक सभा शीघ्र ही केन्द्रीय स्तर पर एक आर्य वीर दल प्रशिक्षण शिविर आयोजित करेगी। इस शिविर में स्नातक-शास्त्री स्तर के युवा व्यक्ति प्रशिक्षित किए जायेंगे। प्रशिक्षण शिविर की सफलता के आधार पर प्रान्तीय संचालक नियुक्त किए जाएं।

सार्वदेशिक सभा ने यह निर्णय भी किया कि आर्यसमाज में युवाशक्ति को आकर्षित करने के लिए प्रत्येक प्रान्त में जिला स्तर तक आर्य वीर दल गठित किए जाएँ और प्रत्येक आर्यसमाज में आर्य वीर दल का संगठन किया जाए।

सार्वदेशिक सभा के उक्त निर्णय को दृष्टि में रख कर दिल्ली प्रदेश की प्रत्येक आर्यसमाज से अनुरोध किया जा रहा है कि वह आर्यसमाज के अन्तर्गत आर्य वीर दल का गठन करे, २. इसके गठन के लिए बजट में उपयुक्त व्यवस्था करे ३. प्रान्तीय आर्य वीर दल के लिए अपने उपयुक्त आर्य वीर प्रतिनिधि चुनें, जिससे उनके उपयुक्त प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाये।

# दिल्ली में विशाल ऋषि मेले का आयोजन

## ४ मार्च को कोटला फीरोजशाह में ऋषि बोधोत्सव

नई दिल्ली। दिल्ली राज्य की आर्य केन्द्रीय सभा (पंजीकृत) के प्रधान महाशय धर्मपाल और प्रिंसिपल ओमप्रकाश ने एक विशेष पत्रक प्रसारित कर जनता से अनुरोध किया है—

प्रतिवर्ष की तरह इस वर्ष भी युग प्रवर्त्तक, आदर्श राष्ट्रनिर्माता महर्षि दयानन्द सरस्वती के बोधदिवस के उपलक्ष्य में बुधवार ४ मार्च, १९८१ को प्रातः ८ बजे से सायं ५ बजे तक कोटला फीरोजशाह के मैदान में ऋषि मेला आयोजित किया गया है। इस ऋषि मेले की सफलता के लिए दिल्ली की समस्त आर्यसमाजों, आर्ययुवक संगठनों, आर्य शिक्षण संस्थाओं और आर्य भाई-बहनों से अनुरोध है कि वे निम्न बातों पर विशेष ध्यान दें—

१. अपने क्षेत्रों में बोधदिवस से एक सप्ताह पूर्व ऋषि-जीवन की कथा का आयोजन करें।

२. अपने-अपने क्षेत्र की आर्यसमाजें मिलकर संयुक्त रूप से सार्वजनिक सभाएं और कवि-सम्मेलन आयोजित करें।

३. २२ फरवरी और १ मार्च के साप्ताहिक सत्संगों में महर्षि दयानन्द के जीवन पर भाषण और संगीत-कार्यक्रम हों।

४. मार्च महीने की पहली तीन तारीखों में अपने-अपने क्षेत्र में प्रभात फेरियों की व्यवस्था कर जनता तक ऋषि मेले की सूचना पहुंचाएं। इसी सम्बन्ध में छोटे-छोटे विज्ञापन या सूचना-पत्र बांटे जायें।

५. ऋषि मेले में आर्यसमाजों के सदस्यों-परिवारों और हितैषियों को लाने के लिए सम्बन्धित अधिकारी ट्रकों और बसों की व्यवस्था करें।

६. कोटला फीरोजशाह के आस-पास की आर्यसमाजें सामूहिक शोभा-यात्रा या जलूस के रूप में मेले के स्थान पर पहुंचें।

७. सभी आर्यसमाजों में पुरोहित ऋषि मेले के महायज्ञ में सम्मिलित होने के लिए जनता को प्रेरणा दें।

**यह भी ध्यान में रखेंगे कि :**

० ऋषि मेले का समय प्रातः ८ बजे से सायं ५ बजे तक होगा।

० प्रातः ८ बजे से बृहद् यज्ञ आरंभ होगा। यज्ञ में सभी आर्यसमाजों के सदस्य, उनके परिवार सभी इष्टमित्रों सहित समय पर पहुंचने की व्यवस्था करें।

### इस अंक में



### जनगणना में आर्य लिखाइए

देश भर में जनगणना का कार्य प्रचलित है। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के आदेश के अनुसार प्रत्येक आर्य समाजी अपना धर्म आर्य या वैदिक लिखाए। भारत सरकार ने स्पष्ट किया है कि आर्यों की गिनती हिन्दुओं में ही होगी।

आर्य हम सबका असली प्राचीन और श्रेष्ठ नाम है, सनातनी तथा पौराणिक हिन्दुओं के धर्म ग्रंथों में भारतीयों का प्राचीन नाम आर्य है, इसलिए समस्त आर्य-हिन्दू अपने को आर्य लिखाएं। वे अपने मातृभाषा हिन्दी लिखाएं। दूसरी भाषा संस्कृत लिखाएं।

शिड्यूल कास्ट एवं अनुसूचित जातियों के लोग धर्म के कालम में आर्य अवश्य लिखाएं। वे चाहे तो जाति के कालम में पृथक अपनी जाति लिखा सकते हैं।

प्रबन्ध सम्पादक—वि० सा० विद्यालंकार

सम्पादक—नरेन्द्र विद्यावाचस्पति

**वेद मनन :**

# पथभ्रष्ट को पुनः मार्ग दिखाओ

**प्रति पन्थामपद्महि स्वस्तिगामनेहसम् ।**

**येन विश्वा परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु ॥ यजुः ४-२९**

ऋषिः---वत्सः । देवता—अग्निः ।

शब्दार्थ—हे (अग्ने) उन्नायक तथा मार्गदर्शक ऐसी कृपा कर और प्रेरणा दे कि हम अबोध शिशु पथभ्रष्ट होने के बाद भी (स्वस्तिगाम) कल्याणमय अस्तित्व प्रदान करने वाले (अनेहसम) क्रोध रहित— निर्दोष (पन्थाम) मार्ग को (प्रति अपदमहि) पुनः प्राप्त कर सके (येन) जिस पर चलते हुए मनुष्य (विश्वा द्विषः) सब प्रकार के शत्रुओं तथा द्वेषो को (परिवृणक्ति) त्याग देता है और (वसु) जीवन के लिए वास प्रदान करने वाले सब धनो को (विन्दते) प्राप्त कर लेता है ।

निष्कर्ष—१—इससे पहले मन्त्र मे दुराचार से हटाकर सदाचारमय जीवन प्राप्त कराने की प्रार्थना की गई है, किन्तु मनुष्य अल्पज्ञ और अल्पशक्ति होने के कारण नेक इरादों के बावजूद अपने स्वीकृत पथ से विचलित हो जाता है, अतः पुनः सन्मार्ग और कल्याणमय अस्तित्व प्रदान करने वाले निर्दोष मार्ग प्राप्त करने की प्रार्थना करता है ।

२—क्रोध मनुष्य का सबसे शक्तिशाली शत्रु है । 'क्रोधो नाशयते सर्वम्' । इसलिए इस मन्त्र मे क्रोध शून्य होने का संकल्प है । यदि क्रोध समाप्त किया जा सके तो अन्य पाप-दोष स्वयमेव समाप्त हो सकते हैं । क्रोध के समाप्त होने पर शारीरिक तथा मानसिक स्थिति उत्तम हो जाती है, इसी स्थिति का नाम स्वस्ति (सु+अस्ति) कल्याणमय स्थिति है ।

३—स्वस्ति में निवास करने वाले व्यक्ति के शत्रु शनैः शनैः स्वयमेव शत्रुता त्याग देते हैं । उदासीन हो जाते हैं । तदनन्तर मित्रता की ओर अग्रसर होने लगते हैं । जो व्यक्ति किसी से द्वेष नहीं करता, सबके प्रति मित्र भाव रखता है, उससे भी लोग द्वेष भाव को छोड़ देते हैं ।

४—उसे किसी से कुछ मांगने की आवश्यकता नहीं रहती । कल्याणमय जीवन के लिए आवश्यक सब पदार्थ उसे प्राप्त हो जाते हैं ।

विशेष—इस मन्त्र का देवता अग्नि, सबकी उन्नति चाहने वाला, गिरे हुओं को उठाने वाला, रोगियों को स्वास्थ्य प्रदान करने वाला तथा पापो और दोषो को त्यागने की प्रेरणा देने वाला है । इस मन्त्र के ऋषि वत्स—अबोध शिशु के समान जो व्यक्ति अग्नि के सम्मुख अपने दोषो, अपराधों, पापो को स्वीकार करके पश्चात्ताप और प्रायश्चित करेगा, उसे निर्दोष, कल्याणमय मार्ग अवश्य प्राप्त होगा ।

अर्थ—प्रमाण—अनेहसम्—एह इति क्रोधनाम नि० २-१३-६, हन हिंसागत्योः धातु ।

द्विषः - द्विष अप्रीतौ—द्वेष करना, शत्रुता करना । वृणक्ति वृजी वर्जने—त्यजति ।

प्रति—अपद्महि—पदगतौ, प्रतिपद्यते—स्वीकरोति ।

उत देवा अवहितं देवा<br>
उन्नयथा पुनः ।<br>
उतागश्चक्रुषं देवा देवा<br>
जीवयथा पुनः ॥<br>
ऋक् १०-१३७-१

—मनोहर विद्यालंकार



**वीरता का घोष :**

# मेरे अंग-अंग यशस्वी हों ! (१)

**सुरेशचन्द्र वेदालंकार**

**शिरो मे श्रीर्यशो मुखं, त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि ।**

**राजा मे प्राणो अमृत सम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम् । यजु २०-५**

(मे) मेरा (शिरः) सिर (श्रीः) साक्षात् ऐश्वर्य हैं । (मुखम्) चेहरा साक्षात् (यशः) यश है । (श्मश्रूणि) मूंछ (केशा च) और केश (त्विषिः) दीप्ति के अवतार हैं । (मे प्राणः राजा) मेरा प्राण राजा (अमृतम् अमर है (चक्षु) आँख (सम्राट्) सम्राट तुल्य है (श्रोत्रम्) कान (विराट्) बड़ी शक्ति वाला है ।

सध्या के मत्रो मे 'इन्द्रिय स्पर्श' मंत्र मे आया है 'ओं शिरः' सिर की शक्ति और उसके यश और बल की प्रार्थना की गई है । पुन. 'मार्जन मंत्र' मे 'भू. पुनातु शिरसि' भू नाम वाला ब्रह्म सिर में पवित्रता करे । और दुबारा 'सत्यं' पुनातु पुनः शिरसि' रक्षक और सत्य नाम वाला परमेश्वर फिर सिर में पवित्रता करे । इस रूप में तीन बार सिर यश, बल और मार्जन की प्रार्थना की गई है । यजुर्वेद के इस मंत्र में कहा गया है 'शिरो मे श्रीः' मेरा सिर साक्षात् ऐश्वर्य है । कैसे ?

यदि हम अपना ध्यान बुराई और असत्य से हटाकर अच्छाई और सत्य पर केन्द्रित कर सकेंगे तो हमारा मुख अधिक सुन्दर और यशस्वी बन सकेगा ।

दो हजार वर्ष पहले की बात है । शत्रुओ ने यूनान के एक नगर पर आक्रमण किया । यूनानी बड़ी बहादुरी से लड़े और हार गये । आक्रमणकारियों ने उनकी वीरता से प्रसन्न होकर उन्हें अपने इच्छानुसार सामान ले जाने की सुविधा दी । प्रत्येक परिवार के स्त्री, पुरुष, बच्चे, बूढ़े सभी सामान लाद लाद कर निकल पड़े । बोझ से उनकी कमर झुकी जा रही थी । पाँव लड़खड़ा रहे थे, प्यास से मुंह सूखे जा रहे थे । और सब हाँफ रहे थे । सबकी बडी दयनीय थी, लेकिन उनमे एक ऐसा पुरुष था जिसके पास ले जाने को कोई सामान न था । वह खाली हाथ सिर ऊपर, छाती सीधे ताने शान्ति से चल रहा था । वह दार्शनिक था—बायस ।

सब उस पर दया कर रहे थे । एक स्त्री ने करुणापूर्ण शब्दों में कहा 'ओह, बेचारा कितना गरीब है, उसके पास ले जाने को कुछ है ही नहीं ।'

दार्शनिक हंसा और उसने कहा' अपने साथ में अपनी सारी पूँजी ले जा रहा हूं ।'

स्त्री बोली 'पूँजी ?' । तुम तो खाली हाथ हो । तुम्हारी पूंजी कैसी ?'

बायस बोला, 'मेरी पूंजी आत्म-मंथन से निकले हुए विचार हैं ।' जिन्हें अपने मस्तिष्क में लिए जा रहा हूं । मेरी यह अदृश्य पूँजी सदा मेरे साथ रहती है । इसका न मेरे दिल पर बोझ है और न शरीर पर । ऐसा हैं मेरा ऐश्वर्य—ऐसी है मेरी पूँजी ?'

**तीन मौलिक शक्तियां**

मस्तिष्क में ज्ञान, इच्छा और कृति ये तीन शक्तियां हैं । सिर ज्ञान का आधार है । मस्तिष्क की इन तीन शक्तियों को अर्थात् ज्ञान, इच्छा और को—पदार्थों या वस्तुओ की यथार्थ सत्ता के अनुकूल ढाल लेना ही मस्तिष्क या सिर की पवित्रता है । यह पवित्रता सिर का ऐश्वर्य है ।

पाणिनि मुनि ज्ञान में रमे हुए थे । एक दिन तपोवन में जब वह व्याकरण पढा रहे थे कि एकाएक बाघ आया । बाघ जमीन सूंघ-सूंघ कर चलता है, इसीलिए उसे व्याघ्र कहते है । इस सच्चाई का जब उन्हें बोध हुआ, तब बाघ को देखकर वह 'व्याघ्र' शब्द की उत्पत्ति बताने लगे । बाघ सूंघता-सूंघता आ रहा था । पाणिनि बोले 'व्याजिघ्रति स व्याघ्र. सूंघते-सूंघते आने वाले को व्याघ्र कहते हैं । उन्हें व्याघ्र खा भी गया । परन्तु ज्ञान का उपासक सब कुछ भूल गया यह ज्ञान की कितनी बड़ी उपासना है । ज्ञानोपासना में सब कुछ भूल जाने वाला न्यूटन कितना ऐश्वर्यशाली था । सड़कों पर घूम-घूमकर सत्य की शिक्षा देने वाला सुकरात, संसार के विचारों में क्रान्ति करने वाला कार्लमार्क्स, इग्लैंड में एक झोंपड़ी में रह कर संसार को सहयोग का नया मार्ग दिखलाने वाला निर्वासित महान् कोपाटकिन क्या ऐश्वर्यशाली नहीं कहे जायेंगे । संसार को ज्ञान का प्रकाश देने वाले महर्षि दयानन्द, वेदांत-दर्शन के प्रतिष्ठाता शंकर और बौद्धधर्म संस्थापक महात्मा बुद्ध क्या कम सम्पत्तिशाली थे ।

**विचार तलवार से अधिक तेज**

कहा जाता है कि परमेश्वर का स्वरूप मूलतः ज्ञान है । 'ज्ञानं ब्रह्म' ज्ञान का अर्थ ही है ब्रह्म । ज्ञान का अर्थ ही है परमेश्वर । ज्ञान का अर्थ ही है इन्द्र । यह ज्ञान मस्तिष्क मे रहता है विचार मस्तिष्क या सिर में रहते हैं । विचार तलवार की अपेक्षा अधिक तेज है । विचार नवजीवन देता है । विचार गन्दगी की गदगी को जलाकर राख कर देते हैं, इसलिए मन्त्र कहता है 'शिरोमे श्रीः' मेरे शिर मे बड़े-बड़े ज्ञान-विज्ञान का ऐश्वर्य भरा है । शरीर के लिए विज्ञान और आत्मा के लिए ज्ञान । शरीर से सुशोभित आत्मा को, विज्ञान से सुशोभित अध्यात्म या अध्यात्म से सजे हुए विज्ञान की आवश्यकता है ।

'मुखम्यशः' मेरा मुख साक्षात् यश हैं । सचमुच जो व्यक्ति हँसमुख है, प्रसन्न-मन है दूसरो के साथ शिष्टाचार का व्यवहार करना जानता है, वह संसार में कहीं भी पहुंच सकता है । जिस झोंपड़े में वह रहेगा उसका प्रफुल्लित चेहरा वहां भी आनन्द की तरंगें उठाएगा । जिस समाज में वह शामिल होगा, उसी का मुकुट हो जाएगा । जिस देश में वह अपने चरण रखेगा, वही अपने आपको भाग्यशाली समझने लगेगा । इस दुःख-दर्द से भरे संसार में जो दूसरे को पल भर के लिए भी स्वर्गिक आनन्द का स्वाद चखा सकेगा, उसका आदर और स्वागत कौन न करना चाहेगा ? पर यह सौभाग्य आएगा कैसे ? चेहरा यशस्वी बनेगा कैसे ?

(शेष पृष्ठ ४ पर)

# उत्तर पूर्व भारत में आर्यसमाज की आवश्यकता

## गंगतौक (सिक्किम) में आर्यसमाज की स्थापना

(गतांक से आगे)

### ईसाइयत का प्रचार और पृथकता की भावना

सम्पूर्ण उत्तर-पूर्वी-पश्चिमी बंगाल, सिक्किम, असम, त्रिपुरा, अरुणाचल प्रदेश, मिजोरम, नागालैंड तथा मणिपुर में न केवल मद्य व मांस का दुष्प्रभाव है, वरन् वहां के लोगों को ईसाई बनाने का षड्यन्त्र भी हो रहा है। केवल ईसाई धर्म के सिद्धांतों का पादरी लोग ईमानदारी से प्रचार तक ही सीमित रहते तो भी चिन्ता की इतनी बात नहीं थी। वहां तो एक उन्हें भारत देश से पृथक करने का कुचक्र चलता दिखाई देता है। पश्चिमी बंगाल के कुछ जिलों को छोड़कर शेष कहीं भी संस्कृत का अध्ययन-अध्यापन नहीं है। हिन्दी नाममात्र के लिए रखी गयी है। पर इसे पढ़ने के लिए निरुत्साहित किया जाता है। यहां तक कि उनके अपने प्रदेश की भाषा का भी शिक्षा के क्षेत्र में महत्व समाप्त किया जा रहा है। नगालैंड की भाषा ही अंग्रेजी हो गयी है।

नागालैंड में ईसाइयों का बहुमत हो गया है और वह सदा भारत संघ से अपने को पृथक करने की धमकी दिया करता है। यदि यही स्थिति रही तो अन्य प्रदेश भी उसका शीघ्र अनुसरण करेंगे। इन सभी प्रदेशों के अच्छे नगर यूरोपीय प्रतीत होते हैं। स्त्री पुरुष की उन्मुक्तता तथा बाजार हैं बहती मद्य की धारा को देखकर लगता ही नहीं कि हम किसी भारतीय नगर में हैं।

यदि समय रहते आर्यसमाज ने इस क्षेत्र में अपने कार्य की गतिविधियां न बढ़ाईं तो बाद में पश्चाताप की भट्टी में झुलसना पड़ेगा। मैं इस क्षेत्र में कार्य को गति देने के लिए निम्नलिखित सुझाव देता हूं :

### कुछ सुझाव :

(१) इन सभी उत्तर-पूर्वी राज्यों में एक पृथक आर्य प्रतिनिधि सभा का तत्काल गठन किया जाये, जिसका कार्यालय सिलीगुड़ी में हो।

(२) अप्रैल १९८२ में दार्जीलिंग आर्यसमाज की शताब्दी के अवसर पर सार्वदेशिक सभा की ओर से दार्जीलिंग में एक विशाल स्तर पर आर्य महासम्मेलन आयोजित हो। यदि लंदन नैरोबी और मौरीशस में आर्य महासम्मेलन आयोजित किये जा सकते हैं, दार्जीलिंग में भी यह हो सकता है।

लेखक :
**डा० प्रशान्त वेदालंकार**

(३) इस महासम्मेलन की सफलता के लिए अभी से सार्वदेशिक सभा का पदाधिकारी या इस कार्य के लिए किसी अन्य योग्य व्यक्ति को नियुक्त कर वहां तैयारी आरम्भ की जाये। उस आर्य महासम्मेलन में सारे देश से प्रतिनिधि भाग लें। विशेषरूप से उत्तर-पूर्वी राज्यों के प्रतिनिधि वहां विशेष रूप से आमंत्रित किये जायें।

(४) यह भी आवश्यकता है कि इन प्रदेशों के कुछ बालकों की गुरुकुलों तथा डी० ए० वी० स्कूलों, कालिजों में निःशुल्क शिक्षा व्यवस्था की जाये।

(५) आवश्यकता तो इस बात की है कि कुछ निष्ठावान् वानप्रस्थी इन प्रदेशों में जाकर आश्रमों की स्थापना करें। उनसे वहां के बच्चों को शिक्षित करें। अभी यह लगन वानप्रस्थियों में न हो, तो सार्वदेशिक सभा को अपने प्रचारकों की मण्डलियाँ निरन्तर इन प्रदेशों में भेजते रहना चाहिये और प्रायः प्रत्येक वर्ष किसी एक प्रदेश में उच्च स्तर का आर्य सम्मेलन आयोजित किया जाये।

(६) इन प्रदेशों में उत्तर भारत के आर्य युवकों व युवतियों के शिविर भी आयोजित किये जा सकते हैं।

(७) डी० ए० वी० संस्थाओं को इन प्रदेशों में अपने अधिक से अधिक स्कूल खोलने चाहिये। उड़ीसा के बाद इस दिशा में बढ़ना आवश्यक है।

इन प्रदेशों के आर्य सज्जनों ने मेरे सम्मुख आर्यसमाज में व्याप्त निष्क्रियता व शिथिलता की ओर ध्यान आकृष्ट किया। मैंने उन्हें कहा कि यह सच है कि आर्यसमाज के उत्साह की अग्नि पर शिथिलता की राख कुछ समय तक रही है। पर उस राख के नीचे आज भी अग्नि का ताप और प्रकाश यथावत् विद्यमान् है। अग्नि का कोई भी स्फुलिंग शीघ्र ही अपना प्रभाव दिखायेगा।

# भूमिभक्ति के बिना राष्ट्रभक्ति सम्भव नहीं

चीनी आक्रमण से पहले १९६२ में राष्ट्रीय एकता परिषद ने एक प्रस्ताव पास किया था—भारत की सब भाषाएं नागरी लिपि में लिखी जाएं। क्या इस दिशा में एक पग भी बढ़ाया गया? उल्टे हिमाचल प्रदेश में उर्दू की बाधित शिक्षा देने की व्यवस्था की गई।

यह नहीं नगालैंड में स्कूली शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी है। ब्रिटिश राज्य और आजके अंग्रेजी राज में कोई अन्तर है? भारत विभाजक कांग्रेस ब्रिटिश की मानस सन्तान है। ब्रिटिश को इष्ट था, १८५७ के समान पुनः जन-क्रान्ति न हो। स्वतन्त्रता की भट्टी न धधके। कांग्रेस और अंग्रेजी पठित वर्ग, कम्युनिस्ट शब्दावली में बुर्जुआ वर्ग भी यह नहीं चाहता। विभाजन ने भारत-भक्ति की निर्मम हत्या की। एकता का आधार और मूल नष्ट हो गया। क्या बिना आधार के ही राष्ट्रीय एकता पैदा होगी?

पिछले वर्षों में निरक्षरता बढ़ी है, घटी नहीं, १९६१ और १९७१ में ७० प्रतिशत लोग निरक्षर थे। आज की सबसे महत्व की और पहली समस्या महंगाई है। गेहूं दो-दो रुपये किलो मिल रहा है। राशन की मात्रा घटा दी गई है। यह क्यों? आज बाजार में चाय का एक प्याला ५० पैसे में, एक समोसा ५० पैसे में, यही कनाट प्लेसमें ६० पैसे में मिल रहा है। कचौड़ी ६० पैसे में मिलती है। कोई दाल ६ रु० किलो से कम में नहीं मिलती। चीनी कहीं मिलती ही नहीं। सामान्य जीवन कितना कष्ट-कर और दुखपूर्ण है। इसकी कल्पना इससे की जा सकती है।

राजा शिवि ने अपने पास मोक्ष का ज्ञान प्राप्त करनेके लिए आए ऋषियों से कहा था—आपको मेरी अतिथिशाला में ठहरने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए, क्योंकि मेरे राज्य में जनपद में कोई चोर नहीं, कोई शराबी नहीं, न मेरे राज्य में कोई अविद्वान है और न कायर है, न कोई प्रतिदिन अग्निहोत्र न करने वाला है, न कोई व्यभिचारी है, फिर व्यभिचारिणी कैसे हो सकती है। आदर्श राज्य के लिए नृपति के शब्द थे—

> न मे स्तेनो जनपदे,
> न कदर्यो न मद्यपः।
> नानाहिताग्नि नांविद्वान न स्वैरी
> स्वैरिणी कुतः॥

यह एक स्वप्न नहीं था। यह एक वास्तविक तथ्य था। यूनानी राजदूत मैगस्थनीज ने लिखा है पाटलिपुत्र (पटना) में कोई झूठ नहीं बोलता। चोरी नहीं होती। लोग किवाड़ खुले रखते हैं।

१४वीं सदी में इब्नबतूता आया था। उसने लिखा था—भारत में चण्डाल ही शराब पीते हैं क्योंकि फांसी देने का काम ये करते हैं। परन्तु यदि प्रातः शराब पीये हुए मोरी में पाए जाये तो दण्ड पाते हैं।

लेखक :
**अवनीन्द्र कुमार विद्यालंकार**

किदवई ने भारतीय बुद्धि से काम लिया था। कंट्रोल-राशन हटा दिया था। १९५३-५४ में अनाज आयात नहीं किया। एक रु० में ५ सेर गेहूं बिका। चावल गाजीपुर में ६ सेर मिलता था, किन्तु बाद में कंट्रोल-राशन फिर जारी हो गया फूड कार्पोरेशन—स्थापित किया गया। वैयक्तिक साहस का अन्त कर भ्रष्टाचार बढ़ाया। वैज्ञानिक खेती के

(शेष पृष्ठ ७ पर)

# श्रेय या मुक्ति का मार्ग

कठ उपनिषद का निर्माण कठ मुनि ने किया था। कठ का पहला अर्थ है कि तपो से कठिन व्रत वाला दूसरा अर्थ है तीव्र स्मृति वाला। इस उपनिषद में यम और नचिकेता की कथा है।

वाजश्रवा ऋषि के पुत्र उद्दालक ने संन्यास लिया और सब पदार्थ दक्षिणा मे दे दिए। उनके पुत्र नचिकेता ने पिता से कहा, 'आप सब कुछ दान कर चुके हैं अब केवल मैं शेष रह गया हूं। मुझे आप किसे देंगे?'

पिता ने उत्तर नहीं दिया। बालक ने कहा "जो गौएं सब कुछ खा-पी चुकी और दूध भी दे चुकी हैं ऐसी गौओं का दान करने से दाता को अनिष्ट फल की प्राप्ति होगी।'

पिता ने क्रुद्ध होकर कहा, "मैं तुझे मौत के लिए दूंगा।"

नचिकेता ने पिता की प्रतिज्ञापूर्ति के लिए यह अनुरोध किया--'हे पिताजी जो जन्मता है उसका मरण भी अवश्यम्भावी है, इसलिए आपको मेरी मृत्यु से शोक नही होना चाहिए।' इसी भाव से नचिकेता ने हरी खेती का दृष्टान्त दिया कि जिस प्रकार हरी खेती का पक कर नाश होना अवश्यम्भावी है, उसी प्रकार इस असार संसार में कोई वस्तु स्थिर नही, इस भाव को दृष्टिगोचर करके तुम शोक मत करो और मुझे मृत्यु के पास भेजो ताकि मैं तुम्हारी प्रतिज्ञा पूर्ण कर सकूं।

नचिकेता यम के द्वार पर पहुंचा। जब तीन दिन तक आतिथ्य की प्रतीक्षा करता हुआ वह बिना अन्न-जल के रहा, तब यम के मंत्रियो ने कहा कि जिसके घर मे अतिथि भूखा निवास करता है उसके सर्व ऐश्वर्य नष्ट कर देता है।

यम ने अपने अपराध के लिए क्षमा मांगते हुए नचिकेता को तीन वर देने स्वीकार किए। नचिकेता ने पहला वर यह मांगा कि उसका पिता उस पर प्रसन्न हो जाए। यह वर यम ने स्वीकार कर लिया। दूसरा वर नचिकेता ने यह मांगा कि 'मुझ श्रद्धालु की वैदिकाग्नि का उपदेश कीजिए जिससे मैं भी स्वर्ग का अधिकारी बनूं। यह कहता है कि यह अनन्त सुखों की प्राप्ति का साधन है अर्थात् ब्रह्मचर्य से लेकर चारो आश्रमों मे इसी के द्वारा वैदिक कर्म करने से सुख की प्राप्ति होती है।'

इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि यम एक देवता विशेष है जो यमपुरी का रास्ता है और चित्रगुप्त उसका मन्त्री है। वस्तुतः मृत्यु के अलंकार से इस उपनिषद की रचना की गई है। इस प्रकरण में 'स्वर्गलोक' का अर्थ लोक-विशेष का नहीं, अपितु सुख की अवस्था विशेष के हैं।

पिता की प्रसन्नता तथा वैदिककर्मों के ज्ञानान्तर अब नचिकेता आत्मज्ञान के विषय को लेकर तृतीय वर मांगता है। उसने यमाचार्य से पूछा—'मरने के अनन्तर जीवात्मा रहता है या नही। इस का उत्तर तथा ज्ञान मुझे दो, यह मेरा तीसरा वर है।

यम ने कहा, 'नचिकेता! पहले देवताओं ने भी इसमें सन्देह किया था और तू भी इसे नही समझता, इसलिए तू और कोई वर माग। चिरजीवी पुत्र पौत्र, पशु, सुवर्ण आदि बहुमूल्य रत्न, पृथ्वी पर बड़ा राज्य यह सब मुझ से मांग, अपना जीना भी चाहता है मांग पर मरने के अनन्तर क्या होता है यह वर न मांग।'

यम ने नचिकेता को इस प्रकार के बहुत प्रलोभन दिए, परन्तु नचिकेता ने कहा कि ये पदार्थ भविष्य में रहने वाले नहीं अर्थात् अनित्य हैं, दूसरे ये भोग भोगी लोगों की इन्द्रियो को शिथिल कर देते हैं, तीसरी बात यह है कि जीना भी थोड़े दिन का है, इसलिए यह भोग, तुम्हारे लिए शुभ हो मुझे इनकी इच्छा नही।'

यम ने नचिकेता को आत्मज्ञान का अधिकारी समझकर उपदेश करना आरम्भ किया है। 'नचिकेता! इस संसार में मनुष्य के सम्मुख दो लक्ष्य है, एक श्रेय—विद्या और दूसरा प्रेय—अविद्या। श्रेय मार्ग में चलने से मनुष्य का कल्याण होता है दूसरा प्रेय मार्ग में पड़कर मनुष्य अत्यन्त दुःखी हो जाता है। इसलिए पुरुष को उचित है कि वह प्रेय पदार्थ के प्रलोभन में कदापि न फंस कर नित्यप्रति श्रेय के लिए यत्न करता रहे।'

हृदयाकाश में जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों छाया और प्रकाश के तुल्य वास करते हैं, शरीर रथ के समान है जिसका सारथी बुद्धि है, मन राह है और आत्मा जिसमें सवार है। भाव यह है कि उसी रथी का रथ ठीक चलता है जिसका बुद्धिरूपी सारथी और मन रासें रस ठीक हों।

वह आत्मा जिसका शरीर ब्रह्मचर्यादिव्रतों से आरोग्य, अभक्ष्य पदार्थों के त्यागने से बुद्धि शुद्ध, सत्यादि व्रतों से मन निर्मल और इन्द्रियगण जिसके वशीभूत हैं, वह पुरुष निर्भयता से अपना लक्ष्य प्राप्त करता है।

नचिकेता का तीसरा प्रश्न था कि मरने के पश्चात् क्या शेष रहता है।

उसका उत्तर यम ने दिया जो शक्ति रूप, रस, गन्धादि विषयो का अनुभव करती है वही चैतन्यशक्ति मरने के पश्चात् शेष रहती है। अन्य कुछ नहीं अर्थात् जीवात्मा सतचित है, मृत्यु के अनन्तर रहने से 'सत' और अनुभाविता होने से 'चित' रूप है।

लेखक :
प्रिंसिपल वीरभान 'वीर'

जब जीवात्मा इस शरीर से पृथक हो जाता है तब इसमें कुछ भी शेष नहीं रहता। अर्थात् न प्राण चेष्टा कर सकते हैं और न इन्द्रियां अपने अर्थों को ग्रहण कर सकती हैं। भाव यह है कि जीवात्मा के पृथक होते ही सारी शक्तियां उसके साथ ही निकल जाती हैं। शरीर में चैतन्यता का कोई अंश शेष नहीं रहता। जीवात्मा अणु है, विभु नहीं। यम ने यह उपदेश नचिकेता को दिया कि 'जिनके उत्तम कर्म हैं वे उत्तम योनियों की ओर जिनके मन्दकर्म हैं वे पशुपक्षी आदि योनियो को प्राप्त होते है।

वह परमात्मा प्राणघातक वज्र के समान भयप्रद है अर्थात् उसका नियम तोड़ने से पुरुष को अनन्त दुःखों की प्राप्ति होती है, और जो अनुष्ठानी पुरुष परमात्मा के नियमों का उल्लंघन नहीं करता, वह मुक्ति को प्राप्त होता है। □

बोध कथा :

## सच्चे स्नेह का स्त्रोत

एक बार स्वामी रामतीर्थ सयुक्त राज्य अमेरिका जा रहे थे। बन्दरगाह समीप आ रहा था। हर कोई अपना सामान इकट्ठा करने लगा, लेकिन स्वामी रामतीर्थ वैसे ही बैठे रहे और देखते रहे कि कैसे दूसरे लोग अपना सामान इकट्ठा कर रहे थे और इधर से उधर दौड़ रहे थे।

अन्त मे बन्दरगाह आया। जहाज भूमितट पर जा लगा। सैकडो लोग किनारे पर आए हुए थे। रिश्तेदार और मित्र लोग आगन्तुको का स्वागत कर रहे थे। इन लोगो की भीड़ का वहा पर इतना हो-हल्ला हो रहा था, परन्तु स्वामी रामतीर्थ वैसे ही बैठे रहे—पूरी तरह शान्त और मौन।

इतने मे एक नवजवान अमेरिकी लड़की वहां आई। उसे देख कर यह अचम्भा हुआ कि जहाज की सारी चहल-पहल का उस व्यक्ति पर कोई असर नहीं हुआ। उसे स्वभावतः जिज्ञासा हुई कि यह कैसा व्यक्ति है, जिसकी कोई तमन्ना नहीं। आखिर उससे रहा नहीं गया। वह उनके पास जाकर पूछने लगी—'आप कहां से आए हैं और कौन हैं?'

स्वामी जी ने उत्तर दिया—'मैं हिन्दुस्तान का फकीर हूं।'

'क्या आपके पास यहा ठहरने के लिए जरूरी पैसा है, या आपका यहां किसी से परिचय है?'

'नही, मेरे पास कोई धन-सम्पत्ति नहीं है। हां, मेरा परिचय अवश्य है।'

'किससे?'

'आपसे और थोड़ा भगवान से।'

'फिर तो आप मेरे घर चलेंगे।'

'अवश्य चलूंगा।'

स्वामी रामतीर्थ इस भद्र महिला के यहां ठहर गए।

एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य और भगवान पर ऐसा भरोसा ही सच्चा स्नेह पैदा करता है।

—नरेन्द्र

### भीखी ग्राम में आर्यसमाज की स्थापना होगी

श्रीमती द्रौपदी देवी, धर्मपत्नी रोशनलाल, मन्त्री आर्यसमाज भटिण्डा ने अपने पिता लालसिंह मित्तल से प्राप्त भीखी ग्राम के चार स्थान आर्यसमाज को दिए हैं, फलतः ग्राम में समाज की स्थापना की तैयारी हो रही है।

आर्य वानप्रस्थ आश्रम गुरुकुल भटिण्डा को जनवरी मास में ये धन-राशियाँ मिलीं, गाय के लिए जालीराम शर्मा, अहमगढ से १०००) निरंजन सिंह सिलीगुडी से ५१) त्रिभुवन शास्त्री मानसा मण्डी से १५१), पृथ्वीराज जालन्धर ५०), गुरुकुल के सभी विद्यार्थियों को सुन्दरलाल सर्राफ भटिण्डा ने नए कपड़े सिलवा कर दिए।

### गुरुकुल कांगड़ी में गणतन्त्र समारोह

कुलपति बलभद्र कुमार द्वारा राष्ट्रीय ध्वज फहराए जाने के बाद एन. सी. सी. छात्रों ने झण्डे को सलामी दी। छात्रों द्वारा संस्कृत कवितावलि प्रस्तुत करने के बाद इतिहासवेत्ता डा० सत्यकेतु विद्यालंकार ने स्वतन्त्रता आन्दोलन में गुरुकुल कांगड़ी की भूमिका एवं ब्रह्मचारी सर्वमित्र के बलिदान की चर्चा की।

# विदेशों में आर्यसमाज की स्थिति

सुरीनाम देश की राजधानी पारामारियो की आर्य संस्था आर्य-दिवाकर ने अपनी पच्चीस वर्षीय स्वर्णजयन्ती मनाई थी। आर्य-दिवाकर एक जीवित जाग्रत संस्था है—इसके अन्तर्गत कई आर्यसमाजें हैं पांच-सात अच्छे यज्ञ-याग कराने वाले पुरोहितगण भी हैं। ये लोग अपना स्वतन्त्र व्यवसाय कृषि, नौकरी, व्यापार आदि करते हैं। बचे समय में ये गृहस्थियों के पर्व, संस्कार यज्ञ आदि शुभ अवसरों पर उनकी सेवा करते हैं। आर्य-दिवाकर संस्था के अन्तर्गत एक पचास साठ बालक-बालिकाओं का वास-आश्रम (अनाथालय) भी है।

इस संस्था के अन्तर्गत कुछ हाई स्कूल भी चल रहे हैं। कहीं-कहीं हिन्दी पाठशाला भी।

इनका स्वर्ण जयन्ती-महोत्सव सोत्साह सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर श्री पं० रघुबंश शर्मा भी न्यूयार्क से पधारे थे—अच्छा जीवन और अच्छी शैली है।

सुरीनाम देश में प्रचार का सशक्त साधन रेडियो-स्टेशन है। भारतीयों द्वारा संचालित अपने रेडियो स्टेशन हैं—एक का नाम राधिका रेडियो स्टेशन है' इस स्टेशन से सभी धर्मों के वर्ग अपना अपना प्रचार का समय (मूल्य देकर) ले सकते हैं। सुरीनाम में मैं एक सौ अस्सी दिन रहा। आर्य दिवाकर संस्था की ओर से साठ बार मैंने भी इस सशक्त प्रचार-साधन का सदुपयोग किया।

रविवार सायंकाल समाजों में सत्संग लगता है और प्रातः रेडियो से प्रवचन होता है पन्द्रह-बीस मिनट। इसके अतिरिक्त कभी-कभी टेलीवीजन द्वारा भी प्रचार का अवसर सुलभ होता है। देखने में यह आया है कि जहां-जहां भी आज से सौ डेढ सौ वर्ष पूर्व उत्तर प्रदेश बिहार के सीमावर्ती प्रदेशों से लोग गये वे मौरिशस, फिजी, सुरीनाम, गयाना, ट्रिनिडाड आदि स्थानों पर अत्यन्त निष्ठा से अपनी-अपनी पृष्ठभूमि के अनुसार अपना धर्म प्रचार का प्रयास किये हुए हैं इनमें श्रद्धा है और धैर्य भी है। और पूर्वजों के देश भारत के प्रति निष्ठा व नम्रता भी है। भाषा तो जरूर निर्बल पड़ गई है विशेष रूप से गयाना, ट्रिनिडाड और कुछ-कुछ सुरीनाम में—परन्तु अभी सभ्यता-संस्कृति के बीज बचे हुए हैं। जौर्ज टाउन में एक स्थान पर सत्संग में गया। उपस्थिति बहुत अच्छी थी—एक स्थानीय पंडित महोदय रामायण का प्रचार—पाठ कर रहे थे। परन्तु वहां की रीति रिवाज के अनुसार बाद में इंगलिश में व्याख्या अनिवार्य थी।

यात्रा के उत्तरार्द्ध में मैं हालैंड और इंग्लैंड गया। इन स्थानों में परस्पर प्रचार निष्ठा में काफी अन्तर है। जहां हालैंड में भारत की भांति विचार, सत्संग, पारिवारिक यज्ञ-याग आदि सम्पन्न होते हैं, वहां इंग्लैंड में आये अधिकांश धार्मिक जन अपनी रीति-नीति से हट गये।

लन्दन, नौटिंघम, और आस-पास के स्थानों पर बसे धर्मप्रेमी बन्धुओं के पूजा-स्थानों व क्रिया कलापों को मैंने अत्यन्त निकट से देखा है। लन्दन आर्य महासम्मेलन के अवसर पर मैं इंग्लैंड में ही था—अंतिम दिन का कार्यक्रम, मण्डप, उपस्थिति, आदि पर मैंने क्रियात्मक रूप से विचार किया है। सार्वदेशिक सभा के अन्तर्गत यदि इस प्रकार के आर्य महासम्मेलन विदेशों में हुआ करें—एवं देशी व विदेशी समाचार पत्रों के उत्तरदायी प्रतिनिधि यदि पूर्णतया सम्पर्क में रखे जायें तो कहीं अधिक सार्थकता सिद्ध हो सकती है। वैसे मुझे कहीं आशा की किरण-सी दिखाई दी।

इस संदर्भ में एक बात और है यहां के अधिकारी वर्ग के सम्बन्ध में पहले तो मैं कभी-कभी यह सोचा करता हूं—कि वे लोग कितने कर्मनिष्ठ एवं प्रदीप्त अग्नि के स्वामी होंगे जिन्होंने प्रारम्भ में भारत से जाकर इन अधिकारी वर्ग के पूर्वजों में सत्य धर्म, त्याग और सेवा के बीज बोये यद्यपि आज इन लोगों के भवनों में वे चित्रों के रूप में ही विद्यमान हैं।

बाल भवन, विद्यालयों के भवन, एवं नये बन रहे आर्यसमाज के विशाल दुमंजिले और अनुपम भवन इन लोगों की निःस्वार्थ कर्मठता एवं कर्मण्यता का प्रकाश कर रहे हैं।

इस पीढ़ी के द्रष्टा कुछ व्यक्तित्व मुझे स्मरण है एक व्यक्ति है श्री बृहस्पति नारायण। उम्र होगी कोई पैंसठ वर्ष—बाल बच्चों के दायित्व पूर्ण कर के उन्हें अपने पैरों पर खड़ा कर के लगभग चार लाख रुपये के मूल्य का समाज का भवन बना कर, उसे दान कर, आज संस्कृत सीखने के लिए भारत की राजधानी आये हुए हैं।

गायना की राजधानी जौर्जटाउन के सभा मन्त्री भी इसी अनुकरणीय उदाहरण को लिए भविष्य की प्रतीक्षा में हैं।

सुरीनाम के प्रतिष्ठित पंडित, स्वभाव से अति सरल, वाणी से अति मधुर, उम्र बहत्तर (७२) वर्ष की होगी जब मैं अभी पहुंचा ही था सुरीनाम; आए मेरे पास एक दिन। कहने लगे—मैं सीखना चाहता हूं—क्या सीखेंगे आप? संस्कृत भाषा; प्रौढ पद्धति से मैंने कुछ पाठ सिखाए। एक दिन एक श्लोक उन्हें कुछ कठिन लगा—अर्थ समझाते हुए मैं ने अचानक पूछा—पंडित जी? इस ढली उम्र में आप संस्कृत सीख रहे हैं—क्या लाभ इसका?

बोले स्नातक जी? अगले जन्म में काम आएगी। उनका इतना कहना था मेरी आंखें खुल गई। अस्तु। मेरी लेखनी अनायास रुक रही है जैसे कह रही हो—आप ने आर्य दिवाकर संस्था के प्रधान श्री राम उदय दिहाल एवं बंसराज जी एडवोकेट 'मन्त्री' के नाम क्यों नहीं लिखे? ठीक बात है—इन दो महानुभावों के दर्शन में व्यवहार एवं श्वेत वस्त्रों में साधुत्व की सुगन्ध आती है ऐसे लोग किसी भी संस्था के प्राण कहे जा सकते हैं।

श्याम सुन्दर स्नातक महोपदेशक
बी० २०१ ग्रेटर कैलाश पार्ट-१नई दिल्ली

(पृष्ठ २ का शेष)

### सच्चा धर्म अच्छे कार्यों में

सौन्दर्य मनुष्य के रंग और उसकी बनावट में नहीं, उसके अच्छे कार्यों में निहित है। जब मनुष्य ईमानदारी से रहता है, जो उसे मिलता है उसे धन्यवाद पूर्वक ग्रहण करता है, बहादुरी से कठिनाइयोंका मुकाबला करता हुआ कर्त्तव्यपथ पर डटा रहता है, तब वह अक्षय सौन्दर्य का दर्शन कर पाता है और यह सौन्दर्य उसके मुखपर छा जाता है। उस समय उस व्यक्ति के मुख के सौन्दर्य में सूर्योदय से अधिक प्रकाश और खिले गुलाब से अधिक भव्यता आ जाती है। यह सौन्दर्य चरित्रवान् व्यक्ति के सौन्दर्य से प्रस्फुटित होता है। उस व्यक्ति का सौन्दर्य आंखों को नहीं, सबकी समझ में आता है। यदि हम बुराई और असत्य से अपना ध्यान हटाकर उसे सत्य और अच्छाई पर केन्द्रित कर सकेंगे तब हमारा मुख अधिक सुन्दर और अधिक यशस्वी बन सकेगा।

(शेष अगले अंक में)

१७५, जाफरा बाजार
गोरखपुर (उ० प्र०)



### वसन्त मेला समारोह

आर्यसमाज विनय नगर, नई दिल्ली और अखिल भारतीय हकीकत राय सेवा समिति की ओर से धर्मवीर हकीकत राय बलिदान दिवस (वसन्त मेला) रविवार ८ फरवरी ८१ को आर्यसमाज मन्दिर वाई ब्लाक, सरोजिनी नगर, नई दिल्ली-२३ में प्रातः ८-३० बजे से दोपहर १ बजे तक बड़े समारोह पूर्वक मनाया गया। प्रातः ८ बजे से ९-३० बजे तक राष्ट्र मेघ यज्ञ ९-३० बजे से १० बजे तक भजन, १० बजे से १२ बजे तक बच्चों की प्रतियोगिता और १२ बजे से १ बजे तक श्रद्धांजलि सभा ला० रामगोपाल शालवाले प्रधान सार्वदेशिक सभा की अध्यक्षता में हुई जिसमें अनेक विद्वान नेताओं ने पधार कर वीर हकीकत को श्रद्धांजलि दी।

सम्पादकीय

# समय का तकाजा : हम संयुक्त और सन्नद्ध हों

पानीपत के युद्ध क्षेत्र की कहानी है। मैदान के एक ओर विदेशी आक्रमणकारी अहमदशाह अब्दाली की फौज खडी थी और दूसरी ओर सामने मराठों की फौज खडी थी। संख्या और हथियारो की दृष्टि से मराठों की फौज शत्रु के मुकाबले कही बडी थी। दोनो फौजें एक दूसरे के सामने खडी थीं। दोनों ही पक्ष एक दूसरे की ताकत और कमजोरी का ठीक-ठीक अन्दाजा करना चाहते थे, इसलिए एकदम हमला नहीं करना चाहते थे। अब्दाली का इरादा था कि कोई ऐसी कोशिश की जाए जिससे मराठों को खाना न मिले और वह उन पर अचानक हमला कर उन्हे पराजित कर दे। एक दिन शाम के समय अहमदशाह अब्दाली ने देखा कि मराठो की फौज के शिविर मे स्थान-स्थान पर आग की लपटें निकल रही हैं। उसने अपने सिपहसालार से पूछा—'ये आग की लपटे कैसे चमक रही हैं ?—यह सब क्या हो रहा है ?' उसने जवाब दिया—'इन लोगों में जातिभेद है। ये एक दूसरे का खाना नही खाते, इसलिए अलग-अलग रसोई बना रहे हैं। यह सुनकर अहमदशाह बोला—'तब तो हमने मैदान जीत लिया।' सचमुच ही भारतीय सैनिकों की इस आपसी फूट और मतभेदों से पानीपत के मैदान में अहमदशाह अब्दाली जीत गया। राष्ट्रीय महत्त्व की समस्याओ और प्रश्नो पर संसार के सभी जाग्रत और स्वाभिमानी राष्ट्रो के नागरिक सदा एक रहते हैं। उन देशों में जनतान्त्रिक परम्पराएं हैं। लगभग सभी महत्त्वपूर्ण प्रजातन्त्रीय देशों में दो या अधिक राजनीतिक दल हैं। ये सभी दल देश के आन्तरिक विषयों मे सदा अपने मतभेद प्रकट करते रहते हैं, परन्तु राष्ट्रीय संकट की घड़ियों में ये हमेशा एक हो जाते हैं। सभी प्रमुख राष्ट्रों मे राजनीतिज्ञ अपने देशों को बाह्य आक्रमण से बचाने तथा वहां आन्तरिक सुरक्षा-व्यवस्था रखने में सब प्रकार का विरोध-भाव समाप्त कर देते हैं, पर खेद का विषय है कि हमारे देश की रीति-नीति कुछ उल्टी ही है।

पिछले दिनों उड़ीसा के विविध क्षेत्रों में और इन दिनो गुजरात में कुछ हिंसक घटनाएं हो रही हैं। छोटी-मोटी समस्याओं को आपसी बात-चीत या शांतिपूर्ण अहिंसक आन्दोलन द्वारा न सुलझा कर व्यवस्था एवं अराजकता पैदा करना कभी उचित नही कहा जा सकता। इन दिनो देश में पूर्वी क्षेत्र मे समुद्र-तटवर्ती प्रदेश में एक विद्वान् ने इस बारे में हमारे पास एक बड़ा ही वेदनापूर्ण पत्र भेजा है। उस पत्र के कुछ महत्त्वपूर्ण अश इस प्रकार हैं—'यहां की परिस्थितियाँ दिन-प्रतिदिन जटिल होती जा रही हैं। ५ तारीख को प्रदेश में बंद बड़ा सफल रहा, सफलता का कारण यह नही है कि लोगों के मन में···के प्रति कोई विशेष दुर्भावना है या उन्हे वे प्रदेश से बाहर भेजना चाहते हैं। सच्चाई यह है कि कुछ निहित स्वार्थों वाले लोग चाहते हैं कि यहाँ भी अशान्ति-उपद्रव का वातावरण बना रहे, जिससे लोग यह न कह सकें कि प्रदेश मे कुछ हो ही नही रहा है।··सघर्ष समिति की माँगें इतनी हास्यास्पद हैं कि स्वयं सघर्ष को चलाने वाले लोगो का विश्वास है कि कोई भी सरकार उन्हें स्वीकार नही कर सकती है।··प्रदेश की राजनीति के भीष्मपितामह ···हैं, उन्हें प्रत्येक सरकार को नाच नचाने में महारत हासिल है। वह अपनी कला का निकृष्ट प्रदर्शन कर रहे हैं, उनके एक हाथ में आग और दूसरे में पानी है।' पत्र-लेखक कोई सामान्य पाठक या नागरिक नहीं हैं, प्रत्युत वह अपने प्रदेश के एक प्रबुद्ध राष्ट्रवादी शिक्षाशास्त्री हैं। अपने देश की परिस्थिति के विषय में उनका जो मूल्यांकन है, वह प्रदेश-प्रदेश व्याप्त अराजकता और अशान्ति पर प्रकाश डालता है। आज ऐसी परिस्थिति पैदा हो गई है या धीरे-धीरे पैदा की जा रही है, जिससे आन्तरिक अव्यवस्था एव अराजकता के कारण राष्ट्र की स्थिति को भीषण संकट पैदा हो सकता है।

इस सम्भाव्य भीषण स्थिति का निवारण करने के लिए राष्ट्र की सभी प्रबुद्ध सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक संस्थाओं एवं दलों को गम्भीरता से अपने दायित्व का चिन्तन करना चाहिए। यह ठीक है कि सामयिक आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं के समाधान के लिए जनमत को जाग्रत करना और जन-अशांति एवं दैन्य को दूर करना प्रत्येक जिम्मेदार एवं प्रबुद्ध नागरिक एवं संस्था का मौलिक अधिकार है, पर इसी के साथ यह भी समझना हमारा पुनीत कर्त्तव्य है कि किसी व्यक्ति, संस्था या दल को ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए, जिससे राष्ट्र की बची हुई एकता और अस्तित्व ही संकट में पड़ जाए। इसी के साथ सत्तारूढ दलों और प्रशासन का भी यह गंभीर दायित्व है कि देश के जन-जन में व्याप्त दैन्य निराशा, अभाव और कष्ट दूर करने की वे प्राथमिकता दें। 'स्वराज्य' के संरक्षण एवं संवर्द्धन के लिए 'सुराज' की स्थापना प्रत्येक प्रशासन का पहला दायित्व है। प्रजा के रंजन या कल्याण से ही 'सुराज्य' की प्रतिष्ठा सम्भव है। [illegible] के कष्टों, अभावों और विषमताओं को समय [illegible] जान कर दूर करना किसी भी [illegible] प्रशासन का प्रथम दायित्व है। ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज देश में 'सुराज्य' के साथ 'स्वराज्य' की प्रतिष्ठा के लिए दृढ़प्रतिज्ञ रहे, आज भी आर्यसमाज और आर्यजन देश के 'स्वराज्य' को चिरायु करने के लिए सुराज्य की प्रतिष्ठा सम्बन्धी अपना पूरा उत्तरदायित्व निबाहने के लिए कृतसंकल्प हैं। इस सम्बन्ध में यदि कोई वर्ग, समूह या तत्व देश या प्रदेशों की स्थिति को संकट में डालने के लिए आग से खेलना चाहें तो इस आसन्न संकट की घड़ी में उनका सामना करने के लिए समय का तकाजा है कि हम सब देशवासी संयुक्त और सन्नद्ध हो जाएं। इस स्थिति का निवारण करने के लिए आर्यसमाजों को भी निरन्तर जागरूक होना पड़ेगा कि कहीं हमारी गफलत और फूट से देश की स्वाधीनता, अखण्डता और अस्तित्व खतरे में न पड़ जाए। □

# जीवन में बहार लाइए

वैदिक संस्कृति ने सदा आशावाद का सन्देश दिया है। हमारा वसन्त का पर्व उसी आशावाद का प्रतीक है। वेद माता कहती है—

'जिह्वाया अग्रे मधु मे'—मेरी जीभ पर वसन्त आए—मेरी जिह्वा में माधुर्य और सरस्वती का आवास हो। भारतीय परम्परा में—मधु माधवौ वसन्तः स्यात् 'चैत्र और वैशाख के महीने वसन्त काल के प्रतीक हैं। वर्ष में प्रकृति जिस प्रकार इस ऋतु में नवजीवन का सन्देश देती है, उसी प्रकार हमारे राष्ट्र और समाज को नवयुग की प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिए। यजुर्वेद का कथन है—मधु वाता ऋतायते, मधुक्षरन्ति सिन्धवः, माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः—वायुमण्डल नई उमंग और माधुर्य दे, देश की पवित्र नदियां अन्न-शस्य के माध्यम से जीवन में माधुर्य लाएं और सब प्रकार की वनस्पतियां और औषधियां जन-जन को नीरोग और दीर्घायु करें। आज हमारे देश और समाज को पतझड़ नहीं, वसन्त चाहिए। सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में नई आशाएं और उमंग जगाने के लिए हमें वार्षिक एवं पंचवर्षीय योजनाएं बनाकर उन्हें पूर्ण करने का संकल्प करना चाहिए। जिस तरह म० बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद उनके सन्देशों को लिपिबद्ध करने एवं भावी कार्यक्रम के निर्धारण के बारे में समय-समय पर सार्वभौम बौद्ध सम्मेलन आयोजित किए गए, आवश्यकता है कि आज जब ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज द्वारा किए गए राष्ट्रीय जागरण का सौ वर्ष से अधिक समय व्यतीत हो गया है, तब सार्वभौम विश्व, देश एवं प्रदेश में ऋषि और समाज का सन्देश व्यवस्थित रूप से प्रचारित एवं प्रसारित करने के लिए एक समयबद्ध कार्यक्रम बनना ही चाहिए।

वसन्त का पर्व सरस्वती पूजा का अवसर गिना जाता है। देश के कई भागों में इस अवसर पर सरस्वती-पूजा की जाती है। इसी के साथ यह पर्व देश के कई भागों में परम्परा से आखेट का समय समझा जाता था। रणबांकुरे वीर इस दिन अपने शस्त्रों की परीक्षा आखेट में करते थे। यह दिन हमें कट्टर धर्मान्धता को चुनौती देने वाले वीर बालक हकीकत की कुर्बानी की भी याद दिलाता है। इस प्रकार यह पर्व हमें शस्त्र और शास्त्र का स्मरण कराता है तो यह दिन एक अमर हुतात्मा की शहादत का दिन भी है। आर्यसमाज का इतिहास त्याग-बलिदान की उदात्त परम्परा को स्मरण कराता है। अन्याय, अत्याचार, कष्ट एवं दुःख से संघर्ष करना समाज और आर्यजनों का प्रथम पुनीत कर्त्तव्य रहा है। अपने इस दायित्व को निबाह कर ही आर्यसमाज और आर्यजन राष्ट्रीय नवजागरण एवं स्वतन्त्रता सग्राम की लम्बी अवधि में अपनी उल्लेखनीय भूमिका प्रस्तुत कर सके। भविष्य में यह भूमिका बखूबी निभाई जा सके, इसके लिए आवश्यक है कि समाज और आर्यजन त्याग और बलिदान की महत्ता अपने जीवन में अंगीकार करें।

आज हमें समाज में दीनता और पलायन की वृत्ति का त्याग करना होगा। केवल भवनों के निर्माण, वर्ष में मुख्य पर्वों के मनाने मात्र से हमारे कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं हो सकेगी। आज देश पर विधर्मियों, विदेशी भाषा, संस्कृति एवं विजातीय तत्त्वों के कठिन प्रहार हो रहे हैं। अल्पसंख्यकों के नाम पर विदेशी संस्कृति और विचार हमारे राष्ट्रीय तत्त्वों को खंड-खंड कर रहे हैं। इनसे जूझने के लिए आज समाज को पुनः त्याग एवं बलिदान का बाना अपनाना होगा। हमें अपने जीवन से निराशा, भय, [illegible] के पतझड़ का त्याग कर एक वार्षिक एवं पंचवर्षीय कार्यक्रम निर्धारित कर उन्हें कार्यान्वित करने का सुदृढ़ संकल्प करना होगा। देश के पूर्वोत्तर प्रदेशों पर विधर्मी एवं विदेशी नए कुचक्र चला रहे हैं, अपनी भाषा एवं सुविधाओं के संरक्षण के नाम पर भाषा एवं सम्प्रदायगत अल्पसंख्यक अपनी स्थिति मजबूत कर रहे हैं। इस बढ़ते हुए खतरे का सामना करने के लिए समाज को जीवन में एक नई बहार ही लानी होगी। □

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो।
[illegible] सुम्नमीमहे॥

[illegible] आप ऐसी कृपा करें कि आप हृदय में हमें कभी न [illegible] होकर सदा प्रसन्न रहें। [illegible] आत्म समर्पण करने वाले [illegible] आप [illegible] परमानन्द को [illegible] भोगते हैं।

# आर्यसमाजों के सत्संग

१५-२-८१

अंधा मुगल प्रताप नगर—पं० प्रकाशचन्द वेदालंकार; अशोक बिहार के-सी-५२-ए—पं० केशवचन्द्र मुन्जाल; आर्यपुरा—पं० छज्जूराम शास्त्री; आर के पुरम सेक्टर-९—आचार्य कृष्ण गोपाल; आनन्द बिहार हरि नगर एल ब्लाक—पं० सत्य देव भजनोपदेशक; इन्द्र पुरी—पं० प्राणनाथ सिद्धांतलंकार; किंग्सवे कैम्प—पं० रामरूप शर्मा; किशन गंज मिल एरिया—वैद्य राम किशोर; कृष्ण नगर—पं० यशपाल शास्त्री; कालका जी डी. डी. ए. फ्लैटस एन-१/१४३-ए—प्रो० वीर पाल विद्यालंकार; गांधी नगर—स्वामी स्वरूपानन्द भजनोपदेशक; गीता कालोनी—प० महेश चन्द भजनोपदेशक; ग्रेटर कैलाश-I—डा० रघुनन्दन सिंह; गुड़ मण्डी—पं० वेदपाल शास्त्री; १५१ गुप्ता कालोनी—पं० अशोककुमार विद्यालकार; गोविन्द पुरी—श्रीमती लीलावती आर्या; जंगपुरा भोगल—पं० ईश्वरदत्त एम-ए; जनकपुरी बी/३/२४—पं०दिवाकर शर्मा; जहांगीरपुरी के१४३६—पं० वेदव्यास भजनोपदेशक; झिलमिल कालोनी—पं० विद्या सागर विद्यालंकार; टैगोर गार्डन—स्वामी मुनीश्वरानन्द; तिलक नगर—प० देवराज वैदिक मिशनरी; तीमारपुर—प० वीर व्रत शास्त्री; दरियागंज—श्री मोहनलाल गांधी; नारायण बिहार—पं० मुनि शकर वानप्रस्थी; पंजाबी बाग—प्रो० सत्यपाल बेदार; पंजाबो बाग एक्सटैनशन १४/३—पं० सत्य पाल मधुर भजनोपदेशक; पश्चिम पुरी जनता क्वाटंरज—पं० ओमप्रकाश भजनोपदेशक; पटेल नगर—आचार्य हरिदेव सि० भू०; बाग कड़े खां—पं० बरकत राम भजनोपदेशक; बिरला लाईन्स—श्री चिमन लाल; माडल टाऊन—आचार्य नरेन्द्र पाल शास्त्री; माडल बस्ती—पं० गणेश दत्त वान प्रस्थी; महरौली—पं० सत्य भूषण वेदालंकार; मोती नगर—पं० आशा नन्द भजनोपदेशक, रघुवीर नगर—श्रीमती सुशीला राजपाल; रमेश नगर—पं० महेन्द्र प्रताप शास्त्री; राणा प्रताप बाग—प० गणेश प्रसाद विद्यालकार; लड्डू घाटी—पं० विश्व प्रकाश शास्त्री; लक्ष्मी बाई नगर—आचार्य रामशरण मिश्रा शास्त्री; विक्रम नगर—पं० हरि दत्त शास्त्री; सरस्वती बिहार—पं० शीश राम भजनोपदेशक; सराय रोहेला—पं० गजेन्द्र पाल शास्त्री; सुदर्शन पार्क—प्रो० भारत मित्र शास्त्री; तथा श्रीमती कमला आर्य; सोहन गंज—ला० लखमी दास; श्री निवास पुरी—पं० हीरा प्रसाद शास्त्री; शादीपुर खास—श्रीमती प्रकाश वती शास्त्री; हौज खास ई-४६—डा० सुख दयाल भूटानी; डिफेन्स कालोनी—पं० तुलसी राम भजनोपदेशक;

# आर्य जगत समाचार

## वसन्त मेला

सोमवार, ९ फरवरी, १९८१ को हिन्दू महासभा भवन, मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली में वीर हकीकत वसन्त मेला। प्रातः १० बजे हवन, ११ बजे धर्मवीर हकीकत को श्रद्धांजलि।

## निश्शुल्क नेत्र शिविर

२१ फरवरी से १ मार्च, १९८१ तक श्रीमती चनन देवी धर्मार्थ नेत्र चिकित्सालय, सुभाषनगर के चिकित्सको की देखरेख में आर्यसमाज मन्दिर, कीर्ति नगर मे निश्शुल्क नेत्र शिविर होगा। २१ फरवरी को प्रातः चिकित्सक आंखों की जांच करेंगे और २२ को प्रातः ९ बजे से मोतियाबन्द, कुकरे, परवाल आदि के आपरेशन किए जाएंगे। शिविर में रोगियों के खानपान का प्रबन्ध आर्यसमाज की ओर से होगा। आपरेशन के इच्छुक अपने बिस्तर तथा बर्तनों के साथ २२ फरवरी को ९ बजे आर्यसमाज मन्दिर पहुंच जाएं।

## हिसार में सत्यार्थप्रकाश शताब्दी समारोह

आर्य प्रतिनिधि सभा हरियाणा के तत्वावधान में प्रान्तीय सत्यार्थ प्रकाश शताब्दी समारोह २७ से २९ मार्च तक हिसार नगर मे मनाया जाएगा। समारोह से सम्बन्धित चतुर्वेद महायज्ञ रविवार ८ मार्च से प्रारम्भ होगा। यज्ञ के लिए गुरुकुल आर्यनगर के सचालक स्वामी देवानन्द सरस्वती ने ५ हजार रुपये और ५ मन घी प्रदान किया है। समारोह समिति के अध्यक्ष दयानन्द कालेज, हिसार मे प्राचार्य नारायणदास ग्रोवर संयोजक मनोनीत किए गए।

## आर्यसमाज के निर्वाचन

आर्यसमाज मन्दसौर (म० प्र०) अध्यक्ष—कृपाशकर शर्मा, उपाध्यक्ष—अम्बालाल अग्रवाल और मागीलाल बसेर, मन्त्री—मधुसूदन मधु, उपमन्त्री—ईश्वर सिंह, गगाधर शर्मा, कोषाध्यक्ष—नरेन्द्र सिंह, पुस्तकाध्यक्ष—रामावतार शर्मा, प्रचार मन्त्री—सुभाषचन्द्र भाना व श्याम सोनी, सभा प्रतिनिधि—वरदीचन्द्र बसेर और बंसीलाल।

आर्य युवक परिषद दिल्ली (रजि०) प्रधान—देवव्रत धर्मेन्दु, उपप्रधान—नवनीतलाल एडवोकेट व किशनलाल, प्रधानमन्त्री—प्रो० ओमप्रकाश गुप्त, उपमन्त्री मूलचन्द गुप्त एवं वी० पी० सिंगल, परीक्षा मन्त्री—चमनलाल, प्रचार मन्त्री—कमल किशोर आर्य, कोषाध्यक्ष—हरिश्चन्द्र।

१९८१ वर्ष के लिए आर्यसमाज रोहतास नगर, शिवाजी पार्क, दिल्ली-३२ के नये पदाधिकारी—प्रधान—रामलाल शास्त्री; मन्त्री जयपाल भण्डारी, कोषाध्यक्ष—ओमप्रकाश रहेजा, पुस्तकाध्यक्ष बलवान सिंह शर्मा।

□

पृष्ठ ६ का शेष

नाम पर रूस, पोलैंड के ट्रैक्टरो की बिक्री के लिए बैंकों को लगा दिया गया। देशी पौष्टिक गेहू के स्थान पर बौना गेहू बोया गया। कम्पोस्ट को छोड़कर कर्ज लेकर फर्टिलाइजर के कारखाने लगाए गए। ये भारी घाटा दे रहे हैं। ६०० करोड़ वार्षिक खर्च कर कीमतो को बढ़ने से रोकना सम्भव नही रहा। रूस-पोलैंड का अनुभव है—सबसिडी (आर्थिक-सहायता) उत्पादन नहीं बढ़ाती।

सेकुलर का अर्थ क्या है। श्री ज्योतिबसु मानते हैं कि व्यवहार में कोई भी सेकुलर नहीं। कम्युनिस्ट मुख्यमंत्री यह नहीं जानता कि सेकुलर लौकिक, ऐहिक अर्थ आचार्य बिनोवा का दिया हुआ है।) भूमि-भक्ति के बिना सम्भव नहीं। भूमि भक्ति नष्ट कर राष्ट्रवाद को कुचल कर मजहब और पंथ की शब्दावली में व्यक्ति न जाना जायेगा तो और कैसे माना जायेगा।

कश्मीर आज तक भारत का अन्य रियासतोंके समान एक अंग नहीं बना। इसकी भारत संविधान मे भाषा कश्मीरी लिखी है, किन्तु इसका शासन उर्दू में होता है, क्योंकि कश्मीर मुस्लिम बहुल है। शेख इसको आदर्श सेक्युलर राज्य कहता है।

साहित्य एकादमी का पुरस्कार मिलने पर इसके कवि ने कहा—मैं चाहता तो था अपनी मातृभूमि और मातृ भाषा में बोलना, पर मेरी भाषा संविधान को मान्य नही है। राज मान्य नही। इस वास्ते अंग्रेजी में बोलूंगा। अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय ई प्रोफेसर जवाहर टनल के पार होने के बाद जब नाम पद केवल उर्दू मे देखता तो खुशी से उछल उठता है। कश्मीरी पण्डित देखता है तो कहता है कश्मीर की कोई अपनी लिपि नही कितना भारी अज्ञान है। कश्मीरी की लिपि है, शारदा नागरी से कुछ अन्तर है। गुरुमुखी उसी की अनुवृत्ति है।

इतिहास सदन,
ए-२३६, पंडारा रोड,
नई दिल्ली-११०००३

चिट्ठी-पत्री

## 'ऋषि' शब्दका व्युत्पत्तिपरक अर्थ

डी ८१७ महानगर, लखनऊ-६ से श्री वीरेन्द्र शास्त्री लिखते हैं—'१८ जनवरी, १९८१ के 'वेदमनन' स्तम्भ के अन्तर्गत मन्त्र व्याख्या में छपा है—'ऋषि कहता है'...'इस मन्त्र का ऋषि दो संकेत करता है'—ये दोनों वाक्य पाठकों में यह भ्रम पैदा करेंगे कि मन्त्र का बनाने वाला ऋषि है। अतः ऐसी भ्रामक भाषा लिखी ही क्यों जाए? कृपया भविष्य में सुधार करें।'

उक्त पत्र के सम्बन्ध में 'वेदमनन' स्तम्भ के लेखक श्री मनोहर विद्यालंकार १५२२, ईश्वर भवन, खारी बावड़ी, दिल्ली-६ लिखते हैं—

१. मैं ऋषियों को मन्त्र का कर्त्ता मान कर द्रष्टा और वास्तव में दर्शयिता मानता हूं। वेदमन्त्रों का कर्त्ता तो परमेश्वर ही है।

२. १८.१०८. के मन्त्रार्थ में—ऋषि कहता है स्थान में भ्रम को बचाने के लिए परमात्मा कहता है लिखना अत्यधिक अच्छा रहता। जैसे देवता एक है (परमेश्वर) और देवता भी उसी भिन्न-भिन्न शक्तियों का प्रदर्शन करने कारण ही देवता कहलाते हैं। उसी प्रकार ऋषि एक है (परमेश्वर) और सब ऋषि उसके विशेष-विशेष गुणों को अपने अन्दर आचरण में लाने ऋषि कहलाते हैं।

जैसे, भविष्य में ऐसी भाषा का प्रयोग किया जाएगा, जिससे विद्वानों को भ्रम न हो।

'ऋषि दो संकेत करता है'—से मेरा अभिप्राय यह है कि ऋषि शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ ऋषि शब्द का अर्थ या ऋषि शब्द भी संकेत करता है।'—



दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के लिए श्री सरदारी लाल वर्मा द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा भाटिया प्रैस ७२७/१-बी, गुरुनानक गली, गांधीनगर दिल्ली-३१ में मुद्रित। कार्यालय १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली फोन नं० ३१०१५०

रजि० डी (सी) ७५६

ओ३म्
कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

# आर्य सन्देश

एक प्रति ३५ पैसे, वार्षिक १५ रुपये वर्ष ४ : अंक १८ रविवार १ मार्च १९८१ दयानन्दाब्द १५६

दिल्ली आर्यप्रतिनिधि सभा का मुखपत्र

## प्रभु की कृपा और रक्षा प्राप्त हो

ओ३म् सह नाववतु सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीमस्तु। मा विद्विषावहै॥

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः तैत्तरीय आरण्यक, नवम प्रपाठके, प्रथमानुवाके

हे सर्वशक्तिमन् ईश्वर, आपकी कृपा, रक्षा और सहाय से हम लोग परस्पर एक दूसरे की रक्षा करें और हम सब लोग परम-प्रीति से मिल कर सबसे उत्तम ऐश्वर्य अर्थात् चक्रवर्ती राज्य आदि सामग्री से आपके अनुग्रह से सदा आनन्द को भोगें।

हे कृपानिधे, आपके सहाय से हम लोग एक दूसरे के सामर्थ्य को पुरुषार्थ से सदा बढ़ाते रहें और हे प्रकाशमय, सब विद्या देने वाले परमेश्वर, आपके सामर्थ्य से ही हम लोगों का पढ़ा और पढ़ाया सब संसार में प्रकाश को प्राप्त हो और हमारी विद्या सदा बढ़ती रहे, हे प्रीति के उत्पादक, आप ऐसी कृपा कीजिए कि जिससे हम लोग परस्पर कभी विरोध न करें, किन्तु एक-दूसरे के मित्र होकर सदा व्यवहार करें।

हे भगवन्, आपकी करुणा से हम लोगों के तीन ताप—एक 'आध्यात्मिक' जो कि ज्वरादि रोगों से शरीर में पीड़ा होती है, दूसरा 'आधिभौतिक' जो दूसरे प्राणियों में होता है और तीसरा 'आधिदैविक' जो कि मन और इन्द्रियों के विकार, अशुद्धि और चंचलता से क्लेश होता है, इन तीनों तापों को आप शान्त अर्थात् निवारण कर दीजिए।

—महर्षि दयानन्द सरस्वती

## विद्यार्थियों के लिए आचार्य का सत्परामर्श

सत्यार्थप्रकाश के तीसरे समुल्लास मे आर्यसमाज के श्रेष्ठतम आचार्य महर्षि दयानन्द ने यथोचित ज्ञान-विज्ञान, वेदादिशास्त्रो का अध्ययन और आचार शिक्षा प्राप्त करने के बाद विद्यार्थियों के लिए तैतिरीय उपनिषद् से दीक्षान्त सस्कार के लिए विदाई के समय का एक सुन्दर उपदेश प्रस्तुत किया था। जीवन-संग्राम में प्रवेश करने वाले भारतीय विद्यार्थियों के लिए वह उपदेश आज भी उपादेय है—

सत्यं वद। धर्मंचर स्वाध्यायान्मा प्रमद। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्या न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माक सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।

ये के चास्मच्छ्रेया सो ब्राह्मणासनेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। य तत्र

(शेष पृष्ठ १६ पर)

सम्पादक—नरेन्द्र विद्यावाचस्पति

# बोधरात्रि का सन्देश

## सत्यज्ञान का मूलमन्त्र समझकर जनकल्याण कार्यों में जुट जाइए

महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन में सम्वत् १८९५ (?) की शिवरात्रि का दिन एक महत्त्वपूर्ण दिन है। इसी दिन महर्षि की अन्तलीन सत्यान्वेषिणी चेतना ने एक नया मोड लिया था। १४ वर्ष के बालक मूलशकर ने श्रद्धानिष्ठ होकर पिता द्वारा बनाई हुई विधि का पूर्णतया पालन किया। जब अन्य परम्पराप्रेमी श्रद्धालु प्रौढजन अपने संकल्प को जाग्रत न रख सके और एक-एक करके निद्रा देवी के गोद मे चलते चले गए, वही बालक मूलशकर अपनी आंखो मे पानी के छींटें दे-देकर अपने जागरण व्रत का पूर्णतया पालन करता हुआ अपनी अपार श्रद्धा का परिचय दे रहा था, परन्तु वह श्रद्धा तब कुण्ठित होगई जब छोटे से मूषक को स्वच्छन्द वृत्ति से उछल-कूद करके शिवजी की मूर्ति पर रखे नैवेद्य खाते हुए उन्होंने देखा। 'मेधा' ने बल पकड़ा और सच्चे शिव को जानने की तीव्र अभिलाषा का उदय हुआ। तदनन्तर अपनी प्रिय बहन तथा पूज्य चाचा के आकस्मिक निधन ने उस जलती हुई आग मे घी का काम किया। परिणामत: रोग, जरा, मृत्यु की घटनाओ से उद्वेलित-चित्त सिद्धार्थ गौतम की भांति बालक मूलशंकर ने सच्चे शिव की प्राप्ति तथा मृत्युञ्जय बनने के उद्देश्य से महाभिनिष्क्रमण का निश्चय किया।

### श्रद्धा और मेधा का समन्वय

श्रद्धा और मेधा का समन्वय विपरीत परिस्थितियो मे भी नवयुग का निर्माण करने वाले कृतसंकल्प मेधावी महापुरुषों का प्रधान लक्षण है। वे प्रत्येक बात को श्रद्धा से स्वीकार करते हैं, और उसे मेधा से तौलते हुए सत्य की ओर उन्मुख होते हैं। गौतम बुद्ध आराडकालाम आदि अनेक प्रसिद्ध आचार्यों के आश्रमों में श्रद्धापूर्वक प्रविष्ट हुए और उनके सिद्धांतों व अनुष्ठानों को अपनी मेधा से परखते हुए अन्त में सत्योन्मेष के पात्र बने। ठीक इसी प्रकार बालक मूलशंकर ने श्रद्धानिष्ठ हुए हुए भी अपनी मेधा शक्ति को—सत्यासत्य के विवेक को कभी कुंठित नहीं होने दिया। सत्य को ग्रहण करने तथा असत्य के त्यागने की वृत्ति को धारण करते हुए उन्होंने कठोर तपस्या एवं एकाग्रनिष्ठ चिन्तन के उपरान्त सच्चे शिव के स्वरूप को तथा मृत्युञ्जय बनने के उपाय को खोज निकाला। सम्वत् १८९५ में हृदयस्थली में बोया हुआ बीज ३१ वर्षों की कठोर तपस्या के बाद पल्लवित और कुसुमित होकर समस्त देश को अपनी सुगन्ध से सुवासित कर गया। जिसमे सारे देश मे एक नई क्रान्ति का जन्म हुआ और एक नये युग का सूत्रपात हुआ।

### सत्यज्ञान का मूलमन्त्र

आवश्यकता है इस बात की कि हम इस बोधरात्रि के पावन पर्व पर ऋषि द्वारा उपलब्ध उस बोध के, उस सत्यज्ञान के, मूल मत्र को समझें और उसके स्वर मे स्वर मिलाकर पूर्णनिष्ठा के साथ अपने जीवन का तदनुसार निर्माण करते हुए जनकल्याण के कार्यों मे जुट जावें।

महर्षि के उस बोध का प्रथम मूल मत्र है—'अन्ध-श्रद्धालु बन कर मूर्ति पूजा करना छोड दो। यह मूर्तिपूजा किसी सुन्दर पाषाण मे उत्कीर्ण ब्रह्मा-विष्णु-महेश आदि की कल्पित प्रतिमा बनाकर उसकी पूजा करना मात्र ही नही, प्रत्युत प्रत्येक ग्रथ, परम्परा, रूढ़ि या कर्मकाड के आन्तरिक भाव को बिना मेधा-बुद्धि की तुला पर तौले, उसके बाह्य रूप पर टिके रहना भी मूर्तिपूजा ही है। उसे भी त्याग दो। प्रत्येक ग्रन्थ, विचार, परम्परा या कर्मकांड को सत्य की तुला पर तौलो और उसमे जो सत्य अश दिखाई दे उसे ग्रहण करो और जो असत्य है उसे छोड़ दो। अपने आपको किसी पूर्वाग्रह या मिथ्याग्रह से ग्रस्त मत करो। जीवन की सिद्धि सत्यनिष्ठ होने में है, केवल परम्पराओ या समारोहों में नहीं। वे अनृत है, अस्थायी हैं, समय के परिवेश में परिवर्तित हो जाने वाले हैं। 'सत्यमेव जयते नानृतम्' यह श्रुतिवचन इसी तथ्य को इंगित करता है। 'बैक टु द वेदाज' का सन्देश देने पर भी महर्षि दयानन्द सरस्वती कालिदास के इस वचन का समर्थन करते हैं—

> 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं,
> न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम्।
> सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते,
> मूढः पर प्रत्ययनेय बुद्धिः ॥'

महर्षि दयानन्द का दूसरा मूलमत्र है—पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्ण मुदच्यते।' अर्थात् न केवल ब्रह्म ही सत्य है और न केवल प्रकृति ही। प्रत्युत ये दोनों ही सत्य एवं पूर्ण हैं। उस पूर्ण ब्रह्म से उत्पन्न प्रकृति भी पूर्ण है, मिथ्या या असत्य नहीं। अत: जीवधारी मानव को 'ऋतावान्:' 'ऋतावृधः' बनकर इन दोनों के ज्ञान तथा तज्जन्य लाभ को प्राप्त करने का प्रयत्न करना होगा। तभी जीवन की सफलता है। केवल योग या ज्ञानमार्ग द्वारा ही शिव की प्राप्ति या भगवान के दर्शन-नहीं होते। करुणा-द्रवित होकर कर्म योग द्वारा समाज का कल्याण करना, उसमें सत्य और न्याय प्रतिष्ठित करके उसे 'सत्यं शिवं सुन्दरं' बनाना भी शिव की उपासना का एक प्रकार है। यह भी शिव की प्राप्ति का एक सुन्दर सोपान है। 'सर्वभूतहिते रति' या 'सर्वलोक-व्यवस्थिति' से शून्य ईश्वरभक्ति सच्ची शिवपूजा नहीं।

**धर्मदेव वेदवाचस्पति**

इसी कारण ससार के प्राणियों की सर्वथा उपेक्षा करके केवल आत्मलाभ के लिए किसी पर्वत कन्दरा के अन्दर सतत ब्रह्मलीन रहने की अपेक्षा ऋषि ने ईश्वर को साक्षी रखकर 'जनमानस मे सत्य और न्याय को प्रतिष्ठित करने के लिए और उसके निमित्त अपने जीवन की भी बलि देना स्वीकार किया।

### सच्ची शिव पूजा

ऋषि की दृष्टि में आजकल के भौतिक विज्ञान के उत्कर्ष के युग में भोग तृष्णा में सलिप्त तथा असत्य एवं अन्याय से पीड़ित समाज को उससे मुक्त करना सच्ची शिव पूजा है। वैसे तो जातस्य ध्रुवो मृत्यु:' इसध्रुव सत्य के अनुसार सभी को एक न एक दिन शरीरत्याग कर मृत्यु की गोद मे जाना है। और उस कार्य के लिए 'चाहे कितना दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी चले जाएं, परन्तु अपने इस मनुष्य धर्म से पृथक् न होना' ही मृत्युञ्जय पद को प्राप्त करने को अचूक औषध है'। यही उनके बोध का तीसरा मूल मंत्र है।

यदि हम इस बोधरात्रि के दिन ऋषि के उस संदेश को जो उन्होंने कठोर साधना के उपरांत प्राप्त बोध के अनन्तर हमें दिया और उसके पूर्वोक्त दो-तीन मूल मंत्रों के स्वर को समझ कर अपने देश के धार्मिक, सामाजिक व राजनीतिक क्षेत्र मे व्याप्त असत्य व अन्याय को दूर-करके सत्य और न्याय को प्रतिष्ठित करने के लिए अपनी-अपनी शक्ति के अनुरूप सेवा का योगदान कर सकें तभी इस बोधरात्रि को मनाने की सार्थकता है, परन्तु इसके लिये हमे स्वयं सत्यनिष्ठ तथा जाति, धर्म, वर्ण, आदि के भेदभाव सेमुक्त होकर 'सर्वे भवन्तु सुखिन:' की भावना से लोकहितकारी कार्यक्रम बनाने होंगे। केवल संस्थाओ के सचालन या वार्षिकोत्सव मनाने से ऋषि के मिशन की पूर्ति सम्भव नहीं। सत्य और अहिंसा (मानवमात्र के प्रति हित बुद्धि) समाज सेवा क एवं मानव समाज मे सच्चे शिव की पूजा के दो आधार-स्तम्भ है। इसी कारण पांच यमो में इन दो को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। प्रभु हमें शक्ति दें कि हम ऋषि के सन्देश को हृदयंगम करते हुए उनके बनाये मार्ग पर आगे बढ़ सकें।

# आधुनिक भारत के निर्माता ऋषि दयानन्द

महर्षि दयानन्द सरस्वती भारत के आधुनिक तत्ववेत्ता, सुधारक तथा श्रेष्ठ पुरुष ही नहीं थे, प्रत्युत वह आधुनिक भारत के कुछ प्रमुख राष्ट्र निर्माताओं में अन्यतम थे। महर्षि की असंख्य देन हैं मानवता और विश्व को परंतु उनकी तीन ऐसी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियां कही जा सकती है जिन्हें भुलाया नहीं जा सकता। उन्नीसवीं शताब्दी में देश के शिक्षितवर्ग में नास्तिकता पनप रही थी और सामान्य जनता अन्ध विश्वास और रूढ़ियों से ग्रस्त थी। उन्होंने आचार और धार्मिक पुनरुत्थान के के आधार पर नए भारत की नींव सुदृढ़ की। उन्होंने घोषित किया कि वेदों तथा प्राचीन भारतीय चिंतन में विज्ञानसम्मत एवं नैतिक धार्मिक सत्य निहित है। उन्होंने वेदो तथा प्राचीन तत्त्वज्ञान की ऐसी बुद्धिसंगत व्याख्या की कि कड़े से कड़ा बुद्धिवादी भी उससे सहमत हो गया। इसी के साथ उन्होंने ऐसे शुद्ध ईश्वरवाद की प्रतिष्ठा की जिससे पश्चिमी विचारक और चिंतक भी सहमत थे। प्राचीन धर्मग्रन्थों और तत्त्वज्ञान में से उन्होंने ऐसे मोती प्रस्तुत किए, जिन्हें देशवासियों ने पूरे विश्वास और आस्था के साथ ग्रहण किया, फलतः पश्चिमी एवं प्रतिस्पर्द्धी सम्प्रदायवादियों के आक्रमण पस्त हो गए, हताश भारतीय मानस भारतीय तत्त्वज्ञान की ज्योति से एक नई प्रेरणा प्राप्त कर नैतिक एवं वैचारिक दृष्टि से स्वावलम्बी और शक्तिसम्पन्न होने लगा। ऋषि की यह वैचारिक देन उनकी पहली उपलब्धि थी।

महर्षि गुजरात में जन्मे थे। घर से वह सच्चे शिव की खोज में सत्यज्ञान की प्राप्ति के लिए पन्द्रह वर्ष तक वनों-पर्वतों-एवं विभिन्न प्रदेशो मे पर्यटन करते रहे थे। १८६० से १८६३ तक गुरु विरजानन्द के चरणों मे बैठने के बाद वह १८६४ से १८८३ तक निरन्तर बीस वर्ष तक भगवान पर विश्वास कर एकाकी साधक की तरह नवीन आर्यावर्त्त की प्रतिष्ठा के लिए देश भर मे घूमे। आगरा, ग्वालियर, जयपुर, काशी, अजमेर, बम्बई, पूना, कलकत्ता, पटना, जोधपुर आदि नगरो में ही नही, देश में अनेक जनपदो और नगरो मे उन्होने सत्यार्थ प्रकाश और आर्य सिद्धान्तों की अलख जगाई। ससार के अन्य महापुरुषो की भाँति उन्होने शारीरिक यातनाएं सही, विरोधियो-प्रतिस्पर्द्धियों के अत्याचारों और विरोधो का सामना किया। पूरे विश्वास और साहस के साथ उन्होंने देश मे व्याप्त कुरीतियो, अज्ञान, विषमता और अन्याय का सामना किया। इसी समय में उन्होंने बम्बई में पहली आर्यसमाज की स्थापना की। इसी के साथ उन्होने सत्यार्थप्रकाश एवं वेदों के भाष्य आदि प्रस्तुत कर हिन्दी के माध्यम से जनता से सीधा सम्पर्क स्थापित किया। उन्होने किसी सस्था, किसी मठ-मंदिर की गद्दी नही सम्भाली, न वह अपने नवीन जन-आन्दोलनों के डिक्टेटर या सर्वेसर्वा बने। वह तो अपने को समाज का एक सामान्य सदस्य कहते थे, इसके बावजूद केवल अपने व्यक्तिगत प्रयत्नों से उन्होने देश में एक अभूतपूर्व सामाजिक एवं धार्मिक क्रान्ति कर दी। शकराचार्य के बाद पदयात्रा के माध्यम से अपूर्व धार्मिक क्रान्ति करने वाले वह दूसरे भारतीय थे। महर्षि की यह धार्मिक क्रांति उनकी दूसरी बड़ी उपलब्धि थी।

आर्यसमाज के माध्यम से देश और विदेशों में शिक्षा,समाज-सुधार, दलितोद्धार, स्त्रीशिक्षा, नवीन गुरुकुल शिक्षा प्रणाली, गोरक्षा, हिन्दी प्रचार आदि नानाविध क्षेत्रों में जो कार्य हुआ है, उसे प्रत्येक राष्ट्रवादी स्वीकार करता है, इन कार्यों की महत्ता है और इन कार्यों को सम्पन्न कर आर्यसमाज की गरिमा बढ़ी है, परन्तु महर्षि की सबसे बड़ी उपलब्धि उनकी मानवता को उनकी वह वैचारिक देन थी जो उन्होंने आर्यसमाज के नियमों, सामाजिक व्यवस्था और शिक्षा के क्षेत्र में नई दृष्टि देकर प्रस्तुत की है। आर्यसमाज के नियम मानवता के लिए सदा मील-स्तम्भ का कार्य करेंगे। ऋषि न स्वयं समाज के सूत्रपात बने, न उन्होने अपना कोई उत्तराधिकारी नियुक्त किया, प्रत्युत उन्होंने आर्यसमाज के नियमों के द्वारा एक नई जीवन दृष्टि दी। ऋषि ने सीख दी—'विद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए, दूसरे इस समाज का मुख्य उद्देश्य संसार की शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना है। तीसरे सब अपनी उन्नति से सन्तुष्ट न रहें, प्रत्युत सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझें, साथ ही मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें। ऋषि ने अपने जीवनकाल के लिए तथा बाद के लिए इन नियमों को ही समाज और राष्ट्र का पथ-प्रदर्शक नियुक्त किया था। दूसरे धर्मों और सम्प्रदायों के पैगम्बर और उनकी पूरी धार्मिक परम्परा और उत्तराधिकारी हैं, परन्तु महर्षि ने अलग आप की उन्नति, सबकी एवं संसार भर की उन्नति और अविद्या के नाश के कार्य को ही प्राथमिकता दी थी, यह महर्षि की तीसरी बड़ी उपलब्धि थी। ऋषि १८४६ से १८६० तक पन्द्रह वर्ष ज्ञान की खोज में देश भर में भटके थे और गुरु विरजानन्द जी के सान्निध्य में सच्ची शिक्षा ग्रहण कर उन्होंने राष्ट्र को सत्यप्रकाश के माध्यम से सच्ची गुरुदक्षिणा दी थी। ऋषि बोध के पर्व पर हमें महर्षि की तीनों उपलब्धियों का स्मरण करते हुए ऋषि के आदेशों को कार्यान्वित करना चाहिए। □

## क्या हम सीख लेंगे ?

बौद्धधर्म का प्रादुर्भाव छठी सदी ईस्वी पूर्व में हुआ था। इतिहास साक्षी है कि म. बुद्ध के अपने जीवनकाल में उनके धर्मप्रचार का क्षेत्र बना—मगध,श्रावस्ती, काशी आदि पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार का मर्यादित छोटा-सा क्षेत्र। इसी के साथ दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि म. बुद्ध द्वारा प्रतिपादित बौद्ध धर्म के विचार एवं सिद्धांत यद्यपि उनके समय में व्यवस्थित रूप से लेखबद्ध नहीं हो सके थे, तथापि सम्राट् अशोक के समय तक बौद्धधर्म का वैचारिक क्षेत्र एशिया के व्यापक क्षेत्रों में प्रचारित और प्रसारित हो चुका था। इतना ही नहीं, इन कुछ शताब्दियों में ही बौद्ध धर्म के सूत्र और म. बुद्ध के विचार प्रामाणिक ग्रन्थों के रूप में अंगीकार कर लिए गए थे। एक सीमित सम्प्रदाय के स्थान पर बौद्ध धर्म एक सार्वभौम विश्वव्यापी धर्म के रूप में कैसे फैला, इसके बारे में तीन कारण कहे जाते है। पहला कारण तो म. बुद्ध द्वारा अपने शिष्यों से किया वह अनुरोध था जब सारनाथ में धर्मचक्र प्रवर्त्तन करते हुए उन्होने अपने शिष्यों से कहा था, वे सब शिष्य एव भिक्षु बहुजनहिताय, बहुजन सुखाय लोकदया के लिए विचरण करें। शिष्यो से उनकी दूसरी सीख यह थी कि प्रत्येक भिक्षु स्वयं दिया बने। वह अकेले ही धर्मप्रचार के लिए जाए। बौद्ध भिक्षुओं ने अपने गुरु के उपदेश को शिरोधार्य किया और हजारों भिक्षु देश देशान्तरों में पहुंचे। 'सद्धर्म संग्राम' नामक ग्रन्थ मे उन सहस्रो बौद्ध-भिक्षुओं और भिक्षुणियों का विवरण है, जिन्होंने म. बुद्ध के समय से लेकर १३वीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म का प्रचार किया था।

बौद्ध धर्म के सिद्धांतों एवं म. बुद्ध के प्रवचनों एवं शिक्षाओं को लिपिबद्ध करने तथा बौद्ध धर्म को व्यापक रूप देने में कुछ धर्मप्राण बौद्ध विद्वानों एव बौद्ध-धर्म की तीन सगीतियो या महासभाओं का बड़ा योगदान है। बौद्धधर्म के प्रसार का यह दूसरा कारण कहा जा सकता है। इस धर्म को सार्वभौम विश्व धर्म बनाने मे तीसरा बड़ा कारण सम्राट् अशोक का भी बड़ा योगदान है जिन्होने कलिंग-युद्ध के बाद बौद्धधर्म अगीकार किया था और उसे द्वीप-द्वीपातर ओर देश-देशातर में फैलाने मे अपनी पूरी शक्ति और प्रयत्न लगा दिए थे। म. बुद्ध की शिक्षाओ और उनके विचारो के विश्व में प्रसार की कहानी की तुलना जब हम आर्यसमाज के प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द एव आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार से करते हैं तो दो तथ्य उल्लेखनीय है। पहला यह कि पजाब को पंचनदियों से कन्याकुमारी तक तथा सोमनाथ से गगासागर तक सारे देश में महर्षि स्वय घूमे और उन्होने स्वत. आर्य वैदिक धर्म की शिक्षाओं का व्यापक प्रसार किया। दूसरा उल्लेखनीय तथ्य यह है कि जहाँ म. बुद्ध ने अपनी शिक्षाओं और धर्म प्रसार के लिए स्वतः एक लेख भी नहीं लिखा, और उनके बाद के शिष्यो और धर्म सभाओं एवं विद्वानो ने यह कार्य किया, वहाँ ऋषि दयानन्द ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका स्वतः प्रस्तुत की। उन्होंने न केवल सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका आदि ऐसे नानाविध ग्रंथ एवं आर्यसमाज के नियम आदि ऐसे पथ-प्रदर्शक सूत्र दे दिए हैं, प्रत्युत उन्होंने अपने ही समय मे परोपकारिणी सभा और आर्यसमाज जैसी सस्थाओ के निर्माण से एक सार्वभौम विश्वधर्म की भूमिका प्रस्तुत कर दी थी।

यह ठीक है कि पिछले सौ-सवा सौ वर्षों में आर्यसमाज और ऋषि दयानन्द का सन्देश इस देश में ही नहीं, देश-देशातर और द्वीप-द्वीपान्तर मे फैला है, पर यह भी एक कटु तथ्य है कि यदि अपने को आर्यजन कहने वाले आर्यप्रचारक ऋषि के सिद्धांतो एवं ऋषि प्रणीत सत्यार्थ प्रकाश को बहुजनहिताय, बहुजन सुखाय और लोककल्याण के लिए फैलाते तो आज से आर्यसमाज का सौ गुना अधिक प्रचार-प्रसार होता। इसी के साथ महर्षि के पार्थिव शरीर के प्रयाण के बाद यदि विश्व भर के प्रमुख आर्यविद्वान एवं आर्य प्रतिनिधि बौद्ध महासभाओ या सगतियों की तरह एकत्र होकर विवाद ग्रस्त विषयो पर नीति निर्धारण कर विश्व एव भारत देश में आर्य धर्म के प्रचार-प्रसार के लिये व्यवस्थित पंचवर्षीय, दशवर्षीय योजना बनाते तो बहुत कुछ किया जा सकता था। म. बुद्ध के व्यक्तित्व के तिरोहित हो जाने के बाद बौद्ध सभाएं बौद्ध धर्म के प्रसार के लिये प्रचार-प्रचार एवं यातायात की सुविधा न होने के बावजूद बहुत कुछ कर गईं तो आज नवीनतम साधनो एवं यातायात की सुविधाओं का लाभ उठाकर विश्व के आर्य विद्वान एवं प्रतिनिधि सभाएं योजना-बद्ध कार्यक्रम के माध्यम से बहुत कुछ कर सकती हैं? पर प्रश्न यह है कि ऋषिबोधोत्सव के पर्व पर ऋषि बोध के डेढ़ सौ वर्ष व्यतीत होने पर भी क्या हम बौद्ध इतिहास से कोई सीख ले सकेंगे? □

# महर्षि दयानन्द : एक अनहोना व्यक्तित्व

अनन्त अज्ञात गगनों से कई ग्रह, नक्षत्र और उनके खण्डपिण्ड निर्दिष्ट यात्रा-पथ से भटक जाने के कारण कभी हमारी धरती पर भी आ गिरते हैं। अपनी अकल्पनीय लम्बी यात्रा में गिरते घिसते-पिटते वे धरती का स्पर्श होने तक अपनी विपुल काया का अधिकांश और ज्वाला तथा प्रकाश का प्रायः सर्वांश गवा चुके होते हैं। पाय: गिरने के समय उनका कुछ भाग पृथ्वी की छाती को दरका कर उसमें प्रविष्ट भी हो जाता है। इस प्रकार के उपपात की सूचना होते ही विश्व के कोने-कोने के विशेषज्ञ जिज्ञासाहेतु उनके समीप आना आरम्भ कर देते हैं।

महर्षि दयान्द के साथ भी ऐसा ही हुआ था। इस धरा पर भारत भूमि मे वह अपने सम्पूर्ण तेज, प्रकाश और गुरुता के साथ अवतरित हुए एक अनोखे अदृष्टपूर्व नक्षत्र थे, जिनके आगमन से धरती की छाती न तो दरकी-धरकी थी और न ही वह जो भर धसकी थी अपितु सौ गज ऊंची हुमस उठी थी।

**ब्रह्मतेज की वह ज्योति**

स्वामी जी को विधाता ने ऊंचा कद गौर वर्ण तथा बहुत ही सुघर प्रपुष्ट काया प्रदान की थी। विपुल योगाभ्यास, अखण्ड ब्रह्मचर्य, कठोर

## जिन्हें सत्य की वेदी पर शहीद हो जाना पड़ा

श्रम-साधना, व्यापक पर्यटन और सत्संग तथा अगाध पाण्डित्य की गरिमा से मण्डित वह आकाश से सद्यः अवतरित एक देवपुरुष प्रतीत हुए थे। सन् १८८३ ई० के मई महीने में स्वामी जी राजस्थान के शाहपुर दरबार से, जोधपुर नरेश महाराज श्री जसवंत सिंह के निमन्त्रण पर जोधपुर जा रहे थे। वह नगर जब तीन कोस दूर रह गया था, वह सवारी छोड़कर प्रातः कालीन वायु का आनन्द लेते पैदल नगर की ओर चले जा रहे थे। उनके स्वागत मे राजन्य वर्ग के कई लोग दूर जाकर पहले से खड़े थे। नगर में कोठी पर कर्नल प्रतापसिंह तथा रावराजा तेजसिंह अनेक भृत्यो सहित उनके आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे। रावराजा के ही शब्दों में स्वामी जी की उस काल की छवि का निम्नांकित निरूपण सर्वथा वन्दनीय है—

"हमने देखा कि कुछ दूर काषाय वस्त्रधारी, हाथ में दण्ड धारण किए, एकविशाल काय सन्यासी गम्भीर गति से चले आ रहे हैं। उनका ललाट उन्नत था, वर्ण और मुखमंडल से तेज टपकता था। प्रातः कालीन सूर्य की भाँति उनकी छवि अवर्णनीय थी। उनकी माँसपेशियाँ सुगठित थीं, होठों पर मृदु हास था। हम इस भव्य छवि को देखकर स्तम्भित हो गए। सहसा हमारे मुख से महर्षि विश्वामित्र के ये शब्द मुखरित हो उठे—धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्! इस ब्रह्म तेज के समक्ष क्षत्रियों की शक्ति तुच्छ एवं नगण्य है।"

**असामान्य प्रतिपत्ति**

स्वामी जी की वाणी मे वशीकरण की अपरिमित मोहिनी थी। उसमे धार और भार की प्रचुरता समान थी उनके गुरु ने दीक्षान्त के अवसर पर आशीर्वचन में उन्हें 'कुलकर' और "कालजिह्व" का प्रमाणपत्र दिया था। कुलंकर अर्थात् वह अडिग खूंटा जिसे कोई भी उखाड़ न सके। कालजिह्व वह जिसकी जीभ डँसते ही काल के गाल मे पहुंचा देने की शक्ति रखती हो। इसी आशीर्वाद का प्रभाव था कि स्वामी जी ने जिन सिद्धांतों की स्थापना कर दी, उन्हें काटने वाला आज तक कोई माई का लाल पैदा नहीं हुआ। इधर कतिपय प्रबुद्ध जन स्वामी जी के सिद्धांतो के साथ मार्क्स और एञ्जिल तथा लेनिन के साम्यवादी सिद्धान्तों का ताल-मेल बिठाने का प्रयास कर रहे हैं। मार्क्सवादी सिद्धांत भौतिक क्षेत्र मे अवश्य एक सीमा तक महर्षि दयानन्द के आध्यमिक साम्यवाद के दिशा बोध के निकट हैं। किन्तु मार्क्सवाद को स्वामी जी के साम्यवाद की ऊंचाई तक पहुंचने मे अनेक प्रयोग करने पड़ सकते हैं। किन्तु प्रयास तो जारी रहने ही चाहिये। किसी ने कहा भी है कि—

> प्रभु सन लागि रहो मोरे भाई।
> तोरी बनति-बनति बनि जाई॥

तथापि जिज्ञासु जन को इस सम्बन्ध में स्वामी सहजानन्द सरस्वती रचित गीता-हृदय 'ग्रन्थ का अनुशीलन कर लेना चाहिए जिसमें पूज्य स्वामी जी ने गीता धर्म और साम्यवाद का समन्वय करते हुए दोनों में एकत्व प्रमाणित किया है। और स्वामी जी के सम्मुख शास्त्रार्थ के लिए जो भी आया, परजित होकर ही लौटा। वह कालजिह्व जो थे।

**मानवधर्म की प्रतिष्ठा**

सत्य के अति प्रबल और कठोर आग्रह के कारण जब स्वामी जी ने मूर्ति-पूजा, मन्दिरों की भजन-आरती तीर्थयात्रा, अवतारों की वन्दना, जात-पांत की मर्यादा, तन्त्र-मन्त्र, ज्योतिष, पुराणों के प्रति विश्वास आदि आदि को मिथ्या कहकर सबसे इन्कार कर दिया, तब हिन्दू धर्म के मूर्तिपूजक पंडित-पुरोहितों कुण्ठाग्रस्त रूढ़िवादियो ने तिलमिला कर उन्हे कोसना आरम्भ कर दिया। उन लोगों ने उन्माद के वश होकर उनका अन्त कर देने के लिए नाना प्रकार के कुचक्रो का आयोजन किया और सन् १८८३ में विष देकर उनका जीवनान्त कर ही डाला। किन्तु केवल एक निराकार परम दैवत की उपासना और मानव धर्म की प्रतिष्ठा को ही मनुष्य का एक मात्र धर्म बता कर स्वामी जी ने विश्व के समस्त एकेश्वरवादी धर्मों के विचारवान सुधी जनों के मन अपने प्रति अपूर्व विस्मय जिज्ञासा तथा अनेक अंशों में अपनपो का भी भाव पैदा किया। फलतः पुराने धर्म ओजेयक या इसरायली या जिओनिज्म, तथा ईसाई और इस्लाम तथा अद्यतन पन्थ ब्राह्मसमाज और थियोसोफी तक के अनुयायियों को स्वामी जी के विचारों में बड़ा अपनत्व जान पड़ा और उन्हें अपना बना लेने के लिए सभी ने भरपूर प्रयत्न भी किया। यह तो सर्वविदित ही है कि लाहौर में उनके निवास के समय जब कट्टरपन्थी हिन्दुओ ने दबाव डालकर स्वामी जी को एक महाजन के बगीचे से निकाल दिया था, तब लाहौर के एक मुसलमान सज्जन ने ही उन्हें अपनी कोठी के रहने की व्यवस्था की थी।

**वह सर्वहितकारी थे**

सच तो यह है कि मुसलिम समाज स्वामी जी को उस समय ही नहीं, उनके बाद उनके जीवित रहने तक और मर जाने के बाद भी उन्हें सबका मित्र मानता रहा था। सर सैयद अहमद खां ने जो उनके समसामयिक थे स्वामी जी की मृत्यु पर अपने शोक सन्देश में कहा था कि :—"वह ऐसे विद्वान् और सत्यपुरुष थे कि सम्पूर्ण धर्मों के अनुयायियों से प्रतिष्ठा पाने के योग्य थे। उनके समान सारे भारतवर्ष में इस समय कोई नहीं मिल सकता।" देवबन्द के दारुल उलूम के संस्थापक हजरत मुहम्मद कासिम उन्हें 'रहबरे आजम' और [illegible] माननीया श्रीमती खदीजा बेगम एम० ए० के शब्दो मे, "वह भारतमाता के उन सपूतों मे हैं जिनके व्यक्तित्व पर जितना ही अभिमान किया जाए थोड़ा है। नेपोलियन और सिकन्दर जैसे अनेक सम्राट एवं विजेता संसार में हो चुके हैं, परन्तु स्वामी जी उन सबसे बढ़ कर थे। पाल रिचार्ड ने महर्षि को समग्र मानवता के उद्धारकर्ता के रूप मे देखा था। वास्तव मे पालरिचार्ड ने स्वामी जी की मृत्यु के उपरान्त उनके सम्बन्ध में दो-चार शब्दों में जो तात्विक संदेश दिया था, आर्यसमाज और स्वामी जी के सिद्धांतों को विश्वव्यापी बनाने के कार्यक्रम के लिए वह आज भी प्रेरणा प्रदायक है। उन्होने कहा था—"स्वामी दयानन्द निःसन्देह एक ऋषि थे। उन्होने महान् भूत और भविष्य को अपने में मिला दिया। वह मर कर भी अमर हैं। ऋषि का प्रादुर्भाव मानव को कारागार से मुक्त करने जातिबन्धन तोड़ने के लिए हुआ था।

लेखक :
**प्रो० राजनाथ पाण्डेय**

**सत्य की कठोर कराल धार**

यह भी एक उल्लेखनीय तथ्य है कि लाहौर हिन्दुओं के घर-बगीचे से बाहर किये जाने पर जिस मुसलमान भाई ने स्वामी जी को अपनी कोठी में सम्मान सहितलाकर रखा था, उनका नाम डाक्टर रहीम खां था। सचमुच वह रहम या रहमत करने वाले रहीम और डाक्टर थे। यह भी सर्वथा उल्लेखनीय और सतत स्मरणीय है कि आर्यसमाज की स्थापना के उद्देश्य से उसका प्रथम अधिवेशन भी इसी कोठी मे हुआ था। और दूसरा अधिवेशन समाज के स्थापन महोत्सव वाला जिस मन्दिर में हुआ था, वह सत्सभा नामक संस्था का मन्दिर था, और उस महान् अवसर पर ब्राह्मण-समाज की ही उपासना-पद्धति का 'अवलम्बन किया गया था। उन दिनों की प्रसारण और संचार व्यवस्था आज की तरह व्यापक न थी। स्वामी जी की या उनके किसी अनुयायी की ही विदेशों में कोई यात्रा भी नहीं हुई थी। स्वामी जी अंग्रेजी भाषा भी नहीं जानते थे। फिर

(शेष पृष्ठ १३)

# वैदिक क्रान्ति के अग्रदूत : महर्षि दयानन्द

## विश्वकल्याण के लिए वेदप्रचार में विशेष शक्ति लगनी चाहिए

भारत ही नहीं संसार के भाग्योदय का सूत्रपात लगभग एक शताब्दी पूर्व शिवरात्रि पर्व पर टंकारा में हुआ। महर्षि स्वामी दयानन्द के बाल हृदय मे शिव उपासना की लालसा जाग्रत हुई। उन्हें बोध हुआ। ज्ञान का अच्छा प्रकाश हुआ। साधना, अन्वेषण, तपस्या मे निरन्तर लीन होने पर प्रभु का प्रसाद, ज्ञान प्रसाद 'वेद' प्राप्त हुआ। वेद के जो गूढ एव प्रकट रहस्य पूर्वाचार्यों एवं ऋषि मुनियो को प्राप्त नही हुए, वे महर्षि दयानन्द को प्राप्त हुए। महर्षि दयानन्द ने 'समस्त मानव मात्र इस वेद ज्ञान का अधिकारी है' यह घोषित करके सबको वेद का अधिकार दिया।

### वेदों का भूमण्डल में प्रचार

वेद मानव जाति का पथ-प्रदर्शक है। अतः महर्षि स्वामी दयानन्द ने हमारा ध्यान सर्व प्रथम ईश्वरोपासना और वेदो की ओर आकृष्ट किया। आर्य समाज ने गत एक शताब्दी मे वेदों का बहुत प्रचार किया। जो वेददर्शन मात्र के लिए भी दुर्लभ थे वे आज लाखो की सख्या में देश-विदेश मे उपलब्ध है। वेद सम्बन्धी छोटी-बड़ी लाखो पुस्तकें आज सर्वत्र आर्यसमाज तथा अन्य जनों के घर मे विद्यमान हैं और उनका न्यूनाधिक रूप से पठन नित्य होता है। इस प्रकार लोगो की रुचि वेदों की ओर आर्यसमाज ने उत्पन्न की।

### विश्व में वेदमन्त्रों की गूंज

वेदमन्त्रों की ध्वनि भारत में कहीं-कहीं सुनाई पड़ती थी उसका सबको सुनने का अधिकार भी नहीं था। परमात्मा की पवित्र कल्याणी वेदवाणी कुछ ही ब्राह्मणों के कंठ में विराजती थी। महर्षि दयानन्द की क्रान्तिकारी विचारधारा से तथा आर्यसमाज के सतत प्रयास से आज भारत तथा विदेशों में भी वेद मंत्रों की ध्वनि गूंज रही है। चारों वेदों के टेप रिकार्ड कैसेट आज विदेशों में पहुंच गए हैं और उनके द्वारा भी मन्त्र ध्वनि दिग्-दिगन्त में व्याप्त हो रही है।

### गायत्री मन्त्र का व्यापक प्रचार

एक समय गायत्री मत्र गुप्त रखा जाता था और उसे किसी को सुनाने में दोष माना जाता था। आज उसी गायत्री का उच्चारण घर-घर में सभी वर्णों के आबाल वृद्ध-स्त्री, कन्याएं कर रही हैं और सार्वजनिक स्थानों पर सामूहिक रूप से भी कर रहे हैं। यह महर्षि दयानन्द की क्रान्ति का ही फल है और आर्यसमाज के घोर परिश्रम का परिणाम है।

### सामूहिक उपासना का प्रचार

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ही सामूहिक प्रार्थना का प्रचार किया। सामूहिक रूप से उपासना करने का भी प्रचार किया। तदनुसार सामूहिक रूप से वेद मत्रो द्वारा सान्ध्योपासना प्रार्थना आदि आयोजित होने लगे। महात्मा गांधी, विनोबा आदि चाहे महर्षि का नाम न लें, परन्तु महर्षि दयानन्द एव आर्यसमाज के सतत सामूहिक प्रार्थना के आयोजनो का देश मे सब अनुसरण करने लगे। यह महर्षि दयानन्द एव आर्य-समाज की ही देन का परिणाम है।

### यज्ञों का विश्वव्यापी प्रचार

महर्षि दयानन्द ने रोग, शोक, दुःख दारिद्र्य के विनाश के लिये बड़े-बड़े यज्ञों को करने का आदेश दिया तथा नित्य प्रति प्रातः सायं यज्ञ करने का भी आदेश दिया। आर्यसमाज ने अनेक बड़े-बड़े यज्ञ भी किये और दैनिक यज्ञ भी आर्य जनो ने प्रचलित किए। इन यज्ञों का अनुकरण करके तथा प्रतिस्पर्धा के रूप मे अन्य जनो ने एव सस्थाओ ने भी प्रारम्भ कर दिए हैं और आज तो अमेरिका, इंग्लैंड, यूरोप आदि महा देशों में भी यज्ञ होने लगे हैं। वहा यज्ञ का प्रचार बढ़ता जा रहा है।

### गीता और रामायण से यज्ञ

जिन लोगों को वेद मन्त्र नही आते थे, उन्होंने गीता के श्लोकों से, जिन्हें संस्कृत नहीं आती थी उन्होंने तुलसी रामायण की चौपाइयों से यज्ञ प्रारम्भ कर दिए। इसके अतिरिक्त यज्ञ नाम मे पवित्रता, सात्विकता, परोपकार भाव को अनुभव करके लोगो ने यह शब्द का प्रचार भूदान, यज्ञ, योग यज्ञ आदि में प्रयुक्त करना प्रारम्भ किया। यह भी महर्षि दयानन्द की क्रान्ति एवं आर्य-समाज की यज्ञ के प्रति साधना का परिणाम है।

### यज्ञ से पृथ्वी पर स्वर्ग

महर्षि दयानन्द क्रान्तदर्शी थे। उन्होने 'स्वर्गकामो यजेत' का वास्तविक अर्थ समझा। उन्होने बताया कि यही पृथ्वी यज्ञ से स्वर्गधाम बनेगी। यही वैतरणी से तरने का साधन है। इस यज्ञ का आश्रय ग्रहण करो—दुःख सागर से पार हो जाओगे! यज्ञ का वैज्ञानिक रीति से लाभ प्रकट करने में महर्षि दयानन्द ही सर्वप्रथम हैं। उन्होंने बताया कि यज्ञ से वायुमण्डल शुद्ध होता है। यज्ञ में हवि रोग विनाशक, सुगन्धित पौष्टिक एव मिष्ट पदार्थों को डालने से समस्त वातावरण शुद्ध, पुष्ट एवं रोग-रहित होगा। महान् औषध का कार्य करेगा। जीवन की वृद्धि, आरोग्य, उत्तम बुद्धि का उदय होगा। दुर्गुण विनष्ट होंगे।

### यज्ञ चिकित्सालय है

आज रोग निवारण के लिए स्थान-स्थान पर पूर्ण सुविधायुक्त चिकित्सालय स्थापित किए जा रहे हैं। बड़े-बड़े नगरों मे तो अनेक बड़े-बड़े अस्पताल हैं, शासकीय एव अशासकीय, परन्तु वे भी अपर्याप्त अनुभव हो रहे हैं। यदि प्रत्येक नगर मे तथा प्रत्येक अस्पताल मे यज्ञ हो तो रोगो का विनाश तथा आरोग्य की वृद्धि स्वभावतः ही होती रहेगी। आर्यसमाज को यज्ञ के महत्त्व का क्रियात्मक स्वरूप अवश्य बढाना चाहिए।

### यज्ञ का प्रचार अनेक संस्थाओं द्वारा

यदि महर्षि दयानन्द से यज्ञ का लौकिक लाभ, जल, वायु की शुद्धि का नहीं बताया होता तो आज के भौतिक युग मे यज्ञ का प्रचार नहीं हो पाता। आज आर्यसमाज के यज्ञ के प्रचार के कारण ही देश-विदेशो मे यज्ञ हो रहे हैं और अनेक संस्थाएं यज्ञ का प्रचार कर रही हैं। इसमें फाइव फोल्ड मिशन अग्रणी है। यह यज्ञ, दान, तप कर्म और स्वाध्याय का अनुयायी बना रहा है। उसने वाशिंगटन मे अग्निहोत्र यूनिवर्सिटी स्थापित की है तथा अमेरिका एव यूरोप के अनेक देशो मे क्रियात्मक रूप से यज्ञ का प्रचार किया है। बैरागढ (भोपाल) मे भी माधवाश्रम द्वारा यज्ञ का प्रचार-कार्य हो रहा है।

लोनावाला (पूना) मे न्यू बे आश्रम मे भी यज्ञ के वैज्ञानिक रूप से प्रभाव का अन्वेषण एवं परीक्षण किया जा रहा है। उन्होने यज्ञ के द्वारा अनेक प्रकार के प्रभावो को अनुभव किया है। लगभग २३ प्रकार के कार्य यथा कृषि उत्पत्ति, वनस्पति, बुद्धि, वृद्धि, मानसिक शान्ति, आरोग्य, आदि पर उन्होंने मन्त्रचयन एवं यज्ञ कार्य किए हैं। लगभग ४०-५० पुस्तकें मराठी, गुजराती एव अंग्रेजी मे प्रकाशित की हैं।

इसी प्रकार गायत्री तपोभूमि मथुरा एव उसी की हरिद्वार की संस्था तो इस कार्य मे और भी आगे बढ गई हैं। उसने यज्ञ, मन्त्र-ध्वनि, ध्यान आदि का वैज्ञानिक रीति से प्रभाव सिद्ध करने के लिए करोडो रुपयो के वैज्ञानिक यत्र लगाकर अपनी विशाल प्रयोगशाला बनाई है। यह सब कार्य ऋषि दयानन्द की क्रान्ति के प्रतिफल में ही हो रहा है। परन्तु इनका मस्तिष्क ऋषि दयानन्द की प्रत्यक्ष विचारधारा से यदि जुडा रहेगा तो अन्वेषण सही होगा। आर्यसमाज को यज्ञ के लिए अपनी अनुसन्धानशाला स्थापित कर सन्मार्ग प्रदर्शन करना चाहिए।

लेखक :
पं० वीरसेन वेदश्रमी वेदविज्ञानाचार्य

### वेद का प्रचार अनेक सस्थाओं द्वारा

महर्षि दयानन्द ने वेद का प्रचार किया। एक शताब्दी मे वेद ही वेद, देश-विदेश मे हो गए। स्विटजरलैंड मे महर्षि महेश ने वेद विश्वविद्यालय खोल दिया तथा देश-विदेशो मे हजारो व्यक्ति वेदमन्त्र ध्वनि नित्य करने वाले नियुक्त कर दिए। दक्षिणी भारत मे जगद्गुरु शंकराचार्य ने अनेक स्थानों पर वेद विद्यालय स्थापित किए हैं और वह उनके लिए अध्यापक एव वेतन भी प्रदान करते हैं। दिल्ली मे महर्षि महेश वेद विद्यालय शीघ्र ही प्रारम्भ कर रहे हैं तथा ऋषिकेश आदि मे चला भी रहे हैं। श्री स्वामी गंगेश्वरानन्द जी ने वृन्दावन मे वेद विद्यालय स्थापित किया है। श्री स्वामी अखण्डानन्दजी के वृन्दावन के आश्रम मे वेद शिक्षण की व्यवस्था प्रारम्भ है। आनन्दमयी मा के आश्रम की कन्याएं सस्वर वेदपाठ करती हैं तथा यज्ञोपवीत भी धारण करती है। यह सब आर्य-समाज के ही प्रताप से वेद का प्रचार बढा है, क्योंकि सर्वप्रथम आर्यजनो ने आर्यसमाज के गुरुकुलो, विद्यालयो एव आर्यसमाज मन्दिरो मे वेदमन्त्रो की ध्वनि नित्य सायं प्रातः इस विश्व के गगन मण्डल मे गुंजाई और गुंजा भी रहा है।

### महर्षि के वेदभाष्य का प्रभाव

महर्षि दयानन्द ने वेदार्थ शैली का

(शेष पृष्ठ १४ पर)

# सत्यार्थ प्रकाश मेरी दृष्टि में

## विश्व धर्म का एक ऐसा अद्भुत एवं अपूर्व कोश जिसका सम्यक् अध्ययन-मनन तथा तदनुकूल आचरण कर मानव की सर्वतोमुखी उन्नति सम्भव

नूतन युग प्रवर्तक महर्षि दयानन्द ने अपने भक्त और शिष्य राजा जयकृष्णदास की प्रेरणा से १८७५ मे वेदादि शास्त्रो के सिद्धान्तों को सत्यार्थप्रकाश नामक ग्रंथ में संग्रहीत कर स्वव्याख्या के साथ प्रस्तुत किया। इस प्रकार भारतीय नवजागरण के प्रथम सूत्रधार ऋषि दयानन्द की इस अमर कृति को प्रकाश मे आए एक शताब्दी से भी अधिक समय हो गया है। इस बीच यह ग्रन्थरत्न लाखो लोगो के लिए अद्भुत प्रेरणा, स्फूर्ति तथा उत्साह का स्रोत सिद्ध हुआ है। आर्यसमाज के प्रारम्भिक युग के अद्वितीय विद्वान और विचारक पं० गुरुदत्त ने इस ग्रन्थ के विषय मे स्व उद्गार प्रकट करते हुए कहा था—'मैंने सत्यार्थप्रकाश को कम से कम १८ बार पढ़ा। जितनी बार मैं इसे पढता हूं, मुझे मन और आत्मा के लिए कुछ नवीन भोजन मिलता है। यह पुस्तक गूढ़ सचाइयों से भरी पडी है।' भारतीय राष्ट्रवाद को सुदृढ आधार प्रदान करने वाले तथा क्रान्तिकारियो के गुरु वीर विनायक दामोदर सावरकर ने सत्यार्थप्रकाश के सम्बन्ध मे अपने मन्तव्य को व्यक्त करते हुए एक बार लिखा था—'हिन्दू जाति की ठण्डी रगो मे उष्ण रक्त सचार करने वाला यह ग्रंथ अमर रहे, यही मेरी कामना है। सत्यार्थप्रकाश की विद्यमानता में कोई विधर्मी अपने मजहब की शेखी नहीं मार सकता।' मनस्वी चिन्तक लाला हरदयाल कहते हैं—' इस महान ग्रंथ के अध्ययन से मेरी विचारधारा ही बदल गई। सोई हुई जाति के स्वाभिमान को जाग्रत करने वाला यह ग्रन्थ अद्वितीय है।'

### विश्वमानव के लिए उपयोगिता

सत्यार्थप्रकाश की लोकप्रियता तथा विश्व मानव के लिए उसकी उपयोगिता इसी बात से विदित होती है कि विगत एक शताब्दी के भीतर इस ग्रंथ के सैकडो संस्करण प्रकाशित हुए, लाखों प्रतियां धर्मतत्व के जिज्ञासु पाठकों के हाथो मे पहुंची, स्वदेश-विदेश की बीसियो भाषाओं मे उसके अनुवाद हुए तथा टीका-टिप्पणी, भाष्य, व्याख्यादि के अनेक ग्रन्थ छपे। सत्यार्थप्रकाश की प्रतियां ससार के प्रमुख देशों के पुस्तकालयो में में सर्वत्र विद्यमान हैं। इस प्रकार यह एक सर्वप्रकट तथ्य है कि ऋषि दयानन्द के अमर ग्रंथ का धार्मिक जगत् में कितना प्रचलन और सम्मान हुआ है।

वस्तुत. किसी ग्रन्थ के तात्पर्य और हार्द हृदयंगम करने के लिए यह आवश्यक है कि पाठक लेखक के ग्रन्थ लेखन में निहित अभिप्राय को समझने का पूर्ण यत्न करे। ग्रंथकार के मन्तव्य को जाने विना किसी ग्रन्थ का अध्ययन करना कभी-कभी बुद्धिभेद पैदा करनेवाला सिद्ध होता है। इसी भाव को हृदयगम कर ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में अपने ग्रन्थलेखन के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए लिखा था—'जो कोई ग्रन्थकर्त्ता के तात्पर्य से विरुद्ध मनसा से देखेगा, उसको कुछभी अभिप्राय विदित न होगा, क्योंकि वाक्यार्थ बोध मे चार चरण होते है, आकाक्षा, योग्यता आसक्ति और तात्पर्य ·· । बहुत से हठी, दुराग्रही मनुष्य होते हैं कि जो वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध कल्पना किया करते हैं।' लेखक को इस बात का विश्वास था कि यद्यपि इस ग्रन्थ को देखकर अविद्वान लोग अन्यथा ही विचारेंगे तथापि बुद्धिमान लोग यथा योग्यता इसका अभिप्राय समझेंगे।' ग्रन्थ लेखक ने पुस्तक के नामकरण का सकेत करते हुए लिखा—'सत्यार्थ का प्रकाश करना मेरा व सब महाशयों का मुख्य काम है।

### धर्म का वास्तविक स्वरूप

इस प्रकार हम देखते हैं कि सत्यार्थ प्रकाश में लेखक का मुख्य अभिप्राय धर्म के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसके विभिन्न अंगों की व्याख्या करना तथा धर्म के नाम पर प्रचलित विभिन्न मतो, पन्थों तथा सम्प्रदायों की पारस्परिक फूट, कलह, तथा विद्वेष को फैलाने वाले तत्वों से पाठकों को सावधान करना रहा है। लेखक ने ग्रन्थ को दो भागों में विभक्त किया है—

१. पूर्वार्द्ध—जिसमें धर्म के विधेयात्मक रूप की व्याख्या दस अध्यायों (समुल्लास) में की गई है। २. उत्तरार्द्ध इसमें मानव के सार्वभौम धर्म के विरुद्ध नाना मत सम्प्रदायों के संकीर्ण और मनुष्यता के लिए हानिकर सिद्धांतों का प्रमाण पुरस्सर खण्डन किया गया है। जब हम धर्म के वास्तविक स्वरूप को जानना चाहते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि शास्त्रकारों ने उसे अभ्युदय और निःश्रेयस का कारण माना है। (यतो अभ्युदय निःश्रेयस सिद्धि स धर्म (वैशेषिक दर्शन) वास्तविक धर्म मनुष्य को पारलौकिक उन्नति प्रदान करने वाला और आत्मिक शान्ति प्रदान कराने वाला ही नहीं होता, उससे लौकिक उन्नति स्वयं प्रगति भी होती है आर्य चिन्तन में धर्म के इसी व्यापक स्वरूप की नानाविध व्याख्याएं प्रस्तुत की है। धर्म की इन्ही नाना व्याख्याओं का समाहार करते हुए ऋषि दयानन्द ने 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' मे लिखा 'जो पक्षपात रहित, न्यायाचरण, सत्यभाषणादि युक्त ईश्वराज्ञा वेदों से अविरुद्ध है, उसको धर्म और जो पक्षपात सहित, अन्यायाचरण, मिथ्याभाषणादि ईश्वराज्ञा भग वेदविरुद्ध है, उसको अधर्म मानता है। 'कहना नही होगा कि सत्यार्थप्रकाश इसी व्यापक धर्म की एक लोकोपयोगी टीका एव व्याख्या है।

लेखक :
डा० भवानीलाल आर्य
अध्यक्ष दयानन्दपीठ, पजाब
विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

### ग्रन्थ का मुख्य प्रयोजन

जब हम सत्यार्थप्रकाश की उपादान सामग्री का विशद विश्लेषणात्मक विवेचन करते हैं, तो हमे ज्ञात होता है कि प्रथम दस समुल्लासो में लेखक ने भौतिक और आध्यात्मिक धर्म की विविध मान्यताओ की व्याख्या और स्पष्टीकरण किया है। प्रथम समुल्लास मे ईश्वर के स्वरूप और उनके विभिन्न शास्त्रोक्त नामो की व्याख्या करते हुए लेखक ने ओंकार को परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम सिद्ध किया है। अध्ययन की दृष्टि से द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम षष्ट तथा दशम समुल्लासों को एक साथ लेना चाहिए। इन छह समुल्लासों में लेखक ने मानव के वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन की आदर्श रूपरेखा प्रस्तुत की है। 'भूतानां प्राणिनो श्रेष्ठः' इस उक्ति से सिद्ध होता है कि मानव की श्रेष्ठता को सर्वत्र स्वीकार किया गया है। महाभारतकार के शब्दों में नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्, मनुष्य से श्रेष्ठ इस विश्व ब्रह्माण्ड में कुछ भी [illegible]। [illegible] [illegible]रफुल [illegible]' अथवा ईश्वरदत्त जीवन को किस प्रकार सफल बना सकता है यह बताना ही 'सत्यार्थप्रकाश' का मुख्य प्रयोजन है। मानव के सार्वत्रिक विकास का सोपान क्रम 'अथ शिक्षां प्रवक्ष्याम: इस उक्ति के साथ द्वितीय समुल्लास से आरम्भ होता है।

आलोच्य अध्याय में ऋषि दयानंद लिखते हैं कि माता, पिता और आचार्य ही बालकों के प्रमुख शिक्षक होते हैं। यह उनका गुरुतर दायित्व है कि उनके संरक्षण मे पलता और बढता हुआ बालक सुसंस्कार युक्त बने तथा अपने शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक गुणों का सर्वतोमुखी विकास करे। अत: बालक के आचार-विचार, भोजन वस्त्र, शयन तथा शिक्षण की सुचारु रूप से व्यवस्था करना माता-पिता-आचार्य आदि गुरुजनों का परम पुनीत कर्त्तव्य है। लेखक ने इस बात पर विशेष रूप से जोर दिया है कि नाना अन्ध विश्वासो और मूढ़ धारणाओ के बालक के सुकोमल मस्तिष्क को आतंकित और प्रभावित न होने दिया जाए। इसके लिए आवश्यक है कि भूतप्रेत, डाकिनी-शाकिनी आदि के मिथ्या भय और आतक से बालक सर्वथा मुक्त रखे जाएं। इसी प्रसंग में लेखक ने फलित ज्योतिष तथा जन्म-पत्र आदि के विश्वासों को लेकर उत्पन्न होने वाली भ्रान्तियों का भी उल्लेख किया है, जिनके कारण मनुष्य पुरुषार्थहीन होकर भाग्यवादी बन जाता है।

वस्तुत: द्वितीय समुल्लास की शिक्षाएं बालक को शिष्ट, सभ्य, सभाचतुर बनने की प्रेरणा देती हैं। लेखक ने यहां स्पष्ट कर दिया है कि गुरुजनों के सुचरित ही बालकों के लिए अनुकरणीय हैं उनके दुर्व्यसनों और दुश्चरितों का कथमपि अनुकरण नहीं किया जाना चाहिए—'यान्यास्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।' (तैत्तिरीयोपनिषद्) इस प्रसंग मे लेखक ने रामायण, महाभारत, मनुस्मृति, बिदुर नीति, पञ्च-तन्त्र, कामन्दकीय नीति, चाणक्य नीति में उल्लिखित बालोपयोगी सुक्तियों और नीतिवाक्यों को पढ़ने और तदनुकूल आचरण करने की संस्तुति की है।

### आदर्श शिक्षानीति

बालकों का लालन-पालन और उनका उचित संरक्षण ही उनमें निहित विभिन्न शक्तियों के समुचित उद्रेक तथा विकास का कारण बनता है। यह कार्य शिक्षा के व्यापक कार्यक्रम द्वारा सम्पादित किया जा सकता है। इसी आदर्श शिक्षा नीति की व्याख्या 'अथाध्ययनाध्यापन विधि व्याख्यास्याम:' शीर्षक से तृतीय

समुल्लास के अन्तर्गत की गई है। सत्यार्थप्रकाश के लेखक महान शिक्षा-शास्त्री थे अतः उन्होंने शिक्षा से सम्बन्धित सभी मौलिक समस्याओं के सम्बन्ध में अपना सूक्ष्म किन्तु स्पष्ट चिन्तन प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार विद्या तथा शिक्षा को धारण करके ही मनुष्य अपने समाज में प्रशस्त तथा आदरणीय बनता है। स्वर्ण स्वयं रत्नों से निर्मित आभूषणों से मनुष्य की आत्मा उस प्रकार सुशोभित नहीं होती जैसी विद्या रूपी रत्न को धारण करने से होती है। अतः अपने ग्रन्थ के इस अध्याय में लेखक ने सम्पन्न और दरिद्र के भेद को भुलाकर सभी बालक और बालिकाओं की सर्वतोमुखी शिक्षा की व्यवस्था करने का दायित्व शासन के सुपुर्द किया है। यह शिक्षा अनिवार्य, निःशुल्क तथा बालक के सर्वांगीण विकास के लिए होनी चाहिए। अतः लेखक को लिखना पड़ा—इसमें राज-नियम और जातिनियम होना चाहिए कि पांचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़के और लड़कियों को घर में न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवें, जो न भेजें वे दण्डनीय हों। प्रसंगान्तर से लेखक ने गायत्री-उपासना अग्निहोत्र, प्राणायाम, ब्रह्मचर्य-धारण, आर्ष पाठविधि, वेदाधिकार विवेचन आदि विषयों का भी सम्यक् विवेचन किया है।

### वैवाहिक मर्यादा का पालन

ऋषि दयानन्द का जीवन-दर्शन सर्वतोमुखी तथा सर्वांगीण था, यह इस बात से सिद्ध होता है कि स्वयं सर्व संगपरित्यागी परिव्राजक तथा वित्त लोक, सन्तान आदि की कामनाओं से सर्वथा मुक्त चतुर्थाश्रम होने पर भी उन्होंने समाज के आधार तुल्य गृहस्था श्रम तथा वैवाहिक मर्यादाओं का परिपूर्ण पालन करने के लिए बल दिया है। विवाह तथा गृहस्थ आश्रम की विधि का व्याख्यान चतुर्थ समुल्लास में प्रस्तुत किया गया है। हमारे देश का यह दुर्भाग्य ही था कि मध्यकालीन धर्मों और सम्प्रदायों ने इहलोक की उपेक्षा करने वाले वैराग्योन्मुखी चिन्तन को प्रोत्साहन दिया, जिसके परिणामस्वरूप इस देश के नागरिक भौतिक तथा लौकिक उन्नति करने में असमर्थ रहे। इसके विपरीत दयानन्द ने मिथ्या वैराग्य और आडम्बरपूर्ण त्यागवाद का विरोध करते हुए गृहस्थों को धर्मपूर्वक स्वकर्त्तव्य पालन करने की प्रेरणा दी। उन्होंने मनु के शब्दों में यह स्पष्ट घोषणा की कि जिस प्रकार सारे नदी-नाले सागर में जाकर अवस्थित हो जाते हैं, उसी प्रकार अन्य आश्रम-वासियों का आधार भी गृहस्थ ही होता है। इस गृहस्थ के महत्वपूर्ण दायित्व का निर्वाह करने का सामर्थ्य दुर्बलेन्द्रिय, कायर तथा कार्पण्य मनोवृत्ति वाले व्यक्ति में नहीं होता। स्वस्थ शरीर मन तथा आत्मा वाला व्यक्ति ही गृहस्थ के गुरुतर कर्त्तव्यों को निभाने में समर्थ होता है। अतः इस समुल्लास में प्रसंगा-नुसार बाल विवाह-खडन, चातुर्वर्ण्य व्यवस्था तथा गृहस्थों के दैनन्दिन कर्त्तव्य पंच महायज्ञ विधान आदि का उल्लेख हुआ है।

### मानव की सर्वतोमुखी उन्नति

आर्य जीवन का आदर्श मानव की सर्वतोमुखी उन्नति तथा प्रगति ही है। कालिदास के शब्दों में रघुवंशी राजाओं की जो जीवनचर्या थी, वही आर्य जीवनादर्श है। शैशव में विद्याभ्यास करना, यौवन काल में गार्हस्थिक कर्त्तव्य-पालन किन्तु जीवन के तृतीय भाग को मुनिवृत्ति में बिताना तथा योगसाधना के द्वारा शरीर त्याग यही आर्य आदर्श रहा है। शैशवेऽभ्यस्त विद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।

वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥ रघुवंश

खाट पर पड़े-पड़े जीवन का अन्त करना जीवन का कोई शोभनीय पटाक्षेप नहीं है। अतः ऋषि दयानन्द ने वानप्रस्थ और संन्यासियों के कर्त्तव्यों का विधान करते हुए पंचम समुल्लास लिखा। तृतीयाश्रम वानप्रस्थ जन समाज सेवा के माध्यम से आत्मविकास का पथ प्रशस्त करते हैं तो चतुर्थाश्रमी संन्यासी अपने सर्वस्व को लोकहित के लिए समर्पित करते हुए स्वयं धर्म में चलकर सब संसार को चलाते हैं, जिससे आप और सब संसार को इस लोक अर्थात् वर्तमान जन्म में परलोक अर्थात् दूसरे जन्म में स्वर्ग अर्थात् सुख का भोग करते कराते हैं।

सत्यार्थप्रकाश अन्य धर्मग्रन्थों से अनेक बातों में अपनी विशिष्टता रखता है। दयानन्द ने राजनीति को भी मनुष्य के लिए आवश्यक बताया है। अतः राज धर्मों की व्याख्या करते हुए उन्होंने प्रजापालक एवं लोकरक्षण को शासक का प्रमुख कर्त्तव्य माना। वेद तथा तदनुकूल शास्त्रों में वर्णित राजव्यवस्था शासन प्रणाली, दण्डनीति, कूटनीति तथा न्याय प्रणाली की विशद व्याख्या कर सत्यार्थ प्रकाशकार ने धर्माचार्यों के द्वारा प्रायः उपेक्षित सब महत्वपूर्ण विषय की ओर अपने पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। दर्शन समुल्लास को भी लौकिक समस्याओं का समाधान करने वाले अध्याय के रूप में परिगणित किया जा सकता है।

शेष अगले अंक में

## शहीदी अर्धशताब्दी में भाग लें

मैं दिल्ली की तमाम आर्यसमाजों, संस्थाओं व जागरूक नागरिकों, देश-भक्त संगठनों से अपील करता हूं कि वे केन्द्रीय आर्य युवक परिषद् दिल्ली प्रदेश द्वारा आयोजित 'शहीदी अर्ध-शताब्दी समारोह' १ मार्च १९८१ रविवार को दोपहर १२ बजे पुरानी सब्जी मण्डी पार्क में मनाए जाने वाले कार्यक्रम मे शहीदों के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए जरूर पहुंचें।

महाशय धर्मपाल
प्रधान
आर्य केन्द्रीय सभा,
दिल्ली राज्य

## आर्य प्रतिनिधि उपसभा शाहदरा की ओर से ऋषि बोध उत्सव

८ मार्च को दयानन्द माडल स्कूल बी ब्लाक विवेक विहार शाहदरा में प्रातः ८ बजे से १२ बजे मनाया जाएगा जिसमें स्वामी विद्यानन्द जी महाराज, स्वामी स्वरूपा नन्द जी महाराज तथा बलराम जी अध्यक्ष लोक सभा के आने की भी सम्भावना है उत्सव के बाद स्कूल की ओर से लंगर का भी प्रबन्ध है।

—मन्त्री उपसभा

फार्म—४

| | |
|---|---|
| १—प्रकाशन स्थान | नई दिल्ली |
| २—प्रकाशन अवधि | साप्ताहिक |
| ३—मुद्रक का नाम | सरदारी लाल वर्मा |
| (क्या भारत का नागरिक है) | भारतीय |
| पता— | दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा<br>१५-हनुमान रोड, नई दिल्ली |
| ४—प्रकाशक का नाम | सरदारी लाल वर्मा |
| (क्या भारत का नागरिक है) | भारतीय |
| पता— | दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा<br>१५-हनुमान रोड, नई दिल्ली |
| ५—सम्पादक का नाम | नरेन्द्र विद्यावाचस्पति |
| (क्या भारत का नागरिक है) | भारतीय |
| पता— | दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा<br>१५-हनुमान रोड, नई दिल्ली |
| ६—उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार पत्र के स्वामी हों तथा जो समस्त पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों | दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा<br>१५-हनुमान रोड, नई दिल्ली |

मैं सरदारी लाल वर्मा एतद्द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

प्रकाशक का हस्ताक्षर
सरदारी लाल वर्मा

# दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के वे कर्मठ कार्यकर्त्ता, जिनके भगीरथ प्रयत्नों से दिल्ली का आर्यमहासम्मेलन अभूतपूर्व सफलता प्रदान कर सका

महाशय धर्म पाल
वरिष्ठ उपप्रधान आर्य प्रा० सभा
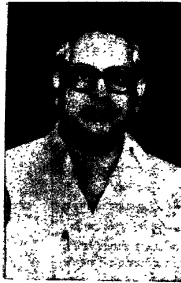
श्री रामचन्द्रराव वन्देमातरम्
दिल्ली आर्यमहासम्मेलन के यशस्वी अध्यक्ष

श्री सोमनाथ मरवाहा, एडवोकेट
कोषाध्यक्ष, सार्वदेशिक आ०प्र०सभा

श्री विद्याप्रकाश सेठी
उप प्रधान, दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा

श्री राजेन्द्र दुर्गा

श्रीमती प्रेमशीला जी
नेत्रिणी आर्य महिला सभा

श्री विमलचन्द्र विमलेश

# आर्यसमाज की विभिन्न प्रवृत्तियों में निरंतर सहयोग देने वाले सहयोगी एवं दानी सज्जन

श्री प्रेमचंद गोयल

श्री ला० इन्द्रनारायण जी

श्री मानीरामजी गुप्ता

श्री प्रह्लाद राम जी

श्री जगदीशलाल

सेवक राम किंकर जी

राजकुमार सजय सिंह (अमेठी) सदस्य उ० प्र० विधान सभा आर्य युवक सम्मेलन मे अध्यक्षीय भाषण देते हुए।

२८ फरवरी जिनकी पुण्य तिथि है—संस्मरण-श्रद्धांजलि

# आजीवन आर्यसमाज के प्रति अर्पित
# निर्भय सम्पादक : म० कृष्ण

गतांक से आगे)

महाशय जी का यह प्राय: नियम ही था कि प्रति शनिवार रात को लाहौर से प्रस्थान कर बाहर नगरो-कस्बों की आर्यसमाजों में भाषण देने जाते, अपनी जेब से समूचा व्यय करके उनके। भाषणों को न केवल आर्य, हिन्दू सिख-मुसलमान इत्यादि सैकड़ो-हजारो की संख्या मे उत्सुकता से सुनने आते। नि.संदेह महाशय जी लेखनी और वाणी—दोनों के अद्वितीय धनी थे। प्रभु की ओर से उन्हें प्राप्त देह की पुष्टि भी वरदान रूप थी। गौर वर्ण, लम्बा ऊँचा शरीर, अनुपातिक अंग प्रत्यग, शुद्ध धवल ऋतु अनुसार—खादी वेश भूषा के साथ सिर पर खादी की ही घुटी हुई पगड़ी—प्रभावी आकर्षक व्यक्तित्व था।

**महाशय जी पत्रकारिता में : प्रकाश' का प्रारम्भ**

१९०५ मे बी. ए. पास करने के बाद यद्यपि सरकारी नौकरी मिलनी बहुत सहज थी, पर इस युवक ने इस प्रलोभन को लात मार पत्रकारिता के क्षेत्र मे आने का निश्चय किया। उन दिनो यह पेशा न होकर एक ऐसा मिशन था जिसमे कदम-कदम पर काँटे थे। आर्यसमाज पर उन दिनों एक ओर गोरी सरकार की वक्र दृष्टि, दूसरी ओर पौराणिक, मुसलमान, अहमदिया सिख इत्यादि सम्प्रदायो के तीखे आक्रमण—इन सबका अभिमन्यु की तरह अकेला मुकाबला करने और आर्यसमाज के विशुद्ध धार्मिक रूप को प्रामाणिक शब्दों मे उपस्थित करने के लिए महाशय जी ने अपने तीन-चार आर्य युवक मित्रो के साथ मिल १०० रु. से भी कम पूजी से उर्दू मे साप्ताहिक 'प्रकाश' निकाला। इसके लिए अथ से इति तक सम्पादन, लेखन, प्रकाशन, ग्राहकों के नाम पते, डाक टिकट लगा डाकघर में छोड़ने और फिर लाहौर के बाजारों मे खड़े होकर बेचने—इत्यादि सारा गोरखधंधा यह आर्य मित्र मण्डल ही करता। इसके अतिरिक्त महाशय जी प्रति सप्ताह शनिरवि को आर्यसमाज के प्रचार के लिए बाहर जाते। 'प्रकाश' इन लगनशील आर्ययुवकों की तपस्या के फलस्वरूप शीघ्र ही चमक गया।

**१९१९ में पंजाब में फौजी कानून : जलियांवाला बाग**

१९१९ में रालेट एक्ट के प्रबल विरोध के हेतु देश का राजनीतिक वातावरण गर्म हो गया और राजनीतिक नेतृत्व गाँधी जी और स्वामी श्रद्धानन्द—उस समय दिल्ली के नेता व बादशाह के हाथों में आ गया। ओडवायर शाही की क्रूरता के फलस्वरूप लाहौर सहित लगभग आधे पंजाब में फौजी कानून लग गया, साथ ही १३ अप्रैल १९१९ वैशाखी पर्व पर अमृतसर के जलियांवाला बाग मे सार्वजनिक सभा मे शान्त निहत्थी भाषण सुनती हजारो की जनता पर जनरल डायर द्वारा बिना किसी पूर्व सूचना के अन्धाधुन्ध मशीनगनो द्वारा गोलाबारी, फलत, हजारों की तत्काल मृत्यु व भयंकर रूप से घायल होना, ३० मार्च १९१९ को गाँधी जी की दिल्ली के पास बम्बई से आते हुए पलवल स्टेशन पर गिरफ्तारी और पुलिस द्वारा वापस बम्बई ले जाना, परिणामस्वरूप दिल्ली में गोली, तीन जनों की मृत्यु, स्वामी श्रद्धानन्द जी द्वारा अपनी छाती खोल चाँदनी चौक पर बन्दूक ताने खड़े सिपाहियो को गोली चलाने का आह्वान, इस निर्भयता से पराभूत हो गोरे कमांडर द्वारा आदेश वापस लेना—इस सारे घटनाचक्र से न केवल भारत अपितु समूचे विश्व मे एक भयकर हड़कंप आ गया। गोरी सरकार बहुत घबरा गई।

**प्रताप दैनिक प्रारम्भ : महाशय जी कालकोठरी में कैद**

इस परिवेश मे म. कृष्ण ने ३० मार्च १९१९ को लाहौर से उर्दू दैनिक 'प्रताप' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। पत्र चमक गया नौकरशाही घबरा गई। ११ दिन बाद ही पत्र पर सेंसर लगा दिया गया। 'प्रताप' बन्द करना पड़ा। महाशय जी फौजी कानून के, अन्तर्गत पकड़े जाकर लाहौर के किले की काल कोठरी मे नजरबन्द कर दिए गए। लगभग एक साल के बाद रिहा हुए। 'प्रताप' का पुनर्जन्म हुआ। पजाब और उत्तर भारत के अन्य प्रान्तों में खूब धूम मच गई इस पत्र की।

**पंजाब में मुस्लिम लीगी शासन : सर सिकन्दर की चिढ़**

ब्रिटिश सरकार द्वारा जारी की गई शासन सुधार योजना के अन्तर्गत धारा सभाओं के चुनाव हुए और पंजाब में जमींदारा पार्टी व छद्मनाम के साथ मुस्लिम लीगी शासन सर सिकन्दर हयात के मुख्य मंत्रित्व में चालू हुआ, तब सबसे पूर्व कड़ी नजर 'प्रताप' पर पड़ी। जमानतें जब्त हुई। महाशय जी की कलम में कोई ढीलापन नहीं आया। वह निर्भयता से लिखते रहे। कुछ साझे मित्रो द्वारा सर सिकन्दर ने महाशय जी को चाय पर निमन्त्रित किया। महाशय जी ने शीघ्र उत्तर भिजवाया।

"मुझे सिकन्दर साहब से कोई काम नही है। मैं क्यो उनके पास जाऊँ? उन्हें यदि मुझसे कोई काम है, तो वह खुद मेरे पास आ सकते हैं।"

सम्पादक के रूप मे महाशय जीके कई विशिष्ट गुण थे। राजनीतिक घटनाचक्रो और देश-विदेश के ऐतिहासिक तथ्य उनकी अगुलियो पर थे। वह जो कुछ भी लिखते, वह तर्क संगत और सप्रमाण निर्भयता से लिखते—

इसीलिए सर सिकन्दर और अन्य मुस्लिम नेता महाशय जी से बहुत चिढ़ते और साथ यह भी कहते कि—

"यार! यह कम्बख्त महाशय कलमतोड़ खरा-खरा लिखता है।' सिर कट सकता है झुकेगा नही"—
कृष्ण निर्भय सम्पादक

एक बार सर सिकन्दर ने चिढ़ते हुए असेम्बली में कहा—म. कृष्ण और हिन्दू नेता मुझे आज का औरंगजेब कहते हैं। काश! मैं सचमुच ऐसा होता। अगर मैं औरंगजेब होता तो महाशय जी आज एडीटर न होते, कहीं और ही किसी जगह पर होते।" महाशय जी ने 'प्रताप' मे इस धमकी का जो उत्तर दिया, वह सचमुच एक निर्भय आर्यनेता के पद के अनुकूल ही था। उन्होंने लिखा—

सर सिकन्दर को यह अच्छी प्रकार समझ लेना चाहिए कि मुझे मेरे गुरु ऋषि दयानन्द से जो शिक्षा मिली है। उसके अनुसार मेरा सिर धड़ से अलग होने को सदा तैयार है, पर झुक कभी नहीं सकता।"

देश की आजादी के बाद 'प्रताप' दैनिक दिल्ली से और वीर प्रताप दैनिक जालन्धर से उनके दोनों सुपुत्र श्री नरेन्द्र और वीरेन्द्र के सम्पादकत्व निकलने लगे। अग्रलेख, प्राय: महाशय जी ही लिखते। महाशय जी की कलम में कोई निर्बलता व चापलूसी नही आई। पजाब की कैरो सरकार की और देश मे नेहरू सरकार की भूलो और गलतियों-विशेषत: मुस्लिम- सिख को खुश करने की छीछालेदर वह निर्भयता से करते रहे। फलस्वरूप आजाद भारत मे भी 'प्रताप' की जितने जमानतें जब्त हुई और जितनी नयी माँगी गईं, उतनी भारत में, सम्भवत: किसी से न मांगी गयीं और न ही जब्त हुईं। विलायत के एक अंग्रेजी अखबार ने इन्हें एक बार लाहौर का 'फायरी एडीटर' आग उगलने वाला सम्पादक कहा था।

**आर्य नेता के रूप में महाशय जी**

विभाजन के बाद वह कई वर्ष तक 'आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के प्रधान रहे। हरियाणा के पृथक प्रान्त बनने के बाद और स्वास्थ्य की गड़बड़ी के कारण महाशय जी ने अपने को आर्य प्रतिनिधि सभा तथा अन्य आर्य संस्थाओं—जैसे सार्वदेशिक सभा, परोपकारिणी सभा—इत्यादि मे सक्रिय भाग लेने से मुक्त कर लिया।

**लेखक :**
**आचार्य दीनानाथ सिद्धान्तालंकार**

यह भी उल्लेखनीय है कि आर्य नेता के रूप मे महाशय जी हैदराबाद सत्याग्रह मे छठे अधिनायक (डिक्टेटर) के रूप में लाहौर से कृष्ण स्पेशल गाड़ी द्वारा लगभग १ हजार सत्याग्रहियो के साथ गुलबर्गा जेल ६ मास की सजा के साथ गए थे। कैरो सरकार के शासन से, आजादी के बाद वह हिन्दी रक्षा सत्याग्रह में जेल गये। इस सत्याग्रह मे उनके सुपुत्र श्री वीरेन्द्र भी जेल यात्री बने। गौ रक्षा आन्दोलन में भी महाशय जी को दिल्ली के तिहाड़ जेल जाना पड़ा था।

**म० कृष्ण का अन्तिम सन्देश : परलोक यात्रा**

शिवरात्रि पर्व पर दिल्ली दरवाजे के बाहर कोटला मैदान में प्रतिवर्ष दिल्ली आर्य केंद्रीय सभा की ओर से ऋषि मेला और ऋषि बोधोत्सव सभा होती है। १९३९ को यह पर्व समारोह म. कृष्ण श्री की अध्यक्षता में २५ फरवरी को हुआ था। उनके जीवन का यह अन्तिम भाषण था। उनके शब्द थे—आर्य सज्जनो और देवियो! आज विश्व एक टक हो आपको देख रहा है—बड़ी आशा के साथ। अपने जीवन को क्रियात्मक बनाओ और ऋषि दयानन्द के वैदिक सिद्धान्तो का प्रचार करो। ये शब्द आज भी उत्तर माँगते हैं—आर्य बन्धुओं से।

२८ फरवरी तीन दिन बाद ही लगभग ८५ वर्ष की आयु मे अपने दिल्ली निवास स्थान पर इस अनेक गुणमंडित गौरवास्पद संघर्षशील आर्य नेता का स्वर्गवास हो गया।

वेद के शब्दों में हमारी प्रार्थना है—

"स्वस्ति ते अस्मिन् पथि देवयाने भूयात्" यजु. ५।१३

श्रेष्ठ पुरुषों के इस मार्ग में तुम्हारा कल्याण हो।

ई/३७, शास्त्रीनगर,
जयपुर-६

# गुरुकुल कांगड़ी का भावी स्वरूप

## जहां वेद-वेदांग के अध्ययन को प्रमुख स्थान दिया जाना चाहिए

**(गतांक से आगे)**

गुरुकुल को उनसे वेतन मिलता है। गुरुकुल को उनसे वेतन का दस प्रतिशत किराये के रूप मे लेना चाहिए। यदि इस दर से गुरुकुल के परिवारगृहो आदि के किराये लिए जाते तो आठ हजार रु. के लगभग किराया वसूल किया जा सकेगा। मरम्मत आदि के खर्च को घटा कर भी इनसे सात हजार के लगभग वह आमदनी गुरुकुल को प्राप्त होगी। गुरुकुल के पास ५०० बीघे के लगभग कृषियोग्य भूमि है। ट्रैक्टर, ट्यूबवेल आदि कृषि के साधन भी गुरुकुल के पास हैं। ५०० बीघे कृषि योग्य भूमि से ४०,००० रुपये वार्षिक या सवा तीन हजार रुपये मासिक के लगभग आमदनी प्राप्त कर सकना सर्वथा सम्भव है। इतनी राशि पर तो कृषि की भूमि को ठेके पर भी दिया जा सकता है। गुरुकुल की जो अन्य सम्पत्ति है, उसे छोड कर केवल परिवार गृहों और कृषि योग्य भूमि से ही गुरुकुल दस हजार रुपयो मे अधिक आमदनी प्राप्त कर सकता है। जो विद्यालय विभाग के स्टाफ को समुचित स्तर पर वेतन देने के लिए पर्याप्त होगी। यदि गुरुकुल विद्यालय मे सुयोग्य व अनुभवी शिक्षक हों, और ब्रह्मचारियों की देखभाल करने के लिए धार्मिक, सदाचारी और सुयोग्य अधिष्ठाता हो, तो गुरुकुल फिर से जनता के आकर्षण का केन्द्र बन सकता है और आर्य लोग वहाँ अपने बच्चो को शिक्षा के लिए भेजने को प्रेरित हो सकते हैं।

(४) गुरुकुल के महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय विभागों की शिक्षा में वेद, दर्शन, संस्कृत साहित्य, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति, हिन्दी साहित्य तथा प्राचीन भारतीय ज्ञान से सम्बद्ध विषयों के अध्ययन को प्रमुख स्थान दिया जाना चाहिए। गढवाल, कुमायूं मेरठ आदि के जैसे विश्वविद्यालय है, गुरुकुल विश्वविद्यालय को भी उन्ही के ढंग पर विकसित करने से कोई लाभ नही हो सकता। शिक्षा के क्षेत्र में गुरुकुल की अपनी विशिष्टता होनी चाहिए, जो प्राचीन भारतीय ज्ञान (वेद तथा वेदांग) के क्षेत्र मे ही हो सकती है। सम्भवत., विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने गुरुकुल को विश्वविद्यालय की समकक्षता की जो स्थिति प्रदान की थी, उसका भी यही प्रयोजन था कि उसे वेद-वेदांगों के अध्ययन अध्यापन तथा शोध का केन्द्र बनाया जाए। गुरुकुल के विश्वविद्यालय विभाग में जिन आठ विषयो की शिक्षा की व्यवस्था है, सम्भवत: उचित यह होगा कि उनमे कमी न की जाए। पर भविष्य के लिए हमारा प्रयत्न यह होना चाहिए कि वेद वेदांगों के अध्ययन-अध्यापन व शोध का गुरुकुल कांगड़ी न केवल भारत का अपितु विश्व का प्रधान केन्द्र बन जाये। सरकार द्वारा भी इसके लिए सहायता प्राप्त होता रहेगी—यह भरोसे के साथ कहा जा सकता है।

---

लेखक :

**डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार**

---

यह प्राय: अनुमान किया जाता है कि वेदो और दर्शनो के सम्बन्ध मे आर्य-समाज के पास ऐसा साहित्य नही है, जिसे पाश्चात्य विद्वानो द्वारा लिखित ग्रथों की तुलना में प्रस्तुत किया जा सके। मैकडानल्ड और कीथ ने वैदिक माइथोलोजी' नामक जो ग्रंथ लिखा था वही प्राय: सर्वत्र भारत के विश्वविद्यालयों के वेदों के कोर्स में पढाया जाता है और इसे पढाने वाले भी प्रधानतया आर्य-समाजी विद्वान् ही हैं। यही बात वेद विषयक अन्य ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी है। गुरुकुल को यह कार्य हाथ में लेना चाहिए कि वेदों के उसी प्रकार के विवेचनात्मक भाष्य तैयार कराए, जैसे कि पाश्चात्य यूनिवर्सिटियो द्वारा प्रकाशित हुए हैं, पर गुरुकुल के वेदविषयक ग्रंथों की रचना महर्षि दयानन्द सरस्वती के मनतव्यों के अनुरूप हो, क्योंकि यास्क की परम्परा के अनुसार वेदों का वास्तविक अभिप्राय इसी प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। यह कार्य न केवल महत्त्व का है, अपितु वस्तुत गुरुकुल का यही वास्तविक कार्य है। यदि इस दिशा में गुरुकुल के भावी स्वरूप का निर्माण किया जाए, तो उसकी उपयोगिता केवल आर्य जगत् में ही नहीं, अपितु व्यापक क्षेत्र में स्वीकार की जायेगी—यह सुनिश्चित है।

ए I/३२ सफदरजंग एन्क्लेव
नई दिल्ली-११००२९

---

**बोध-कथा**

## संकट की घड़ी और साहस !

बाल गंगाधर अपने साथियो के साथ छात्रावास की छत पर बैठे हुए गपशप कर रहे थे। एकाएक सब साथियों के सामने यह समस्या आई कि यदि अचानक नीचे किसी घर सकट आ जाए तो उसकी रक्षा के लिए नीचे जल्दी से जल्दी जाने के लिए कौन कैसे जाएगा?

पहला लड़का बोला—"मैं सीढ़ियो से दौड़ता हुआ निकल जाऊँगा।'

दूसरे ने कहा—'मैं रस्सी लगा कर नीचे उतर जाऊँगा।'

सब अपनी-अपनी कठिनाई का वर्णन कर नीचे पहुंचने का रास्ता बतला रहे थे कि एक ने पूछा—'तिलक, तुम संकट की घड़ी में क्या करोगे?

बाल गंगाधर ने अपनी धोती कसी और बड़ी सावधानता और कुशलता से 'मैं ऐसा करूंगा' कह कर नीचे छलांग लगा दी।

सब साथी चिल्ला पड़े—'अरे यह क्या?' सब यह देखने के लिए नीचे दौड़े कि कहीं बाल गंगाधर को चोट तो नहीं लगी। जब सब जीने में पहुंचे तब उन्हें यह देख कर आनन्द हुआ कि बाल स्वत ऊपर आ रहा था।

यही बालक आगे चल कर अपने साहसी गुणो के कारण भारतीय असन्तोष का जनक लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के रूप मे प्रसिद्ध हुआ। उन्होने अपने देशवासियो को 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार हैं' का मूलमन्त्र दिया था।

—नरेन्द्र

---

**राष्ट्र की सुख-समृद्धि के लिए**

ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं विशश्च त्विषिश्च

यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥
अथर्ववेद कां १२ मं० ८

(ब्रह्म च) सबसे उत्तम विद्या और श्रेष्ठ कर्म करनेवालो को ही ब्राह्मण वर्ण का अधिकार देना चाहिये। उन्हें विद्या का प्रचार करना चाहिये और उन लोगों को भी चाहिए विद्या के प्रचार के में ही सदा तत्पर रहें। (क्षत्रं च) अर्थात् सब कामों में चतुरता, वीरता, धीरज, वीर पुरुषों से युक्त सगठन बनाकर दुष्टों को दण्ड देना और श्रेष्ठों का पालन करना इत्यादि गुणो को बढ़ाने वाले पुरुषों को ही क्षत्रिय वर्ण का अधिकार देना चाहिए। (राष्ट्रं च) श्रेष्ठ पुरुषों की सभा के अच्छे नियमों से राज्य को सब सुखों से युक्त करना चाहिए, और विशश्च) वैश्य आदि वर्णों को व्यापार आदि व्यवहारों द्वारा भूमण्डल के बीच मे जाने-आने वाले का प्रबध करना चाहिए, जिससे ससार में धनादि पदार्थों और व्यवहार आदि अच्छी रीति से रक्षा करनी चाहिए (त्विषिश्च) सब कार्यों मे सब रात-दिन सत्य गुणों ही का प्रकाश करना चाहिए। (यशश्च) उत्तम कामो से भूमण्ड में श्रेष्ठ कीर्ति बढानी चाहिए। (वर्चश्च) सत्य विद्याओ के प्रचार के लिए अनेक विद्यालयों के माध्यम से पुत्रो और कन्याओं को अच्छी रीति से पढने-पढाने का प्रचार सदा बढाना चाहिए। (द्रविणंच) सब मनुष्यो को उचित है कि पूर्वोक्त धर्म से अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा से सदा पुरुषार्थ करें और प्राप्त पदार्थों की रक्षा नियमपूर्वक करें। रक्षा किए गए पदार्थों की सदा बढ़ती करनी चाहिए और सत्य विद्या के प्रचार आदि कामो में बढ़े हुए धन आदि पदार्थो का खर्च नियमपूर्वक करें।

पुष्करलाल आर्य राष्ट्रसेवक
वैद्य नेपाल वानप्रस्थी, कलकत्ता-७

---

### भूल-सुधार

१ फरवरी, १९८१ के 'आर्य सन्देश' में स्वामी मुनीश्वरानन्द सरस्वती के आहुति के लिए स्वाहाकार का प्रयोग शीर्षक प्रकाशित लेख के दूसरे कालम में १४वीं/१५वीं पंक्ति में 'विश्ववेद परिषद के विद्वानो का निर्णय कल्पशास्त्र सम्मत है—' इसके स्थान पर विश्व-वेद परिषद् के विद्वानो का कथित निर्णय शास्त्र सम्मत नहीं है, छपना चाहिए था।

(पृष्ठ का शेष)

की इनके नितान्त ज्वलन्त तथा अनहोने व्यक्तित्व' की शोहरत दिग-दिगन्त में फैल गई थी । यहाँ तक कि अमेरिका जैसे सुदूर देश में उस युग के महान् प्रबुद्ध जन अर्थात् थियोसौफिकल सोसायटी के प्रवर्तक कर्नल हेनरी एस० अलकौट एवं मदाम ब्लावात्स्की हेलेना पेत्रोव्ना १८३१-१८९१ ई.) स्वामी जी से उपदेश ग्रहण करने भारत आये थे । उन्होने स्वामी जी को वहाँ से जो पत्र अग्रेजी में लिखा था उसका कुछ अंश हिन्दी अनुवाद मे इस प्रकार है ;—

'पूजनीय गुरो !

अमेरिका तथा अन्य देशो के कतिपय शिक्षार्थी जो अध्यात्म विद्या के हृदय से जिज्ञासु हैं, अपने आपको आपके चरणों में नत करके प्रार्थी हैं कि आप उनके हृदयों को प्रकाशित करें । ...हम आपके चरणों में उसी भाव से आते हैं जिस भाव से कि पुत्र पिता के चरणो में जाते हैं । और हम कहते हैं कि हे गुरो ! हमारी ओर देखिये और हमको बतलाइये कि हमें क्या करना चाहिये ।

—हेनरी अलकौट

(७१ ब्रौडवे, न्यूयार्क, १८ फरवरी १८७८ ई०)

यह भी सर्व विदित है कि वे लोग १७ दिसम्बर, १८७८ को अमेरिका से चलकर लंदन में कुछ दिन ठहरते हुएं १६ फरवरी, १८७९ को भारत में आ गये थे तथा सहारनपुर में ठहरे थे । स्वामी दयानन्द के उपदेश उन लोगों ने सहारनपुर में और बाद में मेरठ मे कई मास में कई दिनो तक ग्रहण किये थे ।

उल्लेखनीय है कि अमेरिका से रवाना होने के पूर्व ही अपनी थियोसौफिकल सोसायटी को आर्यसमाज मे विलीन करके उसका नाम 'थियोसौफिकल सोसायटी आफ आर्यसमाज आफ इण्डिया' रखने और स्वामी दयानन्द को आचार्य रूप मे ग्रहण करने का प्रस्ताव वे सर्व सम्मति से स्वीकार करा चुके थे ।

सैयद अहमद खाँ और हजरत मुहम्मद कासिम साहब का उल्लेख हम पहले ही कर आये हैं । अनेक क्रिश्चान पादरी भी जिनमें पादरी ग्रे और पादरी इंग्लैण्ड का नाम अग्रणी है स्वामी के समक्ष धर्मचर्चा के लिए आए थे । किन्तु बहुत दिनों तक वे स्वामी जी के साथ नहीं रह सके । कुछ लोग तो उनके कट्टर विरोधी और दुखदायक भी बन गये । लाहौर के ब्रह्मसमाजियों ने उनके साथ जिस निम्न कोटि का व्यवहार किया था, अप्रिय होते हुए भी यहाँ उसका उल्लेख प्रसंग की आवश्यकता के कारण अनिवार्य हो गया है । "स्वामी दयानंद के लाहौर निवास में प्रथम दो सप्ताह का व्यय २५ रुपये ब्रह्मसमाज ने दिया था, क्योंकि लाहौर के लाला जीवनदास, पण्डित मनफूल, नवीनचंद्र राय, और पण्डित अमरनाथ ने ही जो सभी ब्रह्मसमाजी थे, स्वामी जी को लाहौर पधारने का का निमन्त्रण दिया था, किन्तु जब स्वामी जी के साथ लाहौर के ब्राह्मों का मतभेद हो गया तब उन लोगों ने स्वामी जी के भोजन-पानी का व्यय बन्द कर दिया । यहाँ तक कि जो लोग २५ रु. दे चुके थे उसे भी वापस माँगने और वसूल कर लेने में भी उन लोगों को कोई सकोच नही रहा ।' यह विवरण लाहौर के अग्रेजी मासिक पत्र 'दि रिजेनेरेटर आफ आर्यावर्त' के १८८३ ई० के जनवरी मास के अक के पृष्ठ ३ पर प्रकाशित हुआ था और इसका कोई खंडन नहीं हुआ । अत इसे सच माना जा सकता है ।

### आखिर ऐसा क्यों ?

काशी के सनातनी पंडितों के साथ वहाँ सन् १८६९ ई० के नवम्बर महीने की १७वीं तारीख जो शास्त्रार्थ हुआ था और जिसके विषय में स्वामीजी के पराजित होने का झूठा निर्णय उछाला गया था । उस सम्बन्ध में एक तटस्थ व्यक्ति ने अपनी राय अग्रेजी पत्र 'दि हिन्दू पैट्रियट' के १८७० ई० के १७ जनवरी के अक में प्रकाशित की थी । जिसके एक अंश का हिन्दी रूपान्तर निम्न प्रकार से है—

"...सभा में दयानन्द के साथ पंडितों का बहुत देर तक वाग्युद्ध रहा । शास्त्रसम्बन्ध में पडितो की तीक्ष्ण दृष्टि होने पर भी वे लोग निस्सशय ही दयानन्द से पराजित हो गये थे, अर्थात् उन्हें न्यायानुसार विचार मे पराजित करना, असभव समझ कर पडितो ने अन्यायुक्त विचार का आश्रय ग्रहण कर लिया था ।...और यह कह कर कि 'दयानन्द पराजित हो गये' उठ खड़े हुए थे । तथापि वे निरुत्साहित नही हैं प्रत्युत अधिकतर उत्साह से वहाँ के पडितो को शास्त्र सग्राम के लिए आह्वान करते हैं । ...किन्तु वाराणसी का कोई पंडित उनके आह्वान का उत्तर देन के लिए उद्यत नहीं हो सका । ...वह अकेले होने पर भी विपक्षी दल के भीतर महावीर के समान अचल रहे हैं । कारण यही है कि दयानन्द ने सत्यरूपी दुर्भेद्य वर्म (बख्तर) से अपने को आवृत्त किया है । उनकी विजय पताका भी वायु से मंद-मंद आन्दोलित होती है ।

'हम एक दिन उनसे मिलने के लिए दुर्गाबाड़ी के निकटस्थ आनन्दबाग मे गये थे । हमने जाकर देखा कि दयानन्द की मूर्ति ऋषि के समान है । उनका मुख सर्वदा ही प्रफुल्लित और प्रकृति अत्यन्त सरल है । हमें उनसे बात करते समय बोध होता था कि उनके मुख से अमृत बरस रहा है । वह सांसारिक सुख का सब प्रकार से परिहार करके कठोर भाव से कालातिपात करते हैं और हिन्दूधर्म के परिष्कार से स्वदेश का यथार्थ कल्याण साधन करने मे आकाक्षित रहते हैं ।"

### सरलस्वभाव के महापुरुष

इस तरह के अनेक उदाहरण हैं जिनसे यह तथ्य निर्विवाद रूपसे प्रमाणित हो जाता है कि महर्षि बहुत ही सरल स्वभाव के महापुरुष थे । अन्यायपूर्ण विधि से विरोध करने वालों के प्रति भी उनके मन में कोई कटुता नही आ पाती थी । उनके साथ निबहना भी बहुत ही आसान और सुखद था । फिर क्या कारण था कि बड़े-बड़े सुधीजन भी उनके साथ दूर तक चल नही पाए थे । यह भी निर्विवाद है कि इस समस्त छूट-छट की घटनावली मे ऐसा एक भी उदाहरण नही मिलता जहाँ स्वामी जी ने स्वयं किसी को छोड़ा हो । सच तो यही है कि उनके साथ चलने में सर्वथा असमर्थ जान स्वयं ही उनको छोड़कर कट गये थे । स्वामी जी सत्य निष्ठा की वह कराल कठोर धारा थे, जिसमे स्वार्थ रहित हल्के बोझ वाली नाव ही चल सकती थी । जो लोग आडम्बरो की ढेर भर घासो की गठरी पीठ पर लिये चलना चाहते थे वे सभी उस कराल धारा मे छितरा कर घाट पर जा अटकते थे ।

भारतीय हिन्दू धर्म सत्य की धारा से अलग सदियों से इकट्ठी हुई घास की गाँठें लादकर धर्म की पवित्र धारा से अलग-थलग हो—तट के कीचड़ में रेंगती हुई जर्जर नौका हो विनाश की ओर अग्रसर था । इस विषम परिस्थिति में दयानन्द केवल हिन्दू धर्मावलम्बियों के ही नहीं, अपितु इसी तरह की झंझट मे फंसे अन्य धर्मावलम्बियो के भी उद्धारकर्ता बन कर सबके लिए वेदों की दृढ़ नाव लेकर आये थे । उनके गुरु ने किसी भी मनुष्यकृत ग्रन्थ को प्रमाण न मानने और किसी नए ग्रंथ की रचना कदापि न करने का कठोर उपदेश दिया था । यही कारण था कि महर्षि ने वेदो के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रथ को प्रमाण नहीं माना । डाक्टर मैक्समूलर ने तो यहाँ तक कहा है कि : स्वामी दयानन्द बड़े उदार चरित्र मनुष्य प्रतीत होते हैं । वह ब्राह्मण ग्रंथों मे अपौरुषेय तत्व में विश्वास छोड़ देने पर भी उदात्त थे ।', और सर सैयद अहमद खाँ ने स्वामी जी में सच्चे तपस्वी के गुणों की झलक पाई थी । सैयद साहेब ने ठीक ही लिखा है कि "वह केवल ज्योतिमय निराकार परमेश्वर की उपासना की शिक्षा देते थे, उससे भिन्न और किसी की नहीं ।' वेद विरोधी मतों को इन्कार करने में स्वामी जी ने वेदविरोधी जैन और बौद्धमतों के समान ही रामानुज, माधवाचार्य, वल्लभाचार्य के मतों को भी अवैदिक धार्मिक विप्लव कह कर अग्राह्य माना उन्होंने पंजाब के गुरुनानक के सिक्खमत और उनके अनुयायी कबीर, सहजोबाई, आदि के ग्रन्थों को तथा नवद्वीप के निमाई संन्यासी आदि के सम्प्रदायों को भी अवैदिक विप्लववाद का नाम देकर त्याज्य निरूपित किया ।

इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ इनेगिने प्रबुद्ध हिन्दुओं को छोड़कर सारा हिन्दू समाज उनको अपना शत्रु मान बैठा । सन् १८५८ के बाद ब्रिटिश हुकूमत ने नाना प्रकार के प्रलोभनों से उन्हें अपना प्रचारक बनाने का प्रयास किया था, किन्तु उनके क्रांतिकारी रूप से परिचित हो गुप्त रूप से उन्हें परम शत्रु मान उनको विनष्ट करने का षडयंत्र बराबर रचते रहे थे । भारत के राजे-रजवाड़े यदि केवल मूर्तिपूजा का विरोधी स्वर मद कर देने पर राजी हो सकते तो उन्हें हाथोंहाथ लिए रहने को बराबर तैयार थे, किन्तु स्वामी जी इस तरह के सभी प्रस्ताव ठुकराते रहे थे । वह सत्य के सामने किसी से भी किसी भी कीमत पर समझौता करने को राजी नहीं हो सकते थे । 'सत्यार्थप्रकाश' में यहूदी, ईसाई, इस्लाम तथा बौद्ध, जैन आदि धर्मों की समीक्षा करते समय उन्होंने इन धर्मों के मिथ्याडम्बरों की बड़ी पैनी आलोचना की । यद्यपि बार-बार वह कहते रहे कि "जो जो हमने इन मतों के विषय में लिखा है वह केवल सत्यासत्य के निर्णयार्थ है न कि विरोध वा हानि करने के अर्थ तथा यह लेख केवल मनुष्यों की उन्नति और सत्यासत्य के निर्णय के लिए सब मतो का थोड़ा-थोड़ा ज्ञान होवे, इससे मनुष्यों को परस्पर विचार करने का समय मिले और एक दूसरे के दोषों का खंडन कर गुणों का ग्रहण करें न किसी अन्य मत पर न इस मत पर झूठ मूठ बुराई व भलाई लगाने का प्रयोजन है किन्तु जो-जो भलाई है वही भलाई और जो बुराई है वही बुराई सबको विदित होवे । "यह लेख हठ, दुराग्रह, ईर्ष्या, द्वेष, वाद-विवाद और विरोध घटाने के लिए किया गया है न कि इनको बढ़ाने के अर्थ । क्योंकि एक दूसरे की हानि करने से पृथक रह कर परस्पर को लाभ पहुंचाना हमारा मुख्य कर्म है ।" तथापि इस ग्रथ के प्रकाशन के बाद स्वामी जी के प्रति विरोधियों के मन की अग्नि तीव्र से तीव्रतर हो गई । इस कोटि के सत्य के महान् आग्रही की जो नियति अतीत में होती आई है वही नियति महर्षि दयानंद की भी हुई । सत्य की वेदी पर उन्हें शहीद हो जाना पड़ा ।

(क्रमशः)

'लक्ष्मी निवास, सिविल लाइन्स,
सुल्तानपुर (उ० प्र०) २२८००१

(पृष्ठ ५ का शेष)

प्रचार किया। वेदों का भाष्य करके वेदों के यथार्थ वास्तविक अर्थ प्रकट किए। उसी से प्रभावित होकर आज अनेक विद्वान् वेदों का भाष्य करने लगे। जो सनातनी सायण एवं महीधर के अर्थों तक ही बंधे थे, उन्होंने स्वतन्त्र रूप से भाष्य करने प्रारम्भ कर दिए। वे सनातनी महर्षि के भाष्य को हृदयंगम करते हुए भी प्रत्यक्ष रूप से अपना पौराणिक स्वरूप बनाये रखने के लिए, राम, कृष्ण, हनुमान, आदि का प्रतिपादन वेद से करते हैं और उन्हीं मन्त्रों का दूसरा वास्तविक अर्थ भी कर देते हैं। यह सब प्रभाव महर्षि दयानन्द की क्रान्ति का ही है। सम्प्रदाय रूपी बादलों से वेदरूपी सूर्य की ज्योति को छिपाने का प्रयास सदा के लिए नहीं हो सकता, फलतः वेदों का प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ेगा ही।

महर्षि दयानन्द के द्वारा उत्पन्न क्रान्ति एक शताब्दी में इतनी व्याप्त हुई है तथा भविष्य में उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त होगी। आर्यसमाज अपनी शक्ति वेद के प्रचार में विशेष लगाकर वेद का विश्व में नेतृत्व करे तो विश्व का कल्याण होगा।

---

## लेखराम बलिदान वर्ष मनाइए

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के मंत्री श्री विद्यासागर विद्यालंकार ने दिल्ली की आर्यसमाजों और आर्यजनों को ध्यान दिलाया है कि आगामी सोमवार ९ मार्च १९८१ के दिन श्री लेखराम वीर तृतीया है। ८४ वर्ष पूर्व उस दिन एक यवन हमलावर ने पं. लेखराम की हत्या कर दी थी।

मंत्री जी ने आर्यजनों एवं आर्यसमाजों से अनुरोध किया है कि उस दिन समाज मंदिरों में विशेष सभाएं की जाएं अथवा रविवार ८ मार्च के साप्ताहिक सत्संग में विशेष भाषणों की व्यवस्था कर हुतात्मा वीर शहीद पं. लेखराम जी के अमर जीवन से प्रेरणा ग्रहण करें।





अन्तर्राष्ट्रीय विकलांग वर्ष के उपलक्ष्य में

महाशय चुन्नीलाल धर्मार्थ ट्रस्ट द्वारा संचालित

श्रीमती चन्नन देवी आर्य नेत्र धर्मार्थ चिकित्सालय

सुभाष नगर, नई दिल्ली-२७

में २८ फरवरी से ३१ मार्च १९८१ तक

सभी प्रकार की सुविधाओं से परिपूर्ण

## निश्शुल्क नेत्र आपरेशन शिविर

की व्यवस्था की गई है

इसका उद्घाटन सोमवार २ मार्च को

प्रातः ९॥ बजे दिल्ली के लोकप्रिय

## उप राज्यपाल श्री जगमोहन जी करेंगे

स्वागत-समारोह की अध्यक्षता श्री धर्मदास शास्त्री एम. पी. करेंगे

भारत के प्रसिद्ध आर्यनेता लाला रामगोपाल शाल वाले

मुख्य अतिथि होंगे

निवेदक

| सरदारी लाल वर्मा | विद्यासागर विद्यालंकार | महाशय धर्मपाल | ओमप्रकाश आर्य |
|---|---|---|---|
| प्रधान | मन्त्री | प्रधान | मन्त्री |
| दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा | | दिल्ली आर्य केन्द्रीय सभा | |

# आर्यसमाजों के सत्संग

१-३-८१

अन्धा मुगल प्रताप नगर—पं० रामदेव शास्त्री; अमर कालोनी—पं० प्राणनाथ सिद्धांतालकार; अशोक बिहार के-सी-५२-ए—पं० रामरूप शर्मा; आर्यपुरा—प्रो० सत्य पाल बेदार; आनन्द विहार हरि नगर एल ब्लाक—पं० महेन्द्र प्रताप शास्त्री; किंग्जवे कैम्प—श्री मोहनलाल गांधी; कृष्ण नगर—प० प्रकाश चन्द वेदालंकार; कालका जी—पं० मुनिशंकर वानप्रस्थी; कालका जी डी. डी. ए. फ्लैट्स एल-१/१४३-ए—पं० हीरालाल शास्त्री; करौल बाग—आचार्य कृष्ण गोपाल; गांधी नगर - पं० खुशीराम शर्मा; गीता कालोनी—पं० तुलसी राम भजनोपदेशक; १५१-गुप्ता कालोनी—वैद्य रामकिशोर; गोविन्द पुरी—पं० हरिदत्त शास्त्री; गोविन्द भवन दयानन्द वाटिका—पं० वेदपाल शास्त्री; जंगपुरा भोगल—श्रीमती लीला वती आर्या; जनक पुरी सी-B—पं० दिवाकर शर्मा; जनक पुरी बी ब्लाक—पं० देवराज वैदिक मिश्नरी; टैगोर गार्डन—पं० ओम वीर शास्त्री; तिलक नगर—पं० छज्जूराम शास्त्री; नारायण विहार—डा० रघुबीर सिंह; पंजाबी बाग—प्रो० वीर पाल विद्यालकार; पंजाबी बाग एक्स्टेंनशन १४/३—प० प्रकाश वीर 'व्याकुल'; पश्चिम पुरी जनता क्वाटेंरज—पं० शीशराम भजनोपदेशक; बाग कड़े खां—पं० बरकत राम भजनोपदेशक; बाजार सीताराम—डा० सुखदयाल भूटानी; बिरला लाइन्स—पं०गणेश प्रसाद विद्यालंकार; माडल टाउन—प० देवेश; माडल बस्ती—पं० विश्वप्रकाश शास्त्री; महरौली—प०केशव चन्द्र मुन्जाल; रमेश नगर—पं० वीरव्रत शास्त्री; राणा प्रताप बाग—प० प्रकाशचन्द्र शास्त्री; लड्डू घाटी—जगदीश प्रसाद विद्यावाचस्पति; लाजपत नगर—आचार्य हरिदेव सि० भू०; विक्रम नगर—पं० मनोहर विरक्त; विनय नगर—पं० ईश्वर दत्त एम,ए; सराय रोहला—श्रीमती प्रकाशवती शास्त्री; सुदर्शन पार्क—प्रो० भारत मित्र शास्त्री; श्री निवास पुरी—पं सत्य भूषण वेदालकार; हनुमान रोड—प० हरि शरण; हौज खास—पं० परमेश्वर दत्त शर्मा आर्य; मोती बाग—आचार्य राम शरण मिश्र शास्त्री।

(पृष्ठ १ का शेष)

ब्राह्मणाः सम्मर्शिनो युक्ता अयुक्ता अलूक्षा धर्मकामा स्युर्यथा तत्र वर्तेरन् । तथा तत्र वर्तेथाः । एष आदेश एष उपदेश एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ॥ तैत्तिरीय उपनिषत् ७. ११. १-४

तू सदा सत्य बोल। धर्माचरण कर। प्रमादरहित होकर पढ़-पढ़ा। प्रमाद से भी कभी सत्य मत छोड़। प्रमाद से धर्म का त्याग मत कर, प्रमाद से आरोग्य और चतुराई मत छोड़। प्रमाद से उत्तम ऐश्वर्य की वृद्धि को मत छोड़। प्रमाद से पढ़ने-पढ़ाने को कभी मत छोड़। देव-विद्वान माता-पिता की सेवा में प्रमाद मत कर। जैसे विद्वान् का सत्कार करे उसी प्रकार माता-पिता-आचार्य और अतिथि की सेवा किया कर। जो अनिन्दित धर्मयुक्त कर्म हैं, उन सत्य भाषणादि को किया कर, उनसे भिन्न मिथ्या भाषणादि कभी मत कर। जो हमारे सुचरित्र अर्थात् धर्मयुक्त कर्म हों उनका ग्रहण कर और जो हमारे पापाचरण हों, उनको कभी मत कर।

जो हमारे मध्य में उत्तम विद्वान् धर्मात्मा ब्राह्मण हैं, उन्हीं के समीप बैठ और उन्हीं का विश्वास किया कर। श्रद्धा से देना। अश्रद्धा से देना। शोभा से देना। लज्जा से देना। भय से देना और प्रतिज्ञा से भी देना।

जब कभी तुझ को कर्म वा शील तथा उपासना-ज्ञान में किसी प्रकार का संशय उत्पन्न हो तो जो वे विचारशील पक्षपातरहित योगी, अयोगी, आर्द्रचित्त धर्म की कामना करने वाला धर्मात्मा जन हों, जैसे वे धर्ममार्ग में वर्तें, वैसे तू भी उसमें व्यवहार किया कर। यही आदेश, आज्ञा, यही उपदेश, यही वेद की उपनिषत् और यही शिक्षा है। इसी प्रकार व्यवहार करना और अपना चाल-चलन सुधारना चाहिए।

महर्षि दयानंद सरस्वती कृत अनुवाद
'सत्यार्थप्रकाश' तृतीय समुल्लास

## शोक-प्रस्ताव

आर्यसमाज सदर बाजार, दिल्ली की साधारण सभा ने १ फरवरी के अधिवेशन में श्रीमती कमला देवी, धर्मपत्नी के. नरेन्द्र सम्पादक दैनिक प्रताप के आकस्मिक निधन पर गहरा शोक व्यक्त किया।



दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के लिए श्री सरदारी लाल वर्मा द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा भाटिया प्रेस ७२६/१-सी, गुरुनानक गली, गांधीनगर दिल्ली-३१ में मुद्रित। कार्यालय १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली फोन नं० ३१० १५०

ओ३म्

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

# आर्य सन्देश

दिल्ली आर्यप्रतिनिधि सभा का साप्ताहिक मुखपत्र

एक प्रति २५ पैसे | वार्षिक १५ रुपये | वर्ष ४ : अंक २२ | रविवार २९ मार्च १९८१ | दयानन्दाब्द १६

# खालसा दीवान द्वारा पृथक् सिख राज्य की मांग

## सुरक्षा परिषद में सहायक सदस्यता मिले : चण्डीगढ़ में खालसा दीवान की राष्ट्रविरोधी गतिविधि

चण्डीगढ़ । प्रेक्षकों को यह जानकर फिर चिन्ता हो गई है कि भारत के पश्चिमोत्तर सीमावर्ती संवेदनशील क्षेत्र में पुनः साम्प्रदायिक ताकतें सिर उठाने लगी हैं। चीफ खालसा दीवान द्वारा आयोजित ५४वें अ० भा० शिक्षा सम्मेलन में एक प्रस्ताव स्वीकार कर मांग की गई है कि सिखों को पृथक् राष्ट्र के रूप मे मान्यता दी जाए और उन्हें संयुक्त राष्ट्र संघ में सहायक सदस्य के रूप में बैठने की अनुमति दी जाए। इस अवसर पर खालिस्तान के पक्ष में नारे भी लगाए गए।

### अन्तर्राष्ट्रीय रंग देने की कोशिश

स्थिति के जानकार सूत्रों के लिए चिन्ता का विषय यह है कि अभी तक सिखों की पुरानी संस्था चीफ खालसा दीवान केवल पन्थ और शिक्षा के क्षेत्र में ही संलग्न था, परन्तु उसने पहली बार एक मंच से राजनीतिक नारे लगाए हैं। सुविज्ञ क्षेत्रों को यह जानकर भी अचम्भा नहीं हुआ कि सिखों के लिए अपने पृथक् देश खालिस्तान की मांग की गई है। यह मांग नई नहीं है, सिखों के उग्र तत्त्व पहले भी यह मांग करते रहे हैं, चिन्ता की बात यह है कि सम्मेलन में पहली बार इस मांग को अन्तर्राष्ट्रीय रंग देने की कोशिश की गई है।

चण्डीगढ़ स्थित पोस्ट ग्रेजुएट इन्स्टीट्यूट आफ मेडिकल एजुकेशन के भू० पू० डायरेक्टर डा० जे० ए० नेगी ने सिख शिक्षा संस्थाओं को आधुनिक स्वरूप देने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन नियुक्त करने का प्रस्ताव रखते हुए सिखों को आगाह किया कि सोवियत रूस सिख बुद्धिजीवियों को गुरुमुखी में अपना साहित्य पहुंचाकर तथा पंजाबी लेखकों को सम्मानित कर उन्हें प्रभावित कर रहा है। उन्होंने मांग की कि सिखों को अपनी तालीमी संस्थाएं अपनी परम्पराओं की दृष्टि से पृथक् रखनी चाहिएं।

### एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्प्रदाय

यह भी एक चिन्ता का विषय है कि इस सम्मेलन की अध्यक्षता किसी भारतीय सिख विद्वान् ने नहीं की, प्रत्युत कान्फ्रेंस की सदारत एक अमेरिकी सिख व्यापारी गंगासिंह ढिल्लो ने की। उन्होंने प्रेस प्रतिनिधियों से चर्चा में कहा यद्यपि उनका विश्वास है कि सिख एक राष्ट्र या नेशन हैं, तथापि उन्हें खालिस्तान की मांग से कोई वास्ता नहीं है। उनका कथन है कि सिख केवल पंजाब और दिल्ली में ही केन्द्रित नहीं हैं, प्रत्युत वे संसार भर में फैले हुए हैं। संसार भर में फैले सिखों की विशिष्ट समस्याएं हैं। उनकी दृष्टि में सिख एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्प्रदाय है, उन्हें यूक्रेनियनों, रेड इण्डियनों और फिलस्तीन मुक्ति मोर्चे की तरह संयुक्त राष्ट्र की सहायक सदस्यता मिलनी चाहिए, जिससे कि वे अन्तर्राष्ट्रीय माध्यमों से अपनी शिकायतें प्रस्तुत कर सकें।

अमेरिकी गुरुसिख ढिल्लों को अकाली दल तथा शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक समिति से यह शिकायत है कि वे उन्हें पाकिस्तान सरकार से चर्चा कर पाकिस्तान में सिख यात्रियों को उन्मुक्त रूप से प्रवेश करने के बातचीत में बाधा उत्पन्न कर रहे हैं। उनका ख्याल है कि पाकिस्तान के राष्ट्रपति जिया उल हक उस देश की सिख संस्थाओं के प्रबन्ध एवं सिख यात्रियों के प्रवेश के लिए उपयुक्त सुविधा देने के लिए तत्पर हैं।

### प्रवेश के लिए चिन्ता का विषय

चिन्ता का विषय है कि चीफ खालसा दीवान जो अभी तक केवल पत्थ और शिक्षा की उन्नति में संलग्न रहा है, सरदार सुन्दर सिंह मजीठिया, भाई वीर सिंह और सरदार खड़कसिंह जैसे व्यक्तियों का उसे सहयोग मिला है, वह संस्था पहली बार राजनीतिक नारों का अखाड़ा बन गई और उस सम्मेलन को अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप देने का प्रयत्न किया गया। यह भी चिन्ता का विषय है कि जब कम्युनिस्ट गुरु सिख गुरुद्वारों तथा शिक्षा संस्थाओं के माध्यम से सिख जनता में प्रवेश कर रहे हैं तब अमेरिका भी इस क्षेत्र में पीछे नहीं रहना चाहता।

पंजाब ट्रिब्यून ने इस बात पर खेद व्यक्त किया है—'यद्यपि चीफ खालसा दीवान अच्छा कार्य कर रहा है तथापि आजादी की लड़ाई में उसने अंग्रेजों का साथ दिया था, यही कारण है कि आजादी के बाद भी संस्था सिख जनता का दिल नहीं जीत सकी, इस संस्था को अपनी गतिविधियां शिक्षा के क्षेत्र में मर्यादित रखनी चाहिएं, यदि वह सिखों का नेतृत्व करना चाहता है, तो उसे इसका खुला ऐलान करना चाहिए।

जालन्धर के पंजाबी दैनिक 'अजीत' ने लिखा है—'ऐसे बड़े प्रस्ताव को पास करने का क्या फायदा, जब उस पर अमल नहीं हो सकता। दीवान को खालिस्तान की मांग करने से पूर्व नवयुवकों में सिख धर्म की शिक्षा का प्रचार करना चाहिए।' □

# आर्यसमाज का ध्वज : शहीदों की कुर्बानी का प्रतीक

आर्यसमाज दीवान हाल के ९६ वें वार्षिकोत्सव के अवसर पर आर्य पताका लहराते हुए सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के अनुसन्धान विभाग के अध्यक्ष आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री ने घोषित किया था —'झण्डा समाज, दल या समूह विशेष की भावनाओं और उनके क्रियाकलाप का प्रतीक होता है। मुक्त आकाश में लहराता हुआ ध्वज हमारे अभिमान को ऊँचा उठाता है। आर्य पताका का रंग अग्निशिखा सा है। यह प्रातर्वन्द्य महर्षि दयानन्द सरस्वती से लेकर आज तक के सभी शहीदों की कुर्बानी की कहानियां कहता है। कोई भी ध्वज या झण्डा किसी भी संस्था के क्रियाकलाप और उपलब्धियो का प्रतीक होता है।'

वार्षिकोत्सव का विवरण २२ मार्च मार्च के अंक में प्रकाशित हो चुका है।'

### गोवंश हत्या पर पाबन्दी लगाई जाए

इस अवसर पर एक प्रस्ताव स्वीकार कर एक विशेष सम्मेलन में एक प्रस्ताव स्वीकार कर इस स्थिति पर गहरी चिन्ता व्यक्त की गई कि जनता की बार बार मांग करने पर भी भारत सरकार ने अभी तक गोहत्या पर पूर्ण प्रतिबन्ध नहीं लगाया। हमारे संविधान मे भी सरकार को यह आदेश दिया गया है कि गोरक्षा पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाना चाहिए, परन्तु स्वतन्त्रता के ३० वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी अभी तक गोवंश की हत्या बन्द नहीं की गई। आर्यसमाज सरकार का ध्यान एक बार फिर इस स्थिति की ओर दिलाना चाहता है और भारत सरकार से एक बार फिर अनुरोध करता है कि गोवंश की हत्या शीघ्रताशीघ्र बन्द करने के लिए इसे केन्द्रीय सूची सम्मिलित कर गोवंश की हत्या पर प्रतिबन्ध लगाया जाए।

**याद रखें—आर्यसन्देश का अगला अंक विशेषांक होगा आर्यसमाज-स्थापना अंक : अपनी प्रति सुरक्षित कराएं**

सम्पादक—नरेन्द्र विद्यावाचस्पति

# रुद्र को प्रसन्न करो, प्रेय तथा श्रेय मिलेगा

त्वरुद्रमवीम ह्यव देवं त्र्यम्बकम् ।
यथानो वस्यसस्करत्,
यथा न श्रेयसस्करत्
यथा नो व्यवसाययात् ।। यजु-३-५८

ऋषि —वन्धुः । देवता—रुद्रः ।

शब्दार्थ—हम (त्रि —अम्बकम्) तीन प्रकार की प्रगति प्रदान करने की इच्छा से त्रयी रूप वेदो का उपदेश करने वाले ब्रह्म स्वरूप भगवान् को (अव-अदीमहि) उसके उपदेशों का पालन करके प्रसन्न करते हैं (यथा) जिससे वह हमें (व्यवसाययात्) सदा निश्चयात्मक विचारो वाला तथा व्यवसाय युक्त रखें। हम कभी व्यवसाय रहित न होने पाए ।

हम (देवम्) कर्मानुसार सम्पूर्ण भोग प्राप्त करा कर, आनन्द रूप श्रेय प्राप्त कराने वाले देवाधिदेव विष्णुस्वरूप भगवान् को प्रसन्न करते हैं, (यथा) जिससे वह (न.) हमें (श्रेयसस्करत्) प्रेय की अपेक्षा श्रेय की अधिक कामना करने वाला बनाए।

हम (रुद्रम्) दुष्टों को रुलाने वाले यम रूप भगवान् को (अवअदीमहि) ब्रह्मचर्य (वेदोक्त आचरण) द्वारा प्रसन्न करते हैं (यथा) जिससे वह (नः) हमें (वस्यसः) जितना धन हमारे पास है, उससे अधिक धन, और जैसा निवास प्राप्त है उससे (बेहतर) निवास (करत्) प्राप्त कराए।

निष्कर्ष—ब्रह्मा को वेदो को प्रकट करने वाला तथा सृष्टिकर्ता माना गया है। वेद त्रयी रूप है, इसलिये उनका उपदेश करने के कारण उसे त्र्यम्बक भी कहते हैं। विष्णु सर्वव्यापक तथा सबका भरण-पोषण करने से देवाधिदेव हैं। रुद्र सबको नियम में रखने के लिए कर्मानुसार दण्ड, मृत्यु देकर रुलाने से रुद्र कहलाते हैं। वास्तव मे ये तीनों रूप भगवान् के हैं।

जो इन तीनो देवो के उपदेशो का पालन करके इन्हें प्रसन्न करेगा, तृप्त रखेगा, उसे प्रेय और श्रेय दोनों प्राप्त होंगे। उसके इहलोक और परलोक दोनो आनन्दमय होंगे । उसकी सर्वाङ्गीण प्रगति होगी।

विशेष—इस मंत्र का ऋषि बन्धुः है। इस मंत्र में परमेश्वर के सृष्टि-पालन तथा संहार तीनों कार्यों की चर्चा के साथ मुख्य रूप से रुद्र का देवता रूप में वर्णन है। रुद्र में ये तीनों कार्य समन्वित हैं। वह उपदेश देता है, सब रोगों का भिषक है, और आज्ञा न मानने पर दण्ड देकर सबको रुलाने वाला है। जो साधक बन्धु के समान उसके बन्धनों को मानता है, उसे वह आगे और आगे ले जाता है। बेहतर बनाता है। प्रेय से श्रेय की ओर ले जाता है और फिर अधिक-अधिक श्रेय प्राप्त कराते हुए परमश्रेय तक पहुंचा देता है। जो उसके उपदेशों का उल्लंघन करता है, उसे रोग, शोक, आधि-व्याधि द्वारा रुलाता रहता है, और जन्म-मृत्यु के चक्र में डाले रखता है।

अर्थ पोषक प्रमाण—अव अदीमहि—अदभक्षणे। अव+अद्—तृप्त होना या तृप्त करना, संस्कृत धातु कोस (रामलाल ट्रस्ट)। अव+अदि बन्धने, उसके बन्धनों (उपदेशो) को मानकर उसे प्रसन्न करते हैं ।

त्र्यम्बकम्—त्रि+अबि शब्दे—अम्ब्यन्ते उच्चार्यन्ते इत्यम्बाः वेदाः, अम्ब गतौ तीन प्रगतियों को देने वाला त्रीन् वेदान् कायति इतितम् ।

भगवद्दाचार्य

देवम्—दिवु=क्रीडा विजिगीषा व्यवहार द्युति स्तुति मोदमद स्वप्न कान्तिगतिषु । यह जगत् देवाधिदेव की क्रीड़ा (लीला) है। यदि किसी को विजिगीषा है, वह अपने व्यवहार को सफल बनाकर द्युति मोद मद कान्ति, गति प्राप्त करना चाहता है, तो उसे सदा उसकी स्तुति करनी चाहिए। गति (प्रगति—परमगति)।

रुद्रम्—१—रुतः सत्योपदेशान् ददाति इति । रौति—इति रुशब्दे ।

२—रुद्—दुःखं दुःखहेतुर्वा तद् द्रावयति नः प्रभुः।

रुद्र इत्युच्यते तस्मात् शिवः परम-कारणम् ।। वायवीय संहिता ।

३—रोदयति पापिनः—इति ईश्वरः । रुदिर्—अश्रु विमोचने ।

रुद्रो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च देवानाम् । कौशीतकी २५-१३

ब्रह्मचर्य—ब्रह्म (वेदोपदेश)+चर्य (चर—चरण—आचरण)

श्रेयसः—श्रेयः कल्याणम् । प्रशस्यतरान् । वन्धुः—बन्ध बन्धने ।

स्यसः—वसतीति—वासयति—इति, वासो वास्यास्तीति—वस्तुतरा-नित्यर्थः ।

—मनोहर विद्यालंकार

---

# वेद का अध्यापन कैसा ?

खेद के साथ लिखना पड़ता है कि आजकल हमारे कालिजों-यूनिवर्सिटयों में ऋषि दयानन्द को वेदभाष्य नहीं पढ़ाया जाता। अंग्रेज चला गया, पर अंग्रेजियत नहीं गई। वेदभाष्य पढ़ाया जाता है, मैक्समूलर, पीटर्सन, मैकडानल का। आप कहेंगे, सो कैसे? सुनिए :—

मत्र है :—

येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि,
यो दासंवर्ण मधरं गुहा कः ।
श्वघ्नीव यो जिगीवाँल्लक्ष मादद्,
अर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः ।।

(ऋक् सूक्त संग्रह) ऋक् म० २ सू०-१२, म०-४

**विदेशी विद्वानों का अर्थ**

इसका अर्थ इस प्रकार किया गया है :—

जिसने इन सम्पूर्ण नश्वर भुवनों को स्थिर किया है, जिसने दास अर्थात् शूद्र आदि वर्णों को गुफा आदि गुप्त स्थानों में स्थापित कर दिया है अथवा हिंसक असुर जाति को नरक में डाल दिया है, जिसने लक्ष्य को जीत लिया है और जिसने शत्रुओं के धनों को उसी प्रकार छीन लिया है, जैसे शिकारी या जुआरी छीन लेता है। हे असुरो, वही इन्द्र है।

कहिए, यदि ऐसा अर्थ पढ़कर हमारे छात्र यह समझते हैं कि आर्य लोग शूद्रों से घृणा करते थे, उन्हें, वेद पढ़ने व सुनने का अधिकार नहीं, असुर नरक के अधिकारी हैं। इन्द्र ईश्वर का भी कोई लक्ष्य होता है, वह शिकारी या जुआरी की तरह आचरण करता है, तो इनमें उनका क्या दोष है? अंग्रेजों का षड्यंत्र सफल हुआ। नादिरशाह और औरंगजेब की तलवार जो काम नहीं कर सकी, वह गौरांग महाप्रभुओं ने कर दिखाया।

**लेखक :**
**सत्यभूषण वेदालंकार**

**महर्षि दयानन्द का अर्थ**

अब तनिक महर्षि दयानंद जी द्वारा लिखित अर्थ पर विचार कीजिए :—

पदार्थ :—हे मनुष्यो ! जिस ईश्वर ने वे समस्त प्राप्त हुए लोक दृढ़ किए जो हृदयाकाश में रूप को इस हृदय के नीचे (दासम्) देने योग्य करता है और जो (श्वघ्नीव) कुत्तों को दंड देने वाली के समान (जिगीवान्) जयशील (लक्षम्) लक्ष्य के (आदत्) ग्रहण करता है। वह (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् (अर्यः) ईश्वर है यह जानना चाहिए।

महर्षि का यह अर्थ कितना तर्क-संगत और सारगर्भित है। हृदयाकाश में (अंगुष्ठमात्रः) उस प्रभु के दर्शन होते हैं। आत्मा परमात्मा का मेल होता है। यह सिद्ध ही है। यही इन्द्र परमैश्वर्यवान् परमात्मा ही सब कर्मों को लक्ष्य-सा रखता है, वह सबको उपासना करने योग्य है।

अब कौन-सा अर्थ ग्राह्य है, कौन-सा अग्राह्य है ? उचित है, या अनुचित, यथार्थ है या अयथार्थ, पाठकगण स्वयं निर्णय करें। आर्य विद्वान् नेता भी विचार करें कि वेदाध्यापन कैसा हो ?

ग्रीनपार्क, नई दिल्ली

---

## अच्छा सुनो, अच्छा देखो, अच्छा करो

आ३म् भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।

स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥

हे दिव्य गुणों से सम्पन्न यज्ञ की शक्तियो, आपकी कृपा से हम कानों से अच्छा ही सुनें, आँखों से अच्छा ही दृश्य देखें, आपका स्तवन करते हुए सुदृढ़-अंगों और सुदृढ़ शरीरों से दिव्य गुणों द्वारा प्राप्तव्य दीर्घ-आयु उपलब्ध करें ।

# देश में नए पाकिस्तानों का संकट

राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्ति के बाद से देश के पूर्वोत्तर प्रदेशों तथा अन्य क्षेत्रों में ईसाई प्रचारक निरन्तर सक्रिय रहे हैं। अभी तक केवल ईसाइयों द्वारा पैसे और प्रलोभन देकर भारत में ईसाई जनसंख्या बढ़ाने का खतरा था। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री एवं भूतपूर्व ससद सदस्य श्री ओम्प्रकाश त्यागी ने विदेशी ईसाई मिशनरियो द्वारा हिन्दुओं के सामूहिक धर्म परिवर्त्तन की गतिविधियों को रोकने के लिए संसद में धर्म स्वातन्त्र्य विधेयक रखा था। उस विधेयक के विरोध में विदेशी धर्म प्रचारकों ने पर्याप्त उछलकूद भी मचाई थी। देश की बहुसंख्यक हिन्दू-आर्य-जनता का ईसाइयों से तो खतरा था ही, अब मुसलमानों से नया संकट पैदा हो रहा है। पिछले दिनों समाचार मिला था कि कुवैत सरकार भारत के हरिजनों को मुसलमान बनाने के लिए प्रयत्नशील है, इस कार्य के लिए वह करोड़ो रुपयों की धनराशि खर्च करने के लिए तत्पर है। इसी के साथ यह संवाद भी प्रकाशित हुआ है कि पिछले दिनो करोड़ो रुपये खर्च कर हैदराबाद मे जमायते इस्लामी ने अपना अधिवेशन कर भारत मे मुस्लिम प्रचार का संकल्प किया है।

अब पत्रों में यह संवाद छपा है कि पिछले दिनो बम्बई के महाराष्ट्र कालेज हाल में इस्लामी विद्यार्थी चेतना (इस्लामिक स्टूडेण्ट मूवमेट) नामक सगठन का अधिवेशन हुआ था। इस अवसर पर उन उपायों पर खुलकर विचार हुआ कि भारत में इस्लाम धर्म किस प्रकार तेजी से फैलाया जाए। इस मौके पर युवा मुस्लिम छात्रों ने यह शपथ भी ग्रहण की कि वे केवल अल्ला-ताला और पैगम्बर मुहम्मद साहब के सन्देशवाहक बनेंगे और उनके प्रचार के लिए जिन्दगी की अतिम सांस तक कार्य करेंगे। ठीक है प्रत्येक को अपने मजहब को मानने मे कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए, पर साथ ही संसार का कोई भी धर्म और इस्लाम भी अपनी मातृभूमि और देश से गद्दारी करने की सीख नहीं देते। आज विदेशों से करोड़ो रुपयो की धनराशि देश में धर्म-परिवर्त्तन के लिए लाने की कोशिश की जा रही है, हैदराबाद और बम्बई में हुए सम्मेलनों में व्यापक इस्लामी प्रसार की योजना बनाई गई है। ये करोड़ों रुपये और यह इस्लामी प्रचार की योजना किसी भारतभक्ति के लिए नहीं है। लक्षणों से तो यही लगता है कि समय रहते सरकार सावधान नही हुई तो देश में नये अलस्टरो या पाकिस्तान बनने का खतरा पैदा हो सकता है।

खेद का विषय तो यह है कि ईसाइयों तथा मुसलमानों द्वारा देश की बहुसंख्यक हिन्दू जनता विशेषतः हरिजनों को अपने धर्म में लाने की कोशिश के खतरे को नजरन्दाज किया जा रहा है। श्री ओम्प्रकाश त्यागी ने अपने वक्तव्य में कहा था कि ईसाइयों और मुसलमानो दोनों का ही यह विश्वास है कि हिन्दू जाति को एक न एक दिन उनके किसी एक वर्ग में मिलना होगा, दोनों ही इस होड़ में हैं कि कौन अधिक से अधिक हिन्दुओं को अपने धर्म में परिवर्तित कर सकता है। विदेशी धर्म-प्रचारकों की इस प्रकार की गतिविधियों से सरकार और जनता को सावधान होना चाहिए और धर्म-परिवर्त्तन के प्रत्येक प्रयत्न का डट कर सामना करना चाहिए। हैदराबाद और महाराष्ट्र में इस्लामी धर्म-प्रसार के सम्मेलन हो चुके हैं, विदेशों से मजहबी प्रचार के लिए करोड़ों रुपये आ रहे हैं, इसी के साथ बिहार, उत्तरप्रदेश में साम्प्रदायिक तत्त्वों को प्रसन्न करने के लिए उर्दू को द्वितीय राजभाषा के रूप में मान्यता दी जा रही है, उत्तर प्रदेश के रामपुर-मुरादाबाद आदि मुस्लिम क्षेत्रों की पृथक् इकाई बनाई जा रही है। देश में इस्लाम के प्रसार के प्रयत्नों के बाद मुस्लिम तुष्टीकरण की यह नीति देश मे राष्ट्रवाद और एकता के प्रयत्नों को क्षति पहुंचाएगी, फलतः देश में नए पाकिस्तानों का संकट पैदा हो जाएगा। यह भी दु:ख का विषय है कि प्रमुख राजनीतिक दल देश के क्षितिज पर मंडरा रहे इस सकट की अनदेखी कर रहे हैं। ऐसे समय आर्यसमाज तथा दूसरे जागरूक संगठनो को इस सम्भाव्य नए खतरे की समय रहते रोकथाम करनी होगी।

# आंकड़े क्या कहते हैं ?

किसी भी देश की वास्तविक परिस्थिति का मूल्यांकन करने के लिए उसकी जनसंख्या का विवेचन महत्त्वपूर्ण हो सकता है। इन आकड़ो के आधार पर देश के आर्थिक जीवन, उसके सर्वांगीण विकास, बहुसंख्यक जनता की साक्षरता, स्त्रियों की स्थिति एवं अल्पसंख्यकों के वर्तमान तथा भविष्य आदि के विषय में यथार्थ जानकारी प्राप्त हो सकती है। इस वर्ष देश की जनसंख्या की नई गणना की गई है। इसके अनुसार इस वर्ष इस देश की जनसंख्या ६८ करोड़ हो गई है। पिछले दस वर्षों में देश की जनसंख्या १३ करोड़ बढ गई है। पिछले ५० वर्षों में देश की आबादी बड़ी तेजी से बढी है। १९३१ में देश की जनसंख्या २७ करोड़ ८८ लाख थी। इन वर्षों मे भारत के दो बाजू कट गए। आज इन दोनों पार्श्वों मे—पाकिस्तान और बांगला देश मे आबादी १५-१६ करोड़ से अधिक है। इस बड़ी आबादी और क्षेत्रफल के कटने के बावजूद इन पचास वर्षों में देश के बचे हुए भाग की जनसंख्या अखड भारत से भी दुगुनी से ज्यादा हो गई है। विशेषज्ञो का ख्याल है कि जनसंख्या की वृद्धि यदि इसी रफ्तार से होती रही तो इस शताब्दी के अंत तक हमारे देश की जनसंख्या १ अरब तक पहुंच सकती है।

जनगणना से यह भी मालूम होता है कि यदि देश में एक हजार पुरुष हैं तो उनकी तुलना में स्त्रियों की गिनती ९९५ है। स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो की गिनती देश मे अधिक होने के लिए तर्क यह दिया जाता है स्त्री शिक्षा और सब तरह की समानता के नारे के बावजूद अब भी लडकियों की अपेक्षा लडकों को प्रश्रय दिया जाता है। यह भी उल्लेखनीय तथ्य है कि देश की स्त्रियों की औसत आयु ५३ है तो पुरुषों की औसत आयु ५४ है। शिक्षा के क्षेत्र मे यदि देश के ४६.७४ प्र० श० पुरुष शिक्षित हैं तो स्त्रिया केवल २४.८८ प्र० श० शिक्षित है। इन तीनों ही प्रकार के आकड़ो से भारतीय समाज में नारी की दुखस्था उजागर होती है, देश के पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अशिक्षा अधिक है, उनकी औसत आयु पुरुषो मे कम है और इन्ही दो तथ्यों से देश की जनसंख्या में भारतीय पुरुषों की अपेक्षा भारतीय नारियो की कमी के आंकडो का वास्तविक कारण भी विदित हो जाता है। आर्यसमाज प्रारम्भ से ही भारतीय नारी की शिक्षा, समुन्नति एव अभ्युदय के लिए प्रयत्नशील है, भारतीय नारियो से प्रतिदिन हो रहे अत्याचारो के सम्वाद पत्रो मे प्रकाशित होते रहते हैं। उनके साथ में ये आकड़े उनकी दुखस्था पर प्रकाश डालते हैं, इस सम्बन्ध में आर्यसमाजो और आर्यजनों को अपना दायित्व अनुभव करना चाहिए।

नई जनगणना के द्वारा देश के अल्पसंख्यको और परिगणित जातियो और जनजातियो का ब्योरा नही दिया गया है। सम्भवत इस सम्बन्ध में नए आकड़े प्राप्त करने में कुछ समय लगेगा, परन्तु इस विषय मे समय रहते सचेत रहना आवश्यक है। भारत के दोनों बाजुओं पर पाकिस्तान और बांगला देश मे पन्द्रह करोड़ मुस्लिम प्रजाजन हैं। नई जनगणना में इनकी गिनती और बढ सकती है। इसी के साथ यह भी उल्लेखनीय है कि १९७१ मे देश में ६ करोड १४ लाख के लगभग मुसलमान थे। यह भी एक तथ्य है कि देश के दूसरे प्रजाजन एक पत्नी रखने के लिए बाध्य हैं तो मुसलमानों पर एक पत्नी की पाबन्दी नहीं है, पिछले दिनों उनकी आबादी बढ़ाने के लिए कुवैत, लीबिया से करोड़ो की धनराशि लगाने के समाचार छपे हैं, साथ ही हैदराबाद और बम्बई मे सम्मेलन कर मुसलमानों की संख्या बढाने के नए प्रयत्नो की सूचनाएं भी मिली हैं। ऐसी अवस्था मे जनगणना के नए आंकड़ों में मुसलमानों, ईसाइयों आदि की गिनती बहुत अधिक बढ जाए तो अचम्भा नहीं होगा। यह भी सम्भव है कि देश मे कई विशिष्ट सम्प्रदायबहुल क्षेत्रो में ऐसे अल्पसख्यक अपने नये स्वतंत्र देश या प्रदेश स्थापित करने की कोशिश करें। इसाई और मुसलमान जिस तरह से विभिन्न क्षेत्रों मे अपनी प्रभाववृद्धि कर रहे हैं, उससे इस तरह के खतरो की आशंका स्वाभाविक है। जनगणना मे नए सम्भावित आंकड़ों का विश्लेषण कर और इस दृष्टि से उनके दूरगामी प्रभाव को रोकथाम अभी से करनी चाहिए।

# महर्षि दयानन्द एक अनहोना व्यक्तित्व :

## (४)

२२ मार्च के अंक से आगे

यहां तक तो बात गांधी जी की रही। उनके अनुयायियों ने तो ऐसा कुछ कर डाला जिसकी मिसाल किसी देश के गद्दारों के इतिहास में भी नहीं मिलती। एक प्रसिद्ध क्रांतिकारी के अनुसार—'''सभ्यता और संस्कृति का दम भरने वाले अंग्रेज शासकों ने १९४६-४७ में अपने भारतीय 'साथियों' को देश का शासनाधिकार सौंपते समय सचिवालयों और आई. बी. (इनटेलिजेन्स ब्यूरो) के दफ्तरो में सुरक्षित हमारे (क्रांतिकारियों से सम्बन्धित) इतिहास की बहुमूल्य सामग्री से महीनों से जो होली खेली थी उसका उल्लेख भी क्या हमारे किसी इतिहास-ग्रंथ में कभी हो पाएगा ? 'अनुशीलन समिति' और अन्य क्रान्तिकारी दलों के इतिहास की बहुमूल्य सामग्री, अंग्रेज शासकों द्वारा देश छोड़ कर जाते समय अग्नि देवता को भेंटकर दी गई। हमारे नेताओं ने अंग्रेजों से शासनतंत्र अपने हाथ में लेते वक्त उनके भाड़ैत अमलो को ज्यों का त्यों बनाए रखने, भूखी जनता से कर वसूल कर उन अमलों को मोटी-मोटी तनखाहें और पेंशने प्रलय काल तक उनके पास भेजते रहने, और अंग्रेजी भाषा तथा मैकाले के बनाए कानून को 'स्वाधीन' भारत में भी कायम रखने का वचन, अंग्रेजों के आग्रह पर उन्हें दे दिए थे।

महान क्रान्तिकारियों की गतिविधियों और उनके अमरत्वदायी कर्मकलापों से सम्बन्धित समस्त अमूल्य सामग्री का होलिकादाह भी हमारे नेताओं की ही चश्मपोशी से शिमले के अभिलेखागार के प्रांगण में होता रहा था। अंग्रेज शासको और उनके अमलों का स्वार्थ था कि उनके काले कारनामों और गद्दारी का कोई प्रमाण न रह जाए और कांग्रेस नेताओं का स्वार्थ था कि क्रान्तिकारी कर्मियो और शहीदों की अलौकिक वीरता, अदम्य उत्साह और त्यागपूर्ण कार्यकलापो का कोई लेखा न रहे ताकि भटैत (भाटों के समान पुरस्कार के लिए अतिरंजित बखान करने वाले लोग) इतिहास लेखकों से मनचाहा इतिहास लिखवा कर वे कांग्रेसी नेता) स्वाधीनता संग्राम का समस्त श्रेय ले लें और सदा जनता को गुमराह कर उससे सदा वोट प्राप्त करके देश के शासक बने रहें। इस प्रकार के हमारे स्वाधीनता संग्राम के सच्चे वीर सैनिकों और शहीदों के कार्यकलापों का इतिहास और उनके दुर्लभ चित्र सदा सर्वदा के लिए विनष्ट हो गए।' ये शब्द उस प्रसिद्ध क्रान्तिकारी के हैं जिसने अपनी जवानी का दो तिहाई भाग फरारी में बनाम था और जो स्वयं ढाका की अनुशीलन समिति का क्रियाशील सदस्य रह कर कई बार जेल मे रहा था और एक विचित्र संयोग से फाँसी के तख्ते पर जाते-जाते बच रहा था।

महान् क्रान्तिकारी श्री त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती उपनाम 'महाराज' लिखित पुस्तक 'तीस बरस जेल मे' की भूमिका (परिचय) में से ही हमने ये शब्द लिए हैं। यह भूमिका प्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्री इन्द्रचन्द्र जी नारंग (भगत सिंह राजगुरु, सुखदेव आदि के कौमी विद्यापीठ लाहौर के शिक्षक और प्रमुख प्रेरणास्रोत स्व. पं. जयचन्द्र विद्यालंकार जी के अनुज) की लिखी है।

**लेखक :**
**प्रो० राजनाथ पाण्डेय**

अहिंसा और हृदय-परिवर्तन के समान ही गाँधी जी की आत्मा की पुकार प्रयोपवेशन (आमरण भूख हड़ताल) और आत्म-दाह तथा असहयोग की नीति भी खोखली सिद्ध हुई जिसके परिणामस्वरूप भाषायी आधार पर पहले आंध्रप्रदेश की और बाद में अनेक नये प्रदेशों की स्थापना हुई, जिसके निर्माण में अनशनों और हड़तालों की धमकियों के सामने केन्द्रीय सरकार को बारम्बार झुका कर अप्रत्यक्ष रूप से उस बिराट अनुशासनहीनता को बढ़ावा मिला, जिसे लोहिया और उनके चेलों ने घेराव और तोड़फोड़ की राजनीति में परिवर्तित कर उस राष्ट्रव्यापी तिरस्कार और अहिंसा को जन्म दिया जो आज राष्ट्र के पौधे की जड़ में दीमक बन कर उसे नष्ट कर रही है।

भारत के ही समान इटली को भी अपनी गुलामी की जंजीरें काटने के लिए दीर्घकाल तक कड़ा संघर्ष करना पड़ा था। जिस प्रकार भारत में बीसवीं शताब्दी में महात्मा गाँधी, सरदार पटेल, जवाहरलाल और सुभाषचन्द्र बोस का आविर्भाव हुआ, उसी प्रकार इटली में उन्नीसवीं शताब्दी में मेजिनी, गैरीबाल्डी, कावूर और विक्टर इमानुएल द्वितीय (जन्म सन् क्रमशः १८०५, १८०७, १८१० और १८२० ई.) का अभ्युदय हुआ था। महात्मा गाँधी निस्संदेह मेजिनी की नैतिक गरिमा से सर्वाधिक प्रभावित थे। सत्य और अहिंसा का उनका सिद्धान्त बहुत अंशों में मेजिनी के व्याख्यानों से अनुप्राणित था। मेजिनी के 'यंग इटली' पत्र के ही समान गांधी जी ने अपना 'यंग इण्डिया' पत्र निकाला था' मेजिनी ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि 'गुलाम देश में स्वाधीनता के बीज केवल भूमि में नैतिकता की ऊष्मा पाकर स्थायी रूप में अंकुरित और पल्लवित होते हैं।' गांधी जी ने स्वामी दयानन्द के कृतित्व की अनदेखी जान बूझकर या अनजाने कर दी, और आतुरता वश और किंचित अवश्य सत्य-अहिंसा के सिद्धांत और आत्मा के परिवर्तन, और आत्मशुद्धि या नैतिक दबाव डालने वाली प्रायोपवेशन (आमरण भूख हड़ताल) तथा आत्माकी पुकार आदि नीति को ही स्थायी नैतिकता बढ़ाने का साधन मान लिया, किन्तु अंग्रेजों का भारत छोड़ चला जाना कितना गांधीजी के आन्दोलन के कारण था, इसका विवेचन और लेखा-जोखा आज तक तटस्थता के साथ

(शेष पृष्ठ ७ पर)

लोक-चिन्तन

## कर्म के बिना ज्ञान निरर्थक

मेरे नगर में एक बड़े पहुंचे हुए महात्मा आए थे। ध्वनिविस्तारक युग की सहायता से घोषणा की गई थी अमुक महर्षि के परम प्रिय शिष्य महात्मा अमुक जी, मानवकल्याणार्थ एक सप्ताह तक, अमुक स्थान पर, सन्ध्या समय ६ बजे से ८ बजे तक प्रवचन करेंगे। धर्मभीरु मित्र, खींचतान कर मुझे भी वहां तक ले गए। कुछ प्रतीक्षा के बाद महात्मा जी एक चमचमाती कार में कुछ तुन्दिल भक्तों के साथ आए गौर वर्ण, लम्बी काया, गुरुओं जैसी दाढ़ी, रेशमी गेरुआ परिधान, हाथ में घड़ी, आँखों पर चश्मा, पैरों में पालिश किये जूते, माथे पर इन्द्रधनुषी त्रिपुण्ड—कहने का मतलब पूरे वातानुकूलित महात्मा थे। उन्होंने आंग्ल भाषा में धाराप्रवाह और सारगर्भित भाषण दिया। श्रोतागण भावविभोर हो गए। अन्त में शंका-समाधान का समय आया। लोग प्रश्न पूछने लगे। मुझसे भी नहीं रहा गया। मैंने पूछा—'महात्माजी ! आपने जो कहा है, उसके कितने भाग पर आप स्वयं आचरण करते हैं ? उदाहरण के लिए क्षमा, दया, तप, त्याग को ही लें। क्या आप अपनी घड़ी का त्याग मेरे लिए कर सकते हैं ? मेरा प्रश्न सुनते ही महात्माजी आगबबूला हो उठे, उनके श्रीमुख से दुर्वचन निकलने लगे।

विचारणीय विषय यह है कि क्या जानकारी का शाब्दिक आदान-प्रदान करके ही मानवता का कल्याण किया जा सकता है ? क्या कर्म के बिना ज्ञान का कोई तात्विक मूल्य है ?

इस सन्दर्भ में मुझसे महाभारत का एक प्रसंग याद आ रहा है। धृतराष्ट्र दुर्योधन से पूछ रहे हैं—'केनासि हरितः कृशः ? तुम पौष्टिक तथा स्वादिष्ट भोजन करते हो, अच्छे रेशमी वस्त्र धारण करते हो, उत्तम घोड़ों पर सवारी करते हो, तब क्या कारण है कि तुम दुबले और पीले पड़े जा रहे हो ?

उत्तर था—शील और सदाचरण का अभाव। क्षीण होती हुई मानवता की रक्षा के लिए भी यही एकमात्र विश्वस्त और कारगर उपाय है। शील और सदाचार के अभाव में मानव-जीवन अधोगामी बनता है, पतन को प्राप्त होता है। इसके अभाव में न तो आत्मोन्नति हो सकती है न राष्ट्रोत्थान। शील और सदाचार को ही हमारे वेदों में कर्म कहा गया है। पूर्व मीमांसा के मत से कर्म ही वेद का सार्थक तत्व है। जैमिनी ने स्पष्ट कहा है—आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यमतदर्थानाम्। मीमांसा सूत्र १।२।१।'

अस्तु, ऐसे साधु-महात्मा जो घूम-घूमकर दूसरों को उपदेशामृत पान करा रहे है उन्हें चाहिये कि जिस काम को वे स्वयं अपने आचरण द्वारा सिद्ध न कर रहे हों, उसका उपदेश न दें। अन्यथा यदि कभी उनके 'लोकसंग्रह' की कलई खुल गई 'सत्यार्थप्रकाश' में असली चेहरा सामने आ गया तो लोग यही कहेंगे—नारि मुई गृह सम्पति नासी। मूंड़ मुड़ाई भए संन्यासी।

हिन्दी विभागाध्यक्ष
स. बु. प. कालेज, बारिपदा (उड़ीसा)

# महर्षि का सच्चा स्मारक

मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह अपने प्रिय की स्मृति को चिरस्थायी रखने का प्रयत्न करता है। वह उसकी स्मृति में पुस्तक, स्मारिका स्तूप, मठ आदि बनवाता है। वह ऐसा स्मारक चाहता है कि जो शानदार हो और सरल भी। किसी की स्मृति में स्मारिका या पुस्तक प्रकाशित कर देना अपेक्षाकृत सरल तो है पर स्थूल दृष्टि से उतना शानदार नहीं जितना कि ताज महल जैसा कोई स्मारक। भले ही उपयोगिता की दृष्टि से उसका उतना महत्व हो अथवा नहीं। इसी प्रकार ताजमहल आदि बनवा देना शानदार तो है, पर वैसा सरल नहीं। साधारण लोग मध्य मार्ग खोजा करते हैं। परिणामस्वरूप भवन, मन्दिर, विद्यालय, पार्क आदि की स्थापना की जाती है कि जो कुछ अंश तक सरल होते हैं और स्थूल दृष्टि से कुछ शानदार भी। दयानन्द विद्यालय, दयानन्द-उद्यान, दयानन्द-संस्थान आदि के पीछे यही भावना काम करती दिखायी देती है।

कदापि न बनाना। पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति ठीक ही लिखते हैं कि यदि आर्य जनता ऋषि की यादगार में कोई स्तूप या मकबरा बना देती तो आज हिन्दू स्त्रियां उस पर फूल—बताशे चढ़ा कर अपने जीवन को सफल मान रही होती। वस्तुतः ईंट-पत्थर के स्थूल स्मारक वास्तविक स्मारक नहीं हो सकते। वास्तविक और सच्चा स्मारक तो वही हो सकता है जो स्मरणीय की विचार-धारा, उसके उद्देश्यों, मन्तव्यों एवं सिद्धांतों आदि का प्रचारक हो। पंडित गुरुदत्त विद्यार्थी अपने व्याख्यानों में कहा करते थे कि—ईंट-पत्थर पर किसी ऋषि का नाम खुदवा देने से ऋषि का स्मारक नहीं बन जाता, यदि ऋषि का स्मारक स्थापित करना चाहते हो तो उन सिद्धान्तों का प्रचार करके दिखाओ कि जिन सिद्धांतो का प्रचार स्वय ऋषि करते रहे हैं। स्वामी दयानन्द का स्मारक यही है कि वेद के सिद्धांतो का ससार मे प्रचार हो जाए।

**'स्वामी दयानन्द का स्मारक यही है कि वेद के सिद्धान्तों का संसार में प्रचार हो जाए' —पं० गुरुदत्त विद्यार्थी**

स्थूलदर्शी लोगों ने ससार के इतिहास में स्थूल वस्तुएं ही स्मारक समझी हैं, किन्तु आर्यसमाज के यशस्वी संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती अपनी स्मृति में किसी भी ऐसे स्थूल स्मारक के निर्माण के सर्वथा विरुद्ध थे। और सत्य तो यह है कि स्थूल स्मारक वास्तविक स्मारक होते ही नही। वास्तविक स्मारक तो वह हो सकता है कि जो स्मरणीय महापुरुष के उद्देश्यों एवं मन्तव्यों के प्रचार में सहायक सिद्ध होने के साथ-साथ उसकी स्मृति भी दिला सके। यही कारण है कि सूक्ष्म दृष्टि वाले तत्वदर्शी लोग किसी सरल तथा शानदार स्थूल स्मारक की अपेक्षा यह देखते हैं कि वह स्मारक स्मरणीय के उद्देश्यों की पूर्ति भी करता है कि नहीं। साथ ही यह भी कि वह स्मरणीय की भावनाओं के अनुकूल है कि नहीं।

दयानन्द की स्मृति में उसकी मूर्ति स्थापना करना दयानन्द की भावनाओं के सर्वथा विपरीत कृत्य होगा। इसी प्रकार उनकी स्मृति में कोई समाधि अथवा स्तूप आदि बनाना भी उनकी भावनाओं के विरुद्ध ही है। महर्षि दयानन्द ने उदयपुर में कविराज श्यामल दास से स्पष्ट कहा था कि मेरे मरने के पश्चात् मेरी अस्थियों को किसी खेत में डाल देना, कोई समाधि या कोई चिह्न

### आर्यसमाज ही महर्षि का सच्चा स्मारक

यदि गंभीर दृष्टि से देखा जाए तो आर्यसमाज ही महर्षि दयानन्द का सच्चा स्मारक है। आर्यसमाज पर चूंकि महर्षि दयानन्द के सिद्धांतों के प्रचार एवं प्रसार का पूर्ण उत्तरदायित्व है, एवं गत एक शताब्दी से भी अधिक समय से वह महर्षि के सिद्धांतों का सफलतापूर्वक प्रचार कर भी रहा है, अतः आर्यसमाज ही महर्षि दयानन्द का सच्चा स्मारक कहा जा सकता है। प० इन्द्र विद्यावाचस्पति के अनुसार आर्यसमाज महर्षि का स्मारक ही नहीं, ऋषि का प्रतिनिधि भी है। ग्रन्थों की, सिद्धांतों की और वस्तुतः वेदों की रक्षा का बोझ आर्यसमाज पर ही है। जो वस्तु किसी के नाम का स्मरण करा सके एवं उसके उद्देश्यों का प्रचार भी करने में सक्षम हो, वही उसका सच्चा एवं वास्तविक स्मारक कहलाने का अधिकारी हो सकता है। इन अर्थों में आर्यसमाज से बढ़ कर महर्षि का दूसरा कोई भी स्मारक नहीं हो सकता। अतः यही उसका सच्चा स्मारक है। और सत्य तो यह है कि आर्यसमाज महर्षि दयानन्द का ऐसा शुभ स्मारक है कि जिसकी नींव का पत्थर भी स्वयं महर्षि दयानन्द ने अपने ही हाथों से रखा था। यह ऐसा अद्भुत स्मारक है कि इसके साथ महर्षि दयानन्द का नाम न जुड़ा होने पर भी उसके नाम के आते ही उसके संस्थापक का स्वतः ही स्मरण हो आता है। पं० लेखराम आर्य मुसाफिर का निम्न कथन बड़ा मार्मिक है कि 'मुसलमान, ईसाई, नास्तिक, जैनी पौराणिक आदि किसी भी पुरुष के सामने आप आर्यसमाज का नाम कह दें, वह सुनते ही आपको दयानन्द का नाम सुना देगा।"

**लेखक :**
**यशपाल आर्यबन्धु**

जब आर्यसमाज का नाम आते ही लोग दयानन्द का नाम ले लेते हैं तो वस्तुतः आर्यसमाज से बढ़कर महर्षि का कोई अन्य स्मारक नहीं हो सकता। अमेरिका सरीखे दूर देशों में बैठा कर महान् विद्वान ऐण्ड्रयूस जैक्सन डेविस महर्षि को आर्यसमाज से पृथक नहीं कर सका, तो तो मैक्समूलर जैसा विद्वान् भी आर्यसमाज के साथ महर्षि का अक्षुण्ण सम्बन्ध मानता है। अतः आर्य समाज ही महर्षि दयानन्द का सच्चा स्मारक है।

महर्षि दयानन्द स्वयं भी आर्य समाज को ही अपना स्मारक मानते थे। उनका कथन है कि मेरे शिष्य सभी आर्यसामाजिक हैं, वे ही मेरे विश्वास और भरोसे के भव्य भवन हैं। उन्ही के पुरुषार्थ में पर मेरे कार्यों की पूर्ति और मनोरथों की सफलता अवलम्बित है। तो आर्यसमाज स्थापना-दिवस पर आर्यजन आइए! हम महर्षि की भावनाओं के अनुरूप सिद्ध होने का प्रण करें। तभी महर्षि का स्मारक चलेगा।

"ऋषि की निशानी,
बड़ी ही सुहानी है।"
प्रिय आर्यसमाज।

आर्य निवास, चन्द्रनगर, मुरादाबाद

# आर्य जगत् समाचार

## आत्मबोध से ही सच्चा बोध सम्भव

### मोतीनगर में संयुक्त बोधोत्सव सम्पन्न

मोती नगर उप-आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा आयोजित ऋषि बोधोत्सव रविवार, १५ मार्च को प्रातः ८ बजे से दोपहर १।। बजे तक आर्य केन्द्रीय तथा आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान व वरिष्ठ उपप्रधान महाशय धर्मपाल जी की अध्यक्षता में मनाया गया। इसमें लगभग १२ समाजों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया।

इस अवसर पर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री श्री विद्यासागर विद्यालंकार ने आर्य परिवारों को ऋग्वेद का यह सन्देश दिया कि ईश्वर की वरुण शक्ति को प्राप्त करने के लिए सुहृय्य अर्थात् शिष्टता के साथ शुद्ध सामग्री जुटानी चाहिए और अपने निजी चरित्र को ऊंचा उठाना चाहिए, उस स्थिति में प्रभु की दिव्य विभूति की जानकारी हो सकेगी। आत्मबोध जगाने से ही ऋषि-बोधोत्सव सफल होगा।

दिल्ली प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सरदारीलाल जी ने कहा—'हमें अपने परिवार की बोधशक्ति जगानी चाहिए, उसी अवस्था में शिवरात्रि सबके लिए शिवसंकल्प बढ़ाएगी। पूज्यपाद स्वामी मुनीश्वरानंद ने जनता से इस अवसर पर सच्चा आर्य बनने का व्रत लेने का अनुरोध किया, हम उसी अवस्था में सच्चे वैदिक धर्मी बन सकेंगे।

महाशय धर्मपाल जी की संगीत मण्डली ने अपने मधुर संगीत एवं गीतों से समां बांध दिया। बहन कमला और कृष्णा जी ने सामूहिक गीत संगीत के साथ प्रस्तुत किया। अन्त में ब्रह्मचारी प्रियव्रत जी ने योगासन तथा सरिये को मोड़ने, कांच को चूर-चूर कर ब्रह्मचर्य की शक्ति का परिचय दिया।

## आर्यसमाज श्रेष्ठ व्यक्तियों का समाज —प्रो० जैन

## आत्मा को जाग्रत करें : पाखण्ड को दबाएं —श्री यादव

मन्दसौर। 'शिक्षक राष्ट्र की सबसे बड़ी सेवा करता है। वे टिमटिमाए नहीं वरन प्रज्ज्वलित हों। ये वेद दीपस्तम्भ हैं जो देश को गढ्ढे में और हिमालय की ऊंची चोटियों तक ले जा सकते हैं।' उक्त विचार प्रो. रतनलाल जैन ने आर्यसमाज मन्दसौर के ऋषि बोध-रात्रि के कार्यक्रम में रखे। श्री जैन ने आर्यसमाज को श्रेष्ठ व्यक्तियों का समाज बताया और महर्षि दयानन्द सरस्वती के बुद्धि बोध और चिंतन की बहुत सुन्दर व्याख्या की।

कार्यक्रम के अध्यक्ष श्री डी. एम. यादव (जिला सत्र न्यायाधीश मन्दसौर) ने अपने वक्तव्य में बताया कि आर्य सभ्यता ही सभी को पचाकर दृढ़ रही, जबकि अन्य सभ्यताएं टकराकर चूर-चूर हो गईं। जातिवाद एवं सामाजिक रूढ़ियों से परे हटकर आत्मा को जाग्रत करिये और पाखंड को दबाएं। श्री यादव ने स्वामी दयानंद सरस्वती को समाजवाद का प्रणेता निरूपित किया।

### पं० लेखराम बलिदान दिवस

आर्यसमाज भटिण्डा में साप्ताहिक सत्संग के बाद पं. लेखराम बलिदान-दिवस मनाया गया। श्री धर्मदेव ने अपनी कविता प्रस्तुत की। ओम्प्रकाश आर्य ने महर्षि का चरित्र घर-घर पहुंचाने की तड़प, ३३ ग्रन्थों के लेखन, इकलौते पुत्र की मृत्यु की चिन्ता न करते हुए विधर्मियों से हिन्दुओं को बचाने के लिए जान की बाजी लगाने की घटनाओं का ब्योरा देते हुए आर्यपथिक लेखराम जी के बलिदान का ब्योरा जनता के सामने पेश करते हुए उन्हें अपनी श्रद्धांजलि प्रस्तुत की।

गाँव सुखेरा खेड़ा में आर्यसमाज की स्थापना। ९-१० मार्च के दिन मण्डी डबवाली से म. हुकमचन्द जी, डा. बधवा और आर्य वानप्रस्थाश्रम के अधिष्ठाता ओम्प्रकाश आर्य सुखेड़ा खेड़ा (जिला सिरसा) प्रचारार्थ गए। श्री राधेश्याम ने सपत्नीक यजमान बन कर यज्ञ कराया। तीनों आर्य सज्जनों के प्रभावशाली व्याख्यानों के बाद गाँव में आर्यसमाज की स्थापना हुई। प्रधान श्री राधेश्याम जी तथा मंत्री श्रीमान बाबूराम जी चुने गए।



### आर्यसमाज बाजार सीताराम का वार्षिकोत्सव

आर्यसमाज बाजार सीताराम का ६१वां वार्षिकोत्सव २८, २९, ३० मार्च १९८१ को आर्यसमाज मंदिर में समारोहपूर्वक सम्पन्न होगा। भू० पू० संसद सदस्य आर्यजगत के प्रसिद्ध विद्वान् पं० शिवकुमार शास्त्री वेदों की कथा करेंगे। इस अवसर पर आर्ययुवक सम्मेलन, कवि सम्मेलन, आर्य सम्मेलन तथा राष्ट्ररक्षा सम्मेलन का भी आयोजन किया गया है।

### साउथ एक्सटेन्शन II के नए पदाधिकारी

नई दिल्ली साउथ एक्सटेन्शन नम्बर २ के नये पदाधिकारी - प्रधान—आर० के० कोहली, उपप्रधान—श्री देशराज खन्ना, मंत्री एवं कोषाध्यक्ष—बलवतराय खन्ना, आन्तरंग सदस्य—सर्वश्री आर० सी० दुबे, वेदप्रकाश मेहरा, अर्जुनदेव चड्ढा, लक्ष्मीनारायण बडेरा, सेठ आदि।

### द० भारतीय सत्यार्थप्रकाश शताब्दी समारोह

अन्तर्राष्ट्रीय वेद प्रतिष्ठान के तत्वावधान में गुरुवार ७ मई से रविवार १० मई, १९८१ तक नरेन्द्रनगर (शालीबण्डा) हैदराबाद अवस्थित सुधा टाकीज के सामने आर्यनगर मैदान में द० भारतीय सत्यार्थप्रकाश शताब्दी समारोह तथा एकोत्तर शतज्योति (शतकुण्ड) गायत्री महायज्ञ की व्यवस्था की गई है।

इस अवसर पर आयोजित कार्यक्रमों में शास्त्रार्थ महारथी प० बिहारीलाल शास्त्री, प० शान्तिप्रकाश, ओम्प्रकाश जी खतौली वाले, महात्मा आर्यभिक्षु वानप्रस्थ, पं० सत्यभूषण जी सरर, आचार्य वीरेन्द्र शास्त्री, ब्रह्मचारी आर्य-नरेश, स्वामी विद्यानंद सरस्वती दीक्षित तथा वेदाचार्य सावित्री देवी वेद भारती आदि धुरन्धर विद्वानों के पधारने की आशा है।

### आर्यसमाज झण्डेवालान का वार्षिकोत्सव

आर्यसमाज झंडेवालान एक्सटेन्शन (स्वामी रामतीर्थ नगर) का वार्षिकोत्सव शनिवार २८ मार्च और रविवार, २९ मार्च, १९८१ को झंडेवाला एक्सटेन्शन पार्क के दक्षिणी द्वार के समीप मनाया जाएगा। दोनों दिन यज्ञ का कार्यक्रम रखा गया है। यज्ञ के ब्रह्मा श्री जैमिनी शास्त्री होंगे। दोनो ही दिन सत्यपाल जी मधुर अपने भजन प्रस्तुत करेंगे। रविवार २९ मार्च को दोपहर १०।। बजे आर्य सम्मेलन होगा। इस अवसर पर श्री रामगोपाल शालवाले, ससद सदस्य जे० के० जैन, पं० प्रेमचंद श्रीधर, पं० हरिदेव महोपदेशक, उषा जी शास्त्री, श्री कमल रसवन्त आदि पधारेंगे।

### आर्यसमाज सराय रोहिल्ला में पं० लेखराम दिवस

रविवार १५ मार्च के दिन प्रधान दसौंधीराम जी की अध्यक्षता में आर्यसमाज सराय रोहिल्ला में पं० लेखराम बलिदान-दिवस मनाया गया। पुरोहित गजेन्द्रपाल शास्त्री ने आर्यपथिक के जीवन पर प्रकाश डाला। प्रधान जी ने स्मरण दिलाया कि जैसा प० लेखराम जी ने कहा था—वैसे ही आज भी उनका कहा सार्थक है—आर्यसमाज में तहरीर-लेख का काम बन्द नहीं होना चाहिए।

# आर्यसमाजों के सत्संग

२९-३-८१

अमर कालोनी—प्रो० सत्यपाल वेदार; आनन्द विहार हरिनगर एल० ब्लाक—पं० ओमवीर शास्त्री; किंग्जवे कैम्प—श्रीमती सुशीला राजपाल; कालका जी—श्रीमती लीलावती आर्या; कालका जी डी०-डी०-ए० फ्लैट्स—पं० प्रकाशचन्द्र शास्त्री; गांधीनगर—पं० उदयपाल शास्त्री; गीता कालोनी—श्रीमती प्रकाशवती शास्त्री; ग्रेटर कैलाश-I—पं० विश्वप्रकाश शास्त्री; जनकपुरी बी० ३/२४—प्रो० वीरपाल विद्यालंकार; तिलक नगर—आचार्य रामशरण मिश्रा शास्त्री; तिमारपुर—पं० रामरूप शर्मा; दरियागंज—पं० प्राणनाथ सिद्धान्तालंकार; नारायण विहार डा० सुखदयाल भूटानी; पंजाबी बाग—आचार्य हरिदेव सि० भू०; बाग कड़े खां—प० बरकतराम भजनोपदेशक; बाजार सीताराम—पं० दिवाकर शर्मा तथा पं० सत्यदेव स्नातक भजनोपदेशक; मोतीनगर—पं० प्रकाशवीर व्याकुल; मोती बाग—प० केशवचन्द्र मुन्जाल; रघुवीर नगर—पं० वीरव्रत शास्त्री; रमेश नगर—पं० खुशीराम शर्मा; विक्रम नगर—प० ओमप्रकाश भजनोपदेशक; राजौरी गार्डन—पं० अशोककुमार विद्यालंकार; सराय रोहिल्ला—प्रो० भारत मित्र शास्त्री तथा पं० वेदव्यास भजनोपदेशक; सोहनगंज—प० ईश्वरदत्त एम० ए०; हौज खास डी-२०—प्रो० मुनिशंकर वानप्रस्थी।

—ज्ञानचन्द डोगरा, वेद प्रचार विभाग

महर्षि दयानन्द : एक अनहोना व्यक्तित्व

(पृष्ठ ४ का शेष)

नहीं हुआ है। यदि गांधीवाद में नैतिकता को स्थायित्व देने की क्षमता थी या है, तो यह आज की अनैतिकता क्यों कर व्याप्त हुई है?' वास्तव में राजनीतिक परिस्थितियों-प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी की पराजय और भारत में जलियां वाला बाग में भारतीयों का जन-संहार और बाद मे द्वितीय विश्व महा-युद्ध—के कारण देश की जनता मे जो तूफानी मानसिक परिवर्तन एकाएक घटित हो गए थे, उसी के प्रभाव से देश की जनता और जन-नेता दोनों ही आगे बढ़े थे। इसी तूफानी वेग के सामने अंग्रेज शासक भी डिग गये और देश छोड़कर चले जाने के लिए तैयार हो गए, किन्तु जाते-जाते वे भारत को नष्ट करते गए। महर्षि दयानन्द के पट्ट शिष्य श्याम जी कृष्ण वर्मा थे और श्याम जी कृष्ण वर्मा के प्रशस्त अनुयायियों मे देश से सदा के लिए अंग्रेज शासकों द्वारा निर्वासित लाला हरदयाल मूर्धन्य थे। देशवासियों के नाम स्वीडन से जो वसीयतनामा उन्होंने भेजा था उसमें स्पष्ट किया था—'अंग्रेजो को भारत से तब तक न जाने देना, जब तक तुम्हारी सेनाएं दर्रे खैबर और दर्रे बोलन पर अपना प्रभुत्व स्थापित नहीं कर लेतीं!' किन्तु देश के बंटवारे को मंजूर करने वाले हमारे नेताओं को शायद इसका पता तक नहीं था। निदान देश का बंटवारा करके ही अंग्रेज यहाँ से गया और इस एक चाल से वह भारतवासियों के गले में विषधरों के लाखों लाख विषधरों की माला बाँध गया। परिणामत: देश के नेता जो परिस्थितियों के दबाव से आगे बढ़े थे, जब तक दबाव बना रहा था, अपनी जगह पाक-साफ बने खड़े रहे। किन्तु वे ही नेतागण और उनके ही पद्-चिन्हों पर चलने वाले दूसरे लोग, यहाँ तक कि उनके बेटे-पोते, और नाती-पनाती तक, जब परिस्थितियाँ बदलीं और दबाव जाता रहा तो, काठ के खोखले पुतलों की तरह लड़खड़ा कर गिर पड़े, और आज यहाँ तक गिर गये हैं कि अपने साथ-साथ देश को भी भ्रष्टाचार, दुरा-चार और अनाचार के गर्त मे गिरा दिया है। हम आज अपनी वय के ७४वें वर्ष में और सन् १९५४ से आज तक कांग्रेस (और कांग्रेस इ०) के क्रियाशील सदस्य रहकर भी अपने को हर क्षण क्यों असुरक्षित महसूस कर रहे हैं? बड़ी वेदना के साथ हम यह कहने के लिए मजबूर हैं कि देश की वर्तमान दशा को जो निम्नांकित विवरण श्री ब्रह्मदत्त दीक्षित ने लखनऊ के दैनिक 'स्वतन्त्र भारत' के ३०-१-८१ के अंक में प्रस्तुत किया है (अपने एक ऐतिहासिक दृष्टि' शीर्षक लेख (१) में हम उसे सही मानते हैं। वह लिखते हैं:—

"...... व्यक्ति की झूठी प्रतिष्ठा ने वरीयता पाई है, सामाजिकता भंग हुई है, जातियों की कट्टरता बढ़ी है, द्वेष वैमनस्य, ईर्ष्या, व्यक्तिगत स्वार्थ, अहंकार, आर्थिक असमानता, सत्ता और सम्पत्ति जुटाने के लिए नैतिकता का सर्वनाश दिनानुदिन बढ़ता गया है। समाज का प्रत्येक क्षेत्र भ्रष्ट आचरण का शिकार है।......नीतिशास्त्र किसी घने कोटर में जा छिपा है......"

हमारा दृढ़ मत है कि यह सब गिरावट हमारी वर्तमान राजनीति में किसी ठोस नैतिक आधार न होने के ही कारण है। जिस प्रकार पाचन-क्रिया दूषित हो जाने से पुष्ट से पुष्ट भोजन भी देह को नहीं लगता, वैसे ही नैतिकता का स्वर नष्ट हो जाने से हमारी समस्त आर्थिक और भौतिक उन्नति बेकार हो गई है। अत: आज न केवल भारत अपितु समग्र विश्व और संपूर्ण मानवता के लिए जो [illegible] और [illegible] के महार्णव में [illegible] रहे हैं, उन सबको सनातन [illegible] को मार्ग सुझाने के लिए दयानन्द के सिद्धान्त और आर्यसमाज ही एक मात्र प्रकाशस्तम्भ (Light House) है। (समाप्त)

सिविल लाइन,
सुलतानपुर

## व्यास-आश्रम में योग साधना शिविर

इस वर्ष व्यास आश्रम सप्त सरोवर मार्ग, हरिद्वार में १ अप्रैल से ५ अप्रैल १९८१ तक बृहद् योग साधना शिविर आयोजित किया जाएगा। मुख्य अतिथि राजयोगाचार्य, श्री नारायणदास कपूर हठयोगाचार्य, कुमारी ललितजी एवं कुमारी अरुणा जी वेदों के मर्मज्ञ साधकों को व्यावहारिक प्रशिक्षण द्वारा लाभान्वित करेंगे। प्रो. रामप्रसाद जी एवं जयदेव जी द्वारा सामवेद पारायण यज्ञ का कार्यक्रम सम्पन्न होगा। समस्त यज्ञ-कार्यों के ब्रह्मा पूज्य महात्मा दयानद जी होंगे।

आर्यजगत् के मार्मिक विद्वान श्री आर्यभिक्षु, संगीत आचार्य महेश जी आदि प्रतिष्ठित महानुभाव पधारेंगे—

माता भागवन्ती, अधिष्ठात्री

## वह अपूर्व साहस !

३० मार्च, १९१९ का दिन। दिल्ली में अभूतपूर्व हड़ताल हुई। सब टांगे तथा ट्रामगाड़ियां बन्द थीं। दोपहर के समय स्वामी श्रद्धानन्द जी को खबर मिली कि दिल्ली स्टेशन पर गोली चल गई है। वह तुरन्त वहां पहुंचे। वहां एकत्र भीड़ उनके नेतृत्व में कम्पनी बाग पहुंची। जल्दी ही सभा में २५ हजार की उपस्थिति हो गई। स्वामी जी भाषण दे ही रहे थे कि खबर मिली कि घण्टाघर पर गोली चल गई है और दस-बारह व्यक्ति घायल हो गए हैं। स्वामी जी ने उत्तेजित जनता को शांत रखा।

इसी बीच फौज ने सभा को घेर लिया। घुड़सवार दस्ते के साथ दिल्ली का चीफ कमिश्नर भी वहां आ गया। स्वामी जी ने चीफ कमिश्नर को चेतावनी दी— "यदि आपके आदमियों ने लोगों को उत्तेजित किया तो मैं शांतिरक्षा का जिम्मेदार नहीं हूं।"

सभा से लौटते हुए स्वामी जी घण्टाघर पहुंचे। गुरखे सिपाहियों ने पंक्ति बांध ली। इसी समय गोली दागने की आवाज आई। जनता को शांत खड़े रहने का आदेश देकर स्वामी जी अकेले गुरखा सैनिकों के सम्मुख पहुंचे। तुरन्त दो किरचें उनकी छाती पर तन गईं। सैनिकों ने कहा—"तुम्हें छेद देंगे।"

एक हाथ से उत्तेजित जनता को शांत करते हुए और दूसरे हाथ से अपनी छाती की ओर इशारा करते हुए स्वामी जी बोले—'मैं खड़ा हूं। गोली मारो।' इतने में आठ-दस और किरचें छाती पर तान दी गईं।'

तीन मिनट तक यही दृश्य बना रहा। किरचें स्वामी जी की छाती तक पहुंच गई थीं कि एक घुड़सवार अंग्रेज ने सिपाहियों को वापस लौटाया। उस दिन वीर स्वामी श्रद्धानन्द जी के अपूर्व साहस से ही दिल्ली में शांति सुरक्षित रह गई।

—नरेन्द्र

## आर्यसमाज स्थापना-दिवस मनाइए

आर्य केन्द्रीय सभा दिल्ली राज्य के प्रधान महाशय धर्मपाल और सभा के महामन्त्री प्रिंसिपल ओमप्रकाश ने समस्त आर्यसमाजों, आर्यसंस्थाओं और आर्यजनों से अनुरोध किया है —

रविवार, ५ अप्रैल को आर्यसमाज के यशस्वी जीवन के १०६ वर्ष पूर्ण हो जाएंगे, आर्यसमाज की गरिमा के अनुकूल वह दिन मनाने के लिए निम्न कार्य-क्रम बनाया गया है—

१. ५ अप्रैल को चैत्र शुक्ल १ विक्रमी २०३८ मनाने के लिए प्रातः अपने आर्य मन्दिरों में प्रातः यज्ञ और ध्वजारोहण करें।

२. उस दिन रात को अपने घरों पर दीपमाला करें।

३. रविवार, २९ मार्च को समाजों में आर्यसमाज-स्थापना दिवस मनाएं, परिवारों में प्रेम भावना बढ़ाने के लिए सम्मिलित प्रीति-जलपान का आयोजन करें।

४. २-३-४ अप्रैल को प्रभात फेरी निकालें, क्षेत्रीय आधार पर इस दिवस का आयोजन करें।

५. आर्यसमाज के सिद्धान्तों और इतिहास के साहित्य को खरीद कर व्यापक रूप से वितरित करने का प्रयत्न करें।

आप स्मरण रखेंगे कि

रविवार-५ अप्रैल को साय ३॥ से ६॥ तक शास्त्री पार्क, करोल बाग में दिल्ली की समस्त आर्य सस्थाएं, आर्यसमाजें और आर्यजन सयुक्त रूप से आर्य समाज स्थापना-दिवस मनाएंगे।

उसमें आप सब अधिक से अधिक गिनती में पहुंचे। आर्यसमाजें और आर्य-संस्थाएं अपने सदस्यों को सपरिवार बसों मे लाएं।

प्रत्येक आर्य भाई-बहन अपना दायित्व निभाएं।

आर्यसमाज के स्थापना-दिवस को सफल बनाइये।



दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के लिए श्री सरदारी लाल वर्मा द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा भाटिया प्रेस ७२७/१-बी, गुरु नानक गली, गांधीनगर दिल्ली-३१ में मुद्रित। कार्यालय १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली फोन नं० ३१०१५०

ओ३म्                                                   कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

# आर्य सन्देश

दिल्ली आर्यप्रतिनिधि सभा का साप्ताहिक मुखपत्र

एक प्रति ३५ पैसे | वार्षिक १५ रुपये | वर्ष ४ : अंक २[illegible] | रविवार १२ अप्रैल १९८१ | दयानन्दाब्द १५६

# देश पर चारों ओर से भयंकर खतरा

## मुल्क का दूसरा बंटवारा न होने देंगे : दिल्ली में आर्यसमाज स्थापना दिवस पर विशाल सभा में आर्यनेताओं की चेतावनी

## जनता और सरकार समय पर सचेत हो जाएं

नई दिल्ली। 'इस समय देश पर चारों ओर से खतरा है, पंजाब में फिर अलग मुल्क बनाने की मांग उठाई जा रही है, उत्तर प्रदेश को चार सूबों में बांटने की मांग की गई है। हैदराबाद के पास पहाड़ी शरीफ मे विश्व भर के पांच लाख मुसलमानो ने इकट्ठे होकर एक नए पाकिस्तान की मांग की है। भारत में नए विदेशी प्रभाव क्षेत्र स्थापित करने के लिए विदेशी ताकते अरबों रुपयों की धनराशि खर्च कर रही है':—इन शब्दों में सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधी सभा के प्रधान श्री रामगोपाल शालवाले ने रविवार के दिन शास्त्री पार्क करोलबाग में आर्यसमाज स्थापना-दिवस पर आर्य केन्द्रिय सभा दिल्ली राज्य द्वारा आयोजित विशेष सभा में एकत्र आर्यजनता को चेतावनी दी।

वर्ष-प्रतिपदा के दिन आर्यसमाज की स्थापना को १०६ वर्ष पूर्ण हो गए हैं। इस अवसर पर दिल्ली की समस्त आर्यसमाजों और आर्यसंस्थाओ की ओर से एक सम्मिलित कार्यक्रम का आयोजन किया गया था। आयोजन में उपस्थित आर्यजनों से श्री शालवाले ने कहा-इस समय देश को खतरा है, वैसा इसमे पहले पहले कभी नही था। हैदराबाद से श्री रामचन्द्रराव वंदेमातरम् ने जमाते इस्लामी का वह पोस्टर भेजा है, जिसमें देश के नए बंटवारे द्वारा नए पाकिस्तान की मांग की गई है। विदेशी ताकते लाखों रुपए की धनराशि लगाकर देश में अपने प्रभावक्षेत्र बना रही हैं। अरबों की धनराशि से मुरादाबाद के पास दो अरबी, विश्वविद्यालय स्थापित करने की कोशिश चल रही थी, अब वहां दो मुस्लिम बस्तियां बनाई जा रही हैं। आर्यसमाज वहीं उनके पास अपनी आर्य-भारतीय बस्ती बनाने की कोशिश करेगा। हम यहां प्रण करते हैं कि देश का दूसरा बंटवारा न होने देंगे। देश में दूसरा पाकिस्तान नहीं बनने देंगे।'

सभा के अध्यक्ष भू० पू० संसद सदस्य एवं सार्वदेशिक सभा के महामंत्री श्री ओमप्रकाश त्यागी ने आर्यजनता को को चेतावनी दी कि जनता की गरीबी, अशिक्षा का लाभ उठाकर विदेशी ताकतें अरबों रुपए झोंक कर हमारी गरीबी का अशिक्षित जनता को प्रलोभन द्वारा विधर्मी बनाने के लिए तुल गई हैं, हमे इस खतरे का मुकाबला करना होगा। भारत सरकार के इस विदेशी पैसे का नियन्त्रण कर इस विदेशी षड्यन्त्र का अन्त करना होगा। यह केवल देश की जनता मे धर्मपरिवर्तन का सवाल नही है, यह भारत धर्म के संस्कृति और उसके अस्तित्व का सवाल है। विदेशी ताकतें अरबो रुपए झोंककर देश का इस्लामीकरण और ईसाई करण करने के लिए तुल गई हैं। ५०००करोड़ से कही अधिक राशि इस घृणित लक्ष्य के लिए लगाई जा रही है।

### आर्यसमाज नई दिशा दे

इस अवसर पर भाषण देते हुए प्रो० बलराज मधोक ने कहा—'इस समय आर्यसमाज ही देश को नई दिशा दे सकता है। आज राष्ट्र में आत्मविश्वास पैदा करना होगा। इस भूमि को जो अपना माने उसके लिए जो कुर्बानी-त्याग को वही इसका नागरिक माना जाना चाहिए, शेष सबको हमें विदेशी मानना होगा। आज हमें देश में राष्ट्रवाद की आवाज गुंजानी चाहिए, प्रत्येक देशवासी का भारत विकास होना चाहिए।'

### छात्रों से अनुरोध

दिल्ली के छात्र-आंदोलन के नेता एवं श्री रामगोपाल शालवाले के पौत्र छात्र-नेता श्री संजयकुमार ने चेतावनी दी कि इस समय असम विक्षुब्ध है। वहाँ का छात्र भारत राष्ट्र की सुरक्षा के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा कर वहाँ से विदेशी मुसलमानो को निकालने के लिए प्रयत्नशील है। अहमदाबाद और गुजरात के दूसरे नगरो के छात्र आर्थिक दृष्टि के आधार पर आरक्षण करना चाहते हैं। एक गरीब को पढने के लिए जीवन में बढने के लिए शिक्षा का मौका मिलना चाहिए, चिकित्सको की नियुक्ति करते समय अयोग्य, अनुभवहीन व्यक्तियों को लेना जनता की जिंदगी से खिलवाड करना होगा। आज बगाल मे विरोध की आवाज को प्रकट करने का मौका नही है, गोआ में विदेशी कामुकता और नग्नता का नृत्य कर रहे हैं, आज राजनीतिक दल अल्पसख्यको के वोटो के लिए सौदेबाजी कर रहे हैं। मैं युवको से अनुरोध करता हूं कि वे एक राष्ट्रभाषा, एक राष्ट्र और नमस्ते के एक अभिवादन के माध्यम से देश को एक और सयुक्त करने का सकल्प कर उसे पूरा करने के लिए जुट जाए।

आर्यसमाज के विद्वान सन्यासी स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती ने कहा कि पिछले सौ वर्षों मे हम काफी बढ़े हैं, परन्तु आज नये मत-मतातरों, पाखंडों से हमारी मंजिल की दूरी बढ गई है। शंकराचार्य और पौराणिक पंडित वेदों के सायण भाष्य पर चिपटे हुए हैं, फलत: वे वेदों की भ्रात व्याख्या करने हैं और यह मानने के लिए तैयार नहीं हैं 'कि वेदों में पशुओ की आहुति का निषेध है।

ब्रह्मचारी आचार्य नरेश ने कहा कि रामायण-महाभारत की सुरक्षा कर पौराणिक भाइयों के—तम्बाकू और धूम्रपान का विरोध कर सिखों के ब्रह्मचर्य एव गोरक्षा के प्रश्न पर नामधारियों के और भोग की प्रतिष्ठा कर ब्रह्मकुमारियों ने सिद्धान्तो की आर्यसमाज ने रक्षा की है। इन सबको आर्यसमाज के झंडे के नीचे एकत्र होना चाहिए।

सुश्री उषा शास्त्री ने आर्यजनता से अपने जीवन मे यज्ञ की भावना लाने का अनुरोध किया—

कवि मनीषी का आह्वान 'भारत की इज्जत नीलाम नही होने देंगे,' जनता को बहुत पसन्द आया।

### पहले परिवार को आर्य बनाएं

#### मुनीश्वरानन्द जी का उद्बोधन

दिल्ली। हम 'इतने वर्षों मे सारी सृष्टि को आर्य क्या बनाते, केवल दिल्ली शहर को भी आर्य नही बना सके अब अब हमे व्रत लेना चाहिए कि प्रत्येक आर्य वर्ष भर में अपने पूरे परिवार को आर्य बनाएगा।''—इन शब्दों मे त्रिवेदतीर्थ स्वामी मुनीश्वरानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज स्थापना-दिवस पर 'ओ३म्' की पताका लहराते हुए आर्यजनों का उद्बोधन किया।

स्वामी जी ने कहा—'ओ३म्' की पताका अवतारवाद और पाषाण-पूजा के स्थान पर एकेश्वरवाद की पताका है, आर्यसमाज स्थापना का दिन वस्तुत: वैदिक धर्म की पुन: प्रतिष्ठा का दिवस है, यह जन्म से जातिवाद के स्थान पर गुण-कर्म से आर्यत्व की स्थापना का दिन है, आज का दिन, सच्चे भाई चारे का दिन है, वेदों की पुन. प्रतिष्ठा का दिन है।'

मुनीश्वरानंद जी ने कहा—'महर्षि हमें जो काम सौंप गए हैं, उसे हमें त्याग, तपस्या और एकता से पूरा करना होगा, हमें जीवन में सच्चा सन्यासी, तपस्वी, परोपकारी आर्य बनना होगा, हम वेदों की प्रतिष्ठा करें, गुण-कर्मों के आधार पर सच्चे पुरुषार्थ से आर्यत्व का विस्तार कर ही ऋषि-ऋण पूरा कर सकते हैं।'

सम्पादक—नरेन्द्र विद्यावाचस्पति

# तीन आयु प्राप्त हों !

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽस्तु त्र्यायुषम् ॥
यजु: ३-६२

ऋषि :—नारायण । देवता—रुद्र. ।

शब्दार्थ—(जमदग्नेः) जमदग्नि के पूर्णायु प्राप्त करने का कारण (त्रि—आयुषम) तीन जीवन शक्तियो का उपयोग है। (कश्यपस्य) कश्यप के सम्पूर्ण जीवन के आनन्दमय बनने का कारण (त्र्यायुषम्) तीन प्रकार का आहार है। (देवेषु) दिव्य पितरो या विद्वानो मे (यद्) जिस प्रकार का प्रयोग (त्र्यायुषम्) आयु की तीनो अवस्थाओं मे किया जाता हैं (त्र्यायुष नः) हम भी अपने जीवन की तीनों अवस्थाओ मे (तद्) उसी प्रकार का प्रयोग (अस्तु) प्राप्त करें।

निष्कर्ष—१—जमदग्नि का यह नाम जाठराग्नि, प्राणाग्नि तथा ज्ञानाग्नि के प्रज्ज्वलित करने के कारण सार्थक है। यदि हम भी जमदग्नि की तरह अपनी जाठराग्नि को प्रज्ज्वलित रखेगे तो स्वस्थ तथा नीरोग रहेगे। प्राणसाधना से मन शांत रहेगा और ज्ञान साधना से आत्मा ज्ञान से प्रदीप्त रहेगा।

२—कश्यप का नाम सर्वत्र आँखें खोल कर भले-बुरे के विचार सहित देखने के कारण सार्थक है। हम भी यदि उसकी तरह अन्नमय तथा प्राणमय कोश को वर्चस्वी बनाने वाले अन्न (ब्रह्म) का आहार करेंगे, मनोमय कोश को ईर्ष्या द्वेष आदि आसुरी प्रवृत्तियों से बचाने के लिए वर्म (कवच=सयम) का प्रयोग करके आहार करेंगे, और विज्ञानमय कोश को ज्योतिर्मय बनाने के लिए ज्ञान वर्चस का आहार करेंगे तो कश्यप बनेंगे और उसकी तरह जीवन की तीनों अवस्थाएं बाल्य, यौवन तथा वार्द्धक्य आनन्दमय बन जायेंगी।

३—देवों, पितरों तथा विद्वानों का बाल्य, यौवन तथा वार्द्धक्य तीनो अवस्थाओ को गुजारने का यही प्रकार है। हम भी उनका अनुकरण करते हुए अपना सम्पूर्ण जीवन उसी प्रकार गुजारें।

४—मनुष्य की आयु १०० वर्ष मानी गई है। शतायुर्वैपुरुष. । जीवेम शरदः शतम। इस मन्त्र मे त्रिगुणित आयु की चर्चा है, इसलिए महर्षि दयानद ने इस मत्र के भावार्थ मे लिखा है 'हे जगदीश्वर भवत्कृपया यथा विद्वान्सो विद्या-परोपकार धर्मानुष्ठानेन आनन्दतया त्रीणि शतानि वर्षाणि याव दायुर्भुञ्जते तथैव वयं त्रिशत वर्षं चतुः शत वार्षं वायु: सुखेन भुञ्जीमहि' आपकी कृपा से हम भी ३०० या ४०० वर्षों तक सुखपूर्वक जीवन भोगे।

विशेष—इस मत्र का ऋषि (न+रमते)=नर कुल में उत्पन्न होने के कारण नारायण बना है, जैसे गर्ग कुलोत्पन्न गार्ग्यायण कहलाता है, इसलिए यदि हम उस संकेतों को ग्रहण करके अनासक्त=निष्काम=नर कुलागत परम्परा में विशिष्टता प्राप्त करेंगे तो सम्भवतः तीन सौ वर्ष की आयु भी प्राप्त कर सकेंगे।

नारायण (सगरहित) रुद्र तो बन ही जाता है, क्योंकि वह अनासक्त होकर सबको सन्मार्ग पर लाने के लिए उपदेश देता है। सबके दु खो को दूर करने का प्रयत्न करता है और दूसरों को दुःख देने वाले दुष्टों को बिना पक्षपात के दण्ड देकर रुलाता है। रुद्र के तीन कार्य, आयु की तीन अवस्थाएं, जीवनकाल को सुखी बनाने के लिए तीन आहार तथा जीवन शक्तियां आयु के त्रिगुणित होने की सम्भावना प्रकट करती हैं।

अर्थ पोषक प्रमाण—त्र्यायुषम्
Three fold vital power. त्रिफिथ
Threefold period of life. ,,

त्र्यायुषम्—क—विद्या शिक्षा परोपकार सहित त्रिगुणमायु.।

ख—बाल्ययौववृद्धावस्था सुखकरं त्रिगुणमायुः।

ग ब्रह्मचर्य गृहस्थवान प्रस्थाश्रम-सुख संपादकं त्रिगुणमायुः।

घ—त्रिशतवर्षं चतु.शतवर्षं वायु: सुखेन भुञ्जीमहि।

—स्वामी दयानन्द

आयु—एति प्राप्नोति सर्वान्—जीवन कालः। उणादिकोशः। वर्च.—विज्ञानं स्वामी दयानन्द

जीवन दायिनी शक्तिः। आपटे आयुष=आयु। आयु—जीवन शक्ति, आहार—जीवन काल। मानक हिन्दी-कोश।

आयुषम्—आयुष्यम्—आयु के लिए हितकर।

जमदग्नि :—प्रज्वलिताग्नयः निरु. ७-२४। जिसकी जठराग्नि, प्राणाग्नि तथा ज्ञानाग्नि प्रज्वलित (प्रगतिमय) हैं। जमति—गच्छति नि. २-१४

कश्यप—पश्यतीति। कश्यपः पश्य को भवति सर्वं पश्यतीति सौक्ष्म्यात्।
तै० अ० १-८

रुद्र :—क. रुतः सत्योपदेशान् ददाति।

ख. रुद्—दुःख दुःखहेतुर्विद्रावयति।

ग. रोदयति पापिनः।

आयुवर्द्धक कश्यप के तीन गुर—

परीवृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य
ज्योतिषा वर्चसा च।
मा मा प्रापन्निषवो दैव्या या मा
मानुषीरव सृष्टा वधाय ॥
अथर्व १७ १-२८

—मनोहर विद्यालकार

# जीओ तो सम्मान से : मरो तो सम्मान से

यूनान के विवरणों में लिखा है कि सिकन्दर के शासन के विरुद्ध भारत का बुद्धिजीवी वर्ग अपना उग्र रोष हर दृष्टि से प्रकट करने के लिए तत्पर था। सिकन्दर के विरुद्ध एक भारतीय राजा को भड़काने वाले ब्राह्मण से यवनराज सिकन्दर ने पूछा—'तुम क्यों इस राजा को मेरे विरुद्ध भड़काते हो ?'

ब्राह्मण ने उत्तर दिया—'मैं चाहता हूं, यदि वह जीए तो सम्मानपूर्वक जीए अन्यथा सम्मानपूर्वक मर जाए।'

एक ब्राह्मण संन्यासी ने सिकन्दर से कहा था—तुम्हारा राज्य सूखी हुई खाल के समान है, जिसका कोई गुरुता-केन्द्र नहीं होता। जब सिकन्दर राज्य के एक पार्श्व पर खड़ा होता है तब दूसरा हिस्सा उसके खिलाफ उठ खड़ा होता है।'

तक्षशिला के एक बूढ़े दण्डी संन्यासी को सिकन्दर के सामने यह डर दिखा कर लाने की कोशिश की गई कि सिकन्दर तो संसार के स्वामी द्यौः (ज्योस) का पुत्र है, यदि तुम उसके सामने नहीं आओगे तो वह तुम्हारा सिर धड़ से अलग कर देगा।'

यह सुनकर उस दण्डी संन्यासीने उपेक्षा की हंसी में कहा था—'जिस प्रकार सिकन्दर द्यौः का बेटा है, उसी प्रकार मैं भी द्यौः का पुत्र हूं। मैं अपनी मातृभूमि भारत से पूरी तरह खुश हूं जो माता के समान मेरा पालन-पोषण करती है। यदि सिकन्दर गंगा के पार की भूमि में जायेगा तो नन्द की सेना उसे यह दिखला देगी कि वह अभी सारे संसार का स्वामी नहीं हुआ है।'

पश्चिमोत्तर भारत मे सिकन्दर के विरुद्ध जो विद्रोह हुआ था वस्तुत: वह जन-विद्रोह था, उसका नेतृत्व तत्कालीन बुद्धिजीवी वर्ग ने किया था।

—नरेन्द्र

# अहमदाबाद के चार लाख हरिजन दुविधा में

## गुजरात के आन्दोलन की प्रतिक्रिया : हरिजन क्षेत्रों में आर्य नेता तुरन्त पहुंचें : हरिजनों को मुसलमान बनाने की कोशिश

**आर्य नेता श्री आनन्द प्रिय की सामयिक चेतावनी**

बड़ौदा, हिन्दू धर्मरक्षक प्रसारक मण्डल कारेली बाग, आत्माराम-पथ, बड़ौदा के प्रधान, तथा गुजरात प्रांतीय आर्य प्रतिनिधि सभा के उप प्रधान आनंदप्रिय ने सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली के प्रधान श्री रामगोपाल शालवाले से अनुरोध किया है कि—'इस समय चार-पांच मूर्धन्य संन्यासी अहमदाबाद में जाकर अड्डा जमाएं और सब हरिजनों में विश्वास प्रकट कर उन्हें सामूहिक रूप से आर्य बनने के लिए प्रोत्साहित करें, अन्यथा मुसलमान मौलवी, पादरी,भी बौद्ध साधु आदि धर्मों के प्रचारक अहमदाबाद में अड्डा जमाकर प्रचार कर रहे हैं कि हमें अरब राज्यों और विदेशों से असीम धनराशि मिल रही है, वे उन्हें उकसा रहे हैं, हमारी शरण आओ, इससे तुम हरिजनों की गरीबी दूर हो जाएगी।'

श्री आनंदप्रिय ने सार्वदेशिक सभा के प्रधान से अनुरोध किया है कि आपने जिस प्रकार मुरादाबाद में हरिजनों की सेवा करके आर्यसमाज की शान बढ़ाई, इस समय दिल्ली के प्रमुख आर्य अहमदाबाद जाकर जुट जाएं तो भारी काम होगा।

आनदप्रिय जी ने चेतावनी दी है—'गुजरात में जो आंदोलन हो रहा है, उसका रूप विकृत हो चुका है। वर्ग-विग्रह के रूप में चलाया जाने वाला यह आंदोलन चार लाख हरिजन मजदूरों के केन्द्र अहमदाबाद में बिगड़ गया है, इन हरिजनों को प्रेरणा दी जा रही है कि हिन्दू-धर्म त्याग दें। उन्हें पैसों का प्रलोभन देकर मुसलमान बनाने की कोशिश की जा रही है। बहुत से हरिजन इस प्रलोभन के शिकार बन सकते हैं! अम्बेदकरवादी चाहते हैं कि वे बौद्धधर्मी हो जाएं, ईसाई लोग भी प्रयत्नशील है, आशा है आर्य नेता और सार्वदेशिक सभा इस सम्बन्ध में तुरन्त कार्यवाही करेंगे।

## हम निर्भय हों !

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥

जिस प्रकार आकाश और पृथ्वी—दोनों ही न दुःख देते हैं और न भयभीत होते हैं, उसी प्रकार हे मेरे प्राण, तू भी भयभीत न हो ।

## क्या हम उन्हें भूल गए हैं ?

१०६ वर्ष पूर्व १२ अप्रैल, १८७५ के दिन आर्यसमाज संस्था का सूत्रपात हुआ था। पिछले सप्ताह देश-विदेशों में आर्यसमाज—स्थापना दिवस मनाया गया। इस अवसर पर संस्थापक के अद्वितीय व्यक्ति, कृतित्व एवं आर्यसमाज के सिद्धान्तों नियमों और उनके वर्तमान विस्तार तथा भावी सम्भावनाओं पर ओरदार भाषण हुए, सर्वसम्मत प्रस्ताव स्वीकार किए गए। यह सब ठीक है, परन्तु कुछ ऐसा लगता है कि हम आज अपने उन अगणित अनाम आर्यबन्धुओं को भूल गए हैं, जिन्होंने बड़े साहस के साथ आर्यसमाज और उसके कार्य को लोकप्रिय बनाया था। हम उन तपस्वी, और तन-मन-धन की आहुति देने वाले हुतात्माओं और शहीदों को भी भूल गए हैं जिन्होंने धर्म, समाज, जाति के लिए अपनी बलि दी थी। हम उन आर्य सत्याग्रहियों और शहीदों को भी भूला बैठे हैं, जिनके बलिदान से आर्यसमाज ने अन्यायी शासकों, अत्याचारी सम्प्रदायवादियों, महन्तों, मठाधीशों से टक्कर ली थी। सम्भवतः हम उन आर्यजनों को भी भुला बैठे हैं जिन्होंने देश के स्वाधीनता संग्राम, मे, भाषा, स्वसमाज-सुधार, कुरीतियों के निवारण के लिए बिना आगा-पीछा किए अपने सर्वस्व की बलि दे दी।

सदा मन्दिरों और इमारतों के कंगूरे ही चमकते हैं। मस्तूल और स्तम्भों पर लगी पताकाएं और तोरण ही फहराते हैं, परन्तु ये इमारतें तथा ऊंची पताकाएं —विजयध्वज सदा नींव के पत्थरों पर आश्रित होते हैं। हम यह भूल नहीं सकते कि वस्तुतः आर्यसमाज पिछली शती का जन-आंदोलन था। आर्यसमाज की प्रगति का इतिहास असल में नवभारत के पुनर्जागरण का इतिहास है। इसका प्रत्येक व्यक्ति नेता था, हर व्यक्ति ही मानो कोई कर्मठ संस्था था। परिस्थिति और समय के तकाजे को देखते हुए जो उचित होता था, वह उसे कर गुजरता था। यह उल्लेखनीय तथ्य है कि जहाँ देश की दूसरी राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक संस्थाओं के अखिल भारतीय केन्द्रीय संगठन पहले बने, बाद में उनका प्रादेशिक और क्षेत्रीय विस्तार हुआ, इनकी तुलना में आर्यसमाज का एक अनूठा इतिहास है। गाँव-गांव, मुहल्ले-मुहल्ले, कस्बे और नगर-नगर में आर्यसमाज पहले पहुंचा, उसके प्रादेशिक, विविध देशीय और सार्वदेशिक संगठन बहुत बाद में बने। इसी के साथ आर्यसमाज के प्रसार का श्रेय न बड़े धनिकों को है, न विख्यात नेताओं और बड़े विद्वानों को है, प्रत्युत इसका प्रसार तो जन-जन, नगर-नगर, और गांव-गांव के जागरण के साथ हुआ।

आज देश के सामने गरीबी, बेकारी, भूख, रोग आदि के अभाव तो हैं ही, देश का बुद्धिजीवी एवं तरुण वर्ग विलासिता और भोग की सामग्रियों में लिप्त होकर आराम और वासना की खोज में बुरी तरह से भटक रहा है। आर्यसमाज का इतिहास त्याग-बलिदान की नींव पर बना है। सहस्रों आर्यजनों ने अपनी निष्ठा, सात्विकता और त्याग के बल पर ही समाज और राष्ट्र को आगे बढ़ाया है। आज भोग के स्थान पर त्याग की फिर पूजा हो, कुर्सी, सत्ता और लक्ष्मी के स्थान पर पुनः विद्वत्ता और गुणों का आदर हो, उसके लिए आर्यसमाज को राष्ट्र के जीवन में नैतिकता और त्याग के आदर्शों की पुनः प्रतिष्ठा करनी होगी। यह कार्य सरल नहीं है। स्वाधीनता-आन्दोलन और समाज के प्रारम्भिक जीवन में जिस प्रकार आर्यजनों ने नेतृत्व की अपेक्षा न कर अपने व्यक्तिगत दायित्व को सर्वोपरि माना था, ठीक उसी प्रकार प्रत्येक आर्यजन को दूसरों से अपेक्षा न कर पुराने आर्यजनों के त्याग-बलिदान से प्रेरणा कर उनके चरण चिह्नों पर चलना होगा। केवल ऐसी ही स्थिति में हम उन शहीदों और कर्मठ आर्यजनों को स्मरण कर उनकी थाती सुरक्षित रख सकेंगे।

## 'खालिस्तान' : एक राष्ट्रविरोधी मांग

पिछले दिनों सिखों की दो संस्थाओं द्वारा पृथक् सिखराज्य की माग फिर उठाई गई है। इन संस्थाओं द्वारा की गई यह मांग पूरी तरह राष्ट्रद्रोहपूर्ण है। अभी तक सिखों का प्रमुख खालसा दीवान सिखों की शैक्षणिक और सामाजिक उन्नति के कार्य में ही संलग्न था, पिछले दिनों इस दीवान ने अपने चंडीगढ़— अधिवेशन में पृथक् सिख राष्ट्र की मांग करते हुए सुरक्षा परिषद् में सहायक सदस्यता की मांग की थी। अब पंजाब भर के ऐतिहासिक पूजा स्थलों, पर अनगिनत स्कूलों, कालेजों, अनाथालयों, अस्पतालों, गुरुद्वारों, धार्मिक स्थानों की व्यवस्था करने वाले तथा समस्त 'चढ़ावों' आदि का नियन्त्रण करने वाली संस्था शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी ने एक सर्वसम्मत प्रस्ताव स्वीकार कर मांग की है कि दूसरे भारतीयों से पृथक् एक सिखराज्य स्थापित किया जाए।

इस संस्थाओं ने अभियोग लगाया है कि सरकार सिखों से भेदभाव करती है, उन्हें अपना उचित अधिकार नहीं मिलता। इस अभियोग की परीक्षा तथ्यों से करने को वह असत्य सिद्ध होता है। इस समय सिख भारत की जनसंख्या के केवल दो प्रतिशत तक हैं, इसके बावजूद उन्हें भारत की सुरक्षा सैन्य में दस प्रतिशत स्थान प्राप्त हैं। जनसंख्या में उनके प्रतिशत की अपेक्षा पुलिस और प्रशासन मे उन्हें कहीं अधिक स्थान दिए जाते हैं। नाममात्र की—लगभग एक दो प्रतिशत अधिक जनसंख्या होने के कारण जब से अलग पंजाबी सूबा बना है, तब से वहाँ की शिक्षा-संस्थाओं और प्रशासन में पंजाबी का बोलबाला है, वहाँ हिन्दी की उपेक्षा है। पंजाबी सूबे के बनने के बाद से वहां सदा सिख ही मुख्य मन्त्री बना है, कभी ४६ या कुछ कम प्रतिशत हिन्दुओं के प्रतिनिधियों को प्रशासन का प्रमुख बनने का सौभाग्य नहीं मिला। केन्द्रीय मन्त्रिमंडल के सदस्यों तथा राज्यपालों के रूप में सिख हमेशा नियुक्त किए गए हैं। ये तथ्य सिखों से भेदभावपूर्ण व्यवहार का अभियोग झुठलाते हैं और स्पष्ट करते हैं कि उन्हें उनके अधिकारों एवं प्राप्तव्य से कहीं अधिक मिल रहा है।

अभी तक सिखों के तथाकथित उग्रवादी साम्प्रदायिक तत्त्व ही पृथक् सिख-राज्य-खालिस्तान की मांग करते थे, परन्तु पहली बार यह मांग उन संस्थाओं की ओर से की गई है जो अभी तक सम्प्रदाय की शैक्षणिक, सामाजिक और साम्प्रदायिक उन्नति के लिए प्रयत्नशील थे। अब इन संस्थाओं द्वारा भी पृथक् मजहबी राष्ट्र की मांग करना, सिखों को एक पृथक् अन्तर्राष्ट्रीय जमात घोषित करने की मांग उठाना आसन्न खतरे की सूचना है। यह भी उल्लेखनीय है इस मांग के पीछे संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन में बसे कुछ मजहबी सिख हैं और वे संसार की बडी शक्तियों और पड़ोसी पाकिस्तान के आकाओं से सीधा नाता-रिश्ता कायम करना चाहते हैं। भारत अभी तक भी देश के एक साम्प्रदायिक विभाजन के अभिशाप से मुक्त नहीं हुआ है, उसके सामने एक नए सम्भाव्य संकट का खतरा मण्डरा रहा है। देश की सम्पूर्ण राष्ट्रवादी शक्तियों को इस नए खतरे का मिलकर सामना करना चाहिए।

### चिट्ठी-पत्री

## अत्यधिक सामयिक एवं उपयोगी

द्रोणाचार्य महाविद्यालय हरियाणा के सेवानिवृत प्राचार्य वेदशिरोमणि आर्येन्द्र शर्मा (१३८, जैकमपुरा, गुड़गांव, हरियाणा) लिखते हैं — 'आपका साप्ताहिक 'आर्य सन्देश' आर्य विचारधारा का निरन्तर प्रसार कर रहा है, इसके लिए आप बधाई के पात्र हैं। 'भारत को विधर्मी बनाने का षडयन्त्र' शीर्षक आपका सम्पादकीय अत्यधिक सामयिक एवं उपयोगी है।

श्री मनोहर विद्यालंकार द्वारा स्थायी स्तम्भ 'वेद-मनन' में प्रकाशित 'यज्ञ-भावना का विस्मरण ही यज्ञ की हिंसा है' प्रत्येक आर्य के लिए पठनीय एवं-मननीय तथा कार्यरूप मे प्रतिपादनीय है। आशा है कि 'आर्यसन्देश' इसी प्रकार आर्यजगत् को निरन्तर उद्बोधित करता रहेगा।'

१३ अप्रैल, १९१९, जलियांवाला बाग की खूनी होली

# सेवाकार्य और सत्याग्रह संग्राम में अग्रगण्य आर्यसमाज

पहले महायुद्ध मे भारत से जन और धन की प्राप्ति के लिए विदेशी सरकार ने जहाँ भयकर अत्याचार किए, वहाँ साथ मे इस आशय के आश्वासन देने में भी कोई सकोच नही किया कि युद्ध में विजयप्राप्ति के बाद भारत को औपनिवेशिक स्वशासन दे दिया जाएगा।

विजय प्राप्ति के बाद, तत्काल, विदेशी सरकार की नीयत बदल गयी। औपनिवेशिक 'स्वशासन' देने के बदले समस्त देश द्वारा एक स्वर से प्रबल विरोध के बावजूद रालेट एक्ट=काला कानून-जारी करने की घोषणा की जिसके अन्तर्गत पुलिस और नौकरशाही को बिना वारंट के भी सदिग्ध 'व्यक्ति' होने के बहाने किसी भी व्यक्ति को पकडने और घर की तलाशी लेने के अधाधुंध अधिकार दे दिए गए थे।

गाँधी जी ने इस काले बिल को राष्ट्रीय अपमान घोषित करते हुए इसके विरोध मे समूचे देश मे सत्याग्रह द्वारा प्रबल आदोलन करने की घोषणा की। कांग्रेस ने तत्कालीन नेताओं—लोकमान्य तिलक चितरजनदास, ला० लाजपतराय इत्यादि—और नरम दल के नेता—श्री निवास शास्त्री सी. वाई. चिन्तामणि सर फीरोजशाह मेहता- इत्यादि किसी ने भी गाधी जी के सत्याग्रह प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर नही किए। समूचे देश में केवल एक ही ऐसा उल्लेखनीय और साहसी नेता था जिसने इस प्रतिज्ञापत्र सबसे पूर्व डके की चोट हस्ताक्षर किए। यह थे स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज जिन्हे गाँधी जी अपना बड़ा भाई कहते व मानते थे। गाँधी जी के अफ्रीका सत्याग्रह मे गुरुकुल कांगड़ी के प्राचार्य और मुख्याधिष्ठाता के रूप में स्वामी जी (उस समय महात्मा मुशीराम) के छात्र और अध्यापकों सहित मजदूरी कर और एक समय का भोजन त्याग कर जो धनराशि बचायी वह श्री गोखले द्वारा द० अफ्रीका में गाँधी जी को सन् सन् १९१५-१६ मे भिजवाई। इससे गाँधी जी अत्यन्त प्रभावित हुए। आर्य समाज के नेता के रूप में स्वामी श्रद्धानंद जी के इस सत्याग्रह में, गाँधी जी के साथ, देश का नेतृत्व ग्रहण करने का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि आर्यसमाज—देश की एक मूर्धन्य संस्था के सामूहिक व व्यक्तिगत—रूप में सत्याग्रह आंदोलन मे सक्रिय सोत्साह भाग लेने लगा।

### दिल्ली के बेताज बादशाह : "मेरी छाती पर गोली मारो" स्वामी जी

१९१९ फरवरी, घटनाचक्र में तेजी आई। इससे पहले ही गाँधीजी की गिरफ्तारी और गुजरात वापसी की खबर आग की तरह सारे देश मे फैल गया। उस दिन ३० मार्च ही था। दिल्ली मे रेलवे स्टेशन के पास दंगा हो गई। गोली चल गई। स्वामी श्रद्धानन्द उन दिनों, दिल्ली के बेताज बादशाह थे। ३-४ आदमी मर गये। शाम को जामा मस्जिद के सामने परेड के मैदान में आर्यसभा थी। वातावरण गर्म था। मस्जिद के मच से स्वामी श्रद्धानन्द का, वेदमंत्र पाठ के साथ अहिंसा आर शान्ति के साथ, आन्दोलन चलाने और हिन्दू-मुस्लिम एकता पर भाषण हुआ। हजारो-लाखो की भीड थी। सभा के बाद स्वामी जी के नेतृत्व में उनके पीछे सर्वथा मौन चली आ रही जनता का जलूस जब चांदनी चौक घटाघर के पास पहुंचा, तब गोरे सार्जेंट और गोरखा सिपाही जनता की ओर बदूक ताने खड़े थे। स्वामी जी ने अपनी स्वभाविक के निर्भयता के साथ सार्जेंट के सामने अपनी छाती खोल ऊचे स्वर में कहा—'इस जलूस का नेता मैं हू। गोली चलानी है तो मेरी छाती पर चलाओ। इस शाम, बेकसूर जनता पर गोली क्यों चलाते हो। स्वामी जी के इस आत्मविश्वासपूर्ण, साहस और निडर, भरे शब्दों से सार्जेंट एकदम हतप्रभ हो गया। उसके हुकुम से संगीनें नीचे झुक गई। स्वामीजी के पीछे आ रहा हजारो का जलूस शान्तिपूर्वक आगे बढ गया।

पर यह समाचार बिजली की तरह कुछ ही समय मे सारे देश मे फैल गया। चारों ओर से स्वामी जी की इस असाधारण निर्भयता से सत्याग्रह आंदोलन मे प्रबल तेजी आ गई। गाँधी जी ने स्वामी जी को इस साहस के लिए बधाई देते हुए कहा—स्वामी श्रद्धानन्द जैसा निर्भय व्यक्ति मैंने अपने जीवन में नहीं देखा।'

### पंजाब में फौजी कानून : नेतृत्व आ. स. के हाथ में

घटनाचक्र ने पंजाब मे आकर विकट रूप धारण कर लिया। पंजाब का लेफ्टि. गवर्नर ओडवायर अत्यन्त नृशंस, क्रूर और अत्याचारी शासक था। उन दिनों पजाब के गांवों में नौजवान कम ही दिखायी देते थे। सबको जबदस्ती फौज में भरती कर लिया गया था। खून पीने वाली जोक की तरह अमीर-गरीब सबसे धन चूस लिया गया था। पजाब में रालेट-एक्ट विरोधी और सत्याग्रह दिवस ६ मार्च १९१९ निश्चित किया गया था। पंजाब का नेतृत्व-राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक—आर्यसमाज के ही हाथ में था। ९ मार्च को रामनवमी का त्यौहार था। उसी दिन प्रान्त के कांग्रेस नेता और प्रमुख आर्यसमाजी अमृतसर निवासी डा. सत्यपाल, चौधरी बग्गा, और मुस्लिम नेता डा. किचलू—इन सबको पकड़ किसी अज्ञात स्थान में नजरबन्द कर दिया गया।

महाशय कृष्ण को लाहौर के किले में कालकोठरी मे बन्द कर दिया गया। इसी प्रकार कांग्रेस नेता व प्रमुख आर्य ला० दुनीचन्द, हरकिशनलाल, ला० दुनीचन्द बैरिस्टर, रामभजदत्त चौधरी व अन्य नगरों-रावलपिंडी गुजरां वाला, पेशावर—इत्यादि नगरो के नेताओं को पकड़ जेल मे डाल दिया गया।

### अमतसर में गोली

अमृतसर में अमानवीय अत्याचारों की पराकाष्ठा हो गयी। ६ मार्च को नगर के चारों नेताओं की गिरफ्तारी और निष्कासन के विरोध में शहर के कई हजार व्यक्तियो का शात और मौन जलूस अपना विरोध प्रकट करने और नेताओं की रिहाई की मांग करने डिप्टी कमिश्नर की कोठी पर प्रातः १० बजे के लगभग रेल के पुल को पार कर माल-रोड की ओर जब जा रहा था, तब हथियारबन्द और घुड़सवार पुलिस व फौज ने उसे रोक लिया। नगर नेताओ के बार-बार अनुरोध पर भी जब रास्ता नहीं मिला और पुलिस अड़ी रही, तब किसी सिपाही ने बिना किसी पूर्व सूचना के गोली चला दी।

### पंजाब में वैसाखी पर्व

पजाब मे प्रथम वैशाख नव वर्ष के प्रारम्भ होते-होते एक विशिष्ट पर्व के रूप मे बड़ा पवित्र और महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। पंजाब की सबसे मंडी—विशेषत: कपड़े व अन्य समान की—अमृतसर में वैशाखीपर्व दो-तीन दिन पहले ही दूर-दूर के व्यापारी माल खरीदने आते हैं, दूसरी ओर पंजाब का किसान गेहूं की फसल काट प्रसन्न मुद्रा में अमृतसर में वैशाखी का मेला देखने और खरीद कराने-करने आता है। अमृतसर में यद्यपि ६ अप्रैल के फिसाद के बाद मार्शल ला लगा दिया गया था, पर सब अखबारो के बद किए जाने और उस समय संचार सुविधाओं की कमी हेतु देहात के लोगों को यह पता नहीं था कि अमृतसर में फौजी कानून लगा हुआ है। फलत: प्रतिवर्ष की तरह हजारों-लाखों की जनता वैशाखी का त्यौहार मनाने और मेले का आनन्द लूटने वहाँ जमा हो गई।

### अमृतसर में देहात के हजारों यात्री सरकारी जासूसों की शरारत

सरकार द्वारा नियुक्त हंटर कमेटी ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि कि १३ अप्रैल को अमृतसर में बाहर से आए लोगों को फौजी कानून की खबर नहीं थी और न ही उस दिन इसके लिए कोई ढिंढोरा पीट जनता को सावधान किया गया। कांग्रेस द्वारा नियुक्त जांच समिति ने कई प्रमाणों से यह रहस्य खोला है कि कुछ सरकारी जासूसों ने—इनमें से कुछ के नाम भी रिपोर्ट मे दिए गए हैं—नगर में यह घोषणा शहर में डुगडुगी पीट कर दी कि—आज शाम को ४ बजे जलियांवाला बाग में कांग्रेस की ओर से एक आम जलसा होगा जिसमें मौजूदा सियासी हालात पर नेताओं के भाषण होंगे।

---

लेखक :

**आचार्य दीनानाथ सिद्धान्तालंकार**

---

### जलियांवाला बाग का स्वरूप

जलियावाला बाग वस्तुत. बाग के सर्वथा उलट एक उबड़-खाबड़ घनी बस्ती मे एक ऐसा मैदान, उस समय था जो तीन ओर करीब ५-६ फुट ईंट की दीवार से घिरा और पश्चिमकी ओर २-३ मंजिले ऊंचे बने मकानोंके पीछे भी ऊंची दीवारों से रहा घिरा टुकड़ा, केवल एक तग दरवाजा आने जाने के लिए और एक ओर पुराना कुआं—यह उसका स्वरूप था। करीब ३॥ बजे ही श्रोताओं से—जिनमें अधिकांश बाहर से आये लोग थे यह बाग भर गया। इन जासूसों में से ही तक मच पर खड़ा भाषण दे रहा था।

### डायर द्वारा शान्त जनता पर गोलाबारी

करीब ४॥बजे इस बाग के एक मात्र दरवाजे पर जनरल डायर के आदेशों से मशीनगनों ने बिना किसी पूर्व सूचना व सावधानता की घोषणा के जहां शांत, निहत्थी, निरपराध लगभग १० हजार की शांत जनता पर गोले बरसाने शुरू कर दिए वहां बाग के तीनों ओर संगीन ताने खड़े सिपाहियों ने किसी को बचकर

भाग जाने के भी रास्ते लगभग रोक दिये। मशीनगन लगभग १० मिनट तक गोले बरसाती रही। हजारों लोग कुछ ही क्षण में से इस पाशविक अत्याचार के शिकार हो गए, जख्मी हो गये, कुछ भागदौड़ में कूद फांद बच गये, कई कुएं में कूद गये।

हंटर कमेटी के सामने अपनी गवाही में क्रूर डायर ने यह स्वीकार किया कि वह करीब १० मिनट की गोलीबारी के बाद फौजियों सहित वापस चला गया। एक प्रश्न के उत्तर में उसने साफ कहा··· "मरे हुओ और घायलो की दवा-दारु-इलाज उसका काम नहीं था।" सारा अमृतसर शहर रोने-पीटने और श्मशान की तरह बन गया। जो लोग देहात से आए थे, उनका तो सिवाय कुत्तो और गीदड़ो व चील-कौओं के कोई वली-वारस न था।

हंटर कमेटी के अनुमान से करीब ४०० लोग मरे जबकि कांग्रेस जाँच समिति के अनुसार मृतकों की संख्या करीब दो हजार थी।

**पंजाब क्षत-विक्षत : स्वामी श्रद्धानन्द का नेतृत्व**

क्रूर विदेशी सरकार के इस जघन्य और राक्षसी दुष्कृत्य के फलस्वरूप क्षत-विक्षत वीरभूमि पंजाब के संकट काल में सेवा और राहत के लिए जो व्यक्ति और संस्था सबसे प्रथम मैदान में आयी, वह स्वामी श्रद्धानन्द के नेतृत्व मे आर्यसमाज ही था। स्वामी जी ने बिना एक दिन की भी देरी किए लाहौर मे म. कृष्ण के "प्रताप" कार्यालय के एक कमरे मे पंजाब सेवा समिति का कार्य प्रारम्भ कर अमृतसर, लाहौर तथा अन्य प्रभावित नगरों मे राहत और सहायता कार्य चालू कर दिया। इन पंक्तियो का लेखक उस समय गुरुकुल विश्वविद्यालय (कांगड़ी) की १३वीं कक्षा में था। महाविद्यालय विभाग के समस्त छात्र, स्वामी जी के निर्देशानुसार, विभिन्न नगरों में कार्यरत हो गए। अमृतसर मे हम १० छात्र नियुक्त किए गए। सबसे पूर्व पीड़ित परिवारों की ब्योरेवार सूची बनाई गई। अमृतसर के आर्य सज्जनों ने इसमें पूरा सहयोग दिया। इन्हीं महानुभावों के निर्देशन में गांवों के पीड़ित व्यक्तियों की भी तालिका बनाई गई। सहायता के लिए धन, वस्त्र, अन्न इत्यादि की व्यवस्था स्वामी जी के नेतृत्व में, पं० मदनमोहन मालवीय और कांग्रेस नेताओं तथा अन्य दानी-उदार संस्थाओं व व्यक्तियों द्वारा पर्याप्त मात्रा में होती रही।

**१९१९ का कांग्रेस अधिवेशन अमृतसर में : स्वागताध्यक्ष स्वामी जी ही**

१९१९ का कांग्रेस अधिवेशन, एक वर्ष पूर्व ही पंजाब कांग्रेस नेताओं के विशेष अनुरोध पर, अमृतसर में होना निश्चित हो चुका था। प्रमुख कांग्रेसी नेता तो जेलों में व नजरबन्द थे। ला० लाजपत राय अमेरिका में थे और ब्रिटिश सरकार उनके भारत वापस आने पर रोक लगाए हुए थी। कांग्रेस नेताओं ने इस संकट काल मे, जेल मे बन्द कांग्रेस नेताओ पंजाब के विशेष अनुरोध पर स्वामी श्रद्धानन्द को ही एकमात्र इस महान् दायित्व को सभालने के योग्य समझा। फलत: गांधी जी और मोतीलाल नेहरू ने व्यक्तिगत रूप से स्वामी जी से अमृतसर कांग्रेस का दायित्व संभालने का अनुरोध किया। पंजाब सेवा समिति का कार्य कुछ विश्वस्त और योग्य व्यक्तियों को सौंप स्वामी जी १९१९ मे अमृतसर कांग्रेस के दिसम्बर मास के अंतिम सप्ताह में होने वाले अधिवेशन की तैयारी में जुट गये। स्वागत समिति के अध्यक्ष का पद उन्हें ही सौंपा गया।

**नवदिशा प्रेरक अधिवेशन : स्वामी जी द्वारा प्रथम बार हिन्दी व हरिजन समस्या**

दिसम्बर मास, शीतु ऋतु यौवन पर, विशेषत: पंजाब में फिर अमृतसर में दो दिन पूर्व जोरदार वर्षा। स्वामी जी पुन: गुरुकुल कांगड़ी के महाविद्यालय विभाग के छात्रो को सेवा के लिए बुलाया। हम छात्रो मे रेलवे स्टेशन पर पड़े पत्थर के कोयले की राख को ठेलों-गड्ढों पर भर नगर की मुख्य सड़को पर बिछा दिया! इससे कांग्रेस का जलूस खूब शान से निकला।

कांग्रेस इतिहास में अमृतसर अधिवेशन देश की राजनीति को क्रांतिकारी मोड़ देने के लिए सदा स्मरणीय रहा है। यह पहला अवसर था जब स्वागताध्यक्ष स्वामी श्रद्धानन्द ने कांग्रेस मंच से वेद मंत्र पाठ के साथ हिन्दी में अपना भाषण पढ़ा और पहली बार तथाकथित अछूतो के उद्धार की आवश्यकता पर स्वामी जी ने देश का ध्यान आकृष्ट किया।

इस अमृतसर कांग्रेस की सफलता के फलस्वरूप स्वामी श्रद्धानन्द के नेतृत्व में आर्यसमाज ने, व्यक्तिगत और सामूहिक रूप मे, सत्याग्रह आन्दोलन मे सर्वाधिक योगदान किया।

ई.इ७ शास्त्री नगर, जयपुर-७

# आर्यसमाज मानसरोवर गार्डन में पुलिस की नादिरशाही

## हवन करते हुए आर्य सज्जन पकड़े गए : उपद्रवी तत्वों की उपेक्षा

नई दिल्ली। आर्यसमाज मानसरोवर गार्डन के आर्य सज्जन रविवार २९ मार्च के दिन आर्यसमाज के एफ ब्लाक स्थित अपने प्लाट पर हवन कर रहे थे कि उन्हें कुछ शरारती तत्वों ने हुल्लड़ और पत्थरबाजी से परेशान किया। मौके पर फ्लाइंग स्क्वैड और पुलिस ने उपद्रवी लोगो के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की पर वह हवन करते हुए आर्य सज्जनों को पकड़कर पुलिस थाने ले गई। पुलिस की इकतर्फा कार्यवाही से पश्चिमी दिल्ली की आर्य समाजों और आर्य जनता मे क्षोभ की लहर फैल गई है। क्षेत्र की आर्य जनता विक्षुब्ध है, वह आर्यसमाज के प्लाट पर निरन्तर वेदपाठ और हवन आदि का कार्य प्रचलित रखे हुए हैं।

**सारी घटना की पृष्ठभूमि इस प्रकार है —**

मानसरोवर गार्डन एक मंजूरशुदा, प्राइवेट कालोनी है। इस कालोनी मे आर्यसमाज की स्थापना कई वर्ष पूर्व हो गई थी, परन्तु निश्चित स्थान के अभाव के कारण आर्यसमाज के सत्संग और साप्ताहिक अधिवेशन पारिवारिक सत्संगों के रूप में होते रहे। स्थान के अभाव को दूर करने के लिए आर्यसमाज मानसरोवर गार्डन के कालोनाइजर श्री मानसिंह जी से समय-समय पर अनुरोध करती रही थी, मूलत: उन्होंने समाज को ३२५ वर्गमीटर का प्लाट दान में दे दिया। इस बारे में उन्होंने अपना स्वीकृति-पत्र भी दे दिया। यह प्लाट हायर सकैण्डरी स्कूल, मानसरोवर गार्डन एफ ब्लाक के साथ है और इसके सामने पन्द्रह फुट की एक गली छोड़कर एफ ३६-३७-३८ के तीन मकान अवस्थित हैं।

उल्लेखनीय है कि एफ ३६ के मालिक श्री कन्हैयालाल ठेकेदार ने शनिवार २८ मार्च के दिन आर्यसमाज के सदस्यों को विश्वास दिलाया कि उनकी लाइन में पड़ने वाले मकान मालिको को प्रसन्नता होगी यदि आर्यसमाज मानसरोवर गार्डन का मंदिर शीघ्र बन जाए, जिससे जनता जल्दी से जल्दी इसका लाभ उठाए। इस बात का ख्याल रखते हुए समाज के सदस्यो ने रविवार २९ मार्च का सत्संग समाज के अपने प्लाट पर आरम्भ कर दिया, पर कुछ ही समय बाद कुछ लड़के वहाँ आ गये और हुल्लड़ कर पत्थर-कंकड़ फेंकने लगे। अभी यह हुल्लड़ चल ही रहा था कि फ्लाइंग स्कवाड भी आ गया। कुछ समय बाद मोती नगर पुलिस का जत्था भी पहुंच गया।

अत्यन्त अचम्भे और खेद की बात है कि फ्लाइंग स्कवाड और पुलिस ने हुल्लड़ करने वाले ओर पत्थर फेंकने वालो के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की। इसकी इस इकतर्फा कार्यवाही तथा सत्सग में उनके अचानक हस्तक्षेप से उनकी मिलीभगत का अहसास हो ही रहा था कि वे यज्ञ करने वाले सत्संगी भाइयों को जबरदस्ती मोतीनगर थाने ले गए। आर्यसज्जनों की तलाशी ली गई। एस० एच० ओ० ठाकुर ने भी बाहर से थाने में आकर समाज के लोगों पर दबाव डालकर उन्हें अपने लिखे पर हस्ताक्षर करने के लिए मजबूर किया और यह सब करने के बाद शाम को चार बजे समाज के कार्यकर्त्ताओं को घर जाने की अनुमति दी गई। □

## 'आर्य सन्देश' के ग्राहकों से हार्दिक अनुरोध

आज की भीषण महगाई मे 'आर्य-सन्देश' आपकी सेवा में पन्द्रह रुपये मात्र के वार्षिक शुल्क से उपलब्ध कराया जा रहा है एवं प्रतिवर्ष घाटा उठाकर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा वैदिक धर्म के प्रचार एवं प्रसार मे सदैव अग्रणी रही है। इस पत्रिका में वैदिक विद्वानो के लेख एवं प्रतिवर्ष ३, ४ आकर्षक विशेषांक निकाले जाते हैं। ऐसी स्थिति में आपसे अधिक सहयोग की आकांक्षा है।

इस दृष्टि से आर्यसन्देश के ग्राहकों से हार्दिक अनुरोध है कि जिन महानुभावों ने अपना वार्षिक शुल्क २-३ वर्षों से अभी तक नहीं भेजा है कृपया शीघ्र भेजने का कष्ट करेंगे। साथ ही पत्र के अधिकाधिक ग्राहक बनाकर, विज्ञापन अथवा दान देकर भी पाठकवृन्द हमें अनुगृहीत करेंगे। इस निवेदन पर जो शुल्क भेज रहे हैं एवं दान दे रहे हैं और पत्र के नूतन सदस्य एवं आजीवन सदस्य बन रहे हैं उन्हें आर्य-सन्देश परिवार की ओर से हार्दिक धन्यवाद।

आपसे पुन: निवेदन है कि ग्राहक महानुभाव शेष शुल्क भेजते समय या पत्र-व्यवहार करते समय अपनी ग्राहक संख्या अवश्य लिखने का कष्ट किया करें। —व्यवस्थापक

# आर्य जगत् समाचार

## आर्यसमाज की शिथिलता उचित नहीं है

### आर्यसमाज बाजार सीताराम वार्षिकोत्सव
### नेताओं का सत्परामर्श

दिल्ली। 'आजादी की लड़ाई में सबसे ज्यादा यदि किसी ने भाग लिया तो वे आर्यसमाजी ही थे—'इन शब्दों में संसद सदस्य श्री भीखूराम जैन ने दिल्ली की एक सर्वाधिक प्राचीन आर्य समाज बाजार सीताराम के ६१वें वार्षिकोत्सव पर आयोजित राष्ट्र रक्षा सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए देश के स्वाधीनता संग्राम में आर्यसमाज के योगदान की प्रशंसा की। श्री जैन ने इस बात पर खेद प्रकट किया कि आज आर्यसमाज के प्रचार मे कुछ ढीलापन देखता हूं जो राष्ट्र के लिए हित मे नहीं है। महर्षि दयानन्द पहले व्यक्ति थे, जिन्होने छूआछात मिटाने, नारी शिक्षा, विधवा-विवाह, शराब बन्दी, बाल विवाह विरोध की आवाज उठाई। हम सब को मिलकर महर्षि का कार्य पूरा करना चाहिए।
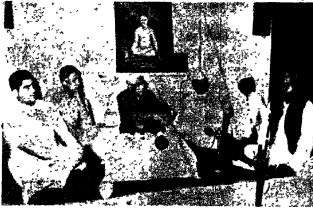
प्रो० बलराज मधोक ने कहा—'इस समय हमारा राष्ट्र काफी परेशानियों से घिरा हुआ है। हर राजनीतिक दल वोट की खातिर मुसलमानों और ईसाइयो के वोट लेने के लिए उनकी हर अनुचित बात मानने को तैयार है, चाहे उनसे राष्ट्र का नुकसान ही क्यो न हो। जो व्यक्ति इस देश का खाते-पीते हैं और दूसरे देशो के गीत गाते हैं, उनके वोट का अधिकार समाप्त होना चाहिए।'

आर्य सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री लाला रामगोपाल शालवाले ने कहा—'अब समय आ गया है कि हमे संगठित होकर योजनाबद्ध तरीके से समाज मे व्याप्त कुरीतिया समाप्त करनी चाहिए। आर्यसमाज हरिजनों और सवर्णो मे कोई भेद नही मानता।' भू० पू० संसद सदस्य स्वामी रामेश्वरानन्द ने कहा कि आज के आर्यसमाजियों मे पुराने आर्यसमाजियो जैसा जोश नहीं है। हमें अपने कहे पर आचरण करना चाहिए। आर्यसमाज बाजार सीताराम के मन्त्री श्री मामचन्द रिवारिया ने चेतावनी दी कि यदि पिछड़े वर्गों और हरिजनो में ठीक प्रचार कर उन्हें अपनाया नहीं गया तो वे लोग मुसलमान और ईसाई बन जाएंगे और हिन्दू समाज अल्पसंख्यक हो जाएगा।

आर्य युवक सम्मेलन में भाषण देते हुए दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री श्री विद्यासागर विद्यालंकार ने आर्य युवको से अनुरोध किया कि उन्हें पिछड़े समुदाय में जाकर उनसे निकट सम्पर्क बनाना चाहिए। इस अवसर पर आर्य केन्द्रीय सभा के महामन्त्री प्रिंसिपल ओम्प्रकाश और सार्वदेशिक सभा के वरिष्ठ उपमन्त्री श्री सच्चिदानन्द ने भाषण देते हुए कहा कि केवल युवक ही आर्यसमाज का कार्य बढ़ा सकते हैं।

इस अवसर पर कवि सम्मेलन और स्त्री सम्मेलन के कार्यक्रम भी सम्पन्न हुए।

—•—

## आर्य विद्या परिषद् की परीक्षाओं की लोकप्रियता बढ़ी

यह प्रसन्नता का विषय है कि आर्य विद्यार्थियों में धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा की लोकप्रियता निरन्तर बढ़ रही है। उल्लेखनीय है कि आर्य विद्यापरिषद् के तत्त्वावधान में १६८०-१६८१ में आयोजित नीति-परीक्षाओं मे भाग लेने के लिए १०६६ छात्र-छात्राओं ने फार्म भरे थे। इन नीति-परीक्षाओं में ६८५ छात्र-छात्राओं ने भाग लिया, उनमें ६५६ छात्र-छात्राएं उत्तीर्ण हुए, केवल २६ असफल रहे।

### नीति-प्रवेशिका

नीति-प्रवेशिका की परीक्षा के लिए ३८७ छात्र-छात्राओं ने फार्म भरे थे, उनमे ३७६ परीक्षार्थियो ने भाग लिया और २६८ छात्र-छात्राएं उत्तीर्ण हुए। कवल ८ परीक्षार्थी विफल हुए।

इस परीक्षा में आर्य कन्या गुरुकुल नया राजेन्द्र नगर की कु० सुनीता सुपुत्री राजाराम आर्य रोल नम्बर ४४० प्रथम रही। उसने १०० में से ६१ अंक प्राप्त किए।

परीक्षा मे द्वितीय स्थान भी उक्त कन्या गुरुकुल की छात्रा सुमित्रा, सुपुत्री श्री भरतसिंह, रोल नम्बर ४४१ ने १०० में से ८६ अक प्राप्त कर उपलब्ध किया।

परीक्षा में दूसरा स्थान उक्त कन्या गुरुकुल की छात्रा कु० मधुबाला, सुपुत्री श्री खैरातीलाल रोल नम्बर ४४६ ने १०० में ८६ अंक प्राप्त कर लिया।

परीक्षा मे तृतीय स्थान आर्यपुत्री पाठशाला गांधीनगर के छात्र अश्विनी कुमार सुपुत्र श्री योगेन्द्रपाल, रोलनम्बर २८२ ने १०० में ८८ अंक प्राप्त कर लिया।

### नीति-अधिकारी

नीति-अधिकारी की परीक्षा के लिए ३२२ छात्र-छात्राओं ने फार्म भरे थे, उनमें से २६७ परीक्षा में बैठे, २७६ उत्तीर्ण हुए और २१ विफल हो गए।

इस परीक्षा मे सतभ्रावां आर्यकन्या महाविद्यालय का छात्रा कु० रजनी चड्ढा, सुपुत्री ताराचन्द रोलनम्बर ५६४ ने १५० में से १३१ अक प्राप्त कर प्रथम स्थान प्राप्त किया।

इस परीक्षा में द्वितीय स्थान भी सतभ्रावां आर्यकन्या महाविद्यालय की छात्रा कु० वसुधा, सुपुत्री श्री सुदर्शनदेव रोलनम्बर ५५५ ने १५० में से १२६ अंक प्राप्त कर लिया।

इस परीक्षा में भी तीसरा स्थान सतभ्रावां आर्यकन्या महाविद्यालय की छात्रा कु० करुणा भाटिया, सुपुत्री अश्विनी भाटिया, रोलनम्बर ५६६ ने १५० में १२७ अंक प्राप्त कर लिया।

### नीति-ज्ञानी

नीति-ज्ञानी की परीक्षा के लिए १८७ छात्र-छात्राओं ने फार्म भरे। ११८ परीक्षार्थी बैठे, सभी सफल रहे। बिरला आर्यकन्या महाविद्यालय की छात्रा कु० लक्ष्मी सुपुत्री श्री रघुनाथ प्रसाद रोलनम्बर ८२८ ने २०० में १७३ अंक लेकर पहला स्थान प्राप्त किया। दूसरा स्थान रघुमल आर्य कन्या महाविद्यालय की छात्रा कु० मुक्ता सुपुत्री श्री के० एल० मनोचा रोलनम्बर ८१४ ने २०० मे से १५८ अक प्राप्त कर लिया। तीसरा स्थान बिरला आर्यकन्या महाविद्यालय की छात्रा सविता सुपुत्री हरिकृष्ण रोलनम्बर ८०१ ने २०० मे से १५४ अंक प्राप्त कर लिया।

### नीति-विशारद

नीति-विशारद की परीक्षा के लिए २०० छात्र-छात्राओ ने फार्म भरे थे। १३४ परीक्षार्थी बैठे, सभी सफल रहे। परीक्षा में पहला स्थान रघुमल आर्य कन्या महाविद्यालय, राजा बाजार की छात्रा कु० सुनीता शर्मा, सुपुत्री श्री वी० एल० शर्मा रोलनम्बर ११६७ ने २०० में से १६७ अंक प्राप्त कर लिया। परीक्षा में दूसरा स्थान भी उक्त रघुमल आर्य कन्या महाविद्यालय की छात्रा कु० सुनीता पाराशर, सुपुत्री श्री के० एन० पाराशर, रोलनम्बर ११२७ ने २०० में से १६६ अक प्राप्त कर लिया। तीसरा स्थान बिरला आर्यकन्या महाविद्यालय, बिरला लाइन्स की छात्रा कु० सुनीता सुपुत्री श्री कैलाशचन्द्र रोलनम्बर १०१५ ने २०० में से १५६ अंक प्राप्त कर ग्रहण किया।

—प्रो. भारतमित्र शास्त्री,
प्रस्तोता, आर्य विद्या परिषद्, दिल्ली

—०—

# आर्यसमाजों के सत्संग

१२-४-८१

अन्धा मुगल प्रताप नगर—पं. उदयपाल शास्त्री; अमर कालोनी—आचार्य कृष्णगोपाल; आर्यपुरा—पं. तुलसीराम भजनोपदेशक; आर. के. पुरम् सैक्टर-७—पं. मनोहर विरक्त'; आनन्द विहार हरिनगर एल ब्लाक—प. देवराम वैदिक मिशनरी; किदवई नगर—पं. प्रकाशवीर व्याकुल; कालकाजी—पं. दिनेशचन्द्र पराशर शास्त्री; करोल बाग—प्रो. सत्यपाल वेदार; गांधीनगर—प. देवेन्द्र द्विवेदी; ग्रेटर कैलाश-I—डा. रघुवीर वेदालकार; ग्रेटर कैलाश-II—आचार्य रामशरण मिश्रा शास्त्री; गुड़मंडी—प. महेशचन्द भजनोपदेशक; १५१-गुप्ता कालोनी—पं. अशोककुमार विद्यालकार; गोविन्द भवन दयानन्दवाटिका—श्रीमती प्रकाशवती शास्त्री; चूनामंडी पहाड़गंज—श्रीमती भगवानदेवी; जंगपुरा भोगल—प हीराप्रसाद शास्त्री; जनकपुरी सी-३—पं. महेन्द्र प्रताप शास्त्री; जनकपुरी बी ३/२४—डा. सुखदयाल भूटानी; तिलकनगर—पं. दिवाकर शर्मा; तीमारपुर—श्री मोहनलाल गांधी; दरियागंज—प. वेदपाल शास्त्री; नयाबांस—पं. गजेन्द्रपाल शास्त्री; पजाबी बाग—आचार्य हरिदेव सि. भू.; पजाबी बाग एक्सटेन्शन—प. रामरूप शर्मा; बाग कड़े खाँ—पं. बरकतराम भजनोपदेशक; बाजार सीताराम—पं. केशवचन्द्र मुन्जाल; बिरला लाइन्स—पं. विजयपाल शास्त्री; मोडल बस्ती—प. ओमप्रकाश भजनोपदेशक; महावीर नगर—प विश्वप्रकाश शास्त्री; मोतीबाग—पं. ओमवीर शास्त्री; मोती नगर—पं. विष्णुदेवप्रसाद विद्यालकार; रघुवीरनगर—प. सीसराम भजनोपदेशक; रमेशनगर—प. छज्जूराम शास्त्री; राणाप्रताप बाग—पं. ईश्वरदत्त म. ए.; लड्डू घाटी—पं. वीरव्रत शास्त्री; लाजपतनगर—श्रीमती लीलावती आर्य; सोधी रोड [illegible]—डा. रघुनन्दन सिंह; विक्रम नगर—प. प्राणनाथ सिद्धाता-लंकार; विन[illegible]—पं. सत्यभूषण वेदालकार; राजौरी गार्डन—प्रो. वीरपाल विद्यालंकार; [illegible] पहाड़ी धीरज—वैद्य रामकिशोर; सराय रोहला—प. महेन्द्रप्रताप शास्त्री; सुदर्शन पार्क—प्रो. भारत[illegible] शास्त्री; शकूर बस्ती रानी बाग—पं. प्रकाशचन्द शास्त्री; हौज खास डी-[illegible]; शालीमार बाग—प. सत्यपाल मधुर भजनोपदेशक।

—ज्ञानचन्द डोगरा, वेद प्रचार विभाग

---

आर्यसमाज बेतिया (चम्पारन) के वार्षिक चुनाव में श्री भगवानप्रसाद आर्य विद्यारत्न प्रधान तथा श्री महन्त प्रसाद आर्य मन्त्री नियुक्त हुए।



### आर्यसमाज नरेला का ५१वां उत्सव

आर्यसमाज नरेला का ५१वा वार्षिक उत्सव बड़े उत्साहपूर्वक मनाया गया। इस अवसर पर खेलों का आयोजन भी किया गया व भाषण प्रतियोगिताएं भी हुईं। १४ ता० को भव्य जलूस शोभायात्रा निकाली गई। इस शुभ अवसर पर स्वास्थ्य-सम्मेलन, शिक्षा सम्मेलन, ग्राम-सुधार-सम्मेलन हुए, जिनमें पूज्य स्वामी ओ३मानन्द सरस्वती, स्वामी अमृतानन्द जी, आचार्य ब्रह्मदत्त जी शर्मा, डा० गोविन्दराम जी चौधरी, प्रि० रतीराम पाराशर प्रि० मेहरलाल पंवार, बाबू जगन्नाथ, श्री विशम्भर प्रसाद गुप्ता, मा० भगेराम आर्य, पं० हेमचन्द, मा० पूर्णसिंह आर्य व आर्यमुनि ब्र० राजेन्द्र शर्मा व स्वामी नारायणानन्द जी दयानन्द मठ रोहतक आदि के भजनहुए। श्री धर्मव्रत शास्त्री द्वारा मलखम्भ व व्यायाम प्रदर्शन बड़ा आकर्षक रहा।

—राजपाल आर्य मंत्री

### आर्यसमाज मस्जिद मोठ की गतिविधियां

नये वर्ष के पदाधिकारी—प्रधान—श्री सूर्यप्रतापतनेजा, उपप्रधान—वैद्यी प्रभुदयाल एव फकीरचन्द, मन्त्री—ओम्प्रकाश भावल, कोषाध्यक्ष—सत्यपाल भारल।

१९८० वर्ष में आर्यसमाज मदिर की भूमि डी. डी. ए. से मुक्त कराई गई, समाज मदिर की चारदीवारीबनाई गई। मदिर में यज्ञशाला की बुर्जी बनाई गई और मदिर मे पानी की व्यवस्था की गई।

### श्री जगतराम खन्ना का स्वर्गवास

आर्यसमाज स्वरूपनगर के मन्त्री एवं केन्द्रीय आर्यसभा कानपुर के प्रचार-मन्त्री श्री जगमोहन खन्ना के पूज्य पिता श्री जगतराम खन्ना का आकस्मिक निधन हृदय गति रुक जाने से हो गया। ४ मार्च के दिन बालनिकुंज स्वरूपनगर में अनेक सामाजिक एवं शिक्षा सस्थाओं के प्रतिनिधियों ने दिवगत आत्मा के प्रति अपनी श्रद्धांजलि चढाई।

## दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रकाशन

| | |
|---|---|
| सत्यार्थप्रकाश सन्देश (हिन्दी) | १.०० |
| ,, ,, (अंग्रेजी) | समाप्त |
| आर्य सन्देश-महासम्मेलन विशेषांक | ६.६० |
| पादरी भाग गया—ओम्प्रकाश त्यागी | ०.३० |
| स्वामी श्रद्धानन्द बलिदान अर्द्ध शताब्दी स्मारिका | ६.०० |
| सत्यार्थप्रकाश शताब्दी समारोह स्मारिका | ६.०० |

सम्पर्क करें—

अधिष्ठाता प्रकाशन विभाग
दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा,
१५, हनुमान रोड,
नई दिल्ली-११०००१

### शुद्धि-प्रचार के लिए आर्य विद्वान् चाहिए

शुद्धिसभा, शाखा बरेली (सनाढ्य सदन, फाटक गोकलचन्द, छोटी बम्हपुरी) के संयोजक पं० रामप्रसाद मिश्र सूचित करते हैं कि बरेली शाखा को शुद्धि-प्रचार के लिए एक अनुभवी व विद्वान प्रचारक की आवश्यकता है।

卐 'आर्य... स्वयं... दूसरों... बनाए'

卐 आर्यसमाज के सदस्य स्वयं बनें— दूसरों को बनाइए

卐 हिन्दी-संस्कृत भाषा स्वयं पढ़ें दूसरों को भी पढ़ाइए—

रजि० नं० डी (सी) ७२६

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के लिए ... शर्मा द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा चाडिया प्रैस ७२७/१-सी, गुलाबनगर गली, गांधीनगर दिल्ली-३१ में मुद्रित। कार्यालय १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली फोन नं० ३१ ०१५०

ओ३म्

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

# आर्य सन्देश

दिल्ली आर्यप्रतिनिधि सभा का साप्ताहिक मुखपत्र

एक प्रति ३५ पैसे | वार्षिक १५ रुपये | वर्ष ४ : अंक २५ | रविवार १२ अप्रैल १९८१ | दयानन्दाब्द १५६

## हकूमते हिन्द से मुसलमानों के लिए अलग इलाके की मांग

### हैदराबाद में पोस्टर लगे : भारतीय जनता सावधान हो-सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री श्री ओम्प्रकाश त्यागी की चेतावनी

दिल्ली। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के महामंत्री भू. पू ससस्य सदस्य श्री ओम्प्रकाश त्यागी ने एशिया और अफ्रीका के अरब देशों द्वारा भारत के हिन्दुओ विशेषत: हरिजनो को मुसलमान बना कर भारत मे अपना बहुमत बनाने के षडयन्त्र के बारे में देश की जनता को सावधान किया है। इससे पूर्व श्री त्यागी कुवैत से प्रकाशित १९ जनवरी, १९८१ के 'अरब टाइम्स' की कतरन देश के समाचार-पत्रों मे प्रसारित कर चुके हैं जिसमे कुवैत ने भारतीय उपमहाद्वीप में हिन्दुओं विशेषत: हरिजनों को आकर्षित करने के लिए मुसलमानो को मदद करने के कार्यक्रम में पूरी आर्थिक सहायता देने की पेशकश की थी।

श्री त्यागी ने अब हैदराबाद के मुसलमानो की ओर से शहर की दीवारो पर लगाए गए उस पोस्टर की फोटोस्टेट कापी भेजी है, जो देश मे मुसलमानो की गिनती बढाकर नए मुस्लिम प्रदेश बनाने की योजना का ही एक अग दिखाई देता है। ये पोस्टर पिछले दिनो हैदराबाद के समीप पहाडी शरीफ मे हुए जमायते इस्लामी के अधिवेशन के अवसर पर लगाए गए थे। ये पोस्टर शास्त्रीनगर, फतहनगर, रेलवेगेट, सनतनगर, हैदराबाद, आंध्रप्रदेश के एक ऐसे सिर-फिरे दिमाग ने प्रसारित किए हैं—जिसका दावा है कि वह किसी किस्म का नबी-रसूल-ईसा और मेंहदी नहीं है इतने पर भी उसका दावा है कि वह हजरत मुहम्मद साहेब का आफरीनी और आखिरी रसूल है—

वह अपने सलामतीनामा मे दावा करता है—अल सलातीन (बादशाहों का बादशाह) खिजरी शाख हाशमी हलीफ हलफनामा सालिस उम अल हलूफ मत-बुआ १५ फरवरी, १९८१ की मुद्दत हलफ ४० योम (दिन) १२ फरवरी, १९८१ से शुरू होकर २६ मार्च, १९८१ तक खतम हो चु ी और मैं अल्ला-ताला के फजलो-करम से-मेरी मुद्दत हलफ में फौत (मौत) नहीं हुआ, बल्कि आजतक जिन्दा सलामत हूं। मैं यानी खलीफता-उल-मुसलमीन सुल्तान अल-सलातीन खिजरी शाख हाशमी ने हजरत मोहम्मद रसूल अल्ला सलाम-अल्ला अलाओ सलम के हुकम की तामील में 'मुसलमानों' को लुटने-पीटने कटने से बचाने और उनकी औरतों को बेइज्जती से बचाने के लिए पहली मर्तबा ९ मई, १९८० को रजिस्ट्री रसीद तलब नम्बर २२३५ के जरिया से और दूसरी मर्तबा हलफनामा सालिस उम-अल-हरूप मत-बुआ १५ फरवरी, १९८१ के जरिये से हकूमते हिन्द से यह मुतालबा किया है कि हकूमते हिन्द मुसलमानो को अलग इलाका दे दे।'

साफ है कि मजहबी फिर्कापरस्त देश के बटवारे से शान्त नही हुए हैं, वे मुरादाबाद के बाद नई मजहबी बस्तियाँ बसा कर वहाँ किलेबन्दी कर तथा देश के दूसरे इलाको के हरिजनो को खाडी देश के अरबो की अरबो रुपयो की दौलत से अपने चगुल मे लाना चाहते हैं। इतना ही नही आजादी के बाद पूरी शान्ति और अमन से रहने और मुरादाबाद मे कहर बरसाने के बावजूद अल्पसख्यको की कथित सुरक्षा के नाम पर ये नये मुल्क की माँग फिर उठा रहे हैं। सार्वदेशिक सभा के महामन्त्री श्री त्यागी ने देश के आर्यजनो और आर्य समाजो से अनुरोध किया है कि वे हरिजन बन्धुओ मे आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार का विशेष प्रबन्ध करे। इसके अतिरिक्त यदि उनके क्षेत्रो का कोई हिन्दू-हरिजन लोभ-लालच और भय के बल पर मुसलमान या ईसाई बनाया जाता है तो उसकी सूचना तुरन्त सार्वदेशिक सभा को दी जाए जिससे उस सम्बन्ध मे उचित कार्यवाही की जा सके।

---

## देश की युवा पीढ़ी को संगठित किया जाएगा

### १ से १५ जून तक गुरुकुल कांगड़ी में आर्य वीर दल-प्रशिक्षण शिबिर का आयोजन : आर्यसंस्थाओं से सक्रिय सहयोग की अपेक्षा

नई दिल्ली। सार्वदेशिक आर्यवीर दल समिति के प्रधान संचालक श्री बाल दिवाकर हंस ने देश भर की आर्य प्रतिनिधि सभाओं और आर्यसमाजो के पदाधिकारियों को सावधान किया है कि तेल उत्पादक मुस्लिम राष्ट्र और ईसाइयत के प्रबल समर्थक करोड़ों रुपये खर्च कर भारत की सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक मान्यताओ को नष्ट कराने के लिए प्रयत्नशील हैं। ऐसी विषम परिस्थिति में शिरोमणि सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने युवा पीढी को ब्रह्मचर्ययुक्त जीवन के मूल्यों में नियुक्त करने के लिए आगामी १ जून से १५ जून, १ ८१ तक गुरुकुल कांगड़ी के प्रांगण त सार्वदेशिक आर्यवीर दल शिक्षक-प्रशिक्षण शिविर का आयोजन किया है।

अधिकृत रूप से यह भी ज्ञात हुआ है कि सार्वदेशिक आर्यवीर दल के सचालक वर्ग इस प्रशिक्षण शिविर में भाग लेने के जिए प्रत्येक प्रदेश के ऐसे दम-दम युवकी की माँग की है, जो शारीरिक दृष्टि से पूर्ण स्वस्थ-सबल हो और शैक्षणिक दृष्टि से गुरुकुल के स्नातक, बी ए. शास्त्री, प्रभाकर, साहित्यरत्न हो अथवा इन उपाधियों के समकक्ष योग्यता रखते हो। आर्यवीर दल ने प्रतिनिधि सभाओं और समाजो से अनुरोध किया है कि मुस्लिम तथा ईसाई राष्ट्रों के द्वारा जिस प्रकार हमारी निर्धन, अशिक्षित जनता को विधर्मी बनाने का प्रयत्न चल रहा है, उसकी रोकथाम करने के लिए आर्यसमाज को बहुत से मोर्चो पर कार्य करना होगा। इस दृष्टि से देश के युवको का संगठित मोर्चा बनाने के लिए युवाओ के चयन एव शिविर-प्रवेश की प्रेरणा को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी होगी। आशा है सब आर्यसमाजें अप्रैल के अत कर आर्य-युवको का चयन कर उनकी सूची प्रनि-प्रतिनिधि सभाओ को भेज देंगी।

आर्यसमाजो से यह अनुरोध भी किया गया है कि विदेशी धर्मों के प्रचार प्रसार को रोकने तथा आर्यवीर दलो के प्रशिक्षण के लिए आवश्यक वेशभूषा एव मार्ग-व्यय आदि के लिए अधिकतम आर्थिक सहयोग व प्रतिनिधि सभाओ को देने की व्यवस्था करेंगी। □

—नरेन्द्र विद्यावाचस्पति

# मेरे कल्याण के लिये दूर देश से आइए

भद्रोमेऽसि प्रच्यवस्व भुवस्पते विश्वा-न्यभि धामानि ।

मात्वा परिपरिणो विदन् मात्वा परिपन्थिनो विदन् मात्वावृका अघाय-वोविदन् ।

श्येनो भूत्वा परापत यजमानस्य गृहान् गच्छ तन्नौ संस्कृतम् ॥

यजु० ४-३४

ऋषि —वत्सः । देवता—सोमः ।

शब्दार्थ—हे आनन्दवर्षक सोम, तू (भुवस्पते) भुवनपति होते हुए अपने वत्स तुल्य प्रिय मुझे (भद्रः) कल्याण और सुख देने वाला (असि) है, इसलिए (विश्वानि धामानि) अपने सब धामो को छोड़कर (अभि प्रच्यवस्व) मेरी ओर दौड़कर आ, और सब धामो के सुख तथा कल्याण का प्रवचन कर। मेरी ओर आते हुए (त्वा) तुझे मार्ग में (परिपरिण:) मेरे विरोधी तथा प्रतिपक्षी (मा विदन) न मिलें। (त्वा) तुझे परिपन्थिन.) बटमार लुटेरे (मा विदन्) न मिलें और (त्वा) तुझे (वृका) हिंसक (अघायव) पाप की पर्वाह न करने वाले डाकू भी (मा विदन्) न मिलें। (श्येनो भूत्वा) बाज के समान अनजाने मे (यजमानस्य गृहान्) संगम करने योग्य पूज्य मनुष्य के घरो मे (परापत) अचानक पहुच जा। क्योंकि (तत्) वह घर (नौ) भक्त और भगवान् दोनो के लिए (संस्कृतम्) सब ऋतुओं मे रहने योग्य अच्छी प्रकार बनाया गया है।

निष्कर्ष—१—प्रत्येक घर, समाज, राष्ट्र और भुवन का उत्पादक तथा स्वामी अपनी अधीनस्थ प्रजा का कल्याण चाहता है और सुख देने का प्रयत्न करता है। मैं आपका वत्स हू और आप मेरे उत्पादक तथा सुखप्रदाता हैं, इसलिए मैं आप को बुलाता हू, और चाहता हू कि जब मैं बुलाऊं, आप भाग कर तत्क्षण पहुंच जाएं।

२—आप सशक्त तथा न्यायकारी होने से लुटेरो-दुष्टो, हिंसको तथा पापी डाकुओं को दंड देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं, इसलिए मैं चाहता हूं कि जब आप मेरे पास आ रहे हों, तब आपको ऐसा दुष्ट या पापी कोई न टकराए, जिसके कारण मेरे पास पहुचने में आपको देर लगे।

३—मैं जानता हू कि आप पूजनीय सत्सगी और दानी (यजमान) पुरुषों के घरो में जाते हो, इसलिए मैंने यजमान बनने का प्रयत्न किया है। आप इसमें बाज की तरह से चुपचाप और एकदम पहुंच जाइए।

४—मैंने अपने देह को जो हम दोनों का निवास है, तप और सयम की आग से खूब सस्कृत और पवित्र कर रखा है, इसलिए आप आने में हिचकिए नही। यहाँ आपको किसी प्रकार का कष्ट नही होगा, अपितु प्रसन्नता ही होगी।

विशेष—इस मन्त्र का देवता सोम है। यह उत्पत्ति और आनन्द का देवता है। अपनी प्रजा को आनन्दित देखना चाहता है और ऋषि वत्स है। यदि हम वत्स के समान सरल और निष्कपट बनेंगे तो वह हमे सुख देगा, कल्याण करेगा।

महर्षि दयानन्द ने इसका भावार्थ लिखा है—मनुष्यै. उत्तमानि विमानादीनि यानानि रचयित्वा, द्वीपान्तरं गत्वा, धनं प्राप्य, दुष्टेभ्य: दूरं स्थित्वा सर्वदा सुखं भोक्तव्यम्।

श्येन की तरह झटपट सब धामों से आने की चर्चा से स्वामी जी ने इस मंत्र में विमान-निर्माण की कल्पना की है। सब धाम (देशो) में आने-जाने के वर्णन से देश-देशान्तर मे जाकर धनार्जन और सब तरह से पवित्र (सस्कृत) रह कर सुख-भोग की इच्छा की है।

अर्थपोषक प्रमाण—सोम:—सु प्रसवैश्वर्ययो. । सोम The Lord of wine of delight and immortality. वैदिक ग्लासरी पृ. १०० श्री अरविन्द।

वत्स.—वदतीति, शिशु तुल्य सरल हृदयभक्त। प्रच्यवस्व—च्युङ् गतौ। 'छन्दसि परिपन्थि परिपरिणौ पर्यवस्थातरि' पाणिनि ५-२-८९ पर्यवस्थाता—प्रतिपक्षी।

भद्रः—भदि कल्याणे सुखे च भदं राति ददाति। वृकाः विकर्तनशीलाः हिंसकाः।

अघायव—अघं पाप कर्तुमिच्छन्ति ते। संस्कृत शिल्पविद्यासंस्कारयुक्तं सर्वर्तुकम्।

यजमानस्य—यज देवपूजा संगतिकरण दानेषु। परा दूरार्थे

—मनोहर विद्यालंकार

## आर्यसमाज ! आर्यसमाज !!

**—राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त**

आर्यसमाज !
आर्यभूमि पर अरुणोदय-सा, उठा उष्ण तू सज कर साज !
आर्यसमाज ! आर्यसमाज !!

अंधकार था चारो ओर, देख लिया पर तूने चोर,
घर मे शोर मचाया घोर, सोते स्वजनो को धिक्कार,
जगा दिया ठोकर तक मार, कि हो प्राप्त भय का परिहार।
अलम-प्रमादी-अवमादी, हम थे सोने के आदी।

जागा—तू भैरववादी लगे विवादी भी कुछ स्वर।
पर हम चौंक उठे सस्वर, उतरा कुछ तो तन्द्रक ज्वर॥
किया क्या तूने खडन मात्र ? स्वय तथा मडन का पात्र,
गए गुरुकुल मे वर्णी छात्र, हिन्दू-मानस-महाराष्ट्र तू,
धरे राष्ट्रभाषा की लाज, आर्यसमाज ! आर्य-समाज !!

शोक न कर, तू कर अभिमान, कर निज वेद-विजय, रसपान।
किया वीर तूने बलिदान, विधर्मियों से घर की फूट।
करा रही थी अपनी लूट, तू सतर्क हो उठा अटूट !!
पर जो मुह की खाते हैं, मन ही मन चिढ़ जाते हैं
छिप कर घात लगाते हैं।

सहा सभी तूने प्यारे, सिद्ध कर गए हत्यारे।
निज अविजय न्यारे-न्यारे, मुह न छिपाया भय को देख।
लिखा निज शोणित से लेख।

'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' जयति कृतबुद्धि-कार्यम्।
शुद्धि वितान—तजे श्रद्धा का दान किया तूने द्विजराज।
आर्यसमाज ! आर्यसमाज !!

लोक-चिन्तन

## पापी कौन है ?

**डा० विजय द्विवेदी**

पिछले दिनो उडीसा की राजधानी भुवनेश्वर मे एक बड़ी निर्मम हत्या हुई। सिंचाई विभाग के अधीक्षक-इंजीनियर श्री चौधरी की पत्नी श्रीमती गौरी चौधरी को उनके घरेलू नौकर कान्हू बारिक ने कुल्हाडी से काट डाला और फरार हो गया। राजधानी मे आतंक छा गया। जितने मुंह उतनी बातें हुई। अन्त मे कान्हू दिल्ली मे पकडा गया। कहते हैं अपना अपराध स्वीकार करते हुए, उसने बताया कि वह पिछले छह-सात बरस से उक्त विभाग मे अस्थायी मजदूर के रूप में काम कर रहा था और श्री चौधरी उसकी सेवा को स्थायी न कर उससे अपने घर का काम-काज करा रहे थे। उसमे निराशा के कारण प्रतिशोध की भावना पैदा हुई और वह हत्या जैसा जघन्य काम कर बैठा।

हिंसा एक निन्दित और क्रूर कर्म है। वह अमानवीय है, अत वर्ज्य है। इस दृष्टि से कान्हू ने जो कुछ किया, वह अक्षम्य है, किन्तु इसी के साथ प्रश्न यह उठता है कि मि. चौधरी ने इतने वर्षों तक जो कुछ किया, वह क्या है ? क्या किसी की जिजीविषा, सुख-प्राप्ति की अभिलाषा, प्रगति आदि की भावना का सम्मान न करके उन्होने कोई अपराध अथवा पाप नहीं किया ? क्या दूसरों का स्वत्व छीनना अपराध नहीं है और यदि है तो इसके लिए व्यवस्था ने उन्हें क्या दण्ड दिया ?

मुझे 'कुरुक्षेत्र' में भीष्म के मुख से कही गयी कवि 'दिनकर' की पंक्तियां याद आ रही हैं—'पापी कौन, मनुज से उसका न्याय चुराने वाला ! या कि न्याय खोजते विघ्न का शीश उड़ाने वाला ! और उत्तर भी—'किसने कहा पाप है समुचित स्वत्वप्राप्ति हित लडना ? उठा न्याय का खड्ग समर में अभय मारना-मरना ?'

न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि 'गौतम' ने 'न्यायसूत्र' में लिखा है—मानव संकीर्ण भावनाओं को पारस्परिक व्यवहार का आधार न बनाए। इससे अपनों के प्रति भेदभाव, पक्षपात, मोह एवं अभिमान पैदा होता है, दूसरों के प्रति घृणा, अन्याय, शोषण और ईर्ष्या। अत: मनुष्य के साथ समानता के आधार पर व्यवहार करना चाहिए। वैयक्तिक अपेक्षाओं के साथ दूसरों की सुख-सुविधाओं पर भी दृष्टि रखनी चाहिए।

आज समाज के प्रत्येक व्यक्ति को इस बात पर विचार करना चाहिए कि वह किस तरह पाप, अपराध और शोषण से दूर रहते हुए दूसरों की उन्नति में सहायक हो सकता है। दूसरे जो शोषित-पीड़ित तथा दलित हैं, यदि ऐसे ही बने रहे तो एक दिन उनमें प्रतिशोध-भाव जागेगा, कातिल हाथ उठेंगे, तब मानवता का क्या होगा ?

(हिन्दी विभागाध्यक्ष, म. पू. च. कालेज, बारिपदा, (उड़ीसा)

## ज्ञानियों और शूरों की एकता से पुण्यभूमि

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरत. सह ।
तं लोक पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥ यजु. २०.२५

जिस राष्ट्र में ज्ञानी और शूर पुरुष समान विचार से राष्ट्रहितकारक कार्य करते रहें, वह देश ही पुण्यभूमि है, वहां सब प्रकार का कल्याण होता है ।

# स्वयं आर्य बनें : परिवार को आर्य बनाएं

रविवार, ५ अप्रैल के दिन शास्त्री पार्क करौल बाग मे दिल्ली की समस्त आर्य समाजो और आर्य संस्थाओ की ओर से आर्य केन्द्रीय सभा के तत्वावधान में संयुक्त रूप से आर्य समाज स्थापना-दिवस मनाया गया। दिल्ली मे १५० से अधिक आर्यसमाजें हैं, लगभग इतनी ही आर्यसंस्थाए और महाविद्यालय-विद्यालय आदि है। इन आर्य समाजों और आर्य संस्थाओं से सम्बद्ध लाखो बालक- बालिकाएं, युवक-युवतियां, स्त्री-पुरुष हैं । आर्य समाज संस्था से सीधे सम्बद्ध न होने वाले भी ऐसे लाखों स्त्री-पुरुष इसी भारत की राजधानी में हैं जो संस्था में सम्मिलित न रहने के बावजूद महर्षि दयानन्द और आर्य समाज के मन्तव्यो, सिद्धान्तों और उनके सामाजिक, सास्कृतिक एवं धार्मिक विचारो से सहमत हैं। आर्य समाज की इतनी अधिक शक्ति, संगठन और व्यापकता के बावजूद उस दिन शास्त्री पार्क मे दिल्ली की समस्त आर्य समाजो और सगठनो की शक्ति का नमूना देख कर बडी वेदना हो रही थी। यह ठीक है कि पार्क मे बना सभा-मंच भरा हुआ था, कनातो के साथ कुर्सियो की एक पक्ति भी भरी थी, सामने कुछ दर्जन श्रद्धालु देविया और सज्जन भी उपस्थित थे परन्तु सारा विशाल पण्डाल खाली पडा था। कडी धूप मे बचने के लिए झण्डावन्दन के समय शामियाने की एक पतली पट्टी सी लगाई गई थी, कुछ दर्जन श्रोता वहां भी बैठ गए थे।

एक समय अनुशासन और संगठन की दृष्टि से आर्यसमाज की अपनी छवि और धाक थी, परन्तु आर्यसमाज स्थापना-दिवस के अवसर पर संयुक्त सभा की उपस्थिति देख कर पुराने आर्य प्रेमी दुखी हो गए। सारे कार्यक्रम भी घोषित समय-क्रम के अनुसार नहीं हुए। सम्भवत: इस स्थिति का मूल्याकन करते हुए बडे वेदना-पूर्ण स्वरो मे ' ओ३म् ' की पताका फहराते हुए त्रिवेदतीर्थ स्वामी मुनीश्वरानन्द सरस्वती ने कहा कि एक शताब्दी पूर्व आर्यसमाज की स्थापना के समय समस्त विश्व में आर्य बनाने का संकल्प किया गया था, पर इन सौ वर्षों में हम सारी सृष्टि को क्या दिल्ली को भी आर्य नहीं बना सके। आज आर्यसमाज स्थापना-दिवस के अवसर पर हमें सारे संसार या दिल्ली को नहीं अपने परिवार को आर्य बनाने का संकल्प करना होगा।' हमें संकल्प करना होगा कि हम मन-वचन-कर्म से स्वय आर्य बनें और अपने परिवार को सच्चा आर्य बनाएँ। दिल्ली के कथित आर्यजन यदि पूरी गम्भीरता और ईमानदारी से एक वर्ष के इस एकसूत्री कार्यक्रम को पूरा कर सकें तो वर्ष भर मे ही बहुत कुछ हो सकता है।

म० बुद्ध के निर्वाण की घडी समीप आ गयी थी। उनका शिष्य आनन्द आसन्न संकट से भयभीत होकर रोने लगा और कातर स्वर में बोला 'आपके जाने पर क्या होगा ?' म० बुद्ध ने उत्तर दिया था—रोते क्यों हो, तुम अपने दीए स्वयं बनो 'आत्मदीपो भव'। अपने पथ-प्रदर्शक स्वयं बनो,आर्यसमाज का एक शताब्दी का इतिहास राष्ट्रीय पुनर्जागरण का जन-आन्दोलन रहा है। प्रत्येक आर्यजन ने सकट और परीक्षा की घड़ी में अपने बलबूते पर संस्था को अपने खून, पसीने और मेहनत से पल्लवित और पुष्पित किया है। १०६ वर्ष पूर्व ऋषि ने अवतारवाद पाषाण पूजा के स्थान पर एकेश्वरवाद की पताका लहराई थी, उन्होंने महाभारत के समय लुप्त हुए वैदिक धर्म की पुन: प्रतिष्ठा की थी, उन्होंने वेदों और वैदिक परम्परा की प्रतिष्ठा की थी, इसी के साथ उन्होंने जन्म के स्थान पर गुण-कर्म के आधार पर त्याग-बलिदान की समिधा से आर्य यज्ञ मे अपनी आहुति दी थी। आज स्थिति कितनी दुखद है उसका एक नमूना और देखिए। दिल्ली की प्रतिनिधि सभा को ओर से समाज-समाज मे आर्य युवको का संगठन सुदृढ करने के लिए प्रत्येक आर्य-समाज से अनुरोध किया गया था। इस अनुरोध के उत्तरमे एक आर्यसमाज के जिम्मे-दार अधिकारी ने उत्तर लिखा है—'हमारी समाज में अभी एक भी युवक सभासद नही है, अत आर्यवीर दल के सगठित करने का सवाल ही नही है, कृपया नोट कर लें। इस दुखद स्थिति को देखते हुए अब समय आ गया है कि यदि हम बिखरे हुए आर्यजनो, आर्य परिवारो और आर्य शक्ति को सगठित करना चाहते हैं तो हमें सकल्प करना ही होगा कि हम केवल नाम से नही प्रत्युत मन-वचन कर्म से वर्ष भर मे स्वय आर्य बनेंगे; अपने व्यक्तिगत जीवन मे तप-त्याग-परोपकार की सच्ची यज्ञ भावना लाएगे और अपने साथ अपने परिवार के छोटे-बडे बाल-युवक-स्त्री-पुरुष प्रत्येक को भी मनसा-वाचा-कर्मणा वर्ष भर मे पूरा आर्य-कथनी-करनी से-श्रेष्ठ आर्य बनाने का पूरा प्रयत्न करेंगे। यदि बुद्ध के शिष्यो की तरह आचार्य महर्षि दयानन्द के शिष्य भी वर्ष भर मे स्वय आर्य बन सके और अपने परिवार को भी आर्य बना सके तो अगले आर्यसमाज-स्थापना दिवस पर नई आर्यशक्ति का अभ्युदय अवश्य-म्भावी है। □

# उगते सूरज के देश से सीख

हम प्रति दिन सन्ध्यावन्दन के मन्त्रो में प्रार्थना करते हैं—'सूर्यमगन्म ज्योति-रुत्तमम्'—हे परमेश्वर, हम आपके उत्तम ज्योतिस्वरूप को प्राप्त हो। साधक आराधना करता हुआ वन्दना करता है—'प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षिता ऽऽदित्या इषव'—आपने सूर्य को रचा है उसकी किरणो द्वारा पृथ्वी पर जीवन आता है। प्रतिदिन सुबह उषा की लालिमा बखेरता हुआ दिनकर सूर्य आता है। यह आदित्य अपनी रश्मियो से तेजस्विता का विस्तार करता है। प्राचीन भारत के ऋषियो ने उगते सूर्य से जीवन मे नियमबद्धता और तेजस्विता सीखी थी, हमारे देश मे आज अनन्त साधन और मानव शक्ति है, पर हम अपनी समस्याओ, अभावो और कष्टो को दूर करने के लिए विदेशो की आर्थिक, तकनीकी एव सैनिक विशेषज्ञता की सहायता पर अवलम्बित हैं। उसकी तुलना मे 'निपन' या उगते सूर्य के देश-जापान का अवलोकन कीजिए।

जापान मे तेल या पेट्रोल का अत्यन्ताभाव है उसके पास प्राकृतिक साधन भी नही हैं। उसे तेल और प्राकृतिक साधनों का आयात करना पड़ता है, इतने पर भी जापान ने अपनी मोटरों, रेडियो, टेलीविजन सैटो, घडियो, कैलकुलेटरो, वीडियो टेपो, कैमरो तथा दूसरे माल से ससार के सभी प्रमुख देशो विशेषत अमेरिकी और यूरोपीय मण्डियाँ भर दी हैं। जापान का अच्छा माल कम कीमत पर संसार की मण्डियो या बाजारो मे छाता जा रहा है। विदेशी कच्चे माल को आयात करने के बावजूद आज के औद्योगिक, व्यावसायिक राष्ट्रो की तुलना मे जापान को इस अभूतपूर्व सफलता से विश्व के सभी विशेषज्ञ त्रस्त और चकित है। इस सफलता के मूल मे जापान के औसत नागरिक का परिश्रम और देशभक्ति है। जापानी अधिक मेहनत करते हैं और हर काम पूरी सजीदगी और निष्ठा मे करते है। इसी के साथ न तो वे उद्योगो मे न राजनीति मे और न विश्व की अर्थनीति मे आपसी मतभेद का प्रदर्शन करते हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे वे पूरा निष्ठा, समर्पण और सहयोग से काम करते हैं। उनके इस मेल मिलाप का एक नमूना देखिए कि वहाँ ससार के सब देशो की अपेक्षा सबसे कम अपराध होते हैं। आज जापान के वकीलो का धन्धा पट्ट पड रहा है, क्योकि वहा की जनता मानसिक दृष्टि से स्वस्थ और सबल है, उन्हे आपसी सौहार्द की अधिक जरुरत रहती है।

उगते सूरज के देश जापान से हम बहुत कुछ सीख सकते हैं। पिछले महायुद्ध में वह मित्र राष्ट्रो की आणविक शक्ति से पराजित हो गया था, युद्धक्षेत्र मे भी हार कर वह मन से हारा नही। उसने अपनी मानवीय शक्ति का अपूर्व उपयोग किया। उसने परिश्रम और लगन से हारी हुई बाजी फिर जीत ली है। आज औद्यो-गिक तथा व्यावसायिक दृष्टि से जापान ससार का दूसरा राष्ट्र बन गया है। जापान की अपेक्षा भारत साधनो और मानवशक्ति की दृष्टि से अपनी अनूठी स्थिति मे है। यदि देश के उपलब्ध साधनो और अपूर्व मानव शक्ति का व्यवस्थित नियमबद्ध उपयोग किया जा सके तो कुछ ही वर्षों मे भारत भी औद्योगिक एव व्यावसायिक दृष्टि से संसार का अग्रणी राष्ट्र बन सकता है, बशर्ते हम भी उगते सूरज के देश जापान से तेजस्वी सूर्य के समकक्ष जीवन मे नियमबद्धता, अनुशासन, और तेजस्विता और मेल मिलाप के गुण अपना सकें।

——=——

समीक्षा

# महर्षि दयानन्द की राजनीति-विज्ञान को देन

आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द को वेदों का विद्वान्, समाज सुधारक, सांस्कृतिक पुनर्जागरण का अग्रदूत आदि तो माना जाता है किन्तु उन्हें राजनीति-दर्शन का प्रणेता मानने वालों की सख्या बहुत सीमित है।

### उपेक्षा के कारण

राजनीतिक चिन्तक के रूप मे महर्षि दयानन्द की उपेक्षा के दो प्रमुख कारण हैं। एक तो भारतीय विश्वविद्यालय मे पढाया जाने वाला राजनीति शास्त्र का पाठ्यक्रम मूलत: विदेशी विद्वानो के द्वारा बनाया गया है। कुछ वर्षों पहले तक यह माना जाता था कि प्लेटो या अरस्तू, हाब्स, लाक या रूसो की तरह भारत मे कोई विद्वान राजनीति-दर्शन के क्षेत्र मे हुआ ही नहीं। राजनीति-दर्शन के इतिहास का अर्थ था—ग्रीक, रोमन तथा कुछ यूरोपीय विद्वानो के चिन्तन का इतिहास। ऐसी स्थिति मे जबकि मनु, शुक्र, कौटिल्य, कामन्दक और बोधायन की कोई गिनती नही थी तब महर्षि दयानन्द को कौन पूछता? यह तो गांधीजीके चलते भारतीय चिन्तको पर हमारे राजनीतिशास्त्रियो की दृष्टि पडी और आजकल कुछ विश्वविद्यालयो मे भारतीय राज-दर्शन का पर्चा पढाया जाने लगा है। उसमे ऋषि दयानन्द का भी जैसे-तैसे उल्लेख आ जाता है।

महर्षि दयानन्द की उपेक्षा का दूसरा कारण यह हैं कि उन्हे आर्यसमाज के परकोटे में बांध दिया गया है। आर्यसमाज की खडन-मडन की नीति के कारण उसके प्रवर्तक महर्षि दयानन्द का नाम अनावश्यक ही हिन्दू सम्प्रदायवादियों के साथ जुड़ गया है। साधारणतया महर्षि के भक्तों ने भी महर्षिकृत वेदभाष्यों तथा अन्य मौलिक ग्रन्थों का अवगाहन इसी दृष्टि से किया है कि वे उनके धार्मिक विचारों को जनता के सामने प्रस्तुत कर सकें।

आधुनिक भारतीय राजनीतिकचिंतन पर कुछ विद्वान प्राध्यापको ने अच्छी पुस्तकें लिखी हैं लेकिन उन्होने महर्षि दयानंद तथा अन्य विचारकों को इस ढंग से चित्रित किया है कि सम्पूर्ण आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन को रहस्यवादी चिन्तन की सज्ञा मिल गयी है। इस दृष्टि से महर्षि दयानन्द पर डा० रामेश्वरदयाल गुप्त ने उत्तम शोध कार्य किया है।

उनके बाद अब इस कमी का निराकरण डा. शान्ता मल्होत्रा ने अत्यन्त योग्य प्रकार मे कर दिया है। डा. मलहोत्रा का शोधग्रन्थ, स्वामी दयानद के राजनीतिक चिन्तन को जो उनके अनेक ग्रंथों में मोतियों की तरह बिखरा पड़ा था, न केवल एक सूत्र में पिरोता है अपितु उसकी तर्कसंगत व्याख्या और निष्पक्ष विवेचन भी करता है।

डा. मल्होत्रा का शोधग्रन्थ ध्यान से पढ़ने पर राजनीतिशास्त्र का कोई भी विद्वान् यह कहे बिना न रहेगा कि यदि बेन्थम, जान स्टुअर्ट मिल और टामस हिल ग्रीन को राजनीतिक चिन्तक माना जाता है तो महर्षि दयानद को क्यों न माना जाय? इसमे सन्देह नहीं कि यद्यपि महर्षि ने अरस्तू की तरह न तो संविधानो का अध्ययन करके आधुनिक अर्थों मे शासन—प्रणालियो के बारे मे बहस चलायी है और न ही उन्होने हाब्स, लाक या रूसो की भांति राज्य की उत्पत्ति का कोई सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, तथापि उनकी विशेषता यह है कि उनकी कृतियो में राज्य के सम्बन्ध में वे सब विचार बिखरे पड़े हैं, जिनके समुच्चय को ही राज-दर्शन कहा जाता है और विचार भी ऐसे कि जो उनके पूर्ववर्त्ती भारतीय चिन्तकों और समकालीन विचारकों की तुलना में भिन्न और मौलिक हैं। यह आवश्यक नहीं कि राजनीति के सम्बन्ध में महर्षि दयानंद का प्रत्येक विचार आज स्वीकार्य ही हो, किन्तु वास्तविकता तो यह है कि भारत में सातवीं शताब्दी के बाद ऋषि ही ऐसे पहले व्यक्ति हुए हैं, जिन्हें राजदार्शनिकों की श्रेणी में रखा जा सकता है।

**अर्थव्यवस्था, विदेशनीति, शिक्षा, मानव-स्वभाव, मानव-संरचना आदि विषयों पर महर्षि दयानन्द ने उसी गहराई के साथ विचार किया है, जिस गहराई के साथ आधुनिक विचारकों ने किया है**

### दैवी सिद्धान्त का निषेध

महर्षि दयानन्द ने मनु द्वारा प्रतिपादित राज्य के दैवी उत्पत्ति के सिद्धांत को निरस्त कर दिया है। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि नहीं, वह नागरिकों का प्रतिनिधि है। यह भी गलत है कि राजा का बेटा ही राजा बने। राजा सदैव निर्वाचित सभापति हो। निर्वाचित सभापति को ही राजा कहा जाए। सम्प्रभुता का निवास राजा मे नहीं, 'राजधर्म' में हो। दयानन्द का यह 'राजधर्म' रूसो की 'सामान्य इच्छा' के समान ही है। दयानन्द की 'सामान्य इच्छा' का अधिष्ठान जनता है। वह कहते हैं"...राजाओं के राजा किसान आदि परिश्रम करने वाले हैं और राजा उनका रक्षक है, जो प्रजा न हो तो राजा किसका?...प्रजा की साधारण सम्मति के विरुद्ध राजा व राजपुरुष न हों।"

महर्षि की दृष्टि मे राजा या राजपद स्वय में साध्य नहीं है, बल्कि वह लोकहित सम्पादन का साधन मात्र है, इसलिए उन्होने लिखा है कि "...किसी एक मनुष्य को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार न देवें, किन्तु शिष्ट पुरुषों की जो सभा है उसके अधीन राज्य के सब कार्य रखें।" दूसरे शब्दों मे जिस प्रकार ज्यां बोदाँ और टामस हिल ग्रीन ने राज्य की सम्प्रभुता पर अनेक अकुश स्वीकार किए हैं, उसी प्रकार महर्षि दयानन्द ने भी राजा को विभिन्न सभाओ के मातहत रखा है। दयानन्द अन्यायी राजा के प्रति बगावत और प्रतिरोध के अधिकार का भी स्पष्ट समर्थन करते हैं। 'किसी क्षुद्राशय पुरुष की प्रजा होना स्वीकार मत करो।' इस जनाधिकार और महर्षि के राष्ट्रवाद का गहरा सम्बन्ध है। ऋषि दयानन्द की मान्यता है कि विदेशी राजा अन्यायी ही होगा, इसलिए उन्होंने स्वराज्य की 'सत्यप्रकाश' में डटकर वकालत की है और उसके अलावा वेदो का भाष्य करते हुए स्पष्ट कहा है "...अन्य देशवासी राजा हमारे देश मे कभी न हो तथा हम लोग पराधीन कभी न हों।" महर्षि दयानन्द ने अन्यायी राजा की आज्ञा मानने और उसे कर देने का भी विरोध किया है।

### प्लेटो से अधिक लोकतान्त्रिक

राजा को निर्वाचित करने और उसके विरोध को उचित मानने का ऋषि दयानन्द का विचार उनकी समाज रचना की समग्र दृष्टि से काफी मेल खाता है। प्लेटो के समान महर्षि भी समाज का विभाजन विभिन्न वर्गों में करते हैं। इस विभाजन का आधार जन्म नहीं, कर्म है। प्लेटो तीन वर्ग मानते हैं और महर्षि दयानंद चार। अपने कर्मणा वर्णाश्रम धर्म के अनुसार ऋषि दयानंद का कहना है कि ब्राह्मण का लड़का शूद्र बन सकता है और शूद्र का ब्राह्मण तथा आवश्यक नहीं कि पिता की सम्पत्ति उसके पुत्र को ही मिले। यदि वैश्य पिता के पुत्र में ब्राह्मण के गुण हों तो वह अपना समय पठन-पाठन मे लगाये और उस पिता को अपने पुत्र के बदले गुरुकुल से किसी अन्य का बेटा, जिसमें वैश्यत्व के गुण हों, मिल जाएगा। ऋषि दयानद का यह वर्ण-परिवर्तन प्लेटो के साम्यवाद के समान क्रान्तिकारी है। हालांकि हैं, दोनों ही अव्यावहारिक। इस तथ्य के बावजूद उक्त सिद्धान्त से यह सिद्ध होता है कि जो ऋषि दयानन्द सामान्य गृहस्थो के लिए आनुवंशिक उत्तराधिकार को नहीं मानते, वह राजपद के लिए आनुवंशिक सिद्धान्त को कैसे मान लेंगे?

लेखक :
**डा० वेदवती वैदिक**
(दिल्ली विश्वविद्यालय से पी. एच. डी उपाधि प्राप्त एव सीनियर फैलो इण्डियन कौंसिल आफ हिस्टारिकल रिसर्च)

प्लेटो की तुलना मे महर्षि दयानन्द इस दृष्टि से अधिक लोकतांत्रिक हैं कि प्लेटो अपने 'दार्शनिक राजा' को असीम अधिकार देते हैं जबकि ऋषि दयानद कहते हैं कि राजा "...अपने मन से एक भी काम न करे जब तक सभासदों की अनुमति न हो।" वास्तव में, ऋषि की कल्पना का राज्य 'प्रतिनिधि-सभाओं के माध्यम से चलने वाला गणतान्त्रिक राज्य है। उनकी राय में प्रत्येक गाँव और शहर में एक विधान सभा होनी चाहिए। उसी विधान-सभा को राजा या निर्वाचित सभापतियों के सहयोग से राज्य-व्यवस्था चलानी चाहिए।" अकेला राजा स्वाधीन का उन्मत्त होके प्रजा का नाशक होता है।"

महर्षि दयानंद ने तीन प्रकार की केन्द्रीय सभाओं की स्थापना की बात कही है। राजार्य सभा, विद्यार्य सभा और धर्मार्य सभा। कार्यपालिका, विधानपालिका और न्यायपालिका का आधुनिक विभाजन महर्षि दयानन्द के चिन्तन में स्पष्ट नहीं है किन्तु तीनो के बारे में बल्कि प्रशासन के संचालन में भी उन्होंने विस्तार से विचार किया है। अर्थ-व्यवस्था, विदेश-नीति, शिक्षा, मनुष्य, स्वभाव, सामाजिक संरचना,

(शेष पृ० ८ पर)

# वैदिक मन्त्रों में आहुतियों का प्रयोग

शंका-क्या जहाँ-जहाँ 'स्वाहा' शब्द आए वहाँ-वहाँ मन्त्र के आदि मध्य या अन्त में सर्वत्र आहुति देनी चाहिए ?

(श्री पं० वीरेन्द्र जी शास्त्री उपाध्यक्ष वि. वे. परिषद लखनऊ ।

समाधान—स्वाहा पद के विषय में अभिधान चिन्तामणि नामक ग्रन्थ के पृ. ३६६पर उल्लेख है कि श्रौषट् वषट् और स्वाहा ये चारों शब्द यज्ञ-कर्म में आहुति देने के लिए प्रयुक्त होते हैं ।

इसी प्रकार मीमांसा-कोश (सातवां भाग) पृ. ४४८५ पर लिखा है—

स्वाहाकार शब्दः वषटकार शब्दश्च प्रदानार्थः ।

शाबरभाष्य ८।४।५।१८

अर्थात् स्वाहाकार तथा वषट्कार शब्द यज्ञ में आहुति देने के प्रयोजन से प्रयुक्त होते हैं । भाव पद यह है कि मंत्र गत स्वाहाकार का प्रसंगवश चाहे कुछ भी अर्थ हो, पर यज्ञानुष्ठान समय में उसका प्रयोग स्वरूप से आहुति देने के लिए ही किया जाता है । इसका अर्थ विशेष पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । वह तो अपने आप में अक्षुण्ण बना रहता है । उदाहरण के लिए महर्षि दयानन्द कृत यजुर्वेद अध्याय २२ तथा ३९ का भाष्य देखा जा सकता है । इन अध्यायों में मन्त्रो के आदि मध्य तथा अन्त मे भी स्वाहाकार उपदिष्ट है तथा महर्षि ने उनका अर्थ भी भिन्न-भिन्न किया है एव उन सभी स्वाहाकारों से आहुति देने का विधान भी किया है । यथा—

यैर्मनुष्यैर्यज्ञेषु सुगन्ध्यादि द्रव्य हवनायाऽदभ्य. स्वाहा ।

वार्भ्यभ्यःस्वाहोदकाय स्वाहा तिष्ठन्तिभ्यः स्वाहा स्यन्दमानाभ्यः स्वाहा कूप्याभ्यः स्वाहा धार्याभ्यः स्वाहाऽर्णवाय स्वाहा सरिराय स्वाहा च विधीयतेते सर्वेषा सुखप्रदा जायन्ते ।

देखो यजुर्वेद २२/२५ का अन्वय

अर्थात् जो मनुष्य यज्ञों में सुगन्ध्यादि द्रव्यो का होम करने के लिए उक्त प्रकार से अद्भ्यः स्वाहा आदि क्रम से स्वाहाकार से अग्नि में आहुतियाँ देते हैं, वे सब को सुख देने वाले होते हैं ।

इसी प्रकार ३९ वें अध्याय के प्रथम मन्त्र के भावार्थ में महाराज लिखते हैं—

कर्पूरेण प्रदीप्तमग्निं चितायां प्रवेश्य यदा प्रदीप्तोऽग्निर्भवेत् तदैतैः स्वाहान्तैरेतदध्यायस्थैर्मन्त्रैः पुनः पुनरावृत्या घृतं हुत्वा शवं सम्यक् प्रदहेयुः ।

भावार्थ की भाषा—कपूर से अग्नि को जला कर चिता में प्रवेश कर जब अग्नि जलने लगे, तब इस अध्याय के इन स्वाहान्त मन्त्रों की बार-बार आवृत्ति से घी का होम कर मुर्दे को सम्यक जलावें । ऐसा ही निर्देश भगवान् दयानन्द संस्कार विधि प्रथम संस्करण के अन्त्येष्टि कर्म में करते हैं कि—

'अब स्वाहा प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्य. इत्यादि मन्त्रों से चिता में होम करना । सो जहाँ-जहाँ मन्त्रों के बीच मे स्वाहा शब्द है, वहां आहुति देना । जैसे स्वाहा प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्यः और पृथिव्यै स्वाहा यहां दूसरी आहुति देना । इसी प्रकार सर्वत्र जानना, ।

'संस्कार विधि' प्रथम सस्करण पृ. १४८

यहां पर भी स्वाहा शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ होते हुए भी मन्त्र के आदि, मध्य तथा अन्त में उपदिष्ट प्रत्येक स्वाहाकार से आहुति देने का आदेश श्री महाराज ने किया है । इसलिए स्पष्ट हुआ कि मंत्रों मे उपदिष्ट प्रत्येक स्वाहाकार से आहुति देने से इनके विभिन्न अर्थों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, अपितु उनकी पुष्टि होती है । साथ ही मत्र में उपदिष्ठ स्वाहाकार से ही आहुति देने का विधान किया है, आहुति के लिए द्वितीय स्वाहाकार के ग्रहण करने का विधान नहीं किया । अतः वि. वे. परिषद् का निर्णय निश्चय ही वेद और महर्षि दयानन्द के मन्तव्य के विरुद्ध है ।

मंत्र के आदि तथा मध्य मे उपदिष्ट स्वाहाकार आहुतिसे देने के विषय मे विभिन्न स्मृतिकार लिखते हैं—

मंत्रादौ मंत्र मध्ये या स्वाहाशब्दोऽस्तिचेत्तदा ।
बान्ते प्रयोक्तव्य इति प्रोक्तवानाश्वलायन : ।।५१
भवेदव्यवधानेन देवतापदतः पुरा ।
स्वाहाकारस्य पाठश्चेत् तदा नान्तेभवेदयम् ।।५२

(भट्ट गोपीनाथ प्रणीत 'सस्कार रत्नमाला' मे परिभाषा कारिका पृ.९९)

अर्थ—महर्षि आश्लावयन का कथन है कि मंत्र के आदि या मध्य में यदि स्वाहा शब्द है तो उस स्वाहाकार से आहुति देकर अन्त में पुनः स्वाहाकार का प्रयोग करके आहुति नहीं देनी चाहिए । (५१) और यदि व्यवधान रहित देवता पद से पहले स्वाहाकार का पाठ हो तो उसी आनुपूर्वी से (जैसे स्वाहा वाचस्पतये) आहुति देकर अन्त में पुनः स्वाहाकार का उच्चारण करके आहुति नहीं देनी चाहिए (५२) अपितु दोनों ही स्थलों में आहुति के पश्चात् मंत्र शेष पाठ से ही पूरा कर देना चाहिए । ऐसे स्थलों में अंत में आहुति नहीं देनी चाहिए । इसको और अधिक स्पष्ट करने के लिए महर्षि कात्यायन अपने 'कर्म-प्रदीप' २।७।१४ में कहते हैं कि—

स्वाहां कुर्यान्निवाऽन्ते न चैव जुहुयाद्धविः ।
स्वाहा कारेणहुत्वाऽग्नौ पश्चान्मन्त्रं समापयेत्

अर्थात् मंत्र के आदि या मध्य में उपदिष्ट स्वाहाकार से वहीं अग्नि में आहुति देकर अन्त में न तो स्वाहा का उच्चारण करे और न ही आहुति देवे । अपितु उस-उस स्थल मे उपदिष्ट स्वाहाकार से ही आहुति देकर पश्चात् मंत्र शेष पाठ करके पूरा कर देवे । इस सन्दर्भ मे नासिक निवासी श्री वारेशास्त्री अपनी संहिता 'स्वाहाकार-प्रदीप' में लिखते हैं—

यत्र तु मन्त्रमध्ये स्वाहाकारः
तत्र तु तस्मिन्नेव स्वाहान्ते
होम. पश्चान्मंत्र समाप्तिः । न तु
मंत्रान्तेपुनः स्वाहाकारः ।

शास्त्रार्थ परिच्छेद पृ २३१

अर्थ—जहाँ मंत्र के मध्य में स्वाहाकार है, वहां उसी स्वाहाकार से होम अर्थात् आहुति देनी चाहिए । पश्चातमंत्र शेष पाठ करके समाप्त करना चाहिए । मंत्रान्त मे पुनः स्वाहाकार पढ़ कर आहुति नहीं देनी चाहिए ।

गोपथ ब्राह्मण उत्तर भाग २।१७ में प्रवृत्त आहुति होम का विधान है जिसमे देवता पद से पहले स्वाहाकार का प्रयोग है । जैसा कि सस्कार-रत्नमाला' की परिभाषा कारिका ५२ में वर्णित है । अपने लिए आशी - आश्वसन पूर्वक यजमान—

स्वाहा वाचे । स्वाहा वाचस्पतये ।
स्वाहा सरस्वत्यै । स्वाहा
सरस्वत्या इति पुरस्तात् स्वाहाकारेण जुहोति ।

देवता वाचक पद से पहले प्रयुक्त स्वाहाकार से चार आहुतियाँ देता है, जिनमे स्वाहाकार की आहुति डालकर देवता का नामनिर्देश करता है ।

महर्षि आपस्तम्ब प्रणीत आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में परिभाषा खंड ३ के चौथे सूत्र—

'जुहोति चोदनः स्वाहाकार प्रदान :' की वृत्ति मे श्री हरदत्ताचार्य एक ब्राह्मण वचन उद्धृत करते हुए लिखते हैं—

'पुरस्तात् स्वाहाकृतयो वा अन्ये देवाः । उपरिष्ठात् स्वाहा कृतयो अन्ये । इति द्वयोरेव नियमात् । अतरे यथा दावन्तेवा स्वाहाकारः पठ्यते तत्र तेनैव स्वाहाकारेण प्रदानम्' ।

अर्थात् कुछ मन्त्र ऐसे हैं, जिनमें देवता वाचक पद से पहले स्वाहाकार पढ़ा गया है और कुछ ऐसे हैं, जिनमें अन्त में पढ़ाया गया है । इसलिए जहाँ आदि या अंत में स्वाहाकार पढ़ाया गया है वहां उसी स्वाहाकार से आहुति प्रदान करनी चाहिए ।

इतनी लम्बी प्रमाण-शृंखला के पश्चात् निवेदन है कि मंत्र के आदि या मध्य में जहां स्वाहाकार हो वहां उसी स्वाहाकार से आहुति देनी चाहिए तथा ऐसे मंत्रों के अत में पुनः आहुति नहीं दी आएगी ।

लेखक :
स्वामी मुनीश्वरानन्द सरस्वती
त्रिवेदतीर्थ

इसी प्रकार स्वाहाकार से उत्तरवर्त्ती देवता के लिए तथा स्वाहाकार से पूर्ववर्त्ती देवता के लिए आहुति देने की प्रक्रिया है ।

अब शंका के अंतिम भाग के समाधानार्थ मत्रान्त मे स्वाहा उपदिष्ट हो या न हो प्रत्येक अवस्था में आहुति देने का प्रकार क्या हो इस विषय का प्रतिपादन करते हैं । महर्षि गोभिल अपने गोभिलीय गृह्य सूत्र के १।९।२१ मे लिखते हैं—

'मन्त्रान्ते स्वाहाकारः' ।।

भट्टनारायण वृत्ति—मन्त्रान्तोऽवसानं मंत्रान्तः तस्मिन् मन्त्रान्ते स्वाहाकारो वक्तव्यः इति वाक्य शेषः । अधिकाराद् होममन्त्रान्ते एव न तु जपादिष्वपीति तत्रापि अनाम्नात स्वाहाकारेषु न तु आम्नात स्वाहा कारेष्वपि । कुतः स्वाहाकारः प्रदानार्थत्वात् हविष. । तस्य चार्थस्याम्नाय सिद्धेमेव कृतत्वात् । द्वितीयस्याम्नानमनर्थकं स्यात् । यत्र पुनर्मन्त्रस्यादौ स्वाहाकारः यथा 'स्वाहामरुदभिः परिश्रीयस्व०

यजु० ३७।१३ इति तत्रापि नैवान्ते स्वाहाकारः स्यात् तुल्यत्वात् कारणस्य । तत्रापि स्वाहाकारेणैव हविः प्रदानं कृत्वा मन्त्रं समावर्त्तयेत् एवमर्थत्वात्स्य ।

भावार्थ—सूत्र मे वृत्यनुसार दो बातें कहीं गई हैं ।

(शेष आगामी अक मे)

# आर्य जगत् समाचार

## नरेला थाने में न्यायालय व पुलिस शक्ति का दिन दहाड़े खुला अपमान

अधिकृत सूत्रों से ज्ञात हुआ है कि दिल्ली के मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट श्री डी. एन. कादियान के २७ मार्च, १९८१ के आदेश तथा नरेला के एस० एच० ओ० के २८ मार्च के आदेश के अन्तर्गत कन्या गुरुकुल नरेला के कुछ कार्यकर्त्ता नरेला नगरवासियो एव नरेला थाने के कर्मचारियों विशेषत: ए० एस० आई रतन सिंह की उपस्थिति में अपना सामान नरेला थाने के मालखाने से उठाकर बुग्गियो मे रख रहे थे कि साधुराम, महावीर, अशोक, राजेन्द्र, शिव कुमार, श्याम, ओम प्रकाश आदि ने गुरुकुल के कार्यकर्त्ताओं से मारपीट शुरू कर दी। ए० एस० आई० रतन सिंह और थाने के सिपाही मूक दर्शक बने यह सारी कार्यवाही देखते रहे।

ज्ञात हुआ है कि बाद मे दिल्ली राज्य के प्रमुख पुलिस अधिकारियो ने पहुच कर उक्त ए० एस० आई० को निलम्बित कर दिया और अदालत तथा पुलिस अधिकारी के आदेश की तामील करते हुए आर्य कार्यकर्त्ताओ को गुरुकुल की सम्पत्ति ले जाने दी।

कन्या गुरुकुल नरेला के अधिकारी और नरेला की जनता न्यायालय और पुलिस के आदेश की अवहेलना एव साधु राम और उसके परिवार द्वारा की गई मारपीट मे थाने के पुलिस अधिकारियों की उपेक्षा से बेचैन हो गए हैं, आशा है कि जनता की बेचैनी दूर करने के लिए राज्य की सरकार सारे मामले की न्यायिक जाँच का आदेश देगी।

---

### १८०० अपहृत कन्याएं बचाई गईं

कानपुर। केन्द्रीय आर्य सभा कानपुर के अध्यक्ष श्री देवीदास आर्य ने पत्रकारो को सूचना दी है वेश्यावृत्ति पर कानूनी प्रतिबन्ध होने के बावजूद कानपुर नगर महिलाओ के क्रय-विक्रय का बहुत बडा बाजार है। कानून की पकड से बचने के लिए वेश्यावृत्ति कराने वाले लोग कई-कई युवतियो को अपनी पत्नी बना कर उनसे वेश्यावृत्ति क ाते हैं।

श्री आर्य ने पत्रकारो को बतलाया कि उन्होंने अपने बीस वर्ष के कार्यकाल मे १८०० से अधिक अपहृत लड़किया और महिलाए गुन्डो-बदमाशो के चगुल से बचाई हैं। उनमें से ५०० लडकियो के विवाह उनके माता-पिताओ की स्वीकृति से कराए गए हैं। ३०० लड़कियो के विवाह मे उन्होंने स्वत: अभिभावक बन कर कन्यादान किया है।

---

### गुरुकुल कांगड़ी में गोवर्द्धन शास्त्री पुरस्कार

स्वामी श्रद्धानन्द जी के समय के गुरुकुल के प्रधानाध्यापक प्रो० गोवर्द्धन शास्त्री की स्मृति में उनके सुपुत्र एवं कुलपति गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी श्री बलभद्र कुमार ने संघड़ विद्यासभा ट्रस्ट जयपुर के माध्यम से १२००० रु० की स्थिर निधि से गुरुकुल कांगड़ी में गोवर्द्धन शास्त्री पुरस्कार की व्यवस्था की है। इस धनराशि का एक सहस्र ब्याज वैदिक एवं आर्षसाहित्य या विज्ञान अध्यात्म के जीवनोपयोगी साहित्य को जन संचार माध्यमो से जनता तक सर्वोत्तम रूप से पहुंचाने वाले व्यक्ति को दिया जाएगा।

### प्रान्तीय आर्य महिला सभा के नए पदाधिकारी

प्रान्तीय आर्य महिला सभा के ये अधिकारी निरन्तर तीसरे वर्ष के लिए चुने गए—प्रधाना—श्रीमती शांतिदेवी मलिक, उपप्रधान—श्रीमती सुशीला आनन्द, शकुन्तला आर्या, सरला मेहता प्रधान मन्त्रिणी—प्रेमशीला महिन्द्र सहमन्त्रिणी—कृष्णा चड्ढा, उपमन्त्रिणी—प्रकाश आर्या, ईश्वररानी मेहता, कोषाध्यक्षा—श्रीमती सन्तोष धवन, सहकोषाध्यक्षा—तारा वैद्य।

### तलवण्डी में आर्य पुत्री माडल पाठशाला

तलवण्डी साबो जिला भटिण्डा में १ अप्रैल को यज्ञ के बाद आर्य पुत्री मोडल पाठशाला प्रारम्भ कर दी गई है। पुत्री पाठशाला के लिए चौ० आत्मसिंह जी की पत्नी श्रीमती सन्तो देवी तथा श्री जनकराज की माता श्रीमती प्रसन्नी देवी ने ५०१-५०१ की धनराशिया तथा तलवण्डी साबो माल के पटवारी श्री गुरुबख्शसिंह तथा पाठशाला के मैनेजर श्री वेदकुमार जी सुपुत्र श्री किशोरचन्द जी ने १०१-१०१ रुपये दिए। गुरुकुल भटिण्डा के श्री भगवान वानप्रस्थी ने ५१) तथा श्री गुरुवचनसिंह ने ११) रु० दिए।

### महिला आर्यसमाज, महानगर लखनऊ के अधिकारी

नये वर्ष के ये अधिकारी चुने गए प्रधान—श्रीमती विमला शास्त्री, उपप्रधाना—श्रीमती शांति देवबाला, मंत्रिणी—गीता आर्या, कोषाध्यक्षा—श्रीमती शांति शर्मा।

### भटिण्डा में आर्यसमाज स्थापना दिवस

५ अप्रैल को श्री वजीरचन्द जी की अध्यक्षता मे आयोजित आर्यसमाज स्थापना दिवस की सभा में सर्वश्री रामचन्द्र, धर्मदेव, ओम्प्रकाश वानप्रस्थी, रिखीराम, प. योगेन्द्रपाल आदि ने राष्ट्र-निर्माण मे आर्यसमाज की निस्सवार्थ सेवाओ पर भाषण दिए।

आर्यसम.ज भटिण्डा ने आर्यगर्ल्स हाई स्कूल भटिण्डा की प्रिंसिपल श्रीमती कमला भाटिया की माता जी के स्वर्गवास पर शोक प्रस्ताव स्वीकृत किया।

### गुरुकुल करतार पुर में दाखिला शुरू

श्री गुरु विरजानद वैदिक सस्कृत महाविद्यालय करतारपुर जिला जालधर (भारत सरकार यूनिवर्सिटी ग्रांटस कमीशन द्वारा मान्यता प्राप्त गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय से सम्बन्धित) मे नये छात्रों का प्रवेश १ मई १९८१ से शुरू है। स्कूल में पढाए जाने वाले विषय समानस्तर गणित व अंग्रेजी आदि सभी विषयों के साथ सं स्कृत व धार्मिक शिक्षा विशेष है।

नि:शुल्क शिक्षा, हिन्दी माध्यम, योग्य अध्यापकों का प्रबन्ध स्वच्छ वातावरण तथा भोजन दुग्ध घृत आवास आदि की नि:शुल्क व्यवस्था छात्रों को सुविधाएं हैं।

प्रवेश कम-से कम कक्षा ४ या ५ उत्तीर्ण होना जरूरी है, हिन्दी अवश्य जानता हो।

### आर्य निर्देशिका के पदाधिकारी

परोपकारिणी यज्ञ समिति दिल्ली के आर्य निर्देशिका योजना मण्डल के वर्ष ८१ में निम्न पदाधिकारी नियुक्त किए गए—

संरक्षक—स्वामी ओमाश्रित सरस्वती, उपसरक्षक—श्री लेखराज तन्दा, योजनामंत्री—श्री कमल किशोर आर्य, सयोजक—श्री कृष्णलाल, प्रचार मत्री—श्री गुरुदत्त आर्य, कोषाध्यक्ष एवं कार्यालय-मन्त्री—कुमारी सुषमा शर्मा।

---

### हिन्दी के साहित्यसेवी पं० शंकर देव विद्यालंकार का स्वर्गवास

सुप्रसिद्ध हिन्दी लेखक-साहित्यसेवी प्रसिद्ध आर्य विद्वान् पं. शकरदेव विद्यालंकार का दो मास की बीमारी के बाद ७४ वर्ष की आयु मे २ अप्रैल की रात को बम्बई मे देहान्त हो गया। वह अपने पीछे दो पुत्रियां, हजारो की संख्या मे शिष्य-शिष्याएं और साहित्यिक मित्र छोड गए हैं।

प. शकरदेव का जन्म गुजरात के एक प्रख्यात आर्यसमाजी परिवार में हुआ था। १९२८ में वह गुरुकुल कांगड़ी से स्नातक हुए, बाद में आगरा विश्वविद्यालय से हिन्दी-सस्कृत मे एम.-ए. किया। गुजरात के गुरुकुल सूपा, महिला कालेज पोरबन्दर तथा गुरुकुल कांगडी आदि में ४८ वर्ष तक अध्यापन कार्य करने के बाद वह पिछले ४ वर्षों से कन्या गुरुकुल पोरबन्दर के प्रबन्धक-ट्रस्टी थे।

उन्होंने गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'नैवेद्य', 'चित्रांगना' 'फूलों की डाली' आदि बगला तथा अनेक गुजराती कृतियो का हिन्दी रूपान्तर किया। 'प्राचीन भारत के विद्यापीठ' उनकी विशिष्ट कृति है। उनके लेख नवनीत, कादम्बिनी, गुजराती 'कुमार' आदि पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित होते रहे। वह काशी नागरी प्रचारिणी सभा के प्रतिष्ठित सदस्य थे। नागपुर के प्रथम विश्व हिन्दी-सम्मेलन में अहिन्दी भाषी-हिन्दी सेवियो मे उन्हें पुरस्कृत किया गया था। उनके निधन से एक अहिन्दी भाषी हिन्दी-सेवी आर्य विद्वान् सदा के लिए उठ गया है।

साप्ताहिक 'आर्यसन्देश' शंकरदेव जी के असामयिक निधन पर परमदयालु परमात्मा से उनकी आत्मा की सद्गति के लिए प्रार्थना करता है और उनके शोकसंतप्त परिजनों से हार्दिक सवेदना प्रकट करता है।

# आर्यसमाजों के सत्संग

१९-४-८१

अन्धा मुगल प्रताप नगर—पं० वेदपाल शास्त्री; अशोक विहार के-सी-५२ ए—प० देवराज वैदिक मिशनरी; आर्यपुरा—पं० सीसराम भजनोपदेशक; आर के. पुरम सैक्टर १—डा० रघुनन्दन सिह; आनन्द विहार हरिनगर एल ब्लाक—पं० खुशीराम शर्मा एम-एम-सी; इन्द्रपुरी—श्रीमती सुशीला राजपाल; किंग्जवे कैम्प—प० हरिदत्त शास्त्री; किशनगज मिल एरिया—प० महेश चन्द्र भजन मन्डली, कालकाजी डी. डी. ए फलैट्स—डा सुखदयाल भूटानी/; गांधी नगर—प० विष्णुदेव प्रसाद विद्यालकार; गीता कालोनी—पं० ओम प्रकाश भजनोपदेशक; गुड़ मन्डी—श्रीमती प्रकाशवती शास्त्री; १५१ गुप्ता कालोनी—प० उदयपाल शास्त्री; गोविन्द पुरी—आचार्य रामशरण मिश्रा शास्त्री; जंगपुरा भोगल—प० मनोहर 'विरक्त' जहांगीर पुरी के-१४३६—प० प्रकाशवीर व्याकुल; टैगोर गार्डन—प० विश्वप्रकाश शास्त्री, तिलक नगर—प० सत्यभूषण वेदालकार; तिमारपुर—पं० सत्यदेव भजनोपदेशक; नारायण विहार—डा० देवेन्द्र द्विवेदी; नया बांस—मास्टर ओम प्रकाश; न्यू मुल्तान नगर श्रीमती भगवान देवी; पजाबी बाग—प्रो० सत्यपाल बेदार; पंजाबी बाग एक्स्टेन्शन १४/३—आचार्य कृष्णगोपाल; पश्चिम पुरी जनता क्वार्टर—पं० छज्जूराम शास्त्री; बाग कड़े खां—प० बरकत राम भजनोपदेशक; बसई दारापुर—स्वामी स्वरूपानन्द भजनोपदेशक; बाजार सीताराम—प० प्रकाशचन्द शास्त्री, माडल बस्ती—श्री मोहनलाल गांधी; महरौली—पं० महेन्द्रप्रताप शास्त्री; मोती नगर—पं० ईश्वर दत्त एम-ए.; रमेश नगर—प० रामदेव शास्त्री; राणा प्रताप बाग—पं० वेद व्यास भजनोपदेशक; लड्डू घाटी—प० विजयपाल शास्त्री; विक्रम नगर—पं० वीरव्रत शास्त्री; सराय रोहेला—प० गजेन्द्रपाल शास्त्री; सुदर्शन पार्क—प्रो० भारत मित्र शास्त्री; सोहन गज—प० प्राणनाथ सिद्धान्तालंकार; शादीपुर—पं० सत्यपाल मधुर भजनोपदेशक; शकूर बस्ती रानी बाग—प० केशव चन्द्र मुन्जाल शालीमार बाग—डा० रघुवीर वेदालंकार;

—ज्ञानेन्द्र डोगरा, वेद प्रचार विभाग

---

रविवार ५ अप्रैल को आर्यसमाज रघुवरपुरा मे आर्यसमाज स्थापना दिवस के निमित्त बृहद् यज्ञ हुआ। आर्यसमाज स्थापना के विषय मे आचार्य रामचन्द्र शर्मा, आचार्य सत्यप्रिय और डा० सत्येन्द्र योगी के भाषण हुए।



चिट्ठी-पत्री

## आहुति के लिए 'स्वाहा' का प्रयोग

आर्य सदेश के १-२-८१ के अक में स्वामी मुनीश्वरानन्द सरस्वती का लेख प्रकाशित हुआ है, जिसमें उन्होने अजमेर वेदसगोष्ठी के ११ नियमो में से एक—आठवें निश्चय को ( कि 'वेदपारायण यज्ञो मे—मन्त्र के अन्त मे 'स्वाहा' आने पर आहुति के लिए पुन: स्वाहा शब्द बोला जाए) ठीक नहीं बताया है।

इस सम्बन्ध में संक्षेपत: निम्नलिखित निवेदन है—

१. महर्षि दयानन्द सरस्वती वेदमंत्रो मे आए 'स्वाहा' शब्द का अर्थ 'सत्य क्रिया, सत्य मधुर वाणी, स्वार्थ त्याग, दान आदि मानते है और वेदो को सृष्टि के प्रारम्भ मे प्राप्त ईश्वरीय ज्ञान मानकर यज्ञों मे वेदमत्रो का विनियोग परवर्ती मानते हैं जब कि सायण, महीधर आदि वेदों को यज्ञ करने के लिए ही बनाया गया और 'स्वाहा' का अर्थ केवल आहुति ही मानते हैं।

२. पौराणिको के ब्रह्मपारायण यज्ञों से आर्यसमाज मे प्रचलित ब्रह्मपारायण यज्ञों की विधि भिन्न है।

३. हमारे वेदपारायण यज्ञो का उद्देश्य वेद का स्वाध्याय करना-कराना है। अत: ये यदि सार्थक मन्त्र पाठ से किए जाएं तो और भी अच्छा हो।

४. इनमे प्रत्येक मन्त्र के बाद 'स्वाहा' लगाकर आहुति दी जाती है। मन्त्र मे आए 'स्वाहा' शब्दो पर आहुति नही दी जाती है।

५. अत. मन्त्रगत 'स्वाहा' का महर्षिकृत अर्थ अक्षुण्ण रखते हुए आहुति के लिए अन्य 'स्वाहा' का अन्त में प्रयोग आवश्यक होता है।

६. इसी लिए मन्त्रान्त 'स्वाहा' के पश्चात् भी आहुति के लिए दूसरे 'स्वाहा' का प्रयोग होना वेद संगोष्ठी में निश्चित हुआ है।

—वीरेन्द्र शास्त्री, उपाध्यक्ष, विश्ववेद परिषद
सी-८१७ महानगर, लखनऊ-६

### महर्षि दयानन्द की देन……

(पृष्ठ ४ का शेष)

आदि विषयो पर ऋषि दयानन्द ने उसी गहराई के साथ विचार किया है, जिस गहराई के साथ अनेक भारतीय और पश्चिमी विचारको ने किया है।

#### चक्रवर्ती साम्राज्य

डा० शान्ता मल्होत्रा ने अपने शोध-ग्रन्थ में इन सब विचारों का सुन्दर सकलन किया है। डा० मल्होत्रा ने दयानन्द की 'चक्रवर्ती साम्राज्य' की कल्पना को स्पष्ट करके आधुनिक राजनीतिशास्त्र की बड़ी सेवा की है। 'चक्रवर्ती साम्राज्य' से दयानन्द का अभिप्राय साम्राज्यवादी राज्य से नहीं, न ही किसी एक व्यक्ति या देश के अन्य राष्ट्रो पर आधिपत्य से है। उनका अभिप्राय एक प्रकार के विश्व महासंघ से है, जिसका निर्माण विभिन्न राष्ट्रों की प्रतिनिधि सभाओ से होगा और जिसका सचालन एक सर्वोच्च 'महाराज सभा के द्वारा होगा। दयानन्द का यह विचार लोहिया के विश्व महासंघ और विश्व संसद के विचार के बहुत निकट है।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि एक भारतीय चिन्तक ने १८वीं सदी में इतने प्रगतिशील विचार व्यक्त किए।

मुझे विश्वास है कि डा० मल्होत्रा का शोधग्रन्थ भारत के राजनीतिशास्त्रियों की आंख खोलने का काम करेगा, हालांकि यदि वह महर्षि दयानंद के हर विचार की तुलना सम्बन्धित पश्चिमी विचारकों के दर्शन के साथ विस्तार से करतीं और ग्रन्थ में अलग से एक अध्याय इसी विषय पर रखतीं तो उन पश्चिमी विद्वानों को भी सबक मिलता, जो यह मानकर चलते हैं कि भारत में राजनीति-दर्शन की परम्परा ही नहीं है। अंग्रेजी में लिखे गये इस शोधग्रंथ को भद्रलोकीय विद्वत्वर्ग तो पढ़ेगा ही, किन्तु यदि इसका हिन्दी अनुवाद हो जाए तो उस वर्ग को भी काफी लाभ होगा जो महर्षि दयानंद का भक्त तो है किन्तु उन्हें ठीक से समझता नहीं।

---

चर्चित [illegible] 'पोलिटिकल थॉट [illegible] स्वामी [illegible]नन्द, लेखिका—डा० [illegible] मल्होत्रा, प्रकाशक—आर्य [illegible]य केन्द्र, ए १/३२ सफदरजंग एनक्लेव, नई दिल्ली-११००१६ मूल्य ५० रु०।

बी-२/६१ सफदरजंग एनक्लेव,
नई दिल्ली-११००१६

---

#### महात्मा हंसराज जन्मदिवस

रविवार, १९ अप्रैल १९८१ को प्रातः ९ से १२-३० बजे तक डी० ए० वी० हायर सेकेण्डरी स्कूल, चित्रगुप्त मार्ग, नई दिल्ली में महात्मा हंसराज दिवस समारोह मनाया जाएगा। अध्यक्ष श्री इन्द्रकुमार गुजराल होंगे।

--०--

#### आर्यसमाज करोलबाग का ५२वां वार्षिकोत्सव

आर्यसमाज करोलबाग, नई दिल्ली ५ का ५२वां वार्षिकोत्सव ३ मई से ११ मई, १९८१ तक मनाया जाएगा। इसमे वेदों के विद्वान् स्वामी मुनीश्वरानद जी तथा भजनोपदेशक जयदेव जितोई वाले पधार रहे हैं। १४ से ९ मई तक प्रातः ६ से ८ बजे तक यज्ञ वेदोपदेश होगा और ३मई से ९ मई तक रात्रि ८ से १० बजे तक भजन और वेदोपदेश होंगे। यज्ञ की पूर्णाहुति रविवार १० मई को ९॥ बजे के लगभग होगी।

---

### दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रकाशन

| | |
|---|---|
| सत्यार्थप्रकाश सन्देश (हिन्दी) | १.०० |
| ,, ,, (अंग्रेजी) | समाप्त |
| आर्य सन्देश-महासम्मेलन विशेषांक | ६.०० |
| पादरी भाग गया—ओम्प्रकाश त्यागी | ०.३० |
| स्वामी श्रद्धानन्द बलिदान अर्द्ध शताब्दी स्मारिका | ६.०० |
| सत्यार्थप्रकाश शताब्दी समारोह स्मारिका | ६.०० |

सम्पर्क करें—

अधिष्ठाता प्रकाशन विभाग
दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा,
१५, हनुमान रोड,
नई दिल्ली-११०००१

---

卐 'आर्यसन्देश' के स्वयं ग्राहक बनें— दूसरों को बनाएं

卐 आर्यसमाज के सदस्य स्वयं बनें— दूसरों को बनाइए

卐 हिन्दी-संस्कृत भाषा स्वयं पढ़ें दूसरों को भी पढ़ाइए—

---



दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के लिए श्री सरदारी लाल वर्मा द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा भाटिया प्रेस ७२७/१-बी, [illegible] गली, गांधीनगर दिल्ली-३१ में मुद्रित। कार्यालय १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली [illegible]

ओ३म्                                    कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

# आर्य सन्देश

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा का साप्ताहिक मुखपत्र

एकप्रति ३५ पैसे    वार्षिक १५ रुपये    वर्ष ४ : अंक २६    रविवार २६ अप्रैल १९८१    दयानन्दाब्द १५६

# गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का वार्षिकोत्सव सम्पन्न

## न्यायमूर्ति एच० आर० खन्ना का दीक्षान्त भाषण

## ४५० स्नातकों को उपाधियां : ५२ ब्रह्मचारियों का वेदारम्भ संस्कार

**आर्य भट्ट विज्ञान प्रदर्शनी का आकर्षक आयोजन—हजारों नर-नारी आयोजन में सम्मिलित हुए।**

कई वर्षों के पश्चात इस वर्ष ११-१३ अप्रैल को विश्वविख्यात गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का वार्षिकोत्सव एवं दीक्षान्त समारोह उत्साहपूर्ण वातावरण में विश्वविद्यालय हाल मे मनाया गया। दीक्षान्त-भाषण न्यायमूर्ति (अवकाश प्राप्त) श्री एच. आर. खन्ना ने दिया एवं विश्वविद्यालय के वर्तमान कुलपति डा० बलभद्रकुमार हूजा द्वारा ३५० स्नातकों को विभिन्न उपाधिया वितरित की गईं। आचार्य श्री निरूपण विद्यालंकार ने ५२ नवविद्यार्थियो का वेदारम्भ संस्कार कराया।

इस अवसर पर सर्वश्री स्वामी ओमानन्द जी, स्वामी रामेश्वरानन्द जी, बहिन मीराजी यति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति एवं आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान श्री वीरेन्द्र जी एवं उपप्रधान आचार्य पृथ्वीसिंह आजाद, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान लाला रामगोपाल जी शालवाले, मंत्री श्री ओ३मप्रकाश जी त्यागी एवं कोषाध्यक्ष श्री सोमनाथ जी एडवोकेट दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सरदारीलाल वर्मा एवं मन्त्री श्री विद्यासागर विद्यालकार, भारत सरकार के शिक्षा सचिव श्री चतुर्वेदी जी, श्री राजगुरु शर्मा, श्री सच्चिदानद शास्त्री, डा० सत्यकेतु विद्यालकार, पं० सत्यदेव भारद्वाज, वेदालंकार श्री बलराज मधोक, भूतपूर्व कुलपति, आचार्य प्रियव्रत जी एवं अनेक आर्य विद्वान गुरुकुल मे पधारे।

यजुर्वेद परायण महायज्ञ का आकर्षक आयोजन ८ अप्रैल से प्रारम्भ हुआ जिसके ब्रह्मा सुप्रसिद्ध आर्य विद्वान् एव याज्ञिक श्री प० राजगुरु शर्मा थे। अन्याकर्षण आर्य भट्ट विज्ञान मेले का उद्घाटन रुड़की विश्वविद्यालय के कुलपति महोदय द्वारा किया गया जो इस मेले में आयोजित प्रदर्शनी को देखकर बहुत सतुष्ट हुये और उन्होने गुरुकुल विश्वविद्यालय को अपने विश्वविद्यालय का पूर्ण सहयोग देने की घोषणा की। इस प्रदर्शनी में हजारो नर-नारी प्रतिदिन देखने आ रहे थे। इसी कारण प्रदर्शनी रविवार १९ अप्रैल तक चलती रही।

यज्ञ की पुर्णाहुति रविवार १२ अप्रैल को प्रात वेदारम्भ सस्कार के बाद हुई जिसमे सभाओ के अधिकारी वर्ग के अतिरिक्त सभी अध्यापकों, प्राध्यापकों, कर्मचारियो एव आर्यजनों ने परिवार सहित भाग लिया।

## नैरोबी में अन्तर्राष्ट्रीय वैदिक संस्थान की स्थापना

**आर्य जन अपनी जिम्मेदारी निबाहें—प्रधान की सलाह**

नैरोबी। ५ अप्रैल के दिन आर्यसमाज मंदिर नैरोबी (साउथ सी) में अन्तर्राष्ट्रीय वैदिक संस्थान—इन्टरनेशनल वैदिक इन्स्टीट्यूट की अधिकृत रूप से स्थापना करते हुए आर्य प्रतिनिधि सभा पूर्वी अफ्रीका के प्रधान श्री पी० एस० सैनी ने घोषित किया कि आर्यसमाज स्थापना दिवस पर आर्यजनों को आत्मनिरीक्षण करना चाहिए और यह देखना चाहिए कि क्या हम आर्यसमाज की उन्नति के लिए अपना फर्ज निबाह रहे हैं?

मंदिर में ओ३म् की पताका लहराते हुए आर्यसमाज नैरोबी के संस्थापकों में से अन्यतम श्री बी० डी० भारद्वाज ने कहा—आज के दिन हमें आर्यसमाज की उन्नति के लिए अपनी पूरी शक्ति लगा देने का संकल्प करना चाहिए।

आर्यसमाज साउथ सी के साथ निर्माणाधीन अतिथिशाला की आधारशिला डा० पी० पी० आर्य ने रखी। अतिथिशाला के लिए उन्होंने ५० हजार रुपये दान किए। आर्यसमाज के संरक्षक एवं सदस्य श्री इन्दरसिंह मिस ने अतिथिशाला में लगने वाले सम्पूर्ण लकड़ी के कार्य का खर्चा देना स्वीकार किया।

आर्य प्रतिनिधि सभा पूर्वी अफ्रीका के प्रधान श्री पी० एस० सैनी हिन्दू कौंसिल, केन्या के उपाध्यक्ष चुन लिये गये हैं।

## उर्दू को द्वितीय भाषा बनाना देश के लिए घातक

नई दिल्ली। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा उर्दू को दूसरी राजभाषा बनाये जाने के निर्णय को देश के लिए घातक बताया है।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री रामगोपाल शालवाले तथा महासचिव श्री ओमप्रकाश त्यागी ने एक वक्तव्य में उत्तरप्रदेश के मुख्यमंत्री श्री विश्वनाथ प्रतापसिंह द्वारा इस विषय में की गई घोषणा को दुर्भाग्यपूर्ण बताते हुए कहा कि इस निर्णय से हिन्दी को भारी आघात पहुंचेगा तथा पृथकतावादी तत्वों को प्रोत्साहन मिलेगा।

आर्य नेताओं ने वक्तव्य में कहा है कि इससे पहले बिहार सरकार ने भी इसी प्रकार व्यर्थ ही उर्दू के नाम पर गड़े मुर्दे उखाड़ कर राज्य में अशान्ति का वातावरण पैदा किया था, उत्तरप्रदेश सरकार ने भी उसी नीति का अनुसरण करके घातक कदम उठाया है, जिसका देश के अन्य राज्यो पर भी बुरा प्रभाव पडना स्वाभाविक है।

उन्होने कहा कि जिस स्कूल में उर्दू के केवल दो-चार छात्र हो उनके लिए भी उर्दू शिक्षकों की व्यवस्था करने से सरकारी कोष का दुरुपयोग ही कहा जाएगा। आर्य नेताओं ने उत्तरप्रदेश की

(शेष पृष्ठ २ पर)

सम्पादक—नरेन्द्र विद्यावाचस्पति

# परम ज्ञान से वरणीय परमेश्वर की प्राप्ति

शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि

चन्द्रं चन्द्रेणामृतममृतेन ।

सग्मे ते गौरस्मे ते चन्द्राणि तप-

सस्तनूरसि प्रजापतेर्वर्णः ।

परमेण पशुना क्रीयसे सहस्रपोषं

पुषेयम् ॥ यजु ४-२६

ऋषि.—वत्सः । देवता—यज्ञः ।

शब्दार्थ—हे (यज्ञ) पूजनीय और सकल पदार्थों तथा सुखो के दाता भगवन् (सग्मे) ससार मे (ते गौः) तेरी वाणी तथा उसके द्वारा प्रसृत ज्ञान सर्वत्र व्याप्त है । (तपस· तनूरसि) तू तप का विस्तारक तथा तपस्वी को बढ़ाने वाला है । (प्रजापते. वर्णः) गृहस्थ द्वारा वरणीय है । (परमेण पशुना) दिव्यदृष्टि या परमोत्कृष्ट ज्ञान द्वारा (क्रीयसे) प्राप्त किया जाता है, वश मे आता है ।

अपने प्रिय वत्स पर ऐसी कृपा करो कि मैं (सहस्रपोषं) आह्लाद युक्त सहस्र पुष्टियों के द्वारा (पुषेयम्) सदा पुष्ट रहूं । तेरी पूजा और सगत का गुर मैं समझ गया हूं । इसलिए (शुक्र त्वा) शुक्र स्वरूप तुझे (शुक्रेण) अपने अन्दर शुक्र को बढ़ा कर और दूसरों को शक्र देकर (चन्द्र त्वां) आह्लादस्वरूप तुझे (चन्द्रेण) अपने अदर आह्लाद को बढ़ा कर और दूसरों को आह्लाद देकर (अमृत त्वा) अमृत स्वरूप तुझे (अमृतेन) अपने में अमृतत्व को व्यक्त करके और दूसरों को अमृतत्व की ओर अग्रसर करके (क्रीणामि) प्राप्त करता हूं अपने वश में करता हूं । जिससे (अस्मे) मुझे सब (चन्द्राणि) आनन्द और पोषण मिलते रहें ।

निष्कर्ष—१—साधक भक्त, भगवान् को जिम रूप में अपना आराध्य मानता हो, उसे अपने में उसी गुण और स्वरूप को विकसित करना चाहिए ।

भगवान् के गुण को साधक जितना विकसित करेगा, वह उतना अन्तरंग सखा बनकर उसे प्राप्त कर लेगा । अर्थात् भगवान् भक्त का क्रीत या वशवर्ती बन जाएगा । इसी बात को महर्षि दयानन्द ने कहा है—"शुद्धिकारकं शुद्ध भावेन, क्रीणामि--गृह्णामि' । और स्वामी भगवदाचार्य ने कहा है—'सत्यप्रियोहि भगवान् सत्येन प्रीतो भगवतीति वक्तव्यार्थः ।

२—शुक्र शरीर में अंतिम सारभूत रस होने से शारीरिक पुष्टि की ओर निर्देश करता है । चन्द्र (चन्द्रमा मनसो जातः) मानसिक शान्ति का संकेत करता है । और अमृत आत्मा की सांसारिक आसक्तियों से मुक्ति का द्योतक हैं ।

३—यद्यपि परमेश्वर के शिव, रुद्र, चन्द्र आदि रूपों में से चाहे जिस रूप को अपने में विकसित करके सिद्ध किया जा सकता है, लेकिन परमेश्वर का वरणीय रूप तो दिव्य दृष्टि अथवा परम ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त होता है ।

४—दिव्य दृष्टि प्राप्त होने के बाद कोई कामना शेष नहीं रहती । सब प्रकार के आह्लाद (स+हस्र) और पोषण स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं ।

विशेष—जीव मात्र परमेश्वर को वत्स (शिशु) तुल्य प्रिय हैं । यज्ञ का अर्थ पूजनीय, संगति योग्य तथा सब पदार्थों का दाता भगवान् है । शुक्र, चन्द्र और अमृत उसी के भिन्न-भिन्न रूप हैं । इस मंत्र के ऋषि वत्स की तरह जो व्यक्ति अपने को भगवान् का वत्स मान कर उसकी पूजा और सगति करेगा, उसे भगवान् सब प्रकार के आनद और आह्लादजनक पदार्थ देता रहेगा ।

अर्थपोषक प्रमाण—यज्ञ=यज देवपूजा संगतिकरण दानेषु—पूजनीय सगत्ति करने योग्य, सब पदार्थों का दाता=भगवान् ।

सग्मे—संसारे, ग्मा पृथिवीनामसु नि० १-१ तया सह वर्तते तस्मिन्—ब्रह्माण्डे ।

पशुना—पश्यति अनेन इति पशुः ज्ञानं दृष्टिर्वा । शुक्रं वीर्यम् । चन्द्रं चदि आल्हादे, आल्हादो मानसिको भवति । अमृतं मुक्तिः आत्मनो भवति ।

तनूः—विस्तारकः—तनु विस्तारे वर्णः—वृञ् वरणे वरणीयः ।

प्रजापते.—गृहस्थस्य मनुष्यमात्रस्येति तात्पर्यम् । —भगवदाचार्यः ।

क्रीणामि—गृह्णामि—स्वामी दयानन्द । वशे नयामि—भगवदाचार्य ।

—मनोहर विद्यालंकार

# हम अपनी अच्छाई क्यों छोड़ें ?

उन दिनों स्वामी दयानन्द सरस्वती अनूप शहर की सती की मढ़ी में निवास करते थे । एक दिन एक ब्राह्मण स्वामी जी के पास पहुचा, उसने भक्ति भाव से उन्हे पान का एक बीडा भेंट किया । स्वामी जी ने सहज भाव से वह पान मुंह मे रख लिया । पान का रस लेते ही उन्हें अनुभूति हो गई कि उन्हें पान में विष दिया गया है, उन्होंने उस ब्राह्मण को कुछ नहीं कहा । जहर दूर करने के लिए स्वामी जी गंगा पार चले गए, वहा उन्होने वस्ती और न्योली आदि क्रियाओं से पेट की सफाई की ।

स्वामी जी को जहर देने की खबर तुरन्त फैल गई । वहां के तहसीलदार सैयद महम्मद अरबी- फारसी के विद्वान थे, स्वामी जी के सत्संग के प्रभाव से वह उनके भक्त बन गये थे । स्वामी जी को जहर देने की बात तहसीलदार को मालूम हुई । उसने उस पापी ब्राह्मण को पकड़ कर हवालात में डाल दिया और बड़ा प्रसन्न होकर स्वामी जी के पास पहुँचा । वह सोच रहा था कि आज स्वामी जी बहुत प्रसन्न होंगे ! निकट जाने पर जब स्वामी जी ने उनकी ओर नजर भी नहीं डाली तब बड़ी आजिजी से तहसीलदार ने स्वामी जी से उनकी अप्रसन्नता का कारण पूछा ।

स्वामी जी बोले !मैंने सुना है कि आज आपने मेरे लिए एक आदमी को हवालात में बन्द कर दिया है, परन्तु मैं तो आदमियों को बन्धनों में बंधवाने नहीं आया हूं, परन्तु उन्हें छुड़वाने आया हूं । यदि दुष्ट अपनी दुष्टता नहीं छोड़े तो क्या हम अपनी अच्छाई और श्रेष्ठता छोड़ दें ।'

तहसीलदार को बड़ा अचम्भा हुआ । उसने आज तक ऐसा इन्सान नहीं देखा था जो बुराई करने पर भी अपने दुश्मन को क्षमा कर देता हो । तहसीलदार स्वामी जी के सामने हाथ जोड़ कर नमस्कार कर चला गया और उस ब्राह्मण को छोड़ दिया ।

—नरेन्द्र

**उर्दू को द्वितीय भाषा बनाना**···(पृष्ठ १ का शेष)

तमाम आर्य समाजों से अनुरोध किया है कि वे उत्तरप्रदेश सरकार की उर्दू विषयक इस नीति का डटकर विरोध करें ।

उन्होंने कहा कि आज जब कि देश अनेक आन्दोलनों के कारण विघटन के कगार पर खड़ा है, इस प्रकार के कदम को घोर अदूरदर्शितापूर्ण तथा एक आन्दोलन को जन्म देने वाला ही कहा जाएगा । आर्यनेता इस विषय को न्यायालय में ले जाने पर विचार कर रहे हैं ।

□

**बोट क्लब पर स्थापना-दिवस**

मंगलवार २१ अप्रैल, १९८१ के दिन दोपहर १२॥ से २ बजे तक वैदिक सत्संग बोट क्लब की ओर से आर्यसमाज स्थापना-दिवस मनाया गया ।

### सत्याचरण का व्रत ग्रहण करूं

ओ३म् अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् ।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥ यजुर्वेद १/५

हे सत्यपते परमेश्वर, मैं जिस सत्यधर्म का अनुष्ठान करना चाहता हूं, उसकी सिद्धि आपकी कृपा से ही सम्भव है। सो यह व्रत है कि जिसको मैं निश्चय से पूर्ण करना चाहता हूं। उन सब असत्य कामों से छूट कर सत्याचरण करने मे सदा दृढ़ रहूं।

## अलग देश की मांग !

भारत में जिन धर्मों का प्रादुर्भाव और विकास हुआ है, उनमें किसी प्रकार का आंतरिक सांस्कृतिक भेदभाव प्रतीत नहीं होता। उन सब में एक अविच्छिन्न सांस्कृतिक परम्परा एव विचाराधारा प्रवाहित होती दीखती है। म० बुद्ध, महावीर स्वामी, आचार्य शकर, गुरु नानक और महर्षि दयानन्द ने शाश्वत भारतीय चिन्तन एवं नैतिक विचार तत्त्वो का ही प्रकाश फैलाया है। गुरु नानक और उनके अनुवर्ती नौ शिष्यो ने गुरुभक्ति, ईश्वर निष्ठा, श्रम, ईमानदारी और सदाचार की बुनियाद पर प्राचीन भारतीय धर्म और सस्कृति की रक्षा का बीड़ा उठाया था। सिख धर्म में प्रेम और भाईचारे पर सबसे अधिक जोर दिया गया है। गुरु नानकदेव ने कहा था—जहां-जहां देखई तहं-तहं-रामा, हरि के चरन नित धिआवै नामा।' सिख गुरुओं ने प्राचीन धर्म और सस्कृति के संरक्षण और राम-हरि के संकीर्तन के लिए अपने सर्वस्व की बाजी लगा दी थी। इसी धर्म, गुरुओं और हरि के पन्थ की सुरक्षा के लिए उन्होंने माला के स्थान पर पन्थ को कड़े और कृपाण और तलवार आदि से सुसज्ज किया था।

खेद है कि जिस खालसा पन्थ की स्थापना ही गुरुवाणी, गुरुओ के देश और उनकी संस्कृति व देश की सुरक्षा के लिये की गई थी, आज कहा जा रहा है, कि भारतीयों से सिखो की अलग कौम है, उनका अलग देश है, पंजाब में उनका अलग देश बनना चाहिये। पिछले दिनो आनन्दपुर साहब मे विश्व सिख सम्मेलन में सिखों के पृथक् पंजाब देश की माँग की गई है। यह मांग भी की गई है कि उन्हें संयुक्त राष्ट्र सभा मे सहायक सदस्यता मिलनी चाहिए। कई साम्प्रदायिक सिख नेताओं ने पिछले दिनों पृथक् सिख राष्ट्र—आजाद पंजाब देश और खालिस्तान की माँग की है। मजहबी सिख नेता अतीतकाल में भी पृथक् सिख मुल्क की माँग करते रहे हैं, परन्तु उनकी इस बार की माँग के पीछे जो तत्त्व कार्य कर रहे हैं, उनकी जानकारी होने पर थोड़ी चिन्ता होनी स्वाभाविक है। दिल्ली की जामा मस्जिद के कथित शाही इमाम ने सिखों के आंदोलन को समर्थन दिया है। इसी के साथ इस खालिस्तान की मांग करने वाले गंगासिंह ढिल्लों पिछले दिनों कई बार पाकिस्तानी तानाशाह जन० जिया से भी मिले हैं। ये संवाद भी मिले हैं कि सिखों की माँग से पाकिस्तानी तानाशाह की सहानुभूति है।

इस प्रकार के समाचार भी प्राप्त हो रहे हैं कि विदेशों में बसे सिखों के नाम पर अकाली दल को विदेशों से अंधाधुंध पैसा मिल रहा है। पिछले दिनों भारत में अल्पसंख्यकों में विदेशी ईसाई प्रचारक ईसाई धर्म के व्यापक विस्तार के लिये प्रयत्नशील रहे हैं। इस प्रकार के पुष्ट समाचार भी मिले हैं कि मध्यपूर्व के समृद्ध तैल राष्ट्र अपनी अंधी कमाई के पैसे के आकर्षण से भारत के आठ करोड़ हरिजनों को अपने मजहब में लाने के लिए प्रयत्न शील हैं। ईसाइयों और मुसलमानों के षड्यन्त्र के बाद विदेशी आकाओं और पैसों के बल पर सिखों को भारतीय जनता से पृथक् करने का प्रयत्न बहुत ही विघातक राष्ट्रद्रोह है। देश के सभी राजनीतिक दलों तथा धार्मिक एव सांस्कृतिक नेताओं को अपने सभी मतभेद भुला कर देश की एकता को खंडित करने वाले ऐसे प्रयत्नों को विफल कर देना चाहिए।

—o—

## उन्नति के तीन तत्त्व

भारतीय चिन्तन मे तीन तत्त्वों की महत्ता है। भगवान् के तीन गुणों के आधार पर भक्तों ने उन्हें जग के निर्माता, व्यवस्थापक और सहारक के रूप में ब्रह्मा, विष्णु, महेश के रूप में देखा है। जीवन मे सात्त्विक, राजसिक और तामसिक तीन वृत्तियो का संतुलन ही मानव विकास मे सहारा देता है। चिकित्सक शरीर की बात, पित्त और कफ की स्थिति का ठीक मूल्यांकन कर उनकी समुचित चिकित्सा कर सकता है। हमारे राष्ट्रीय ध्वज में भी श्वेत, केसरिया और हरे रंगो से राष्ट्र मे कई उदात्त गुणो एवं विभिन्न सस्कृतियो के एकीकरण की कल्पना की गई है। पिछले दिनो गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के ८२वें दीक्षान्त अभिभाषण को प्रस्तुत करते हुए सर्वोच्च भारतीय न्यायालय के भू० पू० न्यायाधीश न्यायमूर्ति श्री एच० आर० खन्ना ने भारतीय नवयुवकों विशेषतः छात्रो से जीवन में तीन उदात्त गुण अपनाने की सलाह दी है।

न्यायमूर्ति श्री खन्ना ने जापानी नवयुवको और देशवासियो के तीन उत्कृष्ट गुणो को सराहते हुए भारतीय युवको से अनुरोध किया है कि वे सभी उन्हे अपने जीवन में लायें। ये तीन गुण हैं—कड़ा अनुशासन, कठिन परिश्रम और उच्च नैतिक गुण। इन तीन गुणो को जीवन की घुट्टी मे समाविष्ट कर लेना चाहिये। जापान दूसरे महायुद्ध में पराजित हो गया था। वह अनाज और उद्योग मे प्रयुक्त होने वाले कच्चे माल और मुख्य ऊर्जा स्रोत तेल और पेट्रोल की दृष्टि से एक परावलम्बी राष्ट्र था। पहाड़ी ऊबड़-खाबड़ देश होने के बावजूद आज जापान अपनी आवश्यकता का अन्न अपनी भूमि पर तथा दूसरी भोज्य सामग्री समीपस्थ समुद्री प्रदेश से प्राप्त कर लेता है। पेट्रोल, मिट्टी के तेल और कच्चे माल को आयात करने के बावजूद जापान आज ससार का एक सर्वाधिक सम्पन्न विकसित औद्योगिक राष्ट्र है तो केवल अपने कड़े अनुशासन, कठिन परिश्रम और ऊंची देशभक्ति के कारण।

हमारे देश में अपार प्राकृतिक साधन हैं, अनन्त मानव शक्ति है। इसके बावजूद हमारी आधी से अधिक जनसख्या गरीबी की सीमारेखा या मापदण्ड से निम्न स्तर पर है। संसार के सबसे अधिक गरीब, बेरोजगार और निठल्ले-आलसी प्रजाजन हमारे ही देश में हैं। यह स्थिति हमारे सभी उन्नति के प्रयत्न और आयोजनो को व्यर्थ कर देती है। हमारे देश का शिक्षित नवयुवक जबतक जीवन मे उन्नति के उक्त तीन बुनियादी तत्त्वों को ग्रहण नहीं करेगा, तबतक स्थिति मे सुधार सम्भव नही है। हां, ये तत्त्व आज का युवक अपनाये इसके लिए देश की सरकार और शिक्षा की रीति-नीति के नियामको को आज के युवक को ऐसी शिक्षा देनी होगी जिससे वह स्वाभिमान के साथ अपने श्रम का ठीक उपयोग कर सके। □

---

## भारतीय आज कहाँ हैं ?

**देश की बीमारी का आर्यजन मुकाबला करें**

**—डा० बलभद्रकुमार हूजा, कुलपति, विश्वविद्यालय कांगड़ी**

आज देश और समाज में सर्वत्र विघटनकारी शक्तियो का प्रादुर्भाव हो रहा है। एक राष्ट्र, एक विधान, एक निशान की भावना धूमिल हो रही है। भारत में चिराग लेकर भी ढूंढिए तो भारतीय या हिन्दुस्तानी जन मुश्किल से मिलेगा। यहां कोई पंजाबी है तो कोई बंगाली, कोई असमिया है तो कोई मारवाड़ी, कोई मराठा है तो कोई गुजराती, कोई ब्राह्मण है तो कोई शैव या वैष्णव, कोई सिख या जाट है तो कोई हरिजन या अहीर, शिया या सुन्नी, लेकिन हिन्दुस्तानी आज कहा है? आज देश मे प्रान्तीयता और उपजातिवाद की बीमारी घुन की तरह लगी हुई है। ऋषि दयानन्द ने हमें राष्ट्र प्रेम का मन्त्र दिया था। दयानन्द के सैनिक आर्य जन ही इस बीमारी का दृढ़ता से मुकाबला कर सकते हैं।

—o—

# अनुशासन, श्रम और नैतिकता से ही देश की प्रगति

## नवयुवक मुश्किलों का सामना करें—न्यायमूर्त्ति एच० आर खन्ना का गुरुकुल कांगड़ी के नए स्नातकों को परामर्श

हरिद्वार। भारतीय सर्वोच्च न्यायालय के भू. पू. न्यायाधीश न्यायमूर्त्ति श्री एच. आर. खन्ना ने गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय के ८२वें उत्सव पर नए स्नातको को दीक्षान्त भाषण देते हुए देश की वर्तमान समस्याओं को सुलझाने के लिए अनुशासन, परिश्रम और नैतिकता के गुण अपनाने का परामर्श दिया। श्री खन्ना ने कहा—

गुरुकुल कागडी देश को स्वामी श्रद्धानन्द जी को देन है। स्वामी श्रद्धानन्द जी जिनका पहला नाम मुन्शीराम जी था, उन्होने महर्षि दयानन्द जी की मृत्यु के बाद आर्यसमाज का बीडा अपने हाथो में लिया। यह बीड़ा बहुत भारी बीड़ा था। महर्षि दयानन्द भारतवर्ष के उच्च कोटि के समाज सुधारक और धार्मिक नेता थे। महर्षि जी ने हम को एक नई रोशनी दी और हमारे अन्दर सत्य और ज्ञान की जो अनादि और अनन्त हैं, और जिससे वेदों के पृष्ठ भरे हुये हैं उनकी जागृति पैदा की। महर्षि जी ने भारतीय समाज के अन्दर जो त्रुटियां आ गई थी, और जो घुन की तरह हमे अन्दर से खा रही थी उनको खत्म करने के लिए भीष्म युद्ध चलाया। छूआछूत, बाल विवाह, विधवाओ के विवाह पर रोक और स्त्रियो की दशा सुधारना कुछ ऐसे विषय थे जिनकी ओर उन्होने ध्यान दिया।

उस समय महर्षि ने कैसे बिल्कुल अकेले, जहालत, कट्टरपन और पाखण्डबाजी का मुकाबला किया। इसके साथ-साथ उन्होने एक चट्टान की भांति खड़े होकर हिन्दू समाज को सांस्कृतिक आक्रमण से बचाया और उससे टक्कर लेने की शक्ति प्रदान की। महर्षि दयानन्द उन महान् विभूतियों मे से थे, जिन्होंने उन आतरिक कुरीतियो और बुराइयों को जो हमारे समाज की शक्ति को खत्म कर रही थी, ललकारा। उन्होंने हमारी जड़ो को मजबूत किया और हममें अपने अन्दर और अपने भविष्य के सुहानेपन में एक नया विश्वास पैदा किया जिसके फलस्वरूप हिन्दू जाति की रगो में एक नया खून दौड़ने लगा। महर्षि के उपदेशों से, जैसा कि स्वाभाविक ही था, एक नई जागृति देश को स्वतन्त्र कराने के लिये पैदा हुई।

स्वामी श्रद्धानन्द जी का महर्षि दयानन्द जी के उपदेशो से प्रभावित होकर गुरुकुल कांगडी की स्थापना करना भी एक स्वाभाविक कदम था। महर्षि दयानन्द जी की तरह स्वामी श्रद्धानन्द जी बड़े निश्चयवादी थे, धुन के पक्के थे। उन्होंने आर्य धर्म की विरोधी शक्तियो का मुकाबला करने के लिए आर्य जनता को एक नया बल दिया। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने भारत को स्वतन्त्र कराने में भी पूरा भाग लिया। १९१९ में जब अमृतसर मे काग्रेस अधिवेशन, जलियांवाला बाग के काण्ड के बाद हुआ, उसमें स्वामी जी स्वागत समिति के अध्यक्ष थे। स्वामी जी का और महात्मा गांधी का एक दूसरे के निकट आना इन हालात में कुदरती था।

गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना सन् १९०० में हुई। इसको स्थापित करने मे स्वामी जी का उद्देश्य था कि वह एक ऐसी सस्था पैदा करें जहां विद्यार्थी शान्ति और पवित्र वातावरण मे रहें और जहां पर वैदिक ज्ञान और सांस्कृतिक शिक्षा पर जोर हो और उसके साथ-साथ आधुनिक विज्ञान और दूसरे विषयो पर भी पूरा ध्यान दिया जाए, ताकि उनके समन्वय से छात्रो का विविध कला सम्पूर्ण व्यक्तित्व बने तथा वह भारत के चरित्रवान् और उत्तम नागरिक बन सकें।

जिन छात्रों ने इस दीक्षान्त सभारोह में उपाधियां ली हैं मैं उनको बधाई देता हूं और साथ ही उनसे यह भी कहना चाहता हूं कि यह न समझें कि इन उपाधियो के प्राप्त करने से उनकी शिक्षा का कोर्स खत्म हो गया है। यह तो एक आरम्भ है उस शिक्षा का जो हमें सारा जीवन सीखनी है। और कभी-कभी बड़ी कीमत देकर भी सीखनी है, परन्तु उससे घबराना नहीं चाहिये। जीवन के हर मोड़ पर हमे रोज परीक्षाओ में से निकलना पड़ेगा मगर उससे हिम्मत नहीं हारनी चाहिये। जीवन तो एक सघर्ष है और उसमें वे लोग सफल होते हैं जो ठण्डे साहस के साथ मुश्किलो का सामना करते हैं और मुश्किलो को आसान बना लेते हैं।

गुरुकुल और कालिज, शिक्षा उस बड़ी शिक्षा को प्राप्त करने का एक साधन बन सकती है, उसकी जगह नहीं ले सकती। गुरुकुल की एक शिक्षा जो हमको अपने साथ सदैव रखनी चाहिए और जो हमेशा हमारे काम आयेगी वह है कि हम अपने अन्दर मानसिक शक्ति और बल पैदा करें, हम साहसी हों, भीरु या डरपोक न बनें। इसी उद्देश्य के लिये आर्याभिविनय में प्रार्थना मन्त्र है—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि।  
बलमसि बलं मयि धेहि।  
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि।  
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि॥  
ओजोऽस्योजो मयि धेहि॥  
सहोऽसि सहो मयि धेहि॥

मेरे नवयुवक मित्रो! हम एक बहुत महान् देश के, जिसका पुरातन बहुत उज्ज्वल रहा है, वासी हैं। हम सब को भारत का नागरिक होने में गर्व हासिल करना चाहिए। यह ठीक है कि हमारे अन्दर बहुत से ऐसे नेता लोग हैं जो उन आदर्शों से गिर गए हैं। मगर उनके कारण हमें अपने अन्दर से अपने देश पर से, अपनी संस्कृति पर से अपनी परम्पराओं पर से और अपने उज्ज्वल भविष्य पर से विश्वास नहीं खो देना चाहिए। पिछले वर्षों में बहुत-सी ऐसी घटनायें हुई हैं जिनसे हम सबको बहुत दुःख होता है और हमारे मन को आघात पहुंचता है। यह भी सच है कि देश के अन्दर जो जटिल समस्यायें हमारे सामने आ गई हैं उनकी जिम्मेदारी के लिये हम पिछली पीढ़ी के लोगो को दोषी करार दे सकते हैं। मगर इन बातों में पडने से और कीचड़ उछालने से हमें कोई ठोस लाभ नहीं मिलेगा क्योंकि हमारे सामने तो इस समय आवश्यक कार्य यह है कि किस तरह भविष्य के लिये हम अपने देश को सुदृढ़ बनाए। आज आवश्यकता है कि आने वाले समय में देश खूब प्रगति करे ताकि आज के नवयुवक जो भविष्य के असल मालिक एवं स्वामी हैं उसको सुखमय और उज्ज्वल पावें।

### तीन चीजें आवश्यक

आज जिन चीजों की देशको सबसे अधिक आवश्यकता है, वे हैं अनुशासन, परिश्रम और नैतिक मूल्य। इन तीनों के बिना कोई देश प्रगति नहीं कर सकता है और नहीं इनके बिना चरित्र-निर्माण हो सकता है। सच पूछो तो ये देश की त्रिमूर्ति है।

पहले अनुशासन को लीजिये। आज तो ऐसा अनुभव होता है जैसा कि हमारे शब्दकोश से अनुशासन का शब्द किसी ने निकाल लिया हो। विश्वविद्यालयों की दशा देखो। पुराने समय मे गुरु का स्थान बहुत ऊंचा होता था और छात्रों के मन में उनका सच्चा सम्मान होता था। आज उसके बदले यह आम विचार है कि विश्वविद्यालयों में अध्यापक बनना अपने मान और जीवन दोनों को जोखिम में डालना है।

विश्वविद्यालयों के अलावा जीवन के बाकी क्षेत्रों में से अनुशासन जा रहा है। सरकारी दफ्तरों में देख लीजिए। कितने सरकारी कर्मचारी अपने दफ्तरों में ठीक समय पर आते हैं और कितने दफ्तरों के समय के अनुसार डट कर काम करते हैं? कारखाने और बिजली को देखो। उत्पादन-क्षमता आधी से भी कम हो रही है।

एक बार संसद् के अध्यक्ष ने कहा था कि ससद के एक-दो मिनट के लिए देश को कितने हजार रुपए खर्च करने पड़ते हैं। इसके बावजूद विधान सभाओं और संसद् में कितनी दफा कार्यवाही रोकनी पड़ती है, इस वजह से कि कुछ सदस्य संसद् प्रणाली के नियमों का उल्लंघन करते हैं और उनका पालन नही करते।

अब परिश्रम की ओर देखो! जहां आगे एक मनुष्य काम करता था वहां उसकी जगह तीन या चार काम करते हैं और फिर भी काम पूरा नहीं होता और अधूरा रहता है। आज हमारे देश के सब कारखाने और बिजलीघर पूरी उत्पादन क्षमता के अनुसार काम करें तो देश इतना समृद्ध और प्रगतिशील हो जायेगा कि सब आश्चर्यचकित रह जायेंगे। जर्मनी और जापान ने द्वितीय महायुद्ध के बाद इतनी प्रगति की है, उसका सबसे बड़ा कारण है जर्मन और जापानी लोगों का परिश्रम। हर कर्मचारी दिन मे १० या १२ घण्टे काम करता है। हमारे देश के अन्दर सब साधन हैं, धातु हैं, पानी है, नदियां हैं, पहाड़ हैं, लकड़ी है और अपार जनशक्ति है। सिर्फ कमी है तो इस चीज की कि हम इन सब प्राकृतिक एवं मानवीय साधनो का ठीक तरह से उपयोग नहीं कर सके और उनसे लाभ नहीं उठा सके।

व्यक्तिगत रूप से तो हम भारतीयों की बुद्धि और ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति जिसको अंग्रेजी में आई० क्यू० कहते हैं, वह किसी देश के नागरिको से कम नहीं। यह इस बात से सिद्ध होता है कि हम भारतीय जब दूसरे देशों के विश्वविद्यालयों में जाते है तो हम परीक्षाओं में बहुत ऊंचा स्थान लेते हैं। मगर पता नहीं क्या बात है कि जहां हमें एक दूसरे के साथ मिलकर सामूहिक रूप से काम करना होता है तो वहां पर हम किसी न किसी तरह फिसल जाते हैं और दूसरी बातों में फंस जाते हैं।

हम अपनी अर्थव्यवस्था को सुधारने लिए दर्जनों योजनाएं बनाएं किन्तु उनसे यथोचित फल तो तब ही प्राप्त

(शेष पृष्ठ ५ पर)

# वैदिक मन्त्रों में आहुतियों का प्रयोग

गतांक से आगे

पहली बात-होम करते समय मंत्रों के अन्त में स्वाहाकार का प्रयोग करके आहुति देनी चाहिए। उनमें भी उन्हीं मन्त्रों के अन्त में स्वाहाकार का प्रयोग करना चाहिए, जिनके अंत में संहिता (वेद) में स्वाहाकार नहीं पढ़ा है। जिन मंत्रों के अंत में वेद में स्वाहाकार पढ़ा गया है उनके अंत में आहुति देते समय पुनः स्वाहाकार का उच्चारण नहीं करना चाहिए, क्योंकि स्वाहाकार हवि प्रदान करने के लिए पढ़ा जाता है। हवि प्रदान रूप इस प्रयोजन की सिद्धि वेद में पढ़े गए स्वाहाकार से ही हो जाने से दूसरा स्वाहाकार निष्प्रयोजन हो जाएगा इसलिए दूसरा स्वाहाकार नही पढ़ना चाहिए।

लेखक :

**स्वामी मुनीश्वरानन्द सरस्वती त्रिवेदतीर्थ**

दूसरी बात यह कहीं वर्द है कि जहाँ मंत्र के आदि में स्वाहाकार पढ़ा गया है वहाँ भी अंत में स्वाहाकार का प्रयोग नहीं होना चाहिए क्योंकि आहुति तो आदि में उपदिष्ट स्वाहाकार से दे दी गई अतः यहां भी अत मे स्वाहाकार का प्रयोग निष्प्रयोजन ही रहेगा, इसलिए ऐसे स्थल में आदि मे पढ़े स्वाहाकार से आहुति देकर शेष मत्र का पाठ मात्र कर देना चाहिए। अन्त मे फिर से आहुति नहीं देनी चाहिए।

इस शोभित वचन से सिद्ध हुआ कि जिन मन्त्रों के अन्त मे स्वाहापद संहिता में ही पढ़ा गया है उन मंत्रों के अन्त में उसी स्वाहाकार से आहुति देनी चाहिए तथा आहुति के लिए दूसरे स्वाहाकार का प्रयोग नही करना चाहिए तथा जिन मंत्रों के अन्त में स्वाहाकार उपदिष्ट नहीं हुआ है आहुति के लिए उनके अंत में स्वाहाकार का प्रयोग—उच्चारण करके आहुति देनी चाहिए। दूसरे जिन मंत्रों के आदि में स्वाहाकार उपदिष्ट है, उन मन्त्रों में आदि में पढ़े गए स्वाहाकार से आहुति देकर शेष मंत्र का पाठ करके पूरा कर देना चाहिए। उस मंत्र के अन्त में फिर से आहुति नहीं देनी चाहिए।

लेख में निर्दिष्ट प्रमाणों और महर्षि दयानन्द सरस्वती जी महाराज की तदनुसार प्रयोग-पद्धति के आधार पर यह सिद्ध हुआ कि मत्र के आदि मध्य या अंत में जहाँ-जहां स्वाहाकार पढ़ा गया है वहाँ-वहाँ सर्वत्र उसी स्वाहाकार से आहुति देनी चाहिए और जिन मंत्रों के अंत में स्वाहापद नहीं पढ़ा गया है उनके अन्त में स्वाहा का प्रयोग उच्चारण करके आहुति देनी चाहिए। क्योंकि—

'होममन्त्रं स्वाहान्तं प्रणवाद्यं च कारयेत्॥ (धर्म सि धौ)

अर्थात् होम में मंत्र के आदि में प्रणव और अन्त मे स्वाहाकार का प्रयोग करना चाहिए।

सन्यास आश्रम, दयानन्द नगर (गाजियाबाद)

---

लोक-चिन्तन

## सूरज हमेशा पूरब से निकलता है !

—डा० विजय द्विवेदी

साप्ताहिक 'रविवार' के १५ मार्च '८१ अंक में रजनीश का एक व्याख्यान छपा हैं, शीर्षक है –'मंत्रों के मामले में गांधी जी का विचार गलत था'। रजनीश का कहना है कि 'भारत ने गाँधी जी का—बात सुन कर आत्मघात किया है, क्योंकि गाँधी जी को भविष्य का कोई बोध नहीं था। गांधी जी भरे-भराये अतीत के प्रशंसक थे, मनुष्य ने मनुष्य के जीवन को समृद्ध करने के लिये जो कुछ भी विकसित किया है, सबके खिलाफ थे'। इतना ही नहीं रजनीश के अनुसार 'गांव का कोई भविष्य नहीं है, भविष्य होना भी नहीं चाहिए। सुसम्पन्न, सुशिक्षित सुनियोजित नगरों का भविष्य है। जब कोई देश समृद्ध होता है तभी धर्म पैदा होता है। धर्म पश्चिम में उगेगा, सूरज पश्चिम मे उगेगा, पूरब मे तो डूब चुका है।' व्याख्यान का अंत इस तरह हुआ है—'यह एक महान क्षण हैं, महाक्रान्ति का। उसकी पूर्व तैयारी के लिए मैं सन्यास का आयोजन कर रहा हू। अगर तुम्हें रात बहुत गहरी मालूम होती हो, तो घबराओ मत इतना ही समझो कि सुबह करीब है। सुबह करीब होने के पहले रात बहुत अंधेरी हो जाती हैं'।

रजनीश के विचार विवादास्पद ही नहीं निन्दनीय हैं। इनसे देश-जाति-धर्म और सर्वोपरि मानवता विरोध की गंध निकलती है। गरीब-अमीर के बीच घृणा की दीवार खड़ी होती है और इससे पूंजीवादी शोषण को समर्थन मिलता है। प्रश्न उठता है—रजनीश ऐसा क्यों कह रहे हैं? क्या इसके पीछे सचमुच मानवता का हित-चिन्तन है? क्या सचमुच वह सोचते हैं कि विज्ञान की असीम प्रगति से भावी मनुष्य को सुखी, सम्पन्न और धार्मिक बनाया जा सकता है? अगर ऐसा है तो पश्चिम के वे देश जो रजनीश की दृष्टि मे विज्ञान के क्षेत्र मे अति उन्नत तथा भौतिकता की दृष्टि से अति समृद्ध हैं; अशान्त और अधार्मिक क्यो हैं? वहां भी रात इतनी अधेरी क्यों मालूम पड़ रही है?

रजनीश ने अपने व्याख्यान मे दो बातों का उल्लेख शायद जानबूझ कर नही किया है। पहली बात तो यह कि सारे विश्व की भाषा अंग्रेजी होगी और दूसरी यह कि इक्कीसवीं शताब्दी मे जो असंख्य 'बुद्ध पैदा होंगे, वे उन देशी कम विदेशी तरुणियों की कोख से अधिक पैदा होंगे, जो रजनीश-आश्रम में 'सम्भोग से समाधि तक' पूरा पाठ पढ़ने के दौरान गर्भ-धारण करेंगी। इन आने वाले बुद्धों की परवरिश के लिए रजनीश को विदेशी पूजी, यन्त्रविधि, औद्योगीकरण, अन्तरिक्ष बस्तियां और सागर की छाती पर बड़े-बड़े महानगर चाहिए। यही सब पाने के लिए वह संन्यास का आयोजन कर रहे हैं। करें, मुझे कोई आपत्ति नही है। स्वाधीन देश में कोई कुछ भी कह और कर सकता है।

रजनीश भी संन्यास का आयोजन करें। मगर यह बता दें कि सन्यास की संकल्पना का आधार उन्हें कहां से मिला है—पूरब से अथवा पश्चिम से, वेदों से या बाइबिल से? जहाँ तक क्रांति का प्रश्न है, मुझे भी भावी क्रान्ति की गड़गड़ाहट और धर्म के विस्फोट के धमाके अभी से सुनाई दे रहे हैं। इन्हीं के बीच हथियारों के तेज किये जाने की कर्कश आवाज भी आ रही है, किन्तु इसी के साथ पूरब के क्षितिज पर उग रहे नव प्रभात के वेद-सूर्य की अरुणाभा भी फूटती दिखाई दे रही है। पौ फट चुकी है, फिर भी—

हर सिम्त अन्धेरा है, खामोशी है, घुटन है।
मुझे माहौल नया सूर्य सजाने नहीं देता।

सुबह हो चुकी है,'सत्यार्थ प्रकाश' फैल चुका है। पश्चिम की ओर मुह कर बैठे रहने वाले स्वार्थान्ध लोग नहीं देख पा रहे हैं। देख भी नही सकते हैं क्यो कि सूरज हमेशा पूरब से निकलता है।

हिन्दी-विभागाध्यक्ष, म. पू. च. कालेज, बरिपदा (उड़ीसा)

---

## अनुशासन, श्रम और नैतिकता…

(पृष्ठ ४ का शेष)

होगा जब हर व्यक्ति अपना योगदान करेगा। हमें इस बात को सदैव याद रखना चाहिए कि हर राष्ट्र की खुशहाल अर्थव्यवस्था के पीछे खून-पसीना बहाने की रहस्यमय कहानी निहित है, जिसमें निरन्तर कठिन परिश्रम और सुनिश्चित धन का बहुत महत्व रहा है।

तीसरी आवश्यकता है नैतिक मूल्यों की। कोई भी देश ऊंचा नही बन सकता जो अपने सामने कुछ सात्विक मर्यादाएं न रखे और उनका पालन न करे। आज आम जनता का राजनीतिक नेताओं में थोड़ों को छोड़कर, बाकी पर से विश्वास क्यों उठ गया है? उसका सबसे बड़ा कारण यह है कि बहुत से नेता लोग 'कहते हैं कुछ और, करते हैं कुछ और।' आज भ्रष्टाचार बहुत ही बढ़ गया है। भ्रष्टाचार में साथ काले धन का बहुत सम्बन्ध है। दोनों साथ-साथ चलते हैं। पिछले समय मे महात्मा गांधी, जवाहर लाल नेहरू और सरदार पटेल के लिये लोगों के हृदय मे इतना अधिक मान था और उनके कथन के अनुसार लोग क्यों चलते थे? उसका सबसे बड़ा कारण था उनकी नैतिक और राजसी आस्था पर सबका अटल विश्वास! आजकल तो कभी-कभी कुछ लोगो के व्यवहार से ऐसा लगता है जैसा कि हम नैतिक मूल्यों की चिता जला रहे हैं।

एक और बात, जिसकी तरफ मैं आपका ध्यान दिलाना चाहता हू, वह है आदर्शवाद की महत्ता की आवश्यकता। आदर्शवाद राष्ट्रीय जीवन को ढालने में उतना ही योगदान देता है जितना कि दूसरे तत्त्व। इसके साथ-साथ आदर्शवाद के असल रखवाले होते हैं। हमे देखना यह है कि वह सरोवर सूखने न पाए और वे रखवाले कमजोर न पड़ जाएं।

मैं एक बार फिर उन स्नातकों को जिन्होंने आज उपाधियां प्राप्त की हैं बधाई देता हूं और प्रार्थना करता हूं कि वे देश के सच्चे नागरिक बनें और अपने जीवन की हर दशा मे सफलता पायें।

# आर्य जगत् समाचार

## गुरुकुल स्वामी श्रद्धानन्द जी की भावना से चलाया जाए

### गुरुकुल कांगड़ी के उत्सव पर विभिन्न कार्यक्रम : आर्यनेताओं के सत्परामर्श

हरिद्वार । कुलाधिपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय एवं प्रधान आर्य-प्रतिनिधि सभा पंजाब श्री वीरेन्द्र जी ने कुलपताका फहराने के बाद अपने भाषण मे कहा कि सभी धर्मों और शास्त्रों का यह सार है कि मनुष्य देवता कैसे बने। हमें गुरुकुलो में यह संकल्प लेना चाहिए कि हम यह संस्कार अपने अन्दर पैदा करें। हमको मिलकर यह प्रयत्न करना चाहिए कि इस गुरुकुल को स्वामी-श्रद्धानन्द जी की भावना के अनुकूल बनाए ।

गुरुकुल के आर्य सग्रहालय मे आर्य-समाज से सम्बन्धित सम्पूर्ण साहित्य एवं आर्यसमाज के महान नेताओं की सामग्री प्रदर्शित की जाएगी। इसी आर्य स्वाध्याय केन्द्र में आर्यसमाज का सात खंडों मे इतिहास भी लिखा जाएगा : इस समारोह की अध्यक्षता श्री वीरेन्द्र जी ने की। आर्य संग्रहालय का उद्घाटन प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता स्वामी ओमानंद सरस्वती ने किया। स्वामी जी ने अपने भाषण मे कहा कि उन्होंने आर्यसमाज से सम्बन्धित इतनी सामग्री एकत्र की हुई है कि उसके प्रदर्शित करने के लिए अनेक भवन चाहियें। इस अवसर पर कुलपति श्री बलभद्र कुमार हूजा ने अपने विचार प्रकट करते हुए कहा कि आर्य-समाज एक गतिशील सस्था है और जितने भी क्रान्तिकारी हुए हैं उन सभी पर आर्यसमाज का प्रभाव है। आर्य-समाज के इतिहास के मुख्य सम्पादक डा० सत्यकेतु विद्यालंकार होंगे और इस समारोह का आयोजन डा० बिनोदचन्द्र सिन्हा ने किया।

#### वेदों के अनुसार आचरण करें

इसके पश्चात् वेद-सम्मेलन हुआ जिसके अध्यक्ष आचार्य प्रियव्रत वेद-वाचस्पति थे। उद्घाटन-भाषण प० राजगुरु शर्मा ने किया। उन्होने वेदो की उपादेयता पर गभीरतापूर्वक प्रकाश डाला। इस सम्मेलन में गुरुकुल के बहुत से विद्वानों एव ब्रह्मचारियो ने वेद विषय पर भिन्न-भिन्न लेख पढ़े। इसी अवसर पर प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार को संथड़ विद्या सभा की ओर से १०००/-रु० की नकद राशि से सम्मानित किया गया। प्रो० गोवर्द्धन शास्त्री की स्मृति में यह पुरस्कार प्रत्येक वर्ष उस विद्वान अथवा उस प्रचारक को मिलेगा जो वेदों का सदेश घर-घर पहुंचायेगा। प्रो० रामप्रसाद की ७५,००० पुस्तकें वितरित हो चुकी हैं। इस अवसर पर आचार्य प्रियव्रत ने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि वेद आर्य जाति के प्राचीनतम ग्रंथ हैं। हमें वेदो का केवल स्वाध्याय ही नहीं करना चाहिए अपितु उनके अनुसार आचरण भी करना चाहिए।

---

## वैज्ञानिक प्रगति से दरिद्रता का अंत

### आर्य भट्ट मेले का उद्घाटन

'विज्ञान और वेद का समन्वय ही भारत की समस्याओं का समाधान है'-ये शब्द कुलाधिपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय श्री वीरेन्द्र जी ने उस समय कहे जब आर्यभट्ट मेले के उद्घाटन से पूर्व उन्होंने आर्यभट्ट पत्रिका का विमोचन किया। आर्यभट्ट पत्रिका विश्वविद्यालय की पहली विज्ञान पत्रिका है, जिसका प्रकाशन हिंदी में आरम्भ हुआ। मेले का उद्घाटन रुड़की विश्वविद्यालय के कुलपति डा. जगदीश नारायण ने किया। इस अवसर पर अपने विचार प्रकट करते हुए कुलपति श्री बलभद्रकुमार हूजा ने कहा कि वैज्ञानिक प्रगति से ही भारत की दरिद्रता समाप्त हो सकती है। मेले के विज्ञान विभागों ने अपनी-अपनी उपलब्धियां दर्शाई हुई थीं। दर्शकों के आकर्षण के लिए एक वायुयान के मोडल को भी उड़ाया गया था। इस प्रदर्शनी में भारत हैवी इलैक्ट्रिकल्स तथा उत्तर-प्रदेश की एन० सी० सी० ने भी भाग लिया था। सभी वक्ताओं ने इस संपूर्ण प्रदर्शन को बहुत सराहा। मेले का आयोजन विज्ञान महाविद्यालय के प्रिंसिपल श्री सुरेशचन्द्र शास्त्री ने किया।

यजुर्वेद पारायण यज्ञ की पूर्णाहुति दीक्षांत भाषणकर्त्ता न्यायमूर्ति श्री एच० आर० खन्ना, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान लाला रामगोपाल शालवाले और विश्व-विद्यालय के कोषाध्यक्ष श्री सोमनाथ मरवाहा ने भाग लिया। सम्पूर्ण यज्ञ का आयोजन श्री राजगुरु जी शर्मा ने किया। वेदारम्भ संस्कार आचार्य निरूपण विद्यालंकार द्वारा सम्पन्न हुआ।

---

## ग्रीष्मकालीन युवक प्रशिक्षण शिविर

युवकों में शारीरिक क्षमता, चारित्रिक बल, भारतीय संस्कृति, राष्ट्रीयता एव आर्यत्व जगाने के लिए केन्द्रीय आर्य-युवक परिषद् की ओर से २१ से ३१ मई, १६८१ तक हंसराज माडल स्कूल, पंजाबी बाग विस्तार दिल्ली-२६ मे ग्रीष्मकालीन युवक-प्रशिक्षण शिविर का आयोजन किया जा रहा है। शिविर मे उच्चकोटि के व्यायामाचार्य एवं विद्वान् योग, आसन, प्राणायाम, दण्ड-बैठक, लाठी, सन्ध्या-यज्ञ आदि का प्रशिक्षण देंगे। नौवीं और उससे ऊपर के विद्यार्थी शिविर मे भाग ले सकेंगे। प्रवेशार्थी अपने प्रवेशपत्र ३०) रुपये शिविर शुल्क के साथ १० मई तक ७०४८ बेरीवाला बाग, आजाद मार्केट, दिल्ली-६ पर भेज दें।

---

## रोहतक में आर्यवीर महासम्मेलन

### एक हजार आर्य वीर भाग लेंगे : अध्यक्ष डा० सत्यप्रकाश सरस्वती होंगे

विश्वस्त सूत्रों से ज्ञात हुआ है कि आजकल हरियाणा के प्रत्येक जिले में आर्यवीर दल की शाखाएं चल रही हैं। आर्ययुवक बड़े उत्साह से दल-कार्यों में जुट गए हैं।

यह सूचना भी मिली है कि आर्य-वीर दल हरियाणा का प्रादेशिक महा-सम्मेलत श्रद्धेय डा० सत्यप्रकाश जी सरस्वती की अध्यक्षता मे १६-१७ मई, १६८१ को रोहतक नगरपालिका के सामने स्वामी श्रद्धानन्द नगर, रोहतक मे बड़े समारोहपूर्वक मनाया जाएगा। इसमें प्रदेश के कोने-कोने से लगभग एक-हजार आर्यवीर पूरे गणवेश में आकर्षक आर्य रैली मे भाग लेंगे।

इस सम्मेलन मे आर्य-जगत् के उच्च कोटि के विद्वान एव विचारक भाग लेंगे।

---

## आर्यसमाज गांधीनगर का २५वां वार्षिकोत्सव

आर्यसमाज गांधीनगर का २५वां वार्षिकोत्सव २३-२४-२५-२६ अप्रैल को नेहरू गली से पार जनता पार्क में मनाया जाएगा। इस अवसर पर प्रदेश और देश के बड़े आर्य विद्वान, उपदेशक और गायक पधार रहे हैं।

---

## अपने समाज का वार्षिक विवरण आर्य सन्देश में प्रकाशित कराइए

हमें यह सूचना देते हुए हार्दिक प्रसन्नता है कि आर्यसमाजों एवं आर्य-संस्थाओं की प्रतिविधियों का व्यापक प्रचार-प्रसार करने के लिए 'आर्य संदेश' के आकार के ८ पृष्ठों के एक फार्म की ५०० रुपए की धनराशि अग्रिम जमा करवा कर आप अपने आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव अथवा वार्षिक विवरण आदि की विस्तृत रपट साप्ताहिक 'आर्य-सन्देश' में प्रकाशित करवा सकते हैं। इस प्रकाशन से आपके समाज का विवरण व्यापक रूप से प्रचारित और प्रसारित हो सकेगा। आशा है कि इस अभिनव-प्रचार-कार्यक्रम का आप तुरन्त लाभ उठाएंगे।

—विद्यासागर विद्यालंकार<br>
मन्त्री, दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा,<br>
१५, हनुमान रोड,<br>
नई दिल्ली-११०००१

# आर्यसमाजों के सत्संग

२६-४-८१

अमर कालोनी—प० खुशीराम शर्मा; अशोक विहार के-सी ५२-ए—प० वेदपाल शास्त्री; आर के पुरम् सैक्टर —श्रीमती लीलावती आर्या; आर के पुरम सैक्टर ६ —पं० हीराप्रसाद शास्त्री; आजाद विहार—पं० सत्यपाल मधुर भजनोपदेशक; किग्जवे कैम्प—पं० महेशचन्द्र भजनोपदेशक; किशनगंज मिल एरिया प० छज्जूराम शास्त्री; किदवई नगर—पं० तुलसीराम भजनोपदेशक; कालका जी —पं० देवेश; गांधीनगर—स्वामी स्वरूपानन्द; ग्रेटर कैलाश I—पं० दिनेशचन्द्र पराशर शास्त्री व्याकरणाचार्य; ग्रेटर कैलाश-II—प० मेघश्याम वेदालकार; गुडमंडी —प० ईश्वरदत्त एम-ए; गोविन्द भवन दयानन्दवाटिका—पं० विश्वप्रकाश शास्त्री; जंगपुरा भोगल—प० प्रकाशवीर व्याकुल; जनकपुरी बी ३/२४—श्रीमती सुशीला राजपाल; तिलकनगर—प० प्राणनाथ सिद्धातालकार, तिमारपुर—श्रीमती प्रकाशवती शास्त्री; दरियागंज—प० देवराज वैदिक मिश्नरी, नारायण विहार—पं प्रेमचन्द श्रीधर; नया बांस—पं० सत्यकाम वेदालकार; निर्माण विहार—आचार्य हरिदेव सि० भू०; पंजाबी बाग—आचार्य कृष्णगोपाल; पजाबी बाग एक्सटेन्शन १४/३—प्रो० सत्यपाल बेदार; बाग कड़े खां - प० बरकतराम भजनोपदेशक; बाजार सीताराम—श्री मोहनलाल गांधी, बिरला लाइन्स—पं० विष्णुदेव प्रसाद वेदालंकार; माडल बस्ती—पं० उदयपाल शास्त्री; महावीर नगर—प० ओमप्रकाश भजनोपदेशक; मोतीनगर—प्रो० वीरपाल विद्यालकार; रमेशनगर—श्रीमती भगवानदेवी; राणा प्रतापबाग—प० वीरव्रत शास्त्री; लड्डू घाटी—प० रामरूप शर्मा; लाजपत नगर—डा० सुखदयाल भूटानी; विक्रम नगर प० सीसराम भजनोपदेशक; विनय नगर—आचार्य रामशरण मिश्रा शास्त्री; राजौरी गार्डन—डा० रघुनन्दन सिंह; सदर बाजार पहाड़ी धीरज—पं० महेन्द्रप्रताप शास्त्री; सराय रोहेला—पं० धर्मेन्द्रकुमार शास्त्री; सुदर्शन पार्क—प्रो० भारतमित्र शास्त्री, साकेत पं० सत्यभूषण वेदालकार; सोहनगंज—प० केशवचन्द्र मुन्जाल; हौज खास—पं० चन्द्रभानु सि० भू०; शालीमार बाग—पं० सत्यपाल सुधांशु।

—ज्ञानचन्द डोगरा, वेदप्रचार विभाग



चिट्ठी-पत्री

## इतिहास के साथ खिलवाड़

'आर्य सन्देश' के आर्यसमाज स्थापना दिवस विशेषांक मे श्री रामगोपाल शालवाले का एक लेख 'आर्यसमाज: अतीत और वर्तमान' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। उन्होंने इस लेख में दादा भाई नौरोजी और लोकमान्य तिलक की भेंट का उल्लेख किया है। उन्होंने ऐसा ही उल्लेख अपने एक अन्य लेख मे एक बार पहले भी किया था। यह बात बिल्कुल निराधार है। लाला जी मुझे बताया था कि उन्होंने 'सैनिक समाचार' में प्रकाशित एक लेख के आधार पर ऐसा लिखा था। यद्यपि 'सैनिक समाचार' में प्रकाशित होने मात्र से (जब तक कि वह अन्यथा इतिहास से प्रमाणित न हो) किसी बात को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, तथापि घटना का महत्त्व देखते हुए मुझे इसकी खोज करनी आवश्यक जान पड़ी। मैंने 'सैनिक समाचार' के कार्यालय में जाकर उसमे प्रकाशित लेख के लेखक का पता लिया और उनसे मिला और उनकी एतद्विषयक जानकारी का मूल स्रोत पूछा। उन्होंने बडी सरलता से उत्तर दिया—'मैंने तो यू ही लिख दिया था।'

१५ मई, १९७६ के 'धर्मयुग' मे प्रकाशित एक लेख मे कहा गया था कि 'स्वामी दयानन्द ने नाना साहब को संन्यास की दीक्षा देकर उनका नाम दिव्यानन्द स्वामी रख दिया था।' लेखक बड़ोदा के कोई दादूमिया थे। पं० आनन्दप्रिय जी द्वारा पूछताछ करने पर पता चला कि 'लेखक इस विषय मे खोज कर रहे हैं। अभी तो उन्होने बिना किसी प्रमाण के यू ही लिख दिया है।'

'वेदवाणी' मे प्रकाशित एक लेख मे मैंने पढ़ा कि स्वामी दयानन्द के अमृतसर मे कहा था कि 'यदि यहा के लोग मुझे ५० हजार रुपये दे दें तो यहाँ से पहले हवाई जहाज बना कर और उड़ाकर दिखा दूंगा। सम्पर्क किये जाने पर लेखक ने मुझे पत्र द्वारा सूचित किया कि यह बात उन्होंने अपने घर मे सुनी थी।

अभी पिछले दिनो पढ़ने को मिला कि पं० मदनमोहन मालवीय हरिद्वार मे सत्यार्थ प्रकाश बांटते फिरा करते थे। पूछने पर लेखक ने बताया कि उन्होने किसी उपदेशक का भाषण में सुना था। सम्बन्धित उपदेशक महोदय ने कहा कि ऐसी बहुत सी बातें हम अपने भाषण को रोचक और प्रभावशाली बनाने के लिये कह दिया करते हैं।

मेरे पिता' नाम से स्वामी श्रद्धानन्द जी के सम्बन्ध में लिखे अपने संस्करणों में उनके सुपुत्र प० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने सप्रमाण बडे विस्तार से लिखा है कि स्वामी जी का बलिदान शुद्धि के कारण हुआ था और मुसलमानों ने ऐसा अपनी धर्मान्धता की प्रेरणा से और महात्मा गांधी के द्वारा भडकाए जाने पर किया था। किन्तु श्रद्धानन्द बलिदान अर्द्धशताब्दी के अवसर पर आर्यसमाज मे उच्चस्तर पर स्वामी जी के विषय मे जो साहित्य प्रकाशित हुआ कि स्वामी जी की हत्या विदेशी सरकार के इशारे पर की गई थी। उन पुस्तको मे शुद्धि का उल्लेख तक नहीं किया गया। यह सब योजनाबद्ध रूप में जानबूझ कर किया गया।

'योगी का आत्मचरित' तो गप्पो से भरा है।

यदि इसी प्रकार काल्पनिक बातें चलती रही तो रामायण, महाभारत और पुराणों आदि मे वर्णित रामकृष्ण आदि की तरह स्वामी दयानन्द के जीवन चरित्र में भी सच्चाई कम और झूठ का अंश अधिक हो जायेगा। सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने मे सर्वदा उद्यत रहना चाहिए' तथा 'सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार कर करना चाहिए' आदि नियमों पर आधारित आर्य-समाज के विद्वानो तथा नेताओं को बिना पुष्ट प्रमाणों के न कोई बात कहनी चाहिए और न लिखनी।

—विद्यानन्द सरस्वती

आर्यसमाज मन्दिर
माडल टाउन, दिल्ली-९

## दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रकाशन

| | |
|---|---|
| सत्यार्थप्रकाश सन्देश (हिन्दी) | १.०० |
| ,, ,, (अंग्रेजी) | समाप्त |
| आर्य सन्देश-महासम्मेलन विशेषांक | ६.०० |
| पादरी भाग गया—ओम्प्रकाश त्यागी | ०.३० |
| स्वामी श्रद्धानन्द-बलिदान अर्द्ध शताब्दी स्मारिका | ६.०० |
| सत्यार्थप्रकाश शताब्दी समारोह स्मारिका | ६.०० |

सम्पर्क करें—
अधिष्ठाता प्रकाशन विभाग
दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा,
१५, हनुमान रोड,
नई दिल्ली-११०००१

---

卐 'आर्यसन्देश' के स्वयं ग्राहक बनें— दूसरों को बनाएं

卐 आर्यसमाज के सदस्य स्वयं बनें— दूसरों को बनाइए

卐 हिन्दी-संस्कृत भाषा स्वयं पढ़ें दूसरों को भी पढ़ाइए—

# उत्तम स्वास्थ्य के लिए गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, हरिद्वार की औषधियाँ सेवन करें

शाखा कार्यालय : ६३ गली राजा केदारनाथ, चावड़ी बाजार, दिल्ली-६
फोन नं० २६१८३८

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के लिए श्री सरदारी लाल वर्मा द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा भाटिया प्रैस ७२७/१-बी, गुलाबिक गली, गांधीनगर दिल्ली-३१ में मुद्रित। कार्यालय १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली फोन नं० ३१०१५०

ओ३म्

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

# आर्य सन्देश

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा का साप्ताहिक मुखपत्र

एक प्रति ३५ पैसे | वार्षिक १५ रुपये | वर्ष : ४ अंक २९ | रविवार १७ मई १९८१ | दयानन्दाब्द १५६

## आर्यसमाज को हर चुनौती का सामना करना होगा

### जनसम्पर्क से ही समस्याओं का समाधान : जनकपुरी आर्यसमाज के शिलान्यास पर आर्यनेताओं का उद्‌बोधन

नई दिल्ली। 'आलोचक कहते हैं कि आर्यसमाज समाप्त हो गया, वह ढीला हो गया, पर वस्तुस्थिति यह नहीं है। आज बनारस के दिग्गज पण्डित भी मानते हैं कि आर्यसमाज ने सिद्ध पक्ष अपने पास रख लिया, साध्य पक्ष हमारे लिए छोड़ दिया, हम उससे कैसे शास्त्रार्थ करें? आज ईसाई-मुसलमान धन के प्रलोभन से हमारे धर्म और संस्कृति पर खुला आक्रमण कर रहे हैं, हम इस चुनौती का सामना जन-सम्पर्क द्वारा ही कर सकते हैं।'—इन शब्दों में जनकपुरी आर्यसमाज के शिलान्यास के अवसर पर विभिन्न आर्यनेताओं ने आर्यजनता को सचेत किया।

रविवार १० मई के दिन आर्यसमाज पंखा रोड (सी ब्लाक) के मन्दिर की आधारशिला श्री अमर स्वामी जी ने रखी। मन्दिर के लिए डेढ़ लाख रुपए की धनराशि एकत्र हुई। शिलान्यास कार्यक्रम की अध्यक्षता आर्यनेता श्री सोमनाथ एडवोकेट ने की। इस अवसर पर अमर स्वामीजी के अतिरिक्त भू. पू. संसद सदस्य श्री शिवकुमार शास्त्री, दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सरदारीलाल वर्मा, वैद्य पं. ब्रह्मदत्त जी आयुर्वेदालंकार, गाजियाबाद के पं. वीरपाल विद्यालंकार ने सामयिक भाषण दिए।

---

## विश्व में मुसलमानों की गिनती एक अरब

विश्व मुस्लिम गजेटियर के अनुसार इस शताब्दी के अन्त तक संसार के मुसलमानों की संख्या १ अरब से बढ़ जाएगी। १९७४ में विश्व के मुसलमानों की गिनती ८८ करोड़ थी जो कि विश्व की कुल जनसंख्या का २३ प्रतिशत थी। सर्वेक्षण से मालूम हुआ है कि जनसंख्या की दृष्टि से ईसाइयों के बाद मुसलमानों का दूसरा धर्म है। वे विश्व की कुल जनसंख्या का पांचवां भाग है, अधिकांश मुसलमान देशों में २ प्रतिशत जनसंख्या की वृद्धि हो रही है, अधिकतर मुस्लिम देशों ने परिवार-नियोजन कार्यक्रम को स्वीकार नहीं किया है।

सर्वेक्षण से यह भी मालूम हुआ है कि भारत, पाकिस्तान, इण्डोनेशिया, बांगलादेश, चीन, सोवियत संघ और नाइजीरिया में ५० करोड़ मुसलमान निवास करते हैं। इन्डोनेशिया में १४ करोड़, भारत में १३ करोड़, बांगलादेश में ७ करोड़, ६० लाख और पाकिस्तान में ७/१।२ करोड़ मुसलमान निवास करते हैं।

---

## ये आंकड़े क्या कहते हैं?

### करोड़ों आर्य-हिन्दुओं का कर्तव्य

क्या आप जानते हैं सन् १९४७ में जब देश स्वाधीन हुआ था, उस समय भारत मे

- ७० लाख ईसाई थे, जो अब बढ़कर दो करोड़ से अधिक हो गए हैं। अब ये साई और मुसलमान १० करोड़ वनवासियों और पिछड़ी जातियों को विधर्मी बनाना चाहते हैं। भारत का हर तीसरा रोमन कैथोलिक केरल में रहता है। इस समय भारत में ७६ ईसाई देशों में ३७१२ पादरी हैं। विदेशी मुसलमान प्रचारक पृथक हैं।
- संयुक्त राष्ट्रसंघ के एक सर्वेक्षण के अनुसार सन् २००० तक भारत की जनसंख्या कम से कम ९० करोड़ हो जाएगी, उनमे ४० करोड़ हिन्दू, ३५ करोड़ मुसलमान तथा १५ करोड़ ईसाई होंगे। इस प्रकार इस शताब्दी के अन्त तक हिन्दू अल्पमत में हो जाएंगे।
- असम तथा भारत के दूसरे पूर्वोत्तर राज्यो की अनुसूचित जन जातियों में ५१ प्रतिशत लोग ईसाई बन चुके हैं, मणिपुर के चार जिलो मे ८६ प्रतिशत ईसाई हो चुके हैं। केवल एक जिला बचा है। नागालैंड के दो जिलों में ६१ प्रतिशत से ९६ प्रतिशत ईसाई हैं। मेघालय के तीन जिलो में ८६ प्रतिशत ईसाई हैं।
- नागालैंड, मेघालय और मिजोरम मे ईसाइयो का बाहुल्य होने के कारण वहां की राजभाषा अंग्रेजी और मुख्य धर्म ईसाइयत की घोषणा हो चुकी है।
- ईसाई धर्म प्रचार की दृष्टि से भारत को १०७ धर्म प्रान्तों में बांटा गया जिनमे से बहुसंख्यक प्रान्त विदेशी राष्ट्रों के निर्देशन में कार्य करते हैं।
- भारत में ईसाई भिक्षुओं की संख्या प्रति वर्ष दो हजार बढ रही है। इस समय उनकी गिनती ४६००० है।

भारत मे विद्यमान २०० ईसाई प्रचारक प्रशिक्षण केन्द्र प्रतिदिन छह नए मिशनरी तैयार करते हैं।

- प्रत्येक पन्द्रह दिन में एक नई ईसाई संस्था जन्म लेती है
- भारत का दो लाख छः हजार वर्गमील क्षेत्र विदेशी पादरियो के प्रभाव-क्षेत्र में है।
- आद्यशंकराचार्य की जन्मस्थली ईसाईबहुल बन गई है।
- ईसाई मिशनों को लगभग ४०० करोड़ रुपए प्रतिवर्ष प्रचार के लिए विदेशों से आते हैं।

"हुए करोड़ों अपने भाई, गो-भक्षक मुस्लिम ईसाई॥
उन्हें फिर से आर्य बनाओ, ए आर्यवीर गण आओ॥

## प्रमुख आर्यनेता दक्षिण भारत के दौरे पर

### धर्मान्तरित हरिजनों से सम्पर्क करेंगे

दिल्ली : मद्रास के निकट एक गाँव के हरिजनों को जबर्दस्ती मुसलमान बनाए जाने के बाद स्थिति पर विचार करने के लिए आंध्रप्रदेश की राजधानी हैदराबाद में रविवार १० मई के दिन दक्षिण भारतीय आर्य सम्मेलन का आयोजन किया गया। इस सम्मेलन के बाद सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री रामगोपाल शालवाले, सुप्रसिद्ध आर्यनेता श्री पृथ्वीसिंह आजाद, पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री वीरेन्द्र और सार्वदेशिक सभा के मन्त्री श्री ओमप्रकाश त्यागी तिनकाशी जिले के मीनाक्षीपुरम जाएंगे। वे आर्यनेता हरिजनों से सम्पर्क स्थापित कर उनकी समस्याएं सुलझाने का प्रयत्न करेंगे।

सम्पादक—नरेन्द्र विद्यावाचस्पति

# प्रगति के लिए स्वाहा की भावना अपनाइए

उरु विष्णो विक्रम स्वोरु क्षयाय नस्कृधि ।

घृत घृतयोनेपिब प्रप्र यज्ञपति तिर-स्वाहा ।। यजु ५-३८

ऋषि—अगस्त्य. । देवता-विष्णुः ।

छन्द·--भुरिग् आर्षी अनुष्टुप् ।

शब्दार्थ—हे(विष्णु.) व्यापक प्रभो, राजन् गुरो व गृहपते (उरु) प्रभूत मात्रा में (विक्रम स्व) पराक्रम कर और (उरु क्षयाय)महान् निवास व प्रगति के लिए (न.) हमे(कृधि)समर्थ बना । हे (घृतयोने) दीप्तिज्ञान के कारणभूत (घृतं) दीप्ति व ज्ञान का (पिब) पान करा तथा रक्षण कर और (यज्ञपति) यज्ञ भावना से काम करने वाले यजमान को (प्रप्र तिर)प्रकृष्ट भावना के निमित्त प्रकर्ष सहित बढा । (स्वाहा)मैं उत्तम प्रगति के लिए स्वार्थ को त्यागने के लिए मदा उद्यत रहूं, और मधुरवाणी का प्रयोग करू ।

निष्कर्ष—१. उत्तम प्रगतिशील बनने के लिए तथा विस्तृत निवास प्राप्ति के लिए विशेष पराक्रम करना आवश्यक है ।

२ प्राणी घृत (वीर्य) से उत्पन्न होता इसलिए वीर्य की रक्षा करना आवश्यक है । घृत दीप्त और ज्ञान को बढाने वाला है, इसलिए घृत का पान करना चाहिए । घृत-सेवन से शरीर दीप्त होता है और मन मनन करने मे समर्थ होता है ।

३. यज्ञ की भावना से कार्य करने वाले अर्थात बड़ो का आदर करने वाले बराबर वालों के साथ सहयोग करने वाले और अपने से छोटो को सलाह तथा सहा-यता प्रदान करने वालों को परमात्मा तथा राजा और गुरु तथा गृहपति बढाते हैं । उनकी आवश्यकताओं को पूरा करते हैं और आवश्यकता पड़ने पर सहायता करते हैं ।

४. उत्तम प्रगति के लिए स्वार्थ-त्याग आवश्यक है । इसके बिना कुल समाज या राष्ट्र की प्रगति सम्भव नही है । सर्वव्यापक प्रभु से हमारी प्रार्थना है कि वह हमारी उपयुक्त कामना सफल करें ।

विशेष-- इस मन्त्रको ऋषि अगस्त्य का शब्दार्थ सकेत करता है कि यज्ञपति बनने अर्थात् यज्ञ परार्थ (भावना को विकसित करने के लिए आत्म निरीक्षण करके अपने दोषों को दूर करना आवश्यक है । मनुष्य अगस्त्य बन जाए तो यज्ञपति या विष्णु बनना आसान हो जाता है ।

इस मन्त्र के छन्द अनुष्टुप का शब्दार्थ सकेत करता है कि मनुष्य यदि अपने सकल्प के अनुकूल प्रयत्न करने के बाद स्तुति करेगा, तभी उसकी सुनवाई होगी ।

अर्थपोषक प्रमाण—अगस्त्यः अस्तदोषः 'दोषों को फेकने वाला, स्वामी दया० ९-३३-१०

विष्णु — विष्लृ व्याप्तौ विश प्रवेशने । वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् सः—परमेश्वर , राजा, गृहपति., न्यायकारी, गुरु स्वामी दयानन्द विष्णुर्वै यज्ञः । शत० १-१-२-१३ विष्णुर्वै यज्ञस्य दुरित पाति । ऐत० ३-३८

यज्ञपति —यजमानो हि यज्ञपति. । शत० ४-२-२-१० यज्ञपतिम् यज्ञकर्तारं निष्कपट माप्तम्-न्यायपालकम् स्वा० द० घृत-घृक्षरण दीप्तयो. ।

क्षयाय - क्षि निवास गत्योः । स्वाहा-सु+आ+हा(गतौ) स्व+ आ+हा (त्यागे) सु+आह+आ ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि=ब्रूते=आह अष्टाध्यायी ३-४-८४

—मनोहर विद्यालकार

# आर्यसमाज धार्मिक अल्पसंख्यक है

ज्वालापुर । पिछले दिनों यहा त्रैत-वादीय आर्यपीठ हरिद्वार का वार्षिक उत्सव मनाया गया । इस अवसर पर भारत भर से आए आर्यसमाजी बौद्धिकों की तीन गोष्ठियां त्रैतवादीय आर्यपीठ हरिद्वार के तत्वावधान में सर्वश्री सत्य भिक्षु, आर्य भिक्षु जी ट्रस्टी परोपकारिणी सभा के सभापतित्व में हुई ।

बैठकों में व्यापक विचार विमर्श के पश्चात निश्चय किया गया कि त्रैतवादीय दर्शन के अनुसार वैदिक धर्म प्रचलित हिन्दू धर्म से पृथक है, अतः आर्यसमाज को चाहिए कि अपने अस्तित्व को चिरस्थायी बनाने तथा अपनी सुरक्षा, सुविधा एवं राजनीति वर्चस्व प्राप्त करने के लिए स्वयं को हिन्दू राष्ट्र के बृहत क्षेत्र का भाग मानते हुए भी बौद्ध जैन एवं सिख आदि की भांति धार्मिक अल्पसंख्यक घोषित करे ।

उल्लेखनीय है कि उक्त सन्दर्भ में प्रिंसिपल दत्तात्रेय बावले (अजमेर) के सभापतित्व में ११ सदस्यों की एक उप-समिति भी बनाई गई जो इन उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु जनमत तैयार करेगी ।

लोक-चिन्तन

# चिकित्सा राजरोगी की

—डा० विजय द्विवेदी

राम एक बार भृगुवंश में पैदा हुए थे, जब उन्होंने परशु धारण किया था, तब परशुराम कहलाए थे । तब पहले पिता की आज्ञा से माँ का सिर काटा था फिर माँ के आदेश पर इक्कीस बार हैहैय वंशी क्षत्रियों का संहार किया था । इस परशुराम के गुण थे—

('मुख मे वेद, पीठ पर तरकश, कर में कठिन कुठार विमल ।
(शाप और शर दोनो ही थे इस महान ऋषि के सम्बल । (दिनकर)

राम दूसरी बार रघुवंश में पैदा हुए थे,धनुष धारण किया था,मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाए थे । पितु वचन मानकर वन गए थे, राक्षसों का 'राम नाम सत्य है' किया था । यह वह राम थे—

यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मा दिदेवासुरा ।
यत्सत्वादमृषव भाति सैकतं रज्जौ यथाहेभ्रमः ।

तीसरी बार राम यदु वंश में पैदा हुए थे, हल धारण किया था, हलधर बलराम कहलाए थे । महाभारत में वह कौरवों की ओर से लड़े थे, हल में लपेट कर मूसल-प्रहार से अपने विरोधियों का विनाश किया था ।

कलियुग की बीसवी शताब्दी मे राम एक बार फिर अवतरित हुए । इस बार हरिजन वंश में । कांग्रेस धारण किया और जग्गू से जगजीवन राम बनकर पूरे पचास बरस तक सत्ता का सर्वोदय सुख भोगा । इस सुख मे और भी वृद्धि करने की इच्छा हुई तो 'लोकतंत्री' करवट बदल कर 'जनता' के बाबूजी बन गए । वहां जब दाल नहीं गली, तो लौट कर जग्गू घर वापस आ गए । मगर तब तक घर बंट चुका था । घर की मालकिन ने घर की सफाई करके कूड़ा-कचरा बाहर फेंक दिया था । लुटे-पीटे रामजी को वहा भी जगह नही मिली । मालकिन की मर्जी पर इस गदगी को अन्दर नहीं बुलाया गया । फलतः रामजी कूड़े के ढेर पर ही पैर फैलाकर लेट गये । थोड़ी देर तक लोट-पोट करते रहे फिर सन्निपात रोग ग्रस्त होकर चिल्लाने लगे—हरिजनों पर घोर अत्याचार हो रहा है । मुष्टिभर ब्राह्मणो ने पूरे चालीस साल से सत्ता पर अधिकार जमा रखा है । अतः अब फैसला हो जाना चाहिए कि यह देश किसका है ।

लोग समझ नहीं पा रहे हैं कि रामजी को हो क्या गया है? यह जातिप्रेम की नई रामलीला है अथवा स्वार्थसिद्धि का नया महाभारत? सत्ता सुख भोगते समय रामजी को कभी हरिजनों की याद नहीं आई, सत्तायुक्त होते ही उनका जाति-प्रेम अचानक कैसे उमड़ पड़ा ?

लोग जाने या न जाने परन्तु मैं जानता हूं राम जी को क्या हुआ है । दर-असल बात यह है कि राम जी को राजरोग हो गया है । इस रोग की विशेषता यह है कि इसमें आदमी के दिमाग मे सत्ता के कीटाणु घुस जाते हैं, शरीर पर बेहिसाब चर्बी चढ़ जाती है बैंक बैलेंस तोंद की तरह बढ़ जाता है । कुर्सी के अभाव में सारे सुख खाक हो जाते हैं । आदमी-आदमी को जाति धर्म वर्ण सम्प्रदाय में बंटा हुआ दिखाई देने लगता है, आदमी अपने कमीनेपन को भूल जाता है । रामजी इसी राजरोग से पीड़ित हैं । इस रोग का उपचार किसी हकीम वैद्य, अथवा डाक्टर के पास नहीं है इसका इलाज सिर्फ एक ही जगह हो सकता है और वह जगह है आर्यसमाज, डा० हैं महर्षि दयानन्द । स्वामीजी की वैदिक पद्धति के अनुसार निर्मित, रसायन' आर्यसमाज का नियमित सेवन करते रहने से शारीरिक, सामाजिक तथा आत्मिक उन्नति होती है अविद्या से उत्पन्न भ्रम-भेद दूर होते है—दृष्टि स्वच्छ हो जाती है । इससे ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य शूद्र का भेदभाव नहीं पैदा होता । सबकी उन्नति में ही रोगी को अपनी उन्नति नजर आती है ।

अतः कलियुग की बीसवीं सदी के राजरोगी राम अर्थात जगजीवन के राम अथवा जनता के बाबूजी से सादर अनुरोध है कि वह जाति युद्ध का शंखनाद न कर यथा-शीघ्र आर्यसमाज का सेवन करना प्रारम्भ कर दें, क्योंकि यह समाज आदमी को ब्राह्मण शूद्र के रूप में न देख कर केवल आर्य के रूप में देखता है और आर्य वे सभी हैं जिनमें मानवीय गुण, तप, त्याग शील और सद्धर्म है ।

हिन्दी विभागाध्यक्ष, म. पू. च. कालेज, बारिपदा (उड़ीसा)

## प्रभु हमारा कल्याण करें

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति न पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥
ओ३म् स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ साम-१८७५

प्रवृद्ध कीर्तिवाले परमेश्वर हमारे लिए कल्याणकारी हों, सदा पुष्टि करने वाले विश्ववेत्ता परमेश्वर हमारे लिए कल्याणकारी हो, (तार्क्ष्यः) सर्वत्र व्याप्त (अरिष्टनेमि) ब्रह्माण्डचक्र की नेमिरूप परमेश्वर हमारे लिए कल्याणकारी हो, (बृहस्पतिः) बड़ी से बड़ी शक्तियों के स्वामी हमे कल्याण प्रदान करे । वेदज्ञान के अधिष्ठाता परम प्रभु हमारा कल्याण करें ।

## इतिहास सचचाई की नींव पर

'आर्यसंदेश' के २६ अप्रैल के अंक में आर्यसमाज के विद्वान संन्यासी श्री विद्यानन्दजी सरस्वती (आर्यसमाज मन्दिर माडल टाउन, दिल्ली-९) ने आर्यजगत का ध्यान एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न की ओर आकर्षित करते हुए लिखा है—यदि इसी प्रकार काल्पनिक बातें चलती रहीं तो रामायण महाभारत और पुराणों आदि में वर्णित राम-कृष्ण आदि की तरह स्वामी दयानन्द के जीवन चरित्र में सचाई कम और झूठ का अंश अधिक हो जाएगा।' मान्य स्वामी जी ने आर्यसमाज के विद्वानों तथा नेताओं से अनुरोध किया है कि वे बिना किसी पुष्ट प्रमाण के कोई बात न कहें और न लिखें। कई पत्रों में यह सम्वाद छपा था कि स्वामी दयानन्द ने नाना साहब को सन्यास की दीक्षा दी थी। एक पत्र में यह सम्वाद भी छपा था कि अमृतसर में महर्षि दयानन्द ने कहा था कि यदि उन्हें निर्धारित धनराशि मिल जाए तो वह हवाई जहाज बनाकर उड़ा सकते हैं। दोनों ही सम्वाद पुष्ट नहीं हो सके।

पिछले दिनों दिल्ली के एक प्रमुख अंग्रेजी दैनिक पत्र में छपा था कि स्वामी श्रद्धानन्द ने 'रंगीला रसूल' लिखा था। उसके ग्रन्थ के वास्तविक मूल लेखक का पता वर्षों तक नहीं चला, प्रकाशक ने उसे सदा अज्ञात ही रहने दिया और इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने के कारण वह धर्मान्ध मजहबं परस्तों के नापाक षड्यन्त्र के शिकार हो गए। सन्तोष का विषय है कि महर्षि दयानन्द और स्वामी श्रद्धानन्द जी के प्रामाणिक जीवन चरित्र और उनका साहित्य सुरक्षित है। इसके बावजूद इन नेताओं के कर्तृत्व के विषय में बिना किसी पुष्ट प्रमाणों के बहुत-सी बातें कही जाती हैं। प्रामाणिक लेखों, दस्तावेजों, शासकीय गुप्त रिपोर्टों तथा अन्य पुष्ट प्रमाणों के आधार पर इन प्रातः स्मरणीय राष्ट्र निर्माताओं के जीवन के अनमोल तथ्यों की खोज न करते हुए उनके विषय में रहस्य और चमत्कार का वातावरण प्रस्तुत करना वांछनीय नहीं कहा जा सकता।

सचमुच इतिहास के साथ कभी खिलवाड़ नहीं होना चाहिए। एक बंगाली सज्जन ने वर्षों की साधना के बाद ऋषि के जीवन के बहुत से विस्मृत सुनहरे परिच्छेद आर्यजनता के सामने प्रस्तुत किये थे। उनसे महर्षि का जीवन अधिक प्रामाणिक और गरिमापूर्ण हो उठा। अपने प्रातः स्मरणीय आर्यनेताओं का जीवन अनोखा, असम्भव और चमत्कारपूर्ण बातों से गरिमापूर्ण नहीं हो सकेगा। उन्होंने अन्याय, परंपरा कुरीतियों और विषमता से अकेले ही जूझते हुए जो कार्य किया, उसकी विस्मृत एवं अज्ञात कड़ियों को ढूंढकर प्रकाश में लाकर ही हम आर्यसमाज के आधारस्तम्भों के प्रति अपना दायित्व पूर्ण कर सकेंगे।

---

## गोरक्षा : हमारा राष्ट्रीय दायित्व

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री रामगोपाल वानप्रस्थ (शाल-वाले) ने उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह को एक पत्र लिखकर इस कटु तथ्य की सूचना दी है कि हरियाणा से बड़ी गिनती में गौएं सहारनपुर और मुजफ्फरनगर में लाई जाकर काटी जाती हैं और मांस के व्यापारी उस मांस को भैंस का मांस कहकर बेचते हैं। श्री वानप्रस्थ ने अपने पत्र मे यह दुःखद सूचना भी दी है कि उत्तर प्रदेश के दोनों पश्चिमी जिलों सहारनपुर और मुजफ्फरनगर जिलों से हजारों मन गोमांस भैंस का मांस कहकर देश के कलकत्ता, बम्बई आदि बड़े नगरों एवं विदेशों को भेजा जाता है।

यदि उक्त कटु तथ्य ठीक है तो यह अत्यन्त दुःखद विषय है। भारतीय संविधान के अनुसार गोसंवर्द्धन करना केन्द्रीय शासन का दायित्व है। पशुओं का वध रोककर उनकी रक्षा करना संविधान के अनुसार प्रदेशों के अधिकार क्षेत्र में अन्तर्हित है। हरियाणा और उत्तरप्रदेश दोनों ही प्रदेशों ने कानून बनाकर अपने क्षेत्रों मे गोवंश की हत्या पर प्रतिबन्ध लगाया हुआ है। दोनों प्रदेशों के प्रतिबन्धक कानून की उपेक्षा करते हुए मांस के व्यापारी बड़ी गिनती मे गौएं हरियाणा से उत्तरप्रदेश के जिलों में ला रहे हैं और उनकी हत्या कर उनका मांस भैंस के मांस के रूप मे स्थानीय बिक्री कर रहे हैं और उसे वे बड़े नगरों तथा विदेशों को भी निर्यात कर रहे हैं। इस कार्य की मिली भगत मे दोनों प्रदेशों के सीमा रक्षक, नगर के स्वास्थ्य अधिकारी सभी सम्मिलित हैं। सबकी मिली भगत के बिना यह जघन्य कार्य यह निन्दनीय व्यापार चल ही नहीं सकता।

महर्षि दयानन्द ने 'गोकरुणानिधि' ग्रन्थ लिखकर तथा लाखों देशवासियों के हस्ताक्षरों से स्मरण पत्र लिखवाकर तत्कालीन ब्रिटिश सरकार से गोवध की हत्या पर प्रतिबन्ध लगाने की मांग की थी। पिछली एक शताब्दी से अधिक समय से आर्यसमाज अपने कार्यक्रमों में गोरक्षा को अपना पवित्र दायित्व समझता रहा है। इस सम्बन्ध में समय-समय पर हुए गोरक्षा-आंदोलनों मे भी आर्यसमाज की उल्लेखनीय भूमिका रही है। देश की बहुसंख्यक धर्मप्राण हिन्दू-आर्य जनता गोरक्षा का सिद्धान्त स्वीकार करती है। राष्ट्र के आर्थिक, सांस्कृतिक, और धार्मिक जीवन में गोवंश की बड़ी महत्ता है। पिछले वर्षों में चमड़े तथा पशुमांस के लिए जिस प्रकार गोवंश की भीषण क्षति की जा रही है, यदि उस सम्बन्ध मे भारत सरकार और प्रादेशिक सरकारें सावधान और कृतसंकल्प होकर अपना राष्ट्रीय दायित्व नहीं निबाहेंगी और गोवंश का संहार इसी प्रकार प्रचलित रहने देंगी, तो कुछ ही वर्षों मे देश मे अच्छी गायों का मिलना असम्भव नहीं तो दूभर अवश्य हो जाएगा।

—०—

### चिट्ठी-पत्री

## इतिहास के साथ खिलवाड़

आर्यसंदेश के २६ अप्रैल के अंक में स्वामी विद्यानन्द सरस्वती का इतिहासके साथ खिलवाड पढ़ा। वस्तुस्थिति यही है जो स्वामीजी ने वर्णित की है। आर्यसमाज के विद्वानों में इतिहास की खोज तथा अन्वेषण की प्रवृत्ति समाप्त हो चुकी है। हम भी पुराणकारों की भांति स्वामी दयानन्द जी के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की अतिरंजित बातों को उछालने में लगे हैं जिनसे स्वामीजी के व्यक्तित्व पर अलौकिकता का आवरण चढ़ जाय। १५ मई १९७६ को धर्मयुग मे प्रकाशित दादूमियां के लेख को लेकर जो चर्चायें चली उनकी वास्तविकता को जानने के लिए मैं सार्वदेशिक सभा के आदेशानुसार दिसम्बर, १९७६ मे स्वयं बड़ौदा जाकर दादू मियां से मिला था जो वस्तुतः डॉ० दामोदर नेने हैं किन्तु दादूमियां के छद्म नाम से लेखन कार्य करते हैं उन्होंने मुझसे स्पष्ट कहा कि स्वामी दयानन्द और नाना साहब के बारे मे मैंने जो कुछ बातें अपने लेख में लिखी हैं वे योगी के आत्म चरित्र नामक पुस्तक पर आधारित हैं। जब मैंने योगी के आत्म-चरित्र की अविश्वसनीयता सिद्ध की तब उन्होंने मेरे कथन को सही माना। मेरी उनसे एतद् विषयक वार्ता टेपरेकार्ड कर ली गई है।

निवेदन है कि आर्यसमाज में इतिहास विषयक संचेतना को पुनः जाग्रत करना आवश्यक है अन्यथा पं० लेखराम, देवेन्द्र बाबू, पं० घासीराम, प० भगवद्दत्त, प० युधिष्ठिर मीमांसक तथा प० महेश प्रसाद मौलवी आदि ऋषि जीवन पर नानाविध अनुसंधान करने वाले इतिहासज्ञों का श्रम व्यर्थ जायगा और स्वामी दयानन्द की जीवनी भी एक पुराण का रूप धारण कर लेगी। इस विषय पर मैं स्वयं विस्तृत रूप से आपकी सेवा में एक लेख भेजूंगा।

—डा० भवानीलाल भारतीय
दयानन्द पीठ, पंजाब विश्वविद्यालय,
चंडीगढ़

# राष्ट्ररक्षा और सेना

प्रत्येक राज्य का कर्तव्य है राष्ट्र की रक्षा। इसे राजा ब्रह्मचर्य और तप से पूर्ण करता है। कहा भी है :

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
(अथर्व ११।५।१७)

इस मत्र मे उससे सयमशील और श्रमी जीवन की अपेक्षा है, तभी सारी प्रजा अपने जीवन में उसकी नकल करती है। 'यथा राजा तथा प्रजा'। राजा ही रहन-सहन की प्रणाली का प्रस्तुतकर्ता भी है। राष्ट्र की रक्षा आन्तरिक और बाहरी दो प्रकार के शत्रुसे अपेक्षित है।

(१) आभ्यन्तरीय शत्रु से राष्ट्र-रक्षा :

यजु० ६।१ मे राजा से प्रतिज्ञा कराई है :

इदमहं रक्षसा ग्रीवो अपिवृन्तामि।।

मैं राष्ट्र मे विद्यमान विनाशक व्यक्तियो की राष्ट्र रक्षा हेतु गर्दन तक काट सकता हूं।

अपहता असुरा रक्षांसि वेदिषद:। (यजु. २।२९)

राक्षस वृत्ति के व्यक्ति निश्चय ही उन्मूलन के योग्य हैं। राष्ट्र में प्रस्तुत पंचमार्गियों फिफ्थ कालमिस्ट का उच्छेद भी राजा का पावन पुनीत कर्तव्य है कहा है कि :

ये रुमाणि प्रतिसंचमाना असुरा: अन्त स्ववया चरन्ति।
परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टांल्लोकात्प्रणुदात्यस्मात् ।।
(यजु० २।३०)

(जो अन्दर से आसुरी तथा ऊपर से अपने रूप को छिपाए हुए हैं राष्ट्र की अग्नि उन्हें विनष्ट कर दे।)

योऽस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्वेषते जन।

निन्दाद्योऽस्मान् धिप्साच्च सर्वं तं भस्मसा कुरु।
यजु० (११।८०)

जो जन (राष्ट्र का नागरिक होता हुआ भी) राष्ट्र से मन में शत्रुता रखे, द्वेष करे निन्दक ही बना रहे, दम्भ दिखावे या छल करे उसे तो सम्पूर्ण रूप से भस्म कर देना चाहिए। उपर्युक्त ये सब कार्य सेना की अपेक्षा रखते हैं।

(२)बाह्य शत्रु से राष्ट्र रक्षा : क) डिप्लोमेसी द्वारा राज्य का परम पावन पुनीत कर्तव्य है कि अपने को स्थिर रखे। तथा बाहरी शत्रुओं से अपनी रक्षा करे प्राय: पड़ोसी राष्ट्र शत्रु होता है और पड़ोसी पर गृद्ध दृष्टि लगाए रखता है। अत:एव पड़ोसी के उस पार के पड़ोसी से मित्रता रखनी चाहिए। बराबर की शक्ति वाले पड़ोसी तथा अपने बीच में एक तटस्थ न्युट्रल बफर स्टेट बनाए रखना बुद्धिमता होती है। तोभी जब दो राष्ट्रों के सम्बन्धों में दरार पड़ जाती है तो यह सर्वसम्मत है कि वे उसे परस्पर वार्ता द्वैत या तृतीय पक्ष की विद्यमानता या मध्यस्थता अथवा पंच निर्णय के माध्यम सुलझा लें। अधुना संयुक्त राष्ट्र संघ अथवा अर्न्तराष्ट्रीय न्यायालय मे समस्यायें सुलझाई जा सकती हैं। पर ये संस्थान सहमति मे ही कार्य करते हैं, सब राष्ट्रों पर एक महाराष्ट्र बनना असम्भव है। महाराष्ट्र तो ईश्वर का ही बन सकता है। सयुक्त राष्ट्र में तो भारी पलड़े वाले दल का अपनी ओर होना आवश्यक है, तभी उसका संरक्षण मिल सकता है।

(ख)सैन्य शक्ति से-पर संयुक्त राष्ट्र की व्यवस्था है कि उनके द्वारा सहायता पहुंचाना असम्भव हो सकता है अथवा उसमें देरी हो सकती है। ऐसी अवस्था में हर राष्ट्र को उचित है कि अकेले अथवा अपने मित्र राष्ट्रों सहित आक्रामक का सेना से मुकाबला करें।

यो नो अग्ने भिदासत्यन्ति दूरं पदीष्ट स:।

अस्माकमिद्‌वृधे भव ।। (ऋग्वेद-१।७९।११)

हे (अग्ने)तेजस्वी सेनापति! (य:) जो (अतिदूरे) पास अथवा दूर से (न:अभिदासति) हमें दास करने की इच्छा करता है। (स प्रदोष्ट) वह नीचे गिर जाए। हे देव! तू (अस्माकं वृधे)हमारी वृद्धि के लिए हो।

दास अथवा नाश करने वाले जो होंगे, वे आक्रामक सब शत्रु नष्ट करने योग्य हैं। हां स्वय नहीं होना चाहिए। जब एक पक्ष को अपनी बात में निष्ठा हो जाती है,वह ही उसका महान ध्येय हो जाता है और उस उद्‌देश्य के हेतु किया जाने वाला युद्ध धर्मयुद्ध कहाता है। स्वभावत: कोई युद्ध धर्मयुद्ध नहीं होता। महाभारत युद्ध में राज्य पर धृतराष्ट्र का बड़े होने से स्वाभाविक अधिकार था। उनके पुत्र होने से कौरव ही राज्य के वध उत्तराधिकारी थे, परन्तु कृष्णजी पांडव पक्ष को उचित समझते थे और जब अर्जुन रक्त की होली खेलने में झिझका तो कृष्णजी ने कहा—

सुखिना पार्थ क्षत्रिया: स्वर्ग द्वारस्मीदृशमपावृत्तं।

(क्षत्रिय भाग्यशाली है कि युद्ध में मर कर उसे स्वर्ग बिना तपस्या के सहज में ही मिल जाता है।)

तस्मात्त्वत्तिस्ठ कौन्तेय। युद्धायकृतनिश्चय।

इसलिए अर्जुन युद्ध करने का निश्चय करके उठ खड़े हो।

अस्तु अपने स्वत्व की रक्षा के लिए युद्ध करना अनिवार्य हो जाता है।

हीगेल ने कहा था कि युद्ध राष्ट्रों का व्यायाम भी है जिसमें शक्तिशाली उभरता है और मनुष्य उत्कृष्टतम त्याग करने को उद्‌यत होता है और विधना ने जिस राष्ट्र को विश्व का नेतृत्व सौंपना होता है उसे वह विजयी बनाता है। यहां तक आप हीगल से सहमत न हों पर मनुष्यों में जब तक मोह व अन्याय है वह राष्ट्रीय नीतियों में परिलक्षित होगा और अन्याय के शमन के लिए दूसरे राष्ट्रों को शस्त्र उठाना ही होगा। अस्तु वेद में युद्ध में विजय का आह्वान है ही—

प्राचीमारोह। दक्षिणामारोह। प्रतीच्योमारोह।

उदीचीमारोह। ऊर्ध्वमारोह। प्रत्यस्तं नमुचे: शिर: ।।
(यजु० १०।१०।१६ तक)

---

लेखक :
डा० रामेश्वरदयाल गुप्त
अध्यक्ष त्रैतवादीय आर्यपीठ

---

सब दिशाओं मे आरोह कर के सेना स्थायी नियुक्त करके शत्रुओं को नतमस्तक करती है इसके लिए आयुध चाहिएं। वास्तव में देखा जाए तो युद्धों में उपयुक्त आयुधों से पिछड़ापन ही भारत की परतन्त्रता का मूल कारण रहा है। जब आक्रान्ता घोड़े प्रयोग करने लगे थे, तो हमारे पास हाथी ही थे। जब वे बारूद और बन्दूक का प्रयोग करते हैं, तब हमारे पास भाले और तीर कमान ही थे। जब हमारे पास बन्दूक आई, तब आक्रान्ताओं के पास भीषण बम थे। और हमारे पास साधारण बम हैं तो हमारे शत्रुओं के पास परमाणु बम तथा राकेट हैं। हा हन्त! हम सदा परास्त हो जाने के बाद ही उन्नततर आयुधों को प्राप्त करते हैं। जून १९७४ में हमारा भी अणु विस्फोट हो चुका है, इसलिए युद्ध और विजयश्री का चिन्तन वेद का सदैव उद्‌घोषित रहा है।

(३) वैदिक उद्धरण—

वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमंशमुदवा भरे भरे।

अस्मभ्यमिन्द्रवरिवः सुगंकृधि शत्रूणां मघवन् वृष्ण्या रुज ।।

ऋग्वेद मंडल। सूक्त १०२ मंत्र ४

१. ऐ इन्द्र (राज्यशक्ति) मघवन्। त्वा युजा वयं जयेम।

आपके साथ वर्तमान, आपके सहाय से हम लोग दुष्ट शत्रुओं को जीतें।

२. आयुधा — तू हमारे बल के बढ़े।

३. भरे भरे अस्माकमंशमुदवा — युद्ध-युद्ध में हमारे अंग (बल-सेना) का उत्कृष्ट रीति से कृपा करके रक्षण करो। युद्ध में हमें विजयश्री दिलवाओ।

४. शत्रुणाम् वृष्ण्या प्रुज—हमारे शत्रुओं के पराक्रमादि को प्रभावहीन करके नष्ट कर दे। शत्रु का मनोबल नष्ट कर दे।

५. अस्मभ्यं वरिव: सुगं कृधि—हमारे लिए चक्रवर्ती राज्य और साम्राज्य धन को सुख से प्राप्त करा।

(आर्याभिविनय में स्वा. दयानन्द भाष्य से)

शत्रु का पराभव करना चाहिए।

यो नो दास आर्यो वा पुरुष्टुतादेव
इन्द्र युधेय निकेतति।
अस्माभिष्टे सुमहा: सन्तु शत्रवस्त्वया वयं तान्वनुयाम संगमे ।।

हे (पुरुष्टुत) प्रशंसित (इन्द्र) राज्यशक्ति! (अदेव:) राक्षसी स्वभाव वाला दुष्ट (न: युध्यं) हमारे साथ युद्ध करना (निकेतति) चाहता है, (तेशत्रव:) ये सब शत्रु (अस्माभि:) हमारे द्वारा (सुसहा: सन्तु) पराजित हों, और हम (त्वया) तेरे साथ रहकर (संग्रमे) युद्ध में (अनुयाम) विजय प्राप्त करेंगे। (सातव लेकर भाष्य से)

मूढा अमित्रा न्यर्बुदे जहयेषां वरं वरम्।

अनया जहि सेनया ।। (११।१०।२१)

हे (न्युर्बुदे) वीरो (अमित्रो:) शत्रुओं को (मूढा:) मूर्ख बनाओ। (एषां) इनके वरं वर) मुखियाओ को (जहि) मारो। (अनया) इस (सेनया) सैन्य से (जहि) शत्रु को मार दे।

युद्ध के विषय में प्राय: यह धारणा है कि उसका रक्त-पिपासु पहलू क्रूर एवं अवैध है। वास्तव में युद्ध के बाद लम्बे समय तक के लिए शान्ति खरीदी जाती है। युद्धों में जन-धन की हानि होती है, पर वे अंचलों में एक स्थिरता ला देते हैं जो कि दो या तीन या अधिक पीढ़ियों तक चलती है। मरे हुए मनुष्यों की संख्या वह मूल्य है जो अंचल अनेक पीढ़ियों की शान्ति के लिये चुकाता है। यूरोप में १७६५ ई० से १९१८ ई० तक लगभग डेढ़ सौ वर्षों में ७ मुख्य महायुद्ध हुए हैं। इनमें युद्धआहतों तथा मृतकों की संख्या इस प्रकार रही है :—

युद्धाहत तथा मृतकों की संख्या—

(१) सप्तवर्षीय युद्ध १७६५ ई० से १७७२ ई०=३०५४०० (आस्ट्रियन एवं प्रुशियन)

(२) नेपोलियन के युद्ध (१७७३-१८१५)=४५८६३

(३) नेपोलियन के रूस से युद्ध १८१२)=५५५०००

(४) रूस और टर्की के युद्ध १८२४ ई०=६७५२९

(शेष पृष्ठ [illegible] पर)

# युग की मांग है कि हिन्दू एक और सतर्क हों

**विश्व हिन्दू धर्म सम्मेलन में नेपाल नरेश की सलाह : आर्य कार्यकर्ताओं ने सम्मेलन में भाग लिया**

वीरगंज (नेपाल)। धर्मनगर, पीपरामठ वीरगंज (नेपाल) में सम्पन्न हुए विश्व हिन्दू सम्मेलन में आयरलैन्ड, जावा, अमेरिका, गायना, लंका आदि देशों के प्रतिनिधि तथा भारत के विभिन्न स्थानों के बौद्ध, जैन, सिख, पारसी आर्यसमाजी तथा हिन्दूधर्म के साधु सन्यासी और गृहस्थ उपस्थित थे। पीपरामठ में बने धर्म-नगर के विभिन्न द्वारों पर हिन्दुओं के सभी सम्प्रदायों के झंडों के साथ बड़ी संख्या में राजकीय झण्डे फहरा रहे थे। सभामंच के पास राजकीय झण्डे के साथ ही वैदिक ओ३म् की पताकाएं लहरा रही थीं जिन पर लिखा हुआ वेद की ज्योति जलती रहेगी।

उद्घाटन भाषण देते हुए नेपाल नरेश ने हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों की एकता पर बल दिया। उन्होंने कहा— युग की मांग है कि हम सतर्क रहें। सम्मेलन में गौ, ओ३म् और स्वस्तिक चिह्न युक्त प्रतीक रखे हुए थे। चम्पारण जिला आर्यसभा और आर्यसमाज रक्सौल की तरफ से धर्म नगर मे आर्यसमाज का शिविर लगा हुआ था। इस शिविर में उत्तर बिहार और चम्पारण जिले की आर्यसमाजों के अधिकारी और सदस्य अपने-अपने परिवारोंके साथ आए हुए थे। गोरक्षा, शिक्षा, संस्कृत विषयक सम्मेलनों में चम्पारण जिला आर्यसभा के अधिकारियों और विद्वानों ने अपने विचार प्रगट किए। इस अवसर पर आमन्त्रित विद्वानों और नेपाल नरेश के सम्मुख आर्यसमाज का दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के लिए किसी विख्यात आर्य विद्वान् की अनुपस्थित खटकती रही।

—बी० के० शास्त्री

---

## युवक शारीरिक-आत्मिक दृष्टि से सक्षम बनें

**केन्द्रीय आर्य युवक परिषद् द्वारा आर्य युवक प्रशिक्षण शिविर**

दिल्ली। केन्द्रीय आर्य युवक परिषद दिल्ली प्रदेश के महामन्त्री श्री अनिल कुमार आर्य ने एक परिपत्र द्वारा प्रदेश के युवकों को सचेत किया है—आज देश विषम परिस्थिति से गुजर रहा है। अनेक समस्याएं देश की एकता को चुनौती दे रही हैं। देश की इन भीषण परिस्थितियो में युवकों को शारीरिक और आत्मिक दृष्टि से सक्षम करने के उद्देश्य से केन्द्रीय आर्य युवक परिषद् २१ से ३१ मई तक हंसराज माडल स्कूल, पंजाबी बाग मे आर्य युवक प्रशिक्षण शिविर आयोजित कर रही है।

श्री आर्य ने आर्यसमाज के पदाधिकारियों से अनुरोध किया है कि अपने क्षेत्र से कम से कम दो युवक शिविर मे भाग लेने के हेतु अवश्य तैयार करें। असमर्थ शिविरार्थियो का शुल्क सम्बन्धित समाजें वहन करें। एक शिविर मे भाग लेने वाले युवक को ३० रुपए शिविर-शुल्क देना होगा। इस सम्बन्ध मे आर्यसमाज मन्दिर कबीर बस्ती, पुरानी सब्जी मण्डी, दिल्ली-७ से सम्पर्क किया जा सकता है।

---

## मुरादाबाद नगर की तलाशी ली जाए

**अवैध हथियार रखने वाले पकड़े जाएं**

मुरादाबाद। मुरादाबाद की हिन्दू रक्षा-समिति ने प्रधानमंत्री से मांग की है कि वे व्यक्तिगत रुचि लेकर मुरादाबाद की स्थिति संभालें और यहां की शांति भंग न होने दें। समिति के प्रवक्ता ने बताया कि पिछले दिनों भारी मात्रा में हथियारों का पकड़ा जाना इस बात का प्रबल प्रमाण है कि मुस्लिम वर्ग के पास हथियारों का भण्डार है, जिनका प्रयोग अराजक तत्त्व करेंगे।

समिति ने सुझाव दिया है कि तीन दिन के लिए उचित साधन अपनाकर सारे नगर की तलाशी ली जाए और जिनके पास हथियार मिलें, उन्हें कड़ा दण्ड दिया जाए।

---

### नेपाल में वैदिक धर्म का प्रचार

ग्राम फहिजनूवा (नेपाल) तराई के जिला-प्रचारक पं० भगवान शर्मा, पं० राधाकान्त द्विवेदी ने अपने दल के साथ [illegible] वैदिक धर्म का प्रचार किया। ६ व्यक्तियों ने यज्ञोपवीत धारण किए तथा मांस-मदिरा त्याग करने का व्रत लिया। इन दिनों हजारों लोगों ने इन उपदेशों को सुनकर आर्यसमाज के कार्यों में अपनी दिलचस्पी प्रकट की।

---

# मानवता की पुकार : धार्मिक संस्थाओं का दायित्व

—आनन्द मोहन

अत्यधिक विषमता बुराई का मूल है। अत्यधिक संपत्ति ही अथवा अत्यधिक निर्धनता दोनों से ही बुराई उत्पन्न होती है। जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं भोजन, कपड़ा, मकान और शिक्षा के पूर्ण न होने से दुराचार, आलस्य कामचोरी, अनैतिकता और अपराधों की उत्पत्ति होती है। ऐसी हालत में समाज न तो सुखी रह सकता है न उन्नति कर सकता है। और जहां मूलभूत सुविधायें नहीं मिलतीं और लोग छोटी-छोटी चिन्ताओं ही मे घुल रहे हों या सड़-गल रहे हो तो वहां आध्यात्मिकता का चिन्तन संभव नही।

इस समय प्राथमिक काम जो सामने है वह है जनता की मूलभूत आवश्यकतायें भोजन, कपडा मकान व शिक्षा को पूरा करना।

भोजन, कपड़ा व मकान की कमी की पूर्ति के लिए गांवों में स्थानीय ग्रामीणों द्वारा चलने वाले छोटे-छोटे व्यवसायों का खुलना नितान्त आवश्यक है इस पुण्य कार्य में सरकार, सार्वजनिक संस्थाओं, उद्योगपतियों तथा बुद्धिजीवियों सब को कंधे से कंधा मिलाकर कार्य करना चाहिए।

शिक्षा-साक्षरता और औद्योगिक दोनों ही प्रकार की होनी चाहिए। इस क्षेत्र में खास तौर से साक्षरता को बढ़ाने में सरकार और उद्योगपतियों के अतिरिक्त धार्मिक संस्थायें भी बहुत योगदान कर सकती हैं। अगर हरेक मन्दिर, आर्य-समाज, गुरुद्वारा, मसजिद तथा चर्च में पूजा पाठ के साथ-साथ वहाँ के पुरोहित तथा अन्य कार्यकर्ताओं द्वारा साक्षरता के लिए विद्याभवन चलाए जाएं और जहां अक्षर ज्ञान के साथ-साथ नैतिक शिक्षा भी दी जाए तो देश में कितनी प्रगति हो सकती है। धार्मिक संस्थायें मानवता की पुकार को सुनकर जब इस तरह समाज के हित में लगेंगी, तभी वे मानव को निर्मल कर सकेंगी तथा शान्ति या सिद्धि दे सकेंगी।

२८, आनन्दलोक नई दिल्ली-११००४९

---

### मेवात में हिंदू रक्षा सम्मेलन

नूह। दिल्ली से तीस मील दूर मेवात के विभिन्न नगरों से आए प्रतिनिधियों की एक बैठक स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती की अध्यक्षता में हुई। बैठक में निश्चय किया गया कि मेवात के किसी स्थान में जून माह में, क्षेत्रीय हिन्दू रक्षा सम्मेलन आयोजित किया जाए। मेवात में बाहर से आए मुस्लिम-मुल्लाओं की गतिविधियां इन दिनो बढ़ जाने से क्षेत्र में आतंक पैदा हो रहा है। इस पर हिन्दू नेता प्रो. रामसिंह व महात्मा वेदभिक्षु ने मेवात का दौरा किया और यहां बैठक मे भाग लिया।

---

## श्री स्वामी ओमानन्द सरस्वती दुर्घटनाग्रस्त

कन्या गुरुकुल दाधिमा (राजस्थान) के उत्सव से आर्यसमाज होली मुहल्ला करनाल के उत्सव पर जाते हुये १० मई की रात्रि को श्री स्वामी ओमानन्द जी की जीपगाड़ी डीघल ग्राम (रोहतक) के निकट दुर्घटनाग्रस्त हो गई। गाड़ी की टायरायड टूटने से स्टीयरिंग फेल हो गया और जीप काबू से बाहर होकर पानी से भरे जोहड़ में जा घुसी। स्वामी जी के सिर, दोनों हाथ और पैर पर चोट आई है। जीपगाड़ी बिल्कुल टूट चुकी है।

अतः सभी आर्यसमाज और आर्य-शिक्षण-संस्थाओं से निवेदन है कि कोई सज्जन स्वामी जी को उत्सव आदि का निमन्त्रण न दें। स्वस्थ होने के पश्चात् भी स्वामी जी गाड़ी के अभाव मे कहीं नहीं जा सकेंगे। ईश्वर करे श्री स्वामी जी शीघ्र स्वस्थ हों।

विरजानन्द
कन्या गुरुकुल नरेला
दिल्ली—४
फोन—८९३४०

---

## करौलबाग समाज आर्यमहासम्मेलन

नई दिल्ली। आर्यसमाज करौलबाग का ५२ वां वार्षिकोत्सव म. धर्मपाल जी, प्रधान केन्द्रीय आर्यसभा की अध्यक्षता में समारोहपूर्वक मनाया गया। रविवार, १० मई के दिन आयोजित आर्यमहासम्मेलन की अध्यक्षता श्री महाशयजी ने की। सुश्री सविता बहन, खुशीराम जी, सोमप्रकाश जी शास्त्री आदि ने राष्ट्र की ज्वलन्त समस्याओं की ओर ध्यान खींचते हुए इस समय एकता पर विशेष बल दिया। सभी कार्यक्रमों का संयोजन आचार्य पं. हरिदेव जी शास्त्री ने किया।

# आर्य जगत् समाचार

## भारत का नक्शा बदलने का प्रयास

### आर्य नेताओं की चेतावनी

दिल्ली । आर्यसमाज दीवानहाल द्वारा आयोजित एक सार्वजनिक सभा में सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री श्री ओम्प्रकाश त्यागी ने कहा—१९७३ से भारत के नक्शे को बदलने की पूरी कोशिश की जा रही है। पहले ईसाई इस काम मे लगे थे, अब मध्यपूर्व के मुसलमान अरब लोग।

प्रसिद्ध हरिजन नेता श्री पृथ्वीसिंह आजाद ने कहा—स्वतन्त्रता से पूर्व हरिजनो को मुसलमानों बनाने का षड़यंत्र रचा गया था। उस समय म० गांधी ने मुझे बुलाकर कहा था—'हरिजनों का धर्म-परिवर्तन रोका जाए।' मैंने आर्यसमाज की सहायता से एक भी हरिजन को मुसलमान नहीं होने दिया, अब अरब देशो द्वारा भारत के इस्लामीकरण और हरिजनों को मुसलमान बनाने की योजना चली है, इस अवसर पर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के आह्वान पर मैं पुनः इस कार्य को रोकने के लिए तत्पर हुआ हूं।

---

## छोटे मुस्लिम डिवीजन की स्थापना अनुचित

### शासन की उर्दू सम्बन्धी नीति अनुचित —श्री कैलाशनाथ सिंह

लखनऊ। उत्तरप्रदेश के भूतपूर्व शिक्षा मंत्री एवं उत्तरप्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा के महामंत्री श्री कैलाशनाथ सिंह ने उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह को एक पत्र लिखकर चेतावनी दी है कि उत्तरप्रदेश में उर्दू को दूसरी राजभाषा बनाना अवैधानिक एवं अन्याय पूर्ण है। इतना ही नहीं सम्प्रति १२ जिलों को विशेष रूप से उर्दू भाषी घोषित करना तथा अरब देशो के धन से मुरादाबाद तथा वाराणसी आदि स्थानों में मुस्लिम विश्वविद्यालय खोलना, मुरादाबाद, बरेली, रामपुर आदि मुस्लिम-बहुल जिलों को आबादी के लिहाज से कानून और व्यवस्था की आड़ में एक डिवीजन बनाकर छोटे मुस्लिम प्रदेश बनाने की योजना की पेशकश करने जैसे कार्य अनुचित, राष्ट्रीयता के विरुद्ध तथा करोड़ो भारतीयों की भावनाओ के साथ खिलवाड़ है।

श्री कैलाशनाथ सिंह ने पत्र में अनुरोध किया है कि वह उर्दू सम्बन्धी तथा मद्य निषेध सम्बन्धी अपनी नीति पर पुनर्विचार कर जनमानस को विक्षुब्ध होने से बचाए, अन्यथा आर्यसमाज को बाध्य होकर आन्दोलनात्मक कदम उठाने पड़ेंगे।

—०—

## गुरुकुल के उज्ज्वल भविष्य की कामना

### विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के श्री बालकृष्णन द्वारा गुरुकुल कांगड़ी का निरीक्षण

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के उप-सचिव श्री एम० पी० बालकृष्णन ने २८ अप्रैल के दिन गुरुकुल के समस्त विभाग देखे। पुस्तकालय, संग्रहालय, विज्ञान महाविद्यालय, वेद महाविद्यालय, कृषि फार्म, विद्यालय, व्यायाम शाला, गोशाला आदि देखकर उन्होंने कहा कि उनके मन में गुरुकुल के प्रति जो धारणा थी उसमे उसकी वर्त्तमान स्थिति देखकर काफी परिवर्तन आया है। उनका विचार है कि संस्था में प्रगति के लिए पर्याप्त मात्रा में क्षमता है और गुरुकुल के उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हैं। कृषि भूमि को देखकर उनके विचार थे कि यदि हम कोई आहार योजना बना सकें तो उचित रहेगा। उन्होंने श्री बलभद्रकुमार जी हूजा, कुलपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की काफी सराहना की।

---

## हिन्दू युवती की रक्षा

कानपुर। केन्द्रीय आर्यसभा के प्रधान तथा आर्य नेता श्री देवीदास आर्य ने गोबिन्द पुरी स्टेशन के निकट एक सत्रह वर्षीय युवती मोती को गुण्डों के चुंगल से छुडाकर थाना गोविन्द नगर पुलिस के सुपुर्द कर दिया। जिला बांसवाड़ा के ग्राम सरोपन की यह ब्राह्मणी युवती घर से नाराज होकर आगरा की एक वेश्या के चक्कर में पड़ गई थी। समय पर सचेत होने पर वह आगरा के नारी निकेतन पहुची। वहां से कुछ दिन के बाद कुछ लडकियां निकाल दी गईं उनमें तीन लडकियां कानपुर चली आईं उनमें दो तो गुण्डों के चंगुल में फंस गईं। श्री आर्य ने युवती मोती की सूचना उसके माता-पिता और ससुराल वालों को भेज दी है।

### श्री रामवक्षलाल जी का स्वर्गवास

बेतिया। चम्पारण-बेतिया-बिहार के आर्य नेता एवं सार्वदेशिक सभा के अन्तरग सदस्य श्री रामवक्षलाल जी का देहावसान ९ अप्रैल को हो गया। २२ अप्रैल को उनकी स्मृति में आयोजित शान्ति-यज्ञ के अवसर पर दरिद्रनारायण को भोजन-वस्त्र दिया गया।

—०—

### गायत्री महायज्ञ

ग्राम सपही थाना तुरकोलिया पू० चम्पारण में ३ दिन तक गायत्री महायज्ञ में हजारों का जनसमूह एकत्र हुआ। भजनों और उपदेशों का कार्यक्रम भी अच्छा रहा।

---

## पाणिनि कन्या महाविद्यालय का वार्षिकोत्सव

### कन्याएं विशिष्ट प्रतियोगिताओं में भाग लेंगी

वाराणसी। पाणिनि कन्या महाविद्यालय वाराणसी का दसवां वार्षिकोत्सव शुक्र, शनि, रवि २२, २३ और २४ मई को मनाया जाएगा। इस अवसर पर पटना के आचार्य पं० रामानन्द शास्त्री, दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय के आचार्य पं० सत्यप्रिय, भू० पू० चिकित्सा-स्वास्थ्य अधिकारी राजस्थान सत्यदेव आर्य, अजमेर के संगीताचार्य पं० पन्नालाल पीयूष, अलीगढ़ के संगीतज्ञ कुंवर भद्रपाल, आकाशवाणी के कलाकार पं० ओम्प्रकाश आदि विद्वान् एवं संगीत-महारथी पधारेंगे।

इस अवसर पर महाविद्यालय की कन्याएं लयताल बद्ध वाद्ययन्त्रों के साथ वेदमन्त्र प्रस्तुत करेंगी। अष्टाध्यायी की अन्त्याक्षरी एवं संस्कृत मे भाषण और कविताओं के विशिष्ट कार्यक्रम भी रखे गए हैं। पत्रकार गोष्ठी के अतिरिक्त शारीरिक व्यायाम का अनूठा प्रदर्शन भी किया जाएगा।

---

### आर्यसमाज बांकनेर के नए पदाधिकारी

वर्ष २०३८ विक्रमी के लिए आर्यसमाज बांकनेर दिल्ली-४० के ये पदाधिकारी चुने गए—प्रधान—श्री मांगेराम आर्य, उपप्रधान—श्री मेहरलाल पंवार, मन्त्री श्री रामकरण, उपमंत्री—श्री बिलेसिंह आर्य, कोषाध्यक्ष—श्री ओम्प्रकाश गुप्त, लेखा निरीक्षक—श्री भीम सिंह डागर, पुस्तकाध्यक्ष—श्री हवा सिंह, अन्तरंग सदस्य सर्वश्री दयानन्द, गुरबचन सिंह, रणधीर सिंह।

# आर्यसमाजों के सत्संग

१७-५-८१

अन्धा मुगल प्रताप नगर—प० सीसराम भजनोपदेशक; अशोक विहार—के सी-५२-ए—पं० रामरूप शर्मा; आर्यपुरा—पं० ओमप्रकाश भजनोपदेशक; आर. के. पुरम सैक्टर ६—आचार्य रामशरण मिश्रा शास्त्री; आनन्द विहार—प० सत्यदेव स्नातक भजनोपदेशक; इन्द्रपुरी—पं० उदयपाल शास्त्री; किंग्जवे कैम्प—पं. रामदेव शास्त्री गाजियाबाद; किशनगंज मिल एरिया—श्री मोहनलाल गांधी; कालकाजी डी. डी. ए. फ्लैटस—आचार्य हरिदेव सि. भू.; गांधी नगर—प. ईश्वरदत्त एम. ए; गीता कालोनी—पं. आशानन्द भजनोपदेशक; ग्रेटर कैलाश-I प्रो० सत्यपाल बेदार; गुड़ मण्डी—पं. रामदेव शास्त्री; १५१-गुप्ता कालोनी—प. हरिदत्त शास्त्री वेदाचार्य; गोविन्दपुरी—प्रो. वीरपाल विद्यालंकार; जमपुरा भोगल—प. देवराज वैदिक मिशनरी; जनकपुरी बी ३/२४—प. सत्यपाल मधुर भजनोपदेशक; डैगोर गार्डन—श्रीमती सुशीला राजपाल डिफैन्सकालोनी—प. महेशचन्द भजन मण्डली, तिलक नगर—पं. केशवचन्द मुन्जाल; तिमारपुर—प. प्राणनाथ सिद्धान्तालकार दरियागंज—डा. रघुनन्दन सिंह; नारायण विहार—आचार्य कृष्णगोपाल; नया बास—स्वामी स्वरूपानन्द भजनोपदेशक; पंजाबी बाग एक्सटेन्शन १४/३—डा. सुखदयाल भूटानी; पश्चिमीपुरी जनता क्वार्टर—पं. वीरव्रत शास्त्री; बाग कड़े खां—प. बरकतराम भजनोपदेशक; बाजार सीताराम—पं. प्रकाशचन्द शास्त्री; बिरला लाइन्स—प. महेन्द्रप्रताप शास्त्री; माडल बस्ती—पं. छज्जूराम शास्त्री; महरौली—प. हीराप्रसाद शास्त्री; मोतीनगर—प. रमेशचन्द; रमेशनगर—श्रीमती प्रकाशवती शास्त्री; राणा प्रताप बाग—पं. गणेशदत्त वानप्रस्थी; लड्डू घाटी—प. वेदपाल शास्त्री; लाजपत नगर—मास्टर ओमप्रकाश; लक्ष्मीबाई नगर ई -१२०८—श्रीमती लीलावती आर्या; विक्रमनगर—पं. सत्यभूषण वेदालंकार; सुदर्शन पार्क—प्रो. भारतमित्र शास्त्री वेदालंकार; सोहनगंज—ला. लखमी दास; सराय रोहल्ला—पं. प्रकाश वीर व्याकुल; श्रीनिवासपुरी—पं. मनोहर विरक्त; शादी खामपुर—पं. विष्णु देवप्रसाद विद्यालकार; शकूरबस्ती रानीबाग—डा० देवेन्द्र द्विवेदी शालीमार बाग—पं. राजपाल शास्त्री, हौजखास—प. चन्द्रभानु सि. भू.;

—ज्ञानचन्द डोगरा, वेदप्रचार विभाग



### आर्य कन्या गुरुकुल हसनपुर में प्रवेश

आर्य कन्या गुरुकुल, हसनपुर जिला फरीदाबाद (हरियाणा) मे १ मई, १९८१ से प्रवेश प्रारम्भ हो गया है। प्रवेश की अन्तिम तारीख १५ मई है। स्थान सीमित हैं। इस वर्ष केवल कक्षा छठी में ही प्रवेश होगा। गुरुकुल में प्रविष्ट छात्राओ को गुरुकुल छात्रावास मे ही रहना अनिवार्य होगा। गुरुकुल में संस्कृत के अतिरिक्त अंग्रेजी, गणित, विज्ञान आदि सभी विषयो को पढने की पूरी व्यवस्था होगी।

——

### आर्यसमाज शक्तिनगर का २६वां वार्षिकोत्सव

आर्यसमाज शक्तिनगर के २६ वें वार्षिकोत्सव पर ऋग्वेदीय यज्ञ, वेदकथा, प्रवचनो, महिला सम्मेलन, आर्य सम्मेलन, वेद सम्मेलन का आयोजन किया गया। शुक्रवार ८ मई को दोपहर के समय श्रीमती ईश्वरी देवी की अध्यक्षता मे महिला सम्मेलन हुआ। सम्मेलन मे श्रीमती शकुन्तला दीक्षित, ब्रह्म., कलावती आचार्या, प्रान्तीय आर्य महिला सभा की मन्त्रिणी श्रीमती प्रेमशीला जी के भाषण हुए। ९ मई को दोपहर के समय स्वामी सत्यपति जी की अध्यक्षता में आर्य सम्मेलन हुआ। प्रमुख वक्ता आचार्य विश्वबन्धु शास्त्री, डा. वाचस्पति उपाध्याय, खतौली वाले श्री ओम्प्रकाश शास्त्री और प्रो. वीरेन्द्रकुमार थे।

रविवार को प्रातः ९ बजे ऋग्वेदीय यज्ञ की आहुति हुई। दोपहर को आचार्य विश्वबन्धु शास्त्री की अध्यक्षता मे वेद सम्मेलन हुआ। प्रमुख वक्ता पं. रामदयालु शास्त्री, डा. गणेशदत्त शास्त्री, प्रो. रमेशचन्द्र शास्त्री आदि थे।

———

## बोध-कथा

### सच्चा आनन्द

एक जिज्ञासु साधक सच्चे आनन्द की खोज मे एक महात्मा के पास पहुंचा। उसने महात्मा जी से बड़े आग्रह से प्रार्थना की कि वह सच्चे आनन्द पर प्रकाश डालें। महात्मा जी ने अपनी सहज शान्त मुस्कान से उस दुःखी व्यक्ति की ओर देख कर कहा—'आज तो मैं बहुत अधिक व्यस्त हूं। आज तुम जाओ, दस दिन के बाद आना, मैं कोशिश करूंगा कि तुम्हें सच्चे आनन्द की प्राप्ति हो जाए। हां, इन दस दिनों में तुम परिवार, समाज सबसे अलग रहकर एकान्त में मौन व्रत में अपना समय बिताना।'

वह साधक सच्चे आनन्द का जिज्ञासु था। उसने महात्माजी की शर्त का अक्षरशः पालन किया। वह उन दस दिनों तक सबसे [illegible] रहकर पूर्ण मौन रहकर आत्म-चिन्तन में लगा रहा। दस दिन के बाद वह साधक जब महात्मा जी के पास पहुंचा; तब वह उनसे कोई जिज्ञासा करने के स्थान पर बोला। 'आपकी शर्त ने मुझे आनन्द-सागर में गोते लगाने का अवसर दे दिया। इतने वर्षों में मुझे जो आनन्द नहीं मिला, वह मुझे इन दस दिनों के एकान्तवास और मौन में मिल गया। अब मेरी कोई जिज्ञासा नहीं रह गई।'

सच है कि मौन अवस्था में हमारी सब वृत्तियां मरती नहीं, वे प्राण के स्रोत में पहुंच कर अन्तर्मुखी होकर नव-जीवन का घूंट पीने लगती हैं। जब वे बहिर्मुखी होती हैं, तब अपने को क्षीण करती हैं, अन्तर्मुखी होकर वे शक्ति और आनन्द का स्रोत बन जाती हैं। सच है कि बोलना सीखने में समय नहीं लगता, किन्तु चुप रहना हम उम्र भर नहीं सीख पाते।

—नरेन्द्र

### राष्ट्र-रक्षा.........

(पृष्ठ ४ का शेष)

(५) क्रीमिया युद्ध १८७७=२१०१४ (अंग्रेज—फ्रेंच—आस्ट्रियन)

(६) रूस-टर्की युद्ध १८७७=६१००० (रूसी टर्की)

(७) प्रथम महायुद्ध १९१४ से १९१८=४८,००,००० (जर्मन—फ्रेंच ब्रिटिश – आस्ट्रियन—इटेलियन — टर्क अमेरिकी) कुल योग ६८.८ लाख।

यह यूरोप की तत्कालीन जनसंख्या का सहस्रांश भी नहीं है। लगभग ४ हजार व्यक्ति प्रतिवर्ष का औसत है पर १५० वर्ष तक करोड़ों आदमियों ने इन युद्धों के फलस्वरूप शान्ति का जीवन बिताया है। अस्तु हमारी सैन्य तथा आयुधों की स्थिति सदा सर्वोपरि रहनी चाहिए।

आर्यनगर, ज्वालापुर (जि० सहारनपुर)



दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के लिए श्री [illegible] द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित [illegible] मोतीनगर दिल्ली-१५ में मुद्रित। कार्यालय १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली [illegible]

ओ३म्  कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

# आर्य सन्देश

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा का साप्ताहिक मुखपत्र

एक प्रति ३५ पैसे | वार्षिक १५ रुपये | वर्ष ४ : अंक ३२ | रविवार ७ जून १९८१ | दयानन्दाब्द १५६

# लाला रामगोपाल पुनः सार्वदेशिक सभा के प्रधान निर्वाचित

## सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा का त्रैवार्षिक निर्वाचन सम्पन्न

### धर्मरक्षा के लिए अखिल भारतीय अभियान चलाने का महत्त्वपूर्ण निश्चय

नई दिल्ली। आर्यसमाज की शिरोमणि संस्था सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के आर्यसमाज दीवान हाल में हुए त्रैवार्षिक चुनाव मे श्री रामगोपाल वानप्रस्थ (शालवाले) पुनः सर्वसम्मति से अध्यक्ष चुन लिए गए। श्री शालवाले विगत कई वर्षों से इस पद पर चुने जा रहे हैं।

इस चुनाव मे भाग लेने के लिए विभिन्न राज्यों और देशों की आर्य प्रतिनिधि सभाओं और आर्यसमाजो के दो सौ से भी अधिक प्रतिनिधि उपस्थित थे। यह उल्लेखनीय है कि विदेशी शक्तियों द्वारा पैसे के प्रलोभन द्वारा देशकी पिछड़ी जातियों को विधर्मी बनाने के षड़यन्त्र को देश के कई भागों मे कार्यान्वित करने वाली घटनाओं एवं पश्चिमोत्तर सीमावर्ती राज्य पजाब में पृथक् पंजाब राज्य या खालिस्तान की मांग से उत्पन्न होने वाले संकट को देखते हुए आर्यसमाज की शिरोमणि संस्था सार्वदेशिक सभा के चुनाव मे एकत्र प्रतिनिधियो और आर्य नेताओं ने जितनी एकता और सहमति दिखाई दी, उतनी पहले कभी दिखाई नहीं दी थी।

#### अखिल भारतीय अभियान

प्रतिनिधियों ने नव-निर्वाचित अध्यक्ष श्री रामगोपाल वानप्रस्थ को ही अपनी अन्तरंग सभा एवं पदाधिकारियों को चुनने का भी सम्पूर्ण अधिकार प्रदान किया। सार्वदेशिक सभा ने सर्वसम्मति से निश्चय किया कि देश में विदेशी धन के द्वारा विधर्मियों के कुचक्र को नष्ट करने के लिए आर्य हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए अखिल भारतीय अभियान चलाया जाए।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का त्रैवार्षिक चुनाव साधारण अधिवेशन ३०-३१ मई, १९८१ को आर्यसमाज दीवान हाल में सम्पन्न हुआ। ३० मई को विभिन्न प्रतिनिधि सभाओं द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा विधानानुसार दो वीतराग सन्यासी - स्वामी अमर स्वामी गाजियाबाद एवं स्वामी सर्वानन्द, दीनानगर तथा तीन प्रतिष्ठत सदस्यों के रूप में सर्वश्री पण्डित आनन्द प्रिय, भगवानदेव शर्मा एव डा हरिप्रकाश बहुसम्मति से चुन लिए गए। असफल उम्मीदवारों मे डा. सुरेश शास्त्री, झांसी, रामलाल मलिक, दुर्गादास आर्य गजट, एवं देशराज बहल उल्लेखनीय थे। विगत वार्षिक अधिवेशन की कार्यवाही की सम्पुष्टि एवं वार्षिक रिपोर्ट पर विचार के उपरान्त कार्यवाही समाप्त हुई।

रविवार, ३१ मई को आर्यसमाज दीवान हाल के साप्ताहिक सत्सग के उपरान्त विभिन्न प्रादेशिक सभाओ से आए प्रतिनिधियो का स्वागत आर्यसमाज दीवानहाल के कमंठ प्रधान श्री सूर्यदेव जी ने किया। डा. दु.खनरामजी बिहार ने स्वागत का उत्तर दिया। इसके बाद सर्वसम्मति से लाला रामगोपालजी शालवाले वानप्रस्थ पुन तीन वर्ष के लिए प्रधान चुन लिए गए। प्रान्तीय सभाओं के प्रधानों ने सार्वदेशिक सभा के नवनिर्वाचित प्रधान श्री लालाजी का फूलमालाओं से स्वागत किया। सर्वसम्मति से लाला जी को अपने मन्त्रिमण्डल के गठन का अधिकार दिया गया। इस अवसर पर प्रादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के उपप्रधान श्री मुलखराज भल्ला ने सार्वदेशिक सभा द्वारा आयोजित गोदुग्ध केन्द्र के लिए एक लाख रुपये अपनी ओर से देने की घोषणा की। आर्य केन्द्रीय सभा दिल्ली के प्रधान श्री महाशय धर्मपाल ने इस कार्य के लिए ग्यारह हजार रुपये की पहली किस्त दी। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के उपप्रधान श्री विद्या प्रकाश सेठी ने ५००१) की धनराशि देने की घोषणा की।

#### नए पदाधिकारी

साधारण सभा द्वारा प्रदत्त अधिकारो के अनुसार सार्वदेशिक सभा के प्रधान श्री रामगोपाल जी वानप्रस्थ ने अपने मन्त्रिमण्डल की घोषणा इस प्रकार की —

**उपप्रधान**—सर्व श्री रामचन्द्र राव वन्देमातरम् (हैदराबाद), डा. दु खनलाल जी (बिहार), श्री मुलखराज भल्ला (प्रादेशिक सभा), श्री पृथ्वीसिंह आजाद (पंजाब), चौ० माडूसिंह (हरियाणा), श्री कैलाशनाथ सिंह (उ. प्र.), श्री बटुकृष्ण वर्मन (बगाल)

महामन्त्री—श्री ओम्प्रकाश पुरुषार्थी

सयुक्त मन्त्री—छोटूसिह एडवोकेट, श्री सच्चिदानन्द शास्त्री, उप मन्त्री श्री राज गुरु (म. प्र.), श्री विमलेश (दिल्ली) श्री जयदेव (मद्रास), श्री वासुदेव शर्मा (पटना) कोषाध्यक्ष—श्री सोमनाथ एडवोकेट।

## दिल्ली–अमृतसर में राष्ट्रविरोधी मजहबी ताकतें सिर उठा रही हैं

नई दिल्ली। पिछले दिनो दिल्ली, अमृतसर तथा पजाब के दूसरे नगरो मे इस प्रकार की घटनाएं हो रही हैं, जिनसे अनुभूति होती है कि कुछ राष्ट्रीय विरोधी तत्त्व देश की एकता को खंडित करने के लिए सुनिश्चित लक्ष्य से कार्य कर रहे हैं। पिछले दिनो नई दिल्ली के एक सभागार में पृथक खालसा देश के समर्थकों की एक सभा हुई। सभा मे कई वक्ताओं ने कथित ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर यह ऐलान किया कि उनका खालसा या सिख देश पृथक है। इस सभा मे देश की एकता और मातृभूमि भारत की अखंडता को प्रतिष्ठित करने वाले एकमात्र वक्ता प्रो. गोपाल सिंह को श्रोताओं ने बोलने का मौका तक नही दिया।

२७मई के दिन नई दिल्ली के एक व्यस्त बाजार में जत्थेदार जगदेव सिंह तलवण्डी के नेतृत्व मे अकालियों ने यातायात रोका। ये लोग डंडों, तलवारो, भालो, गंडासो और दूसरे हथियारो से लैस थे। ये लोग नारे लगा रहे थे-हमारा पंजाब देश अलग है, सिखों का अलग देश है। हमे खालिस्तान चाहिए। इन प्रदर्शन कारियो ने यातायात एव गाडियो पर हमला भी किया।

अब समाचार मिला है कि अमृतसर की चार दीवारी के अन्दर सिख छात्र वहां के दुकानदारो को बीडी सिगरेट बेंचने पर रोक लगाने के लिए ताकत एव हथियारों का प्रदर्शन कर रहे हैं। शहर के हिन्दू दुकानदारों के विरुद्ध छात्रों यह कार्यवाही पूर्णतया साम्प्रदायिक है। आर्य समाज के नेतृत्व मे हजारों के जन समूह ने इस प्रकार की मजहबी कार्यवाही पर रोक लगाने की मांग की है। आर्यसमाज तम्बाकू के विरुद्ध है, क्या सिख छात्र मॉस-मदिरा के विरोध में आर्यसमाज के साथ मिल कर संयुक्त कार्यवाही करने के लिए तत्पर हैं? आर्य युवको ने सिख छात्रो से अनुरोध किया फिर साम्प्रदायिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए वे तम्बाकू के विरोध के नाम पर अपना साम्प्रदायिक खेल न खेलें। यदि उन्हें तम्बाकू का विरोध करना है तो वे मास मदिरा का भी विरोध करें।

प्रेक्षको की दृष्टि मे चण्डीगढ तथा दूसरे नगरोमे पृथक खालिस्तान की माग के पूर्ति के लिए किए गए सम्मेलनो के बाद उक्त घटनाएं सिद्ध कर रही हैं कि विदेशी शक्तियो के इशारे पर देश की अखण्डता को चुनौती देने के लिए कुछ शरारती मजहबी तत्व तुल गए दीखते हैं।

सम्पादक—नरेन्द्र विद्यावाचस्पति

# वेद-मनन

## उदार बनकर सौहार्द बनाए रक्खो, पाप स्वयं नष्ट हो जाएगा।

मा भेर्मा संविक्था अर्जं धत्स्वधिषणे वीड्वी सती ।
वीडयेथामूर्जं दधाथाम् पाप्मा हतो न सोमः ॥ यजु. ६-३५

ऋषि—मधुच्छन्दा । देवता—द्यावापृथिव्यौ । छन्द. भुरिगार्षी—अनुष्टुप् ।

शब्दार्थ—हे राजन् (मा भेः) तू दुष्टो से मत डर, और उन्हे दंडित करने मे (मा संविक्था) न्याय पथ से विचलित मत हो, (अर्जं धत्स्व) अपने अन्दर आत्म बल और पराक्रम को धारण कर। हे राजन् और प्रजागण (धिषणे) परस्पर धारक बनने के लिए (वीड्वी सती) एक दूसरे को पसन्द करते हुए तथा गुणो की सराहना करते हुए (वीडयेथाम्) एक दूसरे को बलयुक्त बनाओ और स्वय (अर्जं दधाथाम् ।) प्राणशक्ति और अन्न को धारण करो। इस प्रकार के व्यवहार से (पाप्माहतः) पापी जन नष्ट होगा और (सोमः) राष्ट्र के सत्य श्रीः और ज्योति (न) नष्ट नही होगे।

गृहस्थ मे—(धिषणे) पति-पत्नी हैं, वे एक दूसरे को सराहेंगे और बलयुक्त बनायेंगे तो उनमे से (पाप्मा) पाप नष्ट होगा और (सोम) परस्पर का सौहार्द और आह्लाद (न) नष्ट नहीं होगा।

निष्कर्ष—१. राजा और प्रजा तथा पति और पत्नी को दुष्टजनो तथा दुष्ट भावनाओ से डरना नहीं चाहिये और कर्त्तव्य पालन से विचलित नही होना चाहिये।

२ परस्पर की सराहना और प्रशंसा एक दूसरे को दृढ़ बनाते हैं।

३, इस प्रकार के व्यवहार से दुष्टजन और पाप नष्ट होते हैं, और सत्य श्री और ज्योति तथा आह्लाद नष्ट होने के बजाय बढते हैं।

विशेष—मन्त्रणामार्षेय छन्दो दैवत-विद्– श्रेयोऽधिगच्छति । सर्वानुक्रमणी १-४

१. मधुच्छन्दा.—राजा और प्रजा तथा पति और पत्नी को परस्पर मधुर भावनाए रखकर मधुर व्यवहार करना चाहिये।

२. द्यावा पृथिव्यौ—राजा और प्रजा तथा पति पत्नी को एक दूसरे का द्यावा पृथिवी की तरह धारक और पूरक बनने का लक्ष्य बनना चाहिए।

३. अनुष्टुप् – अनुष्टुमा सोम उक्थैर्मह स्वान् । ऋक् १०-१३०-४

एक दूसरे से सन्तुष्ट रहकर, एक दूसरे को प्रसन्न करने की भावना ही परस्पर तेजस्विता उत्पन्न करती है। इस प्रकार अनुष्टुप् को साधन बनाकर परस्पर प्रशंसा के द्वारा राष्ट्र और गृहस्थ मे सत्य, श्री ज्योति और सब प्रकार की समृद्धि के द्वारा राष्ट्र ने सोम महिमाशाली बनता है, शान्ति का राज्य होता है।

अर्थपोषक प्रमाण—

सोमः—सत्यं श्री ज्योतिः सोमः । शत ५-१-२-१० सर्व हि सोमः । शत ५-५-४-११

धिषणे—धि धारणे, षणु दाने। परस्पर धारण के लिये अपने पास जो हो वह दूसरे को देने के लिए उद्यत रहना चाहिये। द्यावा पृथिवी नाम सु. नि.।

वीडु—बल नाम सु। नि. २-९ वि+ईडस्तुतौ(सराहना व प्रशंसा करना) स्वा. दया.

मधुच्छन्दाः—मधु (मधुर)+छन्द (छद अपवारणे, छदि) अर्जने; चदि आह्लादे) एक दूसरे के प्रति मधुर व्यवहार द्वारा, परस्पर के दोषो को दूर करके बलवान बनाने तथा आह्लादित करने वाला।

अनुष्टुप् – स्तुञ् स्तुतौ, स्तुच प्रसादे, परस्पर अनुकूलता से सराहना करके प्रसन्न करने की क्रिया द्वारा।

—मनोहर विद्यालंकार

लोक-चिन्तन

## यह देश क्या मानवता के हत्यारों का है ?

—डा० विजय द्विवेदी

यह देश कभी प्रकृति का पालना, मानवता का क्रीडास्थल माना जाता था। इस देश की शस्यश्यामला धरती हिरण्यगर्भा, वसुमती, वसुन्धरा होने के कारण ही देवताओं की प्रिय थी। देवता कहते थे—धन्यास्तु ते भारतभूमि भागे। वेदो की जन्मदात्री, अवतारो की लीलाभूमि, विश्व में जो कुछ भी महानतम है उसकी उत्सवाहिका यही सर्वसहा भारत भूमि थी। आज इसी देश, इसी धरती पर ऐसे-ऐसे काण्ड हो रहे हैं, जिन्हे देख सुन और पढ़कर सिर शर्म से झुक जाता है, अन्तर्मन चीत्कार कर उठता है। नरबलि, दहेज, बलि, लूट-पाट, दगे हगामे, डकैती, हत्या, खून-खराबा-समाचार माध्यम ऐसी ही खबरों से पटे रहते हैं। ऐसी स्थिति में एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठ खड़ा होता है कि क्या इस देश को सुशासित—सभ्य-सुसस्कृत देश कहा जा सकता है, क्या यह देश मानवता के हत्यारो का देश है ?

पिछले महीने उड़ीसा के केन्द्रभगर जिले में खूनी चक्रवात आया। सैकड़ो लोग मरे हजारों परिवार बेघरबार हो गये। बड़े-बड़े पेड़, बिजली और टेलीफोन के खमे, मकानों की छतें उखड़ गईं। एक महिला पत्रकार ने प्रकृति की इस विनाश लीला को देखा और आंखों मे आंसू भरकर कहा – मानव जीवन तो नश्वर है, जो मर गये फिर पैदा हो जायेगे। मकानो पर दुबारा छतें पड़ जायेंगी, घरों के आगन मे बच्चो की किलकारी भी गूंजेगी। परन्तु हाय ! पक्षियो के कलरव बहुत दिनो तक इस इलाके मे न सुनायी पड़ेगे क्योकि गिरे हुये पेड़ धीरे-धीरे ही खड़े होंगे। इस महिला पत्रकार की शिक्षा सराहनीय है। इनकी रुचि पीडित मानवताकी अपेक्षा पशु-पक्षियो मे अधिक जान पड़ती है। मानवता के हत्यारे केवल वे ही नही हैं जो खून खराबा कर रहे है। मानव के प्रति मानव की उपेक्षा भी—जो इस देश के शिक्षित सम्भ्रान्त व्यक्ति के व्यक्तित्व का अनिवार्य अंग बन चुकी है—इस प्रकार की हत्या ही है।

नरमेघ, नारीमेघ, बलात्कार और सामूहिक हत्याओं वाले इस देश मे पिछली ३-४ मई की रात बम्बई-हबड़ा रेलपथ पर जनता एक्सप्रेस मे जो भयावह काण्ड हुआ उसने न केवल देश की कानून और व्यवस्था मे सुधार होने के तर्क को आघात पहुचाया, अपितु असामाजिक तत्वों की निरंकुशता और राजनीतिक लोगों की लोक मंगल की भावना को भी नंगा करके रख दिया। उस काली रात में शस्त्रधारी डकैतों ने, सतना और बादा के बीच उक्त गाड़ी के तीन डिब्बों में घुसकर न केवल सैकड़ों यात्रियों को लूट लिया अपितु एक यात्री महिला के साथ हजारो की आँखो के सामने बर्बरतापूर्ण ढग से बलात्कार किया और दो महिलाओं को लूट के माल के साथ उठाकर भी ले गये। इस घटना पर टिप्पणी करते हुए बंगला दैनिक आनद बाजार पत्रिका के सम्पादक ने लिखा है—विवरण पढ़ने से लगता है जैसे यह मध्ययुग के किसी लावारिस देश की कहानी हो। भारत एक स्वाधीन देश है, देश में एक सरकार है, रेल विभाग का कामकाज देखने के लिये अलग मंत्री है, इसके लिये सिपाही तथा सुरक्षा बल का भी अभाव नहीं है। सबसे बड़ी लज्जा की बात यह है कि ये नये डाकू पहले से सूचना देकर आए थे। तब भी न तो यात्रियों के जानमाल की रक्षा हो सकी न महिलाओं की इज्जत बचायी जा सकी। रेल मंत्री तथा रेलवे के प्रबन्धकों के चेहरे पर इस घटना से कोई शिकन नहीं पड़ी। सभी आराम से अपनी-अपनी कुर्सियों पर जमे रह कर दूसरों की ईमानदारी, नैतिकता तथा स्वच्छ प्रशासन का चरणामृत पान कराते रहे, जन हित की चिन्ता में शरीर की चर्बी गलाते रहे, किन्तु इसके लिये केवल सरकारी मशीनरी या तंत्र को ही दोष देना काफी नहीं है—हमें अपना अंतःकरण भी टटोलना होगा। अपनी समाज व्यवस्था की शव परीक्षा करनी होगी, क्योकि शाश्वत मानव मूल्यों तथा देश के सम्मान को निर्मम आघात पहुचाने वाले लोग हमारे बीच से, हमारे समाज से ही पैदा हो रहे हैं। वे एक निश्चित उद्देश्यतः ऐसा कर रहे हैं किन्तु उन्हें मालूम नही है कि उनके कुकर्मों का का क्या सामाजिक एव राष्ट्रीय महत्व है, इससे स्वदेश 'स्वजाति, स्वधर्म की कितनी हानि हो रही है।

हमें सदैव यह स्मरण रखना चाहिए कि हमारा देश मानवता के हत्यारों का नही मानवता के पुजारियों का देश है। यह देश महर्षि दयानन्द का देश है जो मानवता के पथ-प्रदर्शक ही नहीं उसके आदर्श भी थे। उनके जैसा करुणावान्, क्षमाशील, उदार, साहसी और वेद-विहित पथ दिखाने वाला आधुनिक युग में दूसरा कौन महामानव है ? हमें महर्षि के जीवन से प्रेरणा लेनी चाहिये। तभी हम मानव कहलाने के अधिकारी होंगे, तभी स्वदेश, स्वजाति, स्वभाषा तथा स्वधर्म के गौरव की रक्षा करते हुये हम गर्व पूर्वक कह सकेंगे—

> अस्मिन देशे प्रसूतोऽपि सकाशाद्
> अग्रजन्मनः
> स्व-स्व चरितम् शिक्षेरन पृथिव्याम्
> सर्वमानवाः ।

—म. पू. ब. महाविद्यालय बारीपदा (उड़ीसा) पिन—७५७००१

## गृहस्थ परोपकार से पूर्ण जीवन बिताएं

**स्वामी मुनीश्वरानन्दजी का परामर्श**

आर्यसमाज सुदर्शन पार्क का ५वा वार्षिकोत्सव २१, २२, २३, २४ मई की बड़े समारोह के साथ सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर स्वामी मुनीश्वरानन्द जी महाराज की वेदकथा हुई। उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति से अपना जीवन यज्ञमय बनाने का अनुरोध किया। शनिवार को श्री महाशय धर्मपाल जी वरिष्ठ उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा की अध्यक्षता मे उत्सव बड़ी शान से सम्पन्न हुआ जिसमे श्री स्वामी जी, तथा श्री सरदारी लालजी प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा तथा श्री मंगतराम जी प्रधान आर्यसमाज बसई दारापुर की वक्तृतायें हुई। आर्यसमाज कीर्तिनगर, मानसरोवर गार्डन, बसईदारापुर, मोतीनगर, न्यू मोतीनगर, रमेशनगर आदि समाजो के प्रतिनिधियो ने भाग लिया।

उत्सव की सफलता का श्रेय उप आर्य प्रतिनिधि सभा को ही प्राप्त है।

## सुख-शान्ति की प्रार्थना

शं नो मित्र: शं वरुण: शं विष्णु: शं प्रजापति:।

शं न इन्द्रो बृहस्पति शं नो भवत्वर्यमा ॥ यजु ३६. ऋ० १ ६०

हम सब के स्नेही सबको मरण से त्राण दिलाने वाले परम पुरुष परमेश्वर शान्तिदायक हों। सर्वश्रेष्ठ सबके वरण करने योग्य एवं शत्रुओं का निवारण करने वाले परम पुरुष कल्याणकारी हों। व्यापक, सर्वत्र प्रभुता मे सम्पन्न या व्यवस्थापक पुरुष हमें शान्तिदायक हो। ऐश्वर्यवान् बृहती वाणी के पालक विद्वान् पुरुष और दुःखों के नियामक न्यायकारी परम पुरुष हमें सदा सुख-कल्याण प्रदाता हो।

ओ३म्

आर्य सन्देश

# युवा क्षात्र शक्ति को सन्नद्ध कीजिए

हरियाणा प्रान्तीय आर्य वीर दल के महा सम्मेलन का अध्यक्षीय भाषण देते हुए स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती ने देश और जनता की सुरक्षा के लिए आर्यवीरो के संघटन की महत्ता पर प्रकाश डाला है। उन्होंने माग की कि देशी-विदेशी मत-मतान्तरो के नवीन आक्रमणो से देशवासियो के रक्षा-कार्य में आर्य वीरो की उल्लेखनीय भूमिका हो सकती है। आर्यसमाज के इतिहास मे आर्यकुमार सभाओ ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। आर्यकुमार सभाएं आर्यसमाजो की पूरक रही हैं। कही-कही तो आर्यकुमार सभाएं आर्यसमाजो से भी अधिक सक्रिय रही हैं। अब राष्ट्र की परिस्थिति देखते हुए देश की युवा क्षात्र शक्ति को संगठित और सन्नद्ध करने का समय आ गया है।

हमारी वैदिक राष्ट्रीय प्रार्थना मे एक ओर जहां अध्यात्म ज्ञान के धनी तपस्वी आदर्श ब्रह्म तेज से सम्पन्न तथा बुद्धिमान वर्ग के उत्पन्न होने की प्रार्थना की गई है, वहां सर्वशक्तिमान् अविनाशी प्रभु से वीरता से परिपूर्ण शस्त्र-शास्त्र मे निपुण विकट विघ्न-बाधाओं का निर्भयतापूर्वक सामना करने वाले महान् योद्धा वीरों के उत्पन्न होने की आकांक्षा करते हुए प्रार्थना की गई है—आ राष्ट्रे राजन्य: शूर-इषव्योऽति व्याधी महारथो जायताम्। यह हमारा दुर्भाग्य है कि एक पीढ़ी पहले आर्य-युवको के संगठनो में जैसा उत्साह और लगन थी, वैसी आजकल देखने को नही मिल रही है। इसी के साथ एक कटु तथ्य यह भी रहा है कि स्त्री समाजो के साथ आर्यकुमारी सभाओ या आर्य युवती सभाओ का संघटन सुदृढ नही किए। गए आलोचकों का कथन है कि इस आर्यनारी युवा शक्ति की उपेक्षा का ही फल है कि आज हमारी आर्यसमाजें बूढ़ी दादियो और सासो की संस्थाएं रह गई हैं।

आज आर्यसमाज का दायित्व बहुविध है। उसे देश मे फैले भ्रष्टाचार, अनैतिकता, स्वार्थ की प्रवृत्तियों का उन्मूलन कर सच्चे आर्यत्व की प्रतिष्ठा करनी है। इसी के साथ देश-विदेशी मत मतान्तरो के आक्रमण से देश की रक्षा करनी है। आज विधर्मियों के देश में प्रसार का प्रश्न केवल साम्प्रदायिक या धार्मिक प्रश्न ही नहीं है, प्रत्युत यह निश्चय ही देश की स्वतन्त्रता और सार्वभौमसत्ता को परराष्ट्रो के हाथ में सुपुर्द करने का है। इन आसन्न सकटो से देश को बचाने के लिए राष्ट्र की युवा क्षात्र शक्ति को आज समय रहते संगठित और सन्नद्ध करना ही होगा। इस दिशा में आर्यकुमार सभाओ का संगठन एक उल्लेखनीय भूमिका प्रस्तुत कर सकता है।

---

# नैतिक शिक्षा अनिवार्य हो !

देश की राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् हमारे देश में प्रचलित शिक्षाप्रणाली की कई त्रुटियों के साथ एक सबसे बड़ी कमी उभर कर आई है, वह है उसमें नैतिक या धार्मिक शिक्षा का अत्यन्त अभाव। धर्म उन शाश्वत सत्य नियमो का नाम है जिनके आधार पर परिवार, समाज, राष्ट्र और सम्पूर्ण विश्व एवं मानवीय प्रजा का धारण किया जाता है। सच्चा धर्म कहता है कि केवल अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहो, सबकी उन्नति मे अपनी उन्नति समझो। व्यक्ति परिवार, समाज राष्ट्र, मानवता के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करे। संसार में जहां तक इन्सानियत-मानवता का धर्म है—वह विश्व का एक धर्म है, वही सनातन है, वही वैदिक है, दूसरी ओर मत-मजहब मनुष्यो ने चलाए हैं, इसलिए सर्वोत्तम यही है कि प्रत्येक छात्र को बचपन से ही सच्चे मानव धर्म की सीख दी जाए। इसे दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि नैतिक शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए।

भारतीय शैक्षिक अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण की राष्ट्रीय परिषद् ने अपने एक अध्ययन के फलस्वरूप सूचना दी है कि इस समय भारत के नौ राज्यो तथा एक केन्द्र शासित इकाई के पाठ्यक्रम मे नैतिक शिक्षण की व्यवस्था है। इन राज्यों में नैतिक शिक्षा का कोई निर्धारित कार्यक्रम प्रचलित नही है, परन्तु उन राज्यो में प्रचलित शिक्षण सस्थाओ मे कुछ समानता उल्लेखनीय है। इन राज्यो के नैतिक शिक्षण पाठ्यक्रम मे सभी धर्मों के प्रति समान आदरभाव, एक नागरिक के लिए उपयुक्त गुणो के विकास, देशभक्ति की भावना जाग्रत करने, माता, पिता और गुरुजनों के प्रति सम्मान उत्पन्न करने, सद्व्यवहार, न्याय, सच्चाई और ईमानदारी आदि के गुणो के विकास पर बल दिया जाता है। उक्त अध्ययन से इस तथ्य पर भी प्रकाश पडा है कि देश मे प्रचलित शिक्षा प्रणाली का लक्ष्य परीक्षाओ मे उत्तीर्ण होना है और नैतिक शिक्षा में उत्तीर्ण होने में बाध्यता न होने से इसकी महत्ता नहीं रह गई है।

देश मे आज स्वार्थ, स्वेच्छाचार, भ्रष्टाचार का बोलबाला है। देश में अव्यवस्था एव दुरवस्था का अन्त करने के लिए नैतिकता की पुन प्रतिष्ठा होनी चाहिए। राष्ट्रीय जीवन मे नैतिकता या सच्ची इन्सानियत या मानव धर्म की प्रतिष्ठा करने के लिए शिक्षा क्षेत्र मे नैतिक या धार्मिक शिक्षण अनिवार्य होना चाहिए। नैतिक शिक्षा के अध्ययन के अभाव मे युवा वर्ग से इन गुणो की अपेक्षा करना व्यावहारिक नही है।

—०—

## चिट्ठी-पत्री

### चुनाव सम्बन्धी शिकायतें : पत्रों पर पूरे नाम-पते लिखे जाएं

एक आर्य सज्जन लिखते हैं—'एक प्रतिष्ठित समाज का वार्षिक चुनाव बिना कोरम के सम्पन्न हुआ। समाज के कुल ११४ सदस्यो मे केवल २६ ही उपस्थित थे। इतना ही नही, इस चुनाव सभा मे दो ऐसी महिलाएं उपस्थित थी जो समाज की सदस्या भी नही थी फलत: सारी कार्यवाही अवैध और गैर कानूनी है।'

आर्य-बन्धुओ से सभा-प्रधान के नाम कुछ पत्र (जिसमे से एक पत्र का एक अंश प्रकाशित किया गया है।) प्राप्त हो रहे हैं, जिनमे विशिष्ट आर्यसमाजो के निर्वाचन के विषय मे आपत्तियाँ की गई हैं, परन्तु पता लिखने वाले अपने नाम व पते नही लिखते। ऐसे महानुभावों की सूचनार्थ निवेदन है कि जो सज्जन अपने नाम पते दिए बिना शिकायत करेंगे, उन पत्रो पर कोई कार्यवाही नही की जाएगी, इस लिए पत्र भेजने वाले अपने पूरे नाम व पते पत्र पर अवश्य लिखेंगे।

—सरदारीलाल वर्मा

प्रधान, दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा

१५, हनुमान रोड, नई दिल्ली

---

### सोमरस की उपयोगिता एवं प्राप्ति

'आर्य सन्देश' के ३ मई के अंक मे श्री प. मनोहर जी विद्यालंकार का सोम की महत्ता' लेख बहुत खोजपूर्ण और ज्ञानवर्द्धक है। अगर विद्वान् लेखक आज के परिप्रेक्ष्य में सोमरस की उपयोगिता, प्राप्ति के साधन, ओषधि या बूटी के गुणदोष इत्यादि पर भी प्रकाश डाल सकें तो कृपा होगी। 'सोम' के साथ 'मद' के प्रयोग को कई वेदमन्त्रो मे देख इसे एक प्रकार का मद्य समझने लगते हैं। आज इस नाम का बहुत दुरुपयोग हो रहा है। आयुर्वेद इत्यादि की दृष्टि से भाई मनोहरजी इस पर भी आर्यसंदेश के माध्यम से प्रकाश डाल सकें तो लाभ होगा।

—आचार्य दीनानाथ सिद्धान्तालंकार,

ई—३७, शास्त्रीनगर, जयपुर (६)

# मैं अभय बनूँ

अभय मित्रादभयममित्रात् अभय ज्ञातादभय पुरो यः।
अभय नक्तमभयं दिवा नः, सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ॥

(मित्रात्) मित्र से मुझे भय न हो (अमित्रात्) अमित्र से (अभय) अभय हो (ज्ञाताद् अभय) जो मालूम हो गया है उससे भय न हो और (य) जो (पुरः) आगे आने वाला है, उससे (अभयम्) अभय हो। (न नक्तम् अभयं) हमे रात में भी अभय हो (दिवा अभय) दिन मे भी अभय हो (सर्वा आशा) सब दिशाए, सब दिशाओ के वासी प्राणी (मम मित्र भवन्तु) मेरे मित्र हो जाये, मेरे मित्र रूप रहे।

इस मत्र में भय से बचने की प्रार्थना की गई है। भय क्या है? कभी सोचा है आपने? भय का मतलब है कि आप ईश्वर पर विश्वास नही करते। आप नास्तिक हैं। यदि आप ईश्वर पर विश्वास करते तो सर्व शक्तिमान् प्रभु के विद्यमान रहने पर भय होता ही क्यो?

भय पैदा कैसे होता है? कही से किसी अनहोनी बात की सभावना आपके मन मे आ घुसती है, धीरे-धीरे उसका साफ नक्शा आप अपने सामने देखना शुरू कर देते हैं और फिर उससे डरने लगते हैं। आप मे उसका प्रभाव अपने शरीर पर अनुभव होने लगता है? लगता है दिमाग खाली होता जा रहा है, पसीना छूटने लगता है, पैरो में कमजोरी आ जाती है, पेट मे मीठा-मीठा दर्द होने लगता है और विचार तरतीब से नहीं जुट पाते कटे पतग की तरह इधर-उधर उडते रहते हैं और डर की इस प्रतिक्रिया की समाप्ति के बाद तो और भी बुरी गति होती है। आप अपने डर के सिवाय कुछ सोच भी नही पाते।

एक कहानी कही पढ़ी थी। एक डाकू था जिस पर कई हत्याओं के अभियोग थे और वह आजीवन कारावास की सजा भुगत रहा था। एक दिन अचानक वह जेल के दरवाजे के पास बने जेल के पहरेदार के कमरे मे पहुचा और पहरेदार तथा उसके साथियो की ओर पिस्तौल तानकर बोला—'हाथ ऊपर उठाओ।'

उस पहरेदार और उसके साथियो ने उसे खतरनाक आदमी समझकर उसके आदेश का पालन किया। उसने उनसे चाबियो का गुच्छा ले लिया तथा सरदार को छोड़कर सबको जेल की कालकोठरी मे बन्द कर आया। सरदार से उसने कहा जेल का फाटक खोलो और मुझे सरकारी मोटर मे शहर ले चलो। सरदार उसे लेकर जेल के फाटक के बाहर निकला, जहां जेलर पेडों के नीचे टहल रहा था। जेलर ने एक कैदी को सरदार के साथ सरकारी गाडी मे जाते देखा तो उसे कोई सन्देह नही हुआ। उस समय डाकू ने पिस्तौल कपडो के नीचे छिपा रखा था पर वह तनी सरदार की ओर थी।

कुछ मील जाकर डाकू ने सरदार को मोटर के नीचे उतार दिया। स्वय मोटर चलाने लगा। उसने मोटर के चलते ही हंसकर सरदार को नमस्ते की और अपनी पिस्तौल उसके सामने फेंक दी। सरदार जब होश मे आया तो उसने देखा कि वह पिस्तौल तो लकडी की थी। यह डाकू ने जेल मे बना ली थी। इस नकल ने असल का काम किया।

इसी प्रकार भय लकडी की नकली पिस्तौल है। हमारा भय और निराशाये लकडी की पिस्तौल की छलना हैं। और हम इन छलनाओ की वास्तविकता को पहचानते नही है। इससे भय मे इतनी शक्ति आ जाती है कि हमे वे कि कर्तव्य विमूढ बना देते है।

इसीलिए मंत्र कहता है 'मुझे मित्र से भय न हो, मुझे अमित्र से भय न हो। मुझे मेरे सामने रहने वाले से भय न हो और परोक्ष मे रहने वाले से भी मैं न डरू। मुझे रात मे डर न हो और मुझे दिन मे भी डर न हो। ससार के सभी पदार्थ और प्राणी मेरे मित्र हो।'

एक मनोविज्ञान की पत्रिका मे एक लड़की की कहानी पढी थी। लड़की को—जिसकी आयु केवल ५ वर्ष की थी—रात मे वह स्वप्न देखती है और इतनी डर जाती है कि उसका प्रभाव उसके अगले दिन के कार्यक्रम पर पड़ता है और कमजोर होती चली जाती है।

एक बार उसके माता पिता उसे लेकर डाक्टर के यहाँ गए और डाक्टर ने सपने की बात सुनकर कहा "अरे, मेरे सपने मे भी तो यही शेर आता है। पहले मैं भी उसे देखकर डर जाया करता था पर मुझे पता चला कि वह बहुत भला शेर है। वह लोगो से खेलना पसन्द करता है। वह तुमसे खेलने के लिए ही तो तुम्हारे सपनों में आता है। उसमे दोस्ती करो तो वह तुमसे प्रेम करने लगेगा—खेलने लगेगा।

उस दिन रात को सपने के बाद थोड़ी देर के लिए तन-सी गई और जोर-जोर से सांस लेने लगी। परन्तु, हमेशा की तरह वह चौंकी नही और उसके ओठों पर मुस्कराहट दौड़ने लगी। बच्ची के हृदय का शेर का भय निकला गया और शेर से उसकी दोस्ती हो गई। सत्य तो यह है कि समस्यायें हमे भय से कपाती रहती हैं परन्तु वे सपने के शेर से भी अधिक निरापद हैं। जब हम उन्हें उस दृष्टिसे देखने लगेंगे और उनसे मैत्री स्थापित करना शुरू कर देंगे तो हमारी समस्याओ की हमे नुक्सान पहुचाने की शक्ति चली जाएगी और उनसे हमें लाभ भी होने लगेगा।

लेखक :
सुरेशचन्द्र वेदालंकार

इसलिए भय पर विजय प्राप्त करने का सरल उपाय यह है कि आप मित्रता का क्षेत्र बढाइए और अपने भय से भी मैत्री कीजिए। उसके विषय मे लोगो से बात कीजिए और जब वह सामने आए तो उसका स्वागत कीजिए और कहिए "न तो तुम मेरे प्राण ही ले सकते हो, न मैं तुम्हारी वजह से पागल हो हुआ जा रहा हूं। तुम केवल एक मानसिक विचार हो जो परमेश्वर में अविश्वास के कारण मुझमें आ गया है। चले जाओ। बाहर मत रहो। अब मैंने परमेश्वर को आपने हृदय मे रख लिया है और उसके प्रकाश और दीप्ति के सामने तुम्हारा निर्बल रूप मुझे स्पष्ट दीखने लगा है। मैं तुमसे डरूंगा नही। मैं तो अपने अतर्यामी से कहूंगा, हे मेरे अंतर्यामिन् मुझमें ऐसा ज्ञान प्रदीप्त करो कि मेरे सब भय हट जाए। ऐसा बल दो कि अंधकार हो या प्रकाश, विपत् हो या संपत्, अनुकूलताएं हो या प्रतिकूलताएं इन सब दशाओ में मैं निर्भय रह सकूं। संसार में मुझे किसी भी दिशा में और दशा मे गम न हो।

अब अधिक न हो प्राणी निराश
हो जाय सबका क्लेश नाश,
हे देव ! करो उन्मुक्त भय,
जाते हैं करने हम प्रकाश !

१७५ जाफरा बाजार, गोरखपुर

---

## जीवन की सर्वोच्च साधना

नदी की एक सूखी तलहटी थी। कंकड़-पत्थरों मे हीरा-माणिक खोजने वाला खोजी थकान से शान्त-क्लान्त हो गया था। वह अत्यन्त परेशान होकर अपने साथियो से बोला—'मैं अपनी इस खोज से पूरी तरह निराश हो गया हूं। कई दिनों की निरन्तर मेहनत से मैंने निम्यानवे हजार नौ सौ निन्यानवे पत्थर बटोर लिए होगे, परन्तु मुझे अपने ढेर में हीरे-माणिक का एक कण भी नहीं मिला।'

उसके एक साथी ने हसकर कहा—'भाई, एक पत्थर बटोर लो। अपने पत्थरों की गिनती पूरी एक लाख कर लो। शायद उसी मे तुम्हारा अरमान पूरा हो जाए।'

निराश साथी ने एक पत्थर और उठा लिया। वह दूसरे पत्थरों से अधिक भारी था। उस चमकीले पत्थर को देखकर वह चिल्लाने लगा—दोस्तो, यह तो वाकई में हीरा है। असल मे हमें हीरो की खान मिल गई है।'

लोकमान्य बाल गगाधर तिलक जीवन-यज्ञ मे अनवरत प्रयास की निरन्तर आहुति देने में ही जीवन की सफलता अनुभव करते थे। उन्होंने लिखा था—'संसार में एक ही वस्तु को मैं परम पवित्र मानता हूं, वह है अपनी प्रगति के लिए मनुष्य का अनवरत प्रयास। मानव-मात्र के प्रति निश्छल प्रेम-भाव रखते हुए और ईर्ष्या-द्वेष आदि भावनाओ की कलुषित छायाओं से दूर रह कर निष्काम भाव से अमरत रहने की भावना ही जीवन की सर्वोच्च साधना है।'

—नरेन्द्र

# सत्यार्थ प्रकाश का सन्देश देश भर में पहुंचाया जाएगा

## उदयपुर में सत्यार्थप्रकाश शताब्दी के अवसर पर दिल्ली से विशेष आर्य स्पेशल की व्यवस्था : यात्रा कार्यक्रम का विस्तृत विवरण

नई दिल्ली । आर्यसमाज की शिरोमणि संस्था सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्वावधान में १६-१७-१८ अक्तूबर, १९८१ के दिनों मे अन्तर्राष्ट्रीय सत्यार्थप्रकाश शताब्दी का आयोजन किया गया है। इस विशेष समारोह के उपलक्ष्य में सत्यार्थप्रकाश का सदेश भारत के कोने-कोने मे पहुचाने तथा देश के प्रमुख ऐतिहासिक स्थानों को देखने हुए उक्त शताब्दी समारोह मे सम्मिलित होने के लिए दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली के तत्वावधान में २१ सितम्बर १९८१ के दिन दिल्ली जंकशन से गत वर्ष की तरह एक आर्य स्पेशल ट्रेन चलाने की व्यवस्था की गई है।

इस आर्य स्पेशल ट्रेन के लिए यथोचित सहयोग देने के लिए दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सरदारीलाल वर्मा, सभा—कोषाध्यक्ष—श्री बलवन्तराय खन्ना तथा स्पेशल ट्रेन के प्रबन्धक श्री दीनानाथ गुप्ता तथा सहायक प्रबन्धक श्री प्राणनाथ घई ने आर्य जनता से एक विशेष पत्रक द्वारा अपील प्रसारित करते हुए स्पेशल ट्रेन का निम्न ब्योरा दिया है—

दिल्ली से आने-जाने के मार्ग-व्यय में—रास्ते का भोजन, चाय, चिकित्सा एव नेपाल-काठमाण्डू, सिक्किम, दार्जीलिंग, माउण्ट आबू एवं टकारा आदि पर्वतीय एवं दर्शनीय स्थानों तक बसों द्वारा दिखाने का किराया भी सम्मिलित है। प्रथम श्रेणी का २१२०) तथा टू टायर का द्वितीय श्रेणी का किराया १२२० रुपए तथा थ्री टायर द्वितीय श्रेणी का किराया १०२० रुपए प्रति व्यक्ति होगा। प्रत्येक यात्री को सोने की सीट उपलब्ध होगी।

रेलवे पास होल्डर एव एल. टी. सी. वाले इस स्पेशल ट्रेन में यात्रा कर सकेंगे। रेलवे पास होल्डरो को भोजन तथा बसों आदि के किराये के लिए निम्न राशि जमा करानी होगी—क. प्रथम श्रेणी १०७० रुपए ख. टू टायर द्वितीय श्रेणी—९५०रुपए ग. थ्री टायर द्वितीय श्रेणी—७५० रुपए। रेलवे पास होल्डर स्पेशल ट्रेन के प्रोग्राम के अनुसार पास की सख्या के बारे मे हैड आफिस नार्दर्न रेलवे, बड़ौदा हाउस से सम्पर्क स्थापित करें।

दिल्ली से बाहर के आने वाले यात्री चैक न भेजकर केवल नकद या दिल्ली के किसी बैंक का ड्राफ्ट—दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५ हनुमान रोड, ११०००१ के पते पर भेजें। स्पेशल ट्रेन के लिए अग्रिम धनराशि रेलवे अधिकारियों के पास जमा करवानी होती है, इसलिए यात्रियों से अनुरोध है कि वे शीघ्र से शीघ्र—अधिक से अधिक १५ जुलाई, १९८१ तक पूरे पते के साथ अपनी धनराशि दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा, १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली—११०००१ मे जमा करवा कर अपनी सीटें सुरक्षित करवा लें। यात्रियो से प्रार्थना है कि आरक्षण के लिए अपने प्रार्थना पत्र स्थानीय आर्यसमाजो के मंत्री एवं प्रधान द्वारा प्रमाणित कर भिजवाए। द्वितीय श्रेणी मे सीटों का आरक्षण टू टायर एव थ्री टायर की उपलब्धि के अनुसार किया जाएगा। अभी इस श्रेणी के यात्रियो की बुकिंग अस्थायी रूप से की जाएगी।

यात्रा के कार्यक्रम मे परिवर्तन का पूरा अधिकार दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा को होगा। आर्य स्पेशल ट्रेन मे धूम्रपान, मदिरा, मांस, अडा आदि का प्रयोग बिल्कुल निषिद्ध होगा।

आर्य स्पेशल ट्रेन के विषय मे विशेष जानकारी प्राप्त करन के लिए १५, हनुमान रोड, नई दिल्ली (दूरभाष—३१०-१५०, ३११२८०) दीनानाथ गुप्ता, प्रबन्धक स्पेशल ट्रेन एच ४०२; नारायणा, नई दिल्ली—११००२८ (दूरभाष—५३५७०२) अथवा श्री प्राणनाथ घई, सहायक प्रबन्धक, डी=५, कैलाश कालोनी, नई दिल्ली—११००४८ (दूरभाष—६३६०२१) से सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है।

### आर्य स्पेशल ट्रेन का कार्यक्रम

आर्य स्पेशल ट्रेन २१ सितम्बर को सायंकाल ४ बजे दिल्ली जकशन से रवाना होगी। यह आगरा फोर्ट पर २२ सितम्बर को प्रातः ४ बजे पहुचेगी। दिन भर आगरा के दर्शनीय स्थान देखने के बाद यह गाड़ी रात को ९ बजे कानपुर के लिए रवाना होगी। प्रातः ८ बजे गाड़ी कानपुर पहुंचेगी। यह गाड़ी २३ सितम्बर को रात के १२ बजे तक लखनऊ के लिए रवाना होगी, दो घटे मे रात को २ बजे लखनऊ पहुंच जाएगी। २४ सितम्बर को रात के ८ बजे उत्तरप्रदेश की राजधानी लखनऊ मे स्पेशल चलेगी और वह पूर्वी उत्तरप्रदेश के नगर गोरखपुर २५ सितम्बर को प्रात: ६ बजे पहुंचेगी। गोरखपुर से शाम को ६ बजे रवाना होगी। रेल २६ सितम्बर को प्रातः ५ बजे रक्सौल पहुचेगी।

२६ सितम्बर को प्रात १० बजे बस द्वारा रवाना होकर यात्री शाम को ७ बजे नेपाल की राजधानी काठमाण्डू पहुचेंगे। डेढ़ दिन के प्रवास के बाद २८ सितम्बर को प्रातः १० बजे बस द्वारा काठमाण्डू से रवाना होंगे और शाम को ७ बजे रक्सौल पहुंच जाएंगे। इसी दिन रात्रि को ११ बजे रक्सौल से रवाना होकर २९ सितम्बर को दोपहर तीन बजे सिलीगुडी पहुचेंगे।

सिलीगुडी मे बस द्वारा १० बजे ३० सितम्बर को प्रात चलकर पर्वतो की रानी दार्जीलिंग दोपहर दो बजे पहुचेंगे। १ अक्तूबर को प्रात. ९ बजे दार्जीलिंग से बस द्वारा रवाना होकर दोपहर १ बजे सिलीगुड़ी पहुंचेंगे। दोपहर दो बजे बस द्वारा सिक्किम (गगटोक) के लिए रवाना होंगे और रात को ८ बजे वहा पहुंच जाएंगे। अगले दिन २ अक्तूबर को गांधी जयन्ती के दिन दोपहर २ बजे बस द्वारा सिक्किम से रवाना होकर रात्रि को ७ बजे सिलीगुड़ी लौट आएंगे।

सिलीगुड़ी से २ अक्तूबर के ही दिन रात्रि को ११ बजे स्पेशल रवाना होगी और वह सोनपुर के प्रसिद्ध स्थान पर ३ अक्तूबर को प्रातः ११ बजे पहुचेगी। यहां से दोपहर के दो बजे रवाना होकर रात मे ८ बजे गोरखपुर वापस आयेगी। यहा से रात को १२ बजे रवाना होकर ४ अक्टूबर को प्रात ८ बजे सीतापुर पहुचेगी। सीतापुर से ४ अक्टूबर को रात मे १० बजे रवाना होकर ५ अक्टूबर को प्रात: चार बजे स्पेशल बरेली पहुंचेगी। दिन भर बरेली के दर्शनीय स्थान देखने के बाद ५ अक्टूबर को रात्रि १० बजे स्पेशल वृन्दावन के लिए रवाना होगी। और वह अगले दिन ६ अक्टूबर को प्रात. चार बजे वृन्दावन पहुच जाएगी।

वृन्दावन-मथुरा कृष्ण की लीला स्थली है। मथुरा गुरु विरजानन्द की तपो भूमि है। यहा से ६ अक्टूबर को दोपहर एक बजे रवाना होगी और शाम को ४ बजे भरत पुर पहुच जाएगी। इसी दिन रात को ११ बजे भरत पुर से रवाना होकर स्पेशल ट्रेन राजस्थान की राजधानी जय पुर ७ अक्टूबर को प्रात ४ बजे पहुंच जाएगी। दिन भर जय पुर के व्यस्त कार्यक्रम के बाद रात १० बजे जयपुर से रवाना होकर ८ अक्टूबर को प्रातः ६ बजे जोध पुर पहुंचेगी। इस ऐतिहासिक नगर के परिभ्रमण के बाद ८ अक्टूबर को रात के ९ बजे स्पेशल जोधपुर से चल कर ९ अक्टूबर को प्रात. ४ बजे आबूरोड़ पहुंचेगी। उसी समय बसों द्वारा माउण्ट आबू के लिए रवाना होंगे।

माउण्ट आबू के दर्शनीय स्थानों में परिभ्रमण के बाद दोपहर १२ बजे वापसी बस यात्रा से १ बजे तक माउण्ट रोड लौट आएंगे। ९ अक्टूबर को शाम ४ बजे स्पेशल गुजरात के प्रसिद्ध नगर पोरबन्दर के लिए रवाना होगी, अगले दिन १० अक्टूबर को सुबह आठ बजे यहां पहुच जाएंगे। पोरबन्दर से ११ अक्टूबर को रात २ बजे श्री कृष्ण की लीला भूमि द्वारिका सिटी के लिए प्रस्थान करेंगे और वहा प्रात: ८ बजे पहुंच जाएंगे। द्वारिका सिटी से दोपहर २ बजे रवाना होकर दोपहर ३बजे तक ओखा पहुचेंगे। ओखा से रात के१० बजे रवाना होकर रात को तीन बजे जामनगर पहुंचेंगे, जामनगर से दोपहर १२बजे रवाना होकर रात को ७ बजे राजकोट पहुचेंगे। १३ अक्टूबर को प्रात ८ बजे राजकोट से रवाना होकर महर्षिदयानन्द की जन्मभूमि टंकारा बसो द्वारा जाएंगे, वहा प्रात. ९ बजे पहुच जाएंगे। दोपहर दो बजे टंकारा से रवाना होकर बसो द्वारा ३ बजे तक राजकोट पहुच जाएंगे। राजकोट से रात के १२ बजे स्पेशल चलेगी वह १४ अक्टूबर को प्रातः ५ बजे वीरावल पहुचेगी। १६ अक्टूबर को शाम के ४ बजे वीरावल से चलकर १५ अक्टूबर का प्रात. ४ बजे स्पेशल गुजरात के महानगर अहमदाबाद पहुचेगी। यहां से शाम को ४ बजे रवाना होकर स्पेशल अन्तर्राष्ट्रीय सत्यार्थ प्रकाश शताब्दी समारोह के स्थान उदयपुर १५ अक्टूबर को रात के १२ बजे पहुचेगी।

१५ से १८ अक्टूबर तक सत्यार्थप्रकाश शताब्दी कार्यक्रम में भाग लेने के बाद स्पेशल १८ अक्टूबर को रात के १२ बजे उदयपुर से रवाना होगी, वह १९ अक्तूबर को प्रातः ४ बजे राजस्थान के प्रसिद्ध नगर चित्तौडगढ़ पहुंचेगी। यहां से प्रातः ११ बजे रवाना होकर १९ अक्तूबर को शाम के ६ बजे ब्यावर पहुचेगी। २० अक्तूबर रात के १ बजे ब्यावर से चलकर स्पेशल महर्षि की निर्वाणस्थली अजमेर प्रात. ३ बजे पहुंचेगी। २० अक्तूबर को रात के १० बजे स्पेशल अजमेर से चलकर २१ अक्तूबर को प्रात ५ बजे अलवर पहुंचेगी। इसी दिन दोपहर को १ बजे अलवर से रवाना होकर शाम के ५ बजे स्पेशल ट्रेन वापस दिल्ली जकशन लौट आएगी। □

---

### श्री रामवक्षलाल चिरायु हों !

चम्पारण-बेतिया-बिहार के आर्यनेता एवं सार्वदेशिक सभा के अन्तरग सदस्य श्री रायवक्ष लाल जी चिरायु हो, वह लम्बी उम्र तक आर्य जाति और देश की सेवा करते रहें। खेद है कि १७ मई, १९८१ के 'आर्य संदेश' मे उनके देहावसान का भ्रामक समाचार छप गया था। उनकी धर्मपत्नी का स्वर्गवास हुआ है। इस भूल के लिए हमें खेद है।

# 'मैं स्वामी दयानन्द का पक्का चेला हूं'

## —स्वातंत्र्यवीर सावरकर

गतांक से आगे —

चक्की, कोल्हू इत्यादि में काम का उत्पादन कम होने पर पहली बार एक सप्ताह की हथकड़ी, दो बार अपराध करने पर एक सप्ताह की हथकड़ी और ४ दिन का भूखा रखनेवाला भोजन तीसरी बार का दंड एक या दो मास के लिए पैरों में बेड़ियाँ अथवा दोनों टांगो में क्रासबार जिससे दोनो टांगे सदा अलग-अलग रहे, फिर जुर्म करने पर बेड़ियाँ सहित छह मास अधिक की तनहा कैद। भोजन ऐसा गन्दा कि पशु भी उसे न खाए। गणेश सावरकर और विनायक सावरकर दोनो भाई इस जेल में रहे पर एक बार भी वे आपस मिल न सके। इन अत्याचारो से तंग कुछ क्रान्तिकारी काला पानी कैदियों ने आत्म हत्या कर ली। कुछ शोर मचा पर गोरी सरकार ने एकदम दबा दिया।

सावरकर बंधुओ के साथ ब्रिटिश सरकार द्वारा किए गए इस बर्बर अत्याचार से देश के हजारों युवक-युवतियो को स्वतंत्रता संग्राम के लिए प्रेरित किया। भारत की आजादी के संग्राम के साथ सावरकर बंधुओ का नाम और बलिदान अमर रहेगा।

### काला पानी से मुक्ति · गांधी-हत्या में पुन: कैद

सावरकर १९१० से १९२१ तक काला पानी जेल मे रहने के बाद, वहाँ से महाराष्ट्र के रत्नागिरि जेल मे १९३७ तक नजरबन्द रहे। १९३७ में देश के अनेक प्रदेशो मे जब कांग्रेस शासन स्थापित हुआ, तब सावरकर को रत्नागिरि से मुक्त कर दिया गया। ३० जनवरी, १९४८ के दिन गांधी जी की हत्या मे सम्मिलित होने के केस में बंदी बना फिर फँसाया गया। सावरकर जी ने अपने ५० पृष्ठों के बयान में अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा कि गाँधीजी की नीतियो और विचारो के साथ गहरा मतभेद होने और उनका कटु आलोचक होने पर भी उनकी हत्या के साथ मेरा दूर का भी संबन्ध नहीं है।' १० फरवरी १९४९ को न्यायाधीश आत्माचरण ने ससम्मान निरपराध घोषित कर मुक्त कर दिया।

### मेरे जीवनकाल में मेरा लक्ष्य पूरा हो गया।

१९५७ में समस्त देश में १८५७ के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के उपलक्ष्य में दिल्ली में मनायी गयी प्रथम शताब्दी के अवसर पर वीर सावरकर ने अपने अभिनन्दन के उत्तर में विशाल जन सभा मे कहा था—"आज तक जिस व्यक्ति ने मेरा साथ दिया है, उसे काला पानी, निर्वासन या फांसी मिली है। इससे अधिक मैं किसी को कुछ दिला भी नही सकता। मुझे तो इसी बात की प्रसन्नता है कि मेरे जीवन मे ही मेरा जीवन लक्ष्य पूरा हो गया। अंग्रेज यहां से चला गया और भारत स्वतंत्र हो गया। देश की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखना और इसे समृद्धि के शिखर पर पहुचाना हम सबका काम है। जहां तक मेरा सबंध है मैं इतना ही कह सकता हूं कि मुझे अपने भाग्य पर कोई पश्चात्ताप नही है।

### आर्यसमाज के आन्दोलन में सावरकर जी

शोलापुर के आर्य महासम्मेलन में हैदराबाद सत्याग्रह का निर्णय किया गया था। सावरकर जी उसमे सम्मिलित हुए थे, खूब प्रोत्साहन दिया और सत्याग्रह प्रारम्भ होने पर इस धर्मयुद्ध मे उनका पूरा सक्रिय सहयोग और-आशीर्वाद रहा। सिंध में सत्यार्थ प्रकाश" के १४ वें समुल्लास पर लगाई गई जप्ती के विरुद्ध भी सावरकर जी ने जोरदार आवाज उठाते हुए आर्य समाज के आन्दोलन मे सोत्साह भाग लिया।

### आर्यसमाज का संस्मरण

इसी प्रसंग में हम एक संस्मरण का उल्लेख करना चाहते हैं। हिंदू महासभा के अध्यक्ष के रूप मे वीर सावरकर १९३८ मे अमृतसर पधारे थे। उन दिनों हम अमृतसर रहते थे और आर्य समाज श्रद्धानन्द बाजार वहा की मुख्य समाज के प्रचार मंत्री के पद पर थे। कुछ मित्र और सहयोगियों के साथ उनसे मिले और समाज के कार्य कलापों का वर्णन जब उन्हें सुनाया, बहुत प्रसन्न हुए। हमारे विशेष अनुरोध पर सावरकर जी आर्य समाज मंदिर मे पधारे और अपने भाषण मे महर्षि दयानन्द की विशेष श्रद्धा और निष्ठा से प्रशंसा करते हुए बोले—हिन्दू जाति की रक्षा और राष्ट्र सेवा में स्वामी दयानन्द से लेकर आज तक जितने बलिदान त्याग, उत्सर्ग आर्य समाज ने किये हैं, देश की अन्य किसी संस्था ने नहीं किए।

### स्वतंत्र्य वीर का महाप्रयाण, अन्तिम आकांक्षा

जनवरी १९६५ के ताशकन्द समझौते मे सावरकर जी के हृदय को इतना गहरा धक्का लगा कि २६ फरवरी, १९६६ को उनका इस संसार से महाप्रयाण हो गया। उनकी अन्तिम आकांक्षा यह थी—

"मेरी मृत्यु पर किसी तरह की हड़ताल या छुट्टी करके दैनिक कार्य का कहीं भी किसी प्रकार भी हर्ज न किया जाए। शव यात्रा का भारी भरकम जलूस भी न निकाला जाए। वेद मंत्रों के साथ बिजली के सर्वदाह मशीन में शरीर भस्म कर अन्त्येष्टि पूरी कर ली जाए। इसके बाद पिंड दान या श्राद्ध जैसी कोई क्रिया न हो।

लेखक : आचार्य दीनानाथ सिद्धान्तालंकार
ई।३६ शास्त्री नगर जयपुर

---

### श्री अमरनाथ शर्मा का देहावसान

आर्यसमाज सुदर्शन पार्क के प्रतिष्ठित सदस्य श्री अमरनाथ शर्मा का २२-५-८१ को निधन हो गया। सभी समाज के अधिकारियों व सदस्यो ने गायत्री जाप के उपरान्त २ मिनट का मौन रखा और ईश्वर से दिवंगत आत्मा की सद्गति तथा परिवार को शान्ति-प्राप्ति की प्रार्थना की।

—मंत्री आर्यसमाज सुदर्शनपार्क

---

## आर्यनेता लाला हरिवंश जी का देहावसान

प्रसिद्ध आर्यनेता लाला हरवंश जी का देहावसान २१ मई को हो गया। उनके पार्थिव शरीर पर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सरदारीलाल वर्मा, भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा के प्रधान तथा आर्य प्रादेशिक सभा के महामन्त्री श्री रामनाथ सहगल, शुद्धि सभा के महामन्त्री श्री द्वारकानाथ सहगल आदि ने तथा अन्य संस्थाओं के प्रतिनिधियों ने पुष्पमालाएँ अर्पित की। आर्यसमाज चूनामंडी के प्रधान श्री प्रीतमदास और सभा-मंत्री श्री श्यामलाल आदि ने मार्ग में पुष्पमालाएं अर्पित कीं। श्मशान-यात्रा एवं श्रद्धांजलि सभा हजारों में शोक सन्तप्त आर्य जनों ने अपनी श्रद्धांजलि प्रस्तुत की।

भारतीय शुद्धि सभा बिरला लाइन्स, आर्यसमाज चूनामंडी के भवन निर्माण मे श्री हरिवंश जी के योगदान की श्री रामनाथ सहगल ने चर्चा की।

लाला जी का चौथा रविवार २४ मई के दिन आर्यसमाज चूनामंडी में सम्पन्न हुआ। आर्यसन्देश परिवार की ओर से प्रार्थना है कि दिवगत आत्मा को भगवान सद्गति देंगे और शोक सन्तप्त परिजनों को हार्दिक सान्त्वना देंगे।

---

# आर्यसमाजों के सत्संग

७ जून, ८१

अन्धा मुगल प्रताप नगर—पं० ईश्वरदत्त एम.ए; अमर कालोनी—डा०—रघुनन्दन सिंह; अशोक विहार के-सी-५२-ए—प. ओमवीर शास्त्री-७ आर्यपुरा—पं० देवराज वैदिक मिश्नरी; आर के पुरम सैक्टर ६—प० केशव चन्द—मुन्जाल; आनन्द विहार हरि नगर एल ब्लाक—पं० वेदव्यास भजनोपदेशक; किंग्जवे कैम्प—प० रामरूप शर्मा; कालका जी—आचार्य कृष्ण गोपाल; कालका जी डी डी ए फ्लैटस एल-१।१४३-ए—प० अशोक कुमार विद्यालंकार; करोल बाग—का० महेश विद्यालकार, गांधी नगर—पं० प्राणनाथ सिद्धान्तालकार; गीता कालोनी—पं० राम देव शास्त्री; गुप्ता कालोनी—प० वेदपाल शास्त्री; गोविन्द भवन दयानन्द वाटिका—प० गणेश दत्त वानप्रस्थी; जगपुरा भोगल—आचार्य रामशरण मिश्रा; जनकपुरी सी-३—पं० रामदेव शास्त्री, जनकपुरी बी ३। २४—प० छज्जूराम शास्त्री; टैगोर गार्डन—पं० खुशीराम शर्मा; तिलक नगर—श्रीमती प्रकाशवती शास्त्री; देव नगर—पं० वीर पाल विद्यालकार; नारायण विहार—प्रो० सत्य पाल बेदार; नया बांस—डा० रघुवीर वेदालंकार; निर्माण विहार—आचार्य हरिदेव सि० भू०; पंजाबी बाग—प० हरिदत्त शास्त्री वेदाचार्य; पश्चिम पुरी जनता क्वाटर्ज—प० ओमपकाश भजनोपदेशक; बाग कडे खाँ—प० बरकतराम भजनोपदेशक; बसई दारापुर—पं० सीसराम भजनोपदेशक; बाजार सीताराम—कविराज बनवारी लाल शादा—भजन मण्डली; बिरला लाइन्स—पं० सुरेन्द्रकुमार शास्त्री; मोडल बस्ती—डा० देवेन्द्र द्विवेदी; मोतीबाग—प० सत्यभूषण वेदालंकार; राणा प्रताप बाग—प० प्रकाशचन्द वेदालकार राजौरी गार्डन—पं० सत्यपाल मधुर भजनोपदेशक; लड्डूघाटी—तुलसीराम भजनोपदेशक; लाजपत नगर—स्वामी मिथिलेश; लखूनगर—पं० सत्यदेव स्नातक—भजनोपदेशक भजन मण्डली; विक्रमनगर—प० विष्णुदेव प्रसाद विद्यालंकार;विनय नगर—श्रीमती लीलावती आर्या; सुदर्शन पार्क;—प्रो० भारतमित्र शास्त्री वेदालंकार; सराय रोहेला—डा० सुखदयाल भूटानी; श्री निवास पुरी—पं० उदयपाल शास्त्री; शालीमार बाग—पण्डित शिव कुमार शास्त्री; हनुमान रोड—पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार हौज खास डी-२० पं० हीरा प्रसाद शास्त्री;

—वेद प्रचार मण्डल द्वारा प्रचारित

## पारिवारिक सत्संग

आर्य युवक सभा लुधियाना की ओर से दिनांक २४-५-८१ दिन रविवार को श्री राम शकल जी यादव के निवास स्थान पर, करतारपुरा (नजदीक काश्मीर नगर) मे पारिवारिक सत्सग किया गया। पंडित रामकुमार आर्य, पुरोहित आर्य-समाज स्वामी दयानन्द बाजार लुधियाना; ने हवन यज्ञ कराया, यह यज्ञ उस बस्ती में जाकर किया गया, जहाँ के लोग यह जानते भी नही थे कि आर्यसमाज क्या है। दो नवयुवक हवन यज्ञ से इतना प्रभावित हुए कि उन्होंने उसी समय यज्ञोपवीत अपनी श्रद्धा से धारण किया। हवन यज्ञ के पश्चात् श्री कृपाराम जी आर्य एवं पंडित रामकुमार जी आर्य के मनोहर भजन हुए। उसके पश्चात् स्वामी चिदानन्द जी का मनोहर प्रवचन हुआ।

### आर्यसमाज अशोक विहार को सहायता दें

आर्यसमाज अशोक विहार III सस्था की दिल्ली विकास प्राधिकरण डी. डी. ए. ने ५०० वर्गमीटर भूमि देने की स्वीकृति दे दी है। आगामी १ जुलाई ८१ तक भूमि की कीमत ३६००० रुपए देना है तथा इस पर निर्माण करने के लिए प्रभूत धनराशि आर्यसमाज को उपेक्षित है।

अत: आर्य-हिन्दू जनता से प्रार्थना है कि वह Crossed Draft या चैक आर्य-समाज अशोक विहार के नाम पर ए-१०३, अशोक विहार III दिल्ली-५२ पर अपनी सहायता भेजें।

### कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस (जि० अलीगढ़) उ० प्र०

१ जुलाई १६८० से नया वर्ष। शिशु कक्षा से बी० ए० स्तर एवं आचार्य तक की निःशुल्क शिक्षा। गुरुकुल पद्धति पर नि:शुल्क छात्रावास। सबका सीधा-सादा, एकसा रहन-सहन, कड़ा अनुशासन, नगर से दूर, स्वास्थ्यप्रद जलवायु सामान्य विषयों के अतिरिक्त धर्म, संगीत, नैतिकता, गृहकार्यों की भी अनिवार्य शिक्षा। देशी घी, दूध, नाश्ता सहित भोजन शुल्क ७० रु० मात्र नियमावली मगवायें।

—मुख्याधिष्ठात्री

### दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रकाशन

| | |
|---|---|
| सत्यार्थप्रकाश सन्देश (हिन्दी) | १.०० |
| ,, ,, (अंग्रेजी) | समाप्त |
| आर्य सन्देश-महासम्मेलन विशेषांक | ६.०० |
| पादरी भाग गया—ओम्प्रकाश त्यागी | ०.३० |
| स्वामी श्रद्धानन्द-बलिदान अर्द्ध शताब्दी स्मारिका | ६.०० |
| सत्यार्थप्रकाश शताब्दी समारोह स्मारिका | ६.०० |

सम्पर्क करें—

अधिष्ठाता प्रकाशन विभाग
दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा,
१५, हनुमान रोड,
नई दिल्ली-११०००१

卐 'आर्यसन्देश' के स्वयं ग्राहक बनें—दूसरों को बनाएं

卐 आर्यसमाज के सदस्य स्वयं बनें—दूसरों को बनाइए

卐 हिन्दी-संस्कृत भाषा स्वयं पढ़ें दूसरों को भी पढ़ाइए—



दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के लिए श्री सरदारी लाल वर्मा द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा भाटिया प्रेस ७२७/१-सी, दुर्गानगर बस्ती, चांदीनगर दिल्ली-३१ में मुद्रित। कार्यालय १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली ०१०१

ओ३म्

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

# आर्य सन्देश

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा का साप्ताहिक मुखपत्र

एक प्रति ३५ पैसे | वार्षिक १५ रुपये | वर्ष ४ : अंक ३४ | रविवार १ आषाढ़, वि० २०३८ २१ जून १९८१ | दयानन्दाब्द १५६

# लालच देकर धर्म-परिवर्त्तन पर तुरन्त रोक लगाई जाए

## इस कार्य के लिए विदेशी धन का आयात बन्द हो : तमिलनाडु के हिंदू संघटन की मांग : हमें पैसा देकर विधर्मी बनाया गया

### भुक्तभोगियों की करुण कथा

नई दिल्ली। 'हमारी दो मांगे हैं एक तमिलनाडु के मीनाक्षीपुरम गांव में हुए सामूहिक धर्म-परिवर्तन के मूल कारणो विशेषत विदेशी धन के प्रलोभन से हुई घटना की तुरन्त न्यायिक जाच कराई जाए और निर्धन एव उपेक्षित हरिजनो एव जनजातियो का दूसरे आर्थिक प्रलोभनों द्वारा सम्भावित धर्मपरिवर्तन रोकने के लिए विदेशी धन का आयात तथा लालच देकर धर्म-परिवर्तन करने पर तुरन्त प्रतिबन्ध लगाया जाए—इन शब्दो मे पानपोली, तमिलनाडु की प्रगतिशील सस्था हिन्दू समुदाय बालार्ची मानरम् के प्रधान श्री पी. रामचन्द्रन तथा मन्त्री श्री के. एस. अनन्तराम शेषन ने मीनाक्षीपुरम मे हरिजनो के सामूहिक धर्म-परिवर्तन के विषय मे अनुसूचित एव अनुसूचित जनजातियो के क्षेत्रीय निदेशक (मद्रास) के वक्तव्य को आश्चर्यजनक एव खेदजनक कहा है। यह सूचना भी प्राप्त हुई कि वे अपनी मागो का औचित्य सिद्ध करने के लिए जल्दी ही गृहमन्त्री ज्ञानी जैलसिंह से भी मिलेंगे।

#### लालच देकर विधर्मी बनाए गए

उक्त दोनो सज्जनो ने बुधवार ता० १० जून को प्रेस क्लब मे आयोजित एक प्रेस सम्मेलन में घोषित किया कि मीनाक्षीपुरम गाव के हरिजन आर्थिक प्रलोभन से मुसलमान बनाए गए हैं। धर्म परिवर्तन करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को ५००) दिए गए। उन्होने यह आरोप भी लगाया कि इस सामूहिक धर्म-परिवर्तन के लिए आयोजित समारोह मे ६०,००० हजार रुपये खर्च किए गए। पन्द्रह हजार रुपयो मे एक जमीन मार्केट में खरीदी गई और एक लाख रुपए से मस्जिद बनाने का आश्वासन दिया गया। यह भी उल्लेखनीय है कि इस धर्म परिवर्तन के समय स्थानीय एम. एल. ए. सबल हमीद और एम. पी. अब्दुल समद के अतिरिक्त अरब के इमाम और श्री लंका की ससद के अध्यक्ष मौजूद थे। मीनाक्षी पुरम जैसे छोटे से गाँव मे यह विदेशी पैसे से हुआ और यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है कि उस छोटे से गांव मे इन विदेशियों के आने की क्या जरूरत थी?

सवाददाता को सूचना देते हुए उक्त दोनो सज्जनो ने बतलाया कि अनुसूचित एव जनजातियो के क्षेत्रीय निदेशक ने अपनी जाच के बाद सामूहिक धर्म-परिवर्तन के लिए सवर्ण हिन्दुओ द्वारा किए व्यवहार को कारण बताया, जो पूरी तरह गलत है। दोनो सज्जनो के अनुसार उस क्षेत्र में छूआ-छूत की कोई घटना नहीं हुई। वर्षों से गाव मे सभी सम्प्रदाय भाईचारे की भावना से रहते है।

प्रेम सम्मेलन मे पुन हिंदू बने अरुणाचलम और परम शिवम ने बतलाया कि वे ५००-५०० रुपए लेकर मुसलमान बने थे। उनके गाव के आधे लोग पैसे लेकर मुसलमान बन गए थे। अब तीन दर्जन के लगभग पुन: हिंदू बन गए हैं। □

# आर्यसमाज लन्दन द्वारा जनकल्याण-कार्य

आर्यसमाज लन्दन के तत्त्वावधान मे साप्ताहिक सत्संग वन्देमातरम् भवन मे बड़ी सफलतापूर्वक सम्पन्न हो रहे हैं। आर्यसमाज की बहनों द्वारा प्रस्तुत ऋषि कीर्तन के सामूहिक गान से समस्त वातावरण भक्तिपूर्ण हो जाता है। प्रति सप्ताह एक वेद मन्त्र की व्याख्या की जाती है जो कि वर्तमान सामाजिक मूल्यों के अनुकूल होती है।

प्रो० सुरेन्द्रनाथ भारद्वाज, श्रीमती सावित्री छावड़ा, श्रीमती कैलाश भसीन श्री कपिलदेव प्रिजा, श्री जगदीश शर्मा तथा पं. गिरीश चन्द्र ने विविध स्थानों पर यज्ञ करवा कर वैदिक धर्म का प्रचार किया।

#### जन कल्याण तथा सेवा

पश्चिम की रंगबिरंगी चकाचौंध तथा तीव्र गति से भागने वाले जीवन में उलझकर आहत हुए व्यक्तियो को सांत्वना सहयोग प्रदान करने मे आर्यसमाज सदैव अग्रणीय रहा है। विगत दिनो ऐसे ही शारीरिक तथा मानसिक रूप से पीडित ६२ वर्षीय बगाली श्री क्षितीश सेन की दुर्घटना का समाचार सुनकर प्रो. सुरेन्द्रनाथ भारद्वाज (प्रधान आर्यसमाज) ने लन्दन के हैमर स्मिथ हास्पिटल मे भेंट करके उन्हे सांत्वना प्रदान की तथा आर्य साहित्य भेंट किया तथा अन्य सहयोग का आश्वासन देकर राहत पहुंचाई। □

—o—

# दिल्ली सभा का शिष्टमण्डल प्रधानमन्त्री से मिलेगा

## धर्मरक्षा अभियान एवं विविध विषयों पर अन्तरंग सभा के महत्वपूर्ण निर्णय

नई दिल्ली। रविवार दिनांक १४ जून के दिन दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा के अधिवेशन मे दिल्ली प्रदेश मे धर्मरक्षा महाभियान को व्यापक रूप देने के लिए ५ जुलाई, १९८१ को कार्यकर्त्ता सम्मेलन का आयोजन करने का निश्चय किया गया। इस सम्मेलन के पश्चात् दिल्ली के प्रत्येक क्षेत्र मे क्षेत्रीय आर्यसमाजों के तत्त्वावधान मे सभाओ के माध्यम से विदेशी धन के दुरुपयोग से पिछड़े वर्गों के धर्म-परिवर्त्तन के प्रति जनता को सतर्क किया जाएगा।

सभा ने यह निश्चय भी किया जिन घरो मे दहेज के कम आने से देवियो पर अत्याचार किए जाते हैं उन घरो के सामने आर्यसमाज धरना देगा। इस सम्बन्ध मे सम्बन्धित परिवारों की सूचना निकट की आर्यसमाज को दी जाए, जिससे कि आर्यसमाज इस बारे में उचित कार्यवाही करे।

हरिजन एवं पिछड़ी बस्तियो में सफाई, चिकित्सा एवं यज्ञों के व्यवस्थित कार्यक्रम बनाए जाएगे। दहेज सम्बन्धी अत्याचारो के दोषी परिवारो के विषय मे दिल्ली प्रतिनिधि सभा का एक शिष्टमण्डल प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी से भेंट करेगा। □

सम्पादक—नरेन्द्र विद्यावाचस्पति

# राष्ट्र के आह्वान पर सम्पूर्ण प्रजा भागकर एकत्र हो जाए

प्रागपागुदगध राक्सर्वतस्त्वा दिश आधावन्तु ।
अम्ब निष्पर समरीर्विदाम् ॥ यजु ६-३६

ऋषि: मधुच्छन्दा: । देवता-सोम: ।
छन्द : उष्णिक्

शब्दार्थ—हे सोम राजन्, प्रजाएं मधुर भावनाओं से युक्त होकर (त्वा) तेरे पास (प्राक्) पूर्व (अपाक्) पश्चिम (उदक्) अपर या उत्तर (अधराक्) नीचे या दक्षिण (सर्वत: दिशा) सब दिशाओ से (आधाव-तु) अनुकूलतापूर्वक भागती आए और तुझे शुद्ध तथा पवित्र बनाए रखें। (अम्ब) हे मातृभूमि तू राजा और प्रजा दोनो को (निष्पर) अन्न सामग्री से भरपूर रख, जिससे (अरी) प्रजाएं तुझे और राजा को (सविदाम्) माता के समान स्नेहपूर्ण जाने और प्रेम करें।

निष्कर्ष—राजा का कर्त्तव्य है कि वह अपनी सपूर्ण प्रजा के लिए अन्न जल और ओषधियो को मिलावट रहित प्राप्त कराने का तथा इस मन्त्र मे पर्याप्त अन्न व्यवस्था करन की चर्चा है।

२. अम्ब द्वारा मातृभूमि को सम्बोधित किया है और उससे भरपूर रखने की प्रार्थना है, इसलिए अन्न का ग्रहण किया है। भूमि के अतिरिक्त और कोई अन्न दे भी नही सकता।

३. यदि राजा और मातृभूमि मिलकर प्रजा को अन्न, जल और चिकित्सा की पूर्ण व्यवस्था से सन्तुष्ट रखेगे, तव प्रजाए राजा के आह्वान पर भागी चली आएंगी, और सब प्रकार का त्याग करने को उद्यत रहेंगी।

प्रजाओं को राजा के आह्वान पर भाग कर उपस्थित होना चाहिए, लेकिन इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि राजा विषयों मे लिप्त होकर, अथवा अपने व्यक्तियों के साथ पक्षपात करके अशुद्ध या पथ भ्रष्ट न होने पाए।

४ महर्षि दयानन्द ने भावार्थ में लिखा है कि राजपुरुष प्रजा से अनीति पूर्वक धन न ले। प्रजा के साथ अन्याय न करें। और दुष्टों को सदा दण्ड दिया करे।

विशेष—१. मधुच्छन्दा: ऋषि सकेत करता है कि राजा और प्रजा दोनो को एक दूसरे के प्रति मधुर भावनाएं रखनी चाहिएं। परस्पर अन्न की सुव्यवस्था रखनी चाहिये।

२ सोम देवता - इस मन्त्र का विषय है। सोम औषधियो का राजा है, इसलिए राजा का मुख्य कर्तव्य अन्न व्यवस्था करना भी है।

३. उष्णिक् छन्द - सकेत करता है कि राजा प्रजा को परस्पर शुचि (शुद्ध) रखना चाहिए, और सब तरह से स्नेह करना चाहिये।

अर्थपोषक प्रमाण—उष्णिक—उष शौचे, स्निह प्रीतौ। निरुक्त.

मधुच्छन्दा—अन्न वै मधु। ता० ११-१०-३. छदयति अर्थतिक्रमा। नि० ३-१४।

सोम—सोम ओषधीनामधिराज.। गो० ३०१-१७ अन्न सोम.। को० ८-६ सोम. पय:। शत. १२-७-३-१३. ओषधय: फलपाकान्ता:=अन्न।

आधावन्तु—धावु गति शुद्ध्यो:। प्रजावा: अरी:। शत ३-६-४-२१

—मनोहर विद्यालंकार

—o—

# तू मानव है, निर्भय होकर, नव इतिहास बनाता चल !

—भैरवदत्त शुक्ल

तेरी सजग मनीषा क्यो अब, कलुष-गली मे भटक रही है।
मेधा श्रद्धा से कट-हट कर कदम-कदम पर अटक रही है॥
तर्क-न्याय के नश्वर स्वर को, कलह क्रुद्ध हो हटक रही है।
साम्य-एकता के परिसर मे, घोर विषमता मटक रही है॥
तन को बन्धन जकड रहे हैं, मन में क्रंदन अकड़ रहे हैं।
उलझन के व्यूह तोड़ सारे, शिव विश्वास जगाता चल।
नव इतिहास बनाता चल॥

जड़िमा की काई से फिसली, चेतनता का रंग ढला है।
नासमझी के घेरे से घिर, ज्ञान विभा-का अंग गला है॥
मत-मतान्तरो की ज्वाला मे, पौरुष का ढब-ढंग जला है।
भ्रष्टाचार डाल मल बाहीं, अनाचार के संग पला है॥
नारेबाजी की छाया मे, प्रदर्शनों की मल-माया में।
व्यवहारों के शुद्ध रूप से, सबल प्रयास उठाता चल।
नव इतिहास बनाता चल॥

जड़-पूजा मे आग लगाकर, रूढ़िवाद का महल ढहा दे।
आर्य-त्रिपथगा की लहरों से, अतिचारी अवरोध बहा दे॥
वेद-पर्वों से भ्रम आवर्तों-का आलोड़ित नीर बहा दे।
तरुण भुजाओं में सुकर्म की, सजग पताका तुरत गहा दे॥
दयानन्द की प्रिय थाती ले, सच्चित्-क्षमता उफनाती ले।
सन्त्रस्त जगत् के पतझर मे, प्रिय मधुमास सजाता चल।
नव इतिहास बनाता चल॥

भौतिकता की बुनियादों पर, आध्यात्मिक प्रासाद बना ले।
वहसो की बारीकी लेकर, निष्कर्षों का वैभव पा ले॥
परम लक्ष्य पर, आन-बान पर, निज प्राणो की भेंट चढ़ा ले।
आत्मा के आलोक-पुंज से, परमात्मा के गुण-गण गा ले॥
गायत्री का सरक्षण कर, जन-जन का दूषण-शोषण हर।
वसुधा की गरिमा-गोदी मे, विभु-आकाश जिलाता चल।
नव इतिहास बनाता चल॥

—केसरी गंज, पो. रायपुर गज, जि. —सीतापुर (उ. प्र.)

### ग्रीन पार्क में शराब की दुकान बन्द की जाए

आर्यसमाज ग्रीन पार्क, नई दिल्ली ने एक प्रस्ताव स्वीकृत कर ग्रीन पार्क मार्केट मे शराब की दुकान खोलने का विरोध किया है और दिल्ली के उप राज्यपाल से अनुरोध किया है कि बस्ती की शराब की दुकान शीघ्रातिशीघ्र बन्द की जाए अन्यथा ग्रीन पार्क की महिलाएँ शराब की दुकान पर विरोध और धरना देने के लिए उद्यत हैं।

### आर्य सदेश आर्य समाज नैरोबी का प्रवक्ता बने

'आर्यसन्देश' की प्रतियां मिली। छपाई व सम्पादन देखकर मन गद्गद हो गया। आशा है कि आपकी तपस्या, श्रद्धा और निष्ठा 'आर्यसन्देश' को दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा और आर्यसमाज को सर्वोच्च शिखर पर पहुंच कर रहेगी।

मैं चाहता हूं आपका 'आर्यसंदेश' आर्य नैरोबी के प्रवक्ता या स्पोक्समैन का काम करे। 'परस्पर भावयन्त: श्रेय: परमवाप्स्यथ'। आपके पत्र 'आर्यसन्देश' मे नैरोबी के समाचार पढ़कर बहुत ही खुशी हुई।

उदयपुर सम्मेलन में भाग लेने के लिए आर्यसमाज नैरोबी के सदस्यों का प्रतिनिधि मण्डल भारत आ रहा है। वहां स्वाहिली में सत्यार्थ प्रकाश का विमोचन होगा। यहाँ आर्यसमाज का बहुत बढ़िया काम चल रहा है। बहुत आनन्द आ रहा है।

—सत्यपाल शर्मा
आर्यसमाज, पो. बाक्स ४०२४३, नैरोबी

### प्रवेश-सूचना

श्रीमद्दयानन्द गुरुकुल संस्कृत महाविद्यालय खेड़ा खुर्द, दिल्ली-८२ में प्रथमा (६) से आचार्य कक्षा पर्यन्त छात्रो का प्रवेश प्रारम्भ है। यह संस्था सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी से सम्बद्ध तथा दिल्ली प्रशासन से सहायता प्राप्त है।

संस्कृत व्याकरण, दर्शन, साहित्य आदि प्राच्य तथा गणित, विज्ञान, अंग्रेजी आदि आधुनिक विषयों के उत्तम अध्यापन के साथ-साथ छात्रों के आवास-भोजन आदि का उत्तम प्रबन्ध है।

शास्त्री एवं आचार्य के छात्रों के लिए नि:शुल्क भोजन एवं आवास की समुचित व्यवस्था है। प्रवेशार्थी शीघ्र सम्पर्क करें।

भवदीय
(हंसराज बहल) कुलपति

## अपनी भाषा, सभ्यता और मातृभूमि की रक्षा करें

इला सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः ।
बर्हि सीदन्त्व स्रिधः ॥ ऋग्वेद १. १३. ९

(इला) मातृ भाषा, (सरस्वती) मातृ सभ्यता और (मही) मातृभूमि-ये (तिस्र) तीनो देवियां (मयोभुव) कल्याण करने वाली हैं । ये तीनो (अस्रिधः) अहिंसित और (बर्हि) वृद्धि को प्राप्त होकर (सीदन्तु) विराजमान रहें ।

## वीरभोग्या वसुन्धरा !

इतिहास की सीख है कि राष्ट्रो और जनजातियो के जीवन-सघर्ष मे कायर, निर्बल जातियाँ और राष्ट्र समाप्त हो जाते हैं, केवल वीर जातियाँ और राष्ट्र ही जीवित रह जाते हैं । इतिहास की इस सीख से जब हम अपने राष्ट्र का मूल्यांकन करते हैं, तब आशा और निराशा-दोनो ही भावनाएं उत्पन्न होती है । म बुद्ध द्वारा दी अहिंसा की शिक्षा ग्रहण करने से पूर्व हमारे देश के आर्य भारतीय प्रजाजन शस्त्र और शास्त्र द्वारा देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर तक पहुचना अपना आवश्क कर्त्तव्य मानते थे । उस समय तक हम कूपमण्डूक नही थे । जीवन-सग्राम मे सघर्ष कर आक्रान्ता तथा दूसरी जातियो के अच्छे तत्त्वो को पचा जाना हमारा जीवन-दर्शन था । कालान्तर में हम जीवन-संघर्ष में और जीवन दृष्टि मे कूपमण्डूक बन गए ।

सम्भवतः हमारी इसी संकुचित वृत्ति का परिणाम था कि जब यूनानी विजेता सिकन्दर घोड़ों की अपूर्व सेना लेकर आया, पुरु ने उसका मुकाबला अपने हाथियो के अनन्त सैन्यबल से किया । तेज घुड़सवारी की सेना के सम्मुख शिथिल गजवाहिनी टिक नहीं सकी । फिर मुगल आक्रान्ता बारूद लेकर आया, उसकी तोपों और बन्दूको के सम्मुख राणा सांगा की तेज तलवारो और भालो का शौर्य कुछ काम नही आया । फिर आए पुर्तगाली, फ्रेंच और अंग्रेज । ये आधुनिक नौ सेना और स्थलीय आयुधों के साथ आये थे, फिर डूप्ले और क्लाइव ने अनुभव किया कि भारतवासी अपने मातृभूमि के प्रति निष्ठा रखने के स्थान पर विदेशियों के भाड़े के टट्टू बनने मे कोई आगा-पीछा नहीं करते । इतिहास प्रमाण है कि जब विदेशी आधुनिक शस्त्रास्त्रो के साथ लैस होकर आए तो हमारे देशवासी केवल शौर्य और पुराने परम्परागत हथियारों पर ही आश्रित रहे ।

हमने इतिहास से कुछ सीखा नही । आज पाकिस्तान इस्लामी अणुबम बनाने के लिए तुला दीखता है । क्या हम छोटे से इजराइल से कुछ सीख ग्रहण कर सकते हैं ? २६ लाख की आबादी का छोटासा इजराइल दस करोड अरब प्रजाजनो के राष्ट्रो से घिरा हुआ है । अरब राष्ट्रो के नीति-निर्धारक बार-बार इजराइल को समाप्त करने की बात कहते हैं वे उसके बन्धक पकड़ कर दूर अफ्रीकी भूभाग मे ले जाते हैं, साहसी इजराइल योद्धा उन्हे छुड़ा लाते हैं । अरब राष्ट्र इजराइल को नष्ट करने के लिए इस्लामी अणुबम बनाने की बात कहते हैं और इजराइल उनके आणविक संयन्त्रों को ही नष्ट कर देता है । नीति कहती है कि 'शठ प्रति शाठयम्' । शठ के साथ शठता करने में कोई दोष नहीं है । पिछले तैंतीस वर्षों में पाकिस्तान भारत पर तीन बार आक्रमण कर चुका है, अब वह फिर बड़ी ताकतो से हथियार लेकर युद्ध की तैयारी कर रहा है, विदेशी विशेषज्ञ स्वीकार करते हैं कि इस वर्ष में वह आणविक शस्त्रास्त्र तैयार कर लेगा,ऐसे समय भारत को शान्त बैठे रहना ठीक नहीं । सिकन्दर, बाबर और दूसरी विदेशी ताकतों के ही समान पाकिस्तान अथवा उसके साथी भारत को शक्तिशाली और स्वावलम्बी देखना पसन्द नहीं करते । वे हम पर अणुबम से आक्रमण करें, उस क्षण के लिए हमें समय रहते तैयार होना होगा । हमें भूलना नही होगा कि 'वीर भोग्या वसुन्धरा'—केवल वीर राष्ट्र ही जीवित रहते हैं, कायर ओर निर्बल इतिहास के पन्नों से गायब हो जाते हैं ।

———

## उर्दू की जंग: निशाना कुछ और है !

बिहार ने उर्दू को द्वितीय भाषा के रूप मे मान्यता दी है । इसके बाद उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह ने आश्वासन दिया है कि जल्दी ही प्रदेश मे उर्दू को द्वितीय भाषा के रूप में मान्यता दे दी जायेगी, अब केवल रस्मी कार्यवाही शेष है । पिछले दिनों लखनऊ में एक गैर मुस्लिम लेखक सम्मेलन हुआ था । उसमे गैर मुस्लिम लेखक तो अगुलियों पर गिन सकते थे, परन्तु उस अवसर पर मुस्लिम अधिकारी और दर्शक सैकडो की गिनती मे उपस्थित थे । उनमे ही कुवैत के अरब टाइम्स के सम्पादक भी उपस्थित थे । स्मरण रहे कि इसी 'अरब टाइम्स' ने जनवरी के महीने में सम्वाद दिया था कि कुवैत आदि अरबो रुपयो की धनराशि खर्च कर भारत के हरिजनों को मुसलमान बनाने के लिए प्रयत्नशील है ।

उसी बदनाम पत्र के श्री नजमी ने ऐलान किया है—'उर्दू की जग उर्दू के दूसरी सरकारी भाषा घोषित किए जाने पर समाप्त नहीं होगी, बल्कि उन मान्यता के आधार पर आगे बढाई जाएगी । ताकि उर्दू को अंग्रेजी के बाद दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का स्थान दिलाला जा सके ।' इस सम्मेलन की रोशनी मे २६ अप्रैल को सोनीपत के साप्ताहिक पैगाम की सूचना मे कहा गया है कि हरियाणा के शिक्षामन्त्री श्री देसराज ने घोषणा की है कि हरियाणा मे पहली कक्षा से दसवी कक्षा तक उर्दू अनिवार्य रूप से पढाई जाएगी । सम्भवत. पजाब मे भी कुछ ऐसी ही तैयारियां हो रही होगी । यदि ये सूचनाए और सम्वाद सत्य हैं तो पूर्वी बिहार से लेकर पाकिस्तान की सीमा तक उर्दू भाषा और उसकी आड़ मे जो कुछ भी हो रहा है क्या उससे कुछ समय बाद भाषायी एकता के आधार पर अलग राष्ट्र की माग की सम्भावना से इन्कार किया जा सकता है ।

एक ओर उत्तर प्रदेश के मुख्यमत्री कहते हैं कि उर्दू किसी पर थोपी नहीं जाएगी दूसरी ओर इन्द्रकुमार गुजराल कहते हैं कि मैंने गुजराल कमीशन मे यह शिफारी की है कि भारत के भावी अफसरों की नियुक्ति के लिए उर्दू का ज्ञान होना अनिवार्य शर्त होनी चाहिए । यह ठीक है कि देश की दूसरी प्रादेशिक भाषाओ की तरह उर्दू अपनी उन्नति और विकास करे परन्तु जब उसके तथाकथित हितैषी पाकिस्तान, कुवैत और अन्य अरब देश आवाज उठा रहे हैं तो अनुभूति होती है कि उर्दू की जग वस्तुत: भाषा की उन्नति का युद्ध नही है, वस्तुतः उसका लक्ष्य या निशाना और है । इसकी उन्नति और अभिवृति के नाम पर पूर्वी बिहार से पाकिस्तान की सीमा तक एक नया गलियारा मांगने की कोशिश की जा रही है, उल्लेखनीय है कि पाकिस्तान के दोनों बाजुओ को मिलाने के लिए कभी जिन्ना ने ऐसे ही गलियारे की मांग की थी । क्या सरकार और जनता इस प्रकार विखण्डनात्मक प्रयत्नो की निरन्तर उपेक्षा करते रहेंगे ?

——•——

### पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय शताब्दी समारोह

आर्यजगत् के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान् स्वर्गीय पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय का जन्म ६ सितम्बर, १८८१ ई० को हुआ था । हम लोग ६ सितम्बर, १९८१ ई० को उनकी जन्मशती का समारोह देश के सभी नगरों मे आयोजित करने की चेष्टा कर रहे हैं । आर्यजनता से हमारा आग्रह है कि वह शताब्दी समारोह का आयोजन ६ सितम्बर, १९८१ को, अथवा उसी के निकट सुविधानुसार किसी तिथि को करे । इस दिन यज्ञादि के अनन्तर उपाध्याय जी की जीवनी, और उनके साहित्य पर व्याख्यान आयोजित करें ।

भवदीया
(डा.) सु० रगनायकी
निदेशिका, डा. रत्नकुमारी स्वाध्याय सस्थान,
विज्ञान परिषद् भवन, दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद १

———

### पं० धर्मभिक्षु के शास्त्रों का ब्योरा भेजिए

आर्य सज्जनो ! कृतघ्नता बड़ा भारी पाप है । रईसुल् मुनाजिरीन श्री प० धर्म भिक्षु जी लखनवी को आर्यसमाज भूलता जाता है ।

आपको श्री प० धर्म भिक्षु जी के मुबाहिसो की जितनी पंक्तियां यादहों शीघ्र ही मेरे पास लिखकर भेजने का कष्ट उठाइए ।

अमर स्वामी सरस्वती,
वेद मन्दिर (झोपडी) कविनगर (गाजियाबाद)

# हमारा इतिहास तोड़ा-मरोड़ा जा रहा है

वास्तविक तथ्यो या सत्य के उदघाटन के लिए इतिहास एक अनुपम माध्यम है। तथ्यो की सही-सही रपट और न्यायाधीश की भांति सचाई की तलाश यही है इतिहासकार का कार्य। वह कोई रसायनशास्त्री या केमिस्ट नही है, उसे तथ्यों को बदलने या सुधारने का कोई अधिकार नही। वह तो एक छायाकार या फोटोग्राफर है बीते हुए जमाने का। जर्मनी के साथ हुई घटना के प्रति इतिहासकारो का रुख इसका उदाहरण है। प्रथम विश्वयुद्ध के लिए जर्मनी को दोषी मानकर उस पर बहुत बडा हर्जाना लाद दिया गया था। इतिहासकारो ने धैर्यपूर्वक सामग्री का चयन किया और दुनिया के सामने यह सचाई ला दी कि केवल जर्मनी ही नही, अपितु सभी देश, विश्वयुद्ध के लिए जिम्मेदार थे। जर्मनी को इस रहस्योद्घाटन से लाभ हुआ और वह हर्जाने की शेष रकम चुकाने से बच गया।

लगता है भारत के विद्यालयो मे पढाई जानी वाली इतिहास की पुस्तको मे इस सर्व हितकारी मान्यता को भुलाकर, उसे एक प्रचार का साधन बनाया गया है, छठी कक्षा की इतिहास की पुस्तक की प्रस्तावना मे प्रशासन के अनुकूलन की बात की गई है, जो अनुचित है। भारतीय इतिहास के माध्यम से अंग्रेजी की खुली वकालत और सस्कृत भाषा को विदेशियों और हमलावरो की भाषा बताना, नितान्त निन्दनीय प्रयास है। केवल यह प्रभाव डालने का प्रयत्न है यदि आज केवल बगाल मे कम्युनिस्ट राज है, तो कल सम्पूर्ण भारत मे होगा। इतिहास से यह सिद्ध करने की कोशिश की गई है स्वतन्त्रता आन्दोलन और दूसरे आन्दोलन बगाल से शुरू हुए हैं। मोहम्मद तुगलक, सिकन्दर लोधी, अकबर की विरुदावलि इन इतिहास की पुस्तको मे भाट के समान की गई है किन्तु राणा, खुसरो शाह, हेमू प्रताप आदि पर दो पक्तिया भी नही लिखी गई। फरीद खॉ और चिश्ती आदि पर पन्ने के पन्ने भर दिए है परन्तु तुलसी जैसी हस्ती पर दो शब्द भी नही दिए गए।

### कुछ नमूने देखिए

इतिहास की इन तथाकथित पुस्तको की बानगी देखिए :—

१. अरब के मरुस्थलो की सीमा पर सभ्यता का विकास—मानव सभ्यता का विकास 'धन्वाकार उपजाऊ प्रदेशों (Fertile Crescent) अरब, ईरान, के मरुस्थलो की सीमाओं पर शुरु हुआ ऐसे गांवो के खण्डहर उत्तरी सीरिया, ईरान, ईराक मे मिले हैं, जिनसे स्पष्ट है कि पशुपालन और कृषि बहुत जल्दी फिलस्तीन से इन देशो मे फैल गई। वही से लगभग ५ हजार ईस्वी पूर्व मे दोनो व्यवसाय नील नदी की घाटी मे पहुचे। शिकार और भोजन इकट्ठा करने की स्थिति से कृषि और पशुपालन तक का परिवर्तन भारत मे बाद मे हुआ (सभ्यता की कहानी पृ० १३-१४ भाग प्रथम।)

२. भारत की आदि सभ्यता—'मुसलिम' जैसी सभ्यता २५००ई० पूर्व मेसोपोटामिया के प्रभाव से सिन्धु घाटी में सभ्यता का विकास हुआ। सुन्दर नगर बने। सिधु निवासी दाढ़ी रखते थे, मूंछे कटवाते थे। कुत्ते और बकरियां आंगन में रखे जाते थे। ये लोग अपने मुर्दों को कब्र मे गाड़ते थे।

३. सस्कृत भाषी विदेशी—आर्य (हिन्दुओ के पूर्वज) हमलावर, विदेशी खानाबदोश कहे गए हैं। 'आर्यों के आगमन के पश्चात् भरे पूरे नगर सुनसान हो गए और टीले मात्र रह गए। लगभग एक हजार वर्षों तक भारत मे इतने भव्य नगर नहीं देखे गए। भारत के निवासी सुव्यवस्थित योजना के अनुसार शहर बनाना लगता है कि भूल ही गए।' (सभ्यता की कहानी प्र. भाग पृ २७) '१५००ई० पूर्व जब आर्य भारत मे प्रवेश करने लगे, हड़प्पा सस्कृति नष्ट होने लगी' यह सुझाव है नगरो पर आक्रमण हुआ हो और यहा के निवासी अपनी रक्षा करने मे असमर्थ रहे हो। हड़प्पा सस्कृति का पतन भारतीय इतिहास की दुखद घटना है। आर्य जो बाद मे आए नगर के जीवन से अपरिचित थे। (प्राचीन भारत पृ. ३४)

४. अरब सभ्यता श्रेष्ठतम—'विदेशियो के भारत आने के कारण, भारत का बाहरी ससार से घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया। तुर्क, अफगान और मुगल शासक कुछ और नवीन विचार और परिवर्तन समाज मे लाए। उनसे भारतीय सस्कृति और समृद्ध बन गई। (मध्यकालीन भारत) पृ०३) 'इस्लाम का उपदेश महत्वपूर्ण घटना थी, जिससे अरब जातियो का सगठन हुआ। उन्होन जोर्डन, सीरिया, ईराक, तुर्की, सिध और मिश्र जीत लिए। अरबो का उद्देश्य विजय प्राप्त करना ही नही था, वे व्यापार को भी प्रोत्साहित करते थे। इस युग की अरब सभ्यता ससार की सबसे अधिक विकसित सभ्यता थी। (म. भारत)

५. मुगलों की विरुदावलि—'मुगल भारत की भलाई को सदैव अपनी दृष्टि के सामने रखते थे। मुगल यह भी नही चाहते थे कि बहुत बड़ी संख्या में हिन्दुओ को मुसलमान बना लिया जाए। भारत मे पहले से ही बडी सख्या में मुसलमान रहते थे' (म. कालीन भारत पृ. ११६) 'भारत को एक राष्ट्र के रूप संगठित करना अकबर का एक महान स्वप्न था। वह चाहता था कि लोग अपने क्षेत्रीय और धार्मिक भेदभाव को भूल जाए और सभी अपने को केवल भारत का नागरिक समझें।'''अकबर में एक बड़ा भारी गुण था उसकी निर्भीकता। जब वह क्रोधित हाथियो पर सवारी करके उनको पालतू बनाता था या जब वह वर्षा की बढी हुई नदियों को तैरकर पार करता था, तब उसका महान साहस दिखलाई पड़ता था। उसने उस समय भी अपने महान साहस का प्रदर्शन किया, जब उसने उन व्यक्तियों का विरोध किया, जो अपनी शक्ति का प्रयोग नये विचारों का प्रचार और भारतीय समाज और विचार धारा में होने वाले परिवर्तनों को रोकने मे कर रहे थे। उसकी निर्भीकता की जड़े उसकी इमानदारी के ऊपर जमी हुई थी।' (म. कालीन भारत पृ. १३४-३५)

**एक इतिहास पंडित**

६. राष्ट्रवाद: अंग्रेजी राज की देन—'१८३३ई० मे भारत मे प्रशासन का केन्द्रीकरण शुरू हो गया। शिक्षा का विकास हुआ। इनके कारण भारत के मध्यम वर्ग में भेदभाव को भुलाकर एकता की भावना आ गई। एकता की यही भावना जल्द ही राष्ट्रीयता के रूप मे व्यक्त हुई जिससे महत्वपूर्ण परिवर्तन आए।' (आधुनिक भारत पृ. ८२-८३) ब्रिटिश शासन और पाश्चात्य सभ्यता के प्रसार के कारण अन्य क्षेत्रो मे भी भारत को आधुनिक बनाने के आन्दोलन चले। समाज सुधारको ने जनमत तैयार किए, जिनमे सरकार को समाज सुधार की दिशा मे कदम उठाने को बल मिला' (आ. भा पृ. ९२)।

अंग्रेजी की वकालत. 'नई शिक्षा पद्धति के अनुसार प्रारम्भिक स्कूलो में भारतीय भाषाओ की जगह अंग्रेजों ने नहीं ली। उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप मे सस्कृत और अरबी की जगह अंग्रेजी का प्रयोग होने लगा। अंग्रेजी शिक्षा पाकर भारतीय आधुनिक विचारो और वैज्ञानिक चिन्तन के तरीकों के बारे मे जान सके। वे स्वतन्त्रता और जनतन्त्र के विचारों से भी परिचित हो गए। किन्तु थोड़े से ही लोग अंग्रेजी शिक्षा पा सके। नई शिक्षापद्धति ने कई आन्दोलनों को जन्म दिया। (आ. भा. पृ. ८९)

८. कम्युनिज्म का प्रच्छन्न प्रचार—यह दर्शाने का प्रयत्न किया गया है जो आज बंगाल में हो रहा है, कल सारे भारत में होगा। ऐसा इसलिए कि बंगाल, पाश्चात्य शिक्षा के कारण, लीडर बन चुका था।' ऊपर हमने जो कहा है, वह अधिकांशतः बंगाल के माध्यम और उच्च वर्गों के बारे मे हैं। वहां जो परिवर्तन. वे ही सारे भारत मे हो गए'। (आ. भा. पृ ९४) 'अधिकतर आधुनिक आन्दोलन बगाल से शुरू हुए। सबसे पहले ब्रिटिश शासन बंगाल में कायम हुआ था। इस प्रकार यह प्रांत अन्य प्रांतो की अपेक्षा पाश्चात्य शिक्षा, संस्कृति और विचारों के प्रभाव में पहले आया' (आ. भा. पृ ८९)।

स्पष्ट ही इन पुस्तकों को तैयार कराने में निम्नलिखित उद्देश्य सिद्ध करने की चेष्टा की गई है :—१. अल्प सख्यको का तुष्टीकरण २। उच्च वर्ग की अंग्रेजी परस्ती ३. कम्युनिस्टो का प्रचार व प्रसार।

राजनीति मे विभिन्न विचार-धाराओ के शान्ति पूर्ण प्रसार का काम राजनीतिक दलो का है। इतिहास के माध्यम से ऐसा करना जनतन्त्र की मर्यादाओ के प्रतिकूल है। यह तो एक खतरनाक घुसपैठ है, जिसे रोकना, प्रत्येक समझदार नागरिक का कर्तव्य है।

# आर्य युवक प्रशिक्षण शिविर में ६१ युवक प्रशिक्षित

## परिषद के कार्यों से आशा बंधी : सरदारीलाल जी का उद्बोधन

दिल्ली। केन्द्रीय आर्य युवक परिषद् दिल्ली प्रदेश के तत्वावधान में २१ से ३१ मई १९८१ तक 'आर्य युवक प्रशिक्षण शिविर' हसराज मोडल स्कूल पजाबी बाग में आयोजित किया गया, शिविर मे युवकों को साधना करने का अच्छा अवसर मिला। प्रातः से साय तक युवको को डा० देवव्रत आचार्य ने योग-आसन, दण्ड बैठक, स्तूप आदि शारीरिक सैनिक शिक्षण दिया। मानसिक विकास के लिए श्री उत्तमचन्द शरर, महात्मा इन्द्रमुनि, स्वामी सत्यप्रति महाराज, पं० क्षितीश वेदालकार; विजय चौधरी, डा० राज सिंह आर्य, डा० विजय भूषण आर्य, श्री प्रेमपाल शास्त्री, डा० विवेक भूषण आर्य, आदि ने बौद्धिक स्तर पर निर्माण का कार्य किया।

अंतिम दिन शिविर समापन समारोह के अध्यक्ष श्री दरबारी लाल, उपप्रधान आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा ने कहा—'आर्यसमाज के क्षेत्र मे जो निराशा के बादल छाते जा रहे थे, उसको परिषद् ने जिस ढग से दूर करते हुए, प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया है, उससे हमारी आशाएं बंधी।

कार्यक्रम के प्रारम्भ में महाशय धर्मपाल जी प्रधान आर्य केन्द्रीय सभा, दिल्ली राज्य ने ध्वजारोहण व ध्वजावतरण किया। उन्होने आर्य केन्द्रीय सभा की ओर से भी सहयोग का आश्वासन दिया।

समारोह के अन्त मे विशाल ऋषि लंगर का भी आयोजन किया गया। आर्य युवकों ने ११ जून को प्रातः रैली निकाली, परिषद् की एक वेशभूषा व बैण्ड की सभी ने प्रशंसा की। १५ क्षेत्रो के शाखाध्यक्षो की नियुक्तिया की गई। कार्यक्रम का सयोजन श्री अनिल कुमार आर्य ने किया। ब्र० राम अवतार ने गले व आँख से सरिए मोड़ने व थाली फाड़ने आदि यौगिक व्यायाम क्रियाको का भी प्रभावशाली प्रदर्शन किया। ६१ शिविरार्थियों ने शिविर में भाग लिया।

# सनातनी मंच से नारियों द्वारा वेदोच्चारण

## बम्बई में धर्म-प्रचार की धूम

सत्य और निर्भयता के प्रचारक वेदोद्धारक जगद्गुरु महर्षि दयानन्द सरस्वती के उपकार के कारण अन्धविश्वास और पाखण्ड का खण्डन आर्यसमाज की तरह अब सनातनी भाई भी जोरशोर से कर रहे हैं और सनातनी मच से नारिया भी वेद-मन्त्रोच्चारण कर रही हैं।

गत दिनो बम्बई के क्रास मैदान मे वेदो के विद्वान पूज्य स्वामी गगेश्वरानन्दजी महाराज की जन्म शताब्दी बड़े उत्साह के साथ मनाई गई। स्वामी जी ने उदारता पूर्वक आर्यसमाज के सन्यासियों, विद्वानो एवं पंडितो को भी वेद-पाठ एव वेद-प्रचार के लिए निमन्त्रित किया था।

शताब्दी-समारोह मे आर्य सिन्धु आश्रम के स्टाल ने मानो आर्यसमाज के शिविर के रूप मे कार्य किया जहाँ स्वामी ओमानन्द जी, पं. वीरसेन वेदश्रमी, प. युधिष्ठिर मीमासक, ब्रह्मचारी सत्यानन्द जी, पं. हुकुमचन्द वेदालकार एव आर्य सिन्धु आश्रम के प. श्री नरेन्द्रकुमार और अशोक किशोर वेदालंकार वैदिक संस्कृत के श्रद्धालुओ और जिज्ञासुओ की शकाओं का समाधान करते रहे।

सारे समारोह मे रोशनी की काफी रौनक थी, किन्तु ओ३म का झण्डा केवल आर्य भिक्षु आश्रम के स्टाल पर लहरा रहा था।

इस धार्मिक समारोह मे देश-विदेशों से हजारो महात्मा साधु सन्यासी ब्रह्मचारी मठधारी एव स्वामी जी के शिष्य सेवक और श्रद्धालु आकर एकत्र हुए थे।

## चि० अरुण एवं सौ. रश्मि यशस्वी हों

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सरदारी लालजी वर्मा के सुपुत्र चि० अरुण का शुभविवाह रविवार ७ जून को नई दिल्ली मे श्री एम० एल० खुल्लर की आत्मजा सौ० रश्मि के साथ वैदिक रीति के अनुसार सम्पन्न हुआ। 'आर्यसन्देश' परिवार की हार्दिक आकाक्षा एवं प्रार्थना है कि वर-वधू की जोडी जीवन मे दीर्घायु, यशस्वी और सम्पन्न हो और समाज और राष्ट्र की समुन्नति के लिए वे दोनो परिवार की उदात्त परम्परा को सार्थक करें।

# धर्म की नींव

□ लेखक : आनन्द मोहन

आजकल देश की हालत भौतिक मानसिक, सामाजिक अथवा आध्यात्मिक किसी भी क्षेत्र मे स्वस्थ नही है। सवाल उठता है कि इस बिगड़ी हालत का सुधार कैसे हो ? यह सोचकर बैठे रहने काम नही चलेगा कि कोई शक्ति या अवतार आकर समाज को श्रेष्ठ और देश को महान बना जाएगा। इस प्रकार के चिन्तन से तो हमारी अकर्मण्यता ही फल स्वरूप गिरावट और भी तेजी से आएगी।

सोचकर देखा जाए तो पता चलता है कि इसके सिवा कोई चारा नहीं कि हमे ही प्रयत्न करके उठना है। महायुद्ध के बाद जर्मनी और जापान की क्या हालत थी और यह सर्वविदित ही है कि उनके देशवासियो के निरन्तर प्रयत्न के बाद आज वे कहाँ है।

प्रयत्न कैसे आरम्भ हो ? यदि मकान मजबूत बनाना हो तो उसकी नीव, उसका मसाला और प्रत्येक ईंट बढिया होनी चाहिए। इसी तरह देश को मजबूत करने के लिए उसके प्रत्येक देशवासी को आदर्श पुरुष स्त्री बनाना अनिवार्य है।

### श्रेष्ठ मानव कौन ?

स्वभावत जिज्ञासा होती है कि आदर्श व्यक्ति के लक्षण क्या हैं। श्री कृष्ण द्वारा भागवत मे बताया गया एक विवरण यह है 'जो दूसरो का दुख सहन नही कर सकता, सत्य ही जिसका बल है, जो सबका सहायक है, जिसका मन वासनाओ से कलुषित नही है, जो दूसरों से सम्मान की आशा नही रखता पर सबको आदर देता है, और जो मेरे साथ-साथ जन-जन से प्रेम करता है। वास्तव मे वही सर्वश्रेष्ठ है।'

धर्म का चलन इस देश में सदा से रहा, पर आदर्श मानव और आदर्श समाज बनाने का ध्येय हम से दूर ही होता गया है। कारण कि प्रचलित धर्मों के पंडित, पुरोहित अधिकतर यही विचार फैलाते रहे हैं कि नेक, शिष्ट, और उद्यमी बने बिना ही मनुष्य केवल मन्त्र रट कर, पैसा चढा कर या ईमान लाकर अपने पापो को भस्म कर सकता है और परमात्मा को प्रसन्न करके मोक्ष पा सकता है।

### शास्त्र की पुकार

पर शास्त्र पुकार-पुकार कर कह रहा है कि केवल अच्छे मनुष्य ही भगवान को प्रिय हो सकते हैं। दुरात्मा, अनाचारी, आलसी जो दूसरो के दुख सुख की ओर से उदासीन रहते हैं वे न तो सुख के खुद अधिकारी हैं, न समाज मे सुख और शान्ति ला सकते हैं। सबमे प्रथम जो आवश्यकता है वह है चरित्र निर्माण की।

आदर्श व्यक्ति को अपने जीवन के लौकिक ओर परिलौकिक दोनो ही पक्षो की देखभाल करनी चाहिए। आदर्श समाज को सच्चे भक्तो, ध्यानियो और साधुओ की ही नही, वरन् बड़ी संख्या में आदर्श गृहस्थ, पुत्र, पुत्रियो, विद्यार्थियो, राजनीतिज्ञो, उद्योगपतियो, कर्मचारियो तथा नागरिको की आवश्यकता है। ये सब आदर्श व्यक्ति लौकिक कार्यों जैसे परिवार पोषण, समाज के लिए आवश्यक सामान और सेवाओ का उत्पादन तथा समाज मे गरीबी और भूख मिटाने के महायज्ञ में सच्चे परिश्रम द्वारा लगें तो देश का वास्तविक कल्याण हो, तभी धर्म की नीव पक्की होगी।

२८, आनन्द लोक,
नई दिल्ली-११००४९

# पाणिनी कन्या महाविद्यालय को प्रगति के दस वर्ष : वार्षिकोत्सव सम्पन्न

वाराणसी। २२-२३-२४ मई, १९८१ को पाणिनि कन्या महाविद्यालय का दसवां वार्षिकोत्सव सम्पन्न हुआ। सस्था ने दस वर्षो के छोटे से समय मे कन्याओ की आर्ष-शिक्षा मे वैदिक मर्यादानुकूल अनेक नए आयाम जोड़े हैं। पिछले वर्ष विद्यालय के समीप वानप्रस्थ-आश्रम के लिए पचास हजार रुपए की भूमि खरीदी गई। उत्सव के अवसर पर नवीन भूमि का उद्घाटन श्रीमती सुन्दरी देवी टाण्डा ने किया। २२ मई की रात को विद्यालय की छोटी कन्याओ ने पाणिनि के पाचो ग्रन्थो के आधार पर अन्त्याक्षरी प्रस्तुत की। श्री रामप्रसाद त्रिपाठी ने पाणिनि कृत अष्टाध्यायी और धातुपाठ की उपयोगिता पर प्रकाश डाला।

दूसरे दिन भारतीय पर्वो की उपयोगिता पर कन्याओ ने एक सुन्दर पत्रकार गोष्ठी आयोजित की। तीसरे दिन सात्विक भावपूर्ण यज्ञ की पूर्णाहुति के बाद पू० माता शान्ति देवी ने वेदमन्त्रो से आहुति देकर 'शान्ति वाचनालय' का उद्घाटन किया। पत्रकार प० क्षितीशकुमार वेदालंकार एव ससद सदस्य श्री धर्मवीर आर्य के सामयिक उद्बोधक भाषण हुए।

# आर्य जगत् समाचार

## आर्यसमाजों का दायित्व : वे सावधान रहें

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा को सूचना प्राप्त हुई है कि कुछ अवांछनीय तत्व आर्यसमाज के संगठन को हानि पहुंचाने के उद्देश्य से आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संगों में आर्य सन्यासी के वेश या आर्य प्रचारक के रूप में उपदेशार्थ आते हैं। समाज की वेदी पर उन्हें आर्य सिद्धान्तों की चर्चा करनी चाहिए अथवा वर्तमान कठिनाइयों के सन्दर्भ में आर्यसमाज के दायित्व की चर्चा करनी चाहिए, ऐसा न कर ऐसे वक्ता अपने तथाकथित उपदेशों में सभा के संगठन एवं सभा अधिकारियों के विरुद्ध उकसाते रहते हैं और इस प्रकार के भाषणों से कई आर्यसमाजों के अधिकारी इस भ्रम में आ जाते हैं कि सभा के अनुशासन में रहकर उसके आदेशों का पालन करना उनके लिए आवश्यक नहीं है।

इसी प्रकार के कुछ आर्य सदस्यों ने सभा के नियन्त्रण की अवहेलना कर अपनी आर्यसमाज के झगड़े या विवाद कोर्ट कचहरी में ले जाकर अपनी आर्यसमाज को सभा के संगठन से पृथक् सिद्ध करने का प्रयत्न किया और छोटी अदालतों में उन्हें कुछ आंशिक सफलता भी मिली, परन्तु दिल्ली हाईकोर्ट के मान्य न्यायाधीश ने जो निर्णय किया वह सबकी जानकारी के लिए प्रकाशित किया जा रहा है। जिससे आर्यसमाजें किसी के बहकावे में न आकर अपने संगठन एवं अधिकारियों के प्रति विरोध या उपेक्षा का दृष्टिकोण न अपनाते हुए सभा के अनुशासन में रहकर अपना दायित्व निबाहें।

### दिल्ली हाईकोर्ट का ऐतिहासिक निर्णय :

**सम्पत्ति नियन्त्रण का अधिकार दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा को**

वादी-दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा श्री सी०एल० नागर एडवोकेट। प्रतिवादी मास्टर विष्णुदास और अन्य द्वारा श्री नन्दलाल चौधरी एडवोकेट-सिविल रिवीजन सं १०६६ सन् १९८० फैसले की तारीख—११ मई, १९८१।

दिल्ली हाईकोर्ट के माननीय एस० बी० वाड ने घोषित किया—

यह संशोधित सुनवाई दिल्ली के प्रथम श्रेणी के सब जज के दिनांक ७ अगस्त, १९८० के आदेश के विरुद्ध है। विद्वान जज ने सिविल प्रोसीजर कोड के आदेश नियम १० के अन्तर्गत प्रार्थी का प्रार्थनापत्र रद्द कर दिया था।

आर्यसमाजियों का एक फेडरल आर्गनाइजेशन या संघीय संगठन है। इसकी शिरोमणि संस्था सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा है। राज्य स्तर पर प्रतिनिधि सभाएं हैं। दिल्ली की इकाई दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा कहलाती है। संघीय संस्था तथा संघों की इकाइयां रजिस्टर्ड या पंजीकृत संस्थाएं हैं और उनके अपने संविधान या कान्स्टीट्यूशन हैं। निस्संदेह संघीय संस्थाओं फेडरल बोडी का संविधान सर्वोच्च है। स्थानीय संघटन राज्यों की प्रतिनिधि सभाओं से सम्बद्ध होने हैं। सार्वदेशिक सभा के नियम ४३ के अन्तर्गत स्थानीय संस्थाओं पर स्पष्ट प्रतिबंध है कि अपने संविधान या सम्पत्तियों का पृथक पंजीकरण या रजिस्ट्रेशन नहीं करवा सकते। (नियम ४०) के अंतर्गत स्थानीय संस्थाएं राज्य के नियन्त्रण और पथ-प्रदर्शन में कार्य करती हैं।

यहां सुभाष नगर की एक स्थानीय संस्था का मामला है। उसके कुछ सदस्यों का दावा है कि उनकी एक रजिस्टर्ड संस्था है। इस दावे पर वाद किया गया है। कुछ सदस्यों ने दिल्ली प्रतिनिधि सभा से एक पक्ष के रूप में शामिल न होते हुए तीन पदाधिकारियों के विरुद्ध स्थायी निषेधाज्ञा प्राप्त करने के लिए वर्तमान मामला उठाया है।

सुभाष नगर की बस्ती में धर्मार्थ नेत्र चिकित्सालय खोला गया। २५ जुलाई, १९७९ के दिन इस धर्मार्थ संस्था का सम्पत्ति का एक हिस्सा पट्टे या लीज पर दिया गया। इस वाद में मांग की गई है कि उक्त लीज या पट्टा अवैध और अव्यावहारिक घोषित कर दिया जाए। बाद में यह मांग भी की गई कि समाज की सम्पति के कब्जे से सम्बन्धित किसी भी इकरारनामे से उक्त तीनों प्रतिवादियों को रोका जाए। ट्रायल कोर्ट ने सम्पत्ति के विषय में अन्तरिम निषेधाज्ञा जारी कर दी थी। बाद में वादियों का पक्ष सुनने के बाद यह आदेश रद्द कर दिया गया था। शुरू में न्यायालय ने रेकार्ड या कागजपत्रों की जब्ती के लिए कमिश्नर की नियुक्ति भी की थी। प्रार्थी या मुद्दई का इस मामले से गहरा सम्बन्ध है क्योंकि सुभाष नगर की संस्था दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा से सम्बद्ध है और उक्त राज्य-संस्था के नियन्त्रण और पथ-प्रदर्शन में ही वह कार्य करती है। प्रार्थी के अनुसार नियन्त्रण के अन्तर्गत सम्पत्ति का नियन्त्रण भी सम्मिलित है।

निचली अदालत के निर्णय में कुछ विसंगतियाँ हैं। यद्यपि न्यायालय की फाइल में सार्वदेशिक और दिल्ली प्रतिनिधि सभा के संविधान मौजूद हैं तथापि न्यायालय ने निर्णय किया कि आर्यसमाज का संविधान पेश नहीं किया गया। दूसरी ओर विद्वान न्यायाधीश यह निर्णय भी देते हैं कि प्रतिनिधि सभा के ९ और १० नियमों के अन्तर्गत संस्थाओं की मान्यता अनिवार्य नहीं है। जब संविधान फाइल में ही नहीं था तब उन्होंने ९-१० नियमों का हवाला कैसे दे दिया। न्यायाधीश द्वारा ९-१० नियमों की व्याख्या भी ठीक नहीं है। रिकार्ड के कागजात से सुभाष नगर आर्यसमाज की मान्यता की पर्याप्त साक्षी मिलती है। आर्यसमाज सुभाष नगर ने मान्यता के लिए प्रार्थनापत्र दिया था, उसे दिल्ली प्रतिनिधि सभा ने मंजूरी दी थी। रिकार्ड से यह बात भी पुष्ट होती है कि प्रतिनिधि सभा ने आर्यसमाज सुभाष नगर के आय-व्यय निरीक्षक से हिसाब की किताबें मंगवाई थीं। मामला एक तथ्य से और पुष्ट होता है—यह भी मंजूर किया गया है कि दिल्ली प्रतिनिधि सभा ने आर्यसमाज सुभाष नगर की प्रबन्ध समिति को बर्खास्त कर एक एडमिनिस्ट्रेटर या प्रशासक नियुक्त किया था। प्रतिवादियों ने उक्त आदेश को कोई चुनौती नहीं दी थी। इससे प्रमाणित हो जाता है कि स्थानीय संस्थाओं का वास्तविक नियन्त्रण राज्य की संस्था करती है। प्रार्थी को हस्तक्षेप करने वाला मेडलर नहीं कहा जा सकता। राज्य की संस्था का यह उत्तरदायित्व है कि वह एक स्थानीय संस्था की सम्पत्ति की सुरक्षा करे। आर्यसमाज सुभाष नगर के प्रबन्ध का स्थगित कर एडमिनिस्ट्रेटर की नियुक्ति से मामले का सम्पूर्ण संदर्भ ही बदल गया है। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ कि बर्खास्तगी के उक्त आदेश को चुनौती नहीं दी गई, फलतः प्रतिवादी को मामले में भाग लेने का अधिकार नहीं हैं। दिल्ली प्रतिनिधि सभा को इस मुकदमे में वादी या प्रार्थी के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। उक्त युक्तियों के संदर्भ में रिवीजन पेटीशन खर्चे के साथ मंजूर की जाती है।

### प्रवेश प्रारम्भ

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी से सम्बन्धित सरकार द्वारा एम. ए समकक्ष आचार्य पर्यन्त मान्यता प्राप्त महर्षि दयानन्द संस्कृत गुरुकुल म० वि० पटेल मार्ग गाजियाबाद उ० प्र० में १ जुलाई से नवीन प्रवेश प्रारम्भ हो रहे हैं। अपने बच्चों को सर्वांगीण उज्ज्वल भविष्य के लिए गुरुकुल में प्रविष्ट करायें।

प्रवेश के लिए मिलें अथवा लिखें।

नोट—एक विज्ञान अध्यापक तथा प्रौढ धारा प्रवाह संस्कृत वक्ता साहित्याचार्य की आवश्यकता है।

समरभानु व्याकरणाचार्य
—प्रधानाचार्य

महर्षि दयानंद (संस्कृत) गुरुकुल महा० पटेल मार्ग, (गाजियाबाद)

—०—

# आर्यसमाजों के सत्संग

२१ जून, १९८१

अन्धामुगल प्रतापनगर—प० वेदव्यास भजनोपदेशक; अशोकविहार के-सी ५२-ए—प० रामदेव शास्त्री; आर्यपुरा—पं० रामरूप शर्मा; आर. के. पुरम सैक्टर-९—डा० सुखदयाल भूटानी; आनन्दविहार (हरिनगर एल ब्लाक)—श्रीमती सुशीला राजपाल; किंग्जवे कैम्प—पं० केशवचन्द मुन्जाल; किशन गंज मिल एरिया—पं० ईश्वरदत्त एम. ए.; कालका जी डी. डी. ए फ्लैटस—आचार्य कृष्णगोपाल; गांधी नगर—आचार्य केशवकंवल वेदाचार्य; ग्रेटर कैलाश-I—प० अशोककुमार विद्यालकार गुड मण्डी—कविराज बनवारी लाल शादाँ भजन मण्डली; गुप्ता कालोनी—प० प्राणनाथ सिद्धान्तालंकार; गोविन्द पुरी—पं० सत्यभूषण वेदालंकार; जगपुरा भोगल—पं० महेशचन्द्र भजनोपदेशक; जनकपुरी बी ३/२४—आचार्य रमेश चन्द्र; टैगोर गार्डन—प्रो० वीरपाल विद्यालकार; तिमारपुर—प० हरिदत्त शास्त्री; दरियागज—पं० छज्जूराम शास्त्री; नारायण विहार—डा० रघुनन्दन सिंह; पजाबीबाग एक्स्टैन्शन १४/३—पं० उदयपाल शास्त्री; पश्चिमपुरी जनता क्वार्टज—प० सीसराम भजनोपदेशक; बाग कड़े खाँ—पं० बरकतराम भजनोपदेशक; बिरला लाइन्स—डा० देवेन्द्र द्विवेदी; माडल बस्ती—पं० वेदपाल शास्त्री; महरौली—श्रीमती लीलावती आर्या; राजौरी गार्डन—प्रो० सत्यपाल बेदार; राणा प्रताप बाग स्वामी ओम आश्रित लड्डू घाटी—श्रीमती प्रकाशवती शास्त्री; लाजपत नगर—मास्टर ओमप्रकाश आर्य; लेखराम नगर—पं प्रकाश वीर व्याकुल; लक्ष्मीबाई नगर ई-१२०८—प० हीराप्रसाद शास्त्री; विक्रम नगर—प० ओमप्रकाश भजनोपदेशक; सुदर्शन पार्क प्रो० भारतमित्र शास्त्री; सोहन गंज—श्री मोहनलाल गांधी; सराय रोहेल्ला—प० गजेन्द्रपाल शास्त्री; श्रीनिवासपुरी—पं० तुलसीराम भजनोपदेशक; शादीपुर—प० रामदेव; शालीमार बाग—डा० रघुवीर वेदालकार; हौज खास डी-२०—पं० चन्द्रभानु सि. भू.

—वेद प्रचारिणी सभा द्वारा प्रचारित



## आदर्श वैदिक विवाह

२४-२५ मई के दिन आर्यसमाज नरेला के कार्यकर्त्ता एवं राजकीय माध्यमिक विद्यालय के मुख्याध्यापक श्री पूर्ण सिंह आर्य के सुपुत्रों चि० सुरेन्द्र आर्य तथा चि० नरेन्द्र आर्य का शुभ विवाह क्रमशः कुमारी सरोज सुपुत्री श्री स्वरूप सिंह और कुमारी सुमित्रा सुपुत्री श्री ईश्वर सिंह काणोदा से सम्पन्न हुआ। वग्दान टीके मे केवल एक रुपया स्वीकार किया गया और नरेला से केवल २५ आर्यजनों की बारात कणोदा हरियाणा गई। श्री आर्य ने आर्यसमाज और कन्या गुरुकुल को ६५०) का पवित्र दान किया। यज्ञ के उपरान्त आर्यजनों, इष्टबन्धुओं और कन्या गुरुकुल की ब्रह्मचारिणयों का सात्त्विक भोजन से सत्कार किया गया।

### वैदिक विवाह

दिनांक ४-५-८१ को श्री नरेन्द्र कुमार सुपुत्र श्री कैलाश बहादुर मस्जिद मोठ, नई दिल्ली का शुभविवाह कुमारी लक्ष्मी सुपुत्री श्री कृष्ण पिल्ले, मद्रास के साथ आर्य समाज मन्दिर, मस्जिद मोठ में बडी सादगी से हुआ।

दूसरी ओर दिनांक १७-५-८१ को श्री महेश कुमार सुपुत्र श्री (स्वर्गीय) जालिम सिंह, आर के पुरम; नई दिल्ली का शुभ विवाह कुमारी मीरा आनन्द सुपुत्री श्री सुदेश आनन्द, जनकपुरी नई दिल्ली के साथ आर्यसमाज मंदिर, मस्जिद मोठ मे बड़ी सादगी से सम्पन्न हुआ।

### आर्य समाजों के चुनाव

जालन्धर आर्यसमाज अड्डा होशियारपुर—प्रधान—श्री योगेन्द्रपाल सेठ, उपप्रधान—सर्वश्री चन्दूलाल अग्रवाल, देशराज सेठी, मन्त्री—श्री प्रकाशचन्द कालडा, उपमंत्री—सर्वश्री सोहनलाल वैदिक मिस्नरी, कुन्दनलाल अग्रवाल, कोषाध्यक्ष—श्री सोहनलाल सेठ, पुस्तकाध्यक्ष—श्री बृजलाल कालिया, लेखानिरीक्षक—श्री हसराज शर्मा।

आर्यसमाज नयाबांस—प्रधान—श्री प्रेमचन्द गोयल अनाजवाले, उपप्रधान—लाला जयनारायण तेलवाले पूर्णचन्द जी अरोड़ा, मंत्री—श्री ओम प्रकाश जी कपड़ वाले, उपमंत्री—श्री शिवकुमार आर्य, बाकेबिहारीलाल जी, कोशाध्यक्ष—श्री राजेन्द्रनाथ गोटेवाले पुस्तकाध्यक्ष—श्री रामचन्द्र वर्मा।
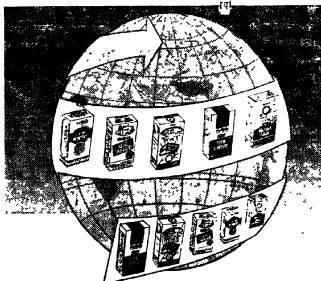
—०—

## पंजाब प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री वीरेन्द्र रुपयों से तौले जाएंगे

लुधियाना। आर्यसमाज स्वामी दयानन्द बाजार लुधियाना के प्रधान श्री रणवीर भाटिया ने एक भेंट में बतलाया कि समाज के वार्षिकोत्सव पर आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान श्री वीरेन्द्र जी रुपयों से तौले जाएंगे, उतने वजन की धनराशि उन्हें सभा-कार्य के लिए भेंट कर दी जाएगी।

समाज का वार्षिकोत्सव २५ से २८ जून तक मनाया जाएगा। इन दिनों महात्मा आर्य भिक्षु जी की वेद-कथा होगी। उत्सव पर आचार्य सत्यप्रिय जी, महोपदेशक पं निरजनदेव जी, डा० बालकृष्ण जी, आर्य कालेज के प्रो. रामदेव जी, श्री वेदप्रकाश शास्त्री आदि आदि विद्वान भाग ले रहे हैं। उत्सव में सभा प्रधान श्री वीरेन्द्र जी, सभा-मन्त्री श्री जावेद जी, उपप्रधान श्री पृथ्वी सिंह आजाद, बहन कमला आर्या, बहन शान्ता गौड़ आदि अपने विचार प्रस्तुत करेंगे। इस अवसर पर दिल्ली के प्रियव्रत जी योगाचार्य अद्भुत शारीरिक प्रदर्शन प्रदर्शित करेंगे।

—०—

## आर्यसमाजें दशांश, वेद-प्रचार एवं 'आर्य सन्देश' शुल्क की राशि सभा को शीघ्र भेजें

आर्यसमाजों से इससे पूर्व भी 'आर्यसंदेश' पत्र के माध्यम से एवं परिपत्रों द्वारा अनुरोध किया जा चुका है कि सभी आर्यसमाजें अपने सदस्यों के १९८०-८१ वर्ष में प्राप्त सदस्यता शुल्क (शतांश) की राशि का दशांश, वेदप्रचार-निधि एवं सभा मुखपत्र 'आर्यसंदेश' का वार्षिक शुल्क शीघ्र सभा-कार्यालय को भिजवाने का कष्ट करें। सभा की ओर से श्री प्रकाशवीर जी 'व्याकुल' कवि जो सभा के उपदेशक हैं, वह उपर्युक्त धनराशियां प्राप्त करने हेतु सभी आर्यसमाजों में जाएंगे। आर्यसमाजों के अधिकारी अपनी समाज द्वारा दिल्ली प्रतिनिधि सभा की प्राप्तव्य निधियां उन्हें देकर अपना सहयोग सभा को प्रदान करें।

—सरदारी लाल वर्मा
सभा प्रधान

### आर्यसमाजों के नए पदाधिकारी

आर्यसमाज रघुबरपुरा सं. २ प्रधान श्री कैलाशचन्द्र गुप्त, उपप्रधान (वरिष्ठ) प० विश्वदेव शास्त्री, उपप्रधान श्री अशोककुमार, मंत्री श्री जितेन्द्रकुमार गुप्त; उपमंत्री—श्री मोहनलाल, उपमन्त्रिणी—श्रीमती उमारानी; प्रचार मन्त्री—श्री राधाकृष्ण आर्य; कोषाध्यक्ष—श्री घनश्याम आर्य; आयव्ययनिरीक्षक—श्री शिवराज सिंह त्यागी।

महिला समाज, रघुबरपुरा सं. २ प्रधाना श्रीमती द्रौपदी देवी, मन्त्रिणी—श्रीमती उमारानी।

आर्यसमाज किदवई नगर—प्रधान श्री रामसिंह शर्मा, उपप्रधान—श्री ओंकारशरण गर्ग एवं श्रीमती शकुन्तला सूद, मन्त्री—श्री जीवनलाल, प्रचार-मंत्री—श्री मदनपाल वर्मा, कोषाध्यक्ष-श्री राजेन्द्रनाथ मलिक, आयव्यय-निरीक्षक—श्री आर. एल. सचदेव।

卐 'आर्यसन्देश' के स्वयं ग्राहक बनें — दूसरों को बनाएं
卐 आर्यसमाज के सदस्य स्वयं बनें — दूसरों को बनाइए
卐 हिन्दी-संस्कृत भाषा स्वयं पढ़ें दूसरों को भी पढ़ाइए—

### दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रकाशन

| | |
|---|---|
| सत्यार्थप्रकाश सन्देश (हिन्दी) | १.०० |
| ,, ,, (अंग्रेजी) | समाप्त |
| आर्य सन्देश-महासम्मेलन विशेषांक | ६.०० |
| पादरी भाग गया —ओम्प्रकाश त्यागी | ०.३० |
| स्वामी श्रद्धानन्द-बलिदान अर्द्ध शताब्दी स्मारिका | ६.०० |
| सत्यार्थप्रकाश शताब्दी समारोह स्मारिका | ६.०० |

सम्पर्क करें—

अधिष्ठाता प्रकाशन विभाग
दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा,
१५, हनुमान रोड,
नई दिल्ली-११०००१



दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के लिए श्री सरदारी लाल वर्मा द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित सर्वे मंगलिया प्रेस ५२७/१-सी, पुष्पांक गली, गांधीनगर दिल्ली-३१ में मुद्रित। कार्यालय १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली फोन ३१०१५०

ओ३म्

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

# आर्य सन्देश

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा का साप्ताहिक मुखपत्र

एक प्रति ३५ पैसे | वार्षिक १५ रुपये | वर्ष ४ · अंक ३६ | रविवार २१ आषाढ़, वि० २०३८ | ५ जुलाई १९८१ | दयानन्दाब्द १५६

## दिल्ली की आर्यसमाजों के कार्यकर्त्ताओं का ५ जुलाई को विशेष सम्मेलन

### दिल्ली में धर्मरक्षा-महाभियान का श्रीगणेश : दिल्ली आर्यप्रतिनिधि सभा का आयोजन : सार्वदेशिक के नेता मार्गदर्शन करेंगे

नई दिल्ली। दिल्ली आर्यप्रतिनिधि सभा के कार्यवाहक मन्त्री प्रो० भारत मित्र शास्त्री ने एक अत्यावश्यक परिपत्र प्रचारित कर दिल्ली की समस्त आर्यसमाजो एवं आर्यसंस्थाओं के पदाधिकारियो तथा समस्त आर्यजनों को राष्ट्र मे व्याप्त भीषण परिस्थिति के प्रति सचेत कर सूचना दी है—'समाचार पत्रों द्वारा भली प्रकार सब को यह जानकारी प्राप्त हो चुकी है कि अरब देश पेट्रोल की कमाई से उपलब्ध धन के प्रयोग द्वारा भारत के इस्लामीकरण का सपना ले रहे हैं। इस नापाक इरादे को पूरा करने के लिए कई मजहबी सस्थाओ के स्थान-स्थान पर अधिवेशन हो चुके हैं और उनके उसी कार्यक्रम के आधार पर पिछले दिनो अलीगढ, मुरादाबाद और तमिलनाडु के मीनाक्षीपुरम आदि स्थानो पर जो कुछ हुआ उससे जनता भली प्रकार परिचित है।

#### दिल्ली में धर्म-रक्षा महाभियान

इस भीषण परिस्थिति का सामना करने के लिए आर्यसमाज की शिरोमणि सस्था सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने अपने ३१ मई के अधिवेशन मे सारे देश मे धर्मरक्षा महा-अभियान चलाने का निश्चय किया है। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के आदेशानुसार सभी प्रान्तीय सभाए इस महाभियान को कार्यान्वित करने के लिए समस्त आर्य-समाजो एव आर्यसंस्थाओ के कार्यकर्त्ताओ के सम्मेलन आयोजित करवा रही है। दिल्ली की आर्यसमाजो के कार्यकर्त्ताओ का एक सम्मेलन आगामी रविवार दि० ५ जुलाई, १९८१ के दिन दोपहर ढाई वजे आर्यसमाज मन्दिर, करौल बाग, नई दिल्ली-११०००५ मे आमन्त्रित किया गया है। प्रसन्नता का विषय है कि प्रदेश के आर्य प्रतिनिधियों के मार्ग-दर्शन के लिए इस अवसर पर सार्वदेशिक सभा के प्रधान श्री रामगोपाल वानप्रस्थ (शालवाले) एव सभा के महामन्त्री श्री ओमप्रकाश पुरुषार्थी (त्यागी) पधारेगे।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री महोदय ने दिल्ली की समस्त आर्य-समाजो, आर्यसंस्थाओं के पदाधिकारियो, सदस्यों एव आर्यजनो मे अनुरोध किया है कि 'सार्वदेशिक सभा द्वारा आहूत धर्म-रक्षा महाभियान मे अपना सक्रिय योग देने के लिए इस कार्यकर्त्ता अधिवेशन मे समस्त अधिकारी वर्ग एव सभी कार्य-कर्त्ता निश्चित समय पर पधार कर अपना उत्तरदायित्व निबाहे, केवल इसी प्रकार महाभियान की सफलता मे आप अपना सक्रिय सहयोग देकर पुण्य के भागी बन सकते हैं।'

---

## धर्मान्तरित तथा बिछड़े भाइयों को वापस लेंगे

#### शुद्धि-चक्र में तेजी लाओ—अ० भा० शुद्धि सभा का आह्वान

नई दिल्ली। अखिल भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा के तत्वावधान में दिल्ली की प्रमुख आर्य सस्थाओं एव आर्य हिन्दू जनों की एक विशेष बैठक शुक्रवार ता० २६ जून, १९८१ को सायं काल ६ बजे आर्यसमाज मन्दिर हनुमान रोड नई दिल्ली में प्रो०रामसिंह जी की अध्यक्षता में हुई।

दक्षिण भारत में हुए हरिजनों के धर्म-परिवर्तन एवं मुरादाबाद, अली-गढ़ में बिगड़ी हुई साम्प्रदायिक परि-स्थिति के मूल में अरब राष्ट्रों से आने वाली धनराशि के भीषण खतरे पर कार्यकर्ताओ ने अपने विचार प्रकट किए और निश्चय किया गया कि प्रत्येक कार्य-कर्ता इस सम्बन्ध मे सावधान और सन्नद्ध रहे। प्रत्येक हिन्दू आर्य संस्था एव कार्यकर्ता को प्रयत्न करना चाहिए कि धर्मान्तरित हरिजन तथा दूसरे लोगो को पुनः हिन्दू बनाया जाए और दूसरे धर्मावलम्बी पुराने बिछड़े लोगों से निरन्तर सम्पर्क कर उन्हें भी हिन्दू धर्म की अच्छाइयो और विशेषताओ का परि-चय देकर फिर से अपने साथ लाया जाए।

□

## पूर्वी अफ्रीका के यात्री दल

#### भारत में सत्यार्थप्रकाश का वितरण करेंगे

नैरोबी। आर्य प्रतिनिधिसभा पूर्वी अफ्रीका के तत्त्वावधान मे एक बड़े प्रतिनिधि मण्डल के अक्तूबर मास में सत्यार्थ प्रकाश शताब्दी समारोह के अवसर पर उदयपुर पधारने की उम्मीद है। विश्वस्त सूत्रो से ज्ञात हुआ है कि राजस्थान आर्य प्रतिनिधि सभा केन्या के प्रतिनिधि मण्डल को गवर्नमेंण्ट रेस्ट हाउस मे ठहराने की व्यवस्था करवा रही है।

इस शताब्दी समारोह के सिलसिले में पूर्वी अफ्रीका में प्रवासी भारतीयो के यात्री-दल ७-८ दिन की यात्रा के लिए वातानुकूलित बसो की व्यवस्था कर रहे हैं। वे इस अवसर पर सम्पूर्ण भारत मे सत्यार्थ प्रकाश के वितरण की व्यवस्था करेंगे। यह भी प्रसन्नता की बात है कि सभी भारतीय भाषाओ मे सत्यार्थ प्रकाश का अनुवाद हो गया है।

सम्पादक—नरेन्द्र विद्यावाचस्पति

# श्रेष्ठ संस्कृति

अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितार. स्याम।
सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रो अग्नि ॥ यजु: ७-१४.

ऋषि:—अवत्सार: काश्यप: देवता– विश्वेदेवा: । छन्द: विराड् जगती

शब्दार्थ—(देव सोम) हे दिव्य सोम राजन् हम (ते) तेरे द्वारा (अच्छिन्नस्य) निरन्तर प्रवाहित (सुवीर्यस्य) वीर्य और पराक्रम तथा (रायस्पोषस्य) समृद्धि को स्वय प्राप्त करके तदनन्तर (ददितार: स्याम) अभावग्रस्तो को देने वाले हों।

(सा) पहले स्वय प्राप्त करके अभावग्रस्तो का दान करने वाली (संस्कृति.) सम्यक् आकृति की धारिका संस्कृति (प्रथमा) सबसे उत्तम और विकासशील तथा पूर्ण है, और अतएव (विश्ववारा) सबके द्वारा स्वीकार करने योग्य है। और (स.) इस संस्कृति का उत्पादक तथा प्रसारक सोम राजा भी (प्रथम) सर्वश्रेष्ठ है क्योकि वह (वरुण:) प्रजा के रोग, कष्ट और दु:ख का निवारण करने वाला (मित्र.) सबके साथ मित्रता का समान व्यवहार करने वाला और अत एव (अग्नि) सब को आगे ले जाने वाला सच्चे अर्थों मे नेता होता है।

निष्कर्ष—१. पहले अपने लिए वीर्य-पराक्रम-समृद्धि और पोषण जुटाने चाहिए। तदनन्तर अभावग्रस्तो मे इनका वितरण करना चाहिए। जो अपने लिए जुटाए बिना दूसरो को देने लगेगा, वह देर तक सेवा नही कर सकेगा। और जो अपने लिए ही जुटाता रहेगा, वह स्वार्थी परिग्रही कहलाएगा। दोनो स्थितिया अधूरी है।

२. इसलिए उत्तम संस्कृति वह है, जो स्वय सशक्त बनकर दूसरो की सेवा करना सिखाती है।

३. वही शासक उत्तम है जो अपनी प्रजा के कष्टो-दुखों का निवारण करता है, समान व्यवहार करता है और सबको आगे बढने के समान अवसर प्रदान करता है।

विशेष—इस मन्त्र का ऋषि पदार्थ (शब्द का धातुज अर्थ) सकेत करता है कि जो राजा अपनी प्रजा के प्रत्येक वर्ग के उत्कृष्ट व्यक्तियो का संरक्षण करेगा और प्रजा के अभावों से कष्टों का सदा निरीक्षण करेगा—उसके राज्य के सब विद्वान, अधिकारी और प्रजाजन उससे सन्तुष्ट रहेगे। इसके लिए राजा को छन्द नाम विराड् जगती के शब्दार्थ से संकेतित उपायो को अपनाना चाहिए अर्थात (क) स्वय सब गुणों से दीप्त होकर सच्चे अर्थों मे राजा बनना होगा। (ख) प्रजा की इच्छाओ और आवश्यकताओ को पूर्ण करने का प्रयत्न करना होगा। (ग) उन्हे समान अवसर, न्याय और सहायता प्राप्त करानी होगी। (घ) इन तीनो की पूर्ति के लिए स्वय सदा कर्मण्य (जागरूक) रहकर अपने अधिकारियो को भी प्रजा की सेवा मे व्यस्त रखना होगा।

अर्थपोषक प्रमाण—विराड् जगती-विराट् १. विराजनात् स्वय दीप्त राजा बनना होगा २. विराधनात् राध्र संसिद्धौ ३. विप्रापणात्—विशेष रूप से प्राप्त कराना होगा और ४. जगती गम्लृ गतौ —सदा गतिशील जागरूक रहना होगा। प्रथमा—प्रथ विस्तारे। अवत्सार: काश्यप: सारं+अवति, पश्यतीति कश्यप: उसमे प्रवीण=काश्यप वरुण:— वृञ् वरणे–दु:ख कष्ट का निवारण करने वाला मित्र:—मित्रवत् व्यवहार करने वाला. अग्नि:—अग्रे+नयति। अग्निर्वै पथ: कर्ता—शत ११-१-५-६.

—मनोहर विद्यालंकार
५२२ ईश्वर भवन, खारी बावडी,
दिल्ली-६

—०—

लोक चिन्तन

# अमर शहीद बाबी सैण्ड्स

—डा० विजय द्विवेदी

बाबी सैण्ड्स मानव मूल्यों एवं मानव महत्ता में अटूट विश्वास रखने वाला, अन्याय के विरुद्ध विद्रोह करने वाला, महान देशभक्त—दीर्घ ६६ दिनों के अनशन के बाद बलिदानियों की परम्परा, गौरव एव गरिमा को अमर करता हुआ इतिहास के पृष्ठो पर स्वर्णाक्षरों में अंकित हो गया। बाबी सैण्ड्स ने यह अपूर्व बलिदान उत्तर आयरलैंड की जेलो में बन्दी बनाकर रखे जा रहे क्रान्तिकारियों के साथ होने वाले अमानवीय आचरण को दूर करने तथा उत्तर और दक्षिण आयरलैंड को मिला कर एक स्वाधीन गणराज्य की स्थापना के लिए किया है। २६ वर्ष की अल्पायु वाला सैण्डस अभी हाल ही में ब्रिटिश संसद के लिए चुना गया था। वह चाहता तो आराम से संसद-सुख भोग सकता था, भारतीय नेताओ की तरह दूसरों को त्याग-तपस्या-बलिदान का उपदेश दे सकता था, किन्तु उसने अपने लिए कुछ भी नहीं चाहा सोद्देश्य मृत्यु के सिवा। उसकी माग थी—आयरिश क्रान्तिकारियों को जो ब्रिटिश जेलो मे घुट-घुट कर मर रहे हैं उन्हें राजनीतिक बंदियों का दर्जा, सुख तथा सुविधाए दो अथवा भूखा मरने दो।

इतिहास अपने को दोहराता है, गत जनागत बनकर फिर लौट आता है। सैण्ड्स की शहादत से यतीन्द्रनाथ दास की याद आ रही है। जतीन ने भी इसी तरह इन्ही उद्देश्यों को लेकर, इसी ब्रिटिश शासन के विरुद्ध लाहौर जेल मे ६२ दिन तक अनशन करके आत्माहुति दी थी और क्रान्तिकारियो के इतिहास में अपना नाम अमर किया था। सैण्ड्स और जतीन के लक्ष्यो तथा कार्य प्रणाली मे अद्भुत समानता देख कर ऐसा लगता है जैसे अंग्रेजी शासन से बदला लेने स्वयं जतीन ही बाबी सैण्ड्स के रूप मे अवतरित हुए हों। आयरलैंड के स्वाधीनता आन्दोलन में सैण्ड्स के पहले मैकस्वीनी तथा बाद में फासीसी ह्यूज और अभी-अभी रेमण्ड क्रीश आमरण अनशन करके अहिंसा को कायरो का नही वीरों का साधन प्रमाणित कर चुके हैं। अहिंसा विश्व को भारत की देन है। यह उनका अमोघ अस्त्र है जो जीव मात्र की परवशता, पीडा, यातना तथा अन्याय को देखकर मरणजयी बन दूसरों को सत्पथ का ज्ञान कराने के लिए ग्रहण करते हैं। म० महावीर, म० बुद्ध, गांधी जी ने इसी अहिंसा को अपना साधन बनाया था। ससार आज उनका संदेश भूल चुका है, किन्तु इससे न तो महापुरुषों का महत्त्व कम हुआ है और न अहिंसा की शक्ति। मानवतावादियों, देश भक्तो और आजादी के दीवानों का आत्मदान भी इस से नहीं रुका है।

बाबी सैण्ड्स और उसके साथियों के बलिदान पर ब्रिटिश शासकों की अमानवीय हत्यारी नीतियों की जितनी निन्दा की जाए कम है। इससे ससार भर के सत्ताधारियों को भी शिक्षा लेनी चाहिए। उन्हें यह जान लेना चाहिए कि शिवि 'दधिचि से देव जाति, मातृभूमि पर शीश चढ़ाने की जो अक्षय परम्परा आरम्भ हुई है वह ज्योति पुंज बन कर पुण्यपथ के असंख्य पथिकों को सत्य, धर्म मानवता के पुजारियो को अपनी अस्थियां जलाने की प्रेरणा देती रहेगी। त्याग और बलिदान यही मानवता के आभूषण हैं। वेदों मे इन्हें ही मानव का सर्वश्रेष्ठ धर्म बताया गया है।

—म० पू० च० कालेज, बारीपदा (उड़ीसा)

## संगीत के आधुनिक वाद्यों द्वारा वेद-प्रचार

केन्द्रीय आर्ययुवक परिषद् दिल्ली प्रदेश के वरिष्ठ उपाध्यक्ष ब्र० विजय-भूषण आर्य द्वारा हरिद्वार मे वैदिक मोहन आश्रम पंजाब सिंध क्षेत्र, व हर की पौड़ी आदि स्थानो पर वैदिक प्रचार किया गया। बच्चों को आधुनिक वाद्यो द्वारा भजन सिखाए गए एव उन्हें प्रतिज्ञाए भी कराई गईं। हर की पौडी पर शंका-समाधान बहुत सुन्दर ढग से किया गया। एक बगाली स्वामी जी से वहा शास्त्रार्थ भी हुआ, केवल १५ मिनट मे ही वह मैदान छोड़कर भाग गए। आर्यसमाज ज्वालापुर में रविवार के प्रात कालीन सत्संग में मधुर संगीत के साथ भजनोपदेश का कार्य-क्रम भी हुआ।

—०—

## डा० सूर्यदेवजी शर्मा द्वारा पचास हजार रुपए का दान

आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध विद्वान तथा डी० ए० वी० उच्च माध्यमिक विद्यालय अजमेर के भूतपूर्व प्रधानाध्यापक डॉ० सूर्यदेव जी शर्मा मन्त्री आर्यसमाज अजमेर ने अपने जीवन की सात्विक संचित आय की पचास हजार रुपये की की राशि आर्यसमाज शिक्षा सभा, अजमेर को दान में दे दी है। इसके उपलक्ष्य में शिक्षा सभा ने उनके नाम पर सूर्यदेव आर्यसमाज आर्य माध्यमिक विद्यालय की स्थापना करने का निश्चय किया है। इस नवीन स्कूल का शिलान्यास राजस्थान के शिक्षा मन्त्री करेंगे।

—०—

### विजय प्राप्त करो !

प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु ।
उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ ॥

हे मनुष्यो, आगे बढ़ो, विजयी बनो, इन्द्रस्वरूप भगवान् तुम्हें सुख और शान्ति दें, तुम्हारी बाजुएं अदम्य हों, फलतः तुम अजेय हो जाओ ।

## अवसर है, काम करने का

महाभारत का प्रसग है । वीर योद्धा अर्जुन को एक दूरस्थ मोर्चे पर उलझा कर कौरव पक्ष के छह योद्धाओ ने मिलकर उनके सुपुत्र बाल योद्धा वीर अभिमन्यु को घेरे से मार डाला था । उस समय श्रीकृष्ण जी ने अभिमन्यु की वीर माता सुभद्रा को परामर्श दिया था--'यह घडी रोने की नही है, यह है अवसर कायर शत्रु को पराजित करने का । 'सर्वे तां गति यान्तु याभिमन्योर्यशस्विन.' आज के युद्ध मे एकाकी अभिमन्यु ने जिस प्रकार कौरव महारथियो का सामना कर उनसे दो-दो हाथ किए हैं, इस लड़ाई में वीर अभिमन्यु को जो सद्‌गति प्राप्त हुई है, उसे प्राप्त करने के लिए योद्धागण अनेक जन्मो तक तरसते हैं ।'

उसदिन सजय गांधी की बरसी पर उनकी मा इन्दिरा गाधी ने देशवासियो विशेषत: नवयुवको से अनुरोध किया था कि आज का दिन आसू बहाने का या शोक करने का नहीं है, बल्कि साहस, निर्भीकता तथा कार्य की लगन से प्रेरणा ग्रहण करने का है । आज आर्य हिन्दू जाति क समक्ष भी इसी प्रकार भयभीत होने का अवसर नही है, प्रत्युत समय एव परिस्थिति के अनुसार अपने दायित्व को निवाहने का है । इसी पृष्ठ पर 'चिट्ठी-पत्री' स्तम्भ के अन्तर्गत जालन्धर नगर के सुधी विद्वान् श्री सत्यदेव विद्यालकार का एक पत्र प्रकाशित हो रहा है । उसमे उन्होने अन्न एव जीवनोपयोगी वस्तुओं की महगाई एवं अशिक्षा निवारण के दुःख को दुःख न मानने पर चिन्ता व्यक्त की है और स्वतन्त्र भारत देश में ईसाइयों तथा मुसलमानो से हिन्दुओ की रक्षा की असमर्थता को उतना महत्त्वपूर्ण नहीं माना है ।

रोटी-कपडा-मकान की समस्या विश्वव्यापिनी है और युग की पुकार है,उससे जन-जन, राष्ट्र-राष्ट्र जूझ रहा है, जहा तक बहुसख्यक होते हुए भी अपार विदेशी धन के बल पर भारत की बहुसख्यक विशेषत निर्धन पददलित जनता को विधर्मी बनाने के षड्यन्त्र का प्रश्न है, उसे केवल आर्यसमाज जैसा सास्कृतिक संगठन ही अपनी पूरी शक्ति लगाकर सुलझा सकता है । कथित धर्म निरपेक्षता के नाम पर राष्ट्रीय सरकार अपना दायित्व निबाहने मे संकोच कर रही है, फलत: जनता को जाग्रत कर विदेशी धन के बल पर देश को विधर्मी बनाने के कुचक्र को आर्यसमाज आदि सास्कृतिक संगठन ही राष्ट्रीय महाभियान चला कर ही विफल कर सकते हैं । सचमुच यह अवसर व्यर्थ की चर्चाओ का न होकर जनता को भटकने से रोकने का है और अपना दायित्व निबाहने का है ।

——o——

## 'संघे शक्ति कलौ युगे ।'

वर्षों पहले की बात है । उस समय दिल्ली में बहुसंख्या में होकर भी हिन्दू सामान्य दंगों और आपसी संघर्षों में अल्पसंख्यक सम्प्रदाय से बुरी तरह पिट जाते थे । उस समय दिल्ली की निर्बल असंघटित आर्य जाति को संघटित और सुदृढ करने के लिए स्वामी श्रद्धानन्द जी ने अखाड़ों और व्यायाम शालाओं में जाकर आत्मरक्षा के लिए शारीरिक व्यायाम और कसरत अपनाने की सीख दी थी । युवकों द्वारा आत्मरक्षा के लिए संघटित होने एवं आर्यवीर दल आदि के निर्माण से भयभीत जनता में खोए हुए आत्मविश्वास ने स्थान ग्रहण किया था । आज देश में आन्तरिक अव्यवस्था एवं बाहरी आक्रमण की जैसी विभीषिका बढ रही है, उसे देखते हुए सामाजिक एवं राष्ट्रीय बुराइयों को दूर करने के लिए सामाजिक एव राष्ट्रीय सगठन का सुदृढ़ करना आवश्यक है ।

आज देश में सामान्य आचार-व्यवहार, सामाजिक स्थिति निरन्तर अवनत होती जा रही है । चोरी-डकैती, लूटपाट, राहजनी, नारी-अपमान, हत्या,ठगी-धूर्तता, नशाखोरी, लूट-कूट कर खाने की बीमारी बढ़ती चली जा रही है । आज दुष्प्रवृत्तियां बढ रही हैं, सामाजिक ऊँच-नीच की दरार फैलती जा रही है । समाज के निर्बल, पीडित एवं शोषित वर्ग या तो उपेक्षित हैं अथवा उनके बलबूते पर नई शक्तिया पनप और विकसित हो रही हैं । आज समाज की नैतिकता समाप्त हो रही है,कानून का बन्धन शिथिल हो रहा है । राजनीतिज्ञो और राजनीतिक दलो को जनता का दुःख-दैन्य पीडित नही करता । सत्ता और धन के स्वामी अपनी-अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए प्रयत्नशील हैं ।

स्थिति का समुचित आकलन इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए विवश करता करता है कि स्थिति के सुधार के लिए जनसेवी जन संगठनो को सुदृढ करना ही चाहिए । हाथ की अगुलियां पृथक् रहकर निर्बल होती हैं, परन्तु जब वे एक मुठ्ठी या पजे मे मिल जाती हैं तो उनकी शक्ति अद्वितीय हो जाती है, इसी प्रकार बढने के लिए पैरो, कार्य करने के लिए हाथो, सोचने-समझने के लिए मस्तिष्क-बुद्धि का उपयोग करना आवश्यक होता है । देश की आन्तरिक अव्यवस्था को दूर करने के लिए आज आर्यसमाज को आर्यवीर दल एवं आर्ययुवको एवं युवतियो के माध्यम से एक व्यापक राष्ट्रीय सगठन बनाना ही चाहिए । प्रत्येक युवा को कराटे, युयुत्सु एव नई विधाओ मे आत्मरक्षा की कला मे दीक्षित करना चाहिए । इस कलिकाल मे सघटन की शक्ति अपूर्व होती है, इसके समुचित एकत्रीकरण, सुमञ्जन और उपयोग से सामाजिक एव राष्ट्रीय क्षेत्र मे क्रान्तिकारी परिवर्तन सम्भव है ।

——o——

### चिट्ठी-पत्री

#### अपने देश में ही रक्षा में असमर्थ

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के त्रै-वार्षिक अधिवेशन मे नए प्रधान मान्य श्री रामगोपाल शालवाले जी ने धर्मरक्षा महाभियान की घोषणा की है यह इस्लामीकरण और ईसाईकरण के विरुद्ध है ।

मैंने समझा था कि महामान्य प्रधान जी की यह धर्मरक्षा महाभियान घोषणा पाकिस्तान अथवा बगला देश मे हिन्दुओं की रक्षा के लिए है, पर पढने से पता लगा कि यह खतरा भारत में है ।

स्वतन्त्र भारत मे हिन्दुओ की संख्या ईसाई और मुसलमानो से कई गुणा अधिक है । जब से मैंने होश सम्भाला है—लगभग साठ साल से ये खतरे की घण्टियां सुन रहा हू । क्या स्वतन्त्र भारत के ३४ वर्ष बाद भारत मे भी हिन्दू अपनी रक्षा मे समर्थ नही हो पाए ? क्या आने वाले सौ वर्ष तक हो जाएगे ?

भारत के बाहर जो इस घोषणा को पढेंगे वे क्या समझेंगे—अपने देश में इतने गुना होते हुए भी हिन्दू ईसाई और मुसलमानो से जूते खा रहे हैं । और जो सामान्य हिन्दू-मुसलमान-ईसाई भूखा मर रहा है । ८) किलो खाड, ३) किलो पानी मिला दूध ६) किलो दाल, ८) किलो भुना चना, सीमेण्ट आदि के नितान्त अभाव मे नरक भोग रहा है—उसका कोई दुःख नही ।

उसका बच्चा पढ नही सकता, और पढे तो रोटी कमा नही सकता—उसका कोई दुःख नही ।

—सत्यदेव विद्यालकार, शान्ति सदन, १४५/४ सैण्ट्रल टाउन, जालन्धर नगर

—✱—

#### श्री नारायण दास जुनेजा को श्रद्धांजलि

**बम्बई की आर्य संस्थाओं द्वारा आर्यनेता के प्रति शोक अभिव्यक्त**

बम्बई । आर्यसमाज सान्ताक्रुज (बम्बई) के प्रधान एव बृहत्तर बम्बई के लोकप्रिय आर्यनेता श्री नारायण दास जुनेजा का विगत '' जून. १९८१ के दिन बम्बई में ६६ वर्ष की उम्र मे अचानक देहावसान हो गया । सोमवार ८ जून १९८१ के दिन बम्बई की सभी आर्य-सस्थाओ एवं आर्यसमाजी भाई बहनो की एक श्रद्धांजलि सभा सान्ताक्रुज आर्यसमाज भवन मे हुई । इस सभा मे दिवगत आत्मा की सद्‌गति के लिए तथा शोकसन्तप्त परिजनो की सान्त्वना के लिए प्रार्थना की गई और कहा गया कि स्व० जुनेजा जी त्याग और सेवा के प्रतीक थे, वह जिस लोक मे भी जाए उन्हें मृत्युलोक से सच्चे अमरत्व की प्राप्ति हो ।

हरिजनों से

# जो तुमको ईसाई-मुसलमां बनाने आएं उनको ही आर्य बनाओ तुम

**कुमारी तृप्ता शर्मा**

इस्लाम व ईसायत की काली घटाएं,
भारत के आकाश पर घनीभूत होती जा रही हैं।
धन के लालच मे आकर,
हरिजन हरि का नाम छोड़ते जा रहे हैं।
क्यो भूल गए वाल्मीकि की सन्तान हो तुम,
क्यो भूल गए रविदास की औलाद हो तुम,
क्यो भूल गए गाधीजी की रचनाए हो तुम,
क्यों भूल गए देव दयानन्द की आशाएं हो तुम ?
'ऐतरेय ब्राह्मण' के रचयिता हैं तुम्हारे ही वशज,
'रामायण' को लिखने वाले हैं तुम्हारे ही तो पूर्वज,
क्यो अपनी खुदी को भूल चले तुम।
अपना प्यारा धर्म छोड चले तुम।
ऐ ऐतरीय (शुद्रा का पुत्र) के नौनिहालो—
'चरैवेति-चरैवेति' का उपदेश
स्वय रोहित को देकर, 'क्यो' ?
अपने कदमो को पीछे मोड चले तुम।
ऐ गाधीजी के प्यारे पुत्रो—अब भी समय है—
'जागो' अब्दुला गाधी 'से' पुन हीरालाल गाधी बन जाओ'
'मजा तो तब है जो तुमको ईसाई-मुसलमा बनाने आए,
उनको ही आर्य बनाओ तुम।

## संग का प्रभाव

एक बार एक सैनिक घोड़े पर सवार होकर शिकार के लिए जंगल जा रहा था। रास्ते मे डाकुओं की एक बस्ती पडी। एक घर के दरवाजे के साथ रखे पिंजरे मे बैठा एक तोता चिल्ला उठा—'भागो, पकड़ लो, इसे मार डालो, इसका घोड़ा और माल-असबाब छीन लो।'

तोते की आवाज से सिपाही सतर्क हो गया। उसने अपना घोड़ा दौड़ा दिया और घने जगल मे रहने वाले एक साधु की कुटिया के पास पहुंच गया। इस कुटिया के बाहर भी एक पिंजरा लटका था। पिंजरे में बैठे एक तोते ने कहा—'भाई आओ, थक गए हो, विश्राम करो, तुम्हारा स्वागत है।'

आवाज सुनकर साधु महाराज अपनी कुटिया से बाहर पधारे और उन्होंने उस थके हुए सिपही की अगुआनी की। सिपाही ने पूछा—'महाराज, एक बडा सवाल है। क्या आप उसका जवाब दे सकेंगे? अभी मैं थोड़ी देर पहले डाकुओ की बस्ती से गुजरा तब वहाँ के एक तोते ने मुझे पकडने और लूटने की बात कही, परन्तु आपकी कुटिया के तोते ने मीठी-मीठी बात कर मेरा स्वागत किया। महाराज एक ही जाति के दो परिन्दो यह फर्क कैसा?'

यह सुनकर साधु का तोता बोल उठा—
'अहं मुनीनां वचनं श्रृणोमि, श्रृणोत्ययं यद् यवनस्य वाक्यम्।
न चास्य दोषो न च मे गुणो वा संसर्गजा दोषगुणाः भवन्ति।'

मैं साधुओं की वाणी सुनता हूं, वह तोता क्रूर डाकुओं की बात सुनता है। न उसमें कोई बुराई है और न मेरे में कोई अच्छाई है। अच्छी या बुरी संगत से ही गुण या दोष पैदा होते हैं।

—नरेन्द्र

# वन्दन है महर्षि दयानन्द का

वन्दन हैं ऐसे महर्षि दयानन्द का जो जिज्ञासु, तत्त्वज्ञानी, मनस्वी जन, हर्षविवाद मय, वासना ग्राहसंकुल, मृगमरीचिका व्याप्त असार संसार का त्याग कर समस्त मानव जाति का कष्टोन्मूलन करने को उद्यत हो परमार्थ पथ पर चलकर सत्य की गहन साधना मे अहर्निश तत्पर होते हैं। अपार धन वैभव, सुत कलत्र को ठोकर मारकर, परमार्थ चिंतन में लीन हो विषय पंकिल लोलुप मन को विषयों से सर्वथा हटाकर भगवान का गुणानुवाद करने से ही जिनकी रसना आप्लावित रहती है।

नमस्कार है ऐसे तपस्वी को जो

**लेखक :**
**सत्यभूषण वेदालंकार**

सच्चिदानन्दघन परब्रह्म की मधुर मोहनी मूर्ति को पलभर भी तनसे वियुक्त नही होने देते। क्या पुरस्कार क्या तिरस्कार क्या मधुर, क्या कटु, क्या सुगन्ध क्या दुर्गंध, क्या सपत्ति क्या विपत्ति, क्या प्रशसा क्या निन्दा सब मे सम भाव से विचरते हैं, जो चराचर विश्व मे एकी भाव से स्थित, परोपकार परायण दयार्द्र चित, भगवद् भक्ति मग्न परमानन्द में सतत संलग्न है, जो श्रुति रसायन द्वारा मुमूर्ष राष्ट्र के अतिजर्जर कलेवर में अपार बल और अदम्य शक्ति का संचार करके भी सर्वथा अनासक्त रहकर भव-च्चरणारविन्द में अपने को समर्पित कर देते हैं। जिनकी एकही भृकुटि से तीनों लोक विकम्पित हो उठते हैं, जो इतने महान् हैं, कि मणिरत्न मंडित सिंहासन विविधाभरण भूषिता कामिनिया अपार धन-राशि जिनके चरण-कमलों की रज का भी स्पर्श नहीं कर सकतीं, [उन योगी महात्माओं में सबसे अग्रणी, विपुल बलधारी शस्त्र शास्त्र निष्णात दुष्ट दानव दमनकारी, दीन दुर्बलता पहारी, सत्यव्रत धारी वेदविद्या प्रचारी, पददलित मानवोद्धारक स्वातन्त्र्यनादोद्घोषक, अविद्यान्धकार निर्मूलक, अनाथ प्रतिपालक, असहाय सहायक, भव्य भावनोद्बोधक, आर्य साम्राज्य संस्थापक, अनार्योन्मूलक स्वदेश स्वजाति रक्षक, अन्धविश्वास रूढ़िवादोन्मूलक, ऐक्य प्रचारक अनैक्य निवारक, सर्वप्रथम राष्ट्र-भाषा प्रसारक, सत्यार्थ प्रकाश प्रसारक योगिराज पदाधिष्ठित महर्षि दयानन्द को मेरा, समस्त मानव जाति का शतशः कोटिशः प्रणाम (इदं नम ऋषिभ्य।

## तीनों वर-वधु यशस्वी हों

प्रसन्नता का विषय है कि आर्यसमाज के विद्वान महोपदेशक एवं गुरुकुल कागडी के तीन स्नातक बन्धुओ के पिछले दिनों वैवाहिक सम्बन्ध हुए हैं। श्री विष्णुदेव विद्यालकार सुपुत्र श्री मधुसूदन प्रसाद का शुभविवाह ९ जून को साहबगज बिहार मे आयु० लक्ष्मी सुपुत्री श्री नारायण साहू से सम्पन्न हुआ। श्री गणेश विद्यालकार सुपुत्र श्री शिवशकर प्रसाद का शुभविवाह आयु० पुष्पा सुपुत्री श्री शिवकुमार केसरी के साथ १५ जून को जगदल पश्चिम बगाल मे सम्पन्न हुआ। श्री सत्यकाम विद्यालंकार सुपुत्र श्री कुशलराम जी आर्य का शुभविवाह आयु० गायत्री सुपुत्री श्री शकरदत्त जी शर्मा के साथ १५ जून को दूधवा राजस्थान मे सम्पन्न हुआ।

आर्यसन्देश-परिवार की ओर से तीनो वर-वधुओं के सुखी, दीर्घ एव यशस्वी वैवाहिक जीवन की मंगलकामना है।

# गांव-गांव, नगर-नगर में युवाशक्ति संगठित करो

## युवाशक्ति ही स्वस्थ समाज की प्राणशक्ति : आर्यवीरों को नई प्रेरणा गुरुकुल कांगड़ी में सार्वदेशिक आर्यवीर दल शिक्षक प्रशिक्षण शिविर समारोह सम्पन्न

गुरुकुल कांगड़ी। 'आप लोग ग्राम-ग्राम और नगर-नगर मे आकर युवा शक्ति को आर्य ऋषियों द्वारा निर्देशित दिनचर्या मे नियुक्त करेंगे'—इन शब्दो मे सार्वदेशिक सभा द्वारा गुरुकुल कांगड़ी आर्यवीर दल प्रशिक्षण शिविर के मुख्य अतिथि एव उत्तर प्रदेश के संस्कृत विभाग के निदेशक महोदय ने शिविर मे प्रशिक्षित आर्यवीरो का उद्बोधन किया।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने राष्ट्र की सर्वाधिक बहुमूल्य सम्पदा युवाशक्ति को सगठित करने के लिए जून के दो सप्ताहो मे सार्वदेशिक आर्य-वीर दल के सचालन प० बाल दिवाकर हस के नेतृत्व मे गुरुकुल कांगड़ी के प्रागण मे सार्वदेशिक आर्यवीर दल के शिक्षकों का प्रशिक्षण शिविर का आयो-जन गया था। इस शिविर मे उत्तर प्रदेश, पजाब, हरियाणा, राजस्थान मध्यप्रदेश, बिहार, बगाल, आन्ध्र प्रदेश, जम्मू-कश्मीर आदि अनेक राज्यो के स्वस्थ सुपठित आर्यवीर युवक एकत्र हुए थे। शिविर का उद्घाटन करते हुए गुरुकुल कागड़ी फार्मेसी के व्यवस्थापक डॉ० हरिप्रकाश ने कहा—'निसन्देह किसी भी सगठन मे युवाशक्ति उसकी प्राणशक्ति होती है। इस राष्ट्रीय प्राणशक्ति का सवर्द्धन स्वस्थ समाज और व्यक्ति निर्माण की दिशा मे रचनात्मक पग है।'

सार्वदेशिक सभा के महामन्त्री ओम्प्रकाश जी त्यागी ने आर्यवीरो का आह्वान करते हुए कहा कि उन्हे कर्मक्षेत्र में उतर कर दलितो का सरक्षण करना चाहिए। इस समय धन या भूमि के प्रलोभनो से धर्म-परिवर्तन आत्मघात के समान है। श्री त्यागी ने इस प्रकार के धर्मपरिवर्तन पर राष्ट्रीय सरकार द्वारा तुरन्त प्रतिबन्ध लगाने की माग की।

शिविर में व्यायामाचार्य ब्रह्म० वेदव्रत बम्बई के शिक्षक रामसिंह चौहान, हरि-याणा आर्यवीर दल के शिक्षक श्री सत्यपाल आर्य, आन्ध्रप्रदेश के सूबेदार व्यकटेश्वर आदि ने सामान्य व्यायाम, योगासन, लाठी, छूरे, युयुत्सु, सैनिक प्रशिक्षण दिया। प्रशिक्षणार्थियो का महात्मा आर्य भिक्षु श्री ओम्प्रकाश त्यागी, गुरुकुल कागडी के उप कुलपति श्री बलभद्रकुमार हूजा, राजकीय आयुर्वेद महा विद्यालय के प्रधानाचार्य डॉ० सुरेशचन्द्र शास्त्री, श्री बाल दिवाकर हस, प० फूलसिंह शास्त्री एवं जितेन्द्र जी आदि ने बौद्धिक पथ-प्रदर्शन किया।

उपसचालक श्री देवदत्त आचार्य ने आर्यवीरो से सद्गुणो का व्रत धारण करने की प्रतिज्ञा करवाई। आर्यवीरों ने वृक्षारोपण भी किया। कुलपति श्री हूजा ने इस नई वीथी को आर्यवीर दल प्रशिक्षण शिविर सम्वत् २०३८ की सज्ञा दी।

—०—

# इस वर्ष का वेदप्रचार सप्ताह स्वामी वेदानन्द जी की स्मृति में मनाएं

—के० एल० गुलाठी

आर्यसमाज के जिन विद्वानो ने वेद का प्रचार तथा प्रसार का कार्य किया, उनमें पांच चोटी के विद्वानों में श्री स्वामी वेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ महा-राज एक हैं। एक प्रकार से उनके स्तर के वेदों के विद्वान् और व्याख्याता कम ही होंगे। स्वामी जी का सन्यासी नाम स्वामी दयानन्द तीर्थ था, परन्तु वेदों में उनकी अगाध श्रद्धा, भक्ति और रुचि को देखकर आर्यजगत् में उनका नाम स्वामी वेदानन्द प्रसिद्ध हो गया। वेदो के बारे मे उनका पाण्डित्य और लिखा गया साहित्य देखकर बहुत से लोग स्वामी दयानन्द को वेद-उद्धारक और स्वामी वेदानन्द जी को 'वेद प्रचारक' और 'वेद प्रसारक' कहते हैं।

स्वामी वेदानन्द जी ने विद्याध्ययन और वेद-विद्या तो काशी (बनारस) में प्राप्त की थी, परन्तु उनका वेद-प्रचार का कार्य पंजाब, हरियाणा, देहली, उत्तर प्रदेश तथा जम्मू-कश्मीर प्रान्तो में अधिक रहा। वैसे इस कार्य के लिए वह समस्त देश मे घूमे। लाहौर में पजाब आर्य प्रति निधि सभा, गुरुदत्त भवन में पूज्य स्वामी स्वतन्त्रतानन्द जी के साथ कई वर्षों तक दयानन्द-उपदेशक-महाविद्यालय में अध्या-पन कार्य करते रहे। स्वामी जी से पढ़े उनके हजारों शिष्य सारे भारतवर्ष मे फैले हुए हैं। जिन लोगों ने किसी आर्य-समाज के वार्षिक उत्सव पर स्वामी जी का वेदोपदेश या किसी सम्मेलन में वेद सम्बन्धी भाषण सुना होगा, उनके सामने मच पर विराजमान, वेद मन्त्रो का उच्चारण तथा उनकी व्याख्या करती उनकी सौम्य और ओजस्वी आकृति आज भी उनकी आंखो के सामने घूम जाती होगी।

देश के बटवारे के पश्चात् श्रीस्वामी जी दिल्ली आए और उन्होने विरजानन्द वैदिक सस्थान की स्थापना की। १९५६ मे उनकी दिल्ली मे २६ नवम्बर को हृदय की गति रुक जाने के कारण स्वर्गवास हो गया।

स्वामी जी का स्वर्गवास हुए पच्चीस वर्ष हो गए हैं। यह वर्ष(नवम्बर १९८१) उनका रजत जयन्ती पुण्यवर्ष है। देश के बटवारे के कारण तथा देश की राजनीति मे परिवर्तन के कारण पंजाब आर्य प्रति-निधि सभा के तीन प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाओ मे बट जाने के कारण पिछले पच्चीस वर्षों मे काफी लोग स्वामी जी के नाम, काम और शक्ल को भी भूल गए होंगे।

मै स्वामी जी के अनेक शिष्यो, श्रद्धालुओ, भक्तो, प्रशसको और समर्थको से प्रार्थना करता हू कि स्वामी जी के इस रजतजयन्ती पुण्यवर्ष को बड़ी धूम-धाम और उपयुक्त ढंग से मनाए और इस प्रकार स्वामी जी के प्रति अपनी श्रद्धा, भक्ति का प्रदर्शन करें।

इस सम्बन्ध मे कुछ सुझाव आर्य नेताओ के विचार-विमर्श के लिए इस प्रकार हैं—

(१) सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली अपने एक परिपत्र द्वारा देश भर की आर्यसमाजों को स्वामी जी का पुण्य वर्ष मनाने का आदेश दें।

(२) प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभाएं अपनी आर्यसमाजो को विस्तारयुक्त कार्य क्रम बनाकर भेजें और अपने अधीन आर्य समाजो को उसके अनुसार कार्य करने का आदेश दें।

(३) इस वर्ष का वेद प्रचार सप्ताह (अगस्त मास मे श्रावणी से श्रीकृष्ण जन्म अष्टमी तक) "स्वामी वेदानन्द स्मृति वेद प्रचार सप्ताह के रूप में मनाया जाए।'

(४) इस सप्ताह मे हर एक आर्य-समाज अपने यहां श्री स्वामी वेदानन्द जी के वेद सम्बन्धी किसी ग्रन्थ की कथा कराए।

(५) आर्य प्रकाशक उनकी किसी पुस्तक को सुन्दर ढंग से छपवाकर सस्ते दामो पर बाटें।

(६) सम्पन्न तथा समर्थ आर्यसमाजें स्वामी जी के किसी एक ट्रैक्ट को छपवा कर मुफ्त या सस्ते दामो पर बांटें।

(७) स्वामी जी के १९५६ में स्वर्ग-वास होने के एक वर्ष बाद १९५७ मे आर्यकुमार सभा किंग्जवे कैम्प दिल्ली ने ब्रह्मचारी जगदीश चन्द्र विद्यार्थी (स्वामी जगदीश्वरानन्द जी सरस्वती) द्वारा लिखित लघु जीवन चरित्र ट्रैक्ट रूप में छापा था। इसके पश्चात् किसी सभा या समर्थ आर्यसमाज ने अनुकरण नही किया। उनकी जीवनी प्रकाशित होनी चाहिए।

—०—

# आर्य जगत् समाचार

## 'साम्प्रदायिक तत्त्वों को उभरने नहीं देंगे'

### अवैध हथियार जब्त किए जाएं तभी मुरादाबाद में शान्ति

सम्भल (मुरादाबाद) हिन्दू रक्षा सम्मेलन ने सर्वसम्मति से भारत सरकार से मांग की है कि वह राष्ट्रहित की दृष्टि से तुष्टीकरण की नीति छोड़े।

सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए हिन्दू रक्षा समिति के अध्यक्ष महात्मा वेदभिक्षु ने कहा—'हम किसी भी मूल्य पर देश मे साम्प्रदायिक तत्वो को आगे नही उभरने देंगे।' वक्ता ने कहा—'जब तक मुरादाबाद मे जमा हथियार जब्त करने के लिए प्रभावपूर्ण कदम नहीं उठाए जाते, तब तक इस क्षेत्र मे शान्ति नही हो सकती।

प्रो० रत्नसिंह की अध्यक्षता मे स्थानीय आर्यकार्यकर्ताओं की एक बैठक मे हो रहे धर्मपरिवर्तन पर चिन्ता प्रकट की और सरकार से अनुरोध किया कि वह यह धर्मपरिवर्तन अविलम्ब रोके क्योंकि ऐसा स्वार्थपूर्ण धर्म-परिवर्तन राष्ट्रभक्ति समाप्त कर देता है।

#### मुरादाबाद में क्षेत्रीय हिंदू सम्मेलन

७ जुलाई के दिन मुरादाबाद मे क्षेत्रीय हिन्दू सम्मेलन आयोजित किया गया है। सम्मेलन को सफल बनाने मे श्री दयानन्द एडवोकेट और श्री जगदीश शरण माहेश्वरी पूरी शक्ति से लगे हुए हैं।

—o—

## धर्मरक्षा अभियान १६ जून से ३० जून तक

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा आदेश से धर्मरक्षा अभियान के अन्तर्गत श्रीमती चन्ननदेवी आर्यसमाज नेत्र धर्मार्थ चिकित्सालय ने १६ जून से ३० जून तक हरिजन सेवा पखवाडा मनाया गया इस पखवाड़े मे चिकित्सालय की ओर से हरिजन बस्तियो में जाकर हरिजन भाई बहनो के नेत्र का उपचार किया गया तथा साथ ही हरिजन बच्चों के स्वास्थ्य का भी परीक्षण किया गया। महाशय चुन्नीलाल धर्मार्थ ट्रस्ट की ओर से निशुल्क दवाइया एवं चश्मों का प्रबन्ध किया गया।

१६ जून के दिन पखवाड़ें का उद्घाटन सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान लाला रामगोपाल शालवाले ने किया। सभा की अध्यक्षता दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सरदारीलाल वर्मा ने की। इस अवसर पर हरिजन भाई-बहनों ने दूसरे आर्य भाई-बहनो के साथ मिलकर यज्ञ एवं हवन किया। हरिजन बच्चों ने प्रभु-भक्ति के गीत एव वेद मन्त्र सुनाये। लाला रामगोपाल शालवाले ने पहली पर्ची अपने हाथो से बनाकर इस अभियान का उद्घाटन किया। इस अवसर पर १८५ हरिजन भाई बहनों की आँखों के उपचार के बाद नि:शुल्क दवाइयां दी गई। इस अवसर पर ट्रस्ट के प्रधान महाशय धर्मपाल जी ने घोषणा की कि इस पखवाड़े मे हरिजन बस्तियों में आ जाकर हरिजन भाई बहनों की आखों के रोगो की चिकित्सा करेंगे।

चिकित्सालय के मन्त्री श्री ओमप्रकाश आर्य ने घोषणा की कि हमारी शिरोमणि सभा ने जो धर्मरक्षा अभियान छेडा है, इसको बडी दृढता से चलाया जाएगा तथा सभा जो आदेश देगी उनका अक्षर-अक्षर पालन किया जाएगा। आपने भारत सरकार से माग की कि सिविल कोड समस्त भारतीयो के लिए एक बनाया जाए।

—o—

## सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध क्रान्ति करो

### अनुशासन से रहो : श्री वानप्रस्थ का आह्वान

दिल्ली। केन्द्रीय आर्य युवक परिषद् दिल्ली प्रदेश के तत्वावधान मे दिल्ली राज्य की युवक रैली को सम्बोधित करते हुए शिरोमणि सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री रामगोपाल शालवाले (वानप्रस्थ) ने अनुशासन से रहने का सदेश देते हुए देश के अन्दर फैली हुई सामाजिक कुरीतियो के विरुद्ध क्रान्तिकारी कार्यक्रम का आह्वान किया।

उन्होने 'केन्द्रीय आर्य युवक परिषद' एवं 'आर्य धीर दल' दोनो को आर्यसमाज का युवक संगठन घोषित किया और सामाजिक क्षेत्र का नेतृत्व करने के लिए प्रेरित किया। कार्यक्रम मे आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के मन्त्री श्री रामनाथ सहगल तथा परिपद के अध्यक्ष ब्र० राजसिंह आर्य ने भी युवको सम्बोधित किया।

सभा से पूर्व कमला नेहरू पार्क पुरानी सब्जी मण्डी मे आठ क्षेत्रो की कबड्डी की टीमो के मुकाबले हुए। गौतम नगर की महात्मा नारायण स्वामी टीम सर्वप्रथम रही। द्वितीय स्थान गु० ते० ब० नगर की पजाब केसरी टीम को मिला। विजयी टीम को श्री रामनाथ सहगल ने कप प्रदान किया। ब्र० विवेक भूषण आर्य को दिल्ली राज्य का प्रधान शिक्षक नियुक्त किया गया। सर्वश्री धर्मपाल आर्य, श्री रन्तिदेव आर्य, विनय कुमार आर्य, ब्र० प्रदीप कुमार आर्य शिक्षक नियुक्त किए गए।

—o—

## व्यायाम कार्यक्रमों में युवकों की दिलचस्पी

आर्यसमाज श्रद्धानन्द पुरम् गुड़गाव के तत्वावधान मे १० जून से गुरुदत्त व्यायामशाला एव अखाडे के कार्यक्रम चल रहे हैं। भार उठाने, गोला फेकने, छाती बढाने, एव मोगरी उठाने के कार्यक्रम मे युवक भारी दिलचस्पी ले रहे हैं। श्री सुभाष खुराना एव श्रीमती पुष्पा माकन मे व्यायामशाला हेतु आर्थिक सहायता दी।

—o—

## भारत के राष्ट्रपति श्री रेड्डी नैरोबी में

### आर्यसमाज द्वारा भव्य स्वागत

नैरोबी। भारत के राष्ट्रपति श्री नीलम सजीव रेड्डी की केन्या यात्रा के अवसर पर उनका हवाई हड्डे पर आर्यसमाज के विद्यालयो के तीन सौ बच्चो ने भव्य उत्साहवर्द्धक स्वागत किया। इस अवसर पर प्रतिष्ठित स्वागतकर्ताओं मे आर्यसमाज की ओर से श्री एस० बी० भारद्वाज ने राष्ट्रपति का स्वागत किया। नैरोबी के प्रीमियर क्लब में हिन्दू कौसिल, केन्या के स्वागत समारोह मे केन्या की ६० धार्मिक संस्थाओ ने भारतीय राष्ट्रपति का स्वागत किया था। इस अवसर पर आर्यसमाज के अध्यक्ष ने राष्ट्रपति को माल्यार्पण किया।

—o—

## आर्यसमाज की लोकप्रियता के लिए कुछ उपयोगी सुझाव

२१ जून को आर्यवानप्रस्थ आश्रम भटिंडा गुरुकुल में भटिंडा, जीद, अबोहर, गोनियाना मण्डी, रामा मण्डी, फरीद कोट, मण्डी डबवाली आर्यसमाजो के प्रतिनिधियो की एक संयुक्त सभा में आर्य समाज को व्यापक एवं लोकप्रिय बनाने के लिए ये सिद्धान्त स्वीकार किए गए १. प्रत्येक आर्यसभासद के घर कम से कम मास में एक पारिवारिक सत्संग किया जाए २. सब आर्यसमाजों के अन्तर्गत आर्य स्त्री समाजें संगठित की जाएं ३. आर्य समाज की सभी शिक्षा संस्थाओं मे धर्म शिक्षा अनिवार्य हो, ४. प्रत्येक नगर की आर्यसंस्थाए प्रमुख आर्य हिन्दू पर्व मिलकर उत्साह से मनाएं ५. विद्यार्थियों में नैतिक शिक्षा के प्रसार के लिए शिक्षकों में आर्य विचारधारा प्रसारित की जाए। ६. भटिण्डा की आर्य संस्थाएं मिलकर वार्षिक या अर्द्ध-वार्षिक पत्रिका प्रकाशित करें।

## आर्यसमाज संस्कृति की सुरक्षा के लिए प्रयत्नशील

### बैंक आफ इंडिया के अध्यक्ष श्री वाघुल की सम्मति

नैरोबी के साउथ सी के आर्यसमाज मन्दिर में बैंक आफ इन्डिया के अध्यक्ष श्री एन० वाघुल पधारे। आर्यसमाज के प्रधान श्री एस० बी० भारद्वाज ने इतनी छोटी उम्र में उनके बैंक के संचालक मण्डल के अध्यक्ष बनने पर प्रसन्नता व्यक्त की।

स्वागत का उत्तर देते हुए श्री वाघुल ने कहा 'मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि आर्यसमाज नैरोबी ने रामायण-कथा की व्यवस्था की है, और वह भारतीय संस्कृति की सुरक्षा के लिए प्रयत्नशील है। हमें प्रयत्न करना चाहिए कि नई पीढ़ी ऋषियों और मुनियों की संस्कृति से घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करे अन्यथा वह फैशन के बहाव में हम से दूर हो जाएगी।

# आर्यसमाजों के सत्संग

५ जुलाई '८१

अन्धा मुगल प्रतापनगर -पं० प्राणनाथ सिद्धान्तालंकार; अमर कालोनी प्रो० सत्यपाल बेदार; अशोक विहार—पं० प्रकाशवीर 'व्याकुल'; आर्यपुरा—पं० रामदेव शास्त्री; आर. के. पुरम सेक्टर-६—श्री देशराज खन्ना; आनन्द विहार (हरिनगर एल ब्लाक)—पं० देवचन्द्र शास्त्री; किंग्जवे कैम्प—पं० देवराज वैदिक मिशनरी; कालका जी—पं० मनोहर 'विरक्त'; कालका जी डी. डी.ए फ्लैट्स—डा० रघुनन्दन सिंह; करौल बाग—डा० देवेन्द्र द्विवेदी; कृष्णनगर—पं० देवेश; गांधीनगर—स्वामी स्वरूपानन्द तथा पं० सत्यदेव स्नातक; गीता कालोनी—पं० सीसराम भजनोपदेशक; गुप्ता कालोनी १५१—प० रामरूप शर्मा; गोविन्दपुरी—पं० वेदपाल शास्त्री; गोविन्दभवन दयानन्द वाटिका—पं० ईश्वरदत्त; जंगपुरा भोगल—श्री मोहन लाल गाधी; जनकपुरी सी-३ पार्क—प० हरिदत्त शास्त्री वेदाचार्य; जनकपुरी बी३/२४—श्रीमती प्रकाशवती शास्त्री; टैगोर गार्डन—पं० ओमवीर शास्त्री; तिलकनगर—प० तुलसीराम भजनोपदेशक; देवनगर—पं० अशोककुमार विद्यालंकार; नारायण विहार—प्रो० वीरपाल विद्यालंकार; निर्माण विहार—प० प्रकाशचन्द शास्त्री; पंजाबी बाग—डा० महेश विद्यालंकार; पंजाबी बाग एक्सटैन्शन १४/३—पं० छज्जूराम शास्त्री; पश्चिमपुरी जनता क्वार्टर—श्रीमती भगवान देवी; बाग कड़ेखां—पं० बरकतराम भजनोपदेशक; बसई दारापुर—पं० केशवचन्द्र मुन्जाल; बाजार सीताराम—प० अमरनाथ कान्त; बिरला लाइन्स—स्वामी ओम आश्रित; मोडल बस्ती—प० वेदव्यास भजनोपदेशक; माडल टाउन—प० सुधाकर स्नातक; महरौली—प० सत्यभूषण वेदालंकार; मोतीबाग—डा० सुखदयाल भूटानी; रघुवीर नगर—प० महेशचन्द भजन मण्डली; रमेशनगर—प० रमेशचन्द्र शास्त्री; राणा प्रतापबाग—कविराज बनबारी लाल शादां भजन मण्डली; राजौरी गार्डन—लाला लखमीदास, लड्डू घाटी—श्री मोहनलाल आर्य भजनोपदेशक; लेखनगर त्रिनगर—प० उदयपाल शास्त्री; लारेन्स रोड—प० सत्यपाल मधुर; विक्रम नगर—प० आशानन्द भजनोपदेशक; विजय नगर—आचार्य रामशरण मिश्रा शास्त्री; सुदर्शन पार्क—प्रो० भारतमित्र शास्त्री; सराय रोहेला—प० ओमप्रकाश भजनोपदेशक; श्री निवासपुरी—श्रीमती लीलावती आर्या; शालीमार बाग—प० शिवकुमार शास्त्री; हनुमान रोड—पं० हरिशरण सिद्धान्तालंकार; हौज खास डी-२०—प० हीरप्रसाद शास्त्री।

—वेद प्रचारिणी सभा दिल्ली द्वारा प्रचारित



## अमर स्वामी ग्रन्थ का विमोचन

[महात्मा अमर स्वामी लिखित 'शास्त्रार्थ-एक शंकराचार्य से' शीर्षक ग्रन्थ का विमोचन ११ जुलाई, १९८१ को सायं ५ बजे आर्यसमाज मन्दिर मार्ग में प्रो० वेदव्यास एडवोकेट, प्रधान प्रादेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा की अध्यक्षता में सम्पन्न होगा।

—०—

## आर्यसमाजों के नए पदाधिकारी

आर्यसमाज महावीर नगर, नई दिल्ली-१८। प्रधान—श्री यशपाल मल्होत्रा; उपप्रधान—श्री मुंशीराम जौहर; मन्त्री—श्री भीमसेन; प्रचार-मन्त्री—श्री प्रेमदास; कोषाध्यक्ष—श्री विशन दास, लेखा-निरीक्षक—श्री जे० आर० खन्ना। पुस्तकालयाध्यक्ष—श्री महेंद्रकुमार।

०—०

आर्यसमाज आर्यपुरा सब्जीमण्डी—प्रधान—श्री राजेन्द्रप्रसाद; उपप्रधान—सर्वश्री ओम्प्रकाश वर्मा; गणेशीलाल वर्मा, मन्त्री—श्री हरिसिंह गुप्ता; उपमन्त्री—सर्व श्री सत्यपाल वर्मा; एव रणवीर सिंह, कोषाध्यक्ष—श्री श्याम बहादुर सैनी, पुस्तकाध्यक्ष—श्री पुष्प राज कोहली; भण्डारी—गजेन्द्रसिंह; लेखा निरीक्षक—रमेशचन्द्र सैनी।

आर्यवीर दल, फरीदाबाद—नगर नायक—देवेन्द्रकुमार; मन्त्री—श्री लव देव, कोषाध्यक्ष—श्री सन्तलाल; शाखा-नायक—श्री दिनेशकुमार शर्मा; बौद्धिक शिक्षक—डॉ० दिनेशकुमार विद्यार्थी; वर्गनायक—श्री मनोहरलाल; श्री नवीन कुमार; संरक्षक—महेशचन्द्र।

आर्यसमाज हरदोई—प्रधान—डॉ पूर्णदेव; उपप्रधान—सर्वश्री श्यामसुन्दर वाजपेयी, श्री बन्सीसिंह एव श्रीमती विमला पाण्डिया; मन्त्री—श्री अनूप कुमार; उपमन्त्री—सर्व श्री भगवान दयाल शर्मा, विश्वम्भर नाथ मिश्र, श्रीमती हेमलता मिश्र, कोषाध्यक्ष—श्री ब्रह्मस्वरूप पाण्डेय, पुस्तकाध्यक्ष—श्री हरिश्चन्द्र शुक्ल।
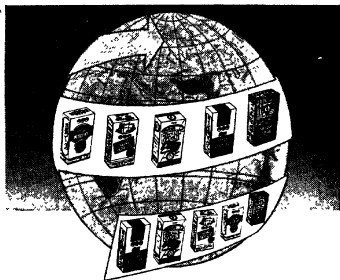
—०—

ओ३म्

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

# आर्य सन्देश

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा का साप्ताहिक मुखपत्र

एक प्रति ३५ पैसे | वार्षिक १५ रुपये | वर्ष ४ : अंक ३७ | रविवार २९ आषाढ़, वि० २०३८ | १२ जुलाई १९८१ | दयानन्दाब्द १५६

# २६ जुलाई को देशव्यापी धर्म-रक्षा अभियान की शुरूआत

## देश में व्याप्त भीषण स्थिति का मुकाबला करने के लिए आर्यसमाज दृढ़संकल्प—सार्वदेशिक सभा के महामन्त्री श्री ओम्प्रकाश त्यागी की घोषणा

दिल्ली ५ जुलाई। 'आर्य हिन्दू जाति के सामने जितना भयंकर खतरा आज है, उतना औरंगजेब के सामने भी नहीं था। उस समय भी ऐसा सामूहिक धर्म-परिवर्तन नहीं हुआ था। आज देश के सामने जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित है। आज इस भीषण परिस्थिति में देश की राजधानी होने से दिल्ली की आर्यसमाजो एव आर्य जनों पर विशेष उत्तरदायित्व है, उन्हें इस कठिन परिस्थिति में देश का पथ-प्रदर्शन करना है।' इन शब्दो में आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री श्री ओम्प्रकाश त्यागी ने रविवार के दिन आर्यसमाज करोलबाग के सभाभवन मे दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा आयोजित दिल्ली के आर्यकार्यकर्त्ताओ के सम्मेलन में धर्मरक्षा-अभियान का प्रारम्भिक भाषण दिया। सम्मेलन की अध्यक्षता केन्द्रीय आर्यसभा दिल्ली के प्रधान महाशय धर्मपाल ने की।

श्री त्यागी ने भारत की वर्तमान परिस्थिति की पृष्ठभूमि की चर्चा करते करते हुए सूचना दी कि फरवरी १९५३ में कम्युनिस्टों का सामना करने के लिए भारत में व्यापक ईसाईकरण की योजना बनाई गई। पूर्वोत्तर भारत मे इस योजना की अभूतपूर्व सफलता देख कर १९७३ में पान इस्लामिक लीग ने देश मे इस्लामीकरण की योजना बनाई। कुवैत के 'अरब टाइम्स' ने उस योजना का समाचार छापा था जिसमें देश के बेचैन हरिजनो का धर्मान्तरण कर अगले दशक में भारत के मुसलमानों की गिनती २० करोड़ करने का लक्ष्य निर्धारित किया था। पिछले दिनो देश के कई भागों—मुरादाबाद, वाराणसी, कोचीन, भोपाल आदि में विशाल मुस्लिम संस्थाएं बनाने की पेशकश की की गई। श्रीनगर में इस्लामिक यूथ कांफ्रेंस करने की अनुमति शेख अब्दुल्ला ने नहीं दी, वही सम्मेलन बम्बई में किया गया। वहां निश्चय किया गया कि जब तक काफिरों की एक-एक मूर्ति नष्ट नहीं होगी, तब तक चैन नहीं लिया जाएगा। इसके बाद हैदराबाद के समीप पहाड़ी शरीफ में लाखों की उपस्थिति में मुस्लिम जमीयत का अधिवेशन हुआ जिसमें पृथक् मुस्लिम राष्ट्र स्थापित करने की मांग की गई।

श्री त्यागी ने कहा—'इस बार मुसलमानों ने बिलकुल गुप्त रूप में हरिजनों के धर्मान्तरण का प्रयत्न किया था। इस प्रयत्न की पहली सफलता की घोषणा 'कुवैत टाइम्स' ने की थी, पर उस समय यह मालूम नही पड़ सका था कि भारत के किस भाग में यह हरिजनो का सामूहिक धर्मपरिवर्तन हुआ। सबसे पूर्व 'टाइम्स आफ इण्डिया' के मलिक ने रहस्योद्घाटन किया कि मीनाक्षीपुरम का पूरा गांव मुसलमान हो गया। पिछले दिनो ये सूचनाएं भी मिली हैं कि रामनाथपुरम और मदुराई मे सामूहिक धर्मपरिवर्तन हुआ है। पिछले कुछ महीने में ८००० हरिजन सामूहिक रूप से मुसलमान बन चुके हैं। इतना ही नहीं, केन्द्रीय गृहराज्य मन्त्री श्री योगेन्द्र मकवाणा ने तिरूनिलवेली जिले मे मीनाक्षीपुरम गांव के हरिजनों को मुसलमान बनाने की घटना के लिए मूल रूप से तमिलनाडु सरकार को जिम्मेदार ठहराया है। श्री मकवाणा की सम्मति में राज्य सरकार हरिजनों के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करने में विफल रही है। इसी के साथ केन्द्रीय सरकार की गुप्तचर एजेन्सियां पता लगा रही हैं कि तमिलनाडु में व्यापक स्तर पर धर्म-परिवर्तन के पीछे अरब देशों का धन भी काम कर रहा है'। श्री त्यागी ने कहा—स्थिति का मुकाबला करने के लिए आर्यसमाज को नेतृत्व करना होगा, सभी वर्गों के सहयोग से धर्मरक्षा-अभियान चलाया जाएगा, दक्षिण भारत मे व्यापक रूप से क्षेत्रीय प्रचारकों की सहायता से आर्यसमाज कार्य करेगा। खतरे का मुकाबला करने के लिए आर्यसमाज जन-जागरण करेगा, २६ जुलाई को देश भर मे हरिजनों के सहयोग से यज्ञ, शोभायात्रा एव प्रीतिभोज आयोजित किए जाएगे, हरिजनो को यज्ञ मे सम्मिलित कर यज्ञोपवीत दिए जाएगे।

## दिल्ली में २६ जुलाई को विशाल शोभायात्रा का आयोजन

### दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा धर्म-रक्षा अभियान का श्रीगणेश

दिल्ली। आर्य प्रतिनिधि सभा ने रविवार २६ जुलाई को दोपहर दो बजे से दिल्ली के रामलीला मैदान से प्रारम्भ कर नगर के विभिन्न मोहल्लों मे होते हुए लालकिले पर विशाल शोभायात्रा या जलूस निकालने का निर्णय किया है। दिल्ली भर की आर्यसमाजो एवं आर्य-संस्थाओं से अनुरोध किया गया है कि उस दिन वे अपने सभी कार्यक्रम स्थगित कर इस जलूस मे सम्मिलित हों। आर्य-संस्थाए अपने साथ अधिक से अधिक गिनती मे हरिजनो को लाए, उन्हें उस दिन यज्ञ मे यज्ञोपवीत एव सामूहिक प्रसाद देने की भी व्यवस्था की जाए।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के आह्वान पर पांच दानी आर्य सज्जनों ने आर्यसमाज के प्रचार अभियान में योग देने के लिए पांच वैदिक धर्मी प्रचारकों का वेतन देने का सकल्प किया है। हरिजन बस्तियों मे जाकर यज्ञ एवं दूसरे कार्यक्रमो से जन सम्पर्क करने का भी निश्चय किया गया।

## रविवार २३ अगस्त को सभा का वार्षिकोत्सव

### वेद-प्रचार की राशि एवं दशांश भिजवाएं

जिन आर्य समाजों ने अपने सदस्यों की आय का दशांश और वेद प्रचार की राशि नही भिजवाई है, वे उसे तुरन्त भिजवाए।

स्मरण रहे कि दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा का वार्षिकोत्सव रविवार २३ अगस्त के दिन है। उसमें आप की समाज का प्रतिनिधित्व समाज के दशांश, वेद प्रचार की राशि एवं 'आर्य सन्देश का वार्षिक चन्दा देने पर ही सम्भव है।

## पं० सत्यदेव भारद्वाज का दिव्य दान

नैरोबी पूर्वी अफ्रीका के वैदिक विद्वान् एव उद्योगपति श्री प० सत्यदेव भारद्वाज वेदालकार ने घोषित किया है कि वह केन्या, उगाण्डा और तजानिया के उन युवको की आर्थिक सहायता करेंगे जो मैकेनिकल और इलक्ट्रीकल इंजीनियरी के उच्चतर अध्ययन के लिए भारत जाना चाहते हैं। उन्होंने घोषित किया कि ऐसे छात्रों का सम्पूर्ण आर्थिक व्यय बिना किसी शर्त के वह वहन करने के लिए तैयार हैं। □

सम्पादक—नरेन्द्र विद्यावाचस्पति

# सूर्य-सेवन से काम-नियंत्रण

सुवीरो वीरान् प्रजनयन् परीह्यभि रायस्पोषेन यजमानम्।
सजग्मानो दिवा पृथिव्या शुक्रः शुक्रशोचिषा निरस्तः शण्ड.
शुक्रस्याधिष्ठानमसि ॥ यजु ७-१३

ऋषिः—काश्यपोऽवत्सारः । देवता—विश्वेदेवाः । छन्द—निचृदार्षी त्रिष्टुप।

शब्दार्थ— परमात्मा मनुष्यो को सम्बोधित करता हुआ उपदेश करता है-हे मनुष्य (सुवीर) स्वय सब प्रकार से वीर बन और (वीरान्) वीर पुत्रो को (प्रजनयन्) उत्पन्न करता हुआ, और व्यापार के लिए (पृथिव्या) पृथिवी पर तथा (दिवा) द्युलोक में (परिसजग्मान) चारो ओर आवागमन करते हुए (यजमानम्) यज्ञकार्य में प्रवृत जन को (रायस्पोषेण) सब प्रकार के धन और पोषण के द्वारा (अइभिहि) चारो ओर से सन्तुष्ट रख। ]

तू (शुक्रस्य अधिष्ठानमसि) वीर्य और उसके रक्षण से उत्पन्न दीप्ति का आश्रय है। (शुक्रशोचिषा) सूर्य की दीप्ति के सेवन द्वारा (शण्ड) कामवासना का ज्वार और नपुंसकता दोनो ही (निरस्त.) दूर कर दी जाती है, और तू (शुक्र असि) सूर्यतुल्य दीप्त बन जाता है।

निष्कर्ष १. जब तक मनुष्य स्वय वीर नही बनेगा, उसकी सन्तान भी वीर नही बन सकती है, इसलिए उसे वीर बनने की प्रेरणा दी है। वीर बनने का उपाय बताया हैं, वीर्य की रक्षा।

२. वीर्य का स्रोत और नियन्त्रण करने वाला है सूर्य। ऋक् १०-९४-५ (पुस्नरेतो दधिरे सूर्यश्वित) मे स्पष्ट लिखा है कि सूर्य का सेवन करने वाले प्रभूतवीर्य धारण करते हैं, इसलिए धूप में काम करने वाले ग्रामीण कृषकों मे प्रजनन शक्ति अधिक होती है।

बढ़ी हुई कामवासना को कम करने के लिए भी सूर्य का सेवन बताया गया है। हरिर्निकाम.। तुवर्हि हरिशिप्रः। आविष्कृधि हरये सूर्याय। ऋक् १०-९६ से स्पष्ट है कि हरि सूर्य है और वह काम आदि को शान्त करता है।

३. रायस्पोष की प्राप्ति के लिए व्यापार के निमित्त पृथिवी और द्युलोक मे सर्वत्र विचरण करना चाहिए।

विशेष—नाम च धातुजमाह निरुक्ते। ऋषि नाम भी सार्थक होते हैं। १. ऋषि नाम काश्यप अवत्सार का धातुज शब्दार्थ सकेत करता है कि सार वस्तु (वीर्य) की रक्षा करने वाला कश्यप (सूर्य) सम्बन्धी दीप्ति को प्राप्त करके अवत्सार काश्यप बनता है।

२. देवता नाम विश्वदेवाः इस मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। यदि मनुष्य अवत्सार काश्यप बनेगा तो उसकी सब इन्द्रियां (विश्वदेवा.) पुष्ट एव दीप्त होंगी, और विश्व के सब देव उसके सहायक बनेंगे।

छन्दनाम त्रिष्टुप का पदार्थ त्रिधा स्तुति को साधन बनाने का संकेत करता है।

क. सूर्य से प्राप्त शक्तिका स्तम्भन करने से रोग आक्रमण नही करते, और प्रजनन शक्ति नियन्त्रित होती है। स्तुभु-स्तम्भे।

ख. यज्ञ भाव से कर्मरत (यजमान) के लिए रायस्पोष का प्रबन्ध करना हो तो स्वयं तेजस्वी बनकर हर स्थिति मे प्रसन्न रहना चाहिए। स्तुच प्रसादे।

ग. शुक्र(सूर्य तथा वीर्य) के गुणो को जानकर यथायोग्य सेवन करना, और स्वय समर्थ बनकर जनहित के लिए सर्जन में व्यस्त रहना चाहिए। स्तुञ् स्तुतौ।

घ. अर्थात १) देवता पदार्थ (शब्द के अर्थ) को अपना लक्ष्य निर्धारित करके (२) छन्द पदार्थ (शब्द के अर्थ) को अपना साधन बनाकर (३) ऋषि पदार्थ (शब्द के अर्थ) को अपने आचरण मे लाकर मनुष्य स्वयं मन्त्र का द्रष्टा बनता है और दूसरो को भी उस अर्थ का दर्शन कराने मे समर्थ बनता है।

अर्थपोषक प्रमाण—

काश्यप अवत्सार—सारमवति, पश्यति चराचर दर्शयति च पश्यकः कश्यपः। कश्यपः सूर्य, उससे शिक्षा लेने वाला कश्यपः। काश्यपः—काशृ दीप्तौ काशते इति। शण्डः नपुसक। आप्टे. शुक्रः—असौ वा आदित्य शुक्रः शत १२-८-२-२२. शण्ड सांड=कामुकः। आप्टे शुक्रम्—वीर्यम्। निरस्तः—निः+असु क्षेपणे। तुदत् हिनस्ति। सायण. हरो सूर्ये शेते=हरिशिप्रः।

त्रिष्टुप्—त्रि+स्तुभु स्तम्भे—सूर्य से शुक्र का स्तम्भन करना।
स्तुच प्रसादे—स्वयं तेजस्वी बनकर प्रसन्न रहना।
स्तुञ् स्तुतौ—स्तुतिर्हि गुण दोष कीर्तनमा स्वामी दया० गुणदोष को जानकर उन्हे अपने जीवन में घटाना ही सच्ची स्तुति है।

—मनोहर विद्यालंकार
५२२, ईश्वर भवन, खारी बावड़ी दिल्ली-६

## आज क्या तट पर रुकूं मैं ?

—शरर एम० ए०

आज क्यो तट पर रुकू मैं आज लहरों में निमन्त्रण,
देखता हू छा रहा है, राज्य चारों ओर तम का,
हर पथिक के मन मे जिसको देख कर उठती है शका,
किन्तु मेरा लक्ष्य उज्ज्वल।
कर रहा पथ दीप्त प्रतिक्षण···आज क्या तट···

× × ×

मेरी नौका तेज लहरों के बवन्डर में बढ़ेगी,
चीर कर सागर का वक्षस्थल यह तट को चूम लेगी
आज झंझा के झकोरों में।
करेगा नृत्य कण-कण···आज लहरो में···

× × ×

आपदाओ को चुनौती दीजिए बढ़-बढ़ के आएं,
आज सागर से उलझने को मचलती हैं भुजाएं,
आज दिल की धड़कनों पर हो नहीं सकता नियन्त्रण···आज···

× × ×

मेरी नौका से रहेगा दूर कितनी दूर साहिल,
चूमने बढती है वीरों के पगों को स्वय मंजिल,
लक्ष्य सिद्धि मे हुआ करता है जब सर्वस्व अर्पण,
आज लहरो मे निमन्त्रण।

मकान संख्या ३०/८ पानीपत [हरियाणा]

## आर्यसमाज अशोक विहार के निर्माण में योग दें

'आर्यसमाज अशोकविहार-III को दिल्ली विकास प्राधिकरण [DDA] ने ५०० वर्गमीटर भूमि देना स्वीकार किया है इस भूमि को खरीदने और इस पर मन्दिर एव भवन बनवाने के लिए पर्याप्त धन चाहिए।

अभी तक उक्त लक्ष्य की पूर्ति के लिए पर्याप्त धनराशि को इकट्ठा करने मे असफल रहे हैं। अतः आर्य बन्धुओ से प्रार्थना है कि क्रास किए ड्राफ्ट या चैक आर्यसमाज अशोकविहार फेज-III के नाम पर A-१०३ अशोकविहार फेज-III दिल्ली ११००५२ के पते पर सहायता भेजें।

भवदिया, सीता मदान, मन्त्री

## श्रद्धा से दो

श्रद्धया देयम्, अश्रद्धया देयम्, श्रिया देयम्, ह्रिया देयम्, भिया देयम्, संविदा देयम्। तैत्तिरीय आरण्यक प्र०७,अनु ६-१४

श्रद्धा से देना, अश्रद्धा से देना, शोभा से देना, लज्जा से देना, और प्रतिज्ञा या संकल्प से भी देना चाहिए।

## कण्टकं कण्टकेनैव

कहते हैं कि पैर या अंगविशेष में चुभे हुए कांटे को कांटे, सुई आदि से ही निकाला जा सकता है। आज हमारे मैत्रीपूर्ण व्यवहार के बावजूद हमारा पड़ोसी पाकिस्तान नई शस्त्रसज्जा कर रहा है। संयुक्त राज्य अमेरिका उसे हर तरह के शस्त्रास्त्रों और आर्थिक सहायता से मजबूत कर रहा है। पाकिस्तान के विदेश-मंत्री श्री आगाशाही ने घोषित किया है कि भारत और सोवियत संघ के विरोध के बावजूद पाकिस्तान अमेरिका से हथियारों की खरीद करेगा। इन दोनों देशों की प्रतिक्रिया के बावजूद वह अपनी हथियार प्राप्त करने की कोशिश नहीं छोड़ेगा। इतना ही नहीं, पाकिस्तानी विदेश-मन्त्री ने यह ऐलान भी किया है उनका मुल्क अपना परमाणु कार्यक्रम जारी रखेगा।

ठीक है पड़ोसी पाकिस्तान अपनी शस्त्र सज्जा करे, वह हथियारों का अनन्त जखीरा या कोष इकट्ठा करे, वह एक स्वाधीन राष्ट्र है पर उसकी इस तैयारी को भारत नजरन्दाज नहीं कर सकता। वह यह बात भी भुला नहीं सकता कि पिछले चौंतीस वर्षों में पाकिस्तान तीन बार हमारे देश पर हमला कर चुका है और यह बात भी भुलाई नहीं जा सकती कि पाकिस्तान की नई तैयारी अफगानिस्तान या रूस के विरुद्ध न होकर स्पष्टतया भारत के विरुद्ध है।

अपने जन्म के बाद पाकिस्तान में एक बार भी जनतान्त्रिक सरकार स्थापित नहीं हो सकी है। वहां के नित नए बदलने वाले शासक अपनी प्रजा को सन्तुष्ट एवं सुखी रखने के स्थान पर भारत-विरोध के नाम पर अपनी स्थिति मजबूत करते रहे हैं। आज के शासकों की भी यही रीति-नीति है। वे अमेरिकी हथियारों और आणविक बम से भारत को न केवल सबक सिखाना चाहते हैं, उसके वर्तमान स्वरूप का भी खात्मा करना चाहते हैं। पाकिस्तानी कांटा भारत के लिए नासूर का रूप धारण न करे, इसके लिए समय रहते भारत को उसके हथियारों और दिव्य शस्त्रों की ताकत को भी मात देने वाली क्षमता पैदा कर सदा-सर्वदा के लिए इस समस्या का अन्त कर देना चाहिए।

—*—

## सच्चे गृहस्थ का आधार

२९ जुलाई के दिन ब्रिटेन के युवराज चार्ल्स का विवाह होने जा रहा है। उनकी मंगेतर लेडी डायना स्पेन्सर ने घोषणा की है कि वह विवाह करते समय युवराज को उनकी आज्ञाकारणी होने का वचन नहीं देंगी। हां, वह वचन अवश्य देंगी कि वह युवराज को प्यार करेंगी। इसी के साथ सुख-दुःख में उनके सम्मान और सुख का ध्यान रखेंगी। अभी तक ब्रिटिश राजघराने की परम्परा में वधू मौन रहती थी, परन्तु नई परम्परा में न केवल उसने अपना मौन तोड़ा है, प्रत्युत उसने अपने भावी पति की आज्ञाकारिणी होने का वचन न देने की सार्वजनिक घोषणा की है।

विवाह सम्बन्ध एक पवित्र संस्कार है। पश्चिम मे ये सम्बन्ध टूट रहे हैं। नया स्वेच्छाचार, भोगाचार पनप रहा है, इसकी तुलना में भारत की वैदिक परम्परा बड़ी उदात्त एवं अनुकरणीय है। वैदिक विवाहपद्धति मे वर-वधू प्रतिज्ञा करते हैं—'अन्न पाशेन मणिना प्राणसूत्रेण पृश्निना बध्नामि सत्यग्रन्थिना मनश्च हृदयं च ते।' जैसे अन्न के साथ प्राण, प्राण के साथ अन्न तथा अन्न और प्राण के साथ अन्तरिक्ष का सम्बन्ध है, वैसे ही तेरे हृदय-मन और चित्त के साथ सचाई का गठबन्धन करता या करती हूं। वैदिक वैवाहिक सम्बन्ध मे अन्न प्राण के लिए जिस प्रकार अनिवार्यतः आवश्यक है,उसी प्रकार वर-वधू के सम्बन्ध का स्थायी आधार सचाई का गठबन्धन है।

इतना ही नहीं, वैदिक पद्धति में वर-वधू यह प्रतिज्ञा भी करते हैं—'यदेतद् हृदयं तव तदस्तु हृदयं मम, यदिदं हृदयंमम तदस्तु हृदयं तव। हे स्वामिन् या हे पत्नी तुम्हारा हृदय मेरा अपना अन्तःकरण बने और तुम्हारा अन्तःकरण मेरे हृदय के तुल्य बने। सचाई के आधार पर एक दूसरे की भावना, सफलता और लक्ष्य को अपना मान कर सच्ची एकता द्वारा ही वैदिक गृहस्थ चलता था। उसी भावना के बल पर भारतीय गृहस्थ भारतीय जीवन-दर्शन की निष्ठा अक्षुण्ण कर सकते हैं।

—०—

### 'आर्य' का अर्थ 'हिन्दू' नहीं है

आजकल आर्यनेता, आर्यविद्वान् तथा आर्य संन्यासी अपने भाषणों तथा लेख आदि मे 'आर्य' का अर्थ 'हिन्दू' बतलाते हैं। इसी प्रकार आर्य साहित्य एवं आर्यपत्र-पत्रिकाएं आर्य का अर्थ कोष्ठक में [हिन्दू] लिखती हैं। इस विषय मे महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ध्यान दिलाया था कि आर्य का अर्थ हिन्दू नहीं है। महर्षि ने लिखा था १. हमारे देश का नाम आर्यस्थान, आर्यखण्ड होना चाहिए, सो उसे छोड़ न जाने हिन्दुस्थान यह नाम कहा से आ निकला। हिन्दू शब्द का अर्थ काला, काफिर, चोर इत्यादि है और हिन्दुस्थान कहने से काले, काफिर, चोर लोगो की जगह अथवा देश अर्थ होता है, अस्तु हिन्दू इस नाम का त्याग करो और आर्य तथा आर्यावर्त्त इन नामो का अभिमान धरो।

महर्षि ने आर्य शब्द का अर्थ सत्यार्थ प्रकाश के आठवे समुल्लास मे इस प्रकार लिखा है--'आर्य' नाम धार्मिक विद्वान् आप्त पुरुषो का और उनसे विपरीत जनों का नाम दस्यु अर्थात् डाकू, दुष्ट, अधार्मिक और अविद्वान् है। 'आर्योद्देश्य रत्नमाला' में ऋषि ने लिखा—'आर्य' जो श्रेष्ठ स्वभाव, धर्मात्मा, परोपकारी, सत्य विद्या-दिगुणायुक्त और आर्यावर्त्त देश मे सब दिन से रहने वाले हैं, उन्हें 'आर्य' कहते हैं।

सभी आर्यों तथा आर्य पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों से निवेदन है कि वे आर्य के अर्थ मे हिन्दू का प्रयोग न करे, अपितु महर्षि द्वारा बतलाए अर्थों मे आर्य शब्द का प्रयोग करे। —सुदर्शनदेव आचार्य,

सम्पादक, सर्वहितकारी, रोहतक, हरियाणा

०——०

### आर्यसमाज और हरिजन

आजकल प्रायः समाचार पत्रो मे 'आर्यसमाज व हरिजनों' के विषय मे कुछ न कुछ छपता रहता है। कुछ लोग इस क्षेत्र मे आर्यसमाज की भूमिका की प्रशंसा करते हैं, व कुछ व्यक्ति कहते हैं कि आर्यसमाज ने हरिजनो के उत्थान के लिए कुछ नहीं किया। ऐसा शायद आर्यसमाज की प्रचार-सेवा की कमी के कारण है, क्योंकि आर्यसमाज ने हरिजनों के लिए बहुत कुछ किया, लेकिन प्रत्येक व्यक्ति तक वे बातें नहीं पहुंची, इसलिए ये भ्रामक बातें फैलती हैं। अतः हमारा आप से निवेदन है कि इस विषय पर आप 'आर्यसमाज व हरिजन' विशेषांक निकाले या कोई लेख इस विषय पर लिखाए, जिसमें आर्यसमाज द्वारा हरिजनों के लिए किए गए कार्यों का वर्णन हो। एवम् तथ्यों द्वारा सिद्ध किया जाए कि आर्यसमाज आज भी उसी तरह समाज देश व धर्म की सेवा मे संलग्न है। जैसे कि महर्षि के समय में थी।

विजय कुमार 'आर्य', कुमारी सन्तोष 'आर्य' द्वारा—श्री हरिसिंह आर्य (प्रधान आर्यसमाज),WZ ६२५ ए/१ राजनगर,पालम कालोनी,नई दिल्ली-११००४५

०——०

### मुझे ऐसे आर्यसमाज की खोज है।

'मुझे अपने लिए ऐसे आर्यसमाज की खोज है, जिसमे आर्यसमाज के उप-नियमो के अनुसार निश्चित रूप से केवल उन्हीं व्यक्तियो को आर्य सभासद घोषित किया जाता है—

१. जो आय का सौवां भाग समाज को मासिक चन्दे के रूप मे देते हैं।
२. जिनकी उपस्थिति साप्ताहिक सत्सगो मे ९५ प्रतिशत होती है।
३. जो मांस-मदिरा आदि का सेवन नहीं करते।
४. जो नम्बर दो की कमाई नहीं करते।

यदि कोई ऐसी समाज हो तो मुझे डी-१४/१६ माडल टाउन के पते पर सूचित करने की कृपा करें। —विद्यानन्द सरस्वती'

डी. १४/१६ माडल टाउन, दिल्ली-९

# आर्य युवक की स्फूर्तिप्रद-सच्ची घटना

## होटल का बैरा आज ऊंचे शानदार पद पर

# दृढ़ संकल्प की करामात

### ईमानदार विनम्र बैरा

कर्नाटक प्रदेश के अन्तर्गत गाव और ताल्लुका पल्लीयार निवासी एक बालक अत्यन्त गरीब परिवार सर्वथा अनपढ उम्र १३-१४ वर्ष, पिता की मृत्यु, विधवा माता, दो छोटी बहनें, आय का कोई साधन नही, रोजगार की तलाश मे गांव छोड़कर बम्बई शहर मे रहा। दो वर्ष तक होटलो में बर्तन धोने और बैरे का काम किया। ग्राहको के प्रति विनम्र व्यवहार और शिष्टता व शुद्धता का पूरा ध्यान रखते हुए जिसकी होटलो मे अक्सर कमी पाई जाती है। बिल के साथ कभी टिप न लेना, ग्राहक द्वारा अत्यन्त आग्रह किए जाने पर भी ये थी इस बैरे की असाधारण विशेषताएं। फलत. उससे मालिक और ग्राहक दोनो प्रसन्न थे और हुई होटल की ख्याति। अन्य बैरो का इससे असन्तुष्ट हो मालिक से चुगली करते रहना स्वाभाविक ही था। खुशामद प्रसन्द मालिक का देर तक अप्रभावित रहना सभव नही हो सका। एक दिन छोटी-सी बात पर ही कहासुनी हो गई और मालिक ने आवेश मे आ उसे निकल जाने को कहा। जिस समय यह घटना हुई, वहां प्राय: प्रतिदिन वहा आने वाले एक ग्राहक बैठे थे। वह इसके सद्व्यवहार से प्रसन्न थे। इनके यह पूछने पर कि मुझे एक घरेलू नौकर की आवश्यकता है, क्या तुम इसके लिए तैयार हो? इस बैरे ने अपनी स्वीकृति देते हुए कहा कि मेरी दो शर्तें हैं। पहली यह कि होटल के मालिक से पूछना होगा क्योंकि इस ने मुझे सकट मे सहारा दिया, मैं इसे धोखा नही देना चाहता। दूसरी यह कि मैं पढ़ना चाहता हू। इसके लिए मुझे प्रतिदिन समय इत्यादि की सुविधा दी जाए।

### घरेलू नौकर . दो शर्तें

जब इस ग्राहक ने इस बैरे को मालिक के पास ले जा कर उसकी स्वीकृति की बात कही तब वह अचम्भे मे आकर बोला—'तुम तो इतनी जल्दी नाराज हो गए। ऐसी छोटी-मोटी बातें तो होती रहती हैं। मैं तुम जैसे ईमानदार और आज्ञापालक बैरे को छोड़ना नही चाहता।' बैरे ने इन शब्दों के लिए मालिक का धन्यवाद करते हुए कहा 'वस्तुत: बात यह है कि मेरी पढ़ने की प्रबल आकांक्षा है ताकि मैं जीवन में ऊंचा उठ सकूं पर यह इस होटल की नौकरी में सम्भव नहीं है।' अन्ततः मालिक ने हार्दिक खेद पर शुभकामनाओ के साथ स्वीकृति देते हुए यह भी कह दिया—'बेटा! जब भी किसी भी प्रकार की सहायता की जरूरत हो, मेरे दरवाजे तुम्हारे लिए सदा खुले हैं।'

नये मालिक द्वारा यह पूछे जाने पर कि 'तुम कितना वेतन लोगे' बैरे ने कहा—"मैं पूरी ईमानदारी और मेहनत के साथ आपके घर का काम करूंगा-यकीन रखे पर पढने की सब सुविधाओ की आशा रखूगा। मुझे आपकी सहानुभूति पर पूरा विश्वास है। जो उचित समझें दे देना, मै सौदेबाजी न करता हुआ सहर्ष स्वीकार कर लूगा।

### दिन में नौकरी . रात्रि में पाठशाला में अध्ययन

सेठ के घरेलू नौकर के रूप मे काम करने के साथ मकान के पास ही एक रात्रि पाठशाला मे इस किशोर ने पढना प्रारम्भ कर दिया। वह युवक मेहनती और प्रखर बुद्धि था। पांचवी कक्षा मे सर्वप्रथम आया। इसी पाठशाला के एक भले अध्यापक की कोशिश से ब्रिटिश डिप्टी हाईकमिश्नर के दफ्तर मे इसे चपरासी की नौकरी मिल गई पर नौकरी स्वीकारने से पूर्व किशोर ने सेठ से आज्ञा मांगी और लड़के के हित को दृष्टि में रखते हुए उसने स्वीकृति दे दी। अब वह प्रातः ६ बजे तक घर का काम निपटा कर दफ्तर चला जाता, शाम को ५ बजे छुट्टी मिलते ही घर आ कर सेठानी के निर्देशानुसार काम कर रात को ७ बजे से १० तक पाठशाला मे अध्ययन कर, घर वापस आ रात १२ बजे तक स्कूल से मिला घर का काम 'होमवर्क' पूरा करके ही सोता। इस किशोर की ईमानदारी का नतीजा यह हुआ कि उसे कुछ स्वतन्त्र आय होने लग गई थी, इसने स्वय ही सेठ से आग्रह कर अपना वेतन कम करा लिया।

### प्राइमरी से पी० एच० डी० तक ब्रिटिश दूतावास में ऊंचे पद पर

इस रात्रि पाठशाला से मैट्रिक प्रथम डिवीजन में उत्तीर्ण करने पर जहां छात्रवृति मिलने लगी, वहीं इसी दफ्तर में टैलीफोन आपरेटर का पद मिल गया। कालेज मे प्रविष्ट हो गया। साथ ही अब वह सेठ के दो बच्चों को भी घर में पढ़ाने लगा। फलत: यह किशोर अब घरेलू नौकर न रहकर सेठ के परिवार के एक सदस्य के रूप मे अंगीकार किया जाने लगा। उसने वर्ष की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, बम्बई शाखा द्वारा बी. ए. और साहित्य रत्न परीक्षा उत्तीर्ण करने के अतिरिक्त सीनियर हिन्दी शिक्षक परीक्षा भी उत्तीर्ण कर ली। इस उज्ज्वल सफलता के फलस्वरूप वह युवक इसी 'ब्रिटिश डिप्टी हाईकमिश्नर' के दफ्तर मे सहायक प्रेस सम्पर्क अधिकारी के रूप मे पदोन्नत हो गया। अब उसने बम्बई विश्वविद्यालय से शोध कार्य करते हुए स्नातकोत्तर (पी० एच० डी०) उपाधि अर्जित की। होटल में जूठे बर्तन माजने और बैरे की नौकरी से जीवन प्रारम्भ कर यह दृढ सकल्पशील युवक, एक-एक सोपान सतत श्रम से चढ़ता हुआ इसी ब्रिटिश डिप्टी हाईकमिश्नर के कार्यालय मे जहा वह एक चपरासी बनकर आया था, अब वह दायित्वपूर्ण उच्च पद पर 'मुख्य प्रेस सम्पर्क अधिकारी' (चीफ प्रेस एटेची) के दायित्वपूर्ण उच्च पद पर नियुक्त हो गया। 'उद्योगो हि सर्वफलदायक.' उद्योग और दृढ सकल्प सर्व सिद्धिदायक होता है।

लेखक :

**आचार्य दीनानाथ सिद्धान्तालंकार**

### युवक का उद्धारक सेठ नाम नहीं बताना चाहता

होटल में एक सामान्य ग्राहक के रूप में जिस व्यक्ति ने इस भूतपूर्व बैरे के गुणों को पहचान कर उसका हाथ पकडा और उसे इस उच्च स्थिति तक पहुंचाया, यह उदारचित्त धर्मनिष्ठ व्यक्ति जहां यश भीरू है और अपना नाम भी प्रकाशित करना नहीं चाहता। उसके अपने शब्दों में "मैंने कोई अनोखा कार्य नहीं किया, केवल 'मानव धर्म' का पालन किया" वहां यह युवक भी अपने उस सेठ के प्रति आजीवन, असीम, कृतज्ञ होता हुआ इसके प्रति पितृवत् श्रद्धा और आस्था अनवरत बनाए हुए है।

### युवक ऋषि दयानन्द भक्त : आर्य सत्संगी

यह घटना सर्वथा सच्ची और आज के निराश और जीवन मार्ग पर भटकते युवको के लिए, निश्चय ही प्रेरक स्फूर्तिप्रद और क्रान्तिकारी करवट देने वाली है। यह विशेषत: उल्लेखनीय है कि यह युवक दृढ़ आर्यसमाजी विचारों, आर्य, के सत्सगो में जाने वाले और ऋषि दयानन्द के श्रद्धालु भक्त हैं। एक सांझे मित्र द्वारा कुछ समय पूर्व, हमारा उनसे परिचय हुआ था। बम्बई से दिल्ली वह प्राय: आते रहते अपने दफ्तरी कार्यों के सम्बन्ध में। हम दिल्ली मे थे उनसे प्राय. साक्षात्कार होता रहता। कभी-कभी तो आर्यसमाज के सत्सगों में मिल जाते। हमारे विशेष अनुरोध पर उन्होंने आर्य युवक दल की प्रवृतियों में विशेष दिलचस्पी लेने का वचन दिया।

वैदिक धर्म आशा, आत्मविश्वास और उत्साह की सुनहरी शिक्षाओं पर ही आधारित है। यह एक ऐसी मास्टर की सुनहरी कुंजी है, जिससे मानव जीवन के सब बद द्वार खुल सकते हैं। यह स्वर्ण कुंजी पूर्णत प्रभु समर्पण और दृढ सकल्प से ही प्राप्त होती है। आज के युवा वर्ग के लिए वेद का निम्न मन्त्र जीवन पथ की यात्रा के लिए अक्षय पाथेय है :—

ओ३म। शुक्रोऽसि, भ्राजोऽसि स्वरसि। आप्नहि श्रेयांसमतिसर्म क्राम॥ अथर्व २।११।५

अर्थ हे मानव! तू वीर्य, तेज, आनन्द और प्रकाश युक्त है श्रेष्ठता को प्राप्त कर और अपने सादृशों से आगे बढ़जा।

पता—ई-३७ शास्त्रीनगर, जयपुर-६

## इन्दौर में सस्वर वेद पाठ शिक्षण सत्र

**दि० १ अगस्त से १२ अगस्त १९८१ तक**

इस सत्र में ईश्वर स्तुति, प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, सन्ध्याहवन के मन्त्रो का चारों वेदों की रीति से सस्वर पाठ तथा महावामदेव्य गान का अभ्यास कराया जाएगा। महर्षि स्वामी दयानन्द जी सरस्वती ने चारों वेदों की रीति से पूर्वोक्त मन्त्रों का सस्वर पाठ प्रत्येक यजमान के लिए जानना आवश्यक बताया है। महावामदेव्य गान भी प्रत्येक संस्कार में यजमानों द्वारा करने को आवश्यक रूप में लिखा है।

अशुद्ध एवं स्वर विपरीत उच्चारण होने से त्याज्य ही है। महर्षि स्वामी दयानन्द जी सरस्वती लिखते हैं कि अशुद्ध उच्चारण दुःख देने वाला तथा अनर्थक होता है। जो इस सत्र में भाग लेना चाहें वे इस पते पर पत्र द्वारा शीघ्र सम्पर्क करें।

—वीरसेन वेदश्रमी, वेद सदन, महारानी पथ, इन्दौर, ४५२००७।

# भारत का एक राष्ट्रीय तीर्थ : ऐतिहासिक मन्दिर-आनन्द भवन

आदमी दुनियां से चला जाता है, लेकिन उसकी यादें जीवित रहती हैं। महात्मा गांधी और श्री जवाहरलाल लाल नेहरू उन महापुरुषों में थे जो जहां कहीं भी रहे वह स्थान एक मन्दिर के समान पूजा जाता था। जब-जब वे आजादी की लड़ाई में जेल गए तब वह एक तीर्थयात्रा समझी जाने लगी। इलाहबाद में आनन्द भवन नेहरू जी के जमाने में ही एक तीर्थस्थल बन चुका था, परन्तु आजकल तो वहां और भले लोगों का तांता लगा रहता है। एक जमाने में श्री जवाहरलाल ने किसी से यह कहा था कि किसी समय आनन्द भवन को जिसमें उनके घर वाले रहते थे, कांग्रेस को दे देंगे। यह बात उनके पिता श्री मोतीलाल नेहरू के कानों में पहुंच गई और उन्होंने कहा कि इस शुभ कार्य के लिए किसी की प्रतीक्षा क्यों की जाए। उन्होंने २३ मार्च, १९३० को अपने मकान आनन्द भवन को कांग्रेस को सौंप दिया और उसका नाम स्वराज्य भवन हो गया। इस मकान को कांग्रेस को देने के बाद उन्होंने एक दूसरी आलीशान कोठी का निर्माण कराया जिसमें वह निवास करने लगे और वह आनन्द भवन कहलाने लगा। परिवार की प्रथा के अनुसार जवाहरलाल की बेटी ने आनन्द भवन को राष्ट्र को समर्पित कर दिया।

आनन्द भवन का नाम लेते ही लोगों के सामने यादें उभरने लगती हैं। जवाहरलाल नेहरू के जमाने में आनन्द भवन में देश-विदेश की हस्तियां आकर ठहरा करती थीं। इसमें बड़े-बड़े नेताओं ने बड़े-बड़े निर्णय लिए थे। श्री मोतीलाल नेहरू के जमाने में आनन्द भवन शाहनशाहियत का अड्डा था और बड़े से बड़े अंग्रेज अफसर भी वहां दावत में बुलाए जाने में अपनी इज्जत समझते थे। आनन्द भवन और भारद्वाज आश्रम दोनों पास-पास हैं। माघ मेले के समय हजारों यात्री उन दोनों स्थानों को हर साल देखने आते हैं। इलाहाबाद (प्रयाग) की चर्चा करते हुए श्री जवाहरलाल नेहरू ने 'अपनी आत्मकथा' पुस्तक में लिखा है—

'हमारे घर में बहुत से तीर्थयात्री आते थे। यह भारद्वाज आश्रम के नजदीक बना हुआ है। जहां प्राचीनकाल में एक प्रसिद्ध विद्यालय था। माघ मेले के दिनों में सुबह से रात-रात के अन्धेरे तक लोग मिलने आते थे। मेरा विचार है कि अधिकतर लोग कुतूहलवश तथा विख्यात लोगों को जिनके बारे में उन्होंने बहुत कुछ सुन रखा था देखने के लिए आया करते थे और विशेषकर पिताजी को। हमारे कौमी नारों को ये लोग भलीभांति जानते थे, सारा दिन हमारा घर उन्हीं के नारों से गूंजता रहता था। अक्सर मेरा दिन इन लोगों से बातचीत करके ही प्रारम्भ होता था। कभी बीस, कभी पचीस और कभी सौ आदमियों की टोलियां एक-एक करके आती थीं। कुछ दिनों बाद उन सबसे मिलना अथवा बातचीत करना भी असम्भव सा हो गया था। उनके आने पर मैं बाहर आता और चुपचाप हाथ जोड़कर अन्दर चला जाता, किन्तु यह भी इंतहा से ज्यादा हो गया और मैं कुछ समय बाद अपने को छिपाने लगा। मगर यह सब बेकार था। उनकी आंखों में एक प्रकार की चमक होती थी सच्चा स्नेह टपकता था। उन सबके पीछे पीढ़ियों की गरीबी और तकलीफें साफ नजर आती थीं। फिर भी वे अपने स्नेह और कृतज्ञता उड़ेलने में और बदले में कुछ भी आशा नहीं करते थे। उन्हे तो केवल भाईचारे और सहृदयता के दो शब्द ही कृतार्थ कर देते थे।

लेखक :
श्री प्रह्लादराय गुप्त

यह कहा जाता था कि आनन्द भवन बन रहा तब एक आदमी ने यह भविष्यवाणी की थी कि उस मकान में ज्यादा सालों तक कोई लगातार नहीं रह पाएगा चाहे वह भविष्यवाणी हो या न हो लेकिन बात तो सही ही निकली जवाहरलाल नेहरू वर्षों तक जेलों में रहे। कमला नेहरू इलाज के लिए काफी समय तक बाहर रहीं इन्दिरा जी पढ़ाई के लिए सालों इलाहाबाद से दूर रहीं। आजादी के बाद जवाहरलाल जी अपनी बेटी और नातियों के साथ दिल्ली चले गए और आनन्द भवन वीरान हो गया। आनन्द भवन एक खूबसूरत और शानदार इमारत है। उसके चमकते फर्श को देखकर खुशी होती है। जवाहर लाल जी का जोरदार पुस्तकालय अभी आनन्द भवन में ही है। इस मकान में कई बार बार नेताओं की गिरफ्तारी हुई थी और इसकी कुर्सियां, मेजें इत्यादि कुर्क हुई थीं। जवाहरलाल जी ने इन बातों की चर्चा करते हुए लिखा है—

ले० प्रह्लाद राय गुप्त

'दिसम्बर १९२१ में हमारी प्रथम गिरफ्तारी के बाद ही आनन्द भवन में पुलिस ने अक्सर आना-जाना शुरू किया। वे उन जुर्मानों को वसूल करने आते थे जो पिता जी और मुझ पर किए गए थे। कांग्रेस की नीति यह थी कि जुर्माना न दिया जाए इसलिए पुलिस रोज-रोज आती और कुछ न कुछ फर्नीचर कुर्क करके उठा ले जाती। मेरी चार साल की नन्ही बालिका इन्दिरा इस बार-बार की लूट से बहुत नाराज होती थी। उसने पुलिस का विरोध किया और अपनी सख्त नाराजगी जाहिर की।'

आनन्द भवन मन्दिर है, परन्तु इसे बहुत से लोग मन्दिर ही मानते हैं। यह सिर्फ एक कोठी ही नहीं है, बरन यह भारत के इतिहास का जीता-जागता हिस्सा है। जवाहरलाल नेहरू ने इसके बारे में खुद लिखा है—'यह सीमेंट और ईंटों से बनी हुई एक इमारत ही नहीं है। इसका नाम भारत के इतिहास से जुड़ा है और इसकी चहार दीवारी के अन्दर बड़े-बड़े निर्णय किए गए हैं। आनन्द भवन जवाहरलाल नेहरू की याद सदैव दिलाता रहेगा और हमें यह बताता रहेगा कि देश को नेहरू के बताए हुए मार्ग पर चलने से ही कल्याण होगा। देश प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी का आभारी है कि उन्होंने इस ऐतिहासिक और महत्वपूर्ण स्थान को कौम के हवाले कर दिया। हमें इस बात की आशा करनी चाहिए कि हम उस आदमी के दिखाए हुए रास्ते पर चलेंगे जिसकी कुर्बानी के कारण आनन्द भवन एक ऐतिहासिक स्थान बन गया है।

# २६ जुलाई के दिन देशव्यापी धर्मरक्षा महाभियान

## सार्वदेशिक सभा द्वारा देश के राष्ट्रवादियों का आह्वान

दिल्ली। सार्वदेशिक सभा के प्रधान श्री रामगोपाल शालवाले ने घोषित किया है कि विदेशी धन के बल पर हरिजनों को सवर्ण हिन्दुओं से पृथक कर उनके सामूहिक धर्मपरिवर्तन के विरोध में आर्यसमाज २६ जुलाई के दिन देश भर में धर्मरक्षा महाभियान का आयोजन कर रहा है।

श्री शालवाले ने अनुरोध किया है कि उस दिन भारत के प्रत्येक नगर, कस्बे और गांव में हरिजन स्नेह सम्मेलन का आयोजन किया जाए। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत मन्दिरों-यज्ञशालाओं में हरिजनों का प्रवेश हो, सब कुओं पर उन्हें पानी भरने की सुविधा दी जाए। हरिजनों एवं सवर्ण हिन्दुओं के सामूहिक जलूस निकाले जाएं। हरिजन युवकों को वेदाधिकार एवं सामूहिक यज्ञोपवीत दिए जाएंगे।

श्री शालवाले ने बताया कि २६ जुलाई के दिन राजधानी दिल्ली में अभूतपूर्व शोभायात्रा निकाली जाएगी जिसमें सवर्ण ब्राह्मण हरिजन समान के रूप से भाग लेंगे, उस दिन देश भर में सहभोजों का भी आयोजन किया जाएगा।

सभा प्रधान ने देश की राष्ट्रवादी शक्तियों से अनुरोध किया है कि हरिजनों को सामूहिक रूप से मुसलमान बनाने के घिनौने विदेशी षडयन्त्र को विफल बनाने में आर्यसमाज की सहायता करें।

मीनाक्षीपुरम के धर्मान्तरण पर प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी तथा गृहमन्त्री ज्ञानी जैल सिंह द्वारा चिन्ता व्यक्त करने पर शालवाले ने भारत सरकार की सराहना की।

# आर्य जगत् समाचार

## सार्वदेशिक सभा में प्रवासी भारतीय लिए जाएं

**पूर्वी अफ्रीका प्रतिनिधि सभा के अधिकारियों का अनुरोध**

नैरोबी (केन्या) पूर्वी अफ्रीका की आर्य प्रतिनिधि सभा के अधिकारियो ने ३१ मई के दिन सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के त्रैवार्षिक निर्वाचन मे श्री रामगोपाल शालवाले और श्री ओम्प्रकाश त्यागी के सार्वदेशिक सभा के प्रधान और महामन्त्री बनने पर बधाई दी है। इसी के साथ उन्होंने सार्वदेशिक सभा के नेताओं से अनुरोध किया है कि वे कुछ अच्छे प्रवासी आर्य नेताओ और कार्य कर्ताओं को सभा मे नियुक्त करें। उन्होने इस बात पर निराशा व्यक्त की है कि सार्वदेशिक सभा के पदाधिकारियों और अन्तरंग की लम्बी सूची में एक भी प्रवासी भारतीय का नाम सम्मिलित नहीं है। विदेशों मे अवस्थित प्रवासी आर्यसज्जनों मे ऐसे सक्रिय कार्यकर्ता अवश्य हैं, जिन्हें सार्वदेशिक सभा मे बखूबी लिया जा सकता है।

(उल्लेखनीय है कि सार्वदेशिक सभा मे अधिकारियो मे प्रतिनिधित्व के लिए आवश्यक है कि पूर्वी अफ्रीका तथा दूसरे देशो के आर्य अपने प्रतिनिधि भी सार्वदेशिक सभा मे अवश्य भेजें।—सम्पादक

## हरिद्वार में अपूर्व शोभा यात्रा एवं सत्संग

पारिवारिक वैदिक सत्संग मण्डल जम्मू के तत्वावधान में सत्यार्थप्रकाश शताब्दी यात्रा की एक टोली २१-६-८१ को प्रात: आर्यसमाज मन्दिर हरिद्वार मे दो बसो द्वारा पहुची। साथ एक सत्यार्थप्रकाश की पुस्तकों से भरी गाड़ी भी थी।

मध्यान्तर चार बजे पंचपुरी की सभी आर्यसमाजों के सदस्य आर्यसमाज मन्दिर हरिद्वार में इकट्ठे हुए और स्वागतसमारोह का आयोजन किया गया।

ठीक पाच बजे बैंड बाजे के साथ शोभायात्रा आर्यसमाज मन्दिर से आरम्भ हुई, जिसमे प्रथम पंक्ति में आर्य सन्यासी उनके ठीक पीछे वानप्रस्थी और तदनन्तर सभी आर्य सस्थाएं अपने-अपने झण्डो के साथ चल रही थीं। वानप्रस्थ आश्रम की ११६ वर्ष की माता सुखदेवी जी ने जलूस मे भाग लिया था। शोभायात्रा बडी सफलता पूर्वक हरिद्वार के बाजार से होती हुई सुभाष घाट हर की पौड़ी पर पहुची। वहां भी ठण्डे मीठे पानी की व्यवस्था थी।

६ से ७।। बजे तक सुभाष घाट पर मीरा यति जी की अध्यक्षता में सत्संग हुआ जिसमे यज्ञ, भजन, कविता तथा प्रवचन आदि हुए। जम्मू से आए, पं० विद्याभानु जी शास्त्री का प्रवचन प्रभावशाली था।

२३ जून १९८१ को प्रात: ६-३० बजे यह टोली आर्य वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर के यज्ञ में सम्मिलित हुई, तदनन्तर जम्मू से आए विशिष्ट अतिथियों का माल्यार्पण द्वारा आश्रम के अधिकारियो ने स्वागत किया और अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश पर विद्वानों के भाषण हुए। ९ बजे सत्संग समाप्त हुआ।

पार्टी की ओर से ५०१)रु० आश्रम को दान प्राप्त हुआ।

## तरुण बोध शिविर का आयोजन

**महर्षि दयानन्द के स्पष्ट निर्देशों की अवहेलना**

नई दिल्ली। अधिकृत रूप से ज्ञात हुआ है कि २२ जून से २८ जून, १९८१ तक वेद संस्थान, सी-२२, राजौरी गार्डन नई दिल्ली में तरुण बोध शिविर हुआ, उसमे फीरोजपुर, गुड़गांव, ग्वालियर, गाजीपुर, अलीगढ़, अजमेर, अम्बाला, हरियाणा एव दिल्ली के विभिन्न नगरों के एक सौ युवक-युवतियों ने भाग लिया। यह भी ज्ञात हुआ है कि युगबोध, धर्मबोध, संस्कृतिबोध विषयों मे युवक युवतियो ने सम्पूर्ण रूप से भाग लिया।

[महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में लिखा है—लड़के और लड़कियों की पाठशाला दो कोस एक दूसरे से होनी चाहिए। जब तक वे ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी रहे, तब तक स्त्री व पुरुष का दर्शन, स्पर्शन एकान्त सेवन, भाषण, विषय कथा, परस्पर क्रीडा, विषय का ध्यान और संग इन आठ प्रकार के मैथुनो से अलग रहें और अध्यापक लोग उनको इन बातों से बचाएं।

[वेद सस्थान के तत्वावधान मे आयोजित तरुण बोध शिविर मे ऋषि द्वारा निर्दिष्ट उक्त नियमो का पालन नही किया गया, प्रत्युत उनका उल्लंघन किया गया। यह एक महत्त्वपूर्ण विषय है। इस सम्बन्ध मे आर्ययुवको ने कुतूहल, चिन्ता एवं विरोध प्रकट किया है। सार्वदेशिक एवं प्रादेशिक प्रतिनिधि सभाओं को इस बारे में पथ-निर्देश करना चाहिए कि महर्षि की स्पष्ट मान्यता एवं निर्देशों के विरुद्ध युवक-युवतियो के सामूहिक शिविरों का औचित्य नहीं है।—सम्पादक]

## आर्यसमाज ग्रेटर कैलाश का वार्षिकोत्सव

आगामी ७ सितम्बर से १३ सितम्बर १९८१ तक आर्यसमाज कैलाश—ग्रेटर कैलाश का वार्षिकोत्सव मनाया जाएगा। इस अवसर पर आर्यजगत् के उच्चकोटि के विद्वान पं० शिवकुमार शास्त्री वेदकथा प्रस्तुत करेंगे। १२ तथा १३ सितम्बर को वेद सम्मेलन, महिला सम्मेलन, कविसम्मेलन एव धर्मरक्षा सम्मेलन का आयोजन किया गया है, जिसमें अनेक विद्वान सन्यासी तथा भजनोपदेशक पधारेंगे।

## गुरुकुल शुक्रताल प्रवेश सूचना

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी द्वारा मान्यता प्राप्त गुरुकुल महाविद्यालय शुक्रताल जि० मुजफ्फर नगर में प्रथमा, मध्यमा, शास्त्री मे प्रवेश ८ जुलाई, १९८१ मे प्रारम्भ है। यहां निःशुल्क छात्रावास, सीधा-सादा रहन-सहन, कड़ा अनुशासन, नगर से दूर स्वास्थ्यप्रद जलवायु। आधुनिक विषयो के अतिरिक्त योगासन, प्राणायाम, धर्म, नैतिकता की भी अनिवार्य शिक्षा। भोजन शुल्क नाम मात्र ५०/- मासिक। मध्यमा, शास्त्री में योग्य छात्रो को छात्रवृति भी दी जाएगी। आचार्य दयानन्द एम० ए०, प्रधानाचार्य

## गुरुकुल बैरगनिया में यजुर्वेद महायज्ञ

'गुरुकुल महाविद्यालय, बैरगनिया, (सीतामढ़ी) का बाईसवां स्थापना दिवस १६ जून से २२ जून तक दोनों समय यजुर्वेद परायण महायज्ञ के रूप में मनाया गया। इसमें ब्रह्मचारियों और अध्यापकों ने वेदपाठ किया। २१ जून को पूर्णाहुति हुई। २१ और २२ जून को प्रातः, अपराह्न और रात्रि तीनों समय भजनीकों और उपदेशकों द्वारा भजन-उपदेश प्रस्तुत किए गए। २१ जून की रात्रि में ब्रह्मचारियों द्वारा 'वीर अभिमन्यु' नाटक खेला गया।

# आर्यसमाजों के सत्संग

**१२ जुलाई'८१**

अन्धा मुगल प्रतापनगर -पं० प्रकाशचन्द्र वेदालंकार; अमर कालोनी —आचार्य रामशरण मिश्र शास्त्री; अशोक विहार फेज-I-के डी ७६-ए—पं० आशानन्द भजनोपदेशक; आर्यपुरा—पं० प्रकाशवीर 'व्याकुल'; आर. के. पुरम सैक्टर-६ —पं० सत्यभूषण वेदालंकार; आनन्दविहार हरिनगर—पं० सुरेन्द्रकुमार शास्त्री; कालका जी—पं० मुनिशंकर वानप्रस्थ; करोलबाग—डा० रघुनन्दन सिंह; कृष्णनगर —ला० लखमीदास आर्य; गांधीनगर—प्रो० वीरपाल विद्यालंकार; गीताकालोनी —पं०महेशचन्द भजन मण्डली; ग्रेटर कैलाश-I—पं० वेदमुनि शास्त्री; ग्रेटर कैलाश-II पं० वेदपाल शास्त्री; गुड़ मण्डी—पं० देवराज वैदिक मिशनरी; गुप्ता कालोनी —पं० प्राणनाथ सिद्धान्तालंकार; गोविन्दभवन दयानन्दवाटिका—पं० रामदेव शास्त्री; चूनामण्डी पहाडगंज—वैद्य रामकिशोर; जंगपुरा-भोगल—पं० देवचन्द्र शास्त्री; जनकपुरी सी-३—पं० रमेशचन्द्र शास्त्री; जनकपुरी बी-३/२४—पं० ओमवीर शास्त्री; जहांगीरपुरी—पं० वेदव्यास भजनोपदेशक; तिलक नगर—पं० अमरनाथ कान्त; तिमारपुर—पं० रामरूप शर्मा; दरियागंज—पं० हरिदत्त शास्त्री; नारायणविहार —पं० सत्यदेव स्नातक भजनोपदेशक; न्यू मुलतान नगर—स्वामी ओम आश्रित; पंजाबी बाग—पं० देवेन्द्र द्विवेदी; पंजाबी बाग एक्सटेन्शन—पं० प्रकाशचन्द शास्त्री; बाग कड़ेखां—पं० बरकतराम भजनोपदेशक; बाजार सीताराम—श्री चिमनलाल; बिरला लाइन्स—पं० ईश्वरदत्त; मोडल बस्ती—श्रीमती प्रकाशवती शास्त्री; मोडल टाउन—पं० देवेश; महावीरनगर—श्रीमती भगवान देवी; महरौली—पं० सत्यपाल 'मधुर' भजनोपदेशक; रघुवीर नगर—पं० केशवचन्द मुन्जाल; रमेशनगर—पं० छज्जूराम शास्त्री; राजौरी गार्डन—पं० दिनेशचन्द्र पराशर शास्त्री; लड्डू घाटी —श्री मोहनलाल गांधी; लाजपत नगर—पं० अशोककुमार विद्यालकार; लक्ष्मी बाई नगर—पं० तुलसीराम भजनोपदेशक; लेखनगर त्रिनगर—पं० सीसराम भजनोपदेशक; लोधी रोड-जोर बाग—प्रो० सत्यपाल वेदार; विक्रमनगर—पं० मोहनलाल भजनोपदेशक; विजयनगर—पं० हीराप्रसाद शास्त्री; सदर बाजार पहाड़ी धीरज—कविराज बनवारीलाल शादा भजन मण्डली; सुदर्शन पार्क—प्रो० भारतमित्र शास्त्री; सराय रोहेला—पं० उदयपाल शास्त्री; शादीपुर—पं० ओमप्रकाश भजनोपदेशक; शालीमार बाग—स्वामी प्रेमानन्द सरस्वती; हौज खास—श्रीमती लीलावती आर्या; खिचड़ीपुर —स्वामी स्वरूपानन्द भजन मण्डली; लारेंस रोड—पं० सुधाकर स्नातक; राणा प्रताप बाग—पं० खुशीराम शर्मा।

—वेद प्रचारिणी सभा दिल्ली द्वारा प्रचारित



## आर्यसमाजों के नए पदाधिकारी

आर्यकुमार सभा किंग्जवे, दिल्ली-९ —आचार्य—श्री आनन्दकुमार आर्य; प्रधान—श्री तिलकराज सन्डूजा; उपप्रधान—श्री कैलाश पाण्डेय; मन्त्री—श्री उमेशकुमार बतरा; उपमन्त्री—श्री जितेन्द्र सेठी; प्रचार-मन्त्री—श्री राकेश कपूर, कोषाध्यक्ष—श्री यशपाल शर्मा; पुस्तकाध्यक्ष—श्री परीक्षित सहगल; प्रकाशन मन्त्री—श्री अमरजीत राजवंशी परीक्षा-मन्त्री—डॉ० शशिभूषण।

०—०

आर्यसमाज (मुलतान) देवनगर। प्रधान—श्री जयगोपाल वेदी; उपप्रधान—डॉ० पी० देव, पं० रामप्रसाद जी; मन्त्री—महावीर जी स्नातक; उपमन्त्री—सर्वश्री राकेश एवं यशपाल; कोषाध्यक्ष—हरिपाल जी, पुस्तकाध्यक्ष—लालचन्द जी।

०—०

आर्यसमाज शेषपुरा (मुंगेर)—प्रधान—जगदेव प्रसाद आर्य, उपप्रधान—श्री बच्चूप्रसाद आर्य, मन्त्री—श्री सुधीर कुमार गुप्ता, उपमन्त्री—श्री श्यामसुन्दर प्रसाद, कोषाध्यक्ष—श्री वसन्तप्रसाद आर्य, पुरोहित—श्री शंकरलाल आर्य।

आर्यसमाज, अनाज मण्डी, शाहदरा दिल्ली-३२, प्रधान—श्री भगवानदास, उपप्रधान—सर्वश्री ब्रह्मानन्द एवं मेधाकर आर्य; मन्त्री—श्री श्रद्धानन्द; उप मन्त्री—सर्वश्री रामकरण शर्मा एवं जितेन्द्रकुमार; प्रचार मन्त्री—श्री फकीरचन्द, कोषाध्यक्ष—श्री हरपाल सिंह, पुस्तकाध्यक्ष—हरपालसिंह; पुस्तकाध्यक्ष—श्री बनवारीलाल।

०—०

आर्यसमाज श्रद्धानन्द पुरम् अर्बन एस्टेट) गुडगांव—प्रधान—डॉ० मोहन लाल ढींगडा; उपप्रधान—सर्वश्री महेंद्र कुमार देव, सत्यपाल बहल; मन्त्री—श्री ओम्प्रकाश आर्य; प्रचार-मन्त्री—श्री लाजपत राय आर्य; उपमन्त्री—श्री शान्तिप्रकाश बिश्नोई; कोषाध्यक्ष—श्री राजपाल आर्य; लेखा-निरीक्षक—श्री कृष्णचन्द खुराना।

स्त्री आर्यसमाज श्रद्धानन्द पुरम् (गुड़गाव)—प्रधाना—डॉ० कमला मायर; उपप्रधाना—श्रीमती पुष्पा नागपाल; मन्त्रिणी—श्रीमती लीलारानी खुराना; उपमन्त्रिणी—पुष्पा माकन; कोषाध्यक्षा—कुमुद सेठ।

## दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रकाशन

| | |
|---|---|
| सत्यार्थप्रकाश सन्देश (हिन्दी) | १.०० |
| " " (अंग्रेजी) | समाप्त |
| आर्य सन्देश-महासम्मेलन विशेषांक | ६.०० |
| पादरी भाग गया—ओम्प्रकाश त्यागी | ०.३० |
| स्वामी श्रद्धानन्द-बलिदान अर्द्ध शताब्दी स्मारिका | ६.०० |
| सत्यार्थप्रकाश शताब्दी समारोह स्मारिका | ६.०० |

सम्पर्क करें —

अधिष्ठाता प्रकाशन विभाग
दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा,
१५, हनुमान रोड,
नई दिल्ली-११०००१

卐 'आर्यसन्देश' के स्वयं ग्राहक बनें—दूसरों को बनाएं

卐 आर्यसमाज के सदस्य स्वयं बनें—दूसरों को बनाइए

卐 हिन्दी-संस्कृत भाषा स्वयं पढ़ें दूसरों को भी पढ़ाइए—

# उत्तम स्वास्थ्य के लिए

## गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, हरिद्वार की औषधियाँ सेवन करें

शाखा कार्यालय : ६३ गली राजा केदारनाथ,
फोन नं० २६६८३८ चावड़ी बाजार, दिल्ली-६

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के लिए श्री सरदारी लाल वर्मा द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा वाटिका प्रैस ७२७/१-बी, गुरुद्वारा गली, विवेकनगर दिल्ली-११ में मुद्रित। कार्यालय १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली फोन ३१०१५०

ओ३म्

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

# आर्य सन्देश

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा का साप्ताहिक मुखपत्र

एक प्रति ३५ पैसे | वार्षिक १५ रुपये | वर्ष ४ : अंक ३८ | रविवार ४ श्रावण, वि० २०३८ | १९ जुलाई १९८१ | दयानन्दाब्द १५६

## २६ जुलाई को दिल्ली में विशाल शोभा यात्रा का आयोजन :

### दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा आर्यजनता का आह्वान :

**जलूस में स्वयं आइए : हरिजन भाइयों को भी लाइए**

दिल्ली। आर्यसमाज की सर्वोच्च सभा सार्वदेशिक सभा ने देश की जनता के व्यापक धर्मान्तरण के निमित्त बने विदेशी षड्यन्त्र का मुकाबला करनेके लिए२६ जुलाई, १९८१ के दिन धर्मरक्षा महाभियान के अन्तर्गत समूचे देश मे हरिजन स्नेह सम्मेलन के आयोजन का निर्देश दिया है।

इस आदेश के अनुसार दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा ने २६ जुलाई के दिन हरिजन स्नेह सम्मेलन के अन्तर्गत यज्ञ, सार्वजनिक सभा एवं जलूस का कार्यक्रम बनाया है। शोभायात्रा या जलूस, दोपहर पश्चात् २ बजे रामलीला मैदान से निकल कर नया बाजार (श्रद्धानन्द बाजार), चांदनी चौक होता हुआ लाल किले पर जाएगा और वहां एक विशाल सार्वजनिक सभा होगी।

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सरदारी लाल वर्मा ने दिल्ली भर की समस्त आर्यसंस्थाओ, आर्यसमाजो से अनुरोध किया है कि समस्त आर्यबन्धु एवं बहनें अधिक से अधिक गिनती में स्वय आएं और हरिजन बन्धुओं को अधिक से अधिक तादाद में लाएं।

• समस्त आर्यसमाजें एवं आर्यसस्थाएं बसों के द्वारा अधिक से अधिक व्यक्ति रामलीला मैदान में लाएं।

• प्रयत्न किया जा रहा है कि घण्टाघर चादनी चौक में स्वामी श्रद्धानन्द जी की मूर्ति के पास विशेष मंच बनाकर विशेष भाषण की व्यवस्था की जाए।

• यह भी कोशिश की जा रही है कि सार्वजनिक सभा मे हरिजन ससद सदस्य एवं केन्द्रीय सरकार के हरिजन मन्त्री आएं।

आशा है दिल्ली की आर्यजनता २६ जुलाई को दोपहर दो बजे रामलीला मैदान में पहुंचकर अपनी जिम्मेदारी निबाहेगी।

स्वयं जलूस में आएं : दूसरों को आने की प्रेरणा दें।

## संसार में मुसलमानों की स्थिति

ज्ञात हुआ है कि इस समय संसार भर के मुसलमानों की गिनती ७५ करोड़ मुस्लिम गजेटियर के अनुसार ८९ करोड़ हैं, संसार के ८२ देशों में ये मुसलमान फैले हुए हैं।

यह भी उल्लेखनीय है कि विश्व के ३७ देशों की कुल आबादी में वे ५० प्रतिशत से अधिक हैं; छह देशों में वे कुल जनसंख्या के २५ से ४९ प्रतिशत तक है। इस समय भारत में मुसलमानों की गिनती ११ करोड़ है।

## हरिजन बस्तियों में सामूहिक यज्ञ-यज्ञोपवीत

**सामूहिक प्रीतिभोज के कार्यक्रम : दिल्ली के आर्यजनों द्वारा २६ जुलाई के दिन विशेष कार्यक्रम**

रविवार, १२ जुलाई को साय ५ बजे आर्यसमाज मन्दिर हनुमान रोड, नई दिल्ली में दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सरदारी लाल वर्मा की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई, आर्यजनों की एक विशेष बैठक मे निश्चय किया गया कि रविवार २६ जुलाई के दिन दिल्ली की प्रत्येक आर्यसमाज और आर्यसंस्था अपने समीपस्थ हरिजन मोहल्लों में सामूहिक यज्ञ का आयोजन करें। उस दिन यज्ञ में ऊंच-नीच, जातपात-छूतछात निवारण के लिए हरिजन भाईयो को यज्ञोपवीत दिए जाएं। सामूहिक प्रीतिभोज एवं प्रसाद वितरण की व्यवस्था करने का अनुरोध किया गया।

दिल्ली आर्यप्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सरदारीलाल वर्मा ने दिल्ली भर की आर्यसमाजो, आर्यसस्थाओ और आर्यजनों से अनुरोध किया है कि वे हरिजन मोहल्लों में यज्ञ-यज्ञोपवीत-वितरण और सहभोज का कार्यक्रम सफल करें।

## आर्यसमाज गांधीनगर का वार्षिक चुनाव

आर्यसमाज गांधीनगर का वार्षिक चुनाव श्री जगतराम जी की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ।

—प्रधान श्री जयप्रकाश आर्य, उपप्रधान—सत्यपाल भाटिया, जसवन्तराय पुरी, मन्त्री—श्री सन्तराम, उपमन्त्री—शान्तीस्वरूप, प्रचार मन्त्री—श्याम सुन्दर, कोषाध्यक्ष—हरबंस लाल, पुस्तकाध्यक्ष—रामपाल तथा लेखा-निरीक्षक—राधेश्याम चुने गए।

## आर्यसमाज हनुमान रोड का वार्षिक अधिवेशन

**सर्वसम्मति से पदाधिकारी चुने गए : श्री कैला फिर प्रधान बने**

दिल्ली। आर्यसमाज हनुमान रोड, नई दिल्ली के वार्षिक निर्वाचन मे ये अधिकारी सर्वसम्मति से निर्वाचित हुए। प्रधान—श्री रामर्मूत्ति कैला; उपप्रधान—सर्वश्री सरदारीलाल वर्मा, रतनलाल सहदेव, पं० चन्द्रभानु सि० भू०; मन्त्री—श्री विमलचन्द्र विमलेश, स० मन्त्री—श्री हरकृष्णलाल सहदेव, उपमन्त्री प्रचार—खैरातीलाल भाटिया; बाह्यकार्य उपमन्त्री—बुद्धराम गुप्त; भण्डार-उपमन्त्री—श्री सोमदत्त शर्मा; कोषाध्यक्ष—श्री सुरेन्द्रकुमार भाटिया; पुस्तकाध्यक्ष—श्री त्रिलोकीनाथ मिश्र; लेखानरीक्षक—श्री बलवन्तराय खन्ना, श्री राममूर्ति कैला।

सम्पादक—नरेन्द्र विद्यावाचस्पति

चाहता है तो पहले उत्कृष्ट गति की ओर शनैः-शनैः कण-कण करके निरंतर चलते रहना चाहिए। एक दम कोई ज्ञानी नहीं बनता; क्षण-क्षण का उपयोग करके ही मनुष्य कण्व (मेधावी) या प्रस्कण्व (प्रकृष्ट ज्ञानी = प्राज्ञ) बनता है।

## सूर्य सदृश बनना है तो चलते रहो, चलते रहो

उदु त्यं जातवेदसं देव वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्। यजुः ७-४१

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता-सूर्यः। छन्दः-भुरिगार्षी गायत्री

शब्दार्थ—(त्यम्) उस प्रसिद्ध (जातवेदसम्) सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और वेदों के प्रकाशक (देव) दिव्य ब्रह्म पुरुष (को केतव) ज्ञानी जन (उत्) ऊपर मस्तिष्क मे (उ) और हृदय मे (वहन्ति) धारण करते हैं, और (विश्वाय दृशे) विश्व के पदार्थों के ज्ञान के लिए और (सूर्यम्) सूर्य के समान (विश्वायः दृशे) सब को साक्षात् दर्शन कराने के लिए-(उद्वहन्ति) उस का ज्ञान प्राप्त कराते हैं।

निष्कर्ष—१. वह परमेश्वर प्रत्येक पदार्थ मे विद्यमान-सर्वव्यापक है। प्रत्येक पदार्थ को जानने वाला, और वेद ज्ञान द्वारा प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान कराने वाला सर्वविद् सर्वज्ञ है।

२. जिस प्रकार इस सौरमण्डल में सूर्य सबको कर्मों में प्रवृत्त कराने और जगत् के पदार्थों को देखने दिखाने का साधन है, उसी प्रकार यह परमेश्वर प्राणी मात्र के कर्मों का नियामक तथा प्रेरक और सब को ज्ञान प्राप्त करने और दूसरो को प्राप्त कराने का कारण है।

३. जैसे सूर्य की किरणें उस के प्रकाश को सर्वत्र पहुचाती हैं, उसी प्रकार उसका वेद रूपी ज्ञान और उस ज्ञान को प्राप्त करने वाले ज्ञानी उसके ज्ञान को सर्वत्र पहुचाते हैं।

विशेष—यदि मनुष्य सूर्य देवता या सर्वोत्पादक परमात्मा के समान सबका प्रेरक और मार्गदर्शक बनना चाहता है तो पहले उत्कृष्ट गति की ओर शनैः-शनैः कण-कण करके निरंतर चलते रहना चाहिए।

प्राज्ञ और मार्गदर्शक बनने के बाद स्वभावतः मनुष्यो मे अभिमान और अहकार आता है, इसलिए उसे सदा गायत्री छन्द का ध्यान करके, सर्वज्ञ प्रभु के अनुदानो के प्रति कृतज्ञता प्रकाशन के रूप मे उसकी महत्ता का हार्दिक ज्ञान करना चाहिए। परिणामतः अभिमान इत्यादि अन्तर और बाह्य शत्रुओ से सदा बचा रहेगा।

अर्थपोषक प्रमाण—

प्रस्कण्वः—प्र (प्रकृष्ट) + कण्व (कण गतौ) कण्व मेधाविनामसु। नि०३-१५. सूर्य.—सूप्रेरणे। सु प्रसवैश्वर्ययोः। गायत्री—गायन्त त्रायते। जातवेदसम्—जातं-जात वेत्ति—सर्वज्ञ जाते-जाते विद्यते—सर्वव्यापक,जातविद्योवा वा जात प्रज्ञानः—वेदों का प्रकाशक। केतव.—ज्ञानी, के तुज्ञाननाम नि० ३-७ केतवः—किरणें। वहन्ति—धारयन्ति,वह प्रापणे।

अर्थेप्सव ऋषियो देवताः छन्दोभि उपाधावन्। सर्वानुक्रमणी. ऋषिगुणो को धारण करके वेदार्थ को जानने की इच्छा से स्वाध्यायशील जन छन्दो की सहायता से, उसके शब्दार्थ द्वारा निर्दिष्ट भावना को साधन रूप मे स्वीकार करके वेदों की समस्याओं के समाधान मे दौड़ने लग जाते हैं।

—मनोहर विद्यालकार

५२२, ईश्वर भवन,खारी बावड़ी दिल्ली-६

लोक-चिन्तन

## हत्या की राजनीति

—डा० विजय द्विवेदी

आज विश्व की राजनीति हत्याओं के दौर से गुजर रही है। अभी अमरीकी राष्ट्रपति रीगन तथा पोप पाल पर हुए घातक आक्रमण के सदमे से विश्व-जनमानस उबर नहीं पाया था कि बंगला देश के राष्ट्रपति जिआउल रहमान की निर्ममतापूर्वक हत्या कर दी गई। समाचार-पत्रों में छोटे-मोटे राजनयिकों की हत्या, आक्रमण तथा अपहरण के समाचार आए दिन प्रकाशित होते रहते हैं। इन सब को देख-सुन और पढ़ कर ऐसा अनुभव होने लगा है जैसे संसार में शान्ति, अहिंसा तथा प्रेम का कोई अस्तित्व, कोई मूल्य ही न रह गया हो। ससार को इनकी कोई जरूरत ही न हो। स्वभावतः जिज्ञासा होती है कि ऐसा क्यो हो रहा है?

धरती के रक्त-स्नान का कारण भोग और भाग की राजनीति होती है। भोग का आधार धन है। अतः मनुष्य धन का अधिक से अधिक भाग अपने लिए सुरक्षित रख लेना चाहता है। पहले लोग उत्तम कर्मों द्वारा धनप्राप्ति का प्रयास करते थे। आज इसके लिए नीच से नीचा-सा धन का आश्रय लेना भी बुरा नहीं माना जाता। ऋग्वेद में एक मन्त्र दिया गया है। जिसमें ऋषि प्रार्थना करते हैं—'हे भगवन् आप हम पर ऐसी कृपा करें जिससे उत्तम कर्मों के द्वारा हमें धन की प्राप्ति हो जाए हम कभी पाप कर्मों मे प्रवृत्त न हो—अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्—ऋ. १-१८९-१।

आज के लोग महाकवि माघ के इन शब्द में सोचने लगे हैं—

बुभुक्षितैं व्याकरण न भुज्यते, पिपासितैः काव्यरसो न पीयते।

न विद्यया केनचिदुद्धृत कुलं हिरण्यमेवार्जय निष्फला कला। औचित्यविचार

तात्पर्य यह है कि धन और भोग के कारण ही हत्या की राजनीति चल रही है। यह तब तक चलती रहेगी जब तक भोगी और लोभी शासक वर्ग जनता का नेतृत्व करता रहेगा। जब तक जीवन में ज्ञान, त्याग, तप को उच्च स्थान प्राप्त नही होगा, जब तक धन नही कल्पना, ज्ञान, उज्ज्वल चरित्र के अभिमानी कवि-कोविद, विज्ञान-विशारद, कलाकार पडित, ज्ञानियों को समाज मे, शासन-व्यवस्था मे नेताओं से अधिक मान-सम्मान प्राप्त नही होगा, जब तक संसार मे इन विभूतियो के द्वारा स्थापित आदर्शों का अनुसरण नही करेगा, तब तक हत्या और हिंसा की राजनीति इसी तरह ससार मे चलती रहेगी।

हत्या की राजनीति से मुक्ति पाने का दूसरा रास्ता शान्ति-स्थापना का है, किन्तु सासारिक जीवन मे शान्ति तभी स्थापित हो सकती है, जब बुद्धि के व्यामोह से निकल कर मनुष्य भावनाओ के स्तर पर सोचे। न्याय को प्रथम स्थान दे, क्योंकि न्याय शान्ति का प्रथम न्यास है और न्याय के लिए समबुद्धि की आवश्यकता होती है। समबुद्धि का ही दूसरा नाम विवेक है। विवेक बुद्धि का विकास बिना वेद-विद्या के सम्भव नही है। अत हत्या की राजनीति से विश्व मानवता की रक्षा करनी है। तो वेद-विद्या का विकास करना ही होगा—नान्य पथाः अयनाय।

म. पू. घ. कालेज बारीपदा उड़ीसा-७५७००१

## ईसाई युवक व युवती का हिन्दू धर्म में प्रवेश

कानपुर। समाज गोविन्द नगर में केन्द्रीय आर्य सभा कानपुर के प्रधान श्री देवीदास आर्य ने ३० वर्षीय शिक्षित एक ईसाई एक ईसाई युवती व उसके ४ वर्षीय पुत्र व अन्य शिक्षित ईसाई युवक को उनकी इच्छानुसार यज्ञ की अग्नि के समक्ष शुद्ध करके वैदिक धर्म (हिन्दू धर्म) मे प्रवेश कराया। शुद्धि के बाद इस युवक पीटर जानसन व युवती बीना डायमण्ड का वैदिक रीति अनुसार विवाह सम्पन्न कराया गया। इनके नए नाम सजीव कुमार,वीना देवी तथा उनके पुत्र का नाम अमित प्रसाद रखा गया। वीनादेवी एक सरकारी अस्पताल मे स्टाफ नर्स है। इस युवक और युवती ने श्री देवीदास आर्य को प्रार्थना पत्र देकर इच्छा प्रकट की थी कि वह जन्म से ईसाई हैं, परन्तु वह हिन्दू धर्म को बहुत अच्छा समझते हैं, अतः उनका शुद्धि संस्कार कर हिन्दू धर्म में प्रवेश कराया जाए।

## रविवार २३ अगस्त को सभा का वार्षिक अधिवेशन

### वेद-प्रचार की राशि एवं दशांश भिजवाएं

जिन आर्य समाजों ने अपने सदस्यों की आय का दशांश और वेद प्रचार की राशि नहीं भिजवाई है, वे उसे तुरन्त भिजवाएं।

स्मरण रहे कि दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा का वार्षिकोत्सव रविवार २३ अगस्त के दिन होगा। उसमें आप की समाज का प्रतिनिधित्व समाज के दशांश, वेद प्रचार की राशि एवं 'आर्य सन्देश' का वार्षिक चन्दा देने पर ही सम्भव है।

### ज्ञान की ओर प्रवृत्त कीजिए

असतो मा सद् गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृतं गमय॥ यजुर्वेद १९.६

हे प्रभो, मुझे अज्ञान से ज्ञान की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरता की ओर प्रवृत्त कीजिए।

## दोहरी जिम्मेदारी

देश की राजनीतिक स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद फरवरी, १९५३ में विदेशी ईसाई मिशनरियों ने देश की निर्धनता, विषमता को देखकर देश के पिछड़े हुए आदिम जातियों के क्षेत्र में अपने धर्म के प्रचार-प्रसार की योजना बनाई। पूर्वोत्तर भारत के क्षेत्रों में उन्हें कुछ ही वर्षों में आश्चर्यजनक सफलता मिली। उनकी सफलता से उत्साहित होकर विश्व में विशेषतः दक्षिणी एशिया में मुस्लिम धर्म के व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए सन् १९७३ में पान इस्लामिक लीग की स्थापना की गई। इस वर्ष के प्रारम्भ में कुवैत के 'अरब टाइम्स' से यह सूचना मिली कि भारत के बेचैन हरिजनों की मानसिक स्थिति का लाभ उठाकर उन का व्यापक धर्म-परिवर्तन किया जाए। उस पत्र ने यह सूचना भी दी थी कि भारत के एक गांव का सामूहिक धर्म-परिवर्तन कर लिया गया है। प्रारम्भ में यह खबर छिपी रही कि किस क्षेत्र में यह धर्म-परिवर्तन हुआ है।

पर अब यह सब जान चुके हैं कि पहले तमिलनाडु के मीनाक्षीपुरम गांव का धर्म-परिवर्तन हुआ था, उसके बाद ये सूचनाएं भी मिली रामनाथ पुरम एवं मदुराई में भी हरिजनों का व्यापक धर्म-परिवर्तन हुआ है। बाद में प्राप्त सूचनाओं के अनुसार पाण्डीचेरी में भी हजार से भी अधिक हरिजनों ने धर्म-परिवर्तन किया है। यदि ये सभी सूचनाएं सत्य हैं तो कहना होगा कि कुछ ही महीनों में दस हजार से अधिक हरिजन या निम्न जाति के हिन्दू विधर्मी बन गए हैं। महाराष्ट्र विधान सभा के अध्यक्ष एवं रिपब्लिकन दल के नेता श्री आर० एस० गवई ने तमिलनाडु के सम्बन्धित क्षेत्रों का दौरा करने के बाद घोषित किया है कि वहां इस्लाम स्वीकार करने के लिए तरह-तरह के प्रलोभन दिए गए हैं। उनकी सम्मति में इस कार्य में पेट्रो-डालर का भरपूर उपयोग हुआ है। स्पष्ट है कि भारत की केन्द्रीय सरकार और प्रदेशों की सरकारों को धर्म-निरपेक्षता के नाम पर चलने वाली इस धर्मान्धता की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। उन्हें तुरन्त कार्यवाही कर विदेशी धन का आयात नियन्त्रित कर इस प्रकार के राष्ट्र विरोधी कार्यों की रोक-थाम करनी चाहिए।

भारत के हिन्दुओं को उनके देश में अल्पसंख्यक बनाने के अन्तर्राष्ट्रीय षडयन्त्र की रोकथाम के लिए शासन का विशेष दायित्व है। सम्भवतः वह कथित धर्म-निरपेक्षता की नीति के कारण इस दिशा में कुछ न करे, उस स्थिति में विदेशी धर्म परिवर्तन अभियान के उत्तर में आर्यसमाज के उपर दोहरी जिम्मेदारी है। इस सम्बन्ध में हिन्दुओं से हरिजन भाइयों की जो शिकायतें और कष्ट हैं, उन्हें उनसे निकट सम्पर्क कर ही दूर करना होगा, दूसरे आर्यसमाज को सवर्ण हिन्दुओं से सम्पर्क कर उन्हें समझाना होगा कि विधर्मियों के शासन में भी जो हरिजन अपने धर्म के रक्षक रहे, उनके साथ किसी प्रकार का भेदभाव करना सर्वथा अनुचित है। हिन्दुओं को अन्तर्राष्ट्रीय षड्यन्त्र से बचाने के लिए २६ जुलाई से देश व्यापक धर्मरक्षा अभियान के अन्तर्गत आर्यसमाज को अपनी इस दोहरी जिम्मेदारी को निबाहना ही होगा।

## प्रवासी भारतवंशियों का संकट

कुछ वर्ष पूर्व युगाण्डा में ईदी अमीन ने एशिया वासियों को विशेषतः भारत मूल के प्रवासियों के हाथ से उनका सारा व्यापार तथा उद्योग छीन लिया था। पिछले कुछ महीनों से ब्रिटेन के कई नगरों में उग्र रंगभेद पनप रहा है। वहां के फासिस्ट अग्रपंथी अपने देश के सभी काले तथा दूसरे रंग के दक्षिणी एशियाई प्रजाजनों का सारा व्यापार और वाणिज्य छीन लेना चाहते हैं। विगत कुछ सप्ताहों में वर्ण विद्वेष भीषण दंगों और व्यापक लूटमार के रूप प्रकट हुआ है। इन जातीय संघर्षों के रूप में दो तथ्य उभरे हैं। पहला तथ्य यह है कि वहां बसे भारत तथा दूसरे देशों से आए प्रजाजन अपनी सुरक्षा के लिए वहां की सरकार, शासन या पुलिस आदि पर भरोसा नहीं कर सकते। उसके लिए तो उन्हें स्वावलम्बन एवं संगठन पर विश्वास करना होगा। दूसरे इन लोगों की सरकारें भी वर्णविद्वेष के प्रचारकों एवं पक्षपातियों की उपेक्षा कर शान्ति एवं व्यवस्था नहीं रख सकतीं।

विदेशों में बसे भारतमूल तथा दूसरे देशों के प्रवासियों को उन-उन देशों की जनता से सम्पर्क कर उनकी अच्छाइयां और विशेषताएं ग्रहण कर एक ओर उनसे मधुर सम्बन्ध बनाना चाहिए तो उन्हें अपनी एकता और संगठन को सुदृढ़ कर अपनी सांस्कृतिक अच्छाइयों और विशेषताओं को सुरक्षित करना चाहिए। केवल इन्हीं दोनों उपायों के अवलम्बन से प्रवासी भारत वंशी अपना अस्तित्व सुरक्षित कर सकते हैं, अन्यथा जैसे दूसरे देशों से उन्हें पलायन करना पड़ा, जल्दी या देर में उन्हें ब्रिटेन से भी बोरिया बिस्तर बांधना होगा।

खेद का विषय है कि विदेशों में गए भारतवंशी वहां अपनी अच्छाइयां छोड़ रहे हैं, उन देशों की अच्छाइयां ग्रहण न करते हुए उनके दूषण ही अंगीकार कर रहे हैं। इसके साथ ही संकट के क्षणों में उनकी एकता भी खरी सिद्ध नहीं होती। केवल अपनी अच्छाइयों, एकता और संगठन के बल पर ही एशिया से गए प्रजाजन ब्रिटेन या दूसरे देशों में अपना अस्तित्व सुरक्षित रख सकते हैं, अन्यथा उनके अस्तित्व और भविष्य के लिए एक प्रश्नचिह्न लग जाएगा।

## चिट्ठी-पत्री

### क्या तरुण बोध-शिविर का औचित्य है?

मैं आपके पत्र के माध्यम से आर्यजगत् के बुद्धिजीवियों व आर्य नेताओं का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूं। अभी हाल ही में वेद संस्थान सी-२२, राजौरी गार्डन में २१ से २८ जून १९८१ तक महात्मा दयानन्द की संरक्षकता में युवक-युवतियों के 'तरुण बोध शिविर का आयोजन किया गया, जिसमें अनुशासनहीनता, उच्छृंखलता के कारण युवक 'शिविर' का पूरा आनन्द नहीं ले सके।

क्या वह शिविर, उन महान युगद्रष्टा जिन्होंने सत्यार्थ प्रकाश में लड़के और लड़कियों के विद्यालय में डेढ़ दो कोस मील के अन्तर का प्रावधान रखा है, अनुकूल है? क्या उन महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों का अपने भक्तों द्वारा खुला उपहास नहीं है?

मेरा यह सब लिखने का अभिप्राय यह है कि जिस नई परम्परा ने यह जन्म लिया है, कहीं वह आर्यसमाज के क्षेत्र में व्यापक रूप धारण न कर ले।

इसके लिए 'सार्वदेशिक सभा' को तुरन्त ही आदेश जारी करना चाहिए कि कि भविष्य में युवकों का शिविर अलग व लड़कियों के शिविर की व्यवस्था अलग प्रान्तीय आर्य महिला सभाएं करें।

—धर्मपाल आर्य, केन्द्रीय आर्य युवक परिषद, दिल्ली प्रदेश,
१०३३५, विक्रांत नगर, राम बाग मार्ग, दिल्ली-११०००७

आर्यसमाज दृढ़ता से मुकाबला करेगा

# भारत में इस्लामीकरण के गहरे, व्यापक, षड्यन्त्र-कुछ चुभते तथ्य

### मीनाक्षीपुरम् से मदुराई तक

मीनाक्षीपुरम (तमिलनाडु) में लगभग तीन हजार हरिजन प्रलोभन और भय द्वारा मुसलमान बनाए गए और इस सम्बन्ध में आर्यसमाज के नेतृत्व में हिन्दू सस्थाओ और समाचार पत्रों द्वारा प्रबल रोष व आन्दोलन, विरोध को सरकार तक पहुचाने के लिए पिछले दिनो सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली के प्रमुख नेताओं का शिष्ट मण्डल प्रधानमन्त्री के पास पहुंचा। इस समूची सघन हलचल के बावजूद दक्षिण भारत मे इस्लामीकरण का यह कुचक्र मन्द व समाप्त हो गया—यह समझना भारी भूल होगी। इसकी पुष्टि दिल्ली के अंग्रेजी दैनिक इडियन एक्सप्रेस के १६ और १७ जून के अंकों में उसके संवाददाताओ द्वारा मदुराई नगर से भेजे गए समाचारों के निम्न अंश से होती है—

### कुरापुर गांव का सामूहिक इस्लामीकरण

प्रसिद्ध हिन्दू तीर्थ मदुराई से करीब ४० कि० मी० दूर कुरापुर गाँव के करीब ३०० हिन्दू और ५० ईसाई परिवारो को इस्लाम मे प्रविष्ट कर इस प्रदेश के 'इस्लामीकरण आन्दोलन' मे अप्रत्याशित उभार आ गया है। जिला रामनाथपुरम के कुरापुर गांव की सामूहिक धर्मान्तिरकरण की यह कहानी हाल की ही है। सामूहिक धर्म-परिवर्तन का कार्य चुपचाप पर तेजी से चल रहा है। अभी हाल ही ७५ हिन्दू हरिजन परिवारों ने इस्लाम स्वीकार किया। अब स्थिति यह है प्रति सप्ताह एक दो हिन्दू हरिजन परिवार मुसलमान बनते जा रहे हैं। इस ग्राम तक पहुंचने की यात्रा का वर्णन करते हुए दोनो सवानदाता कहते हैं :—

''इन नव मुस्लिमो को ढूंढ निकालना कठिन था। प्रत्येक गांव में मुसलमान तो चौवन्ने थे पर हिन्दू एकदम लापरवाह प्रतीत हुए। हमारे वहां पहुचते ही घरों और गलियों से नव मुस्लिम दौडते बाहर निकल भागते हमारे पास पहुचे हमारे यह कहने पर भी कि हम मौलवी नही हैं, उन्हें विश्वास नही हुआ, छोटे-बड़े सब खुश थे 'सलाम अलेकम' से हमारा स्वागत किया गया। लुंगी और तुर्की टोपी पहने ये लोग धर्म-परिवर्तन के बारे में चर्चा करने को उत्सुक थे। इस बारे में हरिजन हिन्दू व ईसाई दोनो की तो शिकायत का सम्बन्ध सवर्ण हिन्दुओं द्वारा चिरकाल से आर्थिक दबाव से अतिरिक्त सामाजिक अत्याचारों की कठोरता थी। जैसे—

(१) सवर्ण हिन्दू मुहल्लों में जाते हुए चप्पल उतार नंगे पांव जाना।

(२) कमीज, कुरता और से कमर तक कोई वस्त्र न पहन सकना।

(४) चायघरों और होटलों मे सवर्ण के पास न बैठ सकना।

(४) और वहां खाने-पीने के बर्तनो का सवर्णों से पृथक विशेष निशान के साथ रखा जाना।

(५) भूमिहीन खेतीहर मजदूर होने से सवर्ण हिन्दू जमींदारों के प्रति इस भेदभाव का विरोध करने मे असमर्थता।

(६) हिन्दू धर्म मे अनेक प्रकार जातिगत भेद-विषमता के साथ इनके देवी-देवताओं की बहुसख्या के साथ पूजा पाठ की घोर विभिन्नता और पृथकता। इसके विपरीत इस्लाम में एक ही खुदा, एक ही कुरान, एक ही पैगम्बर और एक सदृश नमाज रोजा व खानपान मे एक साथ एक जैसे बर्तन मे। हरिजन ईसाईयो ने भी आज की ईसाइयत से सवर्ण ईसाइयो द्वारा अनेक प्रकार के भेदभाव की सिकायतें। इन नव मुस्लिमो ने बताया कि मद्रास से कई मौलवी आते रहे। अब तो इस गाव मे ही मौलवी और मस्जिद दोनो का इन्तजाम हो गया इन नव मुस्लिमों मे कई पेंशनिये फौजी, दर्जी आदि कारीगर और अन्य पेशे के लोग भी हैं। इनके शब्दो में 'अब हमारी एक ही ख्वाहिश है कि हम में से कोई हज कर आए, १५ हजार रु० लगता है। उम्मीद है, इसका भी जल्द बन्दोबस्त हो जाएगा।

### इस्लामी संगठन का प्रलोभन : हिन्दुओं की प्रतिक्रिया : हमदर्दी के लक्षण

संवाददाताओं के अनुसार, कुरापुर गांव के इस तीव्रता हो रहे इस्लामीकरण से सवर्ण हिन्दू आंतकित, भयग्रस्त हो गए हैं कि कुछ ही समय में सारा गांव मुसलमान हो जाएगा। एक प्रमुख हिन्दू जमींदार के अनुसार मदुराई का एक प्रबल इस्लामी संगठन इसके पीछे है जिसके धन वस्त्र तथा अन्य प्रलोभन पानी की तरह बहाए गए। संवाददाताओं के अनुसार, कई प्रमुख हिन्दुओं ने अब यह माना कि हरिजनों के प्रति उनका व्यवहार उचित नहीं था और उनकी शिकायतें गलत नहीं है। फलतः गांव के सवर्ण हिन्दुओं ने इन हरिजनों प्रति अपने व्यवहार में जहाँ काफी प्रयत्न किए हैं, वहाँ ये नव मुसलिम भी यह अनुभव करने लगे हैं कि अपना सदियों पुराना धर्म छोड़कर भी उनकी समस्याएं हल नहीं हुई हैं इसके विपरीत कई नई अड़चने पैदा हो गई है। वह यह भी महसूस कर रहे हैं। कि इन मुसलमानों की खैरियत पर वह कब तक निर्भर रह सकते हैं आस पास के शहरों से भी कुछ हिन्दू नेता जहां हरिजनों की समस्याओं को सुलझाने का आश्वासन दे रहे हैं, वहाँ गांव के हिन्दुओं को भी अपना व्यवहार बदलने के लिए जबर्दस्त प्रेरणा दे रहे हैं।

### हरिजन लड़कियों का निर्यात अरब देशों को : संसद समिति की रिपोर्ट

दिल्ली के अंग्रेजी दैनिक टाइम्स ऑफ इन्डिया' के २८ अप्रैल ८१ के अक में लोकसभा के पटल पर रखी गई १६ वीं 'सार्वजनिक प्राकलन समिति' (पी० पी० सी०) के आधार पर यह पता चला है कि—

''पश्चिम एशिया के अरब देशो मे भारत के दलालो द्वारा हरिजनों अनुसूचित, जन जातियो व निम्न वर्गों की युवा लड़कियो का निर्यात कर वहां ६०-७० वर्ष के बूढ़े अरबों के साथ उनका विवाह कर दिया जाता है। कुछ समय के बाद इन लड़कियों के साथ दुर्व्यवहार मारपीट इत्यादि के बाद आगे बेच वेश्या वृति, आया, नौकरानी इत्यादि छोटे धधे करने के लिए बाध्य किया जाता है। रिपोर्ट में कहा गया है कि इन अरब देशों में जो भारतीय मिशन है, जिनके द्वारा पार-पत्र इत्यादि जारी किए जाते हैं,खेद का विषय है,वे भली भांति गहराई के साथ जाँच-पड़ताल नहीं करते। पहले श्री लका से इन अरब देशों को लड़कियो का निर्यात होता था। वहां की सरकार द्वारा इस पर कड़ा प्रतिबन्ध लगा देने के बाद अब भारत सरकार यहां से बेरोकटोक यह व्यापार, 'सेक्युलर स्टेट' और अरब देशों को खुश रखने के लिए करने दे रही है।

### अरब देशों के मुस्लिम-भारत में शादी के लिए : हिन्दू लड़कियों से

कुछ वर्षों से अमीर अरबों ने एक नया रास्ता इस्लाम-प्रचार का निकाला है। अपने धन के बलबूते पर भारत में विशेषतः दक्षिण भारत के हैदराबाद, बैंगलोर, कोचीन, त्रिचनापल्ली, मद्रास नगरों में व्यापारी के रूप में रहते हुए यहीं हिन्दू लड़कियों से शादी कर उन्हें मुस्लिम बनाकर कुछ वर्षों तक ऐश और शान का जीवन बिताकर बीबी बच्चों के साथ कई बार जल्दी वापस आने का बहाना कर और इन्हें दूसरे मुसलमान को बेच, वापस अपने प्रदेश चले जाते हैं। कानूनी प्रतिबंध न होने से विधर्मियों की संख्याओं में अनायास ही वृद्धि हो रही है।

लेखक :
आचार्य दीनानाथ सिद्धान्तालंकार

### भारत अरब देशों के बीच आर्थिक समझौते : उद्देश्य इस्लामीकरण

पैट्रोल डालर के धनी इन अरब देशों ने भारत में इस्लामीकरण का एक वही ढंग निकाला है जो अंग्रेज ने भारत में पैर जमाने के लिए करीब तीन सदी पहले निकाला था। अंग्रेज व्यापारी के रूप में भारत में घुसा था। अब अरब देशों ने 'विश्व इस्लामिक सस्था' के अन्तर्गत भारत में भारी पूंजी लगा साझी कम्पनियां और रिजर्व बैंक से स्वीकृति प्राप्त कर बैंक व्यापार गृह तथा उद्योग इत्यादि लगाने के कार्यक्रम बनाए हैं। भारत की प्रधानमन्त्री इंदिरा गांधी की पिछले दिनों की इस अरब देशों की यात्रा से इस योजना को खूब प्रोत्साहन मिला है। अरब देशों में भी अपने यहां कारखाने खोलने, रेल लाइन पुल, बाँध, बिजली उत्पादन इत्यादि तकनीकी और इजीनियरी की भारी भरकम विकास योजनाओं के ठेके भारत को देने प्रारम्भ कर दिए हैं। आर्थिक दृष्टि से यह सब बड़ा आकर्षक प्रतीत होता है पर हमें इस्लामी इतिहास का यह अटूट और सिद्ध निचोड़ नहीं भूलना चाहिए कि इस्लाम किसी भी रूप में अपने को प्रकट करे पर वह अपने बुनियादी 'तबलीगी हक' गैर मुस्लिम को इस्लाम में लाना, जिसके लिए हिंसा, प्रलोभन के तरीके जायज हैं—कभी नहीं छोड़ सकता।

### 'इस्लामिक सेंटर' की लन्दन में गुप्त सभा : भारत में ३० करोड़ मायाम लक्ष्य

पैट्रोल डालर के अरब देशों के

(शेष पृष्ठ ८ पर)

# हरिजन विदेशी षड़यन्त्रों के शिकार न बनें

—ओमप्रकाश त्यागी

भू० पू० संसद सदस्य, महामन्त्री, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली

भारत के हरिजन बन्धु शताब्दियों से सवर्ण हिन्दुओं द्वारा अमानवीय अत्याचारों से पीड़ित होते आए हैं, परन्तु हरिजन बन्धुओं ने निराश होकर कभी भी हिन्दू धर्म छोड़ने का विचार नहीं किया। विदेशी मुस्लिम आक्रमणकारियों ने जब तलवार के बल पर सबको मुसलमान बनाने का प्रयत्न किया, तो जहां हिन्दू जाति के सवर्ण कहे जाने वाले वर्गों के अनेक व्यक्तियों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था, वहां हरिजन वर्ग तलवार के सम्मुख सीना तानकर खड़ा रहा)

बन्धुओं का कहना है कि हिन्दूजाति में उन्हें बराबरी का दर्जा नहीं दिया जाता। उनकी इस बात में कुछ हद तक सत्य है, परन्तु अब जबकि अछूतपन अपराध बन चुका है तो अपने अधिकारों के लिए सवर्ण हिन्दुओं से साहस के साथ लड़ने के स्थान पर कायरों की भांति अपने धर्म को छोड़ना उन्हें शोभा नहीं देता। इस संघर्ष में देश की देशभक्त जनता एव आर्यसमाज जैसे संगठन और सरकार उनके साथ हैं। जहां सवर्ण अपने मोहल्लों व सड़कों पर उन्हे चप्पल पहन कर व अंगवस्त्र धारण कर चलने से

## अतीत में जिन्होंने तलवारों का सामना किया—उनका आर्थिक प्रलोभन में आना अनुचित

परन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् जब हरिजनो के लिए सुनहरी अवसर आया है और सविधान मे अछूतपन के कलंक को कानूनन अपराध घोषित कर दिया है, समस्त देश तथा सरकार उनके उत्थान के लिए प्रयत्नशील है, उन्हें आज विशेष सरक्षणों के द्वारा समाज के प्रत्येक क्षेत्र में सम्मानित स्थानो पर बैठाया जा रहा है अपने को सवर्ण कहने वाले वर्ग भी आज मानसिक दृष्टि से छूतछात को भारत के माथे पर कलक अनुभव कर रहे हैं और आर्यसमाज जैसे धार्मिक सगठन जन्मगत जातपात को समाप्त कर अछूतपन को समूल रूप से समाप्त करने मे पर्यत्नशील हैं तो विदेशी धन के बल पर मुस्लिम षड़यन्त्रकारी उन्हें भड़काकर उन्हें पुनः पतन के खड्डे में डालने का प्रयत्न कर रहे हैं। आश्चर्य एवं खेद का विषय है कि कुछ भोले एवं अदूरदर्शी हरिजन बन्धु लोभ-लालच के कारण उनके जाल ने फंसकर मुसलमान बन गए हैं।

सार्वजनिक पूजास्थानों, कुओं, सड़कों आदि के प्रयोग का प्रत्येक को कानूनी अधिकार है। यदि उसे हरिजन बंधु प्राप्त न कर संघर्ष से बचने का प्रयास करेंगे तो फिर उनके लिए कहीं भी सम्मानित स्थान नहीं मिलेगा। कुछ दिन मुसलमान लोग उनका स्वागत अवश्य करेंगे। उनकी सहायता भी की जाएगी परन्तु बाद में उन्हें अपने भाग्य पर छोड़ देंगे।

मुसलमान बनने वाले हरिजन रोकते हैं, वहां उन्हें योजनाबद्ध रूप से उनके इस पाखण्ड से लड़ना चाहिये यदि वे उनका विरोध करेंगे तो वे जेल के सीखचों के भीतर होंगे।

याद रहे मुसलमान बन जाने पर उन्हें समस्त सरकारी सुविधाओ से वंचित होना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त उन्हें अपनी भूल का तब आभास होगा जब मुसलमान बन जाने पर भी उन्हें मुसलमानो द्वारा निम्न वर्ग मे ही समझा जाएगा। और उनके साथ रोटी-बेटी का व्यवहार उच्च कोटि का मुसलमान नही करेगा। उदाहरणार्थ आज तक जितने हिन्दू मुसलमान बने हैं, उनके अलग-अलग वर्ग बने हैं। शादी-विवाह के लिए वे अपने वर्ग तक ही सीमित रह गए हैं। नमाज पढ़ते समय एक लाइन मे खड़े होना कोई बड़ी बात नही है। आज हिन्दुओं ने भी उनके लिए मन्दिरों के दरवाजे खोल दिए हैं। इस्लाम धर्म मे सबको समानता का दर्जा दिया जाता है यह भी बहुत बड़ी भ्रान्ति है। सुन्नी, शिया मुसलमान एक दूसरे को हेय दृष्टि से देखते हैं। अहमदिया मुसलमानों को अन्य मुसलमान, मुसलमान नहीं मानते। वोहरा इस्मायली वर्गों की भी यही दयनीय स्थिति है।

अतः हरिजन बन्धुओं से अनुरोध है कि विदेशी षड़यन्त्रों के चंगुल में न फंस कर वर्तमान सुनहरी अवसर को हाथ से न जाने दें, और अपने तथा अपनी सन्तान के भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिए वर्तमान सरकारी सुविधाओं का अधिक से अधिक से लाभ उठावें। जहां तक छूत-छात और जन्मगत जात-पात का प्रश्न है- इनकी दीवारें गिर रहीं हैं। इस पाखण्ड की रक्षा अब कोई नहीं कर सकता। पढ़े लिखे व्यक्ति इनसे घृणा कर रहे हैं। और नित्य अन्तर्जातीय विवाहों का तांता लग रहा है। अतः हरिजन बन्धु धर्मपरिवर्तन का विचार छोड़कर भावी भारत के स्वयं विधाता व मालिक बनने का प्रयत्न करें।

# ससुराल वालों की मांग पूरी नहीं हुई और युवती गिर कर मर गई

### उत्तरी कलकत्ता की कुसुम की रोमांचक मृत्यु : वधू ने छलांग लगाई या उसे नीचे फेंका गया? तथ्यों की जांच की जाए।

कलकत्ता। शनिवार ६ जून को दिन के १२ बजे दिल्ली के उद्योगपति एवं साउथ ईस्टर्न रोडवेज के संचालक श्री प्रह्लाद राय गुप्त के बड़े भाई एवं ट्रांसपोर्ट के प्रमुख व्यापारी ५४ जीतेन्द्रमोहन एवेन्यू कलकत्ता के निवासी श्री भीमसेन अग्रवाल की सुपुत्री श्रीमती कुसुम जालान की जीवनलीला समाप्त हो गई। अभी तक यह रहस्य अज्ञात है कि उत्तरी कलकत्ता में अपने ही मकान के तीन तल्ले से कुसुम ने मृत्यु को वरण क्यों किया? अभी तक यह भी रहस्य बना हुआ है कि वधू ने छलांग लगाई या उसे नीचे फेंका गया?

कुसुम जालान

स्थानीय लोगों के बयान के अनुसार घटना का विवरण इस प्रकार है —

६८ ए, नीमतल्ला घाट, कलकत्ता ६ के तीन तल्ले से करीब ६-४५ पर एक युवती सडक पर गिरी। लोगों ने अचेत अवस्था मे उसे तड़पते देखा, लड़की के सड़क पर गिरते ही पलक मारते लोग एकत्र हो गए। मोहल्ले के लोगों ने उस पर पानी छिड़का, लेकिन वह होश में न आ सकी। उसे अस्पताल ले जाने की पेशकश की गई। मालूम हुआ लड़की का नाम कुसुम जालान है, अस्पताल ले जाने की पेशकश का जालान-परिवार वालों ने विरोध किया और, आहत अवस्था में कुसुम को १० बजकर ५ मिनट पर बड़तल्ला स्थित विशुद्धानन्द अस्पताल पहुंचाया गया, उसकी स्थिति चिन्ता जनक थी। सर्वप्रथम डॉ० आर० के० शर्मा ने उसे देखा और तत्काल ही डॉ० गुमानसिंह पिपरा आदि डाक्टरों ने उसे ग्लूकोज देना शुरू कर दिया। ११ बजे उसे ४२४ बेड पर भर्ती कर लिया गया। लगभग १२ बजे कुसुम जालान के प्राण पखेरू हमेशा-हमेशा के लिए इस लोक से उड़ गए।

कलकत्ता के स्थानीय समाचार पत्रों के प्रतिनिधियों को स्थानीय लोगों ने सूचना दी कि घटना के पीछे गृहकलह जैसी बडी कोई घटना है, अन्यथा १॥ वर्ष के मासूम बच्चे की ममता को एक मां कैसे छोड देती। पश्चिमी बगाल में इन्दिरा कांग्रेस की महिला विभाग की श्रीमती प्रभा मिश्र और संयोजिका मिनती अधिकारी घटना की सूचना मिलते ही घटनास्थल पर पहुंची तो जालान परिवार ने सहयोगात्मक रूप नहीं अपनाया और मकान मालिक ने उन्हे वहां से जाने के लिए कहा। इन महिला अधिकारियों ने कुसुम जालान के ससुर उमाशंकर जालान, पति लक्ष्मी नारायण जालान तथा सास द्रौपदी से कुसुम के मरने के बारे में पूछा तब उन्होंने कहा कि हमे पता नही यह कैसे मरी है?

प्रेस प्रतिनिधियों के अनुसार कुसुम की शादी १९७८ में हुई थी, उसे एक पुत्र है और वह पुन. मां बनने वाली थी। युवती के मायके वालों के अनुसार कुसुम के ससुराल वाले किराने के व्यापारी हैं। मायके वालो का आरोप है कि शादी के बाद से कुसुम को सदैव यातना दी जाती थी। वह मायके आकर भी सामान्य नही हो पाती थी। घटना के अगले दिन प्रातः मायके वालो को टेलीफोन पर बताया गया कि आपकी पुत्री मर गई है।

एक अन्य सूत्र के अनुसार कुसुम

(शेष पृष्ठ ८ पर पढ़ें)

# आर्य जगत् समाचार

## स्वामी दयानन्द का मार्ग ही अनुकरणीय

### चन्द्र आर्य विद्यामन्दिर में उपराज्यपाल खुराना का उद्बोधन

दिल्ली ५ जुलाई। 'मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप यहां नैतिक शिक्षण देते हैं। खेद का विषय है कि आज अधिकतर शिक्षणालयों एवं शिक्षासंस्थाओं मे नैतिक शिक्षा की उपेक्षा है। यह जानकर भी खुशी हुई कि यहां ऐसे बहुत से बच्चे हैं जिनके सिर से बाप का साया उठ गया था, समाज और मुल्क का फर्ज है कि ऐसे अनाथ बच्चे अनाथ न समझे जाएं और उन्हें स्वावलम्बी, शिक्षित और प्रगतिशील बनाया जाए'—इन शब्दो मे दिल्ली के उपराज्यपाल श्री सुन्दरलाल खुराना ने सूरज पर्वत, लाजपत नगर, नई दिल्ली-६५ मे अवस्थित चन्द आर्यविद्यामन्दिर एवं छात्रावास के वार्षिकोत्सव का उद्घाटन किया।

खुराना जी ने कहा—स्वामी दयानन्द जी ने हमे आगे बढ़ने का रास्ता दिखाया है, आज देश के सामने बहुत-सी समस्याएं हैं, देश और समाज को उठाना है। हमे आगे बढकर मानव-समाज को आगे बढ़ाना है, इस सम्बन्ध मे महर्षि दयानन्द द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण कर आर्यसमाज बहुत कुछ कर सकता है। खुराना जी ने सस्था के कार्यों से अभिभूत होकर ५०१) की निजी सहायता संस्था को भेंट की। इस अवसर पर संसद सदस्य श्री डोगरा ने राज्यपाल महोदय एव आगत सज्जनों का धन्यवाद किया, एवं ससद सदस्य श्री भगवानदेव आचार्य, श्री रामकुमार गुप्त, श्री सरदारी लाल जी वर्मा आदि ने सामयिक भाषण दिए। सस्था के प्रधान श्री देशराज चौधरी ने विद्यामन्दिर एवं छात्रावास की प्रगति का विवरण देते हुए सूचना दी कि यहां ६२५ अनाथ बच्चों का लालन एव शिक्षा की व्यवस्था है। संस्था के भवनो पर अभी तक २७ लाख रुपयो की धनराशि खर्च आ चुकी है। संस्था का लक्ष्य समाज के उपेक्षित अनाथ बच्चों को सुधरा हुआ नागरिक-सच्चा आर्य एवं स्वावलम्बी देशवासी बनाना है।

०—०—०

### आर्यसमाज आदर्शनगर में वेदकथा

आर्यसमाज आदर्शनगर, दिल्ली-३३ में ६ जुलाई से १२ जुलाई १९८१ तक श्री पुरुषोत्तम एम० ए० की वेदकथा का आयोजन किया गया। इस अवसर पर भजनोपदेशक श्री सत्यपाल मधुर ने सामयिक भजन प्रस्तुत किए। इस आयोजन मे पं० जैमिनी शास्त्री, श्री प्रेमचन्द, श्री धर, श्री आर्यभिक्षु वानप्रस्थी आदि विद्वान भी पधारें।

९ जुलाई को दोपहर के समय डॉ० श्रीमती सरोज दीक्षा की अध्यक्षता में महिला-सत्संग भी हुआ।

०——०

### वेदप्रचार के मैदान में मातृमन्दिर की ब्रह्मचारिणियां

उल्लेखनीय है कि नई बस्ती, रामापुरा, वाराणसी अवस्थित मातृमन्दिर कन्या गुरुकुल की ब्रह्मचारिणियों ने अपने प्रायोगिक शिक्षणक्रम के सिलसिले मे ११ नवम्बर से १७ नवम्बर तक आर्यसमाज इटावा में यजुर्वेद पारायण महायज्ञ एव वेद प्रचार कार्य किया। उन्होने १८ नवम्बर से २२ नवम्बर तक सिरसागंज मे सामवेद यज्ञ में सहयोग एवं वेदप्रचार किया। २३ नवम्बर से २६ नवम्बर तक कन्या गुरुकुल की ब्रह्मचारिणियों ने आर्यसमाज गणेशगंज लखनऊ में वेदप्रचार किया। ६ फरवरी से ८ फरवरी तक आर्यसमाज बेवर की हीरक जयन्ती पर यजुर्वेद यज्ञ तथा वेदप्रचार किया। दोनों यज्ञों में डॉ० पुष्पावती ब्रह्मा थीं।

सारे कार्यक्रमों में ब्रह्मचारिणियों की अनुशासनप्रियता, सादगी, स्फूर्ति वेदप्रचारशैली ने जनता का हृदय मोह लिया।

०—०

### पीलीभीत में अनुकरणीय कदम

#### बाल्मीकि के गृह में पारिवारिक सत्संग

२९ जून, १९८१ के दिन प्रातः ८-३० बजे पीलीभीत के मोहल्ला सुनगढी स्थित बांकेलाल बाल्मीकि के निवासस्थान पर आर्यसमाज पीलीभीत के तत्वावधान में पारिवारिक सत्संग हुआ। उसमे ६० के लगभग उपस्थिति थी। स्थानीय बाल्मीकी भाइयो के अतिरिक्त १५ के लगभग आर्यसज्जनों ने इसमें भाग लिया। पीलीभीत आर्यसमाज की ओर से बाल्मीकि हरिजन भाइयों के मध्य पारिवारिक सत्संग की यह परम्परा प्रति सप्ताह प्रचलित रहेगी।—धर्मवीर विद्यालंकार, आर्यसमाज, पीलीभीत।

## बोध-कथा

### कम्बल ही सर्वस्व था !

एक फकीर के पास एक कम्बल था। एक चोर ने फकीर का वह कम्बल चुरा लिया। फकीर चोरी से परेशान होकर पास के थाने मे गया। उसने वहां थानेदार को चोरी गई चीजो की एक एक लम्बी सूची लिखा दी। उसने अपनी रपट में लिखाया, उसकी रजाई, गद्दा, मसनद, छतरी, पाजामा, कोट और अनेक चीजें खो गई हैं।

फकीर द्वारा लिखाई गई चोरी गई चीजों की लम्बी फेहरिस्त की बात सुन कर चोर को गुस्सा आ गया। वह उसका कम्बल लेकर थानेदार के सामने आ पहुंचा। कम्बल सामने पटक कर चोर बोला—'जनाब, यही फकीर का फटा-पुराना कम्बल है और इसी की चोरी किए जाने पर यह फकीर लम्बी-चौड़ी फेहरिस्त लिखा गया है—उसने दुनियां भर की चीजें गुम हो जाने की शिकायत की है।'

फकीर ने तेजी से अपना फटा-पुराना कम्बल उठाया और वहां से छूमन्तर होना ही चाहता था कि थानेदार ने उसे रोका और झूठी रपट लिखाने के लिए फकीर को सख्त-सुस्त कहा।

फकीर ने जवाब में कहा—'नहीं-नहीं, मैंने कोई झूठी शिकायत नहीं लिखाई। यह कम्बल आप सबके लिए बेकार की चीज होगी, पर मेरे लिए तो यही गद्दा है, यही रजाई, यही मसनद और छाता है, यही मेरा पाजामा है और यही मेरा कोट। यही मेरी एकमात्र दौलत या जायदाद है।' उसने कम्बल का हर प्रयोग कर थानेदार और चोर को बता दिया कि उसकी बात में सच्चाई थी। वह कम्बल ही उसका सर्वस्व था।

सचमुच फकीरों और सन्तों के लिए एकमात्र भगवान् ही उनका सर्वस्व होता है।

—नरेन्द्र

# आर्यसमाजों के सत्संग

११ जुलाई'८१

अन्धा मुगल प्रतापनगर —स्वामी ओम् आश्रित; अशोक विहार के-सी-५२-ए-पं० मोहनलाल भजनोपदेशक; आर्यपुरा—पं० सुरेन्द्रकुमार शास्त्री; आर. के. पुरम सैक्टर-६—मास्टर ओम्प्रकाश आर्य;आनन्दविहार -प० सत्यदेव भजनोपदेशक; इन्द्रपुरी—प० देवराज वैदिक मिश्नरी; किंग्जवे कैम्प -- पं० रमेशचन्द्र शास्त्री; किशनगंज मिल एरिया—पं० प्राणनाथ सिद्धान्तालंकार; कालका जी डी-डी-ए फ्लैट्स—डा० सुखदयाल भुटानी; कृष्णनगर—प्रो० सत्यपाल बेदार; खिचड़ीपुर —पं० आशानन्द भजनोपदेशक; गांधीनगर—डॉ० रघुनन्दनसिंह; गीता कालोनी —पं० तुलसीराम भजनोपदेशक; ग्रेटर कैलाश-I-पं० सुधाकर स्नातक; गुड़मण्डी —श्रीमती प्रकाशवती शास्त्री; १५१-गुप्ता कालोनी—पं० प्रकाशचन्द्र वेदालंकार; गोविन्दपुरी--पं० हीराप्रसाद शास्त्री; जंगपुरा भोगल—प० सत्यभूषण वेदालंकार; जनकपुरी बी-३/२४—पं० रामदेव शास्त्री; टैगोर गार्डन—ला० लखमीदास; डिफेन्स कालोनी—पं० सत्यपाल मधुर; तिलक नगर—श्रीमती लीलावती आर्या; तिमारपुर —श्रीमती सुशीला राजपाल; दरिया गंज—पं० वेदव्यास भजनोपदेशक; नारायण विहार—पं० देवचन्द्र शास्त्री; पंजाबी बाग —श्री देशराज खन्ना; पंजाबी बाग —एक्सटेन्शन १४/३—पं० हरिदत्त शास्त्री; पश्चिमपुरी जनता क्वार्टर्स—पं० रामरूप शर्मा; बाग कड़ेखां -प० बरकतराम भजनोपदेशक; बसई दारापुर—प० ओम्प्रकाश भजनोपदेशक; बाजार सीताराम—पं० प्रकाशचन्द्र शास्त्री;बिरला लाइन्स —वैद्य रामकिशोर; माडल बस्ती—पं० ईश्वरदत्त; माडल टाउन—श्री चिमनलाल आर्य; महरौली —आचार्य रामशरण मिश्र शास्त्री; मोतीनगर—पं० अमरनाथ कान्त; रमेशनगर—पं० सीसराम भजनोपदेशक; राणा प्रतापबाग—प० उदयपाल शास्त्री; राजौरी गार्डन—पं० खुशीराम शर्मा; लड्डू घाटी—पं० गणेशदत्त वानप्रस्थी; लाजपत नगर—स्वामी प्रेमानन्द; लक्ष्मीबाई नगर—पं० मुनिशंकर वानप्रस्थी; लेखनगर त्रिनगर—स्वामी स्वरूपानन्द; पं० ज्योतिप्रसाद भजन मण्डली; लारेन्स रोड—प्रो० वीरपाल विद्यालंकार; विक्रम नगर श्री मोहनलाल गांधी; सुदर्शन पार्क—प्रो० भारतमित्र शास्त्री; सोहनगंज—कविराज बनवारीलाल शादां भजन मण्डली; सराय रोहेल्ला—पं० महेशचन्द भजन मण्डली, श्री निवासपुरी—प० वेदपालशास्त्री;शादीपुर—पं० केशवचन्द मुन्जाल; शालीमार बाग—प० जैमुनि शास्त्री; हौज खास डी-२०—प० चन्द्रभानु सि० भू० ।

—ज्ञानचन्द डोगरा, वेद प्रचार विभाग



## आर्यसमाजों के नए पदाधिकारी

आर्यसमाज लुधियाना रोड फीरोजपुर छावनी—प्रधान—श्री चमनप्रकाश नन्दा; उपप्रधान—सर्वश्री द्वारकानाथ वर्मा एवं रामचन्द्र आर्य; मन्त्री—श्री छज्जूराम आनन्द; उपमन्त्री—सर्वश्री किशोरचन्द्र एव धर्मपाल; कोषाध्यक्ष—श्री लालचन्द गुप्ता; पुस्तकाध्यक्ष—श्री सुभाष आनन्द; लेखा निरीक्षक—पवनकुमार महाजन ।

—०—

## सत्यार्थप्रकाश परीक्षाओं में अधिक परीक्षार्थी

**पारितोषिक दुगने कर दिए गए . युवक परिषद् का आयोजन**

दिल्ली । सन् १९८१ के वर्ष मे आर्य जगत् सत्यार्थ प्रकाश शताब्दी का आयोजन कर रहा है ; आर्ययुवक परिषद् भी इस वर्ष सत्यार्थ प्रकाश परीक्षाओ मे अधिक परीक्षार्थी बैठना चाहता है । परिषद ने सभी परीक्षाओं मे पारितोषिक दुगने कर दिए है । सर्वाधिक परीक्षार्थी बैठाने वाले आर्यसमाज एव शिक्षण सस्था को भी सौ-सौ रुपए भेंट किए जाएंगे ।

इसके अतिरिक्त मुसलमान, ईसाई एव पिछड़े वर्गों के भाई-बहनो को इस वर्ष अधिक से अधिक बैठने का प्रयत्न किया जाएगा । उनका उत्साह बढ़ाने के लिए विशेष पारितोषिक भी दिए जाएंगे ।

## मातृ मन्दिर कन्या गुरुकुल, डी० ४५।१२९, नई बस्ती, रामापुरा, वाराणसो

मातृमन्दिर कन्या गुरुकुल (भारतीय पद्धति से आवासी पब्लिक स्कूल) मे नव प्रवेश आरम्भ है । आर्ष पाठविधि के साथ साईंस, अंग्रेजी, गणित आदि विषयो के साथ पी० एच० डी० तक का उच्चाध्ययन, मासिक व्यय १००)रु० निर्धन मेधाविनी छात्राओ को छात्रवृतिया प्रवेश चयन द्वारा स्थान सीमित ।

उपर्युक्त शिक्षणक्रम व बाल विकाश में सक्षम गुरुकुलीय पद्धति से अभिज्ञ अध्यापिकाओ, सामान्य प्रबन्ध कार्य मे सहयोगी वानप्रस्थ महानुभावो व देवियो की आवश्यकता है। सादे व पुरुषार्थमय जीवन का अभ्यास आवश्यक है ।

—डॉ. पुष्पावती एम० ए०, पी.एच.डी.
दर्शनाचार्य, विद्यावारिधि

### भारत में इस्लामीकरण

(पृष्ठ ४ का शेष)

सम्मुख क्या लक्ष्य हैं, यह कुवैत स्थित 'अरब टाइम्स' मे इस्लामिक कल्चर सेंटर की प्रकाशित यह घोषणा हैं कि भारत के नौ करोड बीस लाख हरिजनो मे से कम से कम ६ करोड को मुसलमान बनाकर भारत मे मुसलमानो की सख्या अविलम्ब ही मौजूदा १३ करोड से २० करोड बनायी जा सकती है। इस सैंटर की बैठक मे २७ मुस्लिम देशो के प्रति निधि उपस्थित थे। यह भी निश्चय किया गया कि संसार के जिन देशो मे गैर मुसलमानों की हकूमत मे मुसलमान रहते हैं, वहां के मुसलमानो की 'होमलैंड' की माग की पूरी सहायता की जाएगी। भारत मे १९५१ से १९७१ के बीच की सख्या जहा ३५ प्रतिशत बढी, वहा हिन्दुओ की मात्र २ प्रतिशत ही बढ़ी। पैट्रोडालर के इन अरब देशो के धन से न केवल भारत विशेषत उत्तर प्रदेश, बिहार, उत्तर पूर्वी राज्य, असम मे कस्बो और गावो तक शानदार मस्जिदें मदरसे तथा अन्य इस्लामी सस्था धडाधड बन रही हैं, वहा ताजे समाचारो के अनुसार विश्व के एकमात्र हिन्दू राष्ट्र नेपाल के नगरो-कस्बो मे मस्जिद-मदरसे बन रहे हैं।। यह भी पता चला है कि ये अरब देश बगला देश के विस्थापित मुसलमानो को खूब धन देकर नेपाल मे घुसपैठ द्वारा वहा आबाद कर रहे हैं।

#### राष्ट्र रक्षा के लिए आर्यसमाज ही सक्षम

इस विषम और सकटपूर्ण स्थिति का मुकाबला, हिन्दू मात्र की सहायता से आर्यसमाज ही कर सकता है जिसकी सम्पत्ति प्रभु विश्वास के साथ त्याग, तपस्या, प्रचार की लगन और वैदिक धर्म की रक्षा के लिऐं जीवन के अन्तिम क्षण तक डटकर राष्ट्र घातको से जूझने का दृढ सकल्प है।

ई-३७ शास्त्रीनगर, जयपुर-६

—o—o –

### ससुराल वालों की मांग

(पृष्ठ ५ का शेष)

की जान लेने के पहले भी दो प्रयास किए गए थे, किन्तु वह बच गई। इन्ही सूत्रो के अनुसार घटना से दो दिन पूर्व कुसुम न अपने पिता को फोन पर बताया था कि इन ने लोगो यह धमकी दी है कि अगर वी० डी० ओ० सेट और स्कूटर नहीं मिले तो उसे मार दिया जाएगा।

[दहेज की बलिवेदीपर उसरी कलकत्ता की कुसुम बाला की न्योछावर हो जाने की घटना अत्यन्त हृदयस्पर्शी है, कुसुम की मृत्यु किन परिस्थयो में हुई, इसकी निष्पक्ष जाच सी० बी० आई० द्वारा होनी ही चाहिए। इसी के साथ यदि उसकी हत्या प्रमाणित होती है तो कानून और शासन तो अभियुक्तों के विरुद्ध कार्यवाही करेंगे ही, साथ ही समाज का भी यह पुनीत कर्त्तव्य है कि ऐसे धनलोलुप कन्याओ के हत्यारों का पूर्ण बहिष्कार किया जाए। —सम्पादक]

o—o—o

### आर्यसमाज के नए पदाधिकारी

आर्यसमाज रामकृष्णपुरम सैक्टर-९ प्रधान श्री हरबसलाल कोहली, उपप्रधान—सर्वश्री अर्जुनदेव, प्रेमनाथ, मन्त्री —श्री जगदीशसिह वर्मा, प्रचार-मन्त्री श्री ओम्प्रकाश कपूर, उपमन्त्री-सर्वश्री रूमालसिह व सतपाल राजपूत, कोषाध्यक्ष—श्री हरबशलाल कपूर।





दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के लिए श्री सरदारी लाल वर्मा द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा [illegible] प्रेस [illegible], [illegible] दिल्ली-३१ में मुद्रित। कार्यालय १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली फोन ३१०१५०

ओ३म्

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

# आर्य सन्देश

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा का साप्ताहिक मुखपत्र

एक प्रति ३५ पैसे वार्षिक १५ रुपये वर्ष ४ · अंक ४८ रविवार ११ आश्विन, वि० २०३८ २७ सितम्बर १९८१ दयानन्दाब्द १५७

## पुष्कर के समीप खड़ेकड़ी का पूरा गांव हिन्दूधर्म में दीक्षित

### पन्द्रह सौ मुसलमानों ने पूर्वजों का धर्म अपनाया

अजमेर। अजमेर से लगभग ११ किलोमीटर दूर फाईसागर और पुष्कर के निकट महाराजा अजयपाल और पृथ्वीराज की पुरानी राजधानी अजमेर के निकट खरेकड़ी गांव के चीता महेरात परिवारों के पन्द्रह सौ मुस्लिम धर्मावलम्बियों ने सीने पर पृथ्वीराज चौहान के बिल्ले लगा कर हिन्दू धर्म ग्रहण किया और सिंहगर्जना की—'हम पृथ्वीराज चौहान के वंशज हैं और हम पूरी तरह से पृथ्वीराज चौहान की भांति ही हिन्दू रीति-रिवाजों को अपनाएंगे और मुस्लिमों के रीति-रिवाज छोड़ देंगे।'

धर्म परिवर्तन-समारोह का आयोजन विश्व हिन्दू परिषद् तथा आर्य हिन्दू संगठनों ने किया था। इस मुस्लिम-बहुल गांव में अब केवल तीन परिवार ही मुसलमान रह गए हैं। ११ सितम्बर की रात्रि को रात्रि-जागरण किया गया। श्री कश्यदेव वानप्रस्थ के भजन और अभय घोष के सम्पादक श्री मूलचन्द्र आर्य के राजस्थानी भाषा में प्रवचन हुए। इस अवसर पर अनेक भजन मण्डलियां आई हुई थीं। १२ सितम्बर को प्रातः तीन मुस्लिम परिवारों को छोड़कर शेष ग्रामवासी गाजे-बाजे के साथ पहाड़ के शिखर पर बने हुए बाबा रामेश्वर के मन्दिर गए और प्रसादी चढ़ाई। वापस आकर निकटवर्ती गांवों के हजारों ग्रामीणों ने प्रसादी ग्रहण करके अपने माथों पर कुंकुम के टीके और सीने पर पृथ्वीराज चौहान के बिल्ले लगाए।

धर्म परिवर्तन समारोह के अवसर पर किसी अप्रिय घटना को रोकने के लिए गांवों में पुलिस तथा गुप्तचर पुलिस के जवान नियुक्त किए गए थे।

## सत्यार्थप्रकाश शताब्दी समारोह की विशाल तैयारी पूर्ण

उदयपुर। आगामी १६-१७-१८ अक्तूबर १९८१ को उदयपुर (राजस्थान) में अन्तर्राष्ट्रीय सत्यार्थप्रकाश शताब्दी समारोह की विशाल तैयारियां लगभग पूर्ण हो गई हैं। आकर्षक भण्डारी दर्शक मण्डप एवं प्रसिद्ध महाराणा भूपाल स्टेडियम के विशाल मैदान में एक लाख आर्य दर्शकों के बैठने एवं विभिन्न विद्यालयों, विश्रान्ति गृहों, धर्मशालाओं आदि में आवास एवं भोजन आदि की उत्तम व्यवस्था हो गई है।

शताब्दी के अवसर पर भव्य-नगर-कीर्तन, प्रदर्शनी, सत्यार्थ-भृत्-यज्ञ, सत्यार्थ प्रकाश सम्मेलन, राष्ट्र रक्षा सम्मेलन, धर्म रक्षा सम्मेलन, कवि सम्मेलन, आर्य-युवक तथा महिला सम्मेलन आदि के कार्यक्रमों की व्यवस्था की जा रही है। इस अवसर पर आर्य जगत के उच्चकोटि के संन्यासी, विद्वान, आर्यनेता देश-विदेश की प्रतिनिधि सभाओं, समस्त आर्यसमाजों, शिक्षण सस्थाओं, गुरुकुलों, आर्यवीर दल को आमन्त्रित किया गया है। दिल्ली प्रतिनिधि सभा के प्रधान एवं कार्यवाहक मन्त्री ने दिल्ली की जनता से अनुरोध किया है कि वह अधिक से अधिक गिनती में इस ऐतिहासिक अवसर पर उदयपुर पहुंचे। उदयपुर पहुंचने के लिए जनता प्रतिनिधि सभा और सम्बद्ध आर्यसमाजों से सम्पर्क कर सकती है।

## स्थिति गम्भीर हुई तो आर्यसमाज सीधी कार्यवाही करेगा

### विदेशी तत्त्वों द्वारा इस्लामीकरण की योजना चलने नहीं दी जाएगी —सार्वदेशिक सभा के वरिष्ठ उपप्रधान— श्री वन्देमातरम् की घोषणा

हैदराबाद। आर्यसमाज के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के वरिष्ठ उपप्रधान श्री वन्देमातरम् रामचन्द्रराव ने आरोप लगाया कि जमात-ए-इस्लामी हिन्द ने एक ऐसे राज्य के निर्माण की कल्पना की है जिसमें माननीय जीवन के हर क्षेत्र—व्यापार, बैंकिंग, शिक्षा, खेलकूद, पत्रकारिता, उद्योग, श्रमिक संगठनों का इस्लामीकरण कर दिया जाएगा। इसका लक्ष्य यह है कि मुसलमान राष्ट्र की मुख्यधारा से हमेशा के लिए पृथक् कर दिए जाएं।

श्री वन्देमातरम् ने कहा—जो विदेशी नागरिक इस्लाम की ओर से सामूहिक धर्मान्तरण कर रहे हैं, उनका लक्ष्य देश के राजनीतिक ढांचे को अस्थिर कर देना है। आर्यसमाज जमात-ए-इस्लामी द्वारा प्रचारित इस्लामीकरण की विचारधारा तथा इस्लाम में सामूहिक धर्मान्तरण होने के खतरे का पूरी दृढ़ता से सामना करेगा। अगर स्थिति ज्यादा गम्भीर हुई तो किसी प्रकार की सीधी कार्यवाही भी की जाएगी।

—०—

## लाला जगतनारायण की हत्या की कड़ी निन्दा

जालन्धर। पंजाब हिन्दू संगठन के संयोजक सर्व श्री वीरेन्द्र, चतुर्भुज मित्तल, भोलानाथ मिश्रा, जुगलकिशोर गोयनका, सरदारीलाल आर्यरत्न, मोहनलाल जख्मी, मेजर श्यामलाल, डॉ. कालीचरण ने एक संयुक्त प्रेस वक्तव्य में पूज्य लाला जगतनारायण की हत्या पर गहरा शोक प्रकट किया और कहा कि यह घटना पंजाब की राष्ट्रवादी जनता के लिए एक चुनौती है, जिसे यदि स्वीकार न किया गया तो भयानक परिणाम निकलेंगे। पंजाब की हिन्दू जनता विशेष रूप से चिन्तित है। आज यदि एक ऐसे प्रमुख व्यक्ति की हत्या हो सकती है तो उनके पश्चात् और कौन सुरक्षित हो सकता है। जिन लोगों ने लाला जगतनारायण की हत्या की है उन्होंने एक प्रकार से पंजाब के राष्ट्रवादी हिन्दुओं को चेतावनी दी है कि यदि उन्होंने अकाली दृष्टिकोण का समर्थन न किया तो उसका बुरा परिणाम होगा।

## अपनी सामाजिक दुर्बलताएं दूर कीजिए

### प्रो० शेरसिंह का उद्बोधन

दिल्ली। 'हजारों वर्षों से हिन्दुओं ने जन्मगत जात-पांत और छुआछूत का रोग पाल रखा है, अब इस रोग से छुटकारे का अवसर आ गया है। मीनाक्षीपुरम आदि के लिए हमें औरों को दोष देने के बजाय अपनी सामाजिक दुर्बलताएं दूर करनी चाहिए। यह प्रसन्नता की बात है कि तमिलनाडु के धर्माध्यक्ष और मठाधीश एक-एक हरिजन गांव को गोद लेकर उनकी शिकायत दूर करने का सिलसिला प्रारम्भ कर चुके हैं।' ये शब्द आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा नई दिल्ली के अधिवेशन पर आर्यनेता एवं भू० पू० केन्द्रीय मन्त्री प्रो० शेर सिंह ने रखे।

—सम्पादक नरेन्द्र विद्यावाचस्पति

# यज्ञ का अष्टविध दोहन

यज्ञस्य दो हो वितत: पुरुत्रा सोष्टधा दिवमन्वात तान ।
स यज्ञ धुक्ष्व महिमे प्रजायां रायस्पोषविश्वमायुरशीय स्वाहा ॥ यजु. ८-६२

ऋषि —वसिष्ठ । देवता-यज्ञ । छन्द —स्वराडार्षीत्रिष्टुप ।

शब्दार्थ—(यज्ञस्य) यज्ञ का (दोह:) दोहन (वितत) विस्तृत: और (पुरुत्रा) विविध है। (स) वह दोहन (दिवम्) वृद्धि का (अष्टधा) आठ प्रकार से (अनुअतान) सामर्थ्य के अनुसार विस्तार करता है।

(यज्ञ) हे यज्ञ (स)वह तू (मे प्रजायाम्) मेरी सन्तति मे (महि रायस्पोषम्) धन से तथा धन द्वारा होने वाले पोषण को प्रभूत मात्रा मे (धुक्ष्व) कर जिससे मैं (विश्व आयु) अपनी पूर्ण आयु को (अशीय) सुखपूर्वक भोग सकूं-व्यतीत कर सकू ।

निष्कर्ष —अग्नेऽभ्यावर्तिन्नभि मा निवर्तस्व,

आयुषा वर्चसा प्रजया धनेन सन्या मेधयारय्या पोषेण ॥ यजु १२-९

यज्ञ का दोहन यदि ठीक प्रकार से किया जाए तो वह आयु-तेज-सन्तान धन दान क्षमता-श्रद्धा-ऐश्वर्य और पोषण के द्वारा आठ प्रकार की वृद्धि करता है।

२. यदि यज्ञ सन्तान को धन-धान्य और पोषण से अच्छी तरह पुष्ट रखे, तभी वृद्ध जन अपनी पूरी आयु सुखपूर्वक व्यतीत कर सकते है, क्योकि यदि सन्तान के पास पर्याप्त धन-धान्य न हो तो वे वृद्ध पितरो की ठीक प्रकार सेवा-अर्चा नही कर सकते।

३ यज्ञ का अर्थ – केवल अग्नि होत्र न लेकर, क. वृद्ध पितरो और विद्वानो का किसी भी प्रकार का आदर-सत्कार, (ख) एक ही क्षेत्र में काम करने वालों के साथ किसी भी प्रकार का सहयोग और (ग) अपने से छोटो और अभाव-ग्रस्तो के साथ सब प्रकार की सहायता लेना चाहिए। जिस गृह, समाज या राष्ट्र मे ये तीनो कार्य होते हैं, वहा ऊपर चर्चित आठो प्रकार की वृद्धि स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

४. स्वाहा —यह बडे सुन्दर वचन अथवा उत्तम सूक्ति है। इस सूक्ति को सार्थक बनाने के लिए परार्थ के लिए अपने तुच्छ स्वार्थ का त्याग (ओहाक् त्यागे) करके सदा उन्नत रूप से प्रगतिशील (ओहाङ् गतौ) रहते हुए कर्म रत रहना चाहिए।

विशेष—अपने जीवन को यज्ञ रूप बनाने के लिए प्रयत्नशील रहता हुआ, दूसरो को भी बसाने का ध्यान रखे, ऐसे कार्य न करे जिससे दूसरे उजड़ जाए या बेघरबार हो जाएं। इस मन्त्र का छन्द त्रिष्टुप् सकेत करता है कि यज्ञ के तीनो अर्थों को आचरण मे ढालना ही गृह, समाज और राष्ट्र की त्रिविध सेवा या स्तुति है।

अर्थपोषक प्रमाण—दिवम्—दिव्यं स्वरूप सत्यप्रकाश वा । स्वामी दयानन्द । दिवम्–दिवु अर्दने=वृद्धौ । काशकृत्स्न: दोह दुह प्रपूरणे।

भावार्थ—यस्माद् यज्ञात् सर्वाणि सुखानि जायन्ते तस्यानुष्ठानं सर्वैर्मनुष्यैं कुतो न कार्यम् ॥ स्वामी दयानन्द । जिस यज्ञ से सब सुख प्राप्त होते हैं, इसलिए यज्ञानुष्ठान सब मनुष्यो को करना चाहिए। यजु: ८-६०

—मनोहर विद्यालंकार
५२ ईश्वर भवन,खारी बावड़ी दिल्ली-६



# विनम्रता

एक समय की बात है। ओलो की अचानक वर्षा से सारी फसल नष्ट हो गई, कुरु प्रदेश के एक गाव मे हाथीवान रहते थे। इसी गाव में एक निर्धन ऋषि उषस्ति चाक्रायण अपनी पत्नी के साथ रहने लगे। गाव में कहीं अनाज का एक दाना नही मिला। भूख से ऋषि बहुत व्याकुल हो गए। उन्होने देखा कि एक हाथीवान गले-सडे उडद खा रहा था। ऋषि ने हाथीवान से उन झूठे उड़दों की ही भिक्षा मांगी। ऋषि ने झूठे उड़दो से अपनी भूख मिटाई और बचे उड़द लाकर पत्नी को दे दिए। पत्नी पहले ही भिक्षा मागकर अपनी भूख का निवारण कर चुकी थी। पत्नी ने वे झूठे उड़द अगले दिन के लिए सम्भाल कर रख दिए।

ऋषि भूख के कारण बड़े लाचार और पस्त हो गए थे। अगले दिन झूठे उड़द खाकर वह कुछ शक्ति जुटाकर जीविका की खोज मे चल पड़े। एक जगह उन्होने देखा कि एक राजा एक यज्ञ करवा रहे थे, परन्तु यज्ञ के सब सूत्रधार महर्षि अपने काम मे अनाडी थे। ऋषि ने यज्ञ की विधि के बारे मे उन संयोजकों से कुछ प्रश्न पूछे, जिनका वे ठीक उत्तर नहीं दे सके। राजा ने यह दृश्य देखकर उनका परिचय पूछा। ऋषि ने उत्तर दिया, 'मेरा नाम उशस्ति चाक्रायण है।'

राजा ने कहा—'मैंने आपकी विद्वत्ता और आपका नाम सुना है। मैंने आपको बहुत ढुंढवाया था, पर आप मिले नही। अब आप ही इन ऋत्विजों के मुख्य ऋत्विज का कार्य करें।'

उशस्ति ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और कहा—'जितनी दक्षिणा इन लोगो मे तय हुई है, उतनी ही मैं लूंगा उसमें अधिक नही।'

ऋषि की उदारता देखकर दूसरे ऋत्विज प्रभावित हो गए। उन्होंने जब अपने यज्ञ कार्य मे त्रुटि पूछी तो ऋषि ने उनका समुचित समाधान कर दिया।

विद्या के साथ झूठा अहंकार भी पैदा हो सकता है, परन्तु यथार्थ विद्या वह है जहां विद्या के साथ विनम्रता भी हो। इसी के साथ निर्धन व्यक्ति भी गुणी और महान् हो सकता है।

—नरेन्द्र

# खाई जो पाखण्ड की है

—कविराज बनवारीलाल 'शादां'

फूल मानवता के फिर से, आज कुम्हलाने लगे।
भाई अपने भाइयों पर, कहर बरसाने लगे ॥

कुछ समझ बैठे थे हम, कुछ नजर आने लगे।
हिन्द के टुकड़े किये थे, हक और बतलाने लगे ॥

हमारे मित्र बनकर आए, हमसे दोस्ती करने।
हमीं से छल कपट करते, उल्टे दम लगे भरने ॥

हमारे घर मे ही रहकर, हमें आंखें दिखाते हैं।
मिटाना चाहें ये हमको, लगे सब ध्यान यह धरने ॥

वक्त की आवाज है, अब, एक सब हो जायें हम।
पक्षी है इक डाल के सब, एक स्वर हो गायें हम ॥

एकता ऐसी बनायें, सारा जग हैरान हो।
आएं जो उलझन सामने अब, प्रेम से सुलझाएं हम ॥

मधुर मधु या जहर कटु की बूद हमको चाखनी है।
ऋषि दयानन्द की प्रतिज्ञा, आज सबको राखनी है ॥

शादां मत भूलो कि हम, सन्तान आर्य वीरों की हैं।
खाई जो पाखण्ड की है, आज हमको पाटनी है ॥

— प्रधान, आर्यसमाज, मॉडल बस्ती नई दिल्ली-५

## हम यशस्वी बनें !

ओ३म् यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत ।
विश्वस्य भूतस्याहमास्मि यशस्तमः ॥ अथर्व. ६.३९.३

सूर्य यशस्वी है, अग्नि यशस्वी है और चन्द्रमा भी यशस्वी है और भगवान की कृपा एवं अपने तप, त्याग, प्रयत्न, संयम, अनुभव और परिश्रम से हम भी यशस्वी बनें ।

## भारत को नया संकट

राजनीति का एक बुनियादी सूत्र है कि किसी भी राष्ट्र का कोई स्थायी मित्र या शत्रु नहीं होता । प्रत्येक अपने हिताहित का ख्यालकर अपने साथी और विरोधी का निर्धारण करता है । अंग्रेजी शासन समाप्त होने पर स्वतन्त्र भारत की वैदेशिक नीति का सूत्र बड़े राष्ट्रों के गुटों से पृथक होकर अपनी पृथक तटस्थता सुरक्षित रखना रहा है। इस तटस्थता की नीति के फलस्वरूप भारत विश्व की राजनीति में पूरी तरह अलग-थलग पड़ गया है, उसका आज कोई सच्चा मित्र नहीं है, हां, समय-समय पर उसका अहित करने वाले कई राष्ट्र हैं । कल तक हमारे ही राष्ट्र का एक भूभाग हमारे पड़ोसी पाकिस्तान की नीति का एकमात्र सूत्र है—भारत का विरोध । अपने इस भारत-विरोध के लिए उसे संयुक्त राज्य अमेरिका से सदा सैनिक सहायता मिलती रही है । १९६५ और १९७१ के युद्धों में पाकिस्तान ने अमेरिकी शस्त्रास्त्रों तथा सैनिक सहायता के बल पर भारत के अस्तित्व को चुनौती दी थी । अब इस प्रकार की आशंका फिर है कि अमेरिका एक बार पुनः पाकिस्तान को प्रभूत सैनिक सहायता और नवीनतम हथियार देने के लिए कृतसंकल्प है ।

इन दिनों भारत के क्षितिज पर नया संकट मंडरा रहा है । संयुक्तराज्य अमेरिका के सहायक विदेश-मन्त्री जेम्स बकले ने स्वीकार किया है कि अमेरिका पाकिस्तान को ३० खरब २ अरब की मदद करेगा । वह उसे सर्वाधिक विकसित विमान, आधुनिक टैंक, स्वचालित शस्त्रास्त्र एवं सैनिकों के यातायात के लिए उपयुक्त सशस्त्र मोटर गाड़ियां तथा लड़ाकू हैलिकोप्टर देने जा रहा है । एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने स्वीकार किया है कि यह एक ऐसी आधुनिक युद्ध प्रणाली है, जिसे पाकिस्तान अपने सशक्त संघर्ष में भारत के विरुद्ध सरलतापूर्वक प्रयुक्त कर सकता है । हमारा पड़ोसी पाकिस्तान यद्यपि अफगानिस्तान में सोवियत रूस की सेनाओं की उपस्थिति के विरोध में अपनी शस्त्रसज्जा कर रहा है और उसे इसी आधार अमेरिका भी मदद कर रहा है, तथापि यह सारी व्यूहरचना भारत के विरोध में है ।

समय रहते भारत को सावधान और सन्नद्ध होना पड़ेगा । अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में हमें अपने मित्रों को ढूंढ़ना होगा । अतीत काल में संकट की घड़ियों में सोवियत रूस ने हमारी मदद की है, हम भविष्य में भी उसकी मैत्री पर विश्वास कर सकते हैं । इसी के साथ हमारे सहयोग के बावजूद मध्यपूर्व के अरब राष्ट्रों ने हमें कभी मदद नहीं की है भविष्य में भी हम उनकी सहायता पर भरोसा नहीं कर सकते । इसके लिए तो हमें जर्मनी, जापान, फ्रांस, इजरायल आदि उन राष्ट्रों की सहायता लेनी होगी जो विश्व की राजनीति में हमारी मदद कर सकते हैं । क्षितिज पर मंडराते नए संकट की रोकथाम के लिए हमें अपनी जनशक्ति को संगठित, सन्नद्ध करना होगा, अपने शस्त्रागार को प्रबल करना होगा और विश्व मोर्चे पर नए मित्र ढूंढने होंगे ।

—x—

## सामूहिक जनचेतना की आवश्यकता

१६ सितम्बर के दिन भारतीय राज्यसभा में तमिलनाडु में कुछ हरिजनों के सामूहिक धर्म-परिवर्तन विषयक विचार-विनिमय का उत्तर देते हुए केन्द्रीय गृह राज्य मन्त्री श्री योगेन्द्र मकवाना ने घोषित किया है कि सरकार एक धर्म से दूसरे धर्म में परिवर्तन का नियन्त्रण करने के लिए किसी प्रस्ताव को कानून का रूप देने नहीं जा रही है । सरकार का कथन है कि जब कोई व्यक्ति धर्म बदलता है, तब उसमें सरकार कुछ नहीं कर सकती । दक्षिण भारत में पिछले दिनों हुए सामूहिक धर्मान्तरण के पीछे विदेशी धन की ताकत को यद्यपि अभी केन्द्रीय शासन ने स्वीकार नहीं किया है, तथापि विभिन्न गैर सरकारी तथा सरकारी सूत्रों से इस के प्रभाव को मंजूर किया जा चुका है ।

केन्द्रीय कृषि राज्यमन्त्री आर. वी. स्वामीनाथन ने हरिजनों पर अत्याचार के अभियोग को निराधार कहा है । उन्होंने कहा है कि धन के लालच की बात को छुपाने के लिए ही ऐसा प्रचार किया जा रहा है । उन्होंने संवाददाताओं को यह सूचना भी दी है कि उन्हें मिली जानकारी के अनुसार तिरुचिरापल्ली की एक शिक्षण संस्था को एक अरब देश से तीन करोड़ रुपए मिले हैं और यह धन हरिजनों को मुसलमान बनाने के लिए बांटा जा रहा है । केन्द्रीय गृह राज्यमन्त्री के वक्तव्य से ध्वनित होता है कि दक्षिण में हरिजनों के सामूहिक धर्मान्तरण को रोकने के लिए सरकारी तन्त्र पर भरोसा नहीं किया जा सकता, इसे रोकने के लिए सवर्ण हिन्दुओं को अपनी रीति-नीति बदलनी होगी और आर्यसमाज सरीखी संस्थाओं का सम्पूर्ण देश में सामूहिक जनचेतना उत्पन्न कर जनता को इस आसन्न खतरे से सावधान करना होगा ।

### चिट्ठी-पत्री

## स्तरीय स्वदेशी स्कूलों का अभाव दूर होना चाहिए

९ अगस्त '८१ के 'आर्य सन्देश' में मिशनरी स्कूलों में घटी दो दुखद घटनाओं का विवरण पढ़ा । स्वाधीन भारत में अंग्रेजी की गुलामी निश्चय ही दुर्भाग्यपूर्ण बात है । देश के भावी कर्णधारों (बालक-बालिकाओं) को जब राष्ट्र-प्रेमी संस्थाओं अथवा विद्वान लोगों द्वारा संचालित स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करने के अवसर सुलभ नहीं होंगे, तो उन्हें विवश होकर अंग्रेजी माध्यम वाले स्कूलों में प्रवेश लेना पड़ेगा । यह निःसकोच रूप से कहा जा सकता है कि स्वाधीनता प्राप्त करने के ३४ वर्षों बाद भी हमारे देश में मिशनरी-स्कूलों के समान स्तरीय शिक्षा प्रदान करने वाले स्कूल उंगलियों पर गिनने लायक होंगे ।

कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली तथा मद्रास जैसे महानगरों में कुछ स्तरीय स्कूल नामवर धनिकों द्वारा चलाए जा रहे हैं, परन्तु उनमें प्रवेश पाना मिशनरी स्कूल से भी मंहगा है जो सामान्य आय वाले पालकों के लिए चुनौती जैसा ही है । जरूरत इस बात की है कि आर्यसमाज जैसी राष्ट्रीय विचार-धारा वाली स्वदेशी संस्थाएं शिक्षा और स्वदेशी संस्कारों की महत्ता को ध्यान में रख कर अच्छे स्कूलों का निर्माण करें ।

—व्रजभूषण दुबे (एम. एस. सी )
३०, गोराचद रोड, कलकत्ता-७०००१४

## लन्दन के एक विद्यालय में संस्कृत अनिवार्य

लन्दन के हृदय स्थान ९१ क्वीन्सगेट, केन्सिंगटन में श्री निकलसन डीनहम के संचालन में सेण्ट जेम्स इण्डीपेण्डेण्ट विद्यालय है । विद्यालय में पिछले तीस वर्षों से संसार के विभिन्न धर्मों और दर्शनशास्त्रों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया और उन्हें दैनिक जीवन में कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया गया ।

वर्षों के लम्बे अध्ययन एवं व्यावहारिक परीक्षणों के बाद अनुभव किया गया कि विश्व में सर्वोत्तम संस्कृति वैदिक संस्कृति है । फलतः वैदिक संस्कृति और सभ्यता का व्यापक अध्ययन करने के लिए संस्कृत भाषा का अध्ययन अनिवार्य कर दिया गया । प्रारम्भ में भारतीय विद्वान जायसवाल ने संस्कृत भाषा का अध्ययन कराया परन्तु अब प्राध्यापक मैकल संस्कृत पढ़ाते हैं ।

श्री डेबनहम के अनुसार इस विद्यालय के ९९ प्र० श० छात्र अंग्रेज है, ५० प्र०श० छात्राएं हैं । सहशिक्षा की व्यवस्था नहीं है । यद्यपि वर्ष में १६०० पाउण्ड का शुल्क देना पड़ता है, तथापि विद्यालय में प्रवेशार्थियों की भीड़ लगी रहती है। विज्ञान, गणित, इतिहास, भूगोल, समाजशास्त्र आदि सभी विषयों में शिक्षकों के लिए संस्कृत का ज्ञान आवश्यक है । विद्यालय के सभी शिक्षक अंग्रेज हैं । यहां पूर्व के चिन्तन की गहराई तथा पश्चिम की तीव्र गति का समन्वय है । प्रतिदिन विद्यालय का प्रारम्भ खड़े होकर आंख मूंदकर हाथ जोड़कर छात्र 'ओ३म् परमात्मने नमः' की प्रार्थना से करते हैं ।

गुरुकुल कांगड़ी में मेरे आठ दिन (२)

# विद्यालय की सर्वांगीण उन्नति की जाए

मेरी विचारधारा यह है कि गुरुकुल की रीढ की हड्डी विद्यालय विभाग है और हमे इसे उन्नत करने के लिए हर सम्भव उपाय की खोज करनी चाहिए। इस विभाग केछात्र ७-८ वर्ष की उम्र मे लिए जाते रहे हैं, उन्हे छात्र न कह कर ब्रह्मचारी कहा जाता रहा है, उन्हे सध्या हवन कराया जाता है, वे छात्रावास मे रहते हैं, उनके कोमल मन पर गुरुकुलीय विचारों के सस्कार डाले जा सकते हैं। उनका जीवन हम जिस दिशा मे ढालना चाहें ढाल सकते हैं। जो विश्वविद्यालय मे छात्र भर्ती होते हैं वे १७-१८ वर्ष के होने हैं, उनपर हमारी विचारधारा, हमारी सस्कृति हमारे लक्ष्यों का छाप डाल सकना उतना सरल नही है जितना ७-८ वर्ष के बालको के जीवन पर डाल सकना सम्भव है। ऐसी स्थिति मे हमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति विद्यालय विभाग को समुन्नत करने के लिए लगानी ही उचित है। विभाग इतना विशाल हो जाना चाहिए कि हमारे विश्वविद्यालय मे भर्ती होने वाले छात्रो का यही फीडर हो जाना चाहिए। पहले के युग मे ऐसा ही था। यही कारण था कि उस समय के स्नातक जो अपने जीवन के प्रारम्भिक १० वर्ष गुरुकुल विद्यालय मे व्यतीत कर चुके होते थे, वे महाविद्यालय मे आकर गुरुकुलीयता के रंग मे रंग जाते थे। इस स्थिति को लाने का एक ही उपाय है। वह उपाय यही है कि विद्यालय का हर स्तर उन्नत किया जाए जिससे हर माता पिता को, गुरुकुल-स्नातको को, सभा के अधिकारियो को अपने पुत्र गुरुकुल मे प्रविष्ट करने की इच्छा हो नही, उत्सुकता उत्पन्न हो।

### सब सुविधाएं हैं

गुरुकुल के पास क्या नही है जो अच्छे से अच्छे किसी भी पब्लिक स्कूल के पास है? यहा विशाल परिसर है, उत्तम भवन है, छात्रावास है, खेलने के लिए अनेक क्रीडाक्षेत्र हैं, स्विमिंग पुल की जगह चौड़े पाट की लम्बी-चौड़ी नहर है, खेलने-कूदने की सब सुविधाएं हैं। इतना सब कुछ होने हुए भी हमारे छात्रो का जीवनस्तर अनाथालयो के छात्रो के समान है। इसके दो कारण हैं एक तो यह कि हमने अध्यापको का स्तर ही बहुत निम्न रखा हुआ है, दूसरा यह कि हम अब तक इसी सोच मे हैं कि छात्रो के अभिभावको से कम मे कम व्यय लिया जाए। विद्यालय विभाग का संचालन करने वाला कोई ऐसा व्यक्ति नही है जो अपनी सारी शक्ति को इसे इतना ऊचा ले जाने में व्यय कर दे जिस मे इसकी ऐसी स्थिति हो जाए कि हम पब्लिक स्कूलों की तरफ झांकने के स्थान में पब्लिक स्कूलो के सचालको को गुरुकुल विद्यालय को अपना आदर्श मानने मे विवश कर दें। इस दिशा मे कार्य करने वाले होनहार स्वप्नद्रष्टाओ का कभी संग्रह था, अब ऐसे व्यक्तियों की खोज की जा सकती है। परन्तु आज की विकट आर्थिक स्थिति मे उनके जीवन-स्तर को भी उच्च बनाये रखना होगा। मेरी सम्मति मे विद्यालय विभाग के लिए उच्चकोटि के शिक्षाप्राप्त कोई व्यक्ति ढूढना पड़ेगा जिसे शिक्षा जगत् का अनुभव हो, स्वप्नद्रष्टा हो, गुरुकुल विद्यालय को ऊंचे स्तर पर ले जाने के लिए कृतसकल्प हो और जिसकी आर्थिक समस्या को हम पूर्णतः हल कर सकें। इसके साथ उसे हमे ऐसे अध्यापक देने होंगे जो उच्च कोटि के शिक्षाविज्ञ हों।

उच्च स्तरीय जीवन से मेरा क्या अभिप्राय है? उच्च-स्तरीय जीवन से मेरा यह अभिप्राय है कि बच्चो के कपड़े साफ-सुथरे हो, भोजन व्यवस्था मे उनके बैठने आदि की सुव्यवस्था हो, भले ही वे भूमि पर बैठकर भोजन करें, परन्तु बैठने के आसन फटे पुराने न हो, उनके खाने के बर्तन एक सम्पन्न घराने के बर्तनो के समान हों उनके खेलने के समय के वस्त्रो को देखकर ही पता लगे कि वे खेलने के वस्त्र हैं, उनके मूत्रालय, शौचालय युग के समान हों। भोजन मे दूध. दही फल सब कुछ मिलता हो, पहनने के कपड़े सब एक से हो, बिस्तर ढग के हो छात्र उनको ढंग से रखें—माता-पिता स्वयं कहें कि यह उच्च स्तर है, वे यह न कहें कि क्या अनाथालय बना रखा है।

### बहु-भाषाभाषी बनें

शिक्षा की दृष्टि से विद्यार्थियों की शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे वे हिन्दी सस्कृत तथा अंग्रेजी मे-तीनों भाषाओं मे ऐसे बातचीत कर सकें जैसे ये तीनो उनकी मातृभाषा के समान हों। हिन्दी मे वे ऐसे बोलें और लिखें जैसे कोई शुद्ध हिन्दी का विद्वान बोलता या लिखता है, सस्कृत मे वे ऐसे बोलें और लिखे जैसे बनारस का पण्डित बोलता या लिखता है, अग्रेजी मे वे ऐसे बोले और लिखें जैसे कोई पब्लिक स्कूल का बालक बोलता या लिखता है। इसमें क्या कठिनाई है? भाषा बोलने से और सुनने से सीखी जाती है। गुरुकुल के आश्रम में हमे दो ऐसे सस्कृत के पण्डित रखने चाहिएं जो ब्रह्मचारियो से हर समय सस्कृत में बात करे, इसी प्रकार हमे दो ऐसे अंग्रेजी के धुरन्धर वक्ता अध्यापक रख देने चाहिए जो ब्रह्मचारियों से हर समय अंग्रेजी मे बात करें। शुद्ध भाषा का ज्ञान मनुष्य के जीवन स्तर को अपने आप ऊंचा कर देता है। हमारे बालक त्रिभाषी हों, और त्रिभाषी ऐसे, जो देश की तीन मुख्य भाषाओं में अपने हर विचार को प्रकट कर सकें. तो शिक्षा के क्षेत्र को यह हमारी विशेष देन ही नहीं होगी, यह हमारे कुल की एक विशेषता होगी। बम्बई में प्रायः बच्चे त्रिभाषी होते हैं। वे हिन्दी, मराठी, गुजराती तीनों भाषाओ को ऐसे बोलते हैं जैसे वे उनकी मातृभाषा हो।

मैंने देखा कि विद्यालय मे सायंकाल सोने से पहले देश के समाचारों को लाउडस्पीकर से हिन्दी मे प्रसारण की प्रथा चालू कर दी गई है। यह बहुत उत्तम योजना है। मेरा परामर्श है कि ये समाचार पहले हिन्दी मे फिर संस्कृत में फिर अंग्रेजी में—तीनो भाषाओं में प्रसारित किए जाए जिससे हर छात्र को इन तीनों भाषाओ के सुनने का अवसर प्राप्त हो। इससे भी प्रत्येक छात्र की इन तीनो भाषाओं में गति बढ़ेगी।

### जीवन-लक्ष्य निर्धारित हो

उक्त सब बातों के अलावा एक तीसरी बात है जिसकी तरफ हमारा ध्यान जाना चाहिए। विद्यालय में भर्ती होने वाले ७-८ वर्ष के ब्रह्मचारियो का जीवन मे क्या लक्ष्य है? ७-८ वर्ष का बालक तो इस दिशा में सोच ही नहीं सकता, परन्तु उनको शिक्षा देने वाला अध्यापक तो कुछ वर्षो तक छात्र के स्वाभाविक विकास की दिशा को देखकर यह समझ सकता है कि इस छात्र की जीवन मे क्या क्षमता है। हमारे अध्यापक इस उच्च तथा इस योग्यता के होने चाहिए जो अपने छात्रों की प्रवृत्ति तथा योग्यता को देखकर यह निश्चय कर सकें कि वे अपने छात्र को जीवन की किस दिशा मे ले जा सकेंगे। आज का युग प्रतियोगिता का युग है। जो जीवन में एक जगह खड़ा रहता है वह खड़ा ही रह जाता है। जीवन प्रगति का नाम है। अगर किसी विद्यार्थी के जीवन का लक्ष्य समाज सेवा, धर्मप्रचार है, तो उसे सुविधा देना, उसके लिए सब सम्भव सामग्री उपस्थित करना हमारी संस्था का कर्त्तव्य है। अब तक हमारा जो लक्ष्य रहा है, उसमें थोड़ी बहुत सफलता मिली है, परन्तु उस लक्ष्य के बावजूद हमारे अधिकांश स्नातक आजीविका के अन्य क्षेत्रों की तरफ प्रयत्न कर रहे हैं। इस विकट तथ्य को हमें स्वीकार करना होगा और इस दिशा में विशेष प्रयत्न करना होगा। अगर हमारा विद्यार्थी ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत कर वेद मन्त्रों का अध्ययन कर, हमारी सस्कृति में ओतप्रोत होकर, प्रतियोगिताओं की परीक्षा में बैठकर आई. ए. एस. मे आ जाता है, पुलिस का उच्च अधिकारी बन जाता है या अन्य किसी सरकारी पद को प्रतियोगिता में सफल होकर प्राप्त कर लेता है, तो समझना चाहिए कि वह एक बड़े ध्येय से हमारा उपदेशक बन जाता है। जैसा मैं विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में लिख चुका हूं, वहां के छात्रों को हमें तत्काल सर्वोच्च सरकारी सेवाओं के लिए तैयार करना चाहिए क्योंकि उस दिशा मे सक्रिय होने से हमें तत्काल फल मिल सकता है, वैसे विद्यालय के सम्बन्ध में मेरे विचार में हमे शुरू से ही ब्रह्मचारियों की योग्यता और क्षमता को पहचान कर उन्हें प्रतियोगिताओं में बैठने के लिए तैयार करना चाहिए।

लेखक :
डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार
विजिटर, गुरुकुल कांगड़ी
विश्वविद्यालय, हरिद्वार

### सब तत्त्व संस्था के अंग

गुरुकुल के परिसर में इस समय तीन तत्त्व दिखाई देते हैं। एक तत्त्व आयुर्वेद के विभाग के कार्यकर्त्ताओं का है, एक तत्त्व विश्वविद्यालय के कार्यकर्त्ताओं का है, एक तत्त्व विद्यालय विभाग के कार्यकर्त्ताओं का है। सब समझते हैं कि वे सब एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं, वे नहीं समझते कि वे जो कुछ हैं, गुरुकुल के अंग होने के कारण उन्हें वह सत्ता प्राप्त है। सब अपनी-अपनी ऐंठ में हैं। आयुर्वेद विभाग गुरुकुल ने खोला था और गुरुकुल का था, इस समय गुरुकुल के परिसर में है। यह दुःख का विषय है कि कुछ अदूरदर्शिता के कारण यह गुरुकुल के हाथ से निकल गया। अब भी प्रयत्न होना चाहिए कि वह गुरुकुल विश्वविद्यालय का अन्य कालेजों के समान अंगभूत हो जाए।

इसके तीन उपाय हैं। एक उपाय तो यह है कि आयुर्वेद के परीक्षोत्तीर्ण छात्रों के लिए गुरुकुल विश्वविद्यालय द्वारा पी. एच. डी. के निबन्ध लिखने की व्यवस्था कर दी जाए, जिस निबन्ध पर विश्वविद्यालय की तरफ उपाधि प्रदान की जा सके; दूसरा उपाय है कि

(शेष पृष्ठ ६ पर)

# हे नारी,
# तू सच्चा जागरण ला !

मनु भगवान् ने किसलिए घोषणा की थी ?

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता'

इस लिए क्योंकि नारी धर्म का आधार है, राष्ट्र की पोषिका है, समाज की नेत्री है। इतिहास साक्षी है, श्रद्धा ने मनु का, तारा ने हरिश्चन्द्र का, सीता ने राम का, कुन्ती ने पाण्डवो का, लक्ष्मी बाई ने देश का नेतृत्व किया।

निस्सदेह मध्यकाल मे नारी को शिक्षा से वंचित कर दिया गया 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयताम्' के नारे लगाए गए।


लेखक :

**श्रीमती प्रकाशवती बुग्गा**

शास्त्री, एम०ए०,एल०टी


घोर अपमान, घोरपतन, चोट असह्य थी, पीड़ा दयनीय मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने तो एक पाषाणी अहल्या का का उद्धार किया था, ऐसा सुनते हैं परतु ऋषि दयानन्द ने तो पूरी नारी जाति का उद्धार कर दिया। उन्होने कहा 'नारी राष्ट्र का आधार है।'

'माता निर्मात्री भवति' पैर की जूती समझी जाने वाली नारी को ब्रह्मा से दूसरे दर्जे का स्थान मिला। नारी की लोह शृंखलाएं टूट गईं, उसने प्रकाश के दर्शन किए, स्कूल खुले, कालिज खुले, उन्नति के सारे साधन मिले, आज नारी शिक्षिका है, डाक्टर है, वकील, डिप्टी-कमिश्नर है क्या नहीं ? प्रधानमन्त्री भी है।

पर यह क्या ? प्रकाश की किरणो से अंधकार कैसे फूट निकला ? नारी अपने कर्त्तव्य को भूल गई। विलासिता की पुतली बन गई, धर्मपत्नी का पद त्याग फिल्म स्टार बनने का स्वप्न देखने लगी।

मृगतृष्णा में घूमने वाली हिरणी ! विवेक से काम ले, इस मार्ग से न तुझे मान मिलेगा। न तेरे अधिकारो की सुरक्षा होगी। अपनी भारतीय सस्कृति की शरण मे लौट जा, आर्य समाज के शत-शत मदिर तेरे उपदेशो के बिना सूने पडे हैं। राजा जनक की सभा मे गार्गी और सुलना बनकर तुझे तो मान मिलेगा वह फैशन की दुनिया मे नही,

देश मे हाहाकार मचा है, काला धन, भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, चोरी, डकैती के असुरो की सेना बढती चली जा रही है। दुर्गा बन कर इन का सहार कर दे, सादा, तपस्वी जीवन बना, अपनी शक्ति को पहचान,

सच्ची माता बन कर देश को सच्चे ब्राह्मण दे, वीर क्षत्रिय दे, ईमानदार वैश्य और तपस्वी शूद्र दे, मदालसा बनकर बच्चो को वेदकी कल्याणी वाणी पढा, फिल्मी सगीत के विष से उनकी बुद्धि उनके चरित्र को विषैला बनने से रोक। विदुला बनकर उन्हे कर्त्तव्यबोध करा, पद्मिनी बनकर अपने शील की स्वयमेव रक्षा कर, धर्मपत्नी बन, पुरुष को धर्मपूर्वक धनार्जन करना सिखा, शृंगार के साधनो के लिए धन की भूख त्याग दे, अपने घर मे घोषणा कर दे, 'मेरे घर मे केवल धर्म की कमाई आएगी, पाप की नही.'

जाग ! अब बाले जाग, तेरे जागते ही राष्ट्र जाग जाएगा, विश्व जाग जाएगा, तेरे कर्त्तव्य पथ पर चलते ही, राष्ट्र उन्नति के सच्चे मार्ग पर चल पड़ेगा ! जाग वाले जाग। तू उषा है तू विभावरी है, जाग और दूसरो को जगा ॥


१४, जैनमदिर, राजाबाजार
नई दिल्ली


## आर्य विद्वान् प्रो० जोशी का स्वर्गवास

रामजस कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय में हिन्दी के वरिष्ठ प्रवक्ता, संस्कृत एवं भाषा विज्ञान के प्रकाण्ड विद्वान् आर्य विचारक प्रो० गोपालदत्त जोशी का ३० अगस्त, १९८१ को राजकीय चिकित्सालय कोटद्वार गढ़वाल में ५८वर्ष की आयु में स्वर्गवास हो गया। गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् उन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय से हिन्दी, संस्कृत, भाषाविज्ञान मे एम. ए. की डिग्री प्राप्त की थी। उन्होने लखनऊ विश्वविद्यालय शिया कालेज मे अध्यापन कार्य किया था। कट्टर आर्यसमाजी थे, आर्यमित्र लखनऊ के सम्पादक रहे और स्वतन्त्रता आन्दोलन मे अनेक बार जेल गए। वह अपने पीछे शोकसन्तप्त पत्नी, तीन पुत्र और दो पुत्रियां छोड गए हैं। परमात्मा दिवंगत आत्मा को सद्गति देंगे और शोक-सन्तप्त परिजनो को सान्त्वना देंगे।

# युगद्रष्टा महर्षि दयानन्द

गतांक से आगे—

उनका सम्पूर्ण प्रयास वैज्ञानिक अन्वेषण में ही निहित है। सत्-असत् विवेक का मूलाधार विशुद्ध ज्ञान-चिन्तन एव आत्म-साक्षात्कार है। उन्होंने घोषित किया कि वैदिक समाज स्वस्थ जीवन-मूल्यों, वैज्ञानिक अन्वेषण, व्यक्ति एव समाज के सामजस्य और उचित संतुलन पर आधारित रहा है। समाज मे गति और सर्जनात्मकता को बनाए रखने के लिए दायित्व बोध एव आत्मानुशासन की क्षमता का विकास अपरिहार्य है। उन्होंने भारतीय सामाजिक जीवन की स्थापना और उसका सघटन भारतीय परिवेश मे नए सदर्भों एव जीवन मूल्यो के आधार पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से किया। तत्कालीन प्रचलित अन्धविश्वासो, वर्ग-भावना जाति-पाति का रूढियो, कुरीतियों एवं अस्पृश्यता पर उन्होने जबर्दस्त प्रहार किया। तत्कालीन भारतीय हिन्दू समाज मे वर्ण-व्यवस्था के नाम पर जो सामाजिक अन्याय एवं निम्न जातियो का शोषण हो रहा था, उसका उन्होने घोर विरोध किया। उनका दृष्टिकोण भारतीय जनसमाज का सर्वांगीण विकास था। उन्होने जन्माश्रित वर्ण व्यवस्था के स्थान पर कर्माश्रित व्यवस्था को अपना व्यापक लक्ष्य बनाया।

खान-पान के सम्बन्ध मे उनके बहुत उदार विचार है, जिसमे छुआछूत की भावना को बिल्कुल स्थान नहीं है। केवल भोजन बनाने मे शुद्धता एवं पवित्रता को रखने की सलाह दी थी। इस विषय मे उनका विचार था 'आर्यों के घर में शूद्र एव मूर्ख स्त्री-पुरुष पाकादि करे, किन्तु वे शरीर वस्त्र आदि से पवित्र रहें।' विवाहादि के मामलो मे बाल-विवाह को उन्होने भारतीय समाज का अभिशाप कहा। एक स्थान पर वह लिखते हैं कि 'सोलहवे वर्ष से चौबीस वर्ष तक कन्या और पचीसवें वर्ष से लेकर अडतालिसवें वर्ष तक पुरुष का विवाह समय उत्तम है। ···· जिस देश में इस प्रकार के विवाह की विधि श्रेष्ठ ब्रह्मचर्य एव विद्याभ्यास होता है वह देश सुखी एवं जिस देश मे ब्रह्मचर्य विद्या-ग्रहण रहित और अयोग्यों का विवाह होता है वह देश दु ख मे डूब जाता है।' महर्षि दयानन्द स्वयवर (अन्तर्जातीय) विवाहों को प्रोत्साहन देते हुए लिखते हैं 'जब तक इसी प्रकार सब ऋषि, मुनि, राजा, महाराजा आर्य लोग ब्रह्मचर्य से विद्या पढ के विवाह करते थे, तब तक इस देश की सदा उन्नति होती थी। जब से ब्रह्मचर्य विद्या का न पढ़ना और बाल्यावस्था में पराधीन अर्थात् माता-पिता के अधीन विवाह होने लगा तब से क्रमश· आर्यावर्त्त देश की हानि होती चली गई। महर्षि दयानन्द ने अपने सत्यार्थ प्रकाश में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थादिसबके कर्त्तव्यों का निरूपण किया। है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ में प्रविष्ट हुए बिना संन्यासी होने के सबध मे वह लिखते हैं कि जिस पुरुष और स्त्री को विद्या, धर्मबुद्धि और सब ससार का उपकार करना ही प्रयोजन हो वह विवाह न करें। जैसे पचशिखादि पुरुष और गार्गी स्त्रिया हुई थी। इसलिए संन्यासियो का होना अधिकारियो को उचित है और जो अनधिकारी चेष्टा करेगा वह आप तो डूबेगा ही औरों को भी ले डूबेगा।' वेद तथा अन्य आर्ष (प्राचीन) ग्रथो के आधार पर उन्होने


लेखिका :

**कुमारी ज्योत्स्ना शुक्ल, एम०ए०**


राजधर्म के विषय मे लिखा है—'राजा और प्रजा के पुरुष मिल सुखप्राप्ति और विज्ञान वृद्धिकारक हो, राजा-प्रजा के सम्बन्ध रूप व्यवहार की तीन सभाए अर्थात विद्यार्य सभा,धर्मार्य सभा,राज्यार्य सभा नियम बनाकर बहुत प्रकार से समाज प्रजा प्रजा सम्बन्धी मनुष्यादि प्राणियों को सब ओर से विद्या, धर्म, सुशिक्षा और धनादि से अलकृत करें।" तीनों सभाओ की सम्मति से राजनीति के उत्तम नियम एव नियमों के अधीन सब लोग कार्य करें। सबके हितकारक कार्यों में सम्मति करें। सर्वहित करने के लिए परतन्त्र एव धर्मयुक्त कार्यों मे अर्थात् जो-जो निजकार्य हैं उनमे स्वतन्त्र रहें।'

महर्षि दयानन्द के धार्मिक विचार बहुत ऊँचे थे। उन्होने सत्य एव धर्म में अभेद निरूपित किया है। उनके अनुसार श्रेष्ठ मानव मूल्यों की प्राप्ति ही सच्चा धर्म है। उनके धर्म की व्यापक परिकल्पना वैदिक-सस्कृति, भारतीय परिवेश एव भारतीयता की सजग पृष्ठभूमि मे उपजी एव पनपी। उनका धर्म विश्व के श्रेष्ठ धर्मों में निहित मानवीय मूल्यो एवं सृजनशीलता से उद्बुद्ध एक विशुद्ध वैज्ञानिक आधार भूमि पर खड़ा विशाल वट वृक्ष है, जिसमे लौकिक, पारलौकिक शान्ति प्रगति एवं निर्माण की अजस्र चेतना प्रवहमान है। डा० रघुवश के शब्दों में—'इसके अन्तर्गत सामाजिक

(शेष पृष्ठ ७ पर)

# आर्य जगत् समाचार

## इस्लाम धर्म के प्रचारक बेतिया के इमाम मौलाना खुर्शीद आलम हिन्दू धर्म में प्रविष्ट

बेतिया। ६ सितम्बर के दिन आर्यसमाज मन्दिर बेतिया में कई हजार स्त्री-पुरुषो की उपस्थिति मे बेतिया इलाके के इमाम मुस्लिम धर्म के प्रवक्ता मौलाना खुर्शीद आलम ने हिन्दू धर्म के सिद्धान्तो से प्रभावित होकर स्वेच्छया अपने परिवार सहित हिन्दू धर्म स्वीकार किया। शुद्धि संस्कार पं० भगवान शर्मा ने सम्पन्न कराया इस अवसर पर भारतीय जनता पार्टी के कार्यकर्त्ता और नगर के गणमान्य व्यक्ति उपस्थित थे।

खुर्शीद आलम उर्दू-फारसी के आलिम-फालिज और भारतीय जनता पार्टी के सक्रिय कार्यकर्ता हैं। उनके पूर्वज मिश्र ब्राह्मण थे, उनके पास इसके पारिवारिक दस्तावेज हैं। उन्होने किसी लोभ-लालच से नही शुद्ध मन से हिन्दू धर्म स्वीकार किया है। इमाम के परिवार के सदस्यों ने अपने नामोका परिवर्तन इस प्रकार किया है - मौलाना खुर्शीद आलम —श्री जयप्रकाश आर्य, श्रीमती जैबुन्निसा (पत्नी) —श्रीमती उर्मिला आर्या, जमाल खुर्शीद (पुत्र)—श्री ओमप्रकाश आर्य; अजुमन (पुत्री) सुश्री अंजलि आर्या निकहत (पुत्री) सुश्री कुसुम आर्या।

—×—

## वेदों का ज्ञान अपौरुषेय

### ऋषि वैदिक ऋचाओं के कर्त्ता : वेद संगोष्ठी में श्री मनोहर

दिल्ली। दिल्ली विश्वविद्यलय मे डा० प्रह्लादकुमार के ३७ वें जन्मदिवस पर आयोजित एक वेद-सगोष्ठी मे मुख्य अतिथि के पद से बोलते हुए संस्कृत विभाग के प्रोफेसर तथा अध्यक्ष डा० सत्यव्रत ने कहा कि प्रह्लाद वेदो के पण्डित थे। उनका कहना था कि वैदिक ऋषियो को वैदिक ज्ञान का स्वाभाविक स्फुरण हुआ था।

सगोष्ठी में श्री मनोहर विद्यालंकार ने 'वेदों के ऋषि' विषय पर अपने शोध-पूर्ण निबन्ध में बताया कि वेदों मे ऋषि शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। इनमे आत्मा और परमात्मा अर्थ भी हैं। पाश्चात्य विचारकों ने ऋषियो को वैदिक ऋचाओंका कर्त्ता माना है,जिस पर अत्यंत गम्भीरता से विचार होना चाहिए। वेदों में चार सौ से अधिक ऋषियो के नाम आते हैं, जिनमें सांप, बिच्छू आदि भी हैं। उनका मत था कि वस्तुतः ये ऋषियों के वास्तविक नाम न होकर उपाधियां है। वक्ता ने वेदों को अपौरुषेय माना और कहा कि प्रत्येक सृष्टि के आदि मे परमात्मा ऋषियो को इस ज्ञान की प्रेरणा देते हैं।

गोष्ठी की अध्यक्षता करते हुए हंसराज कालिज के प्राचार्य श्री ज्ञानप्रकाश चोपड़ा ने स्व० प्रह्लाद की स्मृति में वैदिक व्याख्यानमाला के आयोजन के लिए डा० प्रह्लादकुमार स्मारक समिति के प्रति आभार व्यक्त किया। इन्होंने समिति की ओर से एम. ए. वेद विभाग की छात्रा कुमारी प्रवीण को छात्र-वृत्ति भी प्रदान की।

गोष्ठी में डा० सत्यदेव चौधरी,डा० कृष्णलाल तथा डा० प्रशान्त वेदालंकार ने भी विचार व्यक्त किए। आरम्भ में श्री गणेश विद्यालंकार ने वेद-मन्त्रों का सुन्दर पाठ किया।

—०—

## आर्ययुवक आर्यसमाज का कार्य करें

केन्द्रीय आर्ययुवक परिषद दिल्ली के तत्त्वावधान मे रविवार १३ सितम्बर को जहांगीरपुर मे प० गुरुदत्त शाखा का उद्घाटन करते हुए दिल्ली आर्यप्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सरदारीलाल वर्मा ने युवकों को संगठित होकर आर्यसमाज का कार्यक्षेत्र बढ़ाने की प्रेरणा दी।

दिल्ली प्रदेश के सामूहिक कार्यक्रम में कबड्डी-प्रतियोगिता के अन्तर्गत गुरुकुल गौतम नगर की टीम सर्वप्रथम रही। उसे चांदी का कप प्रदान किया गया। जहांगीरपुरी शाखा के अध्यक्ष पद पर श्री अनिलकुमार नियुक्त किए गए।

—×—

## मानवता के मुख पर एक तमाचा

### ला० जगतनारायण जी की हत्या पर आर्यताओं की श्रद्धांजलि

दिल्ली। सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा दिल्ली ने आर्यसमाज के पुराने कार्यकर्त्ता, स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी, समाज सुधारक लाला जगतनारायण जी की आत्मा की सद्गति के लिए प्रार्थना की। सभा-प्रधान ला० रामगोपाल शालवाले तथा सभा मन्त्री ओम्प्रकाश त्यागी ने घोषित किया कि लाला जी सरीखे उज्ज्वल राष्ट्रीय चरित्र की हत्या भारत की राष्ट्रीयता एवं मानवता के मुख पर अराष्ट्रीय विचारधारा का एक तमाचा है।

—०—

### विद्यालय की सर्वांगीण उन्नति··· (पृष्ठ ४ का शेष)

आयुर्वेद कालेज के छात्रोंके लिए औषधि-निर्माण की व्यवस्था गुरुकुल फार्मेसी से हो जिससे गुरुकुल का आयुर्वेद महाविद्यालय के साथ सम्बन्ध बना रहे; तीसरा उपाय यह है कि गुरुकुल विश्वविद्यालय में होम्योपैथी की शिक्षा देने का एक पृथक् कालेज खोल दिया जाए जिसके छात्र चालू विश्वविद्यालय के डिसेक्शन, एनाटोमी आदि विभागों मे शिक्षा ग्रहण कर सकें।

सारे परिसर के सब छात्रो का एक वेश होना चाहिए, अध्यापको का एक वेश होना चाहिए, सबके वेश पर गुरुकुलीयता की छाप होनी चाहिए। इसी प्रकार विश्वविद्यालय के छात्र जो इस परिसर मे रहते हैं या बाहर से आते हैं सब पर गुरुकुलीयता छा जानी चाहिए।

हमारा मूल, हमारी जड़ विद्यालय विभाग है, यही यथार्थ गुरुकुल है—यह लक्ष्य सामने रखकर सबको उसे दृढ़ बनाने तथा अपने को उसके अनुकूल ढालने से ही गुरुकुल के अस्तित्व का कुछ न्यायसंगत कारण हो सकता है। यहां की प्रगतियो में—हवन, सध्या, त्योहार, प्रोग्राम सब परिसरवासियों को यह समझ कर कि व्यक्तिगत रूप में उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही है, वे सब इस परिसर में रहने के कारण मूल गुरुकुल के अंग हैं, उसी गुरुकुल को, उसकी विचारधारा को पनपाना है, यहां की हर व्यवस्था में घुल-मिल जाना चाहिए।

(अपूर्ण)

### सिलाई-कढ़ाई का निःशुल्क प्रशिक्षण

बाल ज्योति एजुकेशनल सोसायटी, ३ सी/३१ रोहतक रोड नई दिल्ली-११०००५ सस्था मे शिशु पाचवी कक्षा एवं बाल-बालिकाओ को प्रात आठ से एक बजे तक शिक्षा दी जाती है। एक से पांच बजे तक निःशुल्क दुखित-पीड़ित, पिछड़े वर्ग की महिलाओ को नवी-दसवी तक शिक्षित करके सिलाई कढ़ाई का प्रशिक्षण दिया जाता है। साथ ही १५ रु० मासिक छात्रवृत्ति अन्य भी उचित आर्थिक सहयोगार्थ काम तथा नौकरी आदि का प्रबन्ध किया जाता है। वैदिक मिशनरी भावना सजग की जाती है।

# आर्यसमाजों के सत्संग

२७ सितम्बर' ८१

अन्धा मुगल प्रतापनगर—प० गणेश प्रसाद विद्यालंकार, अमर कालोनी—श्री देशराज खन्ना; अशोक विहार के-सी-५२-ए—पं० वेदव्यास भजनोपदेशक; आर के पुरम सेक्टर ६—प० दिनेशचन्द्र पराशर शास्त्री, आर के पुरम सेक्टर ६—पं० हीराप्रसाद शास्त्री; आनन्द विहार—हरिनगर एल ब्लाक—पं० उदयपाल शास्त्री किग्जवे कैम्प—श्रीमती सुशीला राजपाल; किशनगंज मिल एरिया—पं० ईश्वरदत्त एम०ए०; काकाजी डी. डी. ए. फ्लैट्स—पं० प्रेमचन्द्र श्रीधर; कालकाजी—प्रो० वीरपाल विद्यालंकार; गांधीनगर—पं० देवेश; गीता कालोनी—पं० तुलसीराम भजनोपदेशक; ग्रेटर कैलाश-I—कविराज बनवारीलाल शादां भजनमण्डली; ग्रेटर कैलाश-II—पं० मनोहर विरक्त; गुड़ मण्डी—श्री मोहनलाल गांधी; १५१-गुप्ता कालोनी—प० ओमप्रकाश भजनोपदेशक; गोविन्द भवन दयानन्द वाटिका—पं० सुरेन्द्र कुमार शास्त्री; जंगपुरा भोगल—स्वामी स्वरूपानन्द भजनोपदेशक; जनकपुरी बी ३/२४—पं० खुशीराम शर्मा; डिफेंस कालोनी—डॉ० सुख दयाल भूटानी; तिलक नगर—पं० वेदपाल शास्त्री; तिमार पुर—प० रामदेव शास्त्री; दरियागंज—प० अमरनाथ कान्त; नारायण विहार—डा० रघुबीर वेदालकार; नया बांस—पं० महेशचन्द्र भजनमण्डली; न्यू मुलतान नगर—पं० प्राणनाथ—सिद्धान्तालंकार, नगर शाहदरा—प० सुधारक स्नातक; पजाबी बाग—मास्टर ओमप्रकाश, पजाबी बाग एक्सटेंशन १४/५ प० विश्व प्रकाश शास्त्री; बाग कड़े खां—पं० बरकत राम भजनोपदेशक, मोडल बस्ती—श्री चमन लाल; मोडल टाउन—प्रो० सत्यपाल बेदार; महावीर नगर—पं० प्रकाश चन्द्र शास्त्री; महरौली—पं० मुनिशंकर वानप्रस्थ; मोती बाग प० प्रदीप कुमार शास्त्री; मोतीनगर—डा० देवेन्द्र द्विवेदी; रघुबीर नगर—प० रामरूप शर्मा; रमेश नगर—प० देवराज वैदिक मिशनरी; राणा प्रताप बाग—प० रघुराज शास्त्री; राजौरी गार्डन—डा० रघुनन्दन सिंह; रोहतास नगर—प० हरिदत्त शास्त्री, लड्डू घाटी—श्रीमती लीलावती आर्या, लेखनगर-त्रिनगर—पं० प्रकाशवीर; लारेंस रोड़—प० प्रकाश चन्द्र वेदालकार; विक्रम नगर—पं० सीसराम भजनोपदेशक; विनय नगर—प० सत्यनारायण शास्त्री सदर बाजार पहाड़ी धीरज—पं० अशोक कुमार विद्यालकार; साकेत जे ५६—प० सत्य भूषण वेदालकार; सुदर्शन पार्क—प्रो० भारत मित्र शास्त्री; मोहनगज—ला० लखमीदास; सराय रोहिल्ला—प० गजेन्द्रपाल शास्त्री; शालीमार बाग—आचार्य हरिदेव—सि० भू०, हनुमान रोड—पं० सच्चिदानन्द शास्त्री; हौज खास डी-२० स्वामी प्रेमानन्द; न्यू मोतीनगर—श्रीमती प्रकाशवती शास्त्री, आर के पुरम सेक्टर—I—प० ओमवीर शास्त्री।

—ज्ञान चन्द डोगरा; वेद प्रचार विभाग



## आर्यसमाज बिड़ला लाइन्स में वेदकथा

सोमवार २१ सितम्बर से शनिवार २६ सितम्बर तक आर्यसमाज बिड़ला लाइन्स में श्री योगेन्द्र पुरुषार्थी की वेदकथा हुई।

## आर्यसमाज सीवान में वेदकथा

आर्य-समाज मन्दिर एवं शहीद सराय, सीवान मे २६-८-८१ से २-९-८१ तक अष्ट दिवसीय वेद कथा-यज्ञ सम्पन्न हुए। इस अवसर पर श्री महानन्द आर्य द्वारा भजन तथा श्री सत्यदेव शास्त्री वाराणसी द्वारा वेद कथा हुई।

## मिस्र में गोहत्या पर पाबन्दी

सितम्बर १९८० के प्रारम्भ से मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात ने ताजे और बर्फ मे रखे मास की बिक्री पर पाबन्दी लगा दी है। दूसरे शब्दो मे न केवल सभी प्राणियों की हत्या प्रत्युत गोवंश की हत्या पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया है।

## विचार-संगोष्ठी

शुक्रवार २५ के दिन दिल्ली विश्वविद्यालय के कला सकाय मे 'सामूहिक धर्म-परिवर्त्तन और भारत का भविष्य विषय पर एक विचार-सगोष्ठी हुई।

## युग द्रष्टा महर्षि... (पृष्ठ ५ का शेष)

आचार, लोक जीवन में समत्व राजनीतिक आदर्श व्यवस्था, राजतन्त्र की लोक सत्तात्मक तथा समन्व मूलक परिभाषा, लोकोन्मुखी तथा साम्यवादी अर्थतन्त्र आदि के समस्त मूल्यो का संयोजन इस सास्कृतिक रचना विधान मे आ जाता है।'

महर्षि दयानन्द को आधुनिक युग का द्रष्टा एव भारतीय समाज का पुनरुनायक कहा जा सकता है। उन्होंने वैदिक कालीन संस्कृति, इतिहास एव परम्परा के आधार पर एक ऐसी जीवन दृष्टि प्रस्तुत की जो युग-युग तक न केवल भारतीय जनसमाज वरन् समग्र विश्व को आलोकित एव मार्गदर्शित करती रहेगी।

प्रवक्ता, राजनीतिशास्त्र, २४२, कर्नलगज थाने के पास, इलाहाबाद

पाइरी भार्य बचा —
ओम्प्रकाश त्यागी ०.३०

स्वामी श्रद्धानन्द-बलिदान
अर्द्ध शताब्दी स्मारिका ६.००

सत्यार्थप्रकाश शताब्दी समारोह
स्मारिका ६.००

सम्पर्क करें —
अधिष्ठाता प्रकाशन विभाग
दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा,
१५, हनुमान रोड,
नई दिल्ली-११०००१

卐 'आर्यसन्देश' के
स्वयं ग्राहक बनें —
दूसरों को बनाएं

卐 आर्यसमाज के सदस्य
स्वयं बनें —
दूसरों को बनाइए

卐 हिन्दी-संस्कृत भाषा स्वयं पढ़
दूसरों को भी पढ़ाइए—



दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के लिए ... द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित ... कार्यालय १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली

ओ३म्

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

# आर्य सन्देश

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा का साप्ताहिक मुखपत्र

एक प्रति ३५ पैसे वार्षिक १५ रुपये वर्ष ४ अंक ४९ रविवार १९ आश्विन, वि० २०३८ ४ अक्तूबर १९८१ दयानन्दाब्द १५७

## सत्यार्थप्रकाश पर प्रतिबन्ध के विरुद्ध चेतावनी

### सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा की अन्तरंग का निश्चय

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरग सभा ने १२-१३ सितम्बर को हैदराबाद मे हुए अपने अधिवेशन मे तमिलनाडु सरकार द्वारा मद्रास आर्यसमाज को प्रेषित किए गए पत्र के आधार पर 'सत्यार्थ प्रकाश पर प्रतिबन्ध लग ए जान की सम्भावना पर आश्चर्य और विरोध प्रकट किया है।

सभा ने स्पष्ट किया है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा एक सौ वर्ष पूर्व रचित धार्मिक ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' पर प्रतिबन्ध लगाना ग्रथ मे आस्था रखने वाले करोडो व्यक्तियो का अपमान तथा सविधान की भावना के सर्वथा प्रतिकूल है। सभा ने तमिलनाडु सरकार से कहा है कि ग्रन्थ का उद्देश्य किसी के हृदय को ठेस पहुचाना या मानव जाति मे भेदभाव पैदा करना न होकर मानवमात्र को सत्य के लिए प्रेरित करना है। सभा ने चेतावनी दी है कि आर्यसमाज अपने धर्मग्रन्थ पर रोक के मामले को गम्भीरता से लेगा।

## हिन्दू समाज से छुआछूत का कलंक दूर किया जाए

### अस्पृश्यता खत्म करने के लिए १० लाख व्यक्ति सामूहिक संकल्प लेंगे

नई दिल्ली। हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदायो के आचार्यों, धर्म गुरुओ, विद्वानो और हिन्दू सगठनों के प्रतिनिधियो ने रविवार २७ सितम्बर के दिन दिल्ली मे एकत्र होकर सर्वसम्मति से हिन्दू समाज से छूआछूत को दूर करने तथा इस कलक को सदा के लिए मिटा देने के लिए काम करने का सकल्प किया।

यह भी निश्चय किया गया कि आगामी १८ अक्तूबर को बोट क्लब, नई दिल्ली मे इकट्ठे होकर दस लाख से अधिक व्यक्ति समाज से अस्पृश्यता का निवारण का सकल्प लेंगे।

फीरोजशाह कोटला मैदान में ६० से अधिक हिन्दू धार्मिक एव सास्कृतिक सगठनो के प्रतिनिधियों का विशेष तैयारी सम्मेलन 'विराट हिन्दू समाज' के तत्त्वावधान मे हुआ था। सम्मेलन की अध्यक्षता डा० कर्णसिंह ने की। सभा मे पिछले दिनो हरिजनों के इस्लाम मे सामूहिक धर्म-परिवर्तन एव दूसरी सामाजिक-आर्थिक समस्याओं पर विचार किया गया। इस अवसर पर भाषण देते हुए सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री रामगोपाल शालवाले ने कहा—मीनाक्षीपुरम की घटना ने सोए हुए हिन्दू समाज को उसी प्रकार झक झोर कर खडा कर दिया है जिस प्रकार १९६२ के चीनी आक्रमण ने देश को सचेत कर दिया था। हिन्दू समाज विदेशी ताकतो के इशारे पर अब देश को कमजोर नहीं होने देगा।

विराट् हिन्दू समाज के अध्यक्ष डा० कर्णसिंह ने कहा कि हिन्दू समाज को आत्मचिन्तन और आत्मनिरीक्षण द्वारा समाज मे फैली इन बुराइयो एव कुरीतियो को दूर कर देना चाहिए जिनसे हिन्दू समाज कमजोर बनता है।

सनातन धर्म प्रतिनिधि सभा के अध्यक्ष गोस्वामी गिरिधारीलाल ने धर्म परिवर्तन के लिए पृथक्तावादी ताकतो को दोषी बताया और घोषित किया कि सनातन धर्मसभा इसका सामना करने के लिए अपनी पूरी जिम्मेदारी निबाहेगी।

## उदयपुर सत्यार्थप्रकाश शताब्दी समारोह की धूम

### विशेष बसों के माध्यम से उदयपुर-यात्रा में सम्मिलित हों

दिल्ली। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सरदारीलाल वर्मा एव कार्यवाहक मन्त्री प्रो० भारतमित्र शास्त्री ने एक पत्रक द्वारा समस्त आर्यसमाजो आर्य सस्थाओ तथा आर्यजनो से अनुरोध किया है कि वे आगामी १६-१७ १८ अक्तूबर के दिन ऐतिहासिक वीरभूमि उदयपुर मे आयोजित हो रहे अन्तर्राष्ट्रीय सत्यार्थप्रकाश शताब्दी समारोह म भाग लेने के लिए अभी से अपना व्यवस्थित कार्यक्रम बना ले।

स्मरण रहे कि उदयपुर नगर के नवलखा महल मे बैठकर महर्षि दयानन्द न अपने क्रान्तिकारी ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश की रचना की थी। उल्लेखनीय है कि इन शताब्दी समारोह म पूर्वी अफ्रीका की आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा स्वाहिली मे सत्यार्थ प्रकाश का विमोचन किया जाएगा।

सभी प्रदेशो के आर्य सज्जन भारी सख्या मे उदयपुर पहुचेंगे। पूर्वी अफ्रीका और द० अमेरिका से भी आर्यबन्धु पधार रहे है। दिल्ली के आर्यपुरुष इस अवसर पर सामूहिक और सगठित रूप से वेद प्रचार करते हुए उदयपुर पहुचे, इसके लिए प्रतियात्री १४५) का यात्रा व्यय लेकर विशेष बसो की व्यवस्था सभा द्वारा की गई है। दिल्ली के १५ आर्य सज्जनो के यहा इन बसो की बुकिंग हो सकती है। इस सुनहरे अवसर का लाभ उठाइए और इन विशेष बसो के माध्यम से उदयपुर शताब्दी कार्यक्रम को अवश्य देखिए।

## मीनाक्षीपुरम के २८ व्यक्ति पुनः हिन्दू बने

नई दिल्ली। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने जानकारी दी है कि मीनाक्षीपुरम मे इस्लाम धर्म स्वीकार करने वाले २८ व्यक्ति पुन हिन्दू धर्म मे लौट आए हैं।

सभा की प्रेस-विज्ञप्ति के अनुसार सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के एक अध्ययन-दल द्वारा २१ सितम्बर को मीनाक्षीपुरम की यात्रा करने के बाद उक्त व्यक्तियो ने पुन हिन्दू धर्म ग्रहण किया।

विज्ञप्ति मे कहा गया है कि मीनाक्षीपुरम के उक्त निवासियो न शपथ ली है कि वे इस बात का ध्यान रखेंगे कि कोई अन्य हिंदू उनकी इस भूल को न दोहराए।

—सम्पादक नरेन्द्र विद्यावाचस्पति

# यज्ञ त्रिलोकी का कल्याणकर्ता है

देवान् दिवमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु मनुष्यानन्तरिक्षमगन् यज्ञस्ततो द्रविणमष्टु। पितृन्पृथिवीमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु, यं क च लोकमगन् यज्ञस्ततो मे भद्रमभूत्॥ यजु: ८-६०

ऋषि —वसिष्ठ.। देवता—विश्वे देवा छन्द. स्वराट् ब्राह्मी त्रिष्टुप्।

शब्दार्थ—(यज्ञ) यज्ञ ने (देवान्) देवो को (दिवमगन्) दिव्यलोक में पहुंचाया, (तत.) उस दिव्यलोक और देवों के (द्रविणम) ऐश्वर्य, सामर्थ्य और पदार्थ (मा अष्टु) मुझे प्राप्त कराए। (यज्ञ) यज्ञ ने (मनुष्यान्) मनुष्यों को (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष लोक मे अथवा मध्य मार्ग पर (अगन्) पहुंचाया (तत.) उस मध्य मार्ग पर चलने के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाले (द्रविणम्) ऐश्वर्य, सामर्थ्य और पदार्थों को (मा अष्टु) मुझे प्राप्त कराएं। (यज्ञ) यज्ञने (पितृन्) पितरो को (पृथिवीम्) पृथिवी पर (अगन्) प्रगतिशील किया (ततः) उस प्रगतिशीलता से प्राप्त (द्रविणम्) ऐश्वर्य सामर्थ्य तथा पदार्थों को (माअष्टु) मुझे प्राप्त कराएं। (यज्ञ:) यज्ञ (य कं च लोकमगन्) जिस लोक मे भी जाए। (तत) उस लोक से (मे भद्रमभूत्) मेरे लिए कल्याण और सुख को प्राप्त कराए।

विशेष—इस मन्त्र का देवता विश्वे देवा. है किन्तु मन्त्र में आए शब्दो से प्रतीत होता है कि देवता यज्ञ है। इससे यह भी सकेत मिलता है कि यज्ञ किए बिना अर्थात् यज्ञ की भावना को अपनाए बिना किसी भी देवता का अनुयायी या सदृश बन सकना कठिन है। इस मन्त्र के ऋषि शब्द वसिष्ठ का अर्थ सकेत करता है कि स्वयं श्रेष्ठ गुणों, भावो तथा कर्मो मे निवास करने वाला तथा दूसरो को निवास कराने वाला व्यक्ति ही किसी भी देव का सखा बन सकता है।

इस मन्त्र के छन्द का शब्दार्थ त्रिविधता की ओर सकेत करता है। यज धातु के तीन अर्थ देवपूजा—सगति करण और दान भी त्रिविधता का ही सकेत करने है।

निष्कर्ष - १. यज्ञ मे निहित देवपूजा अर्थात् किसी भी दिव्य गुण का आदर, और अपने बड़ो का सत्कार करने की भावना मनुष्य को देव बनाती है, उसे दिव्यलोक का वासी बनाती है। यज्ञ मे निहित संगतिकरण—दिव्य कर्मों मे रत लोगो के साथ सहयोग की भावना ही मनुष्य को मनुष्य बनाती है अथवा अन्तरिक्ष लोक का वासी अर्थात् उसे मध्यमार्गानुगामी बनाती है और यज्ञ में निहित दानभावना अर्थात् दिव्य कर्मों मे लगे लोगों को दान अथवा सहायता अथवा दूसरों के लिए स्वार्थ त्याग की भावना ही मनुष्य को पृथ्वी का पालक या रक्षक (पितर) बनने का सामर्थ्य प्रदान करती है।

२. लोक पृथक-पृथक प्रदेश तो हैं ही, किन्तु पृथक-पृथक भावनाओं मे विचरने वाले, उस उस मन स्थिति में रहने वाले व्यक्तियों को भी उस उस लोक का वासी कह देते हैं। इस मन्त्र मे दिव्य भावनाओं का आदर करने वालो को देव, मध्य मार्ग पर चलते हुए श्रेष्ठ कर्मों में सहयोग करने वालो को मनुष्य और अभावग्रस्तों को सहयोग दान करने वाले स्वार्थ त्यागी व्यक्तियों को पितर (पृथ्वी-पालक) पदों की संज्ञा प्रदान की गई है।

३. द्रविणम् शब्द के प्रयोग का विशेष महत्त्व है। यह चल सम्पत्ति के लिए प्रयुक्त होता है। अचल सम्पत्ति की अपेक्षा चल सम्पत्ति के रूप मे दिव्य भावनाओं का स्थानान्तरण सहज है, इसीलिए अन्य लोको से द्रविणम् (सार तत्त्व) को प्राप्त कराने की कामना की गई है, स्थूल सम्पत्ति प्राप्त कराने की नही।

४. स्थूल धन का सम्बन्ध शारीरिक सुख से है, और सूक्ष्म सार तत्त्व (द्रविणम्) का सम्बन्ध कल्याण और भद्र से है, इसीलिए प्रभूत स्थूल पार्थिव सम्पत्तियो के स्वामी होते हुए भी मनुष्य बेचैन हुए इधर-उधर दौड़ते फिरते हैं, और सूक्ष्म भावनाओं से ओत-प्रोत मनुष्य निश्चल हुआ एकान्त में बैठकर भी अपना कल्याण कर सकता है, और दूसरो के कल्याण की कामना करता रहता है।

५. दिव्य भावनाओ को अपनाने या देव बनने अथवा द्यु-लोक मे रहने के लिए और मध्यमार्ग को अपनाने या मनुष्य बनने या अन्तरिक्ष लोकवासी बनने के लिए, और सबके पालन, रक्षण की भावना को अपनाने या पितर बनने अथवा सच्चे अर्थों में पृथ्वीलोक की राष्ट्रीयता (नेशनेलिटी) प्राप्त करने के लिए, वसिष्ठ अर्थात् उत्तम गुणों, कर्मों मे निवास करने का स्वभाव बनाना आवश्यक है।

६. शतपथ में 'यज्ञो वै वसु:'१-७-१-६ कहा है। वसुओं में श्रेष्ठ वसिष्ठ है। इसलिए वसिष्ठ बनना और यज्ञ की भावनाओं को अपनाना ही सच्चा यज्ञ है। यज्ञ ही सब प्रकार के कल्याण को प्राप्त कराता है।

अर्थपोषक प्रमाण —

द्रविणम् —सम्पत्ति (चल) शक्ति, तथा सामग्री और सार तत्त्व। मोनियर विलियम्स।

यज्ञ.—यज देवपूजा (दिव्यता का आदर) संगतिकरण (सहयोग) दानेषु (सहायता)।

वसिष्ठ:—१. यज्ञो वै वसु:। शत० १-७-१-६ येन वै श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठ.। गा० ३०-३-६

२. धर्मादि् कर्मसु योऽतिशयेन वसति वासयति वा स्वामी दया०ऋ. १-११२-६ यजु. १३-५०।

३. अतिशयेन धनी। स्वामी० दया० ऋक् ७-७-७.

—मनोहर विद्यालंकार
१२२,ईश्वर भवन,खारी बावली दिल्ली-६

---

लोक-चिन्तन

# राष्ट्रीय एकता और साम्प्रदायिक सद्भाव

— डा० विजय द्विवेदी

मानव-मन की यह मूल प्रकृति है कि वह सदा विपरीत दिशा में गति करने को प्रस्तुत रहता है। इसी को मन की द्वन्द्वात्मक स्थिति, जिज्ञासा या कुतूहल वृत्ति कहा जाता है। गीता में इसे ही अर्जुन ने 'चचल हि मनः कृष्ण.' कह कर सम्बोधित किया है। मन की इसी गति के कारण जब भी राष्ट्रीय एकता और साम्प्रदायिक सद्भावना की बात उठती है, तब देश का मन विपरीत दिशा में भागने लगता है। परिणामस्वरूप देश में हिंसात्मक उपद्रव होते हैं, अनेक लोगों की जानें जाती हैं। समाज और व्यवस्था का चक्का उल्टा घूमने लगता है, अस्तु आज हमे राष्ट्र की एकता देखनी है, क्योंकि अभी वही खतरे मे है।

पश्चिम के विद्वान (गूच, हेंसकोन्ह, जिमर, बर्न, मिल आदि) कहते हैं, राष्ट्रवाद का विकास १९ वीं शती में फ्रांस की क्रान्ति की प्रतिक्रियास्वरूप हुआ। फ्रांस में क्रान्ति की सफलता ने दूसरे देशो मे भी अपनी सभ्यता, संस्कृति, इतिहास, भूगोल आदि के प्रति गर्व की भावना विकसित की, किन्तु भारत मे राष्ट्रवाद का इतिहास उतना ही पुराना है जितना स्वयं राष्ट्र। ऋग्वेद मे 'राष्ट्र' शब्द अनेक बार आया है। (अ राष्ट्रे संगमनी वसूनाम्), पुराणों में भी है—(गायन्ति देवा किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारत भूमिभागे—विष्णु पुराण)। १९ वीं शताब्दी में किसी राष्ट्र की एकता के जो मूल तत्त्व माने गए उनमे 'धर्म की एकता' को प्रधान तथा भौगोलिक, सास्कृतिक एवं राजनीतिक एकता को दूसरा स्थान दिया गया था। लोकतन्त्र के आगमन के बाद उक्त क्रम मे परिवर्तन आया और राजनीतिक लक्ष्य की एकता' को ही एकमेव तत्त्व माना जाने लगा। धर्म, भाषा, जाति, संस्कृति की एकता राष्ट्रीयता के अनिवार्य तत्त्व नही रही। अर्थात् सगुण-साकार राष्ट्रीयता निर्गुण निराकार में बदल गई। (राष्ट्रीयता, किसी भूखण्ड में बसने वालो की वह सामूहिक चेतना है, जिसमे सबके अभ्युदय और प्रगति का भाव हो)। राष्ट्रीयता की यही परिभाषा आज हमारी राष्ट्रीय एकता के मार्ग मे बाधक बन गई है, क्योंकि 'रूपरेख गुन जाति जुगुति बिन निरालम्ब मन' चकरी की तरह घूमते हुए टिकने का कोई आधार नही पा रहा है।

जब कोई जनसमुदाय किसी धार्मिक सिद्धान्त या जीवनदर्शन को पूरी कट्टरता के साथ स्वीकार कर तदनुसार आचरण करने लगता है, तब उसे 'सम्प्रदाय कहा जाता है। इसमें जब तक आचार-विचारगत अन्तर रहता है तब तक अन्य सम्प्रदायों से साथ सद्भाव बना रहता है, किन्तु जब धर्म और संस्कृति में अन्तर बहुत गहरा हो जाता है, तब उसका उग्ररूप देश की एकता एवं अखण्डता के लिए खतरनाक बन जाता है। भारत का विभाजन इसका प्रमाण है। वस्तुतः धर्म और संस्कृति की संकीर्णता की, इतिहास की भिन्नता, सामान्य स्वार्थ की एकता, इन्हें देश और देश के गौरव के साथ रागात्मक सम्बन्ध रखने में बाधा पहुंचती है। अत: इनसे ऊपर उठकर ही साम्प्रदायिक सद्भाव की बात सोची जा सकती है।

म० पू० च० कालेज बारीपदा उड़ीसा-७५७००१

## शान्तिदायक पदार्थ कल्याणकारी हों !

यानि कानिचिच्छान्तानि लोके सप्तऋषयो विदुः ।
सर्वाणि शं भवन्तु मे शं मे अस्त्वभयं मे अस्तु ।। यजु ३६.१७.१३.

लोक मे शरीर में विद्यमान सातो इन्द्रिय और उनका सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करने वाले विद्वान जिन पदार्थों को शान्तिदायक समझते हैं, वे सब मुझे कल्याणकारी हों। मुझे शान्ति मिले, मुझे अभय मिले

# बन्द करो यह हत्या की राजनीति !

अपने स्वर्गवास से पूर्व गम्भीर रुग्णावस्था मे भारत के लौहपुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल ने देशवासियो से एक अपील की थी कि जब तक देश आन्तरिक दृष्टि से पूर्ण सशक्त, संयुक्त और सुदृढ नहीं हो जाता उस समय तक देश के सम्पूर्ण विघटनकारी तत्त्वों का सख्ती से मुकाबला करना होगा। उन्होने कहा था कि देश को भाषा के आधार पर छोटे-छोटे प्रान्तों में बांटना उचित न होगा, इसकी उन्नति के लिए आवश्यक है कि अगले दस वर्षों तक देश को सशक्त बनाने के लिए सभी प्रयत्नशील हो जाएं और रेलों के ढंग पर देश को प्रशासनिक आधार पर पांच या छह बड़े व्यवस्था सम्बन्धी विभागों या इकाइयो मे बांट कर दृढता से शासन करना होगा। खेद है कि यशस्वी सरदार का पार्थिव शरीर देर तक उनका साथ न दे सका और उनका सपना अधूरा रह गया। सरदार के दिवंगत होने के बाद देश छोटे-छोटे राज्यो में विभक्त हो गया और उनके निर्माण के लिए हिंसात्मक राजनीति का सहारा लिया गया।

खेद है कि इतने वर्ष व्यतीत हो जाने पर जब देश के अस्तित्व को समाप्त करने के लिए संसार की महाशक्तियां हमारे निकटस्थ पड़ोसी पाकिस्तान को हर दृष्टि से शक्तिशाली और सशक्त बनाने के लिए तुली हुई हैं, उस समय भारत मे पश्चिमोत्तर प्रदेश में पृथक राष्ट्र की स्थापना के लिए प्रयत्नशील तत्त्वो ने दिनदहाडे एक संयुक्त भारत के पक्षपाती, राष्ट्रवादी पत्रकार लाला जगतनारायण की हत्या कर दी। लाला जी का एक मात्र अपराध यह था कि वह मातृभूमि भारत के प्रति सच्चे वफादार थे, वह उसका विघटन करने के इच्छुक पृथकतावादी तत्त्वो का खुलकर विरोध करते थे। लाला जी की हत्या जहां देश की एकता, अखण्डता, राष्ट्रवाद, स्वतन्त्र पत्रकारिता एव न्याय की हत्या है, वहां उससे यह भी ध्वनित होता है कि देश का विघटन करने वाले तत्त्वों को अपनी मांग के औचित्य पर विश्वास नहीं रह गया है, फलत. वह युक्तियों, प्रमाणों एव आंकडों का सहारा लेने के स्थान पर हिंसा की राजनीति का सहारा लेने लगे हैं।

इतना ही नही, जब न्यायालय से कथित अभियुक्तो की साक्षी के आधार पर दूसरे अभियुक्तों को पकड़ने के लिए वारण्ट जारी किए गए तो उनसे बचने के लिए धार्मिक प्रार्थनागृहों में आश्रय लिया गया। इतना ही नही, जब पुलिस ने कथित अभियुक्त को गिरफ्तार भी कर लिया तो शासन के विरुद्ध सरे आम असन्तोष फैलाया गया। मोटर साइकिलों पर बैठकर बाजारों मे निर्दोष जनता पर गोलियां चलाकर भून दिया गया। इस हिंसा की राजनीति का एक ही लक्ष्य है या तो हमारी अन्यायपूर्ण मांग मंजूर करो, अन्यथा हम शान्ति रहने नहीं देंगे। लाला जी की हत्या से पश्चिमोत्तर भारत के सुलगते प्रदेश के हिंसक तत्त्वों के राष्ट्र विरोधी षड़यन्त्र का पर्दाफाश हो गया है। समस्त राष्ट्रवादी तत्त्वों को इस हत्या की राजनीति की रोकथाम करने के लिए मोहल्ले-मोहल्ले, गांव-गांव में संघटित और संयुक्त होना होगा और प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय प्रशासनों को भी समय रहते इन राष्ट्रविरोधी तत्त्वों की रोकथाम करने के लिए युद्ध-स्तर पर कार्यवाही करनी होगी।

# सत्यार्थप्रकाश शताब्दी : नई चुनौतियां

आगामी १६-१७-१८ अक्तूबर को वीर बांकुरे राजपूतों की वीरभूमि उदयपुर मे अन्तर्राष्ट्रीय सत्यार्थ प्रकाश सम्मेलन का आयोजन किया गया है। ऋषि प्रणीत ग्रन्थो मे 'सत्यार्थप्रकाश' की दो दृष्टियो से विशेष महत्ता है। इसके प्रथम दस समुल्लासों के व्यवस्थित अध्ययन-मनन एवं अनुकरण से श्रेष्ठ मानव-परिवारों, मानव-समाज एव विश्व का निर्माण सम्भव है। श्रेष्ठ मानव अथवा सच्चे आर्य के निर्माण में इन दस समुल्लासो की भूमिका अपूर्व एवं अनुपम हो सकती है, इस तथ्य को विश्व भर में प्रचारित एव प्रसारित करने मे अन्तर्राष्ट्रीय सत्यार्थ प्रकाश शताब्दी का उदयपुर महोत्सव सार्थक हो सकता है। इस तथ्य को चरितार्थ करने के लिए विश्व की प्रत्येक जनभाषा मे सत्यार्थप्रकाशके लोकप्रिय सस्करण प्रकाशित होने चाहिए। इस अवसर पर पूर्वी अफ्रीका की आर्य प्रतिनिधि सभा स्वाहिली मे सत्यार्थप्रकाश का विमोचन कर रही है, यह प्रसन्नता की बात है, दूसरी विश्वभाषाओ मे भी सत्यार्थप्रकाश का यथाशीघ्र अनुवाद एव प्रचार होना ही चाहिए।

संसार मे व्याप्त भ्रष्टाचार, कुरीतियों, मत-मतान्तरो, व्यक्तिगत सम्प्रदायो पर प्रकाश डालने के लिए महर्षि दयानन्द ने 'सत्यार्थप्रकाश' के अन्तिम चार समुल्लासो का आश्रय लिया था। महर्षि ने सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोडने में सदैव अपनी तत्परता प्रदर्शित की थी। महर्षि ने दिल्ली दरबार के अवसर पर विश्व के प्रमुख धर्मों के अनुयायियों को शाश्वत धर्मसूत्रो को सामूहिक रूप से मानने का आमन्त्रण दिया था। उदयपुर सम्मेलन के अवसर पर वह आमन्त्रण दोहराया जा सकता हैं। इसी के साथ सत्यार्थ को न ग्रहण कर अपने सकुचित दृष्टिकोण को मानने के कारण कई बार सकुचित मतवादी 'सत्यार्थप्रकाश' के अन्तिम चार समुल्लासो पर आपत्ति करते हैं। 'सत्यार्थप्रकाश' के ये समुल्लास भी धर्मचर्चा एवं न्यायपीठ पर खरे सिद्ध हुए हैं। इन समुल्लासो मे यदि विरोधियो के धर्मग्रन्थो की तथ्यात्मक समीक्षा की गई है तो अलोचना एवं तर्क की कसौटी पर ही उन्हें परखना होगा, उनपर प्रतिबन्ध लगाना सर्वथा अनुचित है, यदि ऐसे प्रतिबन्ध लगाये गए तो उनका आर्यसमाज दृढता और पूरी एकता से मुकाबला करेगा।

## चिट्ठी-पत्री

### कश्मीर में आर्यसमाज का प्रचार

विगत २९ अगस्त, १९८१ से ८ सितम्बर, १९८१ तक की अल्पावधि मे ब्रह्मचारी नरेश जी ने कश्मीर घाटी मे चमत्कारपूर्ण कार्य किया है। उन्होंने श्रीनगर के मौहल्लो विशेषत: शेरे कश्मीर गली अमीरा कदल स्थित श्री लालचन्द जी के मकान तथा चोपडा जी के मकान पर सामूहिक सत्सगों में ओजस्वी प्रवचन किए। इन स्थानो पर एकत्र व्यक्तियो ने बडी दिलचस्पी मे आर्यसमाज तथा वैदिक तत्त्व ज्ञान के बारे में जिज्ञासापूर्ण प्रश्न पूछे जिनके युक्तियुक्त सन्तोषजनक उत्तरों से प्रश्नकर्त्ताओं की शंकाओं का समाधान हो गया। जवाहर नगर के एक पौराणिक मन्दिर में ब्रह्मचारी जी ने एक यज्ञ कराया, जिसे पौराणिक हिन्दुओ ने भी पसन्द किया।

इसी के साथ ब्रह्मचारी जी ने बादामी बाग, श्रीनगर मे सनातनी विचारधारा मे विश्वास करने वाले ४ हजार सैनिको के समक्ष भाषण किया, जिसे सैनिकों ने बहुत पसन्द किया। ब्रह्मचारी जी समीपस्थ गावो की जनता से भी सम्पर्क स्थापित करना चाहते थे, परन्तु वैसा सम्भव नही हो सका। मेरे ख्याल मे पिछले दिनों ब्रह्मचारी जी के प्रयत्नो से श्रीनगर शहर मे आर्यसमाज और वैदिक तत्त्व ज्ञान का जैसा प्रचार हुआ है, वैसा ही व्यापक प्रचार ब्रह्मचारी नरेश जी जैसे योगियो, सन्यासियों और ब्रह्मचारियो के माध्यम से कश्मीर घाटी के उपेक्षित गाँवों और कस्बों मे आसानी से हो सकता है।

—कुसुमलता सूद, प्रचार मन्त्रिणी
शिवमन्दिर, लालमण्डी, जवाहर नगर श्रीनगर।

# गुरुकुल कांगड़ी की कुछ प्रशंसनीय गतिविधियां—३

पिछले दो लेख पढ़कर किसी को यह भ्रान्ति हो सकती है कि संस्था में किसी प्रकार की प्रगति नहीं हो रही। ऐसी बात नहीं है। जिन लोगों ने संस्था पर कब्जा कर लिया था उन्होंने तो संस्था की ऐसी दुर्दशा कर दी थी कि यहाँ विद्यार्थियों की संख्या ही न के बराबर रह गई थी। मकानों को खंडहर बना दिया था, यहाँ रात काट सकना एक संकट का सामना करना था। अब यहां ८-१० दिन रहकर मैंने नक्शा बदला हुआ पाया। इस परिवर्तन को आने में साल भर लग गया, परन्तु अभी परिवर्तन की बहुत कुछ गुंजाइश है।

### बढ़े विद्यार्थी : संस्था के स्वास्थ्य के सूचक

जुलाई, १९८० में जब यहां विद्या-सभा की बैठक हुई थी तब विद्यालय-विभाग के छात्रों की संख्या जो किसी समय ३५० के लगभग थी, केवल १५-२० रह गई थी। आज विद्यालय में विद्यार्थियों की संख्या १६० तक पहुंच गई है। खोई हुई साख लौट रही है। बच्चों के चेहरे प्रफुल्लित दिखाई देते हैं। उनमें उत्साह है, हर बात में रुचि है। विद्यालय-आश्रम में अनेक ऐसे प्रयोग चल रहे हैं जिनसे आभास होता है कि अंधकार के युग के बाद प्रकाश के युग की किरणें फूटने लगी हैं। संख्या का बढ़ जाना संस्था के स्वास्थ्य का सूचक है।

### विद्यार्थी पत्रिकाएं सम्पादित करें

कोई समय था जब विद्यार्थी अपनी साहित्यिक तथा सांस्कृतिक योग्यता बढ़ाने के लिए हस्तलिखित पत्रिकाएं सम्पादित किया करते थे। अब उससे कुछ भिन्न योजना चल रही है। विद्यालय-विभाग की तरफ से 'ध्रुव' नाम से एक त्रैमासिक पत्रिका छपकर प्रकाशित होती है। इसमें विद्यालय-विभाग के छात्रों के लेख प्रकाशित होते हैं। 'प्रह्लाद' नाम से एक त्रैमासिक पत्रिका सम्पादित होती है, जिसका सम्पादन विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डॉ० अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी करते हैं, यह भी छपकर प्रकाशित होती है। 'आर्य-भट्ट' नाम से एक विज्ञान पत्रिका प्रकाशित होती है जिसका सम्पादन विश्वविद्यालय के वनस्पति विज्ञान-विभाग के अध्यक्ष डॉ० विजय शंकर करते हैं। इन पत्रिकाओं में अभी तो लगभग मुख्यतः अध्यापकों तथा विभागाध्यक्षों के लिखे लेख ही देखने को मिले हैं, परन्तु इस योजना को बढ़ाकर इसकी दिशा यह हो जानी चाहिए कि इन पत्रिकाओं में अधिकांश लेख विद्यार्थियों के हो रहा करें। जब विद्यार्थी इन पत्रिकाओं का सम्पादन करेंगे, तब उन्हें सम्पादन का क्रियात्मक अनुभव होगा। गुरुकुल के पुराने जमाने में हम लोग हस्त-लिखित पत्रिकाएं प्रतिमास प्रकाशित करते थे। सम्पादकत्व का उत्तरदायित्व एक विद्यार्थी पर न रहकर बारी-बारी, भिन्न-भिन्न विद्यार्थियों पर होता था। वह विद्यार्थी ही अन्य विद्यार्थियों से लेख संग्रह करता था। पत्रिका को अलंकृत करना, उसमें भिन्न भिन्न हस्त-रेखांकित चित्र बनाना सारी पत्रिका को दो-तीन सहयोगियों द्वारा शुद्ध तथा सुन्दर लेख से लिखना, और पत्रिका के प्रकाशित हो जाने के दिन की प्रतीक्षा करना, पत्रिका में प्रकाशित अपने लेख को, उस पर अंकित अपने नाम को देखना—यह सब-कुछ हर्षोल्लास का विषय होता था। इसी योजना का यह परिणाम था कि यहाँ से निकला हर-एक स्नातक एक सिद्धहस्त लेखक होता था, किसी भी हिन्दी पत्रिका का सम्पादकत्व करने की योग्यता रखता था। इस समय भी अगर इन पत्रिकाओं का सम्पादन विद्यार्थियों के जिम्मे ही डाल दिया जाए, अध्यापक लेखों को सिर्फ शुद्ध कर देने का काम करें, बाकी क्रियात्मक काम विद्यार्थियों पर ही छोड़ें, वे ही लेखों का संग्रह करें, भले ही हाथ से लिखकर पत्रिका का प्रकाशन न होकर पत्रिका प्रेस में ही छापी जाए, विद्यार्थी ही प्रूफ देखें, तो जिस दिशा में प्रगति हो रही है उसमें और अधिक उपयोगिता हो जाएगी।

सांस्कृतिक गति-विधि का एक दूसरा पक्ष भी सामने आया। जब मैं ८-१० दिन के लिए गुरुकुल आया तब देखा कि मेरे सहपाठी प० आत्मदेव जी विद्यालंकार सपत्नीक यहां विराजमान थे। वह ८० वर्ष के लगभग हैं, परन्तु उनकी स्मृति शक्ति पूर्णतः स्थिर है। वे प्रायः काल प्रतिदिन विद्यालय में जाकर छोटे-छोटे ब्रह्मचारियों को वेद-मन्त्र स्मरण करा रहे थे। उन्होंने जो मन्त्र चुने थे, वे सरल तथा आध्यात्मिक प्रेरणा के स्रोत थे। ब्रह्मचारी भी उत्सुकता से उनमें मन्त्र सीख रहे थे, और याद कर लेते थे। वह सपत्नीक ज्वालापुर वानप्रस्थ आश्रम में निवास करने के लिए आए हुए हैं, परन्तु उनका संकल्प है कि वानप्रस्थाश्रम में रहते हुए भी वे प्रातः-काल यहां आया करेंगे और प्रतिदिन ब्रह्मचारियों को वेदमंत्र याद कराया करेंगे। इस योजना के अतिरिक्त एक योजना यहां पहले चल चुकी है। विश्वविद्यालय के मनोविज्ञान विभाग के प्रवक्ता चन्द्रशेखर प्रतिदिन छात्रों को चुने हुए श्लोक स्मरण कराते रहे हैं। उन्होंने संस्कृत के प्रसिद्ध तथा उपयोगी सौ श्लोक चुनकर विद्यार्थियों को याद करा दिये हैं। कई विद्यार्थी तो ऐसे हैं जिन्हें सभी सौ श्लोक याद हैं। इन सौ श्लोकों को संगड-विद्या-सभा ट्रस्ट जयपुर की आर्थिक सहायता से 'जीवन-ज्योति' नाम से श्रद्धा-साहित्य प्रकाशन द्वारा प्रकाशित भी कर दिया गया है। यह प्रगति बड़ी श्रेयस्कर है, परन्तु मुझे स्मरण हो आया है कि कभी संस्कृत के अध्यापक ब्रह्मचारियों को अन्त्याक्षरी-प्रतियोगिता के लिए तैयार किया करते थे। वे उन्हें इतने श्लोक याद करा दिया करते थे कि श्लोकों का स्मरण करने वाले छात्रों की दो टोलियां आमने-सामने खड़ी हो जाती थीं और पहली टोली जो श्लोक बोलती थी, उसके अन्तिम अक्षर को प्रारम्भ में लेकर दूसरी टोली एक अन्य श्लोक का उच्चारण करती थी, इस प्रकार की प्रतियोगिता कभी-कभी घन्टा भर चलती थी जिसका अभिप्राय यह है ब्रह्मचारियों को सौ नहीं सहस्रों श्लोक उनके संस्कृत के अध्यापक याद करा दिए करते थे। जिस दिशा में गुरुकुल प्रगति कर रहा है उसे देखकर आशा है कि ब्रह्मचारियों को सहस्रों श्लोक याद हो जाएंगे।

सांस्कृतिक गति-विधि के उक्त पक्ष के अलावा एक तीसरा पक्ष भी देखने को मिला। प्रातः काल ५ बजे गुरुकुल के प्रांगण में दूर-ध्वनि-प्रसारण के माध्यम से कुछ वेदमन्त्र तथा श्लोक प्रसारित किए जाते हैं। यह प्रसारण संगीतमय होता है। वेद-मन्त्रों की इस संगीत की ध्वनि में बच्चे जाग जाते हैं और अपने दैनिक-कृत्य के लिए चल पड़ते हैं। यह प्रयोग सिर्फ ब्रह्मचारियों को नहीं, सम्पूर्ण परिसर को आध्यात्मिक प्रेरणा देता है। इसमें एक परिवर्तन की आवश्यकता है। यह प्रसारण तो होना चाहिए, परन्तु इसके साथ प्रातः उठकर सब ब्रह्मचारी अपनी-अपनी श्रेणी में 'विश्वानि देव' आदि मन्त्रों का पाठ भी किया करें, तो इस प्रसारण में जान आ जाएगी। यह प्रसारण भी उन्हीं वेद मन्त्रों का होना चाहिए, जिन वेद मन्त्रों को ब्रह्मचारी सोकर उठने पर सम्मिलित रूप से बोलें। जिस प्रकार सोकर उठने पर ब्रह्मचारियों का सम्मिलित रूप में 'विश्वानि देव' आदि वेद मन्त्रों का पाठ होना चाहिए, उसी प्रकार सोते समय उन्हें सम्मिलित रूप में 'यज्जाग्रतो' आदि मन्त्रों का पाठ करना चाहिए। यह सब परिसर के वातावरण में आध्यात्मिक भावना का संचार तो करेगा ही, ब्रह्मचारियों के अन्तःमानस में भी जाने-अनजाने अपना प्रभाव उत्पन्न करेगा।

लेखक :
**डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार**
विजिटर, गुरुकुल कांगड़ी
विश्वविद्यालय, हरिद्वार

सांस्कृतिक गति-विधि की एक नवीन योजना मैंने और यहां देखी। सायंकाल यहाँ दूर-ध्वनि माध्यम से देश के समाचार भी प्रसारित किए जाते हैं। इस प्रसारण में गुरुकुल के समाचार तथा विशेष-विशेष सूचनाएं भी सबके पास पहुंच जाती हैं। अभी तक ये समाचार तथा सूचनाएं हिन्दी में प्रसारित होती हैं, सब कान लगाकर और सावधान होकर इन्हें सुनते हैं, परन्तु इस योजना के संचालक यह सोच रहे हैं कि यह प्रसारण हिन्दी तथा अंग्रेजी और संस्कृत, इन तीन भाषाओं में हो। पहले हिन्दी में, फिर संस्कृत में, फिर अंग्रेजी में। इसका परिणाम यह होगा कि बच्चों को, और दूसरों को भी, धीरे-धीरे सुन-सुन कर तीनों भाषाओं का ज्ञान होने लगेगा। यह योजना बड़ी सुन्दर है, और गुरुकुल के वातावरण के अनुरूप है।

### खेल-कूद, व्यायाम तथा यौगिक आसन

२ सितम्बर को विद्यालय-विभाग के मुख्याध्यापक मुझे बुलाने आए कि आज विद्यालय-विभाग के ब्रह्मचारियों तथा विज्ञान-विभाग के छात्रों का फुटबाल का मैच होने जा रहा है, वहां चलिए। मैंने वहाँ जाकर देखा कि एक तरफ विद्यालय के छोटे-छोटे अष्टम-नवम के ब्रह्मचारी थे। दूसरी तरफ १७-१८ वर्ष के विश्वविद्यालय के विज्ञान विभाग के छात्र थे, जो गुरुकुल के परिसर में नहीं रहते थे। मैं नहीं समझता था कि विद्यालय विभाग के छात्रों का मुकाबला कर सकेंगे। परन्तु मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि दोनों का मुकाबिला ऐसा हुआ, जैसे वे छोटे बच्चे अपने बड़े प्रतियोगियों के समवयस्क हों। एक छोटा ब्रह्मचारी हरिशंकर जो मुश्किल से चार फुट का था अपने से लम्बे-लम्बे खिलाड़ियों से जा भिड़ता था। मुझे मालूम हुआ कि यह ब्रह्मचारी बड़ा प्रभावशाली है, उसने सौ के सौ श्लोक याद कर लिए हैं। यह मैच बड़ा जमकर हुआ, परन्तु अन्त में विज्ञान महाविद्यालय के छात्र दूसरी बारी में एक गोल से जीत गये। इन

छोटे ब्रह्मचारियों का एक गोल से हार जाना दुखद नहीं था, परन्तु इनका अपने से बड़ों के साथ भिड़ जाना सुखद था।

इस मैच के बाद हम लोग व्यायामशाला में गए। वहां आकर मैंने देखा कि व्यायाम के अत्यन्त सुन्दर, आधुनिक उपकरण वहां मौजूद थे। सब कुछ नया था, चमक रहा था। पूछने पर मालूम हुआ कि इसके पुनर्निर्माण में ग्यारह हजार खर्च हो चुके हैं, और दस हजार के लगभग और सामान आने को है! ब्रह्मचारी तरह-तरह के व्यायाम कर रहे थे, अंग-प्रत्यंग को उल्टा सीधा करने के जो खेल हो सकते हैं, वे सब हर ब्रह्मचारी कर रहा था। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि फुटबाल आदि के प्रशिक्षण तथा व्यायामशाला के व्यायामों के प्रशिक्षण के लिए अलग-अलग दो शिक्षक रखे हुए हैं जो ब्रह्मचारियों को इनका प्रशिक्षण देते हैं।

खेलकूद तथा व्यायाम के अतिरिक्त ब्रह्मचारियों को यौगिक आसन भी सिखाए जाते हैं। यह योजना बन रही है कि यौगिक आसन सिखाने के लिए शिक्षा मन्त्रालय या यू० जी० सी० से अनुदान लेने का प्रयत्न किया जाए। पन्द्रह-सोलह साल हुए जब भारती नाम से एक योगासन शिक्षक की गुरुकुल में नियुक्ति थी और वह ब्रह्मचारियों को सब प्रकार के योगासन तथा नेति-धोती आदि यौगिक क्रियाएं भी सिखाते थे।

एक बात को देखकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। जहां बच्चों ने फुटबाल का मैच खेला था वहां जुलाई, १९८० में जंगल खड़ा था। किसी समय वहां बड़ा सुन्दर क्रीडा-मैदान था। अब जब मैं २ सितम्बर १९८१ को ब्रह्मचारियों का फुटबाल का मैच देखने गया, तब वहां पहले जैसा एक सुन्दर क्रीड़ा-क्षेत्र था। अभी गुरुकुल के परिसर में काफी जंगल-पना मौजूद है जिसे साफ-सुथरा करना आवश्यक है। इस परिसर में आयुर्वेद महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय के सभी विभाग रहते हैं। इस दृष्टि से अगर आयुर्वेद के प्रिन्सिपल अपने सरकारी विभाग से तथा विश्वविद्यालय के कुलपति शिक्षा मंत्रालय अथवा यू० जी० सी० से विशेष ग्रान्ट लेने का प्रयत्न करें या अगर उनके बजट में कोई इस दिशा पर व्यय करने की कोई राशि हो तो उसका सदुपयोग होना चाहिए ताकि परिसर का सम्पूर्ण प्रांगण चमक उठे।

मुझे पुरानी पुण्य-भूमि के दर्शन करने तथा कांगड़ी ग्राम देखने की भी उत्सुकता थी। एक दिन हम लोग उधर भी गये। पुण्य-भूमि तो मैं नहीं जा सका, क्योंकि कांगडी ग्राम में ही सारा समय व्यतीत हो गया, परन्तु यह जान कर अत्यन्त हर्ष हुआ कि गुरुकुल के सचालकों के प्रयत्न से कांगडी ग्राम के भाग जागने लगे हैं। वहां मुझे अपने पुराने कर्मचारियों के दर्शन हुए। कांगडी का नाम गुरुकुल के साथ ऐसा जुड़ा हुआ है जैसे वह गुरुकुल का अंग हो। इसका यह परिणाम हुआ कि जब गुरुकुल के अधिकारी बिजनौर जाकर मैजिस्ट्रेट से मिले, तब मैजिस्ट्रेट ही नहीं, कमिश्नर भी कांगडी ग्राम आया और उसने इस ग्राम को ग्राम-विकास योजना का अंग घोषित कर दिया। अब यहां लघु-उद्योग भी खुलेंगे और बड़ों के साथ जुड़ने के कारण यह छोटा-सा ग्राम भी बड़ा नाम ही नहीं, प्रगति में भी बड़ा हो जायेगा। कांगडी ग्राम की इस विकास-योजना का बोझ डॉ० विजयशंकर पर डाला गया है जो गुरुकुल विश्वविद्यालय के वनस्पति विभाग के अध्यक्ष हैं। कांगड़ी ग्राम की विकास योजना में श्री कैलाश प्रसाद गुप्त जी भी अपने सम्पूर्ण अनुभव से योग-दान कर रहे हैं। ये सब धन्यवाद के पात्र हैं। अब कांगडी ग्राम बड़ी सड़क से सीधा जुड़ गया है, और गुरुकुल विश्वविद्यालय से कांगडी ग्राम मोटर से १५ मिनट में पहुंचा जा सकता है।

जनता को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि गुरुकुल के उच्चाधिकारियों के प्रयत्न से गुरुकुल के गंगातट के पुराने जीर्ण-शीर्ण भवनों का भी सरकारी सहायता से पुनरुद्धार करने की योजना बन रही है। समय आ सकता है जब गुरुकुल विश्वविद्यालय का कोई विभाग फिर से पुरानी पुण्य-भूमि में खोला जा सके। —समाप्त

# बाल्मीकि आत्मोत्थान का मार्ग अपनाएं

## महर्षि बाल्मीकि स्वयं हमारे लिए आदर्श उपस्थित कर गए—आर्यवीर दल के प्रधान संचालक श्री हंस

गाजियाबाद। आर्यसमाज आर्य नगर की ओर से दलित एवं गरीब बन्धुओं की झुग्गी-झोपडियों में यज्ञ कराया गया। यज्ञ एवं भजनों के उपरान्त सार्वदेशिक आर्यवीर दल के प्रधान सचालक श्री प० बालदिवाकर हंस जी ने कहा कि महर्षि बाल्मीकि ने रामायण की रचना करके अपने जीवन से एक ऐसा आदर्श उपस्थित किया कि, हम उस महान आदर्श से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। आर्यसमाज ने बाल्मीकि रामायण को जनरुचि के अनुकूल प्रचार का प्रधान अंग स्वीकार कर उसका प्रचार किया है और मिलावट को निकाल बाहर किया। अतः हरिजन बन्धु हमारे अपनेपन के इस प्रयास को हृदय से स्वीकारें और आर्यसमाज में सदस्यता ग्रहण कर समानता के रूप में बन्धुभाव का प्रसार करें।

——०——

## वीर पर्व दशहरा वीरोचित रूप में ही मनाएं

### —प्रधान सचालक श्री बालदिवाकर हंस का युवापीढ़ी को आह्वान

बहजोई। सार्वदेशिक आर्यवीर दल के प्रधान सचालक श्री प० बालदिवाकर हंस ने बहजोई आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर विशाल सभा को सम्बोधित करते हुए युवाशक्ति को दशहरा पर्व वीरोचित ढंग से मानने की प्रेरणा करते हुए कहा कि वीरभोग्या वसुन्धरा भारत भूमि वीरों की जन्मदात्री रही। राम, लक्ष्मण, भरत और महाभारत के प्रणेता कृष्ण के वंशजो चेतो और समय की चाल पहचानो। अब समय आया है, जब ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में साधना मन्दिर: आर्यवीर दल' व्यायामशालाओं का जाल बिछा दो।

उन्होंने प्राचीन इतिहास और देश के प्रबुद्ध व्यक्तियों के उदाहरण देकर देश में विदेशी धन पर प्रमत्त साम्प्रदायिक लोगों की कड़ी भर्त्सना की और कहा कि अर्थ, लालच, भय आदि से धर्म परिवर्त्तन कराने वाले लोगों को अब सावधान होकर आर्यसमाज का आह्वान सुनना चाहिए। किन्तु अर्थ, लालच, भयादि से धर्म परिवर्तन पर सरकारी प्रतिबन्ध होना चाहिए।

——०——

## आर्यसमाज बीकानेर का वार्षिकोत्सव

बीकानेर २१ सितम्बर। आर्यसमाज, जैल रोड का वार्षिक उत्सव ४ से १० अक्तूबर की अवधि में रतन बिहारीजी बाग में मनाया जायेगा। जिसमें स्वामी वेद मुनि—नजीबाबाद, श्री ओमप्रकाश वेदालंकार—भरतपुर, पं० शान्ति प्रकाश गुड़गांव, श्री ओमप्रकाश वर्मा—अबोहर (हरियाणा), आर्य प्रतिनिधि सभा, राजस्थान जयपुर की भजन मण्डली और नवाब छतारी के पोते डॉ० आनन्द सुमन भाग लेंगे।



——०——

# उड़ीसा में हिन्दू एकता सम्मेलन

भुवनेश्वर। उड़ीसा के प्रसिद्ध नगर बालेश्वर में विश्व हिन्दू परिषद् आर्यसमाज तथा अन्य धार्मिक सस्थाओ के प्रयत्न से एक विशाल जन सभा का आयोजन हुआ था। नगर का टाउनहॉल खचाखच भरा था। इसमें उत्कल आर्य प्रतिनिधि सभा के मंत्री आर्य विद्वान श्री प्रियव्रतदास, विश्व हिन्दू परिषद उड़ीसा शाखा के मंत्री श्री अरुण कुमार पंडा, रामानुज पंथी डॉ० अयोध्या दास, भागवतकार अध्यापक रगाधर सारंगी तथा अन्य धार्मिक सस्थाओं के वरिष्ठ विद्वानों के भाषण हुए। 'हिन्दू एकता के बारे में सब वक्ताओं ने जनता का आह्वान किया। पिछड़ी जाति के सामूहिक धर्मान्तरण में विदेशी धन के आयात पर प्रतिबन्ध के बारे में एक प्रस्ताव पारित हुआ।

# आर्य जगत् समाचार

## तीन आर्यसमाजों ने हरिजन बस्तियां गोद लीं

### आर्यसंस्थाएं अनुकरण करें : हरिजन स्नेह-सम्मेलन की धूम

६ सितम्बर प्रात नवनीत लाल सत्यप्रिय धर्मार्थ ट्रस्ट के तत्त्वावधान मे महाशय कृष्ण आर्यभवन जोर बाग मे हरिजन स्नेह सम्मेलन किया गया। यज्ञ में आर्य शिक्षण सस्थाओ के एक सौ से अधिक हरिजन छात्र तथा छात्राओं ने आहुतियां डालीं। पं० ज्ञानचन्द जी ने सबको यज्ञोपवीत दिए।

अध्यक्ष स्वामी विद्यानन्द सरस्वती ने हिन्दू समाज से छुआछूत समाप्त करने पर बल दिया। हरिजन भाइयों को हिन्दू समाज का एक सुदृढ़ अंग बनाने के लिए केवल भाषण और सम्मेलन से कुछ अधिक लाभ नहीं है।

आर्यसमाज के कार्यकर्त्ताओ को तन, मन, धन लगाकर अन्य हिन्दू सस्थाओ से मिलकर कुछ क्रियात्मक कार्य करना होगा।

श्री नवनीत लाल एडवोकेट प्रधान ट्रस्ट ने आर्यसमाज के अधिकारियो से प्रार्थना की कि प्रत्येक समाज एक हरिजन बस्ती को गोद ले और बताया कि उनकी प्रार्थना पर आर्यसमाज लोदी रोड, आर्यसमाज मोगल तथा आर्यसमाज निजामुद्दीन ने अपने निकट की हरिजन बस्तियों को गोद लेने का निश्चय कर लिया। उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि प्रत्येक आर्य परिवार एक किसी हरिजन परिवार का भार अपने जिम्मे ले। इसके पश्चात् पचास-साठ हरिजन छात्र व छात्राओं को श्रीमती रानीदत्ता के कर कमलो से सध्या या वेदमन्त्र सुनने पर पारितोषक वितरण किए गए। लगभग पांच सौ आर्यजनों ने जिनमें १५० हरिजन थे मिलकर सहभोज किया। हरिजन मन्दिर के पुजारी श्री प्यारेलाल व उनके साथियों का स्वागत किया गया।

—x—

## पंजाब के हालात के लिए जनसंघी जिम्मेदार

### साम्प्रदायिक ताकतों का मुकाबला किया जाएगा

पश्चिम दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री श्री ओम्प्रकाश आर्य ने आर्यसमाज महावीर नगर एव गुप्ता कालोनी के वार्षिक उत्सवों के अवसर भाषण देते हुए कहा कि पंजाब में जो गम्भीर हालात पैदा हुए हैं उनके लिए जनसंघी श्री यज्ञदत्त शर्मा एव उनके साथी जिम्मेदार हैं। श्री आर्य ने कहा कि यदि दो कुर्सियों के लिए जनसंघियो ने अपना ईमान अकालियों के आगे न बेचा होता और उनसे मिलकर पजाब में उनको गद्दी पर न बिठाया होता तो आज यह हालात कभी पैदा न होते। उन्होने कहा कि आर्यसमाज देश की एकता कभी भंग नही होने देगा और इस एकता को भग करने वाली साम्प्रदायिक शक्तियों का मुकाबला करने के लिए इन्दिरा सरकार का पूरा सहयोग देगा। लाला जगत नारायण के हत्यारों को पनाह देने वाले लोगो को चाहे वे कितने ही बड़े लोग क्यों न हों, उनके विरुद्ध कड़ी कार्यवाही की जाए।

आर्य केन्द्रीय सभा के प्रधान, दिल्ली के प्रसिद्ध आर्यनेता महाशय धर्मपाल ने कहा कि श्रीमती इन्दिरा गांधी ने हरिजनों के सामूहिक धर्म परिवर्तन को रोकने मे जिस सूझबूझ का परिचय दिया है उसी तरह वह पजाब के गम्भीर हालात को निपटाने मे पीछे नही हटेंगी।

—o—

### श्री रविशास्त्री की वेदकथा

आर्यसमाज सदर बाजार दिल्ली-६ में दिनांक १५ से २१. ८. ८१ तक वेद प्रचार का आयोजन किया गया जिसमें समाज के सुयोग्य पुरोहित श्री रवि शास्त्री व्याकरणाचार्य ने वेद मन्त्रों के माध्यम से अपने ओजस्वी वैदिक प्रवचनों द्वारा जनसमुदाय को प्रभावित एवं लाभान्वित किया।

## लाला जी की हत्या—पत्रकारिता की हत्या

### देश की भावी पीढ़ी प्रेरणा लेगी

दिल्ली। केन्द्रीय आर्ययुवक परिषद दिल्ली मण्डल की विशेष सभा की बैठक को सम्बोधित करते हुए परिषद के दिल्ली राज्य के महामन्त्री श्री अनिलकुमार आर्य ने लाला जगत नारायण की हत्या को पत्रकारिता की हत्या की संज्ञा देते हुए सरकार से मांग की कि पत्रकारो की हर तरह से सुरक्षा की जानी चाहिए क्योकि पत्रकार ही किसी समाज व राष्ट्र के दर्पण होते हैं वे ही राष्ट्र के जागरूक पहरेदार होते हैं।

उन्होने कहा अमर शहीद जगत नारायण ने देशद्रोहियों के विरुद्ध जो अभियान चलाया है राष्ट्रवादी व देश-प्रेमी जनता उसे पुरजोर सफल बनाएगी। देश की भावी पीढ़ी शहीद जगतनारायण से प्रेरणा लेती रहेगी। ०००

आर्यसमाज साबुन बाजार, लुधियाना मे १७ से रविवार २० सितम्बर तक वेद सप्ताह बड़ी धूमधाम से मनाया गया। इस अवसर पर चारो वेदों के शतकों का यज्ञ भी किया गया।

### हरिजन बस्तियों में यज्ञनुष्ठान एवं गोष्ठियाँ

धनौरा (टीकरी) बटाली (मुजफ्फरनगर) में आचार्य [illegible], ज्वालापुर वालों के सहयोग से सामवेद परायण यज्ञ हुआ। इसके पश्चात् गढ़ी कागरान में पं० मनफूल सिंह के ब्रह्मत्व मे ऋग्वेद (प्रथम मण्डल) परायण यज्ञ हुआ। क्षेत्र मे अनेक स्थानो पर पौरोहित्य कर्म में अनेक हरिजन बन्धुओं ने [illegible] लोगो ने धूम्रपानादि त्याग नियमानुसार सध्यादि करके सहज जीवन व्यतीत करने का वक्त देकर आर्यत्व की गरिमा को पहिचाना।

### श्री मनोहरलाल गुप्त चण्डीगढ़ स्थानान्तरित

आर्य केन्द्रीय सभा के भू० पू० मन्त्री एवं दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के अन्तरंग सभा के सदस्य रिजर्व बैंक नई दिल्ली के एक विशेष अधिकारी श्री मनोहर लाल गुप्ता स्थानान्तरित होकर सेक्टर ४७ मकान संख्या ३८६६ चण्डीगढ़ चले गए हैं।

### डा० चन्द्रभानु शास्त्री एम०ए० अकिंचन दिवंगत

गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के प्रतिष्ठित स्नातक श्री डा० चन्द्रभानु जी अकिंचन का देहावसान आयुर्वेद संस्थान दिल्ली में २१. ९. ८१ को हो गया। उन्हें कुछ समय पूर्व बाएं अंग पर फालिज का आक्रमण भी हुआ, साथ ही मस्तिष्क में ट्यूमर भी हुआ। इसी के आपरेशन हेतु मेडिकल इन्स्टीट्यूट में भर्ती कराए गए। इसी मध्य उनका स्वास्थ्य और बिगडता गया। प्रसिद्ध चिकित्सकों ने उन्हे बचाने के लिए भरसक प्रयत्न किया, किन्तु बचाए न जा सके।

गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर और बनारस मे शिक्षा ग्रहण करने के बाद बाजोरिया कालिज सहारनपुर, नानकचन्द डिग्री कालेज मेरठ, फिर गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के आचार्य रहे। उसके बाद गुरुकुल कांगड़ी के वाइसचान्सलर तथा रजिस्टार भी रहे। प्रभु उन्हें सद्गति दें। परिवार को कष्ट सहन करने की शक्ति प्रदान करें।

# आर्यसमाजों के सत्संग

४ अक्तूबर '८१

बन्धा मुगल प्रतापनगर—कविराज बनवारी लाल शादां; अमर कालोनी —पं० सुधाकर स्नातक; आर्यपुरा—पं० वेदपाल शास्त्री; आर. के. पुरम सेक्टर-५—स्वामी जगदीश्वरानन्द; आनन्द विहार—प० देवराज वैदिक मिश्नरी; किंग्सवे कैम्प—श्रीमती लीलावती आर्या; कालकाजी डी-डी-ए फ्लेट्स—डा० रघुनन्दनसिंह; कालकाजी—श्रीमती गीता शास्त्री; करौल बाग—डा० सुखदयाल भूटानी; कृष्णनगर—ला० लखमीदास आर्य; कीर्तिनगर—डा० देवेन्द्र द्विवेदी, गाँधीनगर—पं० प्रकाशचन्द शास्त्री, गीता कालोनी—श्रीमती प्रकाशवती शास्त्री; गुप्ता कालोनी—प० विश्व प्रकाश शास्त्री; गोविन्द पुरी—प० हीराप्रसाद शास्त्री; गोविन्द भवन-दयानन्द वाटिका—पं० प्रदीपकुमार शास्त्री; चूना मण्डी पहाड़गज—पं० आशानन्द भजनोपदेशक; जंगपुरा भोगल—प० सत्यभूषण वेदालकार; जनकपुरी सी-३—प० [illegible] प्रसाद विद्यालंकार; जनकपुरी बी ३/२४—प० हरिदत्त शास्त्री; टैगोर गार्डन—पं० ओमवीर शास्त्री; तिलक नगर—प० प्रकाशचन्द वेदालकार; तिमारपुर—पं० खुशीराम शर्मा; देवनगर (मुलतान)—प्रो० सत्यपाल वेदार; नारायण विहार—वैद्य रामकिशोर; नयाबाँस—प्रो० वीरपाल विद्यालंकार; नगर शाहदरा—स्वामी प्रेमानन्द; पजाबीबाग—डा० रघुवीर वेदालकार; पजाबी बाग एक्सटेन्शन—प० प्रकाशवीर 'व्याकुल'; पश्चिम पुरी जनता क्वार्टर—श्रीमती भगवान देवी; बाग कड़े खाँ—प० बरकतराम भजनोपदेशक; मोडल बस्ती—प० रामरूप शर्मा; महावीर नगर—पं० ईश्वरदत्त एम.ए.; मोती बाग—प० सत्यनारायण शास्त्री; रघुवीर नगर—प० महेशचन्द्र भजनोपदेशक; राणा प्रतापबाग—प० प्राणनाथ सिद्धान्तालंकार; राजौरी गार्डन—पं० देवेश; लक्ष्मीबाई नगर—पं० तुलसीराम भजनोपदेशक; लाजपत नगर—प० उदयपाल शास्त्री; लारेन्स रोड—श्री चमनलाल आर्य; विक्रम नगर—पं० अमरनाथ कान्त; विनय नगर—श्री देशराज खन्ना; सुदर्शन पार्क—प्रो० भारतमित्र शास्त्री तथा ज्ञानचन्द्र डोगरा गायक; सराय रोहेला—श्री मोहनलाल गांधी; शालीमार बाग—प० शिवकुमार शास्त्री; हनुमान रोड—प० हरिशरण सिद्धान्तालंकार, हौज खास डी-२०—प० मुनिशकर वानप्रस्थ।

—ज्ञानचन्द डोगरा; वेद प्रचार विभाग

## आर्यसमाज मोडल बस्ती के प्रीतिभोज में हरिजन

नई दिल्ली क्षेत्रीय प्रतिनिधि सभा से सम्बद्ध सभी आर्यसमाजो का सामूहिक समापन कार्यक्रम २० सितम्बर को आर्यसमाज मोडल बस्ती शीदीपुरा, दिल्ली मे सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर आयोजित प्रीतिभोज में सैकड़ों की सख्या में हरिजन एवं बाल-वृद्ध-युवा नर-नारी सम्मिलित हुए। कृष्णनगर दिल्ली के दानवीर श्री विद्याप्रकाश सेठी सपत्नीक पधारे और आर्यसमाज को ५०१ का दान भेंट किया।

—हरिजन बस्ती रणजीत नगर मे आर्य सत्सग मण्डल के तत्त्वावधान मे १४ सितम्बर को श्री वेदव्यास जी और पं० प्रकाशवीर व्याकुल के भजनोपदेश हुए।

## आर्यसमाजों के नये पदाधिकारी

आर्यसमाज घोण्डा, दिल्ली—१५३। प्रधान—श्री ओमप्रकाश गुप्त, उपप्रधान—श्री ओमप्रकाश गुप्त (जल वाले); मन्त्री—श्री रामरक्षपाल गुप्त; उपमन्त्री—श्री श्यामसिंह आर्य; कोषाध्यक्ष—श्री लक्ष्मणदास गुप्त, पुस्तकालयाध्यक्ष—श्री [illegible] प्रचार मंत्री—श्री श्यामसिंह आर्य।

महिला आर्यसमाज घोण्डा। प्रधाना—श्रीमती दुर्गा देवी; उपप्रधाना-श्रीमती प्रकाश रानी आर्या; मन्त्रिणी—श्रीमती विद्यादेवी; उपमन्त्रिणी—श्रीमती गायत्रीदेवी; प्रचार मन्त्रिणी—श्रीमती फूलमाला देवी।

आर्य जिला सभा गुरुदासपुर। प्रधान—श्री रामकिशन महाजन, उपप्रधान—सर्वश्री सुभाष मित्तल एव जगदेव कुमरा; मन्त्री—प्रि. प्रेमनाथ तिक्कू; उपमन्त्री—श्री पृथ्वीराज जिज्ञासु, प्रचार मन्त्री—श्री स्वतन्त्रकुमार मरगडे, कोषाध्यक्ष—श्री वेदप्रकाश।

आर्यसमाज बदरपुर। प्रधान—श्री खेमचन्द्र एडवोकेट, उपप्रधान—श्री राजेन्द्र सिंह [illegible]—श्री बलराज आर्य; मन्त्री—श्री [illegible]पाल, कोषाध्यक्ष—श्री प्रीतम सिंह आर्य; पुस्तकाध्यक्ष—श्रीचन्द्र आर्य।

आर्यसमाज नागल राया—प्रधान चौ० देवीसिंह; उपप्रधान—लाला सूरज भान एव चौ० रूपचन्द्र; मन्त्री—श्री अजीतकुमार; उपमन्त्री—श्री राजेन्द्र प्रसाद त्यागी; प्रचार-मन्त्री—श्री रघुराज शास्त्री, कोषाध्यक्ष—श्री सूरजभान गुप्त, पुस्तकाध्यक्ष—श्री रामदास आर्य, लेखा-परीक्षक—श्री दलीपसिंह।

## दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रकाशन

| | |
|---|---|
| सत्यार्थप्रकाश सन्देश (हिन्दी) | १.०० |
| ,, ,, (अंग्रेजी) | समाप्त |
| आर्य सन्देश-महासम्मेलन विशेषांक | ६.०० |
| पादरी भाग गया — ओम्प्रकाश त्यागी | ०.३० |
| स्वामी श्रद्धानन्द-बलिदान अर्द्ध शताब्दी स्मारिका | ६.०० |
| सत्यार्थप्रकाश शताब्दी समारोह स्मारिका | ६.०० |

सम्पर्क करें—
अधिष्ठाता प्रकाशन विभाग
दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा,
१५, हनुमान रोड,
नई दिल्ली-११०००१

卐 'आर्यसन्देश' के ग्राहक स्वयं बनें—
दूसरों को बनाएं
卐 आर्यसमाज के सदस्य स्वयं बनें—
दूसरों को बनाइए
卐 हिन्दी-संस्कृत भाषा स्वयं पढ़
दूसरो को भी पढ़ाइए—

# उत्तम स्वास्थ्य के लिए
# गुरुकुल कांगड़ी
# फार्मेसी, हरिद्वार
# की औषधियाँ
# सेवन करें

शाखा कार्यालय : ६३ गली राजा केदारनाथ,
फोन नं० २६१८३८ चावड़ी बाजार, दिल्ली-६

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के लिए श्री सरदारी लाल वर्मा द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा भाटिया प्रेस २५७४, रघुबरपुरा नं०२ गांधीनगर दिल्ली-३१ में मुद्रित। कार्यालय १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली फोन ३१०१५०

ओ३म्

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

# आर्य सन्देश

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा का साप्ताहिक मुखपत्र

एक प्रति ३५ पैसे  वार्षिक १५ रुपये  वर्ष ४ . अंक ५०  रविवार २६ आश्विन, वि० २०३८  ११ अक्तूबर १९८१  दयानन्दाब्द १५७

## अन्तर्राष्ट्रीय सत्यार्थप्रकाश शताब्दी समारोह उदयपुर

### दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा विशेष बसों का कार्यक्रम

दिल्ली। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री सरदारी लाल वर्मा, कार्यवाहक मन्त्री प्रो० भारत मित्र, सभा कोषाध्यक्ष श्री बलवन्तराय खन्ना ने एक विज्ञप्ति में घोषित किया है—

उदयपुर में १६-१८ अक्तूबर १९८१ को सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्वावधान में आयोजित इस समारोह में दिल्ली से अधिकाधिक आर्य नर-नारियों के जाने के लिये दिल्ली के प्रत्येक क्षेत्र से स्पेशल बस चलाने का प्रबन्ध दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा किया गया है। यात्री रास्ते मे आने वाले दर्शनीय स्थानों को भी देख सकेंगे। बसों का कार्यक्रम निम्न प्रकार रहेगा :—

| तिथि | प्रस्थान | समय | पहुंच | समय |
|---|---|---|---|---|
| १४-१०-८१ | दिल्ली | प्रातः ८ बजे | अलवर | प्रातः ११.३० बजे |
| | अलवर | मध्याह्नोतर २.०० बजे | अजमेर | रात्रि ८.०० बजे |
| १५-१०-८१ | अजमेर | प्रातः १०.०० बजे | पुष्करराज | प्रातः १०.३० बजे |
| | पुष्करराज | प्रातः ११.३० बजे | ब्यावर | दोपहर १.०० बजे |
| | ब्यावर | बाद दोपहर २.३० बजे | चित्तौड़गढ़ | साय ६.०० बजे |
| १६-१०-८१ | चित्तौड़गढ़ | प्रातः ८.०० बजे | उदयपुर | प्रातः ९.३० बजे |
| १८-१०-८१ | उदयपुर | सायं ४.३० बजे | नाथद्वारा | सायं ५.३० बजे |
| | नाथद्वारा | रात्रि ७.३० बजे | जयपुर | प्रातः ५.०० बजे |
| १९-१०-८१ | जयपुर | मध्याह्न १.०० बजे | दिल्ली | साय ७.३० बजे |

बस का किराया प्रति सवारी १४५/- रुपये (लागत मात्र) ही रखा गया है। जिस स्थान पर भी १० सवारी होंगी, बस वहीं आएगी। दस से कम सवारी अपने क्षेत्र के निकटतम स्थान जहां बस आयेगी पहुंच जायें। रास्ते में ठहरने की व्यवस्था सभा द्वारा की जायेगी। भोजन अपना करना होगा। हो सकता है स्थानीय आर्यसमाजें भी किसी स्थान पर भोजन अथवा जलपान का प्रबन्ध कर दें।

१० अक्तूबर तक ही सीट आरक्षण हो सकेगा। आरक्षण कराते समय यात्री अपना नाम, पिता/पति का नाम/आयु/अपना पूरा पता अवश्य लिखवायें। यह अत्यावश्यक है। अपनी सीट शीघ्र आरक्षित कराकर रसीद प्राप्त कर लें ताकि बाद में पछताना न पड़े। ☐

## २७ अक्तूबर को रामलीला मैदान में ऋषि निर्वाणोत्सव

### आर्य केन्द्रीय सभा का आह्वान : भारी संख्या में जनता भाग ले

नई दिल्ली आर्य केन्द्रीय सभा, दिल्ली राज्य के प्रधान महाशय धर्मपाल और महामन्त्री प्रिन्सिपल ओमप्रकाश ने समस्त आर्यसंस्थाओं, आर्यसमाजों एव आर्यजनों से अनुरोध किया है कि सभा के तत्वावधान में मंगलवार ता० २७ अक्तूबर को प्रातः ९ से १२ बजे तक रामलीला मैदान में हो रहे ऋषि निर्वाणोत्सव में अधिक से अधिक संख्या में स्वयं पहुंचे तथा ऐसे लोगों को भी आने के लिए प्रेरणा दें जो अभी आर्यसमाज से सम्बन्धित नहीं है।

स्मरण रहे कि उस दिन प्रातः आठ बजे रामलीला मैदान में पहुंचकर सामूहिक यज्ञ में भाग लेना है। उत्सव से पूर्व अपने मोहल्लों में प्रभात फेरी का आयोजन करते हुए महर्षि उत्सव की सूचना दें, अपने क्षेत्र में सार्वजनिक सभा कर ऋषि जीवन पर प्रकाश डालें। अपने क्षेत्र के आर्य परिवारों को लाने के लिए बसों की व्यवस्था करें, उन्हें झण्डों तथा मोटों एवं आर्यसिद्धान्त वाक्यों से सजाएं। उस दिन समस्त आर्यजन अपने घरों एवं समाज-मन्दिर पर दीपमाला करें।

## विदेशी धन से भारत के धार्मिक सन्तुलन को उलटने का षड़यन्त्र

विदेशी ईसाई मिशनों द्वारा भारत के पर्वतीय क्षेत्रों मे किए जा रहे धर्म-परिवर्तनों के पीछे क्या राजनीति छिपी है, यह इस राजनीतिक षडयन्त्र के आविष्कारक श्री विलियम फ्रेंक ग्राहम द्वारा फरवरी, १९५३ मे सयुक्त राज्य अमेरिका के 'वायस आफ अमेरिका' ब्राडकास्टिंग स्टेशन से 'निर्णय की घड़ी' विषयक कार्यक्रम मे दिए भाषण से अभिव्यक्त होती है। श्री ग्राहम ने कहा था—'अमेरिका के लोगो, यदि संसार मे कम्युनिज्म का सामना करना चाहते हो तो तुम्हें इसका मुकाबला सबसे पहले भारत मे करना होगा, क्योंकि अमेरिकी और रूसी गुटों के मध्य भारत के हाथ में ही सन्तुलन की शक्ति है। इसके लिए भारत मे पादरियों की एक सेना भेजनी होगी, जिसका नारा होना चाहिए कि भारत में बूढ़ा हिन्दू धर्म समाप्त हो और उसकी लाश पर ईसाई धर्म का झण्डा लहराए ताकि अमेरिका अपने चर्चों के माध्यम से भारत के राजनीतिक ढांचे पर अपना नियन्त्रण कर सके।

उल्लेखनीय है कि उक्त योजना के अन्तर्गत ही भारत में विदेशी ईसाई मिशनरी और अपार धनराशि आई और देखते-देखते भारत के समस्त पर्वतीय क्षेत्रों नागालैण्ड, मिजोरम, मेघालय, छोटा नागपुर केरल आदि क्षेत्रो मे वे फैल गए और उन क्षेत्रों पर उनका अधिकार स्थापित हो गया अथवा उन पर अधिकार के लिए उनके सशस्त्र आन्दोलन प्रचलित हैं। ईसाइयो से ही विदेशी मुस्लिम राष्ट्रो में सामूहिक धर्म-परिवर्तन का कार्यक्रम अपनाया।

## गांव में रहना है तो मुसलमान बनो

### उत्तरप्रदेश के हरिजनों को धमकी : मुख्यमन्त्री को शिकायत

हरदोई। सदीला तहसील के मरिगहना गाव के एक हरिजन धन्ना चमार ने उत्तरप्रदेश के मुख्यमन्त्री श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह को भेजे एक प्रार्थनापत्र में कहा है—उक्त मुस्लिम बहुल क्षेत्र में हरिजनो से कहा जा रहा है कि यदि इस गांव में रहकर कुएं का पानी पीना है तो पहले इस्लाम धर्म स्वीकार करो। यह सब इसलिए नहीं है कि वहा पेयजल का साधन नही है, प्रत्युत यह एक आतक और भय का कारण है जिसके कारण गरीब और कमजोर हरिजन पीने का पानी कुओं से निकालने का साहस नही कर सकते, फलत. उन्हे मजबूरन तालाब का पानी पीना पड़ता है।

यह भी ज्ञात हुआ है कि हरिजनो द्वारा इस्लाम धर्म स्वीकार करने से इन्कार करने पर मुसलमान उन्हे उत्पीड़ित कर रहे हैं। यह भी ज्ञात हुआ है कि उनकी फसलें नष्ट कराकर उन्हें झूठे मुकदमों मे फसाया जा रहा है।

—सम्पादक नरेन्द्र विद्यावाचस्पति

# वीर माता

मम पुत्राः शत्रु हणोऽथो मे दुहिता विराट् ।
उताहमस्मि सञ्जया, पत्यौ मे श्लोक उत्तमः ।। ऋ०—१०-१५९-३

(मम पुत्राः) मेरे पुत्र (शत्रुहण) शत्रुओ को मारने वाले हैं, (अथो) और (मे दुहिता) मेरी पुत्री (विराट्) विशेष तेजस्विनी है (उत अहम्) और मैं भी (सञ्जया अस्मि) विजयिनी हू (मे पत्यौ) मेरे पति मे (उत्तम श्लोक) उत्तम कीर्ति का निवास है ।

स्त्री का सबसे अधिक मनोहर रूप उसके मातृत्व मे है, इसलिए स्वामी दयानन्द महाराज ने 'सत्यार्थप्रकाश' मे लिखा है 'वस्तुत जब तीन उत्तम शिक्षक अर्थात् एक माता, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य होवे तभी मनुष्य ज्ञान वान् होता है । वह कुल धन्य है । वह सन्तान भाग्यवान् है, जिसके माता-पिता धार्मिक विद्वान हो ।' महाभारत मे भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर को बतलाया है कि दुनिया का सबसे बड़ा पाप आचार्य (अध्यापक) की हत्या है । परन्तु पिताकी हत्या १०० आचार्यों की हत्या के बराबर होती है और १००० पिताओ की हत्या एक माता की हत्या के बराबर होती है । इसलिए कहा गया है 'न मातुः परं दैवतम्' माता से बढ़कर दूसरा कोई देवता नही । स्वामी दयानन्द ने लिखा है 'जैसे माता सन्तानो पर प्रेम (और) उनका हित करना चाहती है उतना अन्य कोई नही करता, इसलिए 'मातृमान्' अर्थात् 'प्रशस्ता धार्मिकी माता यस्य स मातृमान्' अत. धन्य है वह माता जो गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या न हो तब तक सुशीलता का उपदेश करे ।'

क्या कभी आपने माँ के वास्तविक स्वरूप को समझने की चेष्टा की है । स्त्री का वास्तविक स्वरूप माता अर्थात पवित्रता, वत्सलता, कारुण्य की मूर्ति है । वह 'मम इण्डिया' या 'मिस वर्ड' नही बनना चाहती वह तो विदुला, मार्मी, मैनोयी और जीजाबाई बनना चाहती है कौशल्या, देवकी, अजना और जानकी बनना चाहती है । वह तपस्या की साक्षात् प्रतिमा है । साधना और तपस्या का मूर्तिमान रूप है । वह बालकृष्ण से बाते करती है, उसे शिक्षित करती है, उसके जीवननिर्माण के लिए हर सम्भव यत्न और तप करती है । सबकी सेवा उसका काम है । सम्पूर्ण परिवार का सुख उसका आनन्द है, उसका सुख है, उसका विनोद है । वह शराब के नशे में चूर अपने गिरे हुए पति को प्रेम से उठाकर श्रद्धानन्द बना देती है । वह पवित्रता का आदर्श है, सहनशीलता साक्षात् प्रतिमा है । अपने बच्चों को सम्भालने वाली और राष्ट्रीय जीवन को प्राणवान् बनाने माता को अनन्त प्रणाम ।

सुनिए शत्रुओ से युद्ध करने वाले और अपने को मातृभूमि पर बलिदान करने वाले दो क्रान्तिकारी वीरो की माताओ की प्रेरणा की कहानी ।

### भारत माता का स्वरूप

शहीदेआजम वीर भगतसिंह की माँ विद्यावती और पिता प्रसिद्ध क्रान्तिकारी थे । १८९८ मे उनका विवाह आर्यसमाजी रीति से हुआ । सितम्बर १९०७ मे भगतसिंह का जन्म हुआ । भगतसिंह अपनी माँ को बेबे कहते थे । १९२३ ई० मे किसी ने भगतसिंह को बताया था कि भगतसिंह को 'तख्त' या 'तख्ता' मे से एक मिलेगा । भगतसिंह की माँ ने फांसी होने के एक दिन पूर्व कहा था 'बेटा, हठ मत छोड़ना, एक दिन तो मरना ही है पर मरना वह जिसे सारा ससार याद करे और रो उठे । मैं खुश हूँ कि मेरा पुत्र ऊंचे और अच्छे कार्यों के लिए बलिदान हो रहा है मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि फाँसी के तख्ते पर खडा होकर मेरा पुत्र 'इन्कलाब जिन्दाबाद' के नारे लगाए ।' २३ मार्च, १९३१ ई० को भगतसिंह को फांसी हुई तो वह रोई नही । भगतसिंह ने कहा था 'बेबे जी, रोना मत । ऐसा न हो कि आप पागलो की तरह रोती फिरें । लोग क्या कहेंगे कि भगतसिंह की मा रो रही है ।' माँ १९३१-१९३४ ई० तक घोर संकट मे रही । १९३९-४० मे उनके दूसरे बेटे कुलतारसिंह और कुलबीरसिंह जेल चले गए । १९५१ ई० उनके पति किशनसिंह दिवगत हुए । २० अगस्त, १९६५ ई० को भगतसिंह के अनन्य साथी बटुकेश्वर दत्त का निधन हो गया । दत्त की इच्छा नुसार उनका अन्तिम सस्कार फिरोजपुर मे सतलज के किनारे वहीं किया गया जहाँ कभी भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव का दाह संस्कार हुआ था । विद्यावती वहां उपस्थित थीं । चिता में आग लगाते ही शोक विह्वल होकर कहने लगी कि तुम चारों तो यहा इकट्ठे हो गए मुझे भी अपने पास बुला लो । जनवरी १९७३ ई० को पंजाब सरकार ने उन्हें 'पंजाब माता' के सम्मान से विभूषित किया । १ जून, १९७५ को ९८ वर्ष की अवस्था में दिल्ली में उनका देहावसान जिसे हम बलिदान कहेंगे हुआ । धन्य है, पंजाब माता तूने देश को भगतसिंह सा अनमोल रत्न दिया । तू पंजाब माता नहीं सम्पूर्ण भारतवासियों की मां है—तू भारत माता का स्वरुप है । तेरे चरणों में हमारा सादर प्रणाम है ।

### बिस्मिल की माता की कहानी

रामप्रसाद बिस्मिल की मां की कहानी सुनिए । ग्यारह वर्ष की अवस्था में श्री मुरलीधर से उनका विवाह हुआ । विवाह के बाद उन्होंने पढ़ना सीखा । बिस्मिल सहित उनके दो पुत्र और तीन पुत्रिया हुईं । बिस्मिल ने अपनी आत्मकथा में लिखा है 'मेरी माता मेरे धर्म कार्यों और शिक्षा में बड़ी सहायता करती थीं । धार्मिक और देशभक्ति सम्बन्धी पुस्तकें पढ़ने के लिए पैसे देती थी । मेरी माँ सत्कार्यों में मेरा उत्साह भग नहीं होने देती थीं, जिससे उन्हें बहुत बार पिताजी की डाट फटकार सुननी पड़ती थी । मुझे जीवन, बल, साहस और धर्म तथा देशभक्ति की जो भी प्रेरणा मिली वह मेरी माता और गुरुदेव सोमदेव सरस्वती की कृपा का फल था । जब मैंने आर्यसमाज मे प्रवेश किया तो माँ से खूब वार्तालाप होता । यदि मुझे ऐसी मा न मिलती तो मैं अति साधारण व्यक्ति की भांति ससार चक्र में फंसकर जीवन निर्वाह करता । मां ने ही मुझे सत्यार्थप्रकाश के आधार पर गंदे से गंदा स्वदेशी राज्य अच्छे से अच्छे विदेशी राज्य ही अच्छा है ।' कहकर क्रांतिकारी जीवन की प्रेरणा दी । क्रान्तिकारी जीवन में भी उन्होने वैसे ही सहायता की जैसे इटली के क्रांतिकारी मेजिनी की उनकी माँ ने की थी ।'

फांसी से पूर्व रामप्रसाद बिस्मिल से गोरखपुर जेल मे मिलने के लिए एकबार मा पहुंची । बिस्मिल माँ को देखकर रो पड़ा । माँ के साथ शिववर्मा भी थे । माँ ने उस समय दृढ़ स्वर में कहा 'मैं तो समझती थी कि बेटा, बहादुर है । जिसके भय से अग्रेज सरकार कांपती है । मुझे पता न था कि वह मौत से डरता है । यदि तुम्हें रोकर ही मरना था तो व्यर्थ ही इस काम में आए ।' बिस्मिल की आँख में माँ के प्रति प्रेम के आंसू थे, मौत के भय के आँसू नहीं । जेल अधिकारी इसे देखकर आश्चर्यचकित थे ।

एक बार अन्तिम दिन, जब उसे फाँसी होने वाली थी । मां पुनः और अन्तिम बार मिलने गई । वहाँ पहुचते मां ने रोना शुरू किया मा रोती जा रही थी । आसुओं से उनका आंचल भीग उठा था । जब वह शान्त हुई तो बिस्मिल ने कहा 'मां, तुम रोती हो ? तुम कहो तो मैं क्षमा माँगकर फांसी से बच जाऊ ? मैं जो भी कुछ हूं उसके बनाने का श्रेय तुम्हीं को है । तुम्हीं ने बचपन में स्वतन्त्रता के लिए मरने मिटने में हिचक न करने का उपदेश दिया, तुमने अपनी ममतामयी स्नेहमयी दूध की घूंटोंके साथ स्वामी दयानन्द के सत्यार्थ प्रकाश से गन्दे से गन्दा स्वदेशी राज्य अच्छे से अच्छे विदेशी राज्य से अच्छा है कह कर उस विदेशी राज्य को उखाडने की शिक्षा दी थी । आज सौभाग्य से यह सुअवसर आया है तुम्हारे ये आसू मुझे विचित्र लग रहे हैं । कहो तो माफी माँग लूं ।

लेखक :
**सुरेशचन्द्र वेदालंकार**
एम० ए० एल० टी०,

उस समय माँ ने जो कहा, वह ससार के इतिहास मे कहीं नहीं मिलेगा । वह स्वर्णाक्षरो में लिखने योग्य शब्द हैं । वह बोली 'बेटा, मैं मृत्यु से भयभीत नही हूं । मैं तो इसलिए रो रही हूं कि कल जब भारत की स्वतन्त्रता की प्राप्ति और रक्षा हेतु दूसरी माताए अपने प्राण प्यारे पुत्रों को गोद में लेकर भारत माँ के चरणों में अर्पित कर रही होंगी, उस समय मेरे पास और कोई वीर सन्तान न होगी जिसे मैं राष्ट्र माता के चरणो मे अर्पित कर सकूंगी ।'इनका एक पुत्र पहले मर चुका था । बिस्मिल ने लिखा है 'मां महान से महान कष्ट में तुमने मुझे अधीर नहीं होने दिया । सदैव अपनी प्रेम भरी वाणी सुनाते हुए सान्त्वना देती रही । सदैव तुम्हारी दया की छाया मे मैंने अपने जीवन में कोई कष्ट अनुभव नहीं किया । इस संसार मे मेरी किसी भी भोग विलास या ऐश्वर्य की इच्छा नहीं । केवल एक तृष्णा है कि एक बार तुम्हारे चरणों की सेवा करके अपने जीवन को सफल बना लूं । किन्तु यह इच्छा पूर्ण होती नही दीखती । और तुम्हें मेरी मृत्यु का दुखद समाचार सुनाया जाएगा । माँ, मुझे विश्वास है कि तुम यह समझ धैर्य धारण करोगी कि तुम्हारा पुत्र माताओं की माता भारतमाता की सेवा सेवा में अपने जीवन को बलिवेदी की भेंट कर गया और उसने तुम्हारी कोख कलंकित नहीं की । स्वाधीन भारत में जब इतिहास लिखा जाएगा तो किसी पृष्ठ पर उज्ज्वल अक्षरों से तुम्हारा भी नाम लिखा जाएगा ।'

यह है माँ का वास्तविक स्वरूप । दोनो माताए क्या अबला हैं ? ऐसी माताएं राष्ट्र की आधार हैं । इनके मन्दिर में कला रहेगी, पर कला के नाम पर विचरने वाली विलासिता नहीं । सच्ची माता के भवन में प्रेम का वायुमण्डल रहेगा, केवल सौन्दर्य का मोहक नहीं । माता के उपवन में प्राणों का स्पन्दन रहेगा, निराशा का निःश्वास नहीं । माता के लता कुंजों में विश्वप्रेम का संगीत गूंजेगा, परस्पर अनुनय का

(शेष पृष्ठ ५ पर)

# आर्यसमाजों के सत्संग

११ अक्तूबर '८१

अन्धा मुगल प्रताप नगर—प० राम रूप शर्मा; अमर कालोनी—श्रीमती गीता शास्त्री; आर्य पुरा—पं सुरेन्द्र कुमार शास्त्री; आर के पुरम सेक्टर ६—प० मुनिशंकर वानप्रस्थ; आर. के. पुरम स्वामी स्वरूपानन्द भजन मण्डली; आर्य नगर पहाड़ गंज—प० ओम प्रकाश भजनोपदेशक; कालका जी—प० उदयपाल शास्त्री; करौल बाग—प० प्रकाश चन्द्र शास्त्री; कृष्ण नगर—पं० दिनेश चन्द्र पराशर, शास्त्री; गांधीनगर—पं० गणेश प्रसाद विद्यालकार; गीता कालोनी—पं० महेशचन्द्र—भजन मण्डली; ग्रेटर कैलाश—I डॉ० रघुनन्दन सिंह; ग्रेटर कैलाश-II-पं० हीरा प्रसाद शास्त्री; गुड़ मण्डी—श्रीमती लीलावती आर्या; गुप्ता कालोनी—स्वामी प्रेमानन्द; गोविन्द भवन-दयानन्द वाटिका-प० वेदपाल शास्त्री; चूना मण्डी पहाड़ गंज—प० क्षितीश कुमार विद्यालकार; जगपुरा भोगल—श्री मोहन लाल गांधी; जनकपुरी सी-३ पार्क—डॉ० सुखदयाल भूटानी; जनकपुरी बी ३/२४——पं० जगदीश प्रसाद विद्यावाचस्पति; जहांगीर पुरी—प० ईश्वरदत्त एम. ए.; तिमारपुर—ला० लखमी दास आर्य; दरियागंज—स्वामी मिथिलेश; नारायण विहार—पं० विश्व प्रकाश शास्त्री; नया बास—डॉ० देवेन्द्र द्विवेदी न्यू मुलतान नगर—पं० आशानन्द भजनोपदेशक; न्यू मोतीनगर—पं० देवराज वैदिक मिशनरी; निर्माण विहार—प्रो० वीरपाल विद्यालंकार; पंजाबी बाग—पं० देवेश; पंजाबी बाग एक्सटेन्शन १४/३—डॉ० रघुवीर वेदालंकार; बाग कड़े खां—प० बरकतराम भजनोपदेशक; बसई दारापुर—पं० प्रदीप कुमार शास्त्री; मोडल बस्ती—श्रीमती प्रकाशवती शास्त्री; मोडल टाउन—प० सुधाकर स्नातक; महावीर नगर—पं०सत्यनारायण शास्त्री; महरौली—पं० तुलसी राम भजनोपदेशक; मोतीनगर—कविराज बनवारीलाल—शादी भजन मण्डली; रघुबीर नगर—प० रामनरेश शास्त्री; रमेशनगर—प० छज्जूराम शास्त्री, राणा प्रताप बाग—पं० अमरनाथ कान्त; लड्डू घाटी पहाड़गंज—प०प्राणनाथ सिद्धान्तालकार; लाजपत नगर—आचार्य हरिदेव सि० भू०; लेखनगर-शितगर—प० वेदव्यास भजनोपदेशक; लोधीरोड-जोरबाग—प्रो० सत्यपाल बेदार; लारेन्स रोड—प० प्रकाशवीर विक्रमनगर—प० सत्यभूषण वेदालकार; विनयनगर—प० सत्यपाल मधुर सदर बाजार पहाड़ी धीरज—प० प्रकाशचन्द्र वेदालकार; सुदर्शन पार्क—प्रो० भारत मित्र शास्त्री; साउथ एक्सटेन्शन-II वैद्य रामकिशोर साय ४.३० से ६ सराय रोहेल्ला वैद्य रामकिशोर, शादीपुर—श्रीमती भगवान देवी, प्रात: ६ से १० शालीमार बाग—पं० रविदत्त गौतम; होज खास—श्री चमनलाल; ।

—ज्ञानचन्द डोगरा; वेद प्रचार विभाग

# सत्यार्थप्रकाश पढ़कर सत्यपथ पर आया

## श्री सुमन की स्वीकारोक्ति: सत्यार्थप्रकाश वाक्य-प्रतियोगिता सम्पन्न

आर्य समाज दीवान हाल मे २७-९-८१ को प्रान्ताय आर्य महिला सभा के तत्त्वावधान मे 'सत्यार्थ प्रकाश वाक्य प्रतियोगिता' का आयोजन अत्यन्त सफलता पूर्वक सम्पन्न हुआ। ग्यारह वर्ष की उम्र मे लेकर ७० वर्ष की उम्र तक के लगभग २२५ प्रतियोगियो ने भाग लेकर अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश के प्रति आस्था का परिचय दिया। आर्य युवक परिषद के तीन प्रतियोगियों ने प्रथम, द्वितीय व तृतीय स्थान प्राप्त करके परिषद के लिए शील्ड जीनी एव प्रमाणपत्रों व वैदिक साहित्य के अतिरिक्त क्रमश ३०-२० व १० रु० की नकद राशि भी पारितोषिक मे प्राप्त की। कुछ मुस्लिम व सिख छात्राओं ने भी प्रतियोगिता मे भाग लिया।

सर्वश्री देवव्रत जी धर्मेन्दु, चमन लाल एम. ए, यशपाल सुधांशु, प्रो० ओमप्रकाश, मूलचन्द गुप्ता, के. वी. राय कुलभूषण साहनी,श्रीमती उषा शास्त्री, शकुन्तला दीक्षित एवं शकुन्तला शर्मा ने परीक्षकों के रूप मे कार्य किया।

इस अवसर पर सार्वदेशिक सभा के प्रधान लाला राम गोपाल जी, सहमन्त्री सच्चिदानन्द शास्त्री, धर्मेन्दु जी, रामलाल जी मलिक, चमन लाल जी एव युवा डॉ० आनन्द ने प्रान्तीय आर्य महिला सभा एव प्रतियोगिता की सयोजिका को इस महत्व पूर्ण व प्रभावशाली आयोजन के लिए बधाई दी एव अत्यन्त सराहना की। डॉ० सुमन ने कहा कि मैंने तो इसी महान ग्रन्थ को पढ़कर सत्य पथ प्राप्त कर लिया है। मैं चाहता हू कि मेरे अन्य मुस्लिम युवा भाई-बहनें भी इसका स्वाध्याय करके अपने को धन्य बनाएं।

**दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रकाशन**

| | |
|---|---|
| सत्यार्थप्रकाश सन्देश (हिन्दी) | १ ०० |
| (अंग्रेजी) | समाप्त |
| आर्य सन्देश-महासम्मेलन विशेषांक | ६ ०० |
| पादरी भाग गया— ओम्प्रकाश त्यागी | ० ३० |
| स्वामी श्रद्धानन्द बलिदान अर्द्ध शताब्दी स्मारिका | ६ ०० |
| सत्यार्थप्रकाश शताब्दी समारोह स्मारिका | ६.०० |

सम्पर्क करें—
अधिष्ठाता प्रकाशन विभाग
दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा,
१५, हनुमान रोड,
नई दिल्ली-११०००१

卐 आर्यसन्देश' के स्वयं ग्राहक बनें — दूसरो को बनाए

卐 आर्यसमाज के सदस्य स्वयं बनें— दूसरे ...

卐 ...

**उत्तम स्वास्थ्य के लिए**

**गुरुकुल कांगड़ी**

**फार्मेसी, हरिद्वार**

**की ओषधियाँ**

**सेवन करें**

शाखा कार्यालय : ६३ गली राजा केदारनाथ,
फोन नं० २६६८३८ चावड़ी बाजार, दिल्ली-६

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के लिए श्री सरदारी लाल वर्मा द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा जालिमा प्रेस २१७४, रघुवरपुरा नं०२ गांधीनगर दिल्ली ३१ में मुद्रित। कार्यालय १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली फोन ३१०१५०

ओ३म्    कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

# आर्य सन्देश

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा का साप्ताहिक मुखपत्र

सत्यार्थप्रकाश शताब्दी समारोह के अवसर पर

एक प्रति ३५ पैसे    वार्षिक १५ रुपये    वर्ष ४ : अंक ५१    रविवार २ कार्तिक, वि० २०३८    १८ अक्तूबर १९८१    दयानन्दाब्द १५७

## 'सत्यार्थप्रकाश' लिखने का मुख्य प्रयोजन

### पक्षपात न करके सत्यार्थ का प्रकाश करना मुख्य दायित्व

—स्वामी दयानन्द सरस्वती

मेरा इस ग्रंथ के बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य-सत्य अर्थ का प्रकाश करना है अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है, उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है, किन्तु जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही कहना लिखना और मानना सत्य कहलाता है।··· जिससे मनुष्य जाति की उन्नति और उपकार हो···क्योंकि सत्य उपदेश के बिना अन्य कोई भी मनुष्य जाति की उन्नति का कारण नहीं है।

यद्यपि मैं आर्यावर्त्त देश में उत्पन्न हुआ और बसता हूं तथापि जैसे इस देश के मत-मतान्तरों की झूठी बातों को पक्षपात न कर यथातथ्य प्रकाश कराता हूं, वैसे ही, दूसरे देशस्थ वा मतोन्नति वालों के साथ बर्तता हूं। मनुष्योन्नति के विषय में जैसा स्वदेश वालों के साथ बर्तता हू, वैसा विदेशियों के साथ भी, तथा सब सज्जनों को भी बर्तना योग्य है, क्योंकि मैं भी जो किसी एक का पक्षपाती होता तो जैसे आजकल के स्वमत की स्तुति मण्डन और प्रचार करने और दूसरे मत की निन्दा, हानि और बन्ध करने में तत्पर होते हैं, वैसे, मैं भी होता, परन्तु ऐसी बातें मनुष्य-पन के बाहर हैं।

बहुत से हठी दुराग्रही मनुष्य होते हैं कि जो वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध कल्पना किया करते हैं, विशेषकर मतवाले लोग। क्योंकि मत के आग्रह से उनकी बुद्धि अन्धकार में फंसकर नष्ट हो जाती है इसलिए जैसा मैं पुराण, जैनियों के ग्रन्थ, बाइबिल और कुरान को प्रथम ही बुरी दृष्टि से न देख कर उनमें से गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग तथा अन्य मनुष्य जाति की उन्नति के लिए प्रयत्न करता हूं, वैसा सबको करना योग्य है।

इन मतों के थोड़े-थोड़े ही दोष प्रकाशित किए हैं, जिनको देखकर मनुष्य लोग सत्य मत का निर्णय कर सकें और सत्य का ग्रहण तथा असत्य का त्याग करने कराने में समर्थ होवें, क्योंकि एक मनुष्य जाति मे बहका कर विरुद्ध बुद्धि कराके एक दूसरे को शत्रु बना लड़ा मारना विद्वानों से दूर है। यद्यपि इस ग्रन्थ को देखकर अविद्वान अन्यथा ही विचारेंगे, तथापि बुद्धिमान् लोग इसका यथायोग्य अभिप्राय समझेंगे, इसलिए मैं अपने परिश्रम को सफल समझता और अपना अभिप्राय सब सज्जनों के सामने धरता हूं। इसको देख दिखला कर मेरे श्रम को सफल करें और इसी प्रकार पक्षपात न करके सत्यार्थ का प्रकाश करना मेरा वा सब महाशयों का मुख्य उत्तरदायित्व है।

(मैंने सत्यार्थप्रकाश क्यों लिखा ? 'सत्यार्थप्रकाश' ग्रन्थ की भूमिका से)

## 'सत्यार्थप्रकाश' का मूल्यांकन : अनेक दृष्टियों में

**एक अद्वितीय पुस्तक** : 'मैंने सत्यार्थप्रकाश कम से कम १४ बार पढ़ा है। जितनी बार इसे पढ़ता हूं, तन-मन तथा आत्मा के लिए कुछ नया आनन्द प्राप्त होता है। पुस्तक गूढ़ तत्वों और सचाइयों से भरी हुई है···यदि सत्यार्थप्रकाश की एक प्रति का मूल्य एक हजार रुपए होता तो भी उसे सारी सम्पत्ति बेचकर खरीदता, यह अद्वितीय पुस्तक हर मूल्य में सस्ती है।

— पं० गुरुदत्त एम. ए. प्रसिद्ध आर्य चिन्तक एवं विद्वान्

**'यह पथ-प्रदर्शक है'** : 'मैंने भारत में आकर सच्चे हिन्दू धर्म का परिचय सत्यार्थप्रकाश के स्वाध्याय से पाया है, क्योंकि मार्ग से भटकने वाले के लिए यह पथ-प्रदर्शक है।' —पादरी सी० एफ एण्ड्रयूज

**'जीवन में प्रकाश देने वाला'** : 'मैंने सार्वजनिक सेवा के सारे पाठ आर्य-समाज से सीखे हैं। ऋषि दयानन्द मेरे गुरु हैं, मैंने संसार में उन्हीं को गुरु माना है। वह मेरे धर्मपिता हैं और आर्यसमाज मेरी माता है। गुरुदेव रचित सत्यार्थ-प्रकाश मेरे जीवन में प्रकाश देने वाले सूर्य के समान है। —लाला लाजपत राय

**'पवित्र धार्मिक ग्रन्थ'** : 'हिन्दू जाति की ठण्डी रगों में गरम खून का सचार करने वाला यह ग्रन्थ अमर रहे, यही मेरी कामना है। सत्यार्थप्रकाश की विद्यमानता में कोई धर्मावलम्बी अपने मत की शेखी नहीं मार सकता। सब हिन्दू सत्यार्थप्रकाश का पवित्र ग्रन्थ के रूप में मान करते हैं।' —वीर सावरकर

**'एक महत्त्वपूर्ण शास्त्र'** : 'स्वामी दयानन्द हमारे महर्षियों में से एक थे और उनका लिखा हुआ सत्यार्थप्रकाश हमारे धर्म का एक महत्त्वपूर्ण शास्त्र है।

—श्री राघवाचार्य

**'वेदों का तत्त्व है'** : जेल की दीवारों के पीछे एक वर्ष तक सत्यार्थप्रकाश मेरा मित्र, प्रकाशदाता और जीवन बना रहा। सत्यार्थप्रकाश में वेदों का तत्त्व है। इसके महत्त्व को कम करने का अर्थ है कि वेदों के तत्त्व और सार की प्रतिष्ठा और मूल्य को कम किया जाए।' —श्री० एस रंगा अय्यर

**हमारी सभ्यता की कुंजी** : 'सनातन धर्म का रहस्य समझने के लिए वेद और केवल वेद ही हमारा पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं। सत्यार्थप्रकाश में वेदों का तत्त्व है। मैं खण्डन किए बिना कह सकता हूं कि सत्यार्थप्रकाश हमारी सभ्यता की कुंजी है।' —सर टी० वी० शेषगिरि अय्यर, सनातन धर्मी विद्वान्

**'मानव-कल्याण की भावना'** : 'सत्यार्थप्रकाश का ग्रन्थ सच्चे सनातन धर्म का सन्देश देने के साथ-साथ अन्ध श्रद्धा और पाखण्ड को दूर करता है। इसके पढने से तर्क शक्ति का विकास होता है। यह ग्रंथ मनुष्य मात्र के कल्याण की भावना से लिखा गया है।' —सेठ जुगलकिशोर बिडला

**'अद्वितीय ग्रन्थ'** : 'सोई हुई जाति के स्वाभिमान को जाग्रत करने वाला यह ग्रन्थ अद्वितीय है।' —ला० हरदयाल एम० ए०

**वैदिक संस्कृति का ग्रन्थ** : 'सत्यार्थप्रकाश केवल आर्यसमाजियों की ही पवित्र पुस्तक नहीं है, वरन जिनका विश्वास वैदिक संस्कृति में है, उन करोड़ों लोगों के लिए है।' —एन० सी चटर्जी

**अन्धकार भगाने वाला** : 'स्वामी दयानन्दकृत सत्यार्थप्रकाश पढ़ने योग्य है, जो कि अन्धकार को दूर भगाता है।' —ए० ओ० ह्यूम, कांग्रेस के संस्थापक

**निराकार परमेश्वर की आराधना** : ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश मे केवल एक, ज्योतिर्मय निराकार परमेश्वर की आराधना की शिक्षा दी है।'

—सर सैयद अहमद खां

—सम्पादक नरेन्द्र विद्यावाचस्पति

# प्रजा की सेवा से राजा सम्राट् बनता है

**वाजस्येमां प्रसव: शिश्रिये दिवमिमां च विश्वा भुवनानि सम्राट् ।**

**अदित्सन्तं दापयति प्रजानन्त्स नो रयिं सर्ववीरं नियच्छतु स्वाहा । यजु:० ९-२४**

ऋषि---वसिष्ठ: । देवता प्रजापति: । छन्द—जगती ।

शब्दार्थ --(वाजस्य) ज्ञान, बल तथा अन्न अर्थात् समृद्धि के (प्रसव:) उत्पादन की कामना करने वाला (सम्राट्) राजाधिराज (इमाम्) इस भूमण्डल और इमा च दिव) इस द्युलोक को तथा (विश्वा भुवनानि) इन के अन्तराल में (स्थित सब लोकों अथवा प्राणियों को (शिश्रिये) आश्रय देता है, और उनकी सेवा करता है। व्यवस्था के लिए धन के महत्त्व को (प्रजानन्) अच्छी प्रकार जानता हुआ (अदित्सन्तम्) कर चोरो तथा श्रम के पारिश्रमिक चोरो से (दापयति)कर तथा पारिश्रमिक जबरन दिलवाता है। (स.) उपर्युक्त गुणों वाला सम्राट् (न:) व्यवस्था के नियमो का पालन करने वाली हम प्रजाओ को (सर्ववीरम्) सब तरह की वीर भावना वाले पुत्र से युक्त (रयिम्) धन (नियच्छतु) देवे। (स्वाहा) सम्राट् प्रगतिशील बना रहे, प्रजा त्याग करती रहे, हमारी प्रार्थना सु-फलदायिनी हो।

निष्कर्ष—महर्षि दयानन्द ने इस मन्त्र के भावार्थ में निम्न शब्द लिखे हैं :

य: करस्य अदातु करं दापयेत्, सोऽमात्यो भवितुमर्हति। य: शत्रून् निग्रहीतुं शक्नुयात् त सेनापति कुरुत। यो विद्वान् धार्मिको भवेत तन्न्यायाधीशं कोषाध्यक्षं वा कुरुते। इनके आधार पर समृद्धि चाहने वाले राजा का कर्त्तव्य है कि —

(क) करों की वञ्चना को रोकने वाले तथा निर्बल श्रमिकों सेवकों के अधिकार की रक्षा में समर्थ, निष्पक्ष तथा कठोर व्यक्तियों को ही मन्त्री पद पर नियुक्त करे।

ख) बाह्य शत्रुओं का सुचारु रूप से दमन करने में समर्थ व्यक्ति को सेनापति पद पर नियुक्त करे और प्रजा के आन्तर में शत्रुओं अर्थात् गुण्डों,जेबकतरों चोरों और झूठी अफवाह फैलाकर आतंक उत्पन्न करने वालों को नियन्त्रित करने में समर्थ व्यक्ति को आरक्षी सेना पति (पुलिस कमिश्नर) बनाए।

(ग) विद्वान् और धार्मिक व्यक्तियों को न्यायाधीश तथा कोषाध्यक्ष नियुक्त करे।

विशेष—इस मन्त्र के ऋषि, देवता और छन्द शब्दों के धात्वर्थ संकेत करते हैं कि यदि सम्राट् सच्चे अर्थों में प्रजापति बनना चाहता है, अर्थात् प्रजा को समृद्ध और सत्यकथन में समर्थ, निर्भय बनाना चाहता है तो उसे अपनी प्रजा को शान्तिपूर्ण वास का प्रबन्ध करने वाले वसुओं में श्रेष्ठ वसिष्ठ बनना होगा और अपनी इच्छा को पूरा करने के लिए सदा प्रयत्न करना होगा, उसे सारे राष्ट्र में गति उत्पन्न करनी होगी; अपनी प्रजा को जगती बनाए रखना होगा। उनमें से आलस्य और निरुद्यम को पूर्णत: हटाना होगा।

वज: :—१. अन्न नाम। नि० २-७। २. बलनाम। नि० २-९। ३. अन्नं ज्ञानं, व्यवहार:, युद्धश्च। स्वामी दयानन्द; ४ समृद्धि:, पूर्णता। श्री अरविन्द; वजगतौ-गतेस्त्रयोऽर्थां. ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च।

प्रसव:—षु-प्रसवैश्वर्ययो.। प्रसविता। षू प्रेरणे।

रयि: —धन नाम। नि० २-१०, रयिं पुत्ररूप धनं वा। सायण. ऋक् १०-१३४-५.

शिश्रिये—श्रिञ् सेवायाम्। भुवनम्—लोक तथा प्राणी। आप्टे।

स्वाहा—सु+आह+आ; सु+आ+ओहाङ् गतौ; सु+आ+ओहाक्-त्यागे।

अदित्सन्तम्—अ(न)+दा (दाने)+सन् (इच्छार्थे दापयति—दा (दाने)+णिच्

वसिष्ठ:—वस (निवासे)+इष्ठन् (अतिशयितार्थे)

—मनोहर विद्यालंकार
५२२,ईश्वर भवन,खारी बावड़ी दिल्ली-६

## लोकप्रिय भजनोपदेशक भद्रपाल जी का स्वर्गवास

पजाब प्रतिनिधि सभा के भू० पू० भजनोपदेशक एव स्वामी सर्वदानन्द जी के शिष्य लोकप्रिय गायक आर्य विद्वान श्री भद्रपाल जी का स्वर्गवास ७२ वर्ष की आयु मे सांप काटने से २९ सितम्बर को अलीगढ़ के समीप अपने गांव में हो गया। वह संयुक्त पंजाब में ही नहीं, उत्तरी भारत में अपने मधुर कण्ठ एवं लोकप्रिय गीतों के कारण लोकप्रिय थे। 'आर्यसन्देश परिवार' की आकांक्षा है कि दयालु प्रभु उनकी आत्माको सद्गतिदेंगे एवं दु:खी परिजनों की हार्दिक सान्त्वना देंगे।

लोक-चिन्तन

# अहमदिया सम्प्रदाय द्वारा भ्रामक प्रचार

— डा० विजय द्विवेदी

आजकल, उड़ीसा के ग्राम्यांचलों, रेलवे-बस स्टेशनों में अहमदिया सम्प्रदाय के लोग बड़ी संख्या में अपने प्रचार पत्र बाटने दिखाई पड़ रहे हैं। इन प्रचार पत्रों में भगवान के अवतार से संबन्धित वेद-पुराणों के उद्धरण तोड़-मरोड़ कर गलत ढंग से प्रचारित किए जा रहे हैं। इन पंक्तियों के लेखक को भी एक मित्र की कृपा से उड़िया भाषा मे लिखा—एक ऐसा ही प्रचार पत्र मिला है, जिसका शीर्षक है "आधुनिक युग में विभिन्न प्रकार के संकट क्यों पैदा हो रहे हैं एवं इनसे मुक्ति कैसे मिलेगी।" पाठकों के विचारार्थ प्रचारपत्र में दी गई सामग्री के कुछ अंश नीचे दिए जा रहे हैं—

"अथर्ववेद, काण्ड-२० मंत्र ११५-२ में लिखा है, कि 'अहमदेहे पितुष्परि मेदाहम् चितयश्च: यावताभाअहं सअरेय: एउ अजनेया." अर्थात् उस स्वर्गीय दूत का नाम अहेमद होगा, जो विज्ञता के साथ अपने पिता (महम्मद स. अ. स) द्वारा लाई सत्यता को पुन: प्रकाशित करेगा। पवित्र कोरान शरीफ में लिखा है "वा माबेसेरम, बेरसूलिन याति मिम् बादिस्मोहु अहेमद फनम्माजा आहुम् बिलत्रेएनाते कालू हाजा सेहेरूम् मोबिन, पुरासफ् पेरा-२८, श्लोक-६) अर्थात् इसका नाम अहमद होगा एवं यह जिस दिन प्रमाण देते हुए पैदा होगा, उस दिन मूर्ख लोग कह उठेंगे यह केवल जादू खेल है।"'इस स्वर्गीय दूत के पैदा होने के बारे में और जन्म-स्थान के बारे मे विभिन्न धर्मशास्त्रों में इस प्रकार लिखा है—यथा अथर्ववेद काण्ड-२०, श्लोक ९७ में लिखा है—"कूदून ओ अश्चेप अकीर्त्तन इन्द्रस्य पअनस्यम।" अर्थात कूदून नामक स्थान में वह ऋषि पैदा होगा और उसकी ख्याति कौन नहीं सुनेगा। यह महापुरुष मेहेदी कादेआ नामक वस्तु से निकलेगा। इसी तरह मालिका की भविष्यवाणी का भी उल्लेख है—"जिस दिन कलियुग में तरह-तरह के अन्याय, पाप, एवं अनाचार बढ जायेंगे, उस दिन "मोहन मागेल" आकर समाज का संस्कार कर, सबको समान कर देंगे।"

इस तरह की अनेक अनर्गल बातें, इस प्रचार-पत्र में दी गई हैं। मनगढ़ंत उदाहरणो द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है, "कि हजरत, मिर्जा गोलाम अहेमद, हिन्दुओ के निष्कलकी अवतार, मुसलमानों के इमाम मेहदी, सिक्खों के प्रगगा बटाला के गुरु एवं ईसाइयों के मसीहा हैं। इनकी बात जो नहीं सुनेगा अथवा जो इनकी बातों पर विश्वास नहीं करेगा उसका जीवन दुखी एवं विपन्न हो उठेगा।'

आज धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर बहुत कुछ अवांछनीय प्रचारित हो रहा है जिससे सामान्य जनता दिग्भ्रमित हो रही है और उस शाश्वत सनातन आदि पंथ आर्य पंथ से दूर चली जा रही है, जिसके महापुरुषों का नाम ले-लेकर अन्य धर्मावलम्बी अपनी गोटियां बैठाने का प्रयास कर रहे हैं। अत: आर्यजनों को इस प्रकार के प्रचारों से न केवल सावधान; अपितु मुंहतोड़ जवाब देने के लिए भी तैयार रहना है।

म० पू० च० कालेज बारीपदा उड़ीसा-७५७००१

## विश्व साहित्य का ऐतिहासिक ग्रन्थ

महर्षि दयानन्द का ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश विश्व-साहित्य का ऐतिहासिक ग्रन्थ है। इसने भारत में नए इतिहास का निर्माण किया और विश्व के धार्मिक साहित्य को नए मार्ग का प्रदर्शन किया। यह ग्रन्थ नई क्रान्ति का अग्रदूत है। कार्ल मार्क्स ने अपने ग्रन्थ दास कैपिटल द्वारा जो क्रान्ति आर्थिक जगत् में की, उससे अधिक क्रान्ति की क्षमता धर्म और विश्वास के क्षेत्रों में सत्यार्थप्रकाश ग्रन्थ में है। हिन्दी साहित्य का यह एकमात्र गद्यग्रन्थ है, जिसका अनुवाद इतनी विश्वभाषाओं में हुआ। महान् दूरदर्शी की सर्वतोमुखी दृष्टि का यह अद्भुत ग्रन्थ सदियों तक हमें आलोक देता रहेगा।

—सत्यप्रकाश सरस्वती

## कल्याणकारी भगवान् के प्रति आहुति दें

यस्ये मे हिमवन्तो महित्वा, यस्य समुद्रं रसया सहाहुः ।

यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू, कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ऋ० १०.१२१.४

कोई है जिसने ये रवि-शशि तारे अगिन बनाए, हिममण्डित पर्वत फूलों के साज सजाए। कोई है ये वितत दिशाएं फैली जिसकी बाहें, ले वात्सल्य में समेटती, सत्पथ पर ले जाएं। कोई है जिसने नदियों को गीत सिखाए अपने, कोई है मुखरित हैं जिसके भव्य सृष्टि के सपने ।

## मानवता का पथ-प्रदर्शक—'सत्यार्थप्रकाश'

ब्रिटिश शासन के दिनों की बात है एक अमेरिकी नगर में सर्वधर्म सम्मेलन का आयोजन किया गया था। कलकत्ता विश्वविद्यालय के एक ख्यातनामा प्राध्यापक से कहा गया कि वह मानवता के प्रति भारतीय हिन्दू धर्म की देन का उचित मूल्यांकन करें। वह सज्जन बड़े पशोपेश में पड़े। उन्होंने बड़ी दौड़-धूप की, काफी कोशिश के बाद उनकी दृष्टि में अंग्रेजी का एक ग्रन्थ आया। उस ग्रन्थ के चौदह अध्याय थे। उसके पहले दस अध्यायों में शाश्वत मानवीय मूल्यों का मूल्यांकन कर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मानव के लिए समुचित मार्ग का निर्देश किया गया था। उन प्राध्यापक महोदय ने विश्वधर्म सम्मेलन में सच्चे मानव-धर्म के रूप मे उक्त ग्रन्थ में प्रतिपादित वैदिक धर्म एवं मानवीय आचार-संहिता की प्रतिष्ठा की। जानते हैं, उस ग्रन्थ का नाम क्या था ? वह था महर्षि दयानन्द प्रणीत 'सत्यार्थ प्रकाश का अंग्रेजी अनुवाद ।

कार्ल मार्क्स ने आर्थिक जगत में जिस वैचारिक क्रान्ति का सूत्रपात किया था वही कार्य धर्म और विश्वास के क्षेत्र मे महर्षि दयानन्द ने किया था। 'सत्यार्थ प्रकाश' मानवीय कर्त्तव्यों का बोध कराने वाला अद्भुत महाग्रन्थ है। इसमें जहां एक ओर वेद ज्ञान एवं ऋषियों द्वारा रचित अनेक शास्त्रों के रहस्यों की कुंजी प्रस्तुत की गई है। इसमें जहां वेदों और शास्त्रों का सारतत्व निरूपित है तो इसमें मनुष्यमात्र की समुन्नति के लिए सबके प्राणिमात्र के कल्याण का मार्ग भी प्रदर्शित किया गया है। इतना ही नहीं, इस ग्रन्थ के द्वारा संसार में धर्म एवं पैगम्बरों के नाम पर जो अन्ध श्रद्धा और पाखण्ड फैलाया गया था, उसकी भी कलई खोलकर रख दी गई है। इस प्रकार इस ग्रन्थ के पहले अध्यायों में सच्चे मानव धर्म की प्रतिष्ठा की गई तो बाद के अध्यायों में प्रचलित अन्ध श्रद्धा एवं पाखण्डों का अन्धकर धर्म के वास्तविक तत्व स्वीकार करने के लिए अनुरोध किया गया है।

'सत्यार्थप्रकाश' का प्रणयन हुए एक शताब्दी बीत गई है। कुछ वर्ष पूर्व दिल्ली में इस शताब्दी का महोत्सव मनाया गया था। प्रसन्नता का विषय है कि इस सप्ताह रणबांकुरे राजपूतों की वीरभूमि उदयपुर में अन्तर्राष्ट्रीय सत्यार्थप्रकाश शताब्दी महोत्सव मनाया जा रहा है। इस अवसर पर एकत्र आर्य विद्वानों एवं आर्य जनों को देखना होगा कि क्या पिछले सौ वर्षों में मानवता के पथ-प्रदर्शक ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' का क्या उचित प्रचार-प्रसार हो गया है ? क्या विश्व की सभी प्रधान भाषाओं में इसके अनुवाद हो गए हैं ? यदि नहीं तो इस दिशा में आर्यसमाज को अपनी पंचवर्षीय योजना बनानी चाहिए कि आगामी पांच वर्षों में सभी प्रधान या अवान्तर विश्व-भाषाओं में सत्यार्थप्रकाश का रूपान्तर हो जाए। इसी के साथ ऋषि के समस्त साहित्य एवं कर्तृत्व का एक व्यवस्थित मूल्यांकन भी विश्वभाषाओं में पहुंचना चाहिए, आशा है कि उदयपुर का शताब्दी-महोत्सव इस दिशा में उचित पथ-प्रदर्शन करेगा ।

—x—

## विराट् एकता-सम्मेलन

१८ अक्तूबर के दिन नई दिल्ली के बोट क्लब पर विराट हिन्दू-समाज के अधिवेशन द्वारा बिखरे हुए समाज को एक एवं संयुक्त करने का प्रयत्न किया गया है। मीनाक्षीपुरम तथा भारत के दूसरे स्थानों पर हरिजनों एव पिछड़ी जातियों के सामूहिक धर्मान्तिरण ने हिन्दू समाज के सुधारक तथा सनातनी तत्वों को बुरी तरह झकझोर दिया है। पूर्वोत्तर भारत में ईसाइयत के प्रचार के बाद दक्षिण भारत मे मुस्लिम धर्म द्वारा पेट्रोडालर की अपार सम्पदा के प्रलोभन से हरिजनों एव पिछड़ी जातियों के सामूहिक धर्मान्तिरण की समस्या बहुत अधिक गम्भीर हो गई है। इसके निवारण के लिए सवर्ण हिन्दुओं की बुनियादी मनोवृत्ति बदलनी होगी। इस दिशा में आचार्यों, शंकराचार्यों एवं मठ-मन्दिरों को अपनी भूमिका निबाहनी होगी। यदि इस विषय में हिन्दू समाज जाग्रत हो गया तो हारी बाजी जीती जा सकती है। यह कार्य कठिन है, परन्तु यदि भारत, भारतीय संस्कृति एव आर्य हिन्दू धर्म की सुरक्षा करनी है तो इस क्षेत्र में सभी को मिलकर कार्य करना ही होगा।

इस विषम परिस्थिति के समाधान में राष्ट्रीय एवं प्रादेशिक सरकारों का विशेष दायित्व है। धर्मान्तिरण रोकने के लिए मध्यप्रदेश, उड़ीसा और अरुणाचल के ढग का कानून सरकार बना दे तो बहुत कुछ हो सकता है। शासन इस दिशा में अपना दायित्व निबाहे—इसके लिए बोट क्लब में आयोजित विराट एकता सम्मेलन के माध्यम से समवेत भारतीय जनशक्ति के प्रदर्शन की भी महत्ता है। आशा है शासन विराट एकता सम्मेलन की सर्वसम्मत मांग को स्वीकार कर इस सम्बन्ध में अपना उत्तरदायित्व निबाहेगा।

—o—

## १६ से १८ अक्तूबर तक उदयपुर में अन्तर्राष्ट्रीय सत्यार्थप्रकाश शताब्दी समारोह

### सार्वदेशिक प्रधान श्री रामगोपाल शालवाले अध्यक्ष निर्वाचित

उदयपुर। राजस्थान की ऐतिहासिक नगरी मे १६ से १८ अक्तूबर तक होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय सत्यार्थप्रकाश शताब्दी समारोह की अध्यक्षता के लिए सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री रामगोपाल शालवाले अध्यक्ष निर्वाचित किए गए हैं।

समारोह की तैयारी पूर्ण हो गई है। समारोह मे सम्मिलित होने के लिए विभिन्न देशों और प्रदेशों से भारी संख्या में आर्यजनता चल पड़ी है। विभिन्न प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाएं और आर्यसमाजें समारोह की सफलता के लिए अपना पूरा योगदान कर रही हैं। सार्वदेशिक सभा के महामन्त्री श्री ओम्प्रकाश त्यागी और कोषाध्यक्ष श्री सोमनाथ एडवोकेट ने समारोह की सफलता मे हर प्रकार का योग देने और अपनी सघठनशक्ति के परम्परागत कीर्तिमानो में एक और भव्य वृद्धि करने का आह्वान किया है।

## चिट्ठी-पत्री

### 'मद्य-निषेध—नीति पर पुनर्विचार हो'

जनता पार्टी के शासनकाल में सारे देश में शराबबंदी का कार्यान्वयन चार वर्षों में पूर्ण करने की योजना प्रधानमन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने बनाई थी। उसके इस संबंध में कांग्रेस शासन ने भी १२ सूत्री कार्यक्रम बनाया था। कुछ प्रान्तों में जनतापार्टी के शासनकाल में मद्य निषेध कार्यक्रम आंशिक रूप से लागू भी किया गया जिसमें आशातीत सफलता मिली है। मद्य निषेध भारतीय संविधान की भावनाओं के भी अनुरूप है। भारतीय संस्कृति तथा नैतिकता के भी अनुरूप है। गांधीजी ने कहा था, 'यदि हमें एक घंटे के लिए भारत का तानाशाह बना दिया जाए तो मैं बिना मुआवजा दिए, सबसे पहले शराब की दुकानो को बन्द करने का कार्य करूंगा। शराब पी लेने से मन व मस्तिष्क दोनों दूषित हो जाते हैं। मां को मां,बहिन को बहिन समझने की भावना लुप्त हो जाती है। ससार के समस्त सुधारको ने शराब का घोर विरोध किया है। ऐसी स्थिति में राजस्व के नाम पर सरकार द्वारा शराब बेचना भारत जैसे धर्म एवं संस्कृतिप्रधान देश मे सर्वथा अनुचित है। राजस्व के लिए आम जनता को पथभ्रष्ट करना एक जनकल्याणकारी सरकार पर कलंक ही कहा जाएगा। चोरी-डकैती कत्ल आदि अन्याय अपराधो के कारण क्या पुलिस विभाग तोड़ दिया जाए क्योंकि अपराध रुक नहीं रहे हैं ? शराब प्रत्येक दृष्टि से यथा स्वास्थ्य आचार-विचार, हानिकारक ही नहीं सर्वनाशक भी है।

—राधेश्याम शर्मा एडवोकेट, मुसाफिरखाना, सुल्तानपुर (उ० प्र०)

# ऋषि का अनुपम ग्रन्थ—'सत्यार्थप्रकाश'

## जिसमें वेद और दर्शनों के गूढ़ रहस्य जनभाषा में अभिव्यक्त किए गए हैं : यह विश्वधर्मकोश भी है

सत्यार्थप्रकाश उन्नीसवीं शताब्दी के अद्वितीय विद्वान्, महान समाज सुधारक तथा धर्म संशोधक महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती की एक अनुपम कृति है। दो भागों में विभक्त यह ग्रन्थ अपने पूर्वार्द्ध में वैदिक सिद्धान्तों की व्याख्या प्रस्तुत करता है एवं उत्तरार्द्ध मे अवैदिक मत-मतान्तरों की निष्पक्ष समीक्षा। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने इस अमर ग्रन्थ का नाम 'सत्यार्थप्रकाश' रखा जो कि एक अनुपम एवं अपूर्व नाम है। इससे पूर्व किसी भी ग्रन्थ का ऐसा नाम नहीं मिलता। वेद सभी सत्य विद्याओं का पुस्तक है अत: वेद में सत्य का प्रकाश किया गया है, किन्तु अन्य लोगों ने वेद के सही अर्थों को न समझ कर अर्थ का अनर्थ कर दिया एव वेदों को भांड, धूर्त्त एवं निशाचरों की कृति बताने लगे। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने संसार को बताया कि वेद निश्चय ही सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद भाड, धूर्त्त एवं निशाचरों की कृति नहीं किन्तु वेदार्थ के नाम पर अनर्थकारी टीकाएं एवं भाष्य करने भाष्यकार ही भांड, धूर्त एवं निशाचर प्रतीत होते हैं। अत: 'सत्यार्थ प्रकाश' में महर्षि ने सत्य अर्थों का प्रकाश किया है। अत: इसीलिए इस ग्रन्थ का नाम सत्यार्थप्रकाश रखा है। इससे महर्षि दयानन्द की लोकेषणा से पूर्ण विरक्ति की अनूठी झलक भी मिलती है। अन्यथा इस ग्रन्थ का नाम 'दयानन्द सिद्धान्त-प्रकाश', 'दयानन्द मन्तव्य प्रकाश' अथवा 'दयानन्द मत-प्रकाश' जैसा कोई नाम भी रख सकते थे।

### आर्ष ग्रन्थ

लोककल्याण की भावना से प्रेरित होकर शाश्वत सत्य के प्रतिपादन हेतु मन्त्रद्रष्टा ऋषिगण अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा से उद्भूत सर्वहितकारी भावों को जिन ग्रन्थों में संजोया करते हैं, उन्हें आर्ष ग्रन्थ कहा जाता है। आर्ष ग्रंथ के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी मंत्र द्रष्टा ऋषि की लेखनी से नि:सृत हो। स्वामी ओमानन्द जी महाराज के अनुसार 'ऋषिभि: प्रोक्तमार्षम्' जो-जो ग्रन्थ ऋषियों द्वारा प्रोक्त, कथित या लिखित हैं वे सब आर्ष हैं, किन्तु आजकल ऋषियों के नाम से भी धूर्त स्वार्थियों ने अनेक पाखण्ड रच डाले हैं अत: इस परिभाषा को इस प्रकार समझें—ऋषिभि: प्रोक्तमार्षम्, वेदानुकूलंचेत्' ऋषियों द्वारा प्रोक्त ग्रंथ आर्ष हैं, वे भी तभी जबकि वेदानुकूल हों, विरुद्ध नहीं। (देखें—ब्रह्मचर्य से साधना भाग ८ पृष्ठ ६०) ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' उपर्युक्त कसौटी पर पूर्णतया खरा उतरा है। किसी भी आर्ष ग्रंथ के लिए यह आवश्यक होता है कि वह वेदानुकूल हो, क्योंकि स्मृति के लिए अनिवार्य तथा आवश्यक होता है। जो स्मृति श्रुति का अनुसरण नहीं करती वह त्याज्य मानी जाती है। 'सत्यार्थप्रकाश' सर्वांश में वेदानुकूल है, इसमें वेद-विरुद्ध कुछ भी नहीं।

### अपूर्व तथा अनुपम

महर्षि दयानन्द लिखित 'सत्यार्थप्रकाश' केवल आर्ष ग्रंथ ही नही, अपूर्व तथा अनुपम ग्रन्थ भी है। अपूर्व इसलिए कि इससे पूर्व के जितने भी आर्ष ग्रंथ उपलब्ध हैं वे सभी के सभी संस्कृत भाषा मे लिखे गए हैं जनभाषा हिन्दी में लिखा गया यह प्रथम आर्ष ग्रंथ है। जन साधारण की संस्कृत भाषा तक पहुंच प्राय: समाप्त हो चुकी थी अत: किसी ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता तीव्रता से अनुभव की जा रही थी कि जो धर्म एवं दर्शन के गूढ तत्त्वों को जनसामान्य तक पहुंचाने में सक्षम हो सके। 'सत्यार्थ प्रकाश' द्वारा इसी अभाव की, आवश्यकता की पूर्ति हुई है। अत: हिन्दी भाषा में लिखा होने के कारण यह सर्वथा अपूर्व ग्रन्थ है। दूसरे इस ग्रंथ में जितने विषयों की विवेचना की गई है, उतनी अन्य किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिलती। मानव जीवन से सम्बन्धित ऐसा कोई भी विषय नहीं, जिसकी विवेचना इस ग्रंथ में न की गई हो। तीसरे इसलिए कि जितने ग्रन्थों के प्रमाण इस ग्रन्थ में दिए गए हैं, उतने अन्य किसी भी आर्ष ग्रंथ में नहीं मिलते। अकेले इस ग्रन्थ में २९० ग्रंथों के १८८६ प्रमाण उद्धृत हैं। इतने ग्रंथों के इतने सारे प्रमाण-स्यात् ही कहीं देखने सुनने को मिलें। यही इसकी अपूर्वता तथा विशिष्टता है। इन सब तथ्यों एवं प्रमाणों के आधार पर हम सगर्व कह सकते हैं कि विश्व-साहित्य का कोई भी ऐसा ग्रन्थ नहीं जिसकी उपमा महर्षि के 'सत्यार्थप्रकाश' से दी जा सके। इसलिए यह ऐसा अनुपम ग्रंथ है जिसके लिए हमें 'नास्ति उपमा यस्य य: अनुपम' और 'अतुल्यं अन्य सादृश्य रहिते अत्युत्कृष्टे' कह सकते हैं। वस्तुत: 'सत्यार्थप्रकाश' अपनी उपमा आप ही है। यह समस्त संसार के समस्त साहित्य में अपने ढंग का अकेला ग्रन्थ है संसार भर के महापुरुषों में जैसे महर्षि दयानन्द अनुपम हैं। वैसे ही उनका यह ज्ञान-कोश सत्यार्थप्रकाश भी सर्वथा अनुपम है। रूढ़ियों, अन्धविश्वासों, कुरीतियों, कुप्रथाओं आदि से भारतवासियों को ही नहीं, विश्व मानवता को बचाने में इस सद्ग्रन्थ की जो भूमिका रही है, वैसी संसार भर के किसी भी अन्य ग्रन्थ की नहीं मिलती। तभी पूज्य स्वामी सत्यप्रकाश जी ने लिखा है, कि 'महर्षि दयानन्द सरस्वती का अमर ग्रंथ सत्यार्थ प्रकाश भारत का ही नहीं, मानव मात्र को प्रत्येक युग मे नई प्रेरणा देता रहेगा। रूढ़ियों और अन्धविश्वासों से बचाने के लिए यह विश्व-साहित्य की अद्वितीय रचना है और सद्विचार और मानव-कल्याण का पोषक एकमात्र ग्रन्थ है।' (देखें— भूमिका सत्यार्थप्रकाश क्यों पढ़ें ?)

### सत्यार्थप्रकाश की विशेषता

'सत्यार्थप्रकाश की यह विशेषता है कि इसके लेखक ने इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में जो सत्य और ऋत के प्रतिपादन की प्रतिज्ञा की है उसे उसने अन्त तक निभाया है और अन्त में पुन: यह घोषणा करता है कि इस ग्रन्थ में उसने सत्य और ऋत का ही प्रतिपादन किया है। ऐसी प्रतिज्ञा के साथ ग्रन्थ को आरम्भ करना और उसी प्रतिज्ञा के साथ उसे समाप्त करना इस ग्रन्थ के लेखक की अपूर्वता ही नहीं उसकी विशेषता है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि इसका उदार लेखक इसकी भूमिका में सुस्पष्ट शब्दों में यह घोषणा करता है कि, इस ग्रंथ में जो कहीं भूल-चूक से अथवा शोधने तथा छापने में भूल-चूक रह जाए उसको जानने-जनाने पर जैसा वह-वह सत्य होगा, वैसा ही कर दिया जाएगा।' (स० प्र० भूमिका) यह लेखक की अपूर्व महत्ता है। वह यह मानकर चला है कि मनुष्य अल्पज्ञ है और अल्पज्ञ होने से भूल कर सकता है। दूसरी ओर वह अपनी मान्यताओं के प्रति इतना दृढ़ आस्थावान् है कि वह लिख रहा है कि 'जो कोई पक्षपात से अन्यथा शंका व खण्डन-मण्डन करेगा उस पर ध्यान न दिया जाएगा। हां! जो वह मनुष्यमात्र का हितैषी होकर कुछ जनावेगा उसको सत्य समझने पर उसका मन संग्रहीत होगा।' यह इसी की विशेषता है।

लेखक :
यशपाल आर्यबन्धु

सत्यार्थप्रकाश महर्षि दयानन्द सरस्वती का विचारपुंज, उनकी दार्शनिक अभिव्यक्ति तथा अनुपम ज्ञानकोश है। सच पूछिए तो यह वेद-दर्शनों के गूढ़ रहस्यों की जन भाषा में अभिव्यक्ति का सफल प्रयोग है। साथ ही संसार भर के शायद सभी प्रमुख-प्रमुख मतों और उनके मान्य सिद्धान्तों का एक परिचयात्मक ग्रन्थ है। तभी इसे विश्वधर्मकोश की संज्ञा दी गई है। यह समग्र क्रांति का अग्रदूत एवं स्वतन्त्रता का प्रथम उद्घोषक है। विगत एक शताब्दी में धार्मिक सामाजिक, राजनीतिक आदि विभिन्न क्षेत्रों में जो अभूतपूर्व क्रांतिकारी परिवर्तन सम्भव हो सके हैं, उन सबके मूल में सत्यार्थप्रकाश उल्लिखित क्रान्तिकारी भावनाएं कार्य करती दिखाई देती हैं। अत: यही एक मात्र समग्र क्रान्ति का अग्रदूत माना जा सकता है। महर्षि दयानन्द का यह दिव्य प्रकाशस्तम्भ अतीत में कोटि-कोटि मानवों सुपथ दिखा चुका है एवं भविष्य में भी युगों तक मानवता का पथ-प्रदर्शक बना रहेगा।

आर्यनिवास, चन्द्रनगर, मुरादाबाद-३२

---

# वेदादि शास्त्रों की कुंजी

वस्तुत: सत्यार्थप्रकाश प्राचीन और नवीन सभी प्रकार के मानवीय कर्तव्यों का बोध कराने वाला महान ग्रन्थ है। जो व्यक्ति सत्यार्थप्रकाश को एकान्त में निष्ठापूर्वक मन लगाकर पढता है, उस पर परमात्मा के पवित्र वेदज्ञान एवं ऋषियों द्वारा रचित अनेक शास्त्रों के रहस्य खुल जाते हैं। सत्यार्थप्रकाश वेदादि शास्त्रों के गूढ़ सिद्धान्तों को समझने की कुंजी है।

रामगोपाल वानप्रस्थ (शालवाले)
प्रधान, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा
नई दिल्ली।

# वैदिक धर्म ही सत्य सनातन धर्म

## आर्यसमाज रक्सौल में पं० जयकाश आर्य (इमाम, मौलाना खुर्शीद आलम) का भव्य स्वागत समारोह

दिनांक २९-९-८१ मंगलवार को आर्यसमाज रक्सौल के तत्वावधान मे रक्सौल के नगरवासियों की तरफ से हिन्दू धर्म में पुनरागमित पं० जयप्रकाश आर्य (इमाम मौलाना खुर्शीद आलम) का शानदार स्वागत समारोह आर्यसमाज के महर्षि दयानन्द भवन में सम्पन्न हुआ। इसमें हजारों नर-नारी उपस्थित थे।

जिला आर्यसमाजों के प्रतिनिधियों, रक्सौल की विभिन्न संस्थाओं के पत्रकारों बुद्धिजीवियों तथा व्यापारियों की तरफ से पं० जयप्रकाश आर्य को माल्यार्पण कर अभिनन्दन किया गया तथा उनके परिवार के लिए हजारों रुपए के विभिन्न वस्तुएं समर्पित की गयीं। उन्होंने अपने सम्मान के प्रत्युत्तर भाषण मे कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए इस्लाम धर्म के खोखले पन को दर्शाया तथा यह साबित किया कि वैदिक धर्म ही सत्य सनातन धर्म है। उदाहरण के रूप में बताया कि वैदिक धर्म ही आदि काल से एक बूढ़े बरगद पेड़ के रूप में खड़ा है। उसी के शाखा, प्रतिशाखा के रूप में दुनिया के सारे धर्म नकले हुए हैं। समस्त दुनिया के धर्म इसके सिद्धान्तो के अन्दर समाहित है। कुरान के आयतों का प्रमाण देते हुए उन्होने मौलानाओं को चुनौती भी दी कि कोई भी आकर इस पर बहस कर सकता है। अपने शेष जीवन को वैदिक धर्म के प्रचार में लगाने की घोषणा की।

# आर्य वही कहलाता है!

### —राधेश्याम 'आर्य' एडवोकेट

जो अपनी कोमल वाणी से, अमृत-धार बहाता है।
मानवता से संपोषित जो, आर्य वही कहलाता है॥
शिक्षित, शान्तिसमन्वित जिसका, स्वार्थरहित शुचि अन्तर हो।
जन-सेवा के मृदु भावों से, भरा हुआ आभ्यन्तर हो।
ज्ञानी हो, विद्वान सहज हो, विद्वत्ता का सम्मान करे।
पर, अपनी गम्भीर विद्वत्ता, पर न कभी अभिमान करे॥
परहित चिन्तन में ही मन को, करे सर्वदा जो उन्नत।
बृहत आत्म-विश्वास भरा हो, फिर भी सदा रहे वह नत॥
स्वच्छ, समुज्ज्वल-सा जिसका हो, स्वस्थ-अतीव, चरित्र पुनीत।
चरित्रहीनता जिसके सम्मुख, रहती रहे सदा भयभीत॥
जिसे स्वकर्त्तव्यों का अविरल, प्रतिपल होता भान रहे।
जन-जन को जिसकी उदारता, पर होता अभिमान रहे॥
सादा जीवन, उच्च विचारों, से जो सदा रहे अभिभूत।
जिसमें भरा हुआ हो जन-जन के प्रति उर में प्यार अकूत॥
राष्ट्रप्रेम की धार सुपावन, जिसके उर लहराती हो।
जिसका मन, गरिमा ज्ञानों की, क्षण-प्रतिक्षण बहलाती हो॥
वेद-पथों का अनुगामी बन, रहे बहाता मधुरस धार।
जहां पधारे उसी जगह पर, निश्चय ही आ जाए बहार॥
'वसुधैव कुटुम्बकम्' के भावों से, करता रहे जगत-कल्याण।
अपने सारे शुभ्र गुणों से, करता रहे मनुज का त्राण॥
नवल ज्ञान की ज्योति जला जो, करे मनुज मन में उत्क्रान्ति।
वेदज्ञान की रश्मि बिखा जो, दूर करे जन-मन उद्भ्रान्ति।
सच्चा आर्य वही है जो, कर सदा मनुष्योचित व्यवहार।
रहे सजाता मृदु भावों से, मानव के मन की मनुहार॥
आर्यसमाज की सदस्यता ही, नहीं कही जा सकती आर्य।
उसे निरूपित दिव्य वेद में, गुण करना पड़ता अवधार्य।
श्रेष्ठ गुणों से, शुभ कर्मों से, रहते हैं जो आभूषित।
उत्तम जिनकी प्रकृति अनोखी, विद्या तथा विनय से पोषित॥
ईश्वर तथा प्रकृति नियमों का, करते रहते हैं सम्मान।
शोक-हर्ष को, दुःखों-सुखों को सहते रहते एक समान॥
सत्य कथन कर आर्य सदा, करते हैं मानवता उत्कर्ष।
सारी धरती पर बिखराते, एक अनोखा सा मृदु हर्ष॥

मुसाफिरखाना सुलतानपुर (उ० प्र०)

# ईमानदारी

झालरापाटन शहर में उज्जैन से एक बरात आई थी। बरात पूरे गाजे-बाजे के साथ श्री लालचन्द मोमियां के यहां जा रही थी। बरात की धूमधाम में वर के गले में पड़ा जड़ाऊ हार अचानक खिसककर सड़क पर आ गिरा। सांझ के झुटपुटे में बरात में से किसी की नजर उस हार पर नहीं पड़ी। इसी बीच अपने कुछ साथियों के साथ खेल खेलता हुआ एक बालक जगमोहन प्रसाद माथुर वहां आ पहुंचा। उसकी नजर उस जड़ाऊ हार पर पड़ी। उसने वह हार उठा लिया। उसने अनुमान किया कि जरूर यह हार बरात में से किसी का होगा—वह उस हार को उसके मालिक तक पहुंचाने के लिए निकला। उसके दोस्तों ने उसे बहुत मना किया, तरह-तरह के प्रलोभन दिए और वह हार उससे लेना चाहा।

बालक जगमोहन ने लालचन्द्र जी की दुकान पर जाकर वह हार दुकानवालों को सौंप दिया। दुकानवालों ने तुरन्त हार बरात वालों को दिखलाया। उस समय तक वर महाशय को अपने हार के गिरने का पता ही नहीं था, सामने हार देखकर जब उनका हाथ गले पर गया तन मालूम पड़ा कि गला खाली था। बालक की ईमानदारी से वर तथा बरातियों को बहुत प्रसन्नता हुई। उन्होने खुश होकर उसे एक रुपया इनाम मे दिया।

बालक ने इनाम का रुपया घर वालों को सौंप दिया और हार मिलने तथा लौटाने की सारी घटना सुनायी। घरवाले सारी बात सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और लड़के को कहा—'बेटा तुम जिन्दगी भर ऐसे ही ईमानदार बने रहना। पराये धन को सदा धूल समझना।

—नरेन्द्र

## आर्यसमाज आदर्शनगर में रामायण-कथा

आर्यसमाज मन्दिर, आदर्शनगर, दिल्ली-३३ में सोमवार १९ अक्तूबर से शनिवार ता० २४ अक्तूबर, १९८१ तक प्रतिदिन रात्रि को ८॥ से ९॥ बजे तक श्री पं० रामकिशोर वैद्य रामायण-कथा प्रस्तुत करेंगे। कथा से पूर्व घण्टा भर श्री गुलाबसिंह राघव के भजनोपदेश होंगे। रविवार २५ अक्तूबर को प्रातः श्री आर्यभिक्षु वानप्रस्थी हवन-यज्ञ कराएंगे, महिला-सत्संग मण्डली के भजन होंगे और पं० रामकिशोर वैद्य उपदेश देंगे।

# आर्य जगत् समाचार

## आर्यसमाज हरियाणा में पंजाबी को दूसरी भाषा की मान्यता नहीं देगा

### सिद्धान्ती-जयन्ती पर आर्य नेताओं की सरकार को चेतावनी

रोहतक। स्थानीय दयानन्द मठ में हरियाणा के आर्यसमाज कार्यकर्त्ताओं की एक विशाल सभा श्री स्वामी ओमानन्द सरस्वती की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुई। यज्ञ की कार्यवाही के बाद आर्यसमाज के प्रसिद्ध नेता स्वर्गीय श्री पं० जगदेवसिंह सिद्धान्ती की स्मृति आर्य प्रतिनिधि सभा हरियाणा के नवनिर्मित भवन का उद्घाटन स्वामी ओमानन्द सरस्वती महाराज के कर-कमलों द्वारा किया गया। इस अवसर पर स्वामी जी की अपील पर इस स्मारक भवन के लिए १५०० रुपए तथा २० हजार वचन के रूप में प्राप्त हुए।

दोपहर बाद श्री सिद्धान्ती जी की ८ वी जयन्ती भी यज्ञशाला में धूमधाम से मनाई गई जिसमें मा० निहालसिंह आर्य, प० चन्द्रसेन वैदिक मिशनरी, चौ० महावीरसिंह, वैद्य भरतसिंह, पं० सुखदेव शास्त्री, श्री भरतसिंह शास्त्री लुहाच, बहिन किरणमयी आर्या जीन्द, चौ० कबूलसिंह मन्त्री सर्वखाप पंचायत शोरम (उ० प्र०), मास्टर लालमण सिंह आर्य (दिल्ली), अवकाश प्राप्त न्यायमूर्ति चौ० हरकिशनसिंह मलिक ने श्री सिद्धान्ती जी को अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए उन्हें वेदो का प्रकाण्ड पण्डित, महान् सुधारक तथा निर्भीक नेता तथा पत्रकार बताया।

इस समारोह के मुख्य वक्ता भारत सरकार के पूर्व रक्षा राज्य मन्त्री प्रो० शेरसिंह जी ने आर्य जनता को सावधान करते हुए बताया कि साम्प्रदायिक सिख नेता पंजाब में अपनी पंचवर्षीय योजना के अनुसार एक बार पुनः तोड़-फोड़ तथा आतंक का वातावरण तैयार करके भारत सरकार पर अनुचित दबाव डाल रहे हैं और हरियाणा में पंजाबी भाषा को लादने तथा रावी-व्यास के पानी को हड़पने, चण्डीगढ़ अबोहर फाजिल्का के लिए सौदाबाजी करना चाहते हैं। उन्होंने हरियाणा के मुख्य मन्त्री चौ० भजनलाल के सिख सम्मेलन मे दिए गए उस भाषण पर आपत्ति की जिससे उन्होंने हरियाणा में पंजाबी को दूसरी भाषा बनाने की बात कही थी। भारत सरकार तथा हरियाणा सरकार को साम्प्रदायिक सिख नताओं की कोई भी अनुचित मांग किसी दबाव में आकर स्वीकार नही करनी चाहिए क्योकि भाषायी आधार पर ही पंजाब का (पंजाबी तथा हिन्दी क्षेत्र) बटवारा किया गया था। हरियाणा हिन्दी भाषी क्षेत्र है। अतः खालिस्तान की आड़ में सरकार पर दबाव डालना है। अकालियों से किसी प्रकार का समझौता करते समय हरियाणा के हितों की उपेक्षा न की जावे तथा अन्यथा हरियाणा की आर्य जनता हिन्दी रक्षा तथा चण्डीगढ़ आन्दोलन जैसा वातावरण तैयार करने पर विवश हो जाएगी।

श्री स्वामी ओमानन्द जी सरस्वती ने अपने अध्यक्षीय भाषण में सिंहगर्जना करते हुए कहा कि आर्यसमाज श्री सिद्धान्ती जी की जयन्ती पर अन्याय के साथ टक्कर लेने का संकल्प करता है। आर्यसमाज ने १९५७ में हिन्दी रक्षा सम्मेलन में ५० हजार सत्याग्रहियों को जेल भेजा था। हम अभी जीवित हैं। अतः आर्यसमाज हरियाणा में पंजाबी को दूसरी भाषा के रूप में किसी भी मूल्य पर स्वीकार नहीं करेगा और पूर्व की भांति बड़े से बड़ा बलिदान देने को तैयार है।

—o—

## नरवाना (जीन्द) तथा गन्नौर (सोनीपत) में आर्यवीर ब्रह्मचर्य प्रशिक्षण शिविर

पलवल। आर्यसमाज नरवाना में १० अक्तूबर से १८ अक्तूबर तक तथा जनता हाई स्कूल गन्नौर में २५ अक्तूबर से। नवम्बर तक आर्यवीर दल हरियाणा के तत्वावधान में ब्रह्मचर्य प्रशिक्षण शिविर लगाने निश्चित हुए हैं। श्री सत्य पाल जी आर्य, पं० जगदीश चन्द वसु तथा श्री कृष्ण पाल सिंह प्रशिक्षण कार्य करेंगे।

—o—

## हरिजनों को वेद पढ़ाने की व्यवस्था

### आर्यसमाज दरियागंज का निश्चय

आर्यसमाज दरियागंज, नई दिल्ली की अंतरंग सभा की विशेष बैठक ४ अक्तूबर, १९८१ को आर्यसमाज मंदिर में श्री रामलाल चौधरी, प्रधान की अध्यक्षता में हुई जिसमें निम्नलिखित प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित किए गए।

(१) हरिजन बन्धुओं को संस्कृत तथा वेद पढ़ाने के लिए विशेष कक्षा की व्यवस्था की जाए।

(२) हरिजनों की शिक्षा के लिए पुस्तकों तथा लेखन-सामग्री का प्रबन्ध आर्यसमाज की ओर से किया जाएगा।

(३) मेधावी हरिजन तथा अन्य व्यक्तियों को संस्कृत तथा वेदों का अध्ययन करने के लिए ५० रुपए प्रति व्यक्ति के हिसाब से छात्रवृत्तियों की व्यवस्था की जाएगी।

(४) हरिजन भाइयों के लिए ऐसे प्रशिक्षण की व्यवस्था आर्यसमाज की ओर से की जाए, जिससे वे भविष्य में पुरोहित बनकर संस्कार आदि करा सकें और सफल उपदेशक बन सकें।

—o—

## सामाजिक कुरीतियों को जड़ से उखाड़ फेंकने का संकल्प

### आर्यवीर दल द्वारा 'वीर पर्व' हरियाणा में सम्पन्न

पलवल। दशहरे के शुभ दिन प्रान्त भर में आर्य वीरों ने 'वीर पर्व' सोल्लास मनाया। आर्यसमाज न्यू कालोनी पलवल में पं० धर्मपाल जी मेरठ एवं श्री चन्द्रप्रकाश जी दिल्ली ने आर्य वीरो को आशीर्वाद दिया। बल्लभगढ़ मे नाहरसिंह पार्क में श्री देशराज जी बहल तथा फरीदाबाद में श्री मनोहरलाल जी आनंद (भिवानी), उपसंचालक, आर्यवीर दल हरियाणा ने वीर पर्व कार्यक्रमों की अध्यक्षता की। गुडगांव में प्रो० उत्तमचन्द जी शरर, संचालक आर्यवीर दल हरियाणा ने ओ३म् ध्वज फहराए। सोनीपत में श्री वेदप्रकाश आर्य (रोहतक) पानीपत में प्रो० वेद सुमन जी वेदालंकार (करनाल) तथा करनाल में श्री चन्द्रप्रकाश सत्यार्थी (यमुना नगर) ने आर्यवीरो को प्रेरणा दी। हिसार में पं० विश्वबन्धु जी शास्त्री (भिवानी) तथा सिरसा में पं० रविदत्त जी (हिसार) ने आर्यवीरो को सम्बोधित किया। इनके अतिरिक्त सोहाना, नगीना, हांसी, जीन्द, भिवानी, फतेहाबाद, नारनौल, अम्बाला आदि प्रमुख स्थानों पर भी वीर पर्व हर्षोल्लास के साथ मनाया गया।

# आर्यसमाजों के सत्संग

**१६ अक्तूबर '८१**

अशोक विहार के सी-१२-ए—पं० प्रकाशवीर व्याकुल; आर्यपुरा—पं० अमरनाथ कान्त; आर के पुरम सेक्टर ६—पं० सुधाकर स्नातक; आनन्द विहार पं० सत्यदेव भजनोपदेशक; आर. के. पुरम—श्री देवीचरण बंसल; इन्द्रपुरी—पं० रामरूप शर्मा; किंग्सवे कैम्प—पं० प्राणनाथ सिद्धान्तालंकार; किशनगंज मिल एरिया—श्री मोहनलाल गांधी; कालका जी डी. डी. ए. फ्लेट्स—पं० उदयपाल शास्त्री; कृष्णनगर—पं० अशोककुमार विद्यालंकार; गांधीनगर—डॉ० रघुनन्दन सिंह; ग्रेटर कैलाश-I—स्वामी प्रेमानन्द; गुप्ता कालोनी—आचार्य हरिदेव सि०भू० गोविन्दपुरी—पं० सत्यभूषण वेदालंकार; चूनामण्डी पहाड़गंज—पं० रघुराज शास्त्री; जंगपुरा भोगल—पं० ओमप्रकाश भजनोपदेशक; जनकपुरी बी ३/२४—डॉ० सुखदयाल भूटानी; टैगोर गार्डन—पं० हरिदत्त शास्त्री; तिलकनगर—पं० खुशीराम शर्मा; तीमारपुर—पं० रामनरेश शास्त्री; दरियागंज—पं० गणेशप्रसाद विद्यालंकार; नारायण विहार—पं० प्रदीपकुमार शास्त्री; नया बांस—पं० महेन्द्रकुमार शास्त्री; न्यू मोतीनगर—श्रीमती लीलावती आर्या; पंजाबी बाग—प्रो० सत्यपाल बेदार; पंजाबी बाग एक्सटेन्शन १४/३—मास्टर ओमप्रकाश आर्य; पश्चिम पुरी जनता क्वार्टर—प० तुलसीराम भजनोपदेशक; बाग कड़े खां—पं० बरकत राम भजनोपदेशक; बसई दारापुर—पं० सत्यपाल मधुर भजनोपदेशक; बिरला लाइन्स—पं० ईश्वरदत्त; मोडल बस्ती—पं० वेदपाल शास्त्री; माडल टाउन—डा० देवेन्द्र द्विवेदी; महावीर नगर—प० देवराज वैदिक मिश्नरी; महरौली—पं० वेदव्यास भजनोपदेशक; रघुबीरनगर—पं० विश्वप्रकाश शास्त्री; राणाप्रताप बाग—ला० लखमीदास; राजौरी गार्डन—पं० सत्यनारायण शास्त्री; लड्डूघाटी पहाड़गंज—श्रीमती प्रकाशवती शास्त्री; लाजपतनगर—श्रीमती सुशीला राजपाल; लक्ष्मीबाईनगर ई-१२०८—पं० आशानन्द भजनोपदेशक; लेखरामनगर-त्रिनगर—श्री चमनलाल आर्य; लारेन्स रोड—प्रो० वीरपाल विद्यालंकार; विक्रमनगर—पं० मनोहर विरक्त; सुदर्शन पार्क—प्रो० भारतमित्र शास्त्री; सराय रोहिल्ला—पं० सीसराम भजनोपदेशक; श्री निवासपुरी—पं० हीराप्रसाद शास्त्री; शालीमार बाग—डा० रघुवीर वेदालंकार; हौज खास—पं० चन्द्रभानु सि० भू०।

—ज्ञानचन्द डोगरा; वेद प्रचार विभाग

# १९५ ईसाई एवं ५७ नवमुस्लिम हिन्दू (वैदिक) धर्म में सम्मिलित

दिनांक २०-६-८१ को भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा के उपदेशकों द्वारा ग्राम विरगवां जिला एटा में श्री रामभज की अध्यक्षता में ४६ नवमुस्लिमों को हिन्दू (वैदिक) धर्म में सम्मिलित किया गया। आर्यसमाज हाथरस, आर्यसमाज एटा, आर्यसमाज सासनी के अधिकारियों एव आसपास के लगभग १५ गांवों के २५०० व्यक्तियों की उपस्थिति में यह सम्मेलन सम्पन्न हुआ। दिल्ली से श्री द्वारिकानाथ सहगल, प्रधान मन्त्री सभा, श्री रामप्रसाद मिश्र, डा. खुशहाल चन्द, श्री दीपचन्द शर्मा ने हिन्दू धर्म की दीक्षा दी। २४-६-८१ को ग्राम घुगवां मे १७५ ईसाई और २५-६-८१ को ग्राम रोशन नगर जिला बदायूं में २० ईसाई भाइयों को श्री इतवारी लाल एवं श्री अमृतलाल नागर उपदेशक सभा ने हिन्दू धर्म में सम्मिलित किया तथा उन सभी के नाम हिन्दू धर्मानुसार परिवर्तित किए गए।

## महाशय लक्ष्मीचन्द वानप्रस्थी का निधन

आर्यसमाज, सेक्टर २२, चण्डीगढ़ के भूतपूर्व प्रधान वयोवृद्ध, कर्मठ निष्ठावान, अनथक, आर्य वैदिक संस्कृति के प्रतीक महाशय लक्ष्मीचन्द वानप्रस्थी जी का दिनांक २७-६-८१ को देहान्त हो गया। ३० सितम्बर, १६८१ को आर्य समाज मन्दिर सेक्टर २२ में सम्पन्न हुई शोकसभा में अनेक वक्ताओ ने अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की और परमपिता परमात्मा से दिवंगत आत्मा की शान्ति-सद्गति और उनके सन्तप्त परिवार को धैर्य और सहनशक्ति प्रदान करने की प्रार्थना की।

## दिल्ली आर्य प्रतिनिधि स[भा] के प्रकाशन

सत्यार्थप्रकाश सन्देश (हिन्दी)

„ „ (अंग्रेजी)

आर्य सन्देश-महासम्मेलन विशेषांक

पादरी भाग गया—ओम्प्रकाश त्यागी

स्वामी श्रद्धानन्द-बलिदान

अर्द्ध शताब्दी स्मारिका

सत्यार्थप्रकाश शताब्दी समारोह स्मारिका

सम्पर्क करें—

अधिष्ठाता प्रकाशन विभा[ग]

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा

१५, हनुमान रोड,

नई दिल्ली-११०००१

卐 'आर्यसन्देश' के स्वयं ग्राहक बनें—दूसरों को बनाएं

卐 आर्यसमाज के सदस्य स्वयं बनें—दूसरों को बनाइए

卐 हिन्दी-संस्कृत भाषा स[ीखें] दूसरों को भी पढ़ाइए

created. Although an appeal machinery is necessary, it is estimated that over eighty per cent of all cases are settled in a routine manner and without appeal.[18] Most states will have some machinery for appeal to the commission that administers the act or else a special committee to hear appeals. This is not true of the states that have court administration. As a final resort no matter what the state, an aggrieved worker has a right to appeal to the courts a claim that has not been settled to his satisfaction In view of the time and expense involved in such appeals, it is doubtful if the majority of them are worthwhile for the worker

### Evaluation of compensation laws

Such, then, are the workmen's compensation laws of the states, territories, and the federal government. How adequately do they perform their functions? Any comments on this question must be tentative because of the great variation in the laws, in addition, the quality of administration of any law, good or bad, can do much to make or break it. In general, however, none of the laws is completely adequate. To be entirely adequate a law would ensure the prompt payment of monetary benefits, in addition to medical and hospital care, to persons injured on the job The question of who is at fault should not be considered. The basis of this argument is that employers should be required to make financial provision for the protection of their workers against accidents just as they provide for the repair of machinery or other equipment. Such protection should be a part of the cost of production.

In the following comments on workmen's compensation laws the assumption is made that the laws are and should be a type of social insurance. As such, the primary purpose of the laws must be to extend aid to those in need; the provision of the laws, the methods of administration, and the financial problems should all be surveyed with the question in mind, "How does this affect the basic purpose of workmen's compensation providing aid to injured workers?"

With regard to coverage, the laws clearly are far from adequate; attention has been called to the estimate that only about one-half of all those gainfully employed are covered by workmen's compensation. In almost all states the exclusion of domestics, casuals, farm labor, and small employers is a serious omission. In addition, two relatively large groups that are not protected are interstate transportation workers and maritime workers. These two groups would require coverage by federal laws; at present the Federal Employers' Liability Act only restricts the employer's ability to escape damage

[18] *Ibid*, p 122

suits through the common law defenses. In addition, many states that offer protection only to workers in listed hazardous occupations exclude workers who need coverage, even in non-hazardous industries accidents and sickness occur.

If the goal of workmen's compensation is to provide protection for all or as many workers as possible, many of the present exemptions should be removed. Laws should be general coverage laws rather than "listed industry" enactments In view of the laws existing in most states, numerical exemptions of employers of more than four workers do not seem necessary Coverage of agricultural or domestic workers should be provided under the same conditions as for other industries. In addition, railroad and maritime workers should be given protection.[10] A final point on coverage is that all laws should provide protection for out-of-state accidents Most states do so but not all

To ensure the coverage of all workers all laws should be compulsory There no longer is need of toning down compensation laws to ensure constitutionality. Even though under elective laws common law defenses are not available to employers, compulsory laws have the additional advantage of more prompt, definite, and certain payment of benefits There seems now to be no good reason why all laws should not be compulsory.

In the coverage of injuries the greatest weakness of legislation has been the failure of many states to protect workers against occupational diseases Those states that do provide some such protection do so only for listed diseases rather than for all. Although it is difficult to determine in some cases whether a disease is occupational, that administrative problem should not prevent the coverage of all occupational diseases Laws that do not extend full protection for all occupational diseases are not satisfactory. All injuries, whether accidents or diseases, that arise out of the job should be compensable under an adequate state law

The provisions in the laws for waiting periods are generally satisfactory. Administratively it would be a very difficult task to compensate for every lost-time injury. Although one state does so, compensation of injuries causing less than three days lost time would seem unwise, and waiting periods of more than seven days should not be imposed on the worker. Almost all laws come within these limits. Most provide for payments retroactive to the date of injury if the disability is extended. Where such is not the case,

---

[10] For an evaluation of the present workmen's compensation laws see Division of Labor Standards, U S Department of Labor, Bulletin No 70, *How Good Is Your Workmen's Compensation Law?* Washington, D C U. S Government Printing Office, 1944

laws should be revised to give such protection for all disabilities of more than two or perhaps three weeks

The justice and adequacy of benefit payments do not merit an evaluation as favorable as that in the preceding paragraphs. There are many points at which the benefit provisions fall short of need. In cases of temporary total disability, the payment of less than full wages is in itself debatable. But if full wages were paid, the problem of malingering might be severe. On the other hand, the expenses of the family of an injured person do not decline during the disability; in fact, there may be additional expenses even though medical costs are borne by the compensation agency. The issue then becomes one of whether the compensation is to support an injured person and his family or to give aid during the time when a regular income is stopped. Most persons probably favor the idea of aiding rather than supporting at the level existing prior to the injury. Even so, benefits of only one-half of the pre-injury wages are too low. Two-thirds to three-quarters of pre-injury wages should be allowed. Many states meet the suggested two-thirds, none, at present writing, the three-quarters.

In most states today the statutory minima and maxima are unreasonably low, in fact the statutory maxima are so low that many an injured worker in 1947 or 1948 would receive half or even less of his average wages, even though the law supposedly allows 65 or 66⅔ per cent of his wage. The recipient of benefits receives the stated percentage of his wages only if the sum falls between the permissible minimum and maximum. And for the average industrial worker of the late forties who lives in an urban area with a family, a maximum grant of $20 or $25 per week amounts to aid to the family and not to enough for support. On the assumption that benefits should be sufficient to support a family during the disability of the breadwinner, most of the laws should be revised to raise the maxima or remove them. Statutory limits of as little as $15 in some states are far out of step with post-World War II price levels.

Another matter arising out of the payment of benefits is the duration of the compensation period. As was pointed out, many laws do not provide unlimited benefits for persons who suffer permanent total disability; a majority of the states place a maximum either on the amount of money that can be paid in such cases or on the number of weeks of benefits or both. Keeping the social insurance principle in mind, there is no reason why a permanently disabled workman should not be compensated for life. A compensable injury arises out of and because of the job, if that be the case, a worker should not be thrown unsupported on the industrial scrap heap. The same philosophy may be applied to the compensation of de-

pendent widows and children. Where widows or children are dependent on a worker killed in an industrial accident, it is reasonable to expect, many state laws to the contrary notwithstanding, that compensation should continue during widowhood or life and until the children are at least eighteen years of age or married. The limit should be extended beyond age eighteen in the cases of children who are handicapped in some way.

All laws should provide a fund from which the excess cost of second injury compensation can be met. Since a heavy majority of the laws make such provision, this point need not be labored. Essentially, the same is true of the compensation of illegally employed minors. Although most states provide as adequate, if not better, compensation for illegally employed minors than for other persons, the eight states deficient in this respect should modify their laws to comply with normal practice.

Allowable medical benefits cannot be viewed so optimistically. Twenty-three laws limit in one way or another the medical benefits that a worker may be granted. Some states impose maxima in terms of the value of medical services that may be claimed, the amounts varying from $75 to $800. Other laws allow benefits for no longer than four weeks, while others set limits up to one year. Some laws impose a double time and monetary limitation. Again, those who believe in workmen's compensation as a social insurance cannot agree to any limit on the amount of paid medical care necessary for the industrially injured worker. The twenty-three limited laws all should be rewritten to provide for full medical care. Along with full medical care, every law should provide for free artificial appliances and free vocational rehabilitation for those who are permanently partially disabled.

Finally, there is the broad field of administration of the acts to examine. It is hard to overstress the importance of administration in determining exactly what a law will mean to workers. There will be a great difference between the benefits of two similar laws, one administered by men with the idea of providing a maximum of social protection and another by persons with the idea of keeping down the costs of the service. As a first step in adequate administrative procedure, the few remaining laws that stipulate administration by the courts should be amended to provide for administration by a commission. To aid in establishing an adequate administrative agency, the laws all should have strong provisions requiring the prompt reporting of accidents so that the benefit machinery can be set in motion. The laws might well include the relatively rare requirement that first benefit payments be made within a certain set period of time after the injury. In view of the length of time

elapsing before first payments under many of the laws, some such protection is needed

Where private insurance carriers and self-insurance are allowed, there have been cases of lump-sum payments that close out a disability claim before it is certain that the extent of disability is known. All laws should provide that lump-sum payments be made only with the approval of the commission, which should ascertain by hearing that the proposed settlement is just and in the interests of the injured person.

The proponents of workmen's compensation are faced with the fact that in most instances the staffs administering the laws are inadequate. Salaries paid, like those of most public servants, are so low that it is difficult to obtain and hold competent officers. This situation is not peculiar to the administration of workmen's compensation, however, in view of the extreme complexity of many of the problems that arise, especially in terms of extent of disability, the situation is perhaps especially acute Many state laws should be amended to dispose of archaic salary schedules. Although a relative degree of security for those on civil service will compensate in part for lower salaries, there is a limit to the substitutability. In connection with the matter of salary-scale limitations, there is another personnel problem. Workmen's compensation administrations should not be staffed by persons whose attitude is one primarily of maintaining large liquid funds, in case of state funds, or of keeping down payments. Holding payments to a minimum is excellent if it is done by virtue of few accidents But, although it is difficult to hire on the basis of an attitude, persons administering workmen's compensation laws should be those who understand and are sympathetic to the primary purpose of supplying an income to persons who suffer disabilities arising out of their work. This does not mean that the primary purpose of compensation laws is to give away state funds or the funds of the carriers; it does mean that compensation of injuries must be considered above the cost of the benefits that are paid.

Other administrative problems that exist concern the degree of autonomy of the commission and methods of ensuring the security of payments. The latter problem is of especial importance where self-insurance is allowed, but it has occurred in the 1930's with private insurance companies too. One means of meeting this difficulty would be more careful specification of adequate self-insurance rules. Another would be to establish some sort of special guarantee fund from which injured workers could be compensated if the self-insured company or the private insurance firm proved unable to meet its obligations.

The degree of autonomy in rule making and application of the law is a difficult problem If it be assumed that adequately trained and interested administrative officers will be in charge, then a high degree of autonomy for these officers would be desirable. On the other hand, those in charge of applying the law may be so inept that it would be better if their activities were closely circumscribed by the law. Probably the only adequate solution is to make possible, through salary and other job conditions, the hiring of qualified administrative personnel In that case, the recommendation of the Division of Labor Standards that there be "clear and ample delegation of the rule-making power to the administering authority" can be endorsed.[20]

Non-industrial injuries

If a worker must suffer injury or illness, he is less unfortunate should he suffer an industrial accident or disease than a non-industrial one. In the United States society has, for all practical purposes, refused to recognize the problems of general illness and accidents as a fit subject for social protection No claim for general illness or non-industrial accidents can be made under workmen's compensation laws because the disability has not arisen out of and as a result of the work being done And in all except three states[21] the worker so disabled can claim nothing under the unemployment compensation laws because any such payments are contingent to the worker being ready and able to take work. Clearly, a person who is sick or disabled by accident cannot qualify.

That the need for social protection by many of those who are ill or disabled by non-industrial causes is a serious problem has been recognized and acted upon in many other countries. Attention has been called in Chapter III to the earlier development of social legislation The pioneer experiments of Germany in the 1880's grew rapidly, and it was reported that as long ago as 1935 twenty-two nations, mostly European, had compulsory health insurance plans; thirteen of the laws were reported to cover "practically all persons doing paid work in the service of others" [22]

Recognition of the problem has not been entirely lacking in this country, but unfortunately this recognition has not been by the groups that count most. But the need is omnipresent. Commons and Andrews estimated in 1936 that general, non-industrial illness

[20] Division of Labor Standards, U S Department of Labor, Bulletin No. 70, *How Good Is Your Workmen's Compensation Law?*, p 10

[21] Rhode Island, New Jersey, and California. See below, Ch XVIII, for discussion of the expansion of the unemployment insurance plans of those states.

[22] Commons, J, and Andrews, J., *op cit*, p. 260

caused absence of eight days per year for the average worker. Accidents would add somewhat to this figure This loss is much greater than that for industrial disability, even with the statistical allowance of time lost for injuries and death far in excess of the days actually lost in the year in which a disability occurred, the time lost from industrial accidents would have averaged perhaps five days per person for the wartime work force.

The unfortunate situation is that a disproportionate part of general sickness befalls workers and their families. The poorer living conditions and diets and less adequate medical attention, especially preventive medicine, spells higher incidence of disease. Thus, the problem is in a real sense a labor problem, and any legislative solution would merit consideration as labor legislation Unfortunately, there is in this nation little action to discuss That there should be action does not seem a debatable question An infinitesimal part of all sickness is self-induced, unless that which results from ignorance of or inability to practice reasonably healthy living habits may be so classed Whether or not those who were ill were at fault in most cases, if they were financially able to withstand the loss of income and extra expenses of a period of illness, then government action might not be so clearly justified. But neither of these conditions is true.

The approach of European nations, virtually all of which have in the past sixty years adopted some sort of governmentally financed or subsidized health insurance plans, has been to provide through the government program some compensation for the loss of wages as well as medical benefits. Many of the plans also provide for maternity and burial benefits, but these are not so common as the other provisions.[23]

The problem of public health was recognized by some persons in this country before the first World War. As early as 1912 the American Association for Labor Legislation named a committee to study the problem, their first report in 1913 and subsequent reports in the next few years aroused some interest, and between 1915 and 1918 a number of states introduced health insurance measures or named committees to study the problem. Nothing came of this flurry of interest, since that time, however, there have been periodic revivals of interest and of attempts on a state or national basis to encourage some plan of socialized medical service or health insurance program.

To date, the opposition to such plans has been sufficiently strong and well-organized to stop any governmental action. Certain mild

[23] For an excellent brief survey of foreign health insurance plans see Millis, H A, and Montgomery, R E, *op cit.*, Vol II, Ch VI

substitute measures have been developed in various parts of the country, such as group hospitalization plans and a relatively few cooperative health associations that provide general medical service and a specified amount of hospital service for their members only. There also have been developed health and welfare plans by employers, unions, and by employers and unions working jointly The coverage of the latter type of plan is relatively limited but is likely to expand unless there is an extension of government health protection[24] In addition, there have been some instances of private groups of doctors establishing or becoming a part of a medical association or clinical organization that provides general medical service at relatively low, fixed monthly charges to members of the association, but, in this case also, the attention is available only for those who can pay for it. There is also a considerable number of persons with low incomes who receive charity medical attention; this number was estimated at from 10,000,000 to 15,000,000 in the late 1930's[25] Finally, there is a considerable amount of public health work carried on by federal, state, and local governments. These activities, however, do not center on general sickness. They are concerned primarily with providing for the mentally unbalanced, for the control of communicable diseases like tuberculosis, for public school health programs, and the like. All of the above are desirable, but they represent a patchwork of uncoordinated efforts that leaves much to be desired.

A program that copes adequately with non-industrial sickness and accidents must do certain things that have not been done to date in this country. The plan should cover all workers and their families; secondly, it should make provision for medical and hospital service and for an income for the incapacitated worker during the time that he is unable to work; and finally, it must be so established that inability of an individual to bear his part of the costs will not prevent participation in the program Certainly the cost of service should not be passed on to the individual. Let us note each of these points in brief.

An adequate approach, legislative or otherwise, to the public health problem must cover all workmen and their families. To date, the individual efforts of the various health associations and other groups working in the field have not done this, nor are they likely to do so. It will require governmental action that sets a uniform policy for all persons within the particular governmental unit to do this Widespread development of cooperative or other health plans that provide medical service on a fixed-fee basis will never

[24] *Monthly Labor Review*, February, 1947, Vol 64, No 2, p. 191.
[25] *Ibid*, p 259

cover all the population. Failing that coverage, some of the illnesses that occur will present the same type of problems as the majority of them do today.

With regard to the provision of an income for the breadwinner during disability, this need is not met by any of the group medical association plans. The problem of illness to the normal wage earner of the family is no more, if as much, the problem of medical expenses and suffering than it is the loss of income on which the family is dependent. Although private insurance companies will write for those who can afford them disability insurance policies that give an income during illness, this does not answer the need of the majority who are unable to buy such protection It seems clear that the bulk of compensation for involuntary idleness due to sickness must come from society through some governmentally established program.

The final point made above is, in essence, that the protection provided must be social insurance. That is, the necessary benefits that are paid must not be contingent on each individual bearing an equal share of the burden The keynote of an adequate solution to such a problem must be protection supplied to all who need it, the costs financed without reference to the benefits that any individual derives Thus, under such a plan, any supporting taxes collected from workers might well be a specified percentage of income. In addition, a tax might well be levied on the payroll of the employer, who might not benefit directly from the law. Such a plan might even be put into effect and supported from general revenues, no special tax being provided for support. It is doubtful, however, if a law calling for as much expenditure as would be involved in this law would be enacted without provision being made for raising funds to support the drain on the public treasury.

To summarize, workmen's compensation is the oldest form of social insurance in the United States It developed as a method of providing medical aid and some maintenance income for those disabled by the work which they do Although most of the states have gone through the motions of providing a minimum of protection for the industrially injured, probably only about half of the gainfully employed do have coverage. In addition, the reluctance of most state legislatures to spend any money that can possibly be saved has created a reluctance to broaden coverage, and especially to extend coverage to occupational disease.

General illness and non-industrial accidents cause more lost time than do industrial disabilities, and the bulk of these two falls on worker groups. However, this problem has virtually been ignored. Studies have been made and bills introduced, but effective opposi-

tion has prevented the development of any sort of health insurance program. In only three states can a worker claim any sort of compensation for loss of income due to non-industrial disability. This is probably the greatest gap in our rather limited program of social insurance

## Questions

1. Under the provisions of the Constitution, could the federal government enact industrial accident- or disease-compensation laws for workers in mining, manufacturing, and other such industries?

2. Would a federal law be likely to be an improvement over existing state compensation legislation? What are the pros and cons of federal legislation on the subject?

3. What are the most outstanding weaknesses of current workmen's compensation legislation? To what extent are corrections of these weaknesses practical?

4. If disability compensation for non-industrial accidents and disease were undertaken, who should be expected to bear the cost? Employers? Workers? The public? Or some combination? Why?

5. What are the strong points and weaknesses of merit rating as a basis for setting rates of workmen's compensation?

6. What reasons can you offer for workmen's compensation having been the earliest form of social insurance developed in the United States?

## Chapter XI

# REGULATION OF HOURS OF WORK

### Pre-World War I regulations of hours

Much of the story of the regulations of hours of work was completed prior to the first World War, and was surveyed in Chapter VIII By the time of that war it was clearly established that the states could exercise police power to set maximum hours of work. It will be recalled that in a number of rulings the federal High Court validated several types of laws. In *Holden v Hardy*, in 1898, it approved the regulations of hours of work for men engaged in hazardous occupations, in 1905, however, in *Lochner v. New York* it denied the power of the state to regulate the hours of bakery workers because such work was not hazardous *Muller v. Oregon*, in 1908, established the right of the state to set maximum working hours for women even though there be nothing especially hazardous about their work. Finally, in 1917, in *Bunting v. Oregon* the Supreme Court approved the power of the state to regulate the hours of men as well as women in general manufacturing.

In addition, hours of work could be set for the employees of state and federal governments and of contractors supplying goods to government agencies And where long hours might endanger public safety, as in transportation, the length of the work day could be regulated All in all, therefore, at the end of the first war state regulation of hours was well established, but the federal government had nothing in the way of general regulation of hours for all workers As usual under state regulations, there were wide variations in the number, type, and effectiveness of controls.

### Prohibition of night work

One type of control of hours of labor was given the approval of the Supreme Court after the war. About a dozen states have included in their maximum-hours laws some prohibition of night work. These prohibitions normally forbid work between 9.00 or 10:00 P M and 6.00 or 7:00 A.M. Usually they apply to all women, sometimes only to females under eighteen.[1] Such a law had been declared

[1] See Prentice-Hall's *Complete Labor Equipment*, Vol 3, *State Labor Laws*, for summaries of these laws

void and later reconsidered and validated by the New York Court of Appeals[2] prior to the time that it was considered by the federal Supreme Court

In view of the language used and the conclusion reached, it is somewhat surprising that Mr Justice Sutherland delivered the opinion of the Court in the case of *Radice v. New York.*[3] The statute, which forbade the employment of women in restaurants in cities of more than a specified size between 10·00 P M. and 6·00 A.M., had been attacked on two counts. It was said that it was in violation of the fourteenth amendment because it conflicted with the due process clause by taking from employer and employee their freedom of contract. It was assailed also as a denial of the equal protection of the law because it did not apply equally to all workers The man who one year earlier had been unable to approve of the establishment of minimum wages for women and, indeed, expressed that opinion in the mid-thirties was able to see the law in question as a reasonable exercise of the police power.

As to the deprivation of freedom of contract, it was held by the Court that, whatever the limitation on individual liberty, the law was defensible due to the hardship on women and on society as a whole of night work by women The difference in the physical structure of men and women and of "the functions to be performed by each" were cited to prove the validity of the restriction. It was denied that the Adkins case of the preceding year applied in any way, since the issue in that case was "a wage fixing law, pure and simple."

The Court denied that the classification of women to whom the law applied was sufficiently arbitrary to validate the argument that there was a denial of the equal protection of the laws This conclusion was somewhat surprising since the law applied only to certain classes of women employees in restaurants and not at all in hotel dining rooms or in lunchrooms, in addition, it applied only to certain classes of cities, the classification being based on size. In the opinion of the Court, every classification must be somewhat arbitrary and have some degree of inequality of treatment However, since the classification of the law was not "actually and palpably unreasonable and arbitrary," it was not to be condemned

The Radice decision is not of great importance. In the first place, it did not change the foregoing decision of the New York Court of Appeals Secondly, it has not resulted in a widespread enactment

[2] The law was invalidated in *People v Williams,* 189 N Y 131 (1907), it was validated by the same court eight years later on reexamination, *People v. Schweinler Press,* 214 N Y 395 (1915)

[3] 264 U S 292 (1924)

of such laws. In 1948 roughly one-quarter of the states had such laws, a few applying only to females under eighteen years of age and others restricted to certain industries, so this type of protection is relatively inadequate The decision is of interest, however, to emphasize again the personal element in court rulings The classification in the law might easily have been found arbitrary and unreasonable, and the Adkins case of 1923 had ruled invalid a restriction on freedom of contract that probably was more directly related to general welfare than was the case in question.

### Attempts at federal regulation

Taken as a whole, the period of the 1920's was not one which will be remembered for its progressive legislation and court decisions. With respect to state regulations of hours of work, this is true, and during the same period the federal government took no action in that field In the 1930's came the great depression, with the steady increase in unemployment that resulted in 1933 in nearly one-third of the working population being out of a job. With the states generally unable or unwilling to take strong, positive steps to meet the problem, the federal government assumed the burden of trying to revive the faltering economy. Of necessity, one important part of such an undertaking was a means of cutting down the number, approximately 15,000,000 persons, out of work. Consequently, the federal Congress made several attempts to cut hours, thus to spread the available work among more persons; the attempts prior to the enactment of the Wage-Hour Law of 1938 will be examined now.

The first attempt of the government to cut hours of work was in the National Industrial Recovery Act. That enactment was a broad and inclusive attempt at recovery that dealt with wages, hours, child labor, pricing policies, relief, and public works The wage and hour provisions were directed at increasing wage rates and decreasing hours of work. The means of putting these measures into effect was through the codes of fair competition called for in the act [4] Under the Recovery Act, one or more trade or industrial associations or groups could draw up codes of fair competition to regulate business practices in their industry or part of an industry. Upon completion by the industry group, the proposed codes were submitted to the National Recovery Administration for examination and approval After public hearings and study by labor, industry, and consumer advisory boards, the codes were modified, if changes were thought necessary, and were then put into effect by executive order. The code was then a part of the law of the land, with penalties provided

[4] 48 Stat 195, 1933

for violation. It should be kept in mind that these codes were not legislative enactments; they were specifically provided for in the original act but the Congress had nothing to do with the preparation, approval, or effectuation of the act.[5] This fact helps to explain the action of the Supreme Court when it considered the validity of the N.I.R.A.

Certain provisions other than the codes were allowed or imposed under the act. Section 7(b) of Title I provided that every opportunity should be allowed for employees and employers to establish "by mutual agreement, the standards as to the maximum hours of labor, minimum rates of pay . . . and the standards established in such agreements, when approved by the President, shall have the same effect as a code of fair competition." At the start of the recovery program, however, the union movement was weaker than it had been at any time in the preceding fifteen years, so that there were not many industries that were strongly enough organized to make such agreements feasible. As events worked out, there was no great amount of activity under this provision. There was considerable supplementing of the codes in the bituminous coal and construction industries. Otherwise, the section was almost unused.

In addition, there was the blanket code, or President's Reemployment Agreement, this was a sort of interim code that the President urged employers of two or more persons in towns of 2500 or more population to adopt until the time that a code was completed for their industry. The hours provisions of the blanket code urged a thirty-five-hour work week with a maximum forty-hour week and eight-hour day permitted for short periods. In October, 1933, the President, by executive order, deleted the provision permitting the forty-hour week as it applied to any factory or mechanical worker. As was the case with the other codes, the President's Agreement did not supersede the provisions of collective agreements. The maximum-hours provisions of the blanket code did not apply to managers and executives. This provision supposedly allowed exemption only of those doing real managerial or executive work and earning at least $35 per week.

Provisions of the codes that dealt with hours of work were much more inclusive than those concerning wages. In attempting to govern work time, distinction was made in most of the codes between different classes of employees, the two most frequent classifications being factory or general workers in the one group and the clerical,

[5] For a discussion of the labor provisions of the N.I.R.A. and the codes drawn up under it see U. S. Bureau of Labor Statistics, Bulletin No. 616, *Handbook of Labor Statistics*, pp. 491-536. Washington, D. C.: U. S. Government Printing Office, 1936.

accounting, and office force in the other. There were departures from this practice, however, slightly more than ten per cent of the codes set the same hours for all workers. Many of the codes separated firemen, engineers, and watchmen from all other groups. Other groups such as truckmen, shipping clerks, repairmen, and the like occasionally were given special treatment.

As will be noted later, the permission of overtime work in most codes made the maximum-weekly-hours provisions somewhat misleading. However, even though overtime was permitted, the emphasis of the codes was on limiting the hours of labor. Altogether, 535 codes were established between the enactment of the N.I.R.A. and December, 1934. All of these codes contained, of necessity, some provisions concerning hours of work. These provisions varied widely from twenty-seven hours in one case to fifty-four hours for factory and general workers in another. Work weeks of fifty-six hours were allowed for firemen or engineers in a few instances and for watchmen in more than two-thirds of the codes that made special provision for them.

The great concentration of hours for general workers and the office force was in the neighborhood of forty hours per week. The flat forty-hour week was frequently used, although it was not as strongly favored as was the forty-four-hour week, either with provision for longer hours in peak periods or with the privilege of making the work week average forty hours over a period of time. Probably four-fifths of the codes provided some variation of the forty-hour week for factory and general workers and for the office force. Except for firemen, engineers, and watchmen, it was a rare code that provided for longer than a forty-four-hour week.

The practice of averaging hours over a period of time developed in an undesirable manner, in the eyes of the Recovery Administration. Some of the codes containing this provision allowed averaging over as long as a year. It was felt that the practice of averaging work time impeded the regularization of employment. Consequently, in July, 1934, an executive order was issued stating that there should be definite limits upon the extension of the work week and that overtime should be paid for the excess working time. This order did not affect codes that had been drawn prior to July, 1934.

The eight-hour day was common in most of the codes, and a full or partial shift on six days was the usual situation. Occasionally, a code that provided for fewer than forty hours per week specified seven or seven one-half hours per day. Many of the eight-hour codes allowed nine hours in periods of peak employment. In some

codes watchmen were allowed as much as twelve hours work in twenty-four hours. Although the six-day week was widespread, the five-day week was provided for in a small number of codes

Another interesting limitation on hours found its way into some of the codes. It clearly was not designed to keep down weekly hours of work, but rather to curtail production, but it is worth noting briefly. Forty-five codes, eight per cent of those analyzed by the Bureau of Labor Statistics, put limits on the amount of time that a plant was allowed to operate in any week These limits normally were set by limiting the number of shifts per day, although there were a few outright limits set on the number of hours a plant could run per day or per week. These restrictions were most common in textiles.

As was stated above, most of the codes made some provisions for overtime, so that maximum weekly hours amounted in most cases to a setting of the basic work week with a possibility of working longer periods at penalty rates. Eighty-six per cent approved some sort of overtime payments. Office workers were the group most abused in this provision, less than four per cent of the codes provided extra overtime compensation for them. On the other hand, approximately three-fifths of the codes provided overtime for factory and general workers, and nearly one-half dealt similarly with those doing emergency maintenance and repair work. Time-and-a-half was the usual rate of compensation for overtime, with time-and-one-third used occasionally. Payment for overtime either at the regular rate or double-time was extremely rare Most of the codes with no overtime provision did have some method of averaging overtime and undertime to take care of certain employment beyond maximum hours.

### The N.I.R.A. and the Supreme Court

The N.I.R A. was invalidated by the federal Supreme Court when it came before the body in 1935.[6] The act had been passed on the basis of congressional power to regulate interstate commerce. It was attacked by the Schechter Corporation as a measure going beyond the power granted Congress under the interstate commerce clause. Lawyers for the company also contended that the granting by Congress of the power to formulate codes was an unreasonable delegation of legislative power, in that there were no definite standards established for drawing them or granting approval Also, the standard accusation levied at all economic controls was made, namely it deprived persons of liberty and property without due process of law.

[6] *Schechter Poultry Corporation v United States*, 295 U. S 495 (1935).

Mr Chief Justice Hughes delivered the opinion of the Court In his opinion, the primary issue was the wage and hour provisions of the code governing the live poultry industry, since the Schechter Corporation was appealing from a finding that it had been guilty of violating that code The Chief Justice took a rather narrow concept of interstate commerce, and on that basis ruled that Congress had exceeded its powers of regulation. Already he had ruled that there was an invalid delegation of power in the act As to the scope of interstate commerce, the Chief Justice said, "It is plain that these requirements are imposed in order to govern the details of defendants' management of their local business. The persons employed in slaughtering and selling in local trade are not employed in interstate commerce. Their hours and wages have no direct relation to interstate commerce" As a capstone to the invalidation, it was said, "Stress is laid upon the great importance of maintaining wage distribution which would provide the necessary stimulus in starting 'the cumulative forces making for expanding commercial activity.' Without in any way disparaging this motive, it is enough to say that the recuperative efforts of the federal government must be made in a manner consistent with the authority granted by the Constitution"

Thus, the N I R.A experiment in wage and hour controls came to an end It was an emergency action by the Congress to meet a serious economic situation That it was not an ideal piece of legislation is indisputable But here, again, was the Court philosophy that the meaning of certain provisions of the Constitution remains the same regardless of social and economic conditions that may change markedly from time to time. To the social scientist, this is a questionable, if not an indefensible, doctrine, since changing economic and social conditions make changes in government programs and policies necessary if the democratic way of life is to continue. And the narrow interpretation of the power conferred by the commerce clause was soon to give way. Many of the provisions of the N I R.A. that were killed by the Schechter decision were reenacted within the following three years on the basis of the commerce power, the most significant of these were validated later by the Supreme Court in test cases So the Schechter decision was a sharp but relatively short-lived setback to the growth of federal labor controls.

### Hours under the Public Contracts Act

The Walsh-Healy Public Contracts Act[7] followed shortly after the demise of the N.I.R.A. It sought to control to some extent the wages and hours of workers by setting minimum standards that had

[7] 49 Stat. 2036, 1936

to be observed by contractors while producing goods of value in excess of $10,000 to supply to the agencies of the federal government The gist of the hours provision of the law was that employees engaged in or connected with the manufacture, fabrication, assembling, handling, supervision, or shipment of materials, supplies, articles, or equipment used in the filling of such a contract may be employed in excess of eight hours in any one day or in excess of forty hours in any one week, but only if such persons are paid for any hours in excess of such limits the overtime rate of pay[8] The overtime rate prescribed, unless changed by the Secretary of Labor, was to be one-and-one-half times the basic hourly or piece rate received by an employee.[9]

This law, like the N I R.A., did not specify a maximum number of hours that could be worked; rather, it set a basic work day and week beyond which overtime was to be paid. But any number of hours could be worked per day or per week if penalty rates were paid for the time in excess of the basic week or day The law has been interpreted as requiring payment for overtime on the daily or weekly basis, whichever is greater. That is, a person working four ten-hour days in one week would be entitled to forty-four hours pay for the week, even though he had worked only forty hours, on the basis of an eight-hour day, he worked two hours overtime daily for which he was entitled to three hours pay. Similarly, a work week of six eight-hour days entitled a worker to fifty-two hours pay for the week, even though he worked no excess hours on any one day Regardless of whether rest periods or a number of hours off duty were granted any combination of more than eight hours of work in twenty-four consecutive hours called for overtime The law had no effect on the days on which work was done, it did not prohibit Sunday or holiday work.

Up to 1938 the attempts of the federal government to control hours of labor had not been very effective In the first place, the Congress really had not sought to specify maximum hours of labor. Only in 1907, when Congress passed the Hours of Service Law prohibiting more than sixteen consecutive hours of work within twenty-four hours for trainmen in interstate commerce, was there an attempt to set the maximum number of hours of labor. Probably that act was not so much a labor law as a public safety law, and its cover-

[8] *Walsh-Healy Public Contracts Act, Rulings and Interpretations, No 2,* p 26 Wage and Hour and Public Contracts Division, U S Department of Labor, 1939.

[9] Similar legislation, the Davis-Bacon Act of 1932, sought to set standards of employment on construction for the government It was to encourage, among other things, the thirty-hour week, where feasible The relatively small number of persons working on construction projects for the government detracted from the effectiveness of the law.

age was relatively limited In the Adamson Act of 1916, setting the eight-hour day for railroad workers, in the N.I.R.A., and in the Walsh-Healy Act the approach had been to make overtime more expensive but not to prohibit it. Therefore, in 1937 or 1938, with the N.I.R.A. dead, federal hours contracts amounted to prescription of a basic eight-hour day on the railroads and an eight-hour day and forty-hour week (basic) for those government contractors supplying more than $10,000 worth of goods to the government. Not only was there a need for broader coverage of the laws, but there was also a need for a federal maximum-hour law that did not permit more than a certain number of hours of work except in a genuine emergency.[10] Such a law would supplement state hours legislation and have the effect of bringing hours of work in those states with lax laws into line with national policy.

*Current hours regulations by states*

We have noted that state maximum-hours laws had been validated for both men and women prior to the first World War and that there was no marked trend since that time to improve and expand the laws We can pass over the slight and slow changes that have occurred from time to time in recent years and note the post-World War II status of state maximum-hours laws

The majority of the states have established laws governing the maximum hours of work of women. In 1947 there were only six states without maximum hour limitations for women.[11] The lowest limit set was the forty-four-hour week allowed under the Pennsylvania law. Most of the laws provided for an eight-hour day and/or a forty-eight-hour week, twenty-one states had such laws The other laws varied widely South Carolina allowed as much as twelve hours daily and sixty hours weekly. A few other states allowed as much as sixty hours per week, and some ten states allowed a nine-hour day and fifty-four-hour week or some variation of that general standard[12]

If it is assumed that long hours of work for women are especially harmful and should be controlled by the states, then it is clear that at least one-half of the states are not fulfilling their obligations Roughly one-half of the states allow from fifty hours of work per week on up to an unlimited amount. In view of the frequently

[10] The Fair Labor Standards Act of 1938, including the provisions dealing with hours of work, is discussed in Ch XIV

[11] Alabama, Florida, Georgia, Indiana, Iowa, and West Virginia The data presented in the following paragraphs are drawn from Prentice-Hall's *Complete Labor Equipment*, Vol 3, *State Labor Laws*

[12] For a tabular presentation of maximum hours for women in 1946 see Peterson, Florence, *Survey of Labor Economics*, p 462 New York Harper and Brothers, 1947

mentioned fact that the motherhood function of women makes their health important to the community and of the fact that many women try to cook and maintain a home after their regular working hours, an eight-hour day and a five one-half- or six-day work week would seem to be the maximum reasonable work time for women If that be the case, state laws need to be amended in all states allowing more than forty-eight hours of work per week. This need is especially pronounced in the South; many of the states in that region have no limitations of any sort or allow from fifty-four to sixty hours of work per week Although the need is not now so great as it was prior to passage of the Fair Labor Standards Act in 1938, it is still large because many types of occupations are not covered by that law[13]

There is still another factor requiring additional action by most of the states. The maximum-hours laws that do exist in the states all allow some groups, such as agricultural and domestic workers, and frequently telephone operators and restaurant employees, to be exempted from coverage. Sometimes the laws are limited to factories, mercantile establishments, and so forth. By one means or another, considerable numbers are left without any protection. It is true that emergency situations will arise when hours laws should not be operative and that there is undoubted difficulty in applying legislation to very small employers, but it is clear that much broader coverage could be given in many of the laws.

Almost all state laws covering hours of work are confined in their coverage to women and minors, it is reported that only three include men in the general coverage of their maximum-hours laws.[14] In most states, however, there are limitations on work time allowed in specific industries. All of the states except five specify, in addition to any general maximum-hours laws they may have, allowable hours of work in listed industries. These provisions vary so widely from one state to another that they cannot be summarized. The listed industries may range from one to perhaps a dozen; sometimes only the hours for women are set, but in many instances they are specified for all employees. Many of these laws are directed as much at public health and safety as they are at improving labor standards as such. The industries most commonly listed in which considerable numbers of men are employed are: motor vehicles, railroads, mines and smelters, and jobs in which men work under compressed air, such as in the driving of tunnels and similar work

[13] It will be shown later that the Fair Labor Standards Act was applicable only to persons whose work was such as to affect interstate commerce Thus, retailing, laundries, and many other traditional "women's employers" are not subject to any control under the federal law For such employees, it is state regulation of hours or

Although many of the states have not seen fit to extend adequate protection for women regarding hours worked, almost all[15] have encouraged the spiritual well-being by legislating to provide one day of rest in the week—Sunday commonly being the specified day. These laws, like many others, however, have many exemptions and offer little protection from excessive hours of work.

The story of the regulation of hours of work is a disappointing one. Up to 1938 the federal Congress had been allowed to control the hours only of limited groups: their own employees, seamen, railroad workers, and workers employed on government contracts of more than a certain size. For the railroad and contract workers the control was not an outright prohibition, other than the sixteen-hour maximum for railroaders. The one attempt at general control of the hours of work of private employees was invalidated by the High Court.

States, on the other hand, for a long time seem to have had a clear field for regulation if they chose so to act. Despite the need for controls and court approval of similar action, the states have moved into the field very slowly. This lethargy is a reflection of the general reluctance of the people of the United States to enact legislation for social and economic control. Our reverence for individualism and individual initiative is so great that its conquest is a lengthy process. As a consequence, notwithstanding Supreme Court approval of maximum-hours laws for women nearly forty years ago, nearly fifteen per cent of the states still offer no protection at all. Another half-dozen permit fifty-five hours of work or more per week. Justice Brandeis' briefs supporting maximum-hours legislation might well be made required reading for the legislators of many of our states.

### Questions

1. Were the codes of fair competition of the N.I.R.A. a violation of the anti-trust laws?

2. Distinguish between maximum- and basic-hours regulation. Are laws setting basic hours in reality hour or wage controls?

3. In view of the reduction of hours of work that has come through employer action or as a result of collective bargaining, are maximum-hours laws needed?

4. How would the curtailment of hours of work that was undertaken in "New Deal" legislation affect employment opportunities? Why?

5. Supreme Court sanction of laws setting maximum hours of work for women was given about forty years ago. How do you explain the fact that a number of states still set no maxima?

6. Why did federal regulation of hours of work come at such a late date?

---

[15] Nevada and Wyoming are the only exceptions.

## CHAPTER XII

# GOVERNMENT CONTROLS AFFECTING WAGES

### Reasons for wage minima

We have already noted the beginning of government controls of wages for women in the pre-World War I period It will be recalled that in 1917 the Supreme Court divided four to four in the case of *Stettler v. O'Hara* on the issue of the constitutionality of minimum-wage laws Thus, as the nation moved into the postwar period, there was no definitive statement regarding the constitutionality of such legislation The nation did not have to wait long for an answer. Altogether, nearly twenty years were to pass before the proponents of such laws had a clear approval from the courts of minimum-wage regulation.

The entire history of wage controls prior to the second World War was a series of attempts to put a floor under wages.[1] (To anticipate the more detailed subsequent discussion of wartime wage controls of the forties, it may be noted that then for the first time in the history of the United States as a nation attempts were made to put a ceiling over wages ) What are the reasons for this continued but ineffective policy?

Among the reasons for the government policy was the desire to restrict the extent of poverty and bring the earnings of workmen into some semblance of a reasonable relationship to the cost of living. As will be shown later, after the Supreme Court first ruled that laws using that basis for determining minima were invalid, many states suddenly found another reason for setting minima Laws were enacted requiring that minimum rates be commensurate with the reasonable value of the services rendered Probably such provisions were only window dressing, and the real purpose continued to be to require that the lowest wage rates be pushed closer to the cost of a minimum standard of living But the window dressing was not convincing to the courts.

Another reason for establishing minima was to exert some leveling

[1] This statement applies to the United States as a nation Prior to national independence there were attempts by the colonies to impose maximum wages These arose from the shortage of labor in the colonies and from the Mercantilist philosophy of pro-business control The attempts were not very successful

influence on the competitive ability of various firms. Although lower wages do not always mean an advantageous competitive position, they may have that effect, in other words, if the lower wages show in lower costs per unit of output, they will have that effect. While lowered production costs are not to be criticized as such, they are to be criticized if the lower costs come from wages too low to afford a minimum standard of living. If a worker's wage is too low to provide a living for him and his family, then in the long run society is the loser by virtue of the relief that may have to be granted, the sickness that is likely to weigh more heavily on such families, and the limited opportunity for the education and training of the children If society is the final loser from low wages, then it has a right, or perhaps a duty, to ensure that such wages are not paid

Another reason for government attempts to support wage rates was to maintain purchasing power of the public It is clear that one of the basic economic problems of our society is to develop methods through which we are able to distribute all the goods that we are able to produce To date, the only periods in the twentieth century in which we have been able to do this have been during and immediately before and after the two great wars. If adequate distribution is to be realized in peacetime, the primary approach must be one of extending the power of low income groups to obtain goods and services. The power to consume is already there, more so than in any other part of society, it is the acquisitive power that is not present. There are many ways in which the government might attack this problem, subsidies or government purchase and distribution being two of the more obvious Higher minimum-wage rates are another approach; however, the higher wages will have such effect only if they are not cancelled by increased prices and if they do not result in the unemployment of persons previously at work

These two conditions are the basis of objection by some economists to the principle of legal minimum wages. Those who base their economic reasoning on the assumption that economic competition is still sufficiently prevalent in our society to keep prices down and quality up argue that any legislation requiring higher wage payments will cause higher prices, thus cancelling for society any benefits that might otherwise accrue [2] In many parts of our economy there is not competition keen enough to guarantee the close price-

[2] Only when the legally established minimum is higher than the competitive wages do prices have to be changed And since approximately two-thirds of national income payments are in wages, even if all wages rose, prices would have to rise only two-thirds as much to cover the increased costs For many enterprises wages comprise a much smaller portion of total costs, price increases necessitated by higher wages would be decreased accordingly in such plants

cost relationship assumed. Even if such a relationship did exist, the higher price charged to cover the increased costs would be taken from various groups in society, many of whom are not at the very minimum income of the beneficiary of legal minimum wages.

The effects of minimum wages on the labor costs per unit of output are difficult to determine. However, certain facts should be noted. If employers are forced to raise their wages, they probably will try to get greater productivity from their employees. To the extent that they do so the net effects on labor costs will be dissipated. In addition, a higher wage may attract a more capable grade of labor, a factor which also will tend to dampen the increase in labor costs. This does not mean that all increases in wages can be absorbed in these ways. However, there is yet another factor to be noted, although the cause and effect relationship may be reversed in this case. Higher wage rates may do no more than compensate for technological advances that have been made. Although not all industries and plants improve at the same rate, the general trend has been toward greater productivity per man hour To the extent that wage changes make up for improvements, they may only maintain a previously existing relationship between wages and production.

A second objection to minimum wages centers on the theory that workers are paid for what they produce and that minimum wages which push rates above productivity will force some inefficient workers out of a job.[3] One answer to this opinion is that most minimum-wage laws permit learners, handicapped persons, and the like to be employed at rates below the minimum. Therefore, persons who are not possessed of the abilities or experience of the ordinary workman may be hired anyway. However, this does not answer completely the objection outlined above; perhaps it cannot be disclaimed entirely Contrary to the theories of many economists of some years ago, there are wide variations in the abilities of workmen Under time wage rates, however, the good and bad workers in a certain wage bracket are paid alike Undoubtedly, if an employer is of the opinion that the wage he is required to pay, either by union agreement or by law, is higher than the value of the services of the more inept workers, they will be laid off, unless, in rare instances, seniority rules prevent such action.

Although this objection has some validity, it is probable that it has been labored too much. Experience with the federal Fair Labor Standards Act, prior to the time that labor shortages pushed

[3] For a statement of this point of view see the article by G J Stigler, "The Economics of Minimum Wage Legislation" *The American Economic Review*, June, 1946, Vol XXXVI, No 3, pp 358-367

wage rates up, indicated that relatively few persons were forced out of work by the minimum wages that were set.[4]

Perhaps the strongest argument that the opponents of minimum-wage legislation have cites the persistence of statutory minima once they are established. Whereas price levels and costs of living vary widely and rapidly, minimum rates, which are set in part at least on the basis of these variants, stay fixed for long periods of time For example, federal minimum-wage rates established prior to the war were not changed as the rising price level cut further and further into purchasing power. Similarly, the legal rates of many states go year after year with no modification In view of the dynamic nature of costs of living, a minimum wage that is an attempt to lessen the degree and extent of poverty should not be so stable as it usually is. On the other hand, the administrative problems involved in changing minima are numerous and not easily solved. One of the requisites for making such legislation adequate is a higher degree of flexibility in rate determination Experience to date has shown such flexibility hard to realize, much more of it than is now to be found can undoubtedly be granted through the policy of extending more authority to administrators, who should be good, carefully chosen appointees with civil service status

### The development of minimum-wage laws

The story of minimum-wage legislation in the United States is indeed a confused one. As we have noted, a dozen states had enacted such laws for women by 1917, when the federal Supreme Court split evenly on the Oregon law Since this split let stand the decision of the state court, which had approved the law, it was assumed that such legislation was constitutional This seemed a reasonable assumption because the Justice who did not participate, Justice Brandeis, was widely known for his general sympathy toward labor's interests On the basis of such assumptions, several other states, Puerto Rico, and Congress for the District of Columbia passed minimum-wage laws. By 1923 there were sixteen laws on the statute books, two others having been repealed. The law of the District of Columbia, enacted in 1918, was tested in 1923 to get a positive answer to the question left unanswered by *Stettler v O'Hara.*

The law in question provided for setting the wages of women and children; it was attacked on—and the Court considered only this—the grounds of unreasonable interference with the freedom of con-

[4] *Monthly Labor Review*, April, 1941, Vol 52, No 4, p. 969. *Monthly Labor Review*, February, 1942, Vol 54, No 2, p. 318

tract that adults are guaranteed under the Constitution. The decision, written by Mr Justice Sutherland, reached one of the all-time peaks of Supreme Court conservatism. The Court made much of the fact that the case at issue concerned the company, operating a children's hospital in the District of Columbia, and an adult woman. Both wished the employment to continue, but under the wages set it could not. As the majority saw the statute prohibiting the employment, it was,

> "simply and exclusively a price-fixing law, confined to adult women . . . who are legally as capable of contracting for themselves as men It forbids two parties having lawful capacity . . to freely contract with one another in respect of the price for which one shall render service to the other in a purely private employment where both are willing, perhaps anxious to agree . The price fixed by the board need have no relation to the capacity or earning power of the employee, the number of hours which may happen to constitute the day's work, the character of the place where the work is to be done . . it has no other basis to support its validity than the assumed necessities of the employee. . It is based wholly on the opinions of the members of the board as to what will be necessary to provide a living for a woman, keep her in health, and preserve her morals" [5]

This stress on the price-fixing nature of the law was presumably to aid the majority in convincing themselves that there was a clear distinction between use of the police power to fix maximum hours and to fix minimum wages.

In the opinion of the Court, the law was unjust in that it applied to women and not to men, for "if women require a minimum wage to preserve their morals men require it to preserve their honesty." The law was criticized also because it required certain payments from employers, yet required "no service of equivalent value from the employee." In this particular criticism the court failed to consider the fact that job control by the employer was untouched, except that minimum wages must be paid to those hired. However, the employer was not required to hire or to continue to employ anyone. If a woman was not worth the minimum wage, usually around $15 to $16 per week, she could be dismissed.

This failure to recognize the significance of employer job control was basic to the Court's finding of invalidity. As they put it, "the feature of this statute which, perhaps more than any other, puts upon it the stamp of invalidity is that it exacts from the employer an arbitrary payment for a purpose and upon a basis having no causal connection with his business, or the contract, or the work the em-

[5] *Adkins v. Children's Hospital* 261 U S 525 (1923)

ployee engages to do." As has been pointed out, the employer was left complete freedom to choose persons and retain only those who were worth keeping under the minima set. There was nothing to deny to the employer "that the amount to be paid and the service to be rendered shall bear to each other some relation of just equivalence" If the employer felt that there was no "relation of just equivalence" between wages paid some worker and service rendered, he could sever the relationship completely and undertake a new and more promising one.

The Court resorted to a rather familiar action in finding the law unconstitutional It figuratively threw up its hands at the potential extensions if the principle of the law were upheld. The worry of the Court was that "if . . . the police power may be invoked to justify the fixing of a minimum wage, it may, when the public welfare is thought to require it, be invoked to justify a maximum wage" It is difficult to see exactly what this adds to the opinion. The usual relationship of employer and worker is such that the only wage determination likely to be needed in normal times is that of minima. However, if under some special circumstances there were need for wage maxima, as was thought to be the situation during World War II, that case could be decided on its merits The basic reason for the police power is to permit regulations that are in the public interest. There is no sound basis for the implication of the majority that the public interest could never be served by maximum-wage controls Mr. Chief Justice Taft, in his dissent from the majority, held that the reasoning that approval might give a basis for maximum wages was a *non sequitur*. Whether it be or not, it was irrelevant, the question before the Court did not concern maxima.

One passage in the majority opinion implied that a minimum wage on some other basis might be approved. The Court stated "a statute requiring an employer to pay in money, to pay at prescribed and regular intervals, to pay the value of service rendered, even to pay with fair relation to the extent of the benefit obtained from the service, would be understandable." The Court gave no indication as to why such laws would be "understandable" whereas the one in question was so arbitrary. But the implication was clear that a law calling for payments commensurate with service rendered would be approved.

Two dissents were written in the case; that of the Chief Justice already has been mentioned. The gist of this opinion was that "employees . . are not on a full level of equality with their employer and in their necessitous circumstances are prone to accept pretty much anything that is offered." He denied, as the majority of the Court had sought to prove, that there was a difference between min-

imum wages and maximum hours as limits on freedom of contract; either one is a departure from absolute freedom of contract. As to whether the minimum-wage law was a wise approach to the problem of low wages and poverty, the Chief Justice indicated that he held serious doubt in his mind. He pointed out, however, that "it is not the function of this Court to hold congressional acts invalid simply because they are passed to carry out economic views which the Court believes to be unwise or unsound."

Mr Justice Holmes dissented in a separate opinion The crux of his criticism of the majority was the point, already mentioned, that the law did not compel anybody to pay anything It was only if a contract were entered upon that the law applied, and then only for the period of the contract's continuance by both parties. Like the Chief Justice, Mr. Justice Holmes stated that he doubted the wisdom of the law, however, the wisdom of legislative action was not to be judged by the courts so long as the action did not transgress constitutional limits set upon it.

### Minimum-wage laws: 1923 to 1937

As a result of the Adkins decision, there was a decade of inaction or retrogression in the field of minimum-wage legislation. The federal Supreme Court held the Arizona law invalid in 1925[6] and that of Arkansas in 1927.[7] Other laws were invalidated by state or lower federal courts. In other states the laws were allowed to lie without enforcement. By the beginning of 1933 there were only nine such laws on the statute books, and some of these were inoperative[8] However, by 1933 the effects of the depression on wage levels caused a number of states to reconsider the problem; in that year seven states enacted laws setting minima.[9] All except that of Utah were so worded as to try to escape the prohibition of the Adkins case They were patterned after a standard bill proposed by the National Consumers' League The laws provided, in brief, that when a substantial number of women and children were receiving less than a subsistence wage an investigation was to be conducted to determine whether the wages were commensurate with the reasonable value of the services rendered. Similar laws were enacted by Massachusetts in 1934 and by Rhode Island in 1936 The Utah law, however, used the earlier basis of the cost of a minimum standard of living[10]

---

[6] *Murphy v Sardell*, 269 U S 530 (1925)

[7] *Donham v West Nelson Mfg. Co*, 273 U S. 657 (1927).

[8] California, Colorado, Massachusetts, Minnesota, North Dakota, Oregon, South Dakota, Washington, and Wisconsin

[9] Connecticut, Illinois, New Hampshire, New Jersey, New York, Ohio, and Utah

[10] *Monthly Labor Review*, April, 1940, Vol 50, No 4, p. 891.

The law enacted by New York in 1933 soon was tested in the courts In answer to the contention that the law was unconstitutional, the attorneys sought to show that it was different from the type of law invalidated in the Adkins case. They based their argument on the fact that the law prohibited oppressive and unreasonable wages, which were less than the fair and reasonable value of the services rendered and less than sufficient to meet the cost of a minimum healthful budget. The line of reasoning did not convince the state Court of Appeals, when the case was heard by that body it held that the law was not materially different from the act held invalid in the Adkins case.

When the issue was carried to the federal Supreme Court,[11] it was another instance of a legal opinion of great importance, socially and economically, delivered on legalistic grounds with no attention given to the social and economic issues. Mr. Justice Butler delivered the decision of the Court, which by a five-four division held the law invalid The majority leaned heavily on the decision of the state court. They quoted with approval the point in the lower court opinion that stated "the act of Congress had one standard, the living wage; the State act has added another, the reasonable value. The minimum wage must include both. What was vague before has not been made any clearer. One of the elements, therefore, in fixing the fair wage is the very matter which was the basis of the congressional act." Further, in the majority opinion it was stated that "the state court rightly held that the Adkins case controls this one . . . the legislation . . . is repugnant to the due process clause of the Fourteenth Amendment." In this decision the Court carefully recanted on its statement in the Adkins case implying acceptability of certain types of minimum-wage law. This time there was a blanket rejection of such laws.

> "The dominant issue in the Adkins case was whether Congress had power to establish minimum wages for adult women workers in the District of Columbia. The opinion directly answers in the negative The ruling that defects in the prescribed standard stamped that Act as arbitrary and invalid was an additional ground of subordinate consequence."

By this statement the Court made it clear that any legislation, whatever its basis, that sought to set a minimum wage for adults would not be acceptable In one sense, therefore, the Morehead case is a much more sweeping denial than was contained in the Adkins case, in the latter the majority implied a willingness to approve

[11] *Morehead v New York ex rel Tipaldo,* 298 U S 587 (1936)

minimum-wage legislation based on value of services. But when such an opportunity was offered to them in 1936, they suddenly found that any sort of minimum that affected adults was invalid

This line of thought did not convince four members of the Court, two dissenting opinions were written. In one dissent, written by Mr. Chief Justice Hughes and concurred in by Justices Brandeis, Stone, and Cardozo, it was argued that the New York law was not the same as the law invalidated in the Adkins case. It was pointed out that the previous statute was aimed only at starvation wages, whereas the New York law prohibited such wages only if the wages were also less than the reasonable value of the services rendered. Although validation of a minimum-wage law for women on any basis was desirable, this dissent is not of so much interest to us as the other dissenting opinion, written by Mr. Justice Stone and concurred in by Justices Brandeis and Cardozo

Mr Justice Stone opened by commenting that while he accepted the distinction in the two laws stressed by the Chief Justice, he did not attach great importance to it. Under neither basis was any employer forced to hire anyone whose services were thought to be worth less than the minimum wage. The comment on the protection of liberty under the fourteenth amendment was clear and pointed. To the dissenters it was apparent that "the liberty which the amendment protects is not freedom from restraint of all law or of any law which reasonable men may think an appropriate means for dealing with any of those matters of public concern with which it is the business of government to deal."

With regard to the realistic freedom of workers, the dissenters thought there was "grim irony in speaking of the freedom of contract of those who, because of their economic necessities, give their service for less than is needful to keep body and soul together." As to the results of such low wages, the dissenters commented, "No one doubts that the pressure in the community of a large number of those compelled by economic necessity to accept a wage less than is needful for subsistence is a matter of grave public concern, the more so when . . . it tends to produce ill health, immorality, and deterioration of the race." Proceeding from this, it was argued that the need of wage regulation and the reasonableness thereof was as clear as the need for many other restrictions of liberty that had been approved by the Court at various times

As a climax to the dissent, Justice Stone argued, in essence, that the existence of low wages was in itself a social problem that warranted government regulation. This particular passage deserves to be quoted at length.

"In the years which have intervened since the *Adkins* case we have had opportunity to learn that a wage is not always the resultant of free bargaining between employers and employees, that it may be one forced upon employees by their economic necessities and upon employers by the most ruthless of their competitors. We have had opportunity to perceive more clearly that a wage insufficient to support the worker does not visit its consequences upon him alone, that it may affect profoundly the entire economic structure of society and, in any case, that it casts on every taxpayer, and on government itself, the burden of solving the problems of poverty, subsistence, health and morals of large numbers in the community. Because of their nature and extent these are public problems. A generation ago they were for the individual to solve; today they are the burden of the nation. I can perceive no more objection, on constitutional grounds, to their solution by requiring an industry to bear the subsistence cost of the labor which it employs, than to the imposition upon it of the cost of its industrial accidents."

These were strong words, but, as will be seen presently, the dissent was soon to be the opinion of the majority.

**Final validation of minimum-wage laws**

While the Morehead case was being decided another case was on its way to the Supreme Court on the same subject. The decision thereupon was to sustain the validity of minimum-wage legislation, in so doing the new majority relied heavily on the opinion previously voiced by the minority. This decision, as in the Morehead case of the preceding year, was by a five-four decision of the Court. One man, Mr Justice Roberts, shifted his point of view, but all other members of the Court retained their opinion of the previous year. No one can say exactly what was the cause of the shift in the vote, a frequently voiced opinion as to the reason is the threat of the President to add members to the Court, naturally, such additions would have been persons who would reflect the attitude of the President on social and economic controls. Whether or not the plan to "pack" the Court was a threat or a sincere intent of the President cannot be known, but there was some event between 1936 and 1937 that caused Mr Justice Roberts to swing over in favor of government control of wages. Thus, the shift of one man changed the entire court doctrine toward wage controls.

The background of the new case as it came through the courts may be noted briefly. The state of Washington had had minimum-wage legislation on the statute books since 1913, despite the Adkins decision of 1923 it had remained in effect theoretically, although not effectively enforced. The new case was a test of this law, suit

being brought by a chambermaid who was employed by a hotel for less than the $14.50 per week of forty-eight hours prescribed by the state law. In arguing the case before state and federal Supreme Courts, the attorney for the state of Washington took a different approach than had those arguing the Morehead case of the previous year In the new case[12] there was no attempt to get around the Adkins decision by proving the law in question to be different from that of the District of Columbia and that hence it could be validated without overthrowing the Adkins precedent Rather, the argument was that there was sound basis for the exercise of the police power to set minimum wages and that the Adkins ruling should be reexamined. This probably was a wise move to make because the Court had not been asked the previous year to reconsider their dictum of 1923, because that still governed, the majority had held that minima set on any basis were invalid for adults. Perhaps this approach and argument rather than the threat of the President changed Mr Justice Roberts' mind, but this is doubtful, since a more favorable attitude toward other economic controls was also shown in other cases.

Mr. Chief Justice Hughes delivered the opinion of the five-man majority. After reviewing the background of the case and the questions raised, he came to the question at hand with vigor.

"We think . . . that the decision in the *Adkins* case was a departure from the true application of the principles governing the regulations by the State of the relation of employer and employed . . . What can be closer to the public interest than the health of women and their protection from unscrupulous and overreaching employers? And if the protection of women is a legitimate end of the exercise of state power, how can it be said that the requirement of the payment of a minimum wage fairly fixed in order to meet the very necessities of existence is not an admissible means to that end? The legislature of the State was clearly entitled to consider the situation of women in employment, the fact that they are in the class receiving the least pay, that their bargaining power is relatively weak, and that they are ready victims of those who would take advantage of their necessitous circumstances. The legislature was entitled to adopt measures to reduce the exploiting of workers at wages so low as to be insufficient to meet the bare cost of living"

Subsequently, the Chief Justice pointed out another socio-economic reason for validating the law In his words:

"The exploitation of a class of workers who are in an unequal position with respect to bargaining power and are thus relatively defenseless

[12] *West Coast Hotel Co v Parrish,* 300 U S. 379 (1937)

against the denial of a living wage is not only detrimental to their health and well being but casts a direct burden for their support upon the community. What these workers lose in wages, the taxpayers are called upon to pay. The base cost of living must be met We may take judicial notice of the unparelleled demands for relief which arose during the recent period of depression and still continue. . . . The community is not bound to provide what is in effect a subsidy for unscrupulous employers The community may direct its law-making power to correct the abuse which springs from their selfish disregard of the public interest."

Although this latter comment is valid social and economic reasoning, there is one implication in it that may be regarded with some doubt. This is that the relief loads of the 1930's were due to low wages paid by employers. It is probable that the greater part of relief was caused by unemployment rather than low wages, although the latter may have lessened the demand for goods and thereby enhanced the severity of the depression.

From the quotations the ruling of the majority is evident. Nevertheless, the conclusion may be quoted; it is music to the ears of the proponent of legislative controls of social and economic problems. "Our conclusion is that the case of *Adkins v. Children's Hospital* . . should be, and it is, overruled" Thus, after twenty years of uncertainty or unconstitutionality, minimum-wage laws for women and children were valid. In view of the events of the decade following 1937, it is doubtful if the Court ever will return to its pre-West Coast Hotel case point of view.[13]

The dissent, like the majority opinion, did not say much that had not been said in previous minimum-wage cases. However, one comment is significant and is worth examination. Mr. Justice Sutherland wrote the minority opinion for the four who dissented. He wrote, "It is argued that the question involved should now receive fresh consideration, among other reasons, because of the economic conditions which have supervened, but the meaning of the Constitution does not change with the ebb and flow of economic events." This view cannot be defended on grounds other than

[13] Millis, H A, and Montgomery, R. E., *op cit.*, Vol I, pp 352-356, discuss two other points in the majority opinion which they consider quite significant. These are broader than the subject of wage regulation alone, but may be mentioned In their opinion, one of the important points is the strong pronouncement that the Constitution does not sanction complete and uncontrollable liberty The liberty of an individual is subject to social controls that are in the interests of the community as a whole A second point is the denial in the majority ruling that legislation must apply equally to women and men in order to be valid It had been argued that such legislation was in conflict with the requirement of the Constitution that all persons have equal protection of the laws

purely legalistic ones. No social, economic, or political document or code of behavior should be considered as having a constant meaning regardless of circumstances. Equal protection of the laws, for example, should not call forth the same policies when economic power is relatively well-balanced as when it is quite unevenly distributed. The weak need much more legal protection than do the strong. And the idea that freedom of contract always is maintained by a hands-off attitude, regardless of power, is indeed naive. Technical and legalistic equality in actuality may result in more and more marked economic inequality. As inequalities develop further and further, the freedom espoused in the Bill of Rights of the Constitution cannot be maintained by following an interpretation of constitutional provisions that might have been valid a century ago under entirely different conditions. The basic argument of Mr. Justice Sutherland that the meaning of the Constitution does not change must be rejected by the social scientist. The Constitution may be considered a framework of governmental machinery and of stated principles for the guidance of the actions of that government The action, however, that may be validated or denied on the basis of one of the principles may vary widely from time to time with the problems that the government faces

On many points Mr Justice Sutherland simply reiterated the opinion of the majority in the Adkins decision, which he wrote in 1923. It is interesting and perhaps disturbing to note that the vitally significant economic events of the late 1920's and the 1930's had left no discernible mark on the thought of Mr. Justice Sutherland and his co-dissenters.

As a result of the new decision, there has been a marked increase in the number of laws regulating wage rates of women and minors In 1937 four states[14] passed new minimum-wage laws while four others[15] amended theirs and Massachusetts and New York reenacted theirs, a total of ten actions in the year of the decision Other states revived enforcement that had been allowed to lag, and by 1940 four more states had enacted new laws, a like number had amended, and still others resumed enforcement.[16] Thereafter, in the rush of preparation for war, the movement began to mark time and little further progress has been made. In 1942 there were minimum-wage laws in thirty jurisdictions, twenty-six states and the District of Columbia, Alaska, Hawaii, and Puerto Rico.[17] Almost all

[14] Arizona, Nevada, Oklahoma, and Pennsylvania.
[15] Colorado, Connecticut, Minnesota, and Wisconsin
[16] *Monthly Labor Review*, April, 1940, Vol 50, No 4, pp 891-909
[17] Women's Bureau, U S Department of Labor, Bulletin No 191, *State Minimum Wage Laws and Orders*, p. 1 Washington, D C U S. Government Printing Office, 1942

these laws were rather broad in their coverage of women and children in occupations other than agriculture and domestic service. Only Connecticut, Hawaii, and Puerto Rico had laws that covered men as well as women and minors, and four[18] applied only to women. Under most of the laws the minima were set by commissioners or other state agencies, although a few had statutory minima.

The situation had not changed markedly by 1947, there still were twenty-six state minimum-wage laws on the statute books,[19] but a few had been modified to cover men. At that time the laws of four states, Connecticut, Massachusetts, New York, and Rhode Island were applicable to men.

It is a little strange that so large a portion of the laws fail to include men There are, however, a number of reasons why this has not been done. One is that as the trade union movement had grown, and its development into a significant organization came roughly during the same period as the minimum-wage movement, it had been primarily a men's organization; because members of unions had the power of those bodies for their protection they were not so much at the mercy of employers as were non-organized groups. A second reason for non-coverage of men was the fact that all knew, but some refused to admit, that the undesirable results of low wages or other substandard working conditions are more pronounced for women than for men There was also the fact that the labor organizations existing prior to 1930 did not push for legislative protection, assuming the economic struggle to be the one in which unions must prove their worth.

### State minimum-wage laws: 1947

The minimum-wage laws effective in the states in 1947 left much to be desired. First of all, twenty-two states, most of them in the South or in other agricultural areas, failed to offer even nominal protection to those not covered by the Fair Labor Standards Act of the federal government. In addition, some of the state laws either were restricted in coverage or were nearly inoperative[20] The protection offered in some of the laws was rather slight; the statutory minimum set by Arkansas was $1.25 per day of nine hours or less for women with six months experience and $1.00 for the same length day for the inexperienced worker. Minimum wages in one industry

[18] Arkansas, Louisiana, Nevada, and South Dakota

[19] Arizona, Arkansas, California, Colorado, Connecticut, Illinois, Kansas, Kentucky, Louisiana, Maine, Massachusetts, Minnesota, Nevada, New Hampshire, New Jersey, New York, North Dakota, Ohio, Oklahoma, Oregon, Pennsylvania, Rhode Island, South Dakota, Utah, Washington, and Wisconsin See Prentice-Hall's *Complete Labor Equipment*, Vol. 3, *State Labor Laws*

[20] Kansas, Louisiana, and Oklahoma

in Ohio went as low as $6 25 per week Although these were unusually low provisions, they were a part of the minimum-wage picture just as were the more desirable laws Even the more liberal guarantees by some states of a weekly minimum in the neighborhood of $15 were far below the cost of any decent standard of living To make matters worse, the states with reasonable standards could not be assured that industry would not gradually escape, if the standards were too high, by locating new plants elsewhere or by outright migration if such was feasible.

Attempts at federal control

For the reasons just mentioned there has been a continuing attempt on the part of the federal government and certain other bodies to introduce controls that are more uniform than those found in states acting individually. The federal government did not enjoy much success in its attempts prior to the passage of the Fair Labor Standards Act of 1938,[21] but there were a number of noteworthy experiments.

One series of attempts at promoting more uniform wage regulations may be noted prior to examination of federal actions. The late President Roosevelt, when he was Governor of New York, took the lead in calling conferences of the state governors, seven from the northeastern part of the country attended the first one to work out an interstate compact by which signatory states would agree to strive for laws setting uniform standards on working conditions, especially uniform wages for women and children. The first meeting, in January, 1931, was followed from time to time by others, up into 1934 when seven of the northeastern states did sign such an agreement, referred to as the Concord Compact Massachusetts approved the compact in 1934, New Hampshire in 1935, Rhode Island in 1936, and the federal Congress, whose specific approval is required before any interstate compact is valid, in 1937, thus putting the agreement into effect.[22] However, the West Coast Hotel decision of 1937 validated the interference of the state in wage setting without resort to the subterfuge of acting in pursuance of an interstate agreement. And in the following year the passage of the federal wage-hour law introduced a measure of wage uniformity throughout the nation. Thus, the need for such joint action was largely removed.

[21] See below, Ch XIV

[22] For information on this compact see Dodd, A M "Interstate Compacts," *U. S Law Review*, February, 1939, Vol 73, No 2, pp 75-88 See also Bress, Thomas, "Some Aspects of the Concord Interstate Compact on Labor" *St John's Law Review*, December, 1935, Vol 10, No 1, pp 98-103 See also Constitution of the United States, Article I, Sec 10, for its provision on the subject

Since such action was no longer needed, New Hampshire took action in 1943 to abrogate the agreement and Massachusetts did likewise in 1945. By 1946 Rhode Island had not taken such action. However, since it was necessary to have at least two ratifications in order for the compact to be in effect, it was no longer valid after the action of Massachusetts. Thus, the use of the interstate compact device in state controls did not, because of unforeseen events, amount to very much. Its development, however, did serve to stress the recognized inadequacy of independent action by the separate states.

Meanwhile, the federal Congress, recognizing the inadequacy of state wage controls, especially in the early 1930's, and the seriously low wages paid to many persons, began to step into the field, at first obliquely and later more directly The first interference was in the enactment of the Davis-Bacon Act[23] of 1931. This law had little to do with the lower-wage recipients of our economy It required that contractors on all government construction projects of value in excess of $5000 (amended in 1936 to cover contracts in excess of $2000) pay the prevailing wages for any work done on the project. Such a law could touch few women and children and actually set no minimum; if the prevailing wages in the locality were low, then the required wage was low too

A similar law was enacted in 1936 that did have significant effect on wages of some lower paid groups The Public Contracts Act of 1936,[24] commonly referred to as the Walsh-Healy Act, also applied to government contracts, employees working on contracts exceeding $10,000 in value must be paid not less than the prevailing wages for the industry, as determined by the Secretary of Labor The term "government contract" was interpreted to mean commitments to purchase made by the federal government and the districts and territories, other than Puerto Rico, and government-owned corporations, and so forth Again, the law did not set a flat minimum, since the wages that were required were to be "not less than the minimum wages as determined by the Secretary of Labor to be the prevailing minimum wages for persons employed on similar work or in the particular or similar industries . . . currently operating in the locality."

The coverage of the act was considerably wider than the Davis-Bacon Act, and it extended to many industries where women and children were employed In addition, as the nation swung into preparation for war, government purchases expanded rapidly and

[23] 46 Stat 1494, 1931.
[24] 49 Stat 2036, 1936.

the coverage of the act widened with each new contract for purchase of goods or some types of services. Coverage was also broadened by administrative rulings extending the provisions to the production of many items that went into finished products purchased by the government, such as leather for shoes being made under government contracts[25] On the other hand, the law did not apply to "agricultural or farm products for first sale by the original producers," or to the sale of perishables There have been numerous rulings on the applicability of the law and the act has been examined and validated by the Supreme Court[26] Nevertheless, even with the expansion brought by many government contracts and by administrative rulings and despite the fact that both the Davis-Bacon and Walsh-Healy Acts have remained on the statutes, there was not an adequate means of government wage controls There was need for an enactment of much broader coverage, one that would get to many who were not working on government contracts, and also for some protection more definite than that of the "prevailing wage" required in the acts. The federal government was busily experimenting along this line, and the result is worth examination as a significant, if abortive, attempt at social control

The first broad and inclusive program of federal wage control came in the National Industrial Recovery Act of 1933.[27] Although the enactment was very broad in its stipulations, the minimum-wage provisions were not too complex.

As has been stated in the preceding chapter, 535 codes were approved between the enactment of the N R.A., in June, 1933, and December, 1934 In these codes it was common to confine the minimum-wage provisions to unskilled labor, but over two-thirds of them did make some distinction between separate groups of workers—between office and production workers in most cases—and a few set up distinctions on the basis of sex, size of community, or some combination of factors Differences between rates for the North and South were not infrequent.

The wage rates provided were widely varied. The lowest rate allowed in an industry within the country was fourteen cents per hour, in the laundry trade, pecan shelling and raw peanut milling provided for fifteen cents. On the other hand, the print-roller and print-block industry code set a minimum of seventy-five cents per hour By far the most common minimum rates were from thirty-

[25] U S Department of Labor, "Rulings and Interpretations, No 2" on the Walsh-Healy Public Contracts Act, Wage and Hour and Public Contracts Division, p. 2. Washington, D C U S Government Printing Office, 1943.

[26] *Perkins v Lukens Steel Co*, 310 U S. 113 (1940)

[27] 48 Stat 195, 1933

five to forty cents hourly. On a weekly basis, since forty hours was urged as the standard work week, a wage of $14 to $16 was most common, although the Puerto Rican needlework industry allowed a $2 weekly minimum and, on the continent, the bootblacks in the shoe-rebuilding trade were allowed a $6 weekly minimum.[28]

Of all the codes, only thirty-five established minimum rates for persons other than the unskilled. The majority of these were in the clothing industry. In the majority of the codes that had no such provision a general statement was included to the effect that wage differentials between occupational classes were to be maintained. Such provisions varied widely and did not always offer full protection to the more skilled groups. Perhaps this was not too serious an omission; if some classes were not to be given adequate protection, then it had far better be the more skilled whose skill and, in many instances, union membership gave them a measure of protection that the unskilled did not have.

Perhaps one other policy of the federal government might be noted for its effect on wage rates. Congress wrote into the N.I.R A. the first general guarantee of the right of workers to organize and bargain collectively, this, of course, came to an end with the Schechter ruling. As a consequence, Congress enacted in 1935 the National Labor Relations Act, which restated in a separate law the right of organization previously found in Section 7 (a)[29] Indirectly, this was a means of encouraging higher wage rates The greater bargaining power of organized workers makes it possible to demand and get higher wages. In a sense, then, the National Labor Relations Act was a part of the general "New Deal" policy of encouraging the payment of higher wages.

Such was the situation with regard to minimum-wage determination just prior to the enactment in 1938 of the Fair Labor Standards Act, also known as the federal Wage-Hour Law It was a spotty picture, with many states having no laws and a few just beginning to reapply their laws after the West Coast Hotel decision. In other states such legislation was being drafted as a result of the Court ruling. However, standards varied widely, and some of the laws gave little protection. As for the federal government, its one attempt to regulate on a widespread scale had been killed by the High Court, its ability to prescribe the minimum wages to be paid by its

[28] Exceptions were permitted under prescribed conditions for substandard workers, that is, "a person whose earning power is limited because of defect, age, or other infirmity." Permission from the state was required to permit employment below the minimum rate

[29] Federal legislation concerning the right to organize will be discussed in some detail in Chs XVI, XVII, and XXV

contractors did not cover many workers It was clear, therefore, that there was a genuine need for a federal law to set minima for many who were not touched by state regulations and to bring some degree of uniformity to the minima applicable to those who could be reached by federal authority.

### Other wage laws

Apart from the laws that determine minimum rates of wages, there is a considerable body of legislation and governmental policy that affects wages in one way or another For example, in 1946 there were seven state laws that forbade discrimination in wage rates on the basis of sex. Commonly the prohibition is against the payment of lower wages to women than to men for "equal work" or "equivalent service" or to those "similarly employed." [30] In addition, in the federal civil service and generally in the states that have civil service no distinction is made between sexes None of the attempts by the federal government to control rates have made any distinction in pay for males and females.

It should be noted in passing, however, that the enforcement of equal-pay laws is not easy. Ascertaining observance of a minimum-wage law is relatively simple, an examination of payroll data should show whether the minima are being paid But the requirement of equal pay for equal work or equivalent service brings up the difficult problem of comparing jobs. Job evaluation requires much careful investigation of the duties and responsibilities of one type of work as compared with another. The titles given to jobs cannot be relied upon. Despite the very real difficulties in "equal-pay" legislation, it seems clear that laws, government policies, and union action slowly will bring to an end or at least lessen the degree of discrimination between the wage rates of men and women.

Nearly all of the states have some legislation dealing with the payment of wages. In most jurisdictions it is required that wages be paid at least twice per month, and it is common to require that wages paid at these times must compensate for services rendered up to not more than two weeks prior to the time of payment. A few of the states require payment no less frequently than at weekly intervals, while a small number do not have any requirement as to frequency of payment and Alaska and Oregon allow monthly payments [31]

---

[30] The states are Illinois, Massachusetts, Michigan, Montana, New York, Rhode Island, and Washington See Plunkett, M L, "Equal Pay for Women Workers" *Monthly Labor Review*, September, 1946, Vol 63, No 3, p 380 ff

[31] For summaries of all state laws dealing with wage payments see Prentice-Hall's *Complete Labor Equipment*, Vol 3, *State Labor Laws.*

In past years there was a rather common practice of paying workers, especially at isolated mining and lumber camps, in scrip. This token money could be spent at the company store, where prices were high and where it usually was redeemable in money at less than face value. Such methods of payment now are prohibited in most states However, nearly one-third of the states do not forbid wage payments in scrip [32] In these instances the states are derelict in their duty of ensuring that workmen are paid for their labor in lawful money that can be spent wherever the worker chooses, rather than at the company store

In order to guarantee that workers will be paid the money due them, most states have enacted laws that give a prior claim to the payment of wages in case a bankrupt employer does not have assets sufficient to satisfy all claims. Similarly, many states have enacted laws that restrict or limit the right of workers to assign more than a certain portion of their wages as a method of paying indebtedness. Such laws generally provide that not more than ten to twenty-five per cent of wages can be assigned or "garnisheed." [33] These laws vary widely in coverage and exact nature of provision. In a somewhat similar vein, a number of states prohibit the worker from making a kickback of part of his wages in order to obtain or hold a job With the labor shortage of the war and immediate postwar period in mind, it is difficult to realize that such practices were not uncommon during the depression years.

In addition to state laws, the federal government legislated in 1934 against kickbacks, a congressional investigation had revealed this practice to be prevalent in the building trades, some instances reportedly running as high as twenty-five per cent.[34] The enactment, the Copeland Act,[35] was aimed at stopping kickbacks on construction or building work financed in whole or in part by federal funds Fines up to $5000 and imprisonment up to five years could be levied on violators

Such was the general picture of federal and state wage controls in 1938; except for the enactment of the Wage-Hour Law, the situation did not change markedly during the next decade. During the war years there was no strong trend to press forward with progressive and more liberal labor legislation. And in the postwar years the major emphasis at both state and national levels was on legislation concerning labor relations. Owing to the fact that so little was

---

[32] Peterson, Florence, *Survey of Labor Economics*, p 403 New York. Harper and Brothers, 1947

[33] Prentice-Hall's *Complete Labor Equipment*, Vol 3, *State Labor Laws.*

[34] *Prentice-Hall Labor Course*

[35] 48 Stat. 948, 1934

done in a decade of rising prices, governmentally fixed minimum wages were by 1947 far out of line with amounts necessary for a minimum standard of living

## *Questions*

1 Present the pros and cons of a government policy of setting minimum wages What effect, if any, will a minimum-wage law have on total opportunities for employment?

2 How can you explain the shift in the attitude of the Supreme Court toward minimum-wage legislation, as evidenced by the Morehead decision of 1936 and the West Coast Hotel decision of 1937?

3 Mr. Justice Sutherland said in his dissent to the West Coast Hotel ruling that "the meaning of the Constitution does not change with the ebb and flow of economic events." Evaluate this statement.

4 Why have so many of the state minimum-wage laws failed to include men?

5 If minimum wages are to be established by law, what practical basis can be used for determining what the minimum should be?

6. Once a minimum-wage law is enacted, it seems very difficult to get the minima changed. What methods might be used to overcome this difficulty?

## CHAPTER XIII

# CONTROL OF CHILD LABOR

### *Background of federal child labor legislation*

It has already been noted that the problem of child labor was recognized by the states early in the nineteenth century and that most states took some action, of widely varying degrees of effectiveness, prior to 1900. However, it was also noted that the number of employed children and the proportion of them to the total child population continued to rise up through 1910. In view of the great differences in state controls and the continued increase in the problem of child labor, the federal government began to interest itself in the problem early in the twentieth century A large part of the story of child labor regulation between the two World Wars is a story of federal controls.

If one accepted the desirability of effective control of child labor, it was clear by 1915 that federal control was needed With federal control the backwardness of some states could be wiped out, in so far as child labor contracts were concerned. In states that had established progressive, high standards a federal law setting lower ones would not undermine their standards at all. The new results of a federal law, therefore, would be to raise, for the industries to which it applied, standards in the less progressive states to the federally prescribed level and still leave the way open for any state that so desired to set higher levels of performance.

At least one economic objection to a federal standard could be raised. The seat of control would be further removed from the businesses regulated and the amount of red tape increased However, such objection to federal control probably was and is overplayed. Almost every federal agency of any size will establish some sort of field organization with representatives at regional and usually at local or district levels in order to maintain closer contact with the localities in which problems develop It is extremely doubtful if the real reason for objection to federal control is the remoteness of the control, it more likely stems from a realization of the greater effectiveness of federal control We will note that the strongest objections to federal action came from the areas where state controls generally were weakest.

*The first federal control of child labor*

Recognizing the need for uniformity and higher standards of regulation of child labor, the federal government began in 1916 a series of attempts to establish nation-wide controls. Six efforts of the Congress made up this series of moves; the first four were unsuccessful and the fifth was narrow in its coverage. Let us examine these attempts

In 1916 Congress enacted, by a very large majority in each house, a law that prohibited the transportation in interstate commerce of goods produced in factories or canneries that had employed within thirty days of the time of shipment children under fourteen or between fourteen and sixteen for more than eight hours per day, forty-eight per week, or between 7 00 P.M and 6.00 A.M. Shipment of the products of mines employing children under sixteen years of age also was prohibited[1] This was a new use of the power to regulate interstate commerce, namely, to exercise controls over labor policies, but Congress assumed that it had precedents warranting passage of the regulation Laws prohibiting the shipment of lottery tickets in interstate commerce[2] and the transportation of women across state lines for purposes of prostitution[3] had been approved by the federal Supreme Court Although those controls had been accomplished through exercise of the commerce power, Congress was due for a surprise when the new law came before the Court.

A case to test the validity of this law was brought by "a father in his own behalf and as next *friend* (italics mine) of his two minor sons . . . employees in a cotton mill at Charlotte, North Carolina to enjoin the enforcement of the act. . . ."[4] The law was attacked on three bases: (1) in reality, it was not a regulation of interstate commerce; (2) it violated the tenth amendment, and (3) it violated the fifth amendment By the statement of the majority of the Court, the most controversial of the issues was that of whether the commerce power furnished a basis for regulations of intrastate conditions, such as the act in question attempted How far could the interstate commerce clause be stretched?

In the opinion of five of the justices, the commerce clause could not be extended as the Congress sought to do in the child labor law. The Court majority held that preventing the shipment of lottery tickets or the transporting of women for immoral purposes were not the same type of problem. The Court held that in those cases.

[1] 39 Stat 675, 1916
[2] *Champion v Ames,* 188 U S 321 (1903)
[3] *Hoke v United States,* 227 U S 308 (1913)
[4] *Hammer v Dagenhart,* 247 U. S 251 (1918)

"The use of interstate transportation was necessary to the accomplishment of harmful results . . This element is wanting in the present case. . . When offered for shipment, and before transportation begins the labor . . . is over, and the mere fact that they were intended for interstate commerce transportation does not make their production subject to federal control under the commerce power."

The Court proceeded, in essence, to defend the right of states to determine labor conditions within their boundaries. As the Court opined, there were many reasons why local laws of various states would vary so as to give one state economic advantage over another. Although this condition was held to be true, the Court stated that "the commerce clause was not intended to give to Congress a general authority to equalize such conditions."

In closing their justification of the denial of the federal child labor regulation, the majority repeated that the necessary effect of the prohibition on transportation was to regulate the hours of labor of children—"a purely state authority." Thus, it was held that the act violated the Constitution on two counts. "It not only transcends the authority delegated to Congress over commerce, but also exerts a power as to a purely local matter to which the federal authority does not extend." For good measure and perhaps to try to convince themselves of the validity of their position, the Court added the admonition frequently used that a validation of the law might mean an end to our form of government. In their words:

"The far reaching results of upholding the act cannot be more plainly indicated than by pointing out that if Congress can thus regulate matters entrusted to local authority by prohibition of the movement of commodities in interstate commerce, all freedom of commerce will be at an end, and the power of the states over local matters may be eliminated, and thus our system of government be practically destroyed"

It is interesting to note that the majority agreed that there should be control of child labor. "That there should be limitations upon the right to employ children in mines and factories in the interest of their own and the public welfare, all will admit." But the fact that many of the states were derelict in their duty of enacting adequate controls did not convince them of the need for another approach. The law of North Carolina, for example, at the time that the case was brought into court from that state, allowed children aged twelve and older to work But this Court decision, like many others, is not notable for its recognition of social and economic needs

As might be expected by anyone acquainted with the philosophy

of Mr Justice Holmes, that jurist dissented, his opinion was concurred in by three other Justices The dissent was powerful and to the point. In the view of the dissenters, Congress acted within its powers:

"The statute confines itself to prohibiting the carriage of certain goods in interstate or foreign commerce. Congress is given power to regulate such commerce in unqualified terms It would not be argued today that the power to regulate does not include the power to prohibit Regulation means the prohibition of something, and when interstate commerce is the matter to be regulated, I cannot doubt that the regulation may prohibit any part of such commerce that Congress sees fit to forbid"

As to the contentions of the majority that the law invaded an area of authority left to the states, the dissenters agreed.

"The act does not meddle with anything belonging to the States They may regulate their internal affairs and their domestic commerce as they like But when they seek to send their products across the state line they are no longer within their rights If there were no Constitution and no Congress their power to cross the line would depend upon their neighbors Under the Constitution such commerce belongs not to the States, but to Congress to regulate It may carry out its views of public policy whatever indirect effect they may have upon the activities of the States. . . . The public policy of the United States is shaped with a view to the benefit of the nation as a whole. . The national welfare as understood by Congress may require a different attitude within its sphere from that of some self-seeking State"

The dissenting opinion is in itself a good evaluation of the position taken by the majority. It is clear that the Congress did have, and has always had, the power to regulate interstate commerce. There seemed to be only one way in which the statute in question could be overthrown and that was to look behind the prohibition at the effects It is true that the effects of the prohibition did impinge upon a field that was considered to be within the regulatory sphere of the state But if the prohibition was clearly within the powers of the Congress, did the Court have the right to search behind the act and judge its effect as a basis of constitutionality? Almost any enactment of Congress will have some effect on actions and powers of the states. Especially in this case when the congressional action was, by the Court's own admission, for a desirable purpose it is difficult to understand the judicial reasoning

It is also difficult to understand the reasoning by which the Court distinguished the validity of other prohibitions enacted under the

commerce clause from this one. The Court said that in the cases of lottery tickets, impure foods and drugs, and women for the purpose of prostitution, "interstate transportation was necessary to the accomplishment of harmful results", in the opinion of the Court, this element was wanting in the child labor case. But was the distinction as clear as the Court would have persons believe? It is difficult to imagine that child labor would not have subsided markedly if goods on which children worked could not have been shipped out of the state. One difference could be cited between the prohibitions that had been validated by the Court and the child labor prohibition. In the other three cases the harmful results came after the transportation of the goods; in the case of child labor the evil that Congress sought to stamp out came before the movement of the goods across state lines But such a distinction was not basic. In all four instances the prevention of the movement of goods in interstate commerce was a way of stopping a certain evil occurring before or after the movement of the person or goods It cannot be argued reasonably that the chronological relationship of the evil to the time of the movement in commerce should determine validity or lack of it. Here, again, the Court leaned on an unconvincing argument.

The child labor tax case

While the dissent of Mr. Justice Holmes convinced one too few justices, it did speak the attitude of the public and of Congress. Proof of this contention came in the prompt passage of another federal law intended to control child labor. This law,[5] enacted in the same year as the invalidation of the first federal child labor law, went into effect in April, 1919. It imposed a tax of ten per cent on the net profits of any mining concern employing children under age sixteen and on any manufacturing concern employing children under age fourteen or those under age sixteen for more than eight hours per day or forty-eight per week. This tax was in addition to all other levies paid by the concern. This was the only other approach that the Congress could take to the problem. The only two powers that Congress can use to enact labor legislation are the power to regulate interstate commerce and the power to tax. The commerce power seemed to be the more logical approach, and it had been tried first but to no avail Application of the taxing power was a further stretching of congressional prerogative, but it was the only remaining method.

In this case, again, it seemed that there was precedent for using the taxing power for reform purposes. Colored oleomargarine had

[5] Revenue Act of 1918, 40 Stat 1138, 1918.

been subjected to a discriminatory tax so heavy as to bar it from the market Congress had used the same method, a discriminatory tax, to stop the production of matches containing white phosphorous[6] and to stop the circulation of state bank notes at an even earlier date Thus, although the relationship of child labor to the tax was not so clear as that to commerce, there was precedent for the use of the taxing power to achieve social and economic regulation.

When the law went into effect, a citizen of North Carolina again rose to the occasion and the law was challenged The background of the case was this. the Drexel Furniture Company had employed a boy of less than age fourteen and was charged over $6000 for the taxable year of 1919 under the special provisions of the child labor tax law. The sum was paid under protest and the company asked for a refund, which was denied. Suit was then brought in the federal District Court in the Western District of North Carolina asking for the full amount of the tax paid plus accrued interest. The Court ruled in favor of the company and the case was appealed to the High Court.

In the federal Supreme Court the law was attacked as a regulation of the employment of child labor, which was contended to be purely a state function[7] It was defended as simply an excise tax levied by Congress under its power to tax. As the Court saw it, the basic question was·

> "Does this law impose a tax with only that incidental restraint and regulation which a tax must inevitably involve? Or does it regulate by the use of the so-called tax as a penalty? . If it were an excise on a commodity or other thing of value we might not be permitted under previous decisions of this court to infer solely from its heavy burden that the act intends a prohibition instead of a tax. But this act is more. It provides a heavy exaction for a departure from a detailed and specified course of conduct in business"

This passage is indicative of the final ruling of the Court, but other passages from or summaries of their reasoning are also of interest. It was pointed out that the establishment of an employer was subject to inspection by representatives of the Department of Labor as well as the Treasury Department On that basis, Mr Chief Justice Taft commented, "In the light of these features of the act, a court must be blind not to see that the so-called tax is imposed to stop the employment of children within the age limits prescribed Its prohibitory and regulatory effect and purpose are palpable."

[6] Millis, H A, and Montgomery, R E, *op cit*, Vol I, p 444 Commons, J, and Andrews, J, *op cit*, p 195

[7] *Bailey v Drexel Furniture Co*, 259 U S 20 (1922)

The Court implied a reluctance to invalidate the law saying, "We cannot avoid . . duty even though it requires us to refuse to give effect to legislation designed to promote the highest good" A certain amount of regulation *mixed* with revenue raising would have been supported, so the Court said, since a measure did not lose its character as a tax because of an incidental regulatory effect. But the Court held that the penalty features were carried too far in this particular act.[8] To clinch their reluctance, the Court argued, "Grant the validity of this law and all that Congress would need to do, hereafter, in seeking to take over to its control any one of a great number of subjects of public interest . . would be to enact a detailed measure of complete regulation of the subject and enforce it by a so-called tax upon departures from it To give such magic to the word 'tax' would be to break down all constitutional limitation of the powers of Congress and completely wipe out the sovereignty of the states." For all the above reasons, the Court asserted that it "must hold the Child Labor Tax Law invalid"

Whether or not the Court was constrained to render the decision which they did, it must be admitted that the opinion seems much more reasonable and in keeping with constitutional provisions than did the *Hammer v Dagenhart* ruling. If subsequent shifts in Court opinion are of any value, the Bailey ruling is more solid Probably a similar case still would be held an invalid exercise of congressional power. On the other hand, the Hammer decision has not weathered the test. Subsequent rulings on the power conferred by the commerce clause have outmoded the dicta handed down in the Hammer case.

Despite its weakness, some liberals were inclined to defend the tax law out of sympathy for its objectives. Sensing this, Mr Chief Justice Taft observed, "The good sought in unconstitutional legislation is an insidious feature because it leads citizens and legislators of good purpose to promote it without thought of the serious breach it will make in the ark of our covenant or the harm which will come from breaking down recognized standards." Millis and Montgomery observe somewhat caustically that they were not prepared to deny this point They were prepared, however, "to observe that the child labor decision . . . demonstrated how necessary is some modernization of this ark. . . ."[9] Such a comment is well-worth

[8] Millis, H A, and Montgomery, R E, *op cit.*, Vol I, p 447, voice the opinion that if the tax had had some revenue collection feature to it, however slight, in case of observance it might have survived They point out that the discriminatory tax on [illegible] very heavy for colored margarine and very light for uncolored [illegible] the heavy tax drove out colored margarine, there was still a slight tax on the other product, thus preserving the revenue feature.

[9] *Ibid.*, p. 448.

emphasizing. Presumably, what the Chief Justice meant by his flowery language was that validation of a law such as this would break with precedent and with customary methods of doing things But there is a rather sad commentary therein. The Court held that it was its duty to invalidate legislation of an admitted value because of the fact that to do otherwise would break with our customs and traditions as to which level of government enacts a certain type of regulation Here, as in the Dagenhart case, the Court was faced with the fact that many states were not competently doing their duty in regulating child labor And, as Mr Justice Holmes suggested in his dissent in the Hammer case, it might be to the economic advantage of some states, in the short run, not to regulate child labor adequately. Under such conditions, the Constitution and customs arising thereunder were held for a second time to preclude federal establishment of minima, with the states free to do as much better as they chose Such a situation clearly justified the comment of Professors Millis and Montgomery that it was high time that some steps be taken to modernize "the ark of our governmental covenant" so that desirable social and economic legislation no longer be caught in the no man's land between inaction of certain branches of the government and constitutionally induced impotence of another branch.

*The proposed constitutional amendment*

Congress, with the *Bailey v. Drexel* decision, saw its second means of enacting labor controls invalidated. Since there was no other power that could be used under the Constitution, it was necessary to change the attitude of the Supreme Court or to amend the Constitution, if the federal government were to set standards for child labor. Not a great deal could be done in a short time about changing the attitude of the Court; therefore, Congress decided on an amendment to the Constitution. From 1922 to 1924 this plan was discussed, and in 1924 the following proposed amendment was submitted to the states for ratification:

> "Sec 1 The Congress shall have power to limit, regulate, and prohibit the labor of persons under 18 years of age. Sec 2. The power of the several States is unimpaired by this article except that the operation of State laws shall be suspended to the extent necessary to give effect to legislation enacted by Congress "[10]

It will be noted that the proposal was an enabling amendment only. Perhaps that fact frightened many persons and state legisla-

[10] Quoted from U. S Bureau of Labor Statistics, Bulletin No. 616, *Handbook of*

tures or at least gave excellent talking points for the opposition. There was no limitation upon the industries that the Congress could regulate if it chose, and the specific wording of the proposal allowed the government to prohibit the labor of persons under age eighteen. In addition, the use of the word "labor" rather than "employment" allowed some persons to jump to the conclusion that the government could legislate to prevent persons from doing chores around the home, working on the parents' farm, and the like. Those who opposed missed no opportunity, and all sorts of dire predictions were made as to the effects of the proposal on the home and the church.[11] It was also labeled as an insidious foreign proposal.

Such well-organized and well-financed opposition was somewhat surprising, in view of the apparent public support of the measures previously enacted by Congress. It seemed logical to expect prompt ratification by the necessary thirty-six states. But those who were so optimistic failed to reckon with the effectiveness of the opposition. Perhaps still another matter might have been responsible for the reluctance of the states to ratify. That was the provision suspending the power of the states to the extent necessary to give effect to any legislation enacted by Congress once the enabling amendment was passed. This provision should not have been considered a threat, such a condition, whether stated or not, would have to be present in any instance in which both the state and federal governments sought to exercise control in the same field Essentially, all that the provision said was that a state could not enact a regulation calling for lower standards than those of the federal government and expect the more lenient state law to take precedence. On the other hand, the state would have as much authority as ever to enact laws specifying higher standards than those of the federal law, in that case no harm would be done to the federal statute by enforcing the more demanding state law, and this could be done.

It is doubtful if the use of terms such as "labor" and "prohibit" or the avowed intent to suspend state laws that conflicted with federal law were the real reasons for the objections to the act. However, they did provide excellent talking points for its opponents As a result of their opposition ratifications came very slowly and the amendment never became a part of the Constitution. During the six years following submission of the amendment to the states only five ratified it.[12] Colorado added her approval in 1931, and then nothing further happened until 1933. After 1930 the deepening of the de-

---

[11] For a discussion of the objections to the amendment see Millis, H A, and Montgomery, R E, *op cit*, Vol I, pp 448-460

[12] Arkansas 1924 Arizona, California, Wisconsin, 1925, Montana, 1927.

pression and the inability of millions of adults to find work while many children were employed at extremely low wages caused a renewed interest in effective regulation of child labor Consequently, fourteen more states[13] ratified the amendment in 1933 and two more in 1935, with final approvals by four more in 1937.[14] This brought ratifications to a close

In view of the long time between the submission of the amendment to the states and some of the ratifications and the fact that some states first rejected and at a later date ratified, there was considerable question as to whether the amendment was still open for ratification. The Supreme Court ruled in 1939 on two cases arising out of this question, it held that the amendment was still open.[15] However, this now seems a moot question because the enactment of the federal Fair Labor Standards Act of 1938 accomplished essentially what the amendment had sought to validate Although the child labor provisions of the enactment have not been ruled upon by the Supreme Court, other parts of the law have been approved It seems reasonable to assume that federal child labor controls are here to stay and that there no longer is a need for ratification of the amendment of 1924; a change in court attitude could change this situation, however, since the child labor provisions could still be brought up for review.

### Child labor and the codes

Bringing the story of the failure to ratify the amendment up to date has taken us beyond two other attempts of the government to cope with child labor, it is necessary to return to these The National Industrial Recovery Act, in its all-encompassing scope, contained provisions that dealt with child labor The previously mentioned codes of fair competition contained minimum standards for child labor. Although these were not entirely uniform, age sixteen was the commonly accepted minimum for employment of children thereunder, however, a considerable number allowed children of age fourteen and fifteen to work for limited periods, and a few of the codes set minima of eighteen years. Altogether, 78 5 per cent of the codes set sixteen years as the minimum age in normal employment and eighteen years in hazardous occupations [16]

[13] Illinois, Iowa, Maine, Michigan, Minnesota, New Hampshire, New Jersey, North Dakota, Ohio, Oklahoma, Oregon, Pennsylvania, Washington, and West Virginia

[14] Indiana and Wyoming, 1935, Kansas, Kentucky, Nevada, and New Mexico, 1937 See U S Bureau of Labor Statistics, Bulletin No 616, *Handbook of Labor Statistics* (1936), pp 38-39 See also Raushenbush, C, and Stein, E, *op cit*, p 404

[15] *Coleman v Miller*, 59 Sup Ct 972 (1939) *Chandler v Wise*, 59 Sup Ct 992 (1939)

[16] U S Bureau of Labor Statistics, Bulletin No. 616, *Handbook of Labor Statistics* (1936), p 524

Among the industries setting poorer standards than the average were most branches of the retail trade Under the retail codes, it was common practice to allow children of fourteen and fifteen years to work up to three hours daily on school days and one eight-hour day each week. The daily-newspaper codes usually allowed nearly the same provisions. There was no special type of occupation that provided for a higher age minimum; among the very small number of fields setting eighteen years were: wrecking and salvage, concrete masonry, concrete pipe manufacturing, burlesque theatres, and locomotive bearings and castings

The effect of the codes was to curtail sharply the extent of child labor. A report to the twenty-first annual convention of the International Association of Government Labor Officials in 1935 gave the following picture:

> "In 1932, before the N R A. became effective, 50,023 employment certificates issued for children 14 and 15 years of age leaving school for their first full time employment were reported by the officials of 18 States and 69 cities. In 1934 the number of employment certificates issued in these same States and cities had fallen to 13,963, a decrease of 72 per cent from 1932. Those who left school for work in 1934 for the most part went into domestic and personal service and various miscellaneous employments not covered by the N.R A. In 1932, 49 per cent of the children for whom occupation was reported went into manufacturing and mercantile work, in 1934, only 4 per cent. On the other hand, in 1932, 30 per cent entered the occupations classified by the census as domestic and personal services, in 1934, 81 per cent"[17]

The conference at which the above report was made was held only a few months after the Schechter ruling had invalidated the codes However, the evidence was coming in even at that time that child labor was again on the increase For example, one state that had issued no employment certificates in 1934 issued fifty-six within three months after the codes were suspended, in another state the rate of issuance in the first three months was about eighteen times as fast In addition, a sizable number of these newly hired children were going into manufacturing again.

Such a record is clear proof that, in child labor as in other areas of labor problems, the N.I.R.A codes were a relatively effective measure and that they met a need not being taken care of by the states Their suspension was a severe blow to the proponents of progressive labor legislation, and their effects were soon lost, al-

[17] U S Bureau of Labor Statistics, Bulletin No 619, *Labor Laws and Their Administration*, pp 14-15. Washington, D C. U. S. Government Printing Office, 1936.

though they did have some permanent effects on child labor because they focused attention on the problem and some states revised their statutes to bring them in line with the federal standard. However, most of their benefits disappeared about as quickly as they came.

### Child labor and public contracts

The Schechter ruling left the Congress with little recourse regarding child labor controls. Its two ordinary means of economic control, through commerce regulation and the taxing power, had for this matter long since been discarded, the states had failed to ratify the proposed amendment in sufficient number, and the N.I.R.A.'s attempt at broad emergency controls had been overruled. Unless there could develop in the Supreme Court some change of attitude toward economic controls, there seemed to be no means of reaching the general employers of child labor. It was possible, however, to set labor standards that were required of federal contractors; this Congress did in 1936

The Walsh-Healy Public Contracts Act dealt with the employment of child labor as well as general wage and hour matters for government contractors. As for child labor, contractors supplying the government with goods or services of value in excess of $10,000 were forbidden to employ male persons under sixteen years of age and females under eighteen. This prohibition was not against all employment of child labor by the contractors, it applied only to such employment "in the manufacture or production or furnishing of any of the materials, supplies, articles, or equipment included in such contract" As with other sections of the law, it did not apply to the supplying of agricultural commodities or to the rendering of many services. In addition, other industries that, along with agriculture, are heavy users of child labor, such as retail trade and newspapers, were not under the coverage of the act.

The Walsh-Healy Act has remained on the statute books, but it was the only federal child labor law of any importance to come unscathed by the courts out of twenty years of congressional attempts at control. And in view of its restricted coverage, efforts at federal child labor control between 1916 and 1936 can be labeled as nearly fruitless [18]

[18] One other interesting though restricted federal effort at child labor control may be mentioned The Sugar Act of 1936, 50 Stat 903, provided for the payment of certain cash benefits to sugar growers, the payment being conditioned upon the observance by the growers of certain rules One of these rules was that benefits were denied either if children under fourteen were employed or if those between fourteen and sixteen worked more than eight hours daily This rule did not apply to children working on their parents' crops.

### Current state controls of child labor

During this period the states were gradually revising their laws on the subject. Although all states had taken some action to regulate and control child labor before the Dagenhart decision in 1918, there was much room for improvement. Gradually, out of the exchange of experience a somewhat discernible pattern of regulatory laws began to develop, although the standards set have continued to vary widely even to the present day. In the 1930's a few of the states began to amend their laws so as to include agricultural employments. While at that time only two states, Montana and Ohio, had established a basic minimum age of sixteen years, a dozen others had stepped up to that standard by 1941.[19]

Probably the greatest problem area for child labor in the 1930's, and in the 1940's as well, was agriculture. For some reason, the work of children on farms is usually viewed as healthful outdoor work that helps the parents around the home. But many thousands of children now work on mechanized farms that are not the old homestead, and they are no more than gainfully employed child labor. Some of the children are extremely young, a New York study in 1940, made on one hundred truck farms, showed that almost forty-five per cent of the workers were children under sixteen years of age and nine per cent were under age ten. Usually the hours of work of such children were the same as for adults, and some of the work was quite heavy.[20] Although a few state laws and one limited federal enactment have stepped into this field, it has been largely untouched, as have other agricultural matters by all labor contracts.

A survey of the state controls of child labor in effect in 1948 is in order.[21] The major types of provisions found in the laws will be noted first, with more detailed data and variations from the norm noted subsequently. Perhaps the most important single provision in the laws is of the minimum legal age at which a child may take a job. It is rather common for these minima to be higher during school hours than at other times. Not infrequently certain age requirements may be waived if specified educational accomplishments have been attained or if it is determined that the child is unable to profit from school.

---

[19] Connecticut, New York, North Carolina, Pennsylvania, Rhode Island, South Carolina, Utah, Wisconsin, Massachusetts, West Virginia, New Jersey, and Florida.

[20] For a report on child labor in agriculture see U S Bureau of Labor Statistics, Bulletin No 694, *Handbook of Labor Statistics*, Vol I, pp 31-36 Washington, D. C U S Government Printing Office, 1942.

[21] Drawn from Division of Labor Standards, U S Department of Labor, *State Child-Labor Standards* Washington, D C U S Government Printing Office, 1946.

In addition to a minimum age, it is common to limit the number of hours per day and per week that a young person can be employed. Also, the laws often prohibit work during certain hours of the night. Many states forbid the employment of children below a certain age, usually one higher than the general basic minimum, in hazardous occupations.

Almost all state laws now use the administrative device of requiring young workers to obtain a work permit or employment certificate as a prerequisite of employment. These certificates usually are issued by local public school officials, athough in some cases Department of Labor employees grant them. They are issued to certify that the child to whom granted has attained the necessary age and in any other required particular meets the stipulations for employment. When certificates are carefully issued, they protect an employer against unwittingly hiring a child below the legal age and aid in keeping minors from work from which they are barred by law because of occupational or other hazards.

In addition to state legislation directly controlling the employment of children, laws requiring school attendance affect employment. All states have some compulsory school-attendance law, but many of them permit exceptions for various reasons, thus weakening their effectiveness.

The minimum age at which children are allowed to go to work in non-hazardous employments is usually fourteen or sixteen years, with a few states setting fifteen years. The one state specifying no minimum age is Wyoming, in which the only stipulation is that no child required to be attending school may be employed during school hours. The greatest number of states set age fourteen as the minimum; twenty-seven states have so legislated,[22] and Delaware might be added to this list because it permits boys to work who are twelve or over, if not required to be in school and if not employed in dangerous industries; otherwise fourteen years is the minimum age. A smaller but sizable number set sixteen years as the minimum age in non-hazardous work[23] Three states, Califor-

[22] Alabama, Arizona, Arkansas, Colorado, Idaho, Illinois, Indiana, Iowa, Kansas, Kentucky, Maryland, Michigan, Minnesota, Mississippi, Missouri, Nebraska, Nevada, New Hampshire, New Mexico, North Dakota, Oklahoma, Oregon, South Dakota, Tennessee, Vermont, Virginia, and Washington By a 1947 enactment, Connecticut set fourteen years as the minimum age for children employed in agriculture, the act applies only to employers whose average number of employees is more than fifteen See Acee, Alfred, "State Labor Legislation in 1947" *Monthly Labor Review*, September, 1947, Vol 65, No 3, p 277

[23] Connecticut, Florida, Georgia, Louisiana, Massachusetts, Montana, New Jersey, New York, North Carolina, Ohio, Pennsylvania, Rhode Island, South Carolina, Utah, West Virginia, and Wisconsin.

nia, Maine, and Texas, bridge the gap between the two groupings by setting a minimum age of fifteen years.

The majority of the state laws handle employment in hazardous occupations separately and set higher standards for occupations so classified Twenty-nine states set age eighteen as the minimum in a number of hazardous occupations A list of such employments is likely to include industries, like underground mining, that may be dangerous from a physical standpoint, tasks in which the employment of the very young may be dangerous to others, such as a hoisting engineer, and occupations that may threaten the morals of children, such as work in billiard rooms or in street trades. The number of occupations listed as hazardous varies from one or a very few to a comprehensive listing. A considerable number of states that set general minima or fourteen years establish sixteen years for hazardous work, and a few have only a flat sixteen-year limit with no special provisions for the hazardous occupations. Altogether, fifteen states set sixteen-year minima for hazardous work. Two states, New Hampshire and Mississippi, make no provision for hazardous occupations. A few other states make some special provision for hazardous work that falls into no particular category.

Nearly half of the state controls make some distinction between the minimum age during school time and after hours or during vacation. The rather common variation in the latter instances is to permit employment two years younger than the basic minimum. It is not infrequent for a provision to be added to such an exception specifying the types of work in which the younger person may be employed. The specific exemptions in non-school time may be for persons working in agriculture or "not in manufacturing."

Another important set of provisions at the time of writing concerns the maximum hours of work allowed per day and per week as well as the regulations or lack of them of night work by minors. For convenience in examination these will be broken down into three groupings, hours per day, hours per week, and regulation of the hours during which child labor may be performed.

Provisions regarding hours of work per day and per week are not readily summarized because frequently there will be more than one set of limits that apply to various industries or at various times or that distinguish between the sexes or on the basis of the age of children employed. In the following summary, the basic day and week that seems applicable to child labor as the term is used in the particular state law is presented. The great majority of the states, forty-four in all, specify an eight-hour day; Idaho allows nine, Michigan and South Dakota ten, and New Hampshire ten and

one-quarter hours daily. As noted above, most of the states have some other provision than a flat eight-hour day for all children under a certain age. Frequently industries like domestic service or agriculture are not covered, and special provisions may be made for longer hours during rush seasons in canneries or in mercantile establishments. Despite the exceptions, most of the states are giving at least lip service to the eight-hour day for working children.

The work week is not quite so well-standardized, although the forty-eight-hour week is quite common Altogether, twenty-six states provide for a forty-eight-hour week, in effect, Illinois and Washington are in the same category because they set an eight-hour day and six-day week without a maximum number of hours per week. Seven states have done considerably better by their working children by setting a forty-hour work week.[24] Wisconsin is the only state that has gone beyond this standard appreciably, it sets an eight-hour day and twenty-four-hour week for boys under sixteen and an eight-hour day and forty-hour week for those between sixteen and eighteen years. Eight states have set forty-four hours as the maximum work week for employed youths.[25] On the other hand, a small number of states have not come up to the forty-eight-hour weekly standard Four states still allow as many as fifty-four hours as the basic work week for children [26]

Slightly more than half of the states specify the maximum number of days of work per week Of these, twenty-seven set a six-day week. South Carolina sets a five-day week for those employed in or around silk, rayon, or woolen mills, and Pennsylvania lowers its stipulation of six days for boys to five one-half for girls. The other states do not make any provision as to the number of days per week

One interesting fact may be noted when examining the above provisions. In general, the southern states have set higher legislative standards than have the other states. Except for Wisconsin, New Jersey, and Rhode Island (possibly West Virginia), the states that have set a forty-hour work week are southern states, the same is true of some of those setting forty-four hours per week. Although exemption of certain occupations, like agriculture and domestic services, may weaken the effectiveness, this has not been a problem of the South alone. The relatively high legislative standards of the southern states in this connection are the more surprising in view of the opposition toward federal controls shown by court cases testing the two federal child labor laws.

[24] Alabama, Florida, Georgia, New Jersey, North Carolina, Rhode Island, and West Virginia

[25] Louisiana, Mississippi, New Mexico, New York, Oregon, Pennsylvania, Utah, and Virginia

[26] Arkansas, Idaho, New Hampshire, and South Dakota.

The other significant problem of work time for children is the hours during which they can be employed. While night work may be harmful to most persons, it presents especial problems for women and children. The health of children, their ability in school, and their moral standards all may be quite adversely affected by night work Recognition of this fact has led the states to include in their laws provisions as to the legal hours for the employment of children. Let us examine the general provisions of the laws in effect in 1948 on this subject.

As with hours-of-work provisions, there usually are two or more provisions with respect to night work for children, varying on the basis of age, or sex, or both. The common requirements of the laws forbid work between 6.00 or 7.00 P.M and 6.00 or 7:00 A.M. Occasionally, the limit in the evening is 8 00, 9 00, or, in a few cases, 10 00 o'clock, New York, with its 5·00 P.M limit in factories, is the only state setting a limit earlier than 6 00 P M Almost all the morning limits are 6.00 or 7:00 A M, with five 5 00 A M. limits. Two states have no morning limit, setting an evening restriction but allowing work to begin at any time Only one state, Montana, fails to make any provision with regard to night work

The limits noted above apply in most cases to children under sixteen years of age, sometimes to boys under sixteen and girls under eighteen. In many of the laws the limits do not apply in agriculture and domestic service, and occasionally other exemptions are made. In addition to the basic night-work restrictions, it is a common though not universal practice to set a second pair of limits for children under eighteen, especially for girls under that age in specified occupations These limits usually are from 10:00 P M. or later until about the same morning hours as noted above.

Some of the states, approximately one-half, set up some special provisions governing employment in street trades, such as the sale of newspapers and magazines, shining shoes, and the like Special protection is granted normally in the form of prohibition of employment under specified ages, usually boys may not be so engaged under age ten or twelve and girls under sixteen or eighteen. In 1946 twenty-five states had no such provisions in their laws The general situation on this point was that the states with the largest urban populations were those which had enacted the special protection. There were exceptions to this "rule," however, for example, in Connecticut, Illinois, and Ohio where no special provisions had been made

The use of employment certificates need not be examined in detail since it is a problem of administration, however, since good administration is important to the effective functioning of any law this

matter may be noted briefly All of the states except five[27] use these certificates as requirements for employment of children in some or all occupations, 29 states require them for children under 16 in some or all occupations, 14 states have a similar requirement for children under 18. Although it would be possible to have a smoothly working law without certificates and a poorly working one with them, some person or agency not personally interested in the employment of a child should be required to pass on the legality of the employment of the person for whom a certificate is requested. In a heavy majority of the cases these certificates are issued by local public school officials.

While there are other state regulations that affect child labor, there is only one more general area which will be noted at this point The requirement of attendance at school is of importance and interest since it affects the availability of children for employment. All states have some regulations on this subject. The majority of the states set age seven to sixteen years as the period during which full-time school attendance is required. Some states have dropped the minimum to age six or raised it to age eight and several have set the maximum at eighteen. In all cases there are some exceptions to the application of the law to all persons within the age group The most common exception is of persons physically or mentally incapacitated, such a term could mean much or little, depending on the way it is interpreted and enforced Another common exception is of those persons who have completed a certain level of schooling, usually either the eighth grade or a regular four-year high school course. A variety of other exceptions is found in the various laws In some cases children whose parents are so destitute that they cannot provide them with decent clothing have been excused, and special allowances have been made in some laws when the child's labor is necessary for the support of the family

These school attendance laws are not in themselves child labor laws, but they have an effect on the employment of children. Where many exceptions are made to the laws, the employment of children will be more common Laws on school attendance, coupled with other state controls that limit the amount of child labor during school terms have considerable effect when combined

### Improvements needed in child labor controls

From this survey of legislation affecting child labor it is clear that for many years both federal and state governments have recognized the problem of child labor and have tried, with varying degrees of

---

[27] Idaho, Mississippi, South Carolina, Texas, and Wyoming

vision and success, to control its worst features. Great strides forward certainly have been taken in the control of the employment of children in many industries, although, as will be shown later, the standards set by many of the states are far from entirely acceptable. Before noting, however, the weakness of the laws in the industries to which they do apply, it is well to recall that certain industries are exempted from coverage Many of the laws do not cover agriculture or domestic service. Except for difficulties of administration, there is no good economic or social reason for this exemption, and the sooner state and federal governments can see their way clear to including these occupations in labor laws, the better. In these industries, child labor, low wages, long hours, and unsafe working conditions are widespread and little control is exercised thereon. Nor do the mythical advantages of farm labor prove to be representative of the work actually done, especially by child labor, on many of the large scale mechanized farms today. Much of the work on farms is just as tiring and as dangerous as many jobs in industry Tradition, the heavy representation of rural areas in Congress and state legislatures, and effective lobbying rather than an absence of need have been responsible for the inapplication of most economic controls to agriculture

But even where the regulations do apply, many of them do not measure up to desirable standards The International Association of Government Labor Officials has set up what are considered to be minimum standards that should be met by any child labor law. The goals set are in no way excessively high, it seems reasonable to take them as a basis for judging the adequacy of present laws. Such an analysis has been prepared in summary form by the Division of Labor Standards of the U. S. Department of Labor and is reproduced on page 264.

Examination of the summary of the Division of Labor Standards stresses the inadequacy of present controls. This is true of every standard set, for in every case only a minority of the states measure up to the suggested level It is difficult to evaluate the shortcomings. However, the failure of most states to prohibit full-time work by children under age sixteen is especially objectionable. If the nation hopes to keep a reasonably well-educated labor force and one that in the long run is healthy and efficient, full-time employment at less than a certain age, perhaps sixteen, should be ruled out, and part-time employment, especially during the school year, should be carefully regulated.

The eight-hour day and forty-hour week, standards that have become rather commonplace for adults, are quite reasonable maxima for child labor. While the eight-hour day is not especially uncom-

MAJOR STANDARDS RECOMMENDED BY THE INTERNATIONAL ASSOCIATION OF GOVERNMENTAL LABOR OFFICIALS FOR STATE CHILD LABOR LEGISLATION AND THE EXTENT TO WHICH EXISTING STATE CHILD LABOR LAWS MEET THESE STANDARDS

| | I A G L O Standards | Extent to Which State Child Labor Laws Meet I A G L O Standards |
|---|---|---|
| *Minimum Age* | *16 years*, in any employment in a factory, 16, in any employment during school hours, 14, in nonfactory employment outside school hours | 18 States and Puerto Rico approximate this standard in whole or in part (Ala , Conn , Fla , Ga , Ill , La , Mass , Mont , N J , N Y , N C , Ohio, Pa , R I , S C , Utah, W Va , Wis ) |
| *Hazardous Occupations* | *Minimum age 18* for employment in a considerable number of hazardous occupations | Few, if any, States extend full protection in this respect to minors up to 18 years of age, though many State laws prohibit employment under 18 in a varying number of specified hazardous occupations |
| | State administrative agency authorized to determine occupations hazardous for minors *under 18* | 20 States, D C , Hawaii, and Puerto Rico have a State administrative agency with such authority (Ariz , Colo , Conn , Fla , Kans , La , Maine, Mass , Mich , N J , N Y , N C , N Dak , Ohio, Oreg , Pa , Utah, Wash , W Va , Wis ) |
| *Maximum Daily Hours* | 8-hour day for minors *under 18* in any gainful occupation | 12 States, D C , and Puerto Rico have an 8-hour day for minors of *both sexes* under 18 in most occupations (Calif , La , Mont , N J , N Y , N Dak , Ohio, Oreg , Pa , Utah, Wash , Wis )<br>7 other States have this standard *for girls* up to 18 (Ariz , Colo , Ill , Ind , Nev , N Mex , Wyo ) |
| *Maximum Weekly Hours* | 40-hour week for minors *under 18* in any gainful occupation | 2 States (N J and Wis ) and Puerto Rico have a 40-hour week for minors *under 18* in most occupations, 4 States (La , Oreg , Pa , Utah) a 44-hour week for such minors<br>1 of these States (Wis ) has a 24-hour week for minors *under 16*, 6 other States (Ala , Fla , Ga , N C , R I , W Va ) and Hawaii have a 40-hour week, and 4 others (Miss , N Mex , N Y , Va ) a 44-hour week for such minors |
| *Work During Specified Night Hours Prohibited* | 13 hours of night work prohibited for minors of both sexes *under 16* in any gainful occupation | 12 States, Hawaii, and Puerto Rico meet or exceed this standard, at least for most occupations (Iowa, Kans , Ky , N J , N Y , N C , Ohio, Okla , Oreg , Utah, Va , Wis ) |
| | 8 hours of night work prohibited for minors of both sexes *between 16 and 18* in any gainful occupation | 11 States, D C , and Puerto Rico meet or exceed this standard, at least for most occupations (Ark , Calif , Conn , Fla , Kans , La , Mass , Mich , N J , Ohio, Wash ) |
| *Employment Certificates* | Required for minors *under 18* in any gainful occupation | 21 States, D C , Hawaii, and Puerto Rico require employment or age certificates for minors *under 18* in most occupations (Calif , Conn , Fla , Ga , Ind , La , Mass , Mich , Mont , Nev , N J , N Y , N C , Ohio, Oreg , Pa , Tenn , Utah, Wash , Wis and, where continuation schools are established, Okla ) One other State (Ala ) requires such certificates for minors *under 17* (A few of these States require certificates for minors 18 years of age or over, at least in certain occupations ) |

mon, the forty-hour week is almost non-existent. Although some organizational problems may develop because young persons are not permitted to work as long as a plant or place of business operates, there are pressing social and economic problems involved when excessive hours of work are allowed. Failure of so many states to meet this weekly standard is hard to understand and even more difficult to justify.

It is somewhat disconcerting to note that the standard to which the states best measure up is that of the use of employment certificates. While the techniques of administration are of importance to the effectiveness of legislation, it is certainly as important, if not more so, that the law set reasonable, adequate standards to be applied through these administrative techniques.

In view of the failure of the federal government, up to the late 1930's, to find a means of widespread regulation of child labor and of the wide variation in and obvious inadequacy of state controls, there was a continuing need of legislation that would standardize and improve controls as much as possible. To some extent, this came with the enactment in 1938 of the Fair Labor Standards Act. That law, in addition to more extensive regulations of hours and wages, again set up federal controls of child labor. Since wage, hour, and child labor controls by the federal government have been traced up to 1938 and those of the states carried to the post-World War II period, it is time now to complete the study of these regulations with an examination of the Wage-Hour Law.

## Questions

1. In view of the fact that the states had enacted child labor controls prior to 1916, was there good reason for the attempts at federal control?

2. Evaluate the reasonableness, logic, and social philosophy shown in the majority and dissenting opinions in *Hammer v. Dagenhart.*

3 Agriculture is largely exempted from the application of child labor laws. Is such an exemption defensible?

4. What effect, if any, will effective child labor regulation have on the wages and employment opportunities of adult workers?

5 What do you consider an adequate program of government controls over child labor? What subjects would it cover? Should it be state or federal legislation, or both?

6 In view of the regulatory powers granted the federal Congress by constitutional provisions, does the *Hammer v Dagenhart* or the *Bailey v Drexel* decision seem the more defensible? Do you think both would be ruled on today as they were originally?

## CHAPTER XIV

# THE FAIR LABOR STANDARDS ACT

### Reasons for enacting the Fair Labor Standards Act

The Fair Labor Standards Act is, as of 1948, the final chapter in the long story of federal attempts to control wages, hours, and child labor. In each of these areas of control there had been one or more attempts at regulation that had failed because of Supreme Court rulings Despite failures, the Roosevelt administration continued to try by one means or another to salvage portions of the recovery program that had been disallowed by the Schechter and other decisions Under this program of reenactment, the guarantees of the right to organize had been reestablished in the National Labor Relations Act of 1935. Some control over wages, hours, and child labor had been replaced in the Public Contracts Act, but the coverage of this act depended on the purchases of the government. In 1937 the Supreme Court, as will be seen in a later chapter, had sanctioned a very broad interpretation of congressional power under the commerce clause[1] Congress sought to use this power as a basis for the broader regulation needed in the wages, hours, and child labor areas

The finding and declaration of policy stated by Congress prior to the body of the Fair Labor Standards Act shows the attempt to capitalize on the broader concept of the commerce power. The statement was:[2]

"(a) The Congress hereby finds that the existence, in industries engaged in commerce or in the production of goods for commerce, of labor conditions detrimental to the maintenance of the minimum standard of living necessary for health, efficiency, and general well-being of workers (1) causes commerce and the channels and instrumentalities of commerce to be used to spread and perpetuate such labor conditions among the workers of the several States (2) burdens commerce and the free flow of goods in commerce; (3) constitutes an unfair method of competition in commerce, (4) leads to labor disputes burdening and obstructing commerce and the free flow of goods in commerce; and (5) interferes with the orderly and fair marketing of goods in commerce

[1] Jones and Laughlin Steel Corporation decision See below, Ch XVII

[2] The act is found in 52 Stat 1060 Quoted are the Findings and Declaration of Policy

"(b) It is hereby declared to be the policy of this Act, through the exercise by Congress of its power to regulate commerce among the several States, to correct and as rapidly as practicable to eliminate the conditions above referred to in such industries without substantially curtailing employment or earning power."

Such was the window dressing that Congress included for the benefit of the Courts; the obvious purpose was to prove that there was sufficient relationship between the subject regulated under the act and the free flow of interstate commerce to give Congress the authority to enact the control. It will be noted that the act imposed regulations both on industries engaged in commerce and on those engaged in the production of goods for commerce. An attempt to extend the power over commerce in such a manner prior to 1937 would have been thought unconstitutional, but it was in keeping with the concept of the commerce power laid down by the Court in the decision validating the National Labor Relations Act.[3]

Coverage of the act

Despite the stated broad interest in industries producing goods for commerce, it will be seen that the act contained a considerable number of exceptions. Although not all of these need be noted, the more significant ones should be. The sections of the act that dealt with minimum wages and maximum hours did not include the following: (1) *bona fide* executive, administrative, or professional personnel, (2) local retailing and outside salesmen or employees of local retailers the greater part of whose sales are intrastate, (3) seamen, (4) any employee of a carrier by air subject to appropriate sections of the Railway Labor Act; (5) fishery workers, and (6) agricultural workers There were other minor exemptions of persons who might have been held to be in industries producing goods for interstate commerce. In addition, persons who were not so engaged, such as those in local transport, domestic work, or government service, were not covered As to the section dealing with child labor, it was not applicable to children employed in agriculture, those not legally required to attend school, or to any child employed as an actor in motion pictures or theatrical productions. Such a number of statutory exemptions has required many interpretations in order to clarify the applicability of the law, the more important ones will be noted later.

With regard to coverage, one other matter should be noted; the act covers employees and not employers. By this is meant that

[3] *National Labor Relations Board v Jones and Laughlin Steel Corp*, 301 U. S. 1 (1937) See below, Ch XVII.

only the workers whose duties are an activity affecting commerce or the production of goods for commerce are included. Thus, an employer may have certain employees who are subject to the act because of their duties and others not subject to the law because their duties are not essential to commerce or the production of goods for commerce If the exemptions noted above present complex questions of interpretation, the determination of when a certain worker or class of workers should and should not come under the act is even more complex Here, again, a number of interpretations must be noted subsequently

Wage *provisions*

The passage of the Fair Labor Standards Act was intended to raise the legal minimum wage to forty cents per hour and to discourage employment beyond forty hours per week, as soon as possible. However, in view of the fact that even this low standard was such as to require marked improvement on the part of some employers, the attainment of it was to come by stages rather than in one jump For example, the minimum-wage provisions of the act were to become effective 120 days after enactment, in October, 1938. The legal minimum-wage rate for the first year was twenty-five cents per hour During the next six years the minimum was thirty cents hourly; finally, after seven years, in October, 1945, the forty-cent hourly minimum was to be established.

The final forty-cent minimum could be reached, however, prior to October, 1945, and, as a matter of fact, it was reached in all industries subject to the act before that time, final orders establishing the minima were effective in July, 1944, almost fifteen months prior to the deadline [4] The more rapid attainment of the final minimum was accomplished as a result of the provision for industry committees. These committees were appointed by the administrator for all industries producing goods for commerce or engaged in commerce; they were composed of equal numbers of labor, management, and public members appointed with due regard for the regions in which the industry was carried on. One of the public members was chairman of each committee.

The job of each industry committee was to study the industry in question, its wages, working conditions, and all pertinent figures, and recommend to the administrator a minimum that they thought feasible, not less than thirty nor more than forty cents per hour. Before the recommended rate could be put into effect, a public hearing was required at which the interested parties were to be

[4] Prentice-Hall's *Complete Labor Equipment,* Vol 1, *Wage and Hour*

heard. If, after the hearing, it appeared that the proposed rate was practical and that substantial unemployment would not result therefrom, the administrator could issue an order putting it into effect.

The wage orders of the industry committees were not to be applied to Puerto Rico or the Virgin Islands For those areas special committees were to be appointed from residents, and rates to be effective there were to be recommended with an eye to the particular territorial problems. The primary restriction on the rates set was that they should not be such as to give an industry in Puerto Rico or the Virgin Islands a competitive advantage over industry in other parts of the United States.[5]

One exception to the wage minima, other than that for the island areas mentioned above, was made for learners, apprentices, and handicapped persons. Under special certificates issued on the basis of regulations by the administrator, such persons could be employed "at . . wages lower than the minimum wage applicable . . and subject to such limitations . . . as the Administrator shall prescribe." Such a provision was essential, otherwise, an unreasonable restriction on the job opportunities for the young and the handicapped would have resulted Although during the war almost anyone could find work at well over the forty-cent legal minimum, it must be borne in mind that the Fair Labor Standards Act was a depression measure enacted when the majority of Congress and the public was not thinking in terms of another war and its effects on the labor market. In a depression period, when there is unemployment, a learner or a handicapped person may be able to find work only if he makes a concession on wages In economic terminology, they are the marginal or least desirable workers, who may have to offset their lack of ability by working for low wages.

Hours provisions

In reality, the section of the law that sets forth the provisions with regard to "maximum hours" does not set maximum hours at all. Rather, the law specifies a basic work week and requires that persons subject to the act and employed for longer than the basic week must be paid for the time in excess of that basic work period at a penalty rate There has been considerable confusion in the public mind, especially during the wartime labor shortage, as to the actual provisions of the "maximum hours" section of the law It does not

---

[5] Special provision was made for home workers in Puerto Rico and the Virgin Islands In these areas piece rates sufficient to yield the minimum hourly rate could be set by representatives of the wage-hour administration Representatives of the administrator could prescribe methods of determining the piece rates and the class of employees to receive them.

set a maximum number of hours that can be worked, and it could not prevent employers during the wartime labor shortage from requiring much more work time than the basic work week It is true that the law made such employment more expensive, but it did not prohibit it.

Like the minimum wage, the final standard on hours was to be reached by stages Once the act became effective, a maximum basic week of forty-four hours was set for the first year; for the second year this was lowered to forty-two hours, and for the third year and thereafter it was forty hours. Thus, the final goal on hours was to be reached in October, 1940, five years prior to attainment of the final wage level. It should be noted that the hours provisions mentioned above did not affect the number of hours per day in any way As far as the law is concerned, with the one exception discussed in the next paragraph, a person could be worked around the clock without penalty rates being required unless the weekly hours went beyond the forty-hour maximum.

The one case in which basic hours per day were set was in industries "found by the Administrator to be of a seasonal nature." In such occupations employees could be worked for twelve hours daily and fifty-six weekly for not more than fourteen work weeks in a calendar year without being paid at penalty rates The definition of a seasonal industry was so drawn as to prevent ordinary mercantile or manufacturing enterprises from taking advantage of this provision on the basis of the rush of business that they experienced from time to time. To be considered seasonal, industries had to be deprived of employment at certain times as a result of natural or climactic conditions.

Aside from the broad exemption of certain industry groups, there were two other general exceptions from the hours provisions. Although these exceptions have not yet been very significant, current trends in collective bargaining demands indicate that they might in time become more important These exceptions were that no employer should be held to have violated the act if he allowed his employees to work longer than the basic work week if such employment was:

"(1) in pursuance of an agreement, made as a result of collective bargaining by representatives of employees certified as bona fide by the National Labor Relations Board, which provides that no employee shall be employed more than one thousand hours during any period of twenty-six consecutive weeks.

(2) on an annual basis in pursuance of an agreement . . . made as a result of collective bargaining . . . which provides that the employee shall not be employed more than two thousand and eighty hours during any period of fifty-two consecutive weeks."

It will be seen that these provisions left the way open for unions and employers to agree on some sort of annual wage plan. Where agreements are made to pay certain classes of workers a set number, perhaps fifty, of pay checks for a full week's work over a twelve-month period, some arrangement is needed to cancel short and long weeks of work while paying a regular check each week regardless of fluctuations in hours of work in any one week.[6] Although there are many problems involved in the development of guaranteed annual wage plans, the desire therefor is increasing; the exception was very desirable, for otherwise such a balancing of work time would not have been permissible.

In addition to the above exceptions, the hours provisions were not to apply to employers doing the first processing of milk products, cotton or cotton seed, sugar beets, sugar cane, or maple sugar. And during fourteen weeks per year the provisions were not applicable in canneries and meat-packing establishments. All in all, the hours provisions of the law left much to be desired, there were many exemptions, and for persons covered by the act the provisions were not for maximum hours but for basic hours.

### Child labor provisions

The child labor provisions of the law were brief and bring to mind the first attempt by Congress to control child labor through the commerce clause. The gist of the provision was that, after the act became effective, "no producer, manufacturer, or dealer shall ship or deliver for shipment in commerce any goods produced in an establishment situated in the United States in or about which within thirty days prior to the removal of such goods therefrom any oppressive child labor has been employed." Oppressive child labor was defined as the employment of "(1) any employee under the age of sixteen years . . . or (2) any employee between the ages of sixteen and eighteen . . . in any occupation which the Chief of the Children's Bureau in the Department of Labor shall find and by order declare to be particularly hazardous for the employment of children between such ages or detrimental to their health or well being."

### Violations and enforcement of the act

Such were the basic wage, hour, and child labor provisions of the Fair Labor Standards Act. Obviously, failure to obey these rules was a violation of the act. There were, however, a number of other actions that also were violations. For example, failure to abide by

---

[6] For a lengthy study of guaranteed annual wages, their nature, extent, and the problems involved therein see Advisory Board, Office of War Mobilization and Reconversion, Latimer, Murray (research dir.), *Report on Guaranteed Wages.* Washington D.C. U.S. Government Printing Office, 1947.

an interpretation or regulation of the administrator was a violation. Also, any discrimination against an employee for filing a complaint or testifying under the act constituted a violation. Failure to keep or any falsification of records required under the act was another violation. Finally, this very significant prohibition should be noted Once the act became effective, it was declared unlawful for any person:

"to transport, offer for transportation, ship, deliver, or sell in commerce, or to ship, deliver, or sell with knowledge that shipment or delivery or sale thereof in commerce is intended, any goods in the production of which any employee was employed in violation of section 6 or section 7, or in violation of any regulation or order of the Administrator issued under section 14, except that no provision of this Act shall impose any liability upon any common carrier for the transportation in commerce in the regular course of its business of any goods not produced by such common carrier, and no provision of this Act shall excuse any common carrier from its obligation to accept any goods for transportation."

This prohibition was an attempt to get some degree of self-policing or enforcement of the act Under it, an employer who himself was innocent of any violation of the act could be held in violation if he knowingly transported, shipped, or sold goods that had been produced under conditions forbidden by the act This prohibition is sometimes referred to as the "hot goods provision."

By what means could the provisions be enforced? This might be done by the use of criminal penalties, civil penalties, or injunction proceedings. A person found guilty of wilfully violating the act was subject to a fine of not more than $10,000 or to imprisonment for not more than six months or to both. These were the possible criminal penalties. Under the civil penalties, an employer who violated the wage or hour provisions of the act was liable to be sued by his employees for their unpaid minimum wages or overtime. If the suit were successful, it proved to be rather expensive to the employer since he was made liable for the unpaid wages, for an equal sum as damages, and for a reasonable attorney's fee and costs—in other words, double wages and court costs. This particular provision should be kept in mind, since it served as the basis, along with an attempted redefinition of work time, for the great wave of "portal to portal" pay suits that were brought against employers in 1946 and 1947[7] A third means of enforcement was by injunction. The District Courts of the United States were given authority to issue injunctions restraining violations of the act. This would mean, for ex-

[7] See below, Ch XXV.

ample, that the courts could prohibit the shipment of goods, if there had been violations of the act, until wage restrictions or other remedial action had been taken.

### Constitutionality of the act

Two general subjects remain to be discussed in this presentation of the federal wage-hour law. the court interpretations of the act and the administrative applications of its provisions. Since no controversial law is fully effective and respected until it has been approved by the Supreme Court, it may be well first to note the opinions of that body concerning the act These were not long in arising, the validity being tested before the Supreme Tribunal in two cases in 1941. It will be remembered that two or three years is required in most cases to bring an issue before the Court and receive an answer; the law in question was not enforced until the fall of 1938 and questions could not be started through the court hierarchy before that time.

The first case testing the law that was ruled upon by the Supreme Court was that of *United States v. F. W. Darby Lumber Company.*[8] It was argued before the Court in December, 1940, and the decision was rendered in February, 1941 A brief background of the case may be of interest. The Darby Company was producing lumber in Georgia When charged with violating the wage and hour provisions of the act, it filed a demurrer contending that the law exceeded the powers granted Congress in the commerce clause because it sought to regulate intrastate business, that it took liberty and property without due process of law, a violation of the fifth amendment, and that it violated the tenth amendment by appropriating powers reserved to the states. When the District Court heard the case it supported the claim of the company and declared the act invalid. From that ruling the case was appealed to the Supreme Court

In arguing for the validity of the law, the federal attorneys were faced with one precedent case that was hard to reconcile with the court action that they were asking in the case before the bar. They argued that the Fair Labor Standards Act was a regulation of interstate commerce notwithstanding the fact that it had an indirect effect on working conditions within a state. But the *Hammer v. Dagenhart* decision of 1918, which had never been directly overruled, had held that a very similar provision directed solely at child labor was not constitutional. To meet this problem, the federal attorneys urged that the decision in the Dagenhart case had been repudiated in numerous cases and should be disregarded as having no influence on the question then before the Court.

---

[8] 312 U S. 100 (1941).

The opinion of the Court was written by Mr. Justice Stone. To his mind, three questions were involved and were to be decided upon. The principal question was whether Congress constitutionally could prohibit the shipment in interstate commerce of goods produced by workers whose wages and hours did not measure up to the standards set by the act. A second question was whether Congress could prohibit the employment of workmen at wages or hours poorer than the standard, if the workmen were producing goods for commerce A subsidiary question was whether Congress could require employers subject to the act to keep records showing work time and pay of employees.

The Court lost little time in indicating its approval of the legislation. As the justices viewed the problem, the manufacture of goods was not interstate commerce, but the shipment of goods across state lines was. The prohibition of such commerce was to the Court "indubitably a regulation of the Commerce." Pursuing this line of thought, the Court stated that:

"the power of Congress over interstate commerce is complete in itself, may be exercised to its utmost extent, and acknowledges no limitations other than are prescribed by the Constitution . . . that power can neither be enlarged nor diminished by the exercise or non-exercise of state power . Congress, following its own conception of public policy concerning the restrictions which may appropriately be imposed on interstate commerce, is free to exclude from the commerce articles whose use in the states for which they are destined it may conceive to be injurious to the public health, morals, or welfare, even though the state has not sought to regulate their use."

The latter part of the passage just quoted merits further examination. Congress may follow its own conception of public policy, that is, what is beneficial or harmful to the people, and may prohibit the movement of goods that it thinks injurious, even though the states have not chosen to regulate This power, as stated by the Court, is closely akin to the police power of the state. At a subsequent point in the opinion reference is made again to Congress following its own conception of public policy. This points up the fact that after 1937 the Court began to permit Congress to use the interstate commerce power as a basis for legislation equivalent to state controls under the police power. In fact, since 1935 Congress has, with subsequent court approval, assumed a considerable amount of federal police power under the commerce clause Referring to the broadening of the commerce power and to the motives that might underlie legislation based thereon, the Court stated, "Whatever their motives and purposes, regulations of commerce which

do not infringe some constitutional prohibition are within the . . . power conferred on Congress by the commerce clause." In this particular instance the law was to make effective the principle that interstate commerce should not be used as the instrument of competition in the distribution of goods produced under sub-standard conditions.

A further comment on the influence upon the states of commerce regulations is, considering the frequent verbosity and legal terminology of court rulings, clear and pointed. "The power of Congress over interstate commerce is not confined to the regulation of commerce among the states. It extends to those activities intrastate which so affect interstate commerce or the exercise of the power of Congress over it as to make regulation of them appropriate . . . to the exercise of the granted power of Congress to regulate interstate commerce." With this conclusion, the objection that the law violated the tenth amendment by invading powers reserved to the states could not be entertained.

That conclusion, by implication, also did away with the conception of the interstate commerce power expressed in *Hammer v. Dagenhart.* But the Court did not deal with that case by implication only. Mr. Justice Stone referred to the "powerful and now classic dissent of Mr. Justice Holmes" in that decision. It will be recalled that in that dissent the position was taken that Congress did have the power to prohibit the shipment of goods in interstate commerce and that the effects of such regulations on intrastate matters did not invalidate the power. The majority ruling in the Hammer case had not been followed, Mr. Justice Stone pointed out. Then, to make sure that there was no misunderstanding concerning the future status of that case, the Court stated "the conclusion is inescapable that *Hammer v. Dagenhart* was a departure from the principles which have prevailed in the interpretation of the commerce clause both before and since the decision and that such vitality, as a precedent, as it then had has long since been exhausted. It should be and now is overruled."

The contention that the act violated the fifth amendment by taking liberty and property without due process of law was not convincing to the Court. Since the *West Coast Hotel v. Parrish* case of 1937 had validated the regulation of wages, the due process violation of a wage regulation was held to be no longer open to question. And if such control was valid for the state legislatures under the fourteenth amendment, it was equally valid for Congress under the fifth. As for maximum hours of work, that subject had long been held to be one fit for legislative determination.

The third and subsidiary question raised by Mr. Justice Stone also

was answered in the affirmative. Since Congress was given the power to require that goods produced for shipment in interstate commerce must be produced under fair labor standards, it could require the keeping of adequate records Such records were necessary to show the degree of compliance with the law should the administrators of the law wish to check any company.

Thus, the law was upheld in its entirety as a valid exercise of congressional authority in so far as the wage and hour provisions of the act were concerned The child labor provisions of the law were not tested nor have they been tested to date However, in view of the clear and pointed repudiation of the Hammer case and of the fact that the prohibition in wage-hour law is very similar to the first federal child labor law, there can be no question of the validity of that section of the act Therefore, since 1941, it has been established that both the federal and state governments have the power to set standards for wages, hours, and child labor, as long as the standards are reasonable and apply to the field of control appropriate for action by Congress or the state, as the case may be.

A second Supreme Court ruling of 1941 is of interest in examining the validity of actions taken under the Fair Labor Standards Act.[9] This case was brought before the courts to test the validity of the appointment of industry committees and of the rulings of the administrator based on the recommendation of these committees.[10] Specifically, the contested action was one of the administrator based on the recommendations of the cotton textile industry committee. The general nature of the industry committees has been discussed above and need not be repeated. With the appointment of such a committee and the public hearings held on the recommendations of each one, the question was whether or not the action taken by the administrator in pushing minima toward the forty-cent goal as quickly as possible was a usurpation of legislative powers that were the province of Congress The N.I R A had been invalidated, in part at least, because of the fact that Congress permitted powers that only it possessed to be exercised by others. In that case, however, the administrators of the Recovery Act were exercising almost unlimited powers with little in the way of controls or restrictions laid down by Congress. In the case of the Fair Labor Standards Act, Congress did delineate the composition and powers of the industry committees and of the administrators acting on their recommendations. Were the actions in question a new instance of delegation running riot or were they reasonable and defensible?

---

[9] *Opp Cotton Mills, Inc v Administrator,* 312 U S 126 (1941)

[10] There was an attack on the constitutionality of the act also, but it was disposed of by referring to the decision in the Darby case

The Opp case was argued before the Court and ruled upon at the same time as the Darby case The Opp Cotton Mills Company was an Alabama firm, it was aggrieved by an order of the administrator, made pursuant to a recommendation of the appropriate industry committee, to establish a minimum wage of thirty-two and one-half cents per hour. The District Court upheld the order of the administrator, and the case was carried to the Supreme Court for a final ruling.

Mr. Justice Stone wrote the opinion of the Court. In his view, three questions were involved. The first issue was whether the act violated the Constitution. That matter was disposed of by reference to the Darby decision that, as noted above, was delivered on the same day. The second question was whether the wage ordered by the administrator was valid in view of his procedure and that of the industry committee. The third issue was whether the order was invalid because it was unsupported by such substantial evidence as would be necessary if due process of law were observed.

On the matter of whether the administrator and the industry committee were legislating rather than administering, the Court held that.

"the mandate of the Constitution that all legislative powers granted shall be vested in Congress has never been thought to preclude Congress from resorting to the aid of administrative . . . boards as fact-finding agencies whose findings, made in conformity to previously adopted legislative standards or definitions of congressional policy, have been made prerequisite to the operation of its statutory command."

At a later point in the decision a similar but broader and more sweeping approval of congressional delegation of authority appears.

"The Constitution, viewed as a continuous operative charter of government, is not to be interpreted as demanding the impossible or the impracticable. The essentials of the legislative function are the determination of the legislative policy and its formulation as a rule of conduct These essentials are preserved when Congress specifies the basic conclusions of fact upon . . . which . . it ordains that its statutory command is to be effective"

With this philosophy of the powers that Congress was capable of delegating, the groundwork was laid for approval of the actions of the administrator and the industry committees. In so doing, the Court examined: the manner of defining an industry, in this case textile, the selection of the industry committee, and the leeway left under the law for administrative determination of facts and policies.

In the opinion of the Court, these matters were within the power of Congress to delegate Therefore, no basis for invalidity was found in the powers delegated to the administrator

As to the alleged violation of due process of law required by the fifth amendment, the Court ruled that the public hearings held before the administrator satisfied the requirement of due process. Further discussion of the activities of the administrator all led to the conclusion that they were within the powers that Congress could delegate and that they were reasonably carried out. Therefore, the constitutionality of the act and the validity of the industry committee device for raising wages more rapidly than the law specified were both approved early in 1941, and the time for effective and unhesitating application was at hand. The Darby decision was of continuing importance because the general application of the law continues; the inflation and rising wages of the war and postwar periods largely nullified the minimum-wage provisions, although the maximum-hours provisions retain their importance. On the other hand, since all wage minima reached forty cents per hour by July, 1944, the Opp decision approving the actions taken under the committees has no current importance.

While the law has remained on the statute books, some of its provisions have become out of date. The specified minimum, which was set during a depression, has not been changed during the inflation of the mid-forties and therefore needs revision. Although bills specifying an upward revision in wage rates have been proposed, they have not been enacted One postwar revision has been made in the law to deal with the great number of "portal to portal" pay suits filed by unions in 1946 and 1947 This modification will be noted subsequently.[11]

### Application of the act

With the constitutionality of the law established, the interpretation and application of it became important. At least two problems are involved in the application; one question is, to which individual plants within an industry the law should apply, that is, which are the ones that are in interstate commerce or are producing goods for commerce? The second question is, once it is established that a concern is considered to be in commerce or production therefor, what persons in its employ are and are not to be covered? It will be recalled that not all employees in certain plants are necessarily under the act and that coverage for any one employer may be split, with some workers subject to the law and others outside of it. Let

[11] See below, Ch XXV

us examine now some of the more important interpretations and administrative rulings under the law.[12]

The first interpretative bulletins issued under the new law blocked out the broad general coverage of the act; this generalized coverage gradually was broken down and stated in more detail In the first general statement on coverage it was held that workers considered as covered because they were engaged in commerce included, typically but not exclusively, employees in telephone, telegraph, radio, and transportation industries. Also, employees in establishments that are an essential part of the stream of commerce were included with those engaged in commerce. Typical of these were employees of warehouse and storage facilities.

Specification of the workers included under the production of goods for commerce was not so simple. The law applied, typically but not exclusively, to manufacturing, processing, or distributing plants a part of whose products go into commerce. However, it was pointed out that the law was applicable not only to persons actually working on the goods but to those engaged in any process or occupation essential to their production. Thus, maintenance workmen, watchmen, clerks, stenographers, and messengers would be covered because their work was contributory to the final production of the goods. If an employer desired to narrow the coverage of employees in his place of business, he had to assume the responsibility for proving that the workers he sought to exclude were completely divorced from the processes necessary for production of the goods going into commerce.

The act was held not to cover firms whose employees worked on materials derived within the state to yield a product disposed of within the state, even though the product came in competition with goods brought into the state from elsewhere It further was stipulated that the applicability of the act was not dependent upon the location of the work; employment done at home was covered just as employment in a factory. Finally, the first interpretation specified that whether wage payments were on an hourly, weekly, monthly, or piece-work basis the law was equally applicable as regards hours and wages.

Many other questions of coverage remained to be clarified, however. As to when an employer was producing goods for commerce, it was ruled that he was so engaged when he hoped or had reason to believe that the goods being produced would move in interstate commerce. If, however, a lumber company sells material for the

[12] The basis of the following discussion is found in the interpretative bulletins of the Wage-Hour Administration Reprinted in Prentice-Hall's *Complete Labor Equipment,* Vol. 1, *Wage and Hour.*

construction of a project within the state and some change in plans or needs stops the project with the result that the lumber is resold outside the state, the producer of the lumber will be deemed as having had no reason to expect such action and will not be subject to the act. On the other hand, the lumber dealer who sold material to a furniture manufacturer within the state knowing or assuming that part of the furniture would be shipped outside of the state would be covered, as would the button manufacturer who sold his product to a clothing manufacturer in the same state but with a national market. Similarly, a producer who does not ship his goods across state lines, but sells them F.O.B. or disposes of them to a same-state jobber or warehouseman, who in turn ships them out of the state, is subject to the act. Also, the production of a good not used in the manufacture of an article but necessary for its movement in commerce is subject to the act. The production of cartons, containers, shoe boxes, and the like are cases in point.

Another type of problem similar to those that have been noted above arose out of the practice of subcontracting parts of the production of a good. For example, a clothing manufacturer sends material to a contractor who sews the material and returns it. The contractor is subject to the requirements of the law if he has reason to believe that the articles on which his employees work will find their way into interstate commerce.

A producer who obtains raw materials from outside the state and turns out a good used almost entirely within the state is not subject to the act, thus, a baker who purchases flour from outside the state would not be covered. But the production of goods all of which are used locally is not always outside the coverage of the law. Employees of a tool and die concern whose products were sold locally to a manufacturer whose production in turn went into commerce would be subject to the law. The line becomes a little vague at times in view of the fact that it has been ruled that those employees of a bakery who order raw materials may be covered by the law. This emphasizes the fact that coverage is an individual matter.

Generally, the employees of local builders and contractors are not considered subject to the act. However, workers employed by contractors who repair, reconstruct, or maintain railroads, bridges, highways, or pipelines are subject to the act. Similarly, repairing or reconstructing buildings used in the production of goods for commerce are held subject to the provisions of the law.

While local retailers specifically were exempted under the law, wholesalers have been construed as being in commerce and therefore subject to it. However, in many cases wholesalers may sell some

goods directly to consumers in addition to selling to the trade. In such cases, since coverage is on an individual basis, it is possible for the wholesaler to segregate the workers engaged in the direct sales from those who are regular wholesale employees

Where workers are engaged in the production of goods for commerce, the act does not specify the proportion of the goods produced which must go into interstate commerce in order for the worker to be covered In interpreting this problem, the administrators stress the fact that Congress and the President both intended the banning from interstate shipment of all goods produced under substandard conditions In that view, it becomes unlawful to ship *any* goods on which *any* employee has worked in violation of the provisions. The portion of the employee's time that must have been spent on the production of goods for commerce in order to subject him to the act is not clear. Apparently, there must have been a substantial part of the worker's time spent on goods for commerce before the law applies. A figure of twenty per cent has been suggested as a minimum; however, the federal High Court has set no figure and probably would be unwise to attempt to do so [13]

The exemption of retail and service establishment employees from the act, if the greater part of their selling is intrastate, required extensive definition of exactly what was considered a retail or service establishment. The gist of the stated opinion of the administrator was that a retail establishment is just about what the public thinks it is, that is, an establishment characterized by many small sales to the consuming public for direct consumption. Many questions of degree may arise, so the picture is far from clear cut What, for example, is the amount of non-retail sales necessary to change a classification, or the amount of alteration or processing of clothing that will make the clothier a producer rather than a retailer? A service establishment such as a barber shop or laundry clearly is not covered; on the other hand, a linen supply company serving railroads and hotels would be covered.

Commercial banks, a type of service organization, are held to be subject to the law, as are mutual savings banks and savings and loan associations. Similarly, security dealers and automobile-finance concerns have been ruled subject to the law, as have insurance companies Newspapers have been ruled as covered, unless small and local,[14] but the local sale and distribution of papers has not There are many other types of service establishment where divisions

[13] *Prentice-Hall Labor Course*

[14] Small, local, non-daily newspapers with less than a specified circulation are exempted from coverage by the Fair Labor Standards Act, Sec 13

have been made on coverage, but they are so small and unimportant as to make discussion unnecessary at this point.

Some question arose as to whether a collective agreement entered into and providing lower wage rates or a longer basic work week than stipulated in the law could be observed. Such agreements were invalid if less exacting than the law. When the agreement called for more than the law specified, the law did nothing to release the parties from any obligation assumed to each other.

Union-employer agreements could be used in two situations as a means of escaping the hours-per-week provisions of the act If the agreements are made with *bona fide* representatives of the workers and if they provide for not more than 1000 hours in six months or 2080 hours per year, the requirements of the basic work week can be ignored. Thus, under the 1000-hours provision, workers in isolated areas and during rush periods can work longer hours without penalty rate Similarly, those who are working under some fixed annual-wage plan can do likewise. In the latter case, however, the guaranteed wage must be 2080 times the regularly paid hourly wage rate. An employer cannot satisfy the requirements of the law by paying 2080 times the minimum rate of forty cents per hour if the specified wage rate for an individual is ninety cents per hour. To satisfy the law, the worker must be assured of an annual wage based on ninety cents per hour.

It should be borne in mind that the exemption is not complete in the above cases. Where workers are employed under the provisions of an agreement specifying the work time over a longer period the company is excused from observing the forty-hour work week. However, employees may not be worked more than twelve hours daily or fifty-six hours weekly without penalty rates being paid. And if the 1000 or 2080 hours of work are exceeded in the set period of time, the exemption from the regular provisions of the law is lost and penalty rates are required to be paid on all over the standard basic work week.

The child labor provisions have been interpreted and applied. The law as stated provided that goods were barred temporarily from interstate shipment if oppressive child labor had been employed in their production. Oppressive child labor included the employment of children under age sixteen in most occupations and between sixteen and eighteen years in industries labeled hazardous by the Children's Bureau. The Chief of the Children's Bureau was empowered to determine the conditions under which children from fourteen to sixteen years of age could be employed without such employment being deemed oppressive The law forbade the employment of children of this age group in mining and manufacturing establishments.

An employer satisfies the law if he has in his possession a certificate stating that any employed minor is of employable age. These certificates can be issued by a representative of the Children's Bureau or by an approved state labor agency. The specific evidence on which age may be certified need not be reviewed here, in general, some substantial proof of age is required, and children from fourteen to sixteen years may be certified to work only for limited periods in certain industries. These industries may not include the following manufacturing or mining, hoisting apparatus and power-driven machinery, operation of motor vehicles, and messenger service Hazardous occupations also are excluded, since they are prohibited to all under age eighteen For children from fourteen to sixteen years of age, employment must be outside of school hours, between 7·00 A M. and 7:00 P.M., and not in excess of three hours on a school day, eight hours on other days, or eighteen hours in a school week At times when school is not in session a youth of fourteen to sixteen years may be certified for employment up to forty hours per week.

In determining industries that are hazardous and therefore are closed to the employment of children under eighteen years, an investigation is made by the Children's Bureau. This is followed by a public hearing on the proposed order of the Bureau. Unless proof is advanced that amendment of the order is needed, it then becomes effective. The following list of industries has been designated as having all or most of the occupations therein of a hazardous nature. explosives, coal mining, operation of motor vehicles, lumber and sawmills, radioactive substances, and operation of power-driven hoisting apparatus.[15]

Payment of the required minimum wage may not be made in scrip, tokens, credit cards, or any other medium that is neither money nor something readily converted at face value into money. Likewise, any kind of kickback of wages by an employee is forbidden. However, employers may make certain deductions from the pay of their workers without violating the law. Obviously, taxes, group insurance premiums, and union dues may be deducted In addition, the employer may deduct from wages the reasonable cost of facilities customarily provided the employee, such as housing, meals, fuel, or goods provided on credit at the company store So long as no more than the reasonable cost of these facilities is deducted, the final payment to a workman may be less than the legal minimum without violating the law.

A further exemption from the maximum-hours provisions of the law excludes persons covered by the Motor Carrier Act of 1933. In

[15] *Prentice-Hall Labor Course*

essence, this removed from the regulation of the Fair Labor Standards Act all operators, mechanics, loaders, and helpers of common, contract, and private motor carriers and of pick-up and delivery concerns However, the transportation within a state of goods to be used to facilitate interstate commerce, as food or ice to service a train, or in the production of goods for commerce still comes under the jurisdiction of the act Other previously noted exemptions, such as agricultural workers, seamen, and fishery workers, although carefully defined in interpretations of the act, do not vary sufficiently from commonly assumed definitions to warrant discussion in this brief survey.

Since the determination of what constituted hours worked became so important after the war, the interpretation of the administrator is worth noting here. This will serve as a basis for a subsequent examination of the "portal to portal" pay suits of 1946 and 1947. Work time was construed by the administrator to mean, in general, all the time that a worker was required to be on duty under the employer's directions or all the time that he was permitted to work, whether required to do so or not. In essence, this meant time from the beginning to the end of the work day with the exception of meal periods. However, many questions arose as to how this principle should be applied in specific cases.

For example, questions arose as with respect to time spent waiting for work at the requirement of the employer Such a case would occur when a breakdown stopped work but when the probability of early repair caused the employer or one of his supervisors to direct that the workers stand by to resume work. Although the employee may not have been at work, his time was not his own and he was under the direction of the employer. Similarly, a messenger or chauffeur, although not performing services constantly, is available for work and cannot spend his non-working time as he pleases, so all time on duty counts as work time. In some cases a person could be on call for work but allowed to spend his time away from the work premises if he could be found at any time. In such cases the time on call but not actually called for duty would not be construed as work time

An equally complicated situation arises out of travel time and time spent in preparation for work. If it is necessary to travel for an appreciable amount of time in order to perform the duties that are assigned an individual, then the travel time should be construed as work time. Although this fact was recognized in early interpretations, no figure was set on the amount of time per day that would be sufficient to be classed as "unreasonably disproportionate" and therefore considered a part of the work day. Although it was not men-

tioned in these early instances, the same type of problem was present in the matters of the amount of time required for baths or changing clothes when jobs were such as to make these necessary. In both instances, travel and preparation, the basic problem was to determine when an amount of time ceased being a trifle and became substantial Since the law avowedly does not concern itself with trifles, a substantial amount of time had to be involved in order for it to be counted in with work time

The exclusion of learners, apprentices, and handicapped workers from the minimum-wage provisions of the act requires careful definitions of such categories and rules as to the permissible extent of the exceptions An apprentice is a person at least sixteen years of age covered by a written apprenticeship agreement approved by an appropriate federal or state apprenticeship organization Such agreement is required to provide for not less than 4000 hours of reasonably continuous employment, participation in an approved schedule of work experience, and at least 144 hours per year of supplementary instruction Rules for the application for and issuance of certificates authorizing the employment of apprentices are carefully worked out, following roughly the requirements sketched in this paragraph.

Learners present somewhat the same problem as apprentices, and permission to hire at a rate below the minimum can be obtained only by securing certificates for such employment. The difference between a learner and an apprentice is one of degree; both are learning how to do a skilled job, but in the case of a learner the training period is much shorter than for the apprentice. No learners' certificates are to be issued unless it is shown that a sufficient number of experienced workers are not available and that employment opportunities for learners would be curtailed without the special permits

Handicapped workers also can be hired by special permit at less than the legal minimum Their case differs from those of apprentices and learners primarily in the permanence of the inability to earn the minimum wage. When apprentices or learners acquire certain requisite skills, they move out of their special category, a man who has lost a hand or his sight is handicapped for life on many or perhaps all jobs. Although with careful placement many handicaps can largely be by-passed, this is not always the case; thus the special wage-rate provisions for the handicapped. These are not to be invoked under the following conditions: for temporary disabilities, for those who are slow and inexperienced; for reasons of age alone (except in very unusual circumstances); or for piece-rate earnings low owing to the rates set. Under other conditions,

however, certificates for employment at sub-minimum rates can be granted.

The interpretation and application of the enforcement provisions of the act merit some additional attention. The act provides fines up to $10,000 and imprisonment up to six months or both for those who wilfully violate any of its provisions The word "wilfully" may be interpreted in a number of different ways; essentially, it seems to have been interpreted to mean violation with a knowledge of so doing. Imprisonment is not to be imposed for the first conviction under the act. However, an employer who fails to pay his fine for a first offense can be imprisoned On the other hand, the law gives no power for confiscation of goods produced under substandard conditions [16]

With regard to employees' wage suits, both the federal district courts and state courts have jurisdiction. The former derive such authority from the Judicial Code that provides district courts with jurisdiction over all suits, regardless of the amount of money involved, if they arise out of laws regulating commerce. Since the Supreme Court has received cases that come to it from state courts, its jurisdiction also is assured.[17]

As to injunctions against the shipment of goods produced in violation of the act, such action can be taken whether the violations are wilful or not. Contrary to most injunction proceedings, it is not necessary to show the threat of irreparable damage to property in order that the injunctive writ be issued. Nor is jury trial provided in such cases. The principles followed in the endorsement of legislation by injunction are somewhat different from those that apply in ordinary equitable relief.

Such, in brief, are the provisions of the Fair Labor Standards Act and the administrative and judicial interpretations of these provisions issued. Although the law was a long step forward when it was enacted, it has suffered, as does most economic legislation, from inflexibility Until 1948 there have been no changes in the minimum-wage, maximum-hour, and child labor provisions of the law since it was passed Forty cents per hour for a forty-hour week did not provide an adequate wage for families even in the 1930's when the law was enacted But since that time, costs of living have risen markedly While the shortage of labor and the economic action of unions have forced wage rates up in most areas and occupations, there still are millions of workers whose wages need support by a legally fixed minimum and at a rate of more than forty cents per hour. The

---

[16] *Prentice-Hall Labor Course.*

[17] *Ibid*

inflexibility of legislation once it has been enacted is one of the most valid criticisms that can be made of economic controls.

## Questions

1. Do substandard wages and working conditions have as clear a relationship to interstate commerce as was imputed in the statement of policy of the Fair Labor Standards Act?

2. During World War II many persons bemoaned the Fair Labor Standards Act, saying it set a forty-hour work week when longer hours were needed. To what extent did the act restrict work time?

3 How far can federal controls over wages and hours be extended under the interstate commerce power?

4. What were the functions of the industry committees? How were they appointed and what was their composition?

5. Which Supreme Court ruling, *Hammer v. Dagenhart* or *U. S. v. Darby Lumber Co.*, shows the more defensible interpretation of constitutional provisions?

6. The Fair Labor Standards Act sets basic hours How is work time defined? What time, if any, other than the time actually spent at the place of work can definitely be called work time?

# CHAPTER XV

# CONTROL OF THE LABOR INJUNCTION

## Injunctive abuses prior to 1932

This chapter and the two following will trace government policies toward the right to organize up to the second World War. They will deal with both the negative policies, such as those that discourage or eliminate obstructions to organization, and the more positive ones that extend an outright guarantee of the right of workers to join unions of their own choice The first subject for examination is the attempt by the federal government to control the use of labor injunctions

It will be remembered that early in the twentieth century organized labor had engaged in a concerted campaign for legislative restriction of the use of labor injunctions At first they believed that they had gained the desired relief in the Clayton Act However, ten or fifteen years of application of the law led them to at least three disillusioning conclusions. These were: first, the act did little or nothing to remove or limit the use of the injunction in labor disputes, second, it made it possible for individuals as well as the government to secure injunctions against violations of the anti-trust laws; third, out of rulings on the act, especially the Duplex Case, came a restrictive definition of a labor dispute[1] Under this concept, members of a union that had a grievance against an employer were not parties to the dispute unless they were employees of the employer involved in the disagreement. This definition was dealt with in the Norris-LaGuardia Act.

By the time of the Bedford Cut Stone decision in 1927 trade unions had a thousand examples of the manner in which the injunction could be used against them and hundreds that proved the ineffectiveness of the Clayton Act. Almost all usage of the injunction was against labor, moreover, a few orders had been issued at the request of labor, but these were rare and some of those so issued were to restrict actions of a rival union rather than those of an employer.[2] But it was not only the quantity and preponderant bias of the injunc-

[1] The Duplex case and others referred to here were reviewed previously in Ch VI

[2] For a summary of injunctions issued on behalf of unions see Frankfurter, F, and Greene, N, *op cit*, pp 108-112

tions issued that sparked the new drive by organized labor for relief from injunctions. All of the abuses previously noted were still present: the blanket coverage of all persons whomsoever, the punishment of violators by contempt, the lengthy legal proceedings that were involved in appeals, the enjoining of activities whose legality was clear, and the weakening of union morale by the issuance of such orders. All of these abuses helped to build a union attitude that something must be done to take from employers the ready access to court orders that could be used to combat labor more effectively.

Although labor was faced with injunctions issued by both state and federal courts the greater number of which originated with the states, it was advisable to move for controls over injunctions by federal courts first because the higher courts were likely to be drawn into the more important cases, in addition, federal laws would serve as a pattern for future state legislation. The move for legislative restriction of the power of the courts to issue injunctions began under a cloud of doubt, owing to a 1921 Supreme Court decision in an Arizona anti-injunction statute.

**Early state regulation of injunctions**

The Revised Statutes of Arizona, 1913, contained a passage which provided, in part, that:

"No restraining order or injunction shall be granted by any court of this state, or a judge or the judges thereof, in any case between an employer and employees, or between employers and employees, or between employees, or between persons employed and persons seeking employment, involving or growing out of a dispute covering terms or conditions of employment, unless necessary to prevent irreparable injury to property or to a property right . and no such restraining order or injunction shall prohibit any person or persons from terminating any relation of employment, or from ceasing to perform any work or labor, or from recommending, advising, or persuading others by peaceful means so to do"

A court case testing the validity of this provision was begun in April, 1916. The dispute concerned the peaceful picketing of a restaurant in Bisbee by striking cooks and waiters. The picketing proved effective, with business receipts falling sharply; consequently, the owner of the restaurant asked an injunction to stop the picketing. The plaintiff maintained that the law quoted was in violation of the fourteenth amendment of the Constitution, in that he was deprived of property without due process of law and denied equal protection of the laws The union maintained that there was no proof that irreparable damage to property was being threatened.

When the case was heard, the county court upheld the law, dismissing the complaint, on appeal, the Arizona Supreme Court upheld the decision. An appeal was carried to the federal Supreme Court.

When the case was heard,[3] the federal Court reversed the rulings of the state courts. As the Court viewed the problem, "Plaintiff's business is a property right . . . and free access for employees, owner, and customers to his place of business is incident to such right." After some review of the complaint of the owner, the majority voiced the opinion that "a law which operates to make lawful such a wrong as is described in plaintiff's complaint deprives the owner of the business and the premises of his property without due process, and cannot be held valid under the Fourteenth Amendment." Not only was property taken, but it was decided also that "the plaintiffs have been deprived of the equal protections of the law."

Mr. Justice Holmes and Mr. Justice Brandeis wrote dissenting opinions that took sharp issue with the majority decision The former Justice was, as usual, brief and sharp. He quarreled with the concept that the right to do business was property and that the rights of ownership could not be substantially curtailed if need be. His most cogent point of dissent, however, was one which was made in other opinions. In his language, "There is nothing that I more deprecate than the use of the Fourteenth Amendment beyond the absolute compulsion of its words to prevent the making of social experiments that an important part of the community desires."

Mr. Justice Brandeis went to greater lengths to dissent; his opinion was concurred in by Justices Holmes and Pitney. As usual, the Brandeis dissent was a dissertation on the law as it related to social and economic problems. To Justice Brandeis, "This right to carry on business—be it called liberty or property—has value . . . but for cause the right may be interfered with and even be destroyed. . . . Practically every change in the law governing the relation of employer and employee must abridge, in some respect, the liberty or property of one of the parties." The validity of this point of view cannot be denied; the entire history of legislation is a history of state restriction of the manner in which individuals can pursue what they believe to be their own best interests. With most regulations that are reasonably drawn and applied, there would be little hardship involved. But the minority who may wish to ignore legal limitations may feel that the law deprives them of liberty. Even so, the deprivation is not a violation of the Constitution if liberty or property is taken with due process of law. Since "due process" can never be pinned down completely, there is ample opportunity for pleas

[3] *Truax v. Corrigan* 257 U S 312 (1921).

that certain measures violate the fourteenth amendment by taking property without due process.

Another point of Mr. Justice Brandeis' dissent is worth noting. Concerning the right of states to restrict the authority of their courts to grant injunctions, he said:

> "States are free since the adoption of the Fourteenth Amendment as they were before, either to expand or contract their equity jurisdiction The denial of the more adequate equitable remedy for private wrongs is in essence an exercise of the police power, by which, in the interest of the public and in order to preserve the liberty and the property of the great majority of the citizens of a State, rights of property and the liberty of the individual must be remoulded, from time to time, to meet the changing needs of society"

To the social scientist, the concept that the law should be a changing body of principles directed at all times at protecting the needs of society is basic to a sound system of government controls in economic relationships. In a dynamic economy the powers of various groups and their ability to protect their own interests change markedly from time to time. Under such conditions, the regulatory framework in which economic action takes place must change. Any attempt to impute to legislative controls a timeless ability to fit all situations is unwise and is not founded on "the economic facts of life"

In view of the Truax decision, there was some doubt about the feasibility of anti-injunction legislation. However, the later 1920's showed some signs of a change in attitude. The New York Court of Appeals refused in two cases carried up to it to sanction labor injunctions. In 1928 both major political parties endorsed anti-injunction legislation; in 1930 the Supreme Court rendered a decision on the Railway Labor Act of 1926 showing a change in its previous attitude toward labor unionism[4] Although it was not certain that anti-injunction legislation would be approved, the prospect looked brighter and such laws were urged in various states and in Congress. The move in Congress bore fruit in March, 1932, when both houses passed by large majorities the federal anti-injunction law.[5]

## Provisions of the Norris-LaGuardia Act

The Norris-LaGuardia Act is of importance for two reasons. One is the relief it has afforded labor from the abusive use of the injunc-

---

[4] *Texas and New Orleans Railroad v Brotherhood of Railroad Clerks*, 281 U S. 548 (1930). See also. Segal, M J, *The Norris-LaGuardia Act and the Courts*, pp 5-6. Washington, D C American Council on Public Affairs, 1942

[5] 47 Stat 70, 1932.

tion. The act is also significant for its statement of public policy. Prior to its enactment it had not been common practice to precede legislation by such a statement. In this case it presumably was done to justify the provisions of the law when they came before the Supreme Court[6] The statement is of great importance because it specifically attests the public policy of the nation to be that workers have the right to organize in unions of their own choosing if they so desire. Here was stated for the first time a recognition of the fact that for many years the sympathies of legislatures and the courts had tended to be in favor of the owners of property The doctrine, so evident since the framing of the Constitution, that the ownership of property gave a right to expect more privileges from the government than were extended to the propertyless took a backward step in the statement that preceded the body of the Norris-LaGuardia Act.

Except for railroad workers, this was the first time in the nation's history that a flat statement was made signifying the sanction by the government of the right of self-organization. The statement of policy provided in part:

> "Whereas under prevailing economic conditions, developed with the aid of governmental authority for owners of property to organize in the corporate and other forms of ownership association, the individual unorganized worker is commonly helpless to exercise actual liberty of contract and to protect his freedom of labor, and thereby to obtain acceptable terms and conditions of employment, . though he should be free to decline to associate with his fellows, it is necessary that he have full freedom of association, self-organization, and designation of representatives of his own choosing, to negotiate the terms and conditions of his employment, and that he shall be free from interference, restraint, or coercion . . in the designation of such representatives or in self-organization. . "

Since it was clear that injunctions had been used in numerous instances in the past to restrict the actions of organized labor or the organization of the unorganized, it was logical for the Congress to move from the public policy statement to the establishment of controls over the issuance of injunctions by the federal courts. This the Congress proceeded to do; any such controls of state courts had to be imposed by state legislatures Congress did not forbid the issuance of injunctions in labor disputes, but it did, much as in the Clayton Act, state good injunctive practice and policy to be followed by the federal courts when injunctive relief was sought in the course of a

[6] *Prentice-Hall Labor Course*

labor dispute. One difference between the Clayton Act and the Norris Act was that the latter was the more carefully written, with little opportunity for varied interpretations. The wording used also showed that the framers of the law were aware of the problems and abuses that had been associated with the labor injunction

Although the terminology was not used, the yellow-dog contract was declared to be contrary to public policy and was made unenforcible in any court of the United States; it was not to be used as a basis for injunctions This part of the law was to prevent a recurrence of such cases as the Hitchman decision. To guarantee that the prohibition was clear in every way the law defined the unenforcible anti-union contracts as "Every undertaking or promise hereafter made, whether written or oral, express or implied, . . whereby (a) either party to such contract or agreement undertakes or promises that he will withdraw from an employment relation in the event that he joins, becomes, or remains a member of any labor organization or of any employer organization."

With the yellow-dog contract disposed of in this manner, a number of actions were listed against which the federal courts were forbidden to issue injunctions. As the law read, the courts could not:

"prohibit any person or persons participating or interested in such dispute . . from doing, whether singly or in concert, any of the following, . .

a. Ceasing or refusing to perform any work or to remain in any relation of employment,

b. Becoming or remaining a member of any labor organization or of any employee organization . . . ;

c. Paying or giving to, or witholding . . . , any strike or unemployment benefits or insurance or other moneys or things of value,

d By all lawful means aiding any person participating or interested in any labor dispute who is being proceeded against in, or is prosecuting, any action or suit in any court of the United States or of any State,

e. Giving publicity to the existence of, or the facts involved in, any labor dispute, whether by advertising, speaking, patrolling, or by any other method not involving fraud or violence;

f. Assembling peaceably to act or to organize to act in promotion of their interests in a labor dispute,

g Advising or notifying any person of an intention to do any of the acts heretofore specified,

h Agreeing with other persons to do or not to do any of the acts heretofore specified; and

i. Advising, urging, or otherwise causing or inducing without fraud or violence the acts heretofore specified, regardless of any such undertaking or promise as is described in section 3 of this Act" [the section which declared yellow-dog contracts to be contrary to public policy.]

Essentially, these prohibitions denied to federal courts the right to forbid striking, peaceful picketing, and giving or paying strike benefits or other funds in case of a strike. Nor could a court hold that persons doing in concert any of the acts listed above were guilty of an unlawful combination or conspiracy. The provision that the courts were not to prohibit the actions whether taken singly or in concert was an attempt to put an end to the time honored doctrine of conspiracy that found its way into so many labor decisions even in the twentieth century Further, no officer or member of an organization nor the organization itself should be held responsible or liable for unlawful acts of individual officers, members, or agents except on clear proof of actual participation in or authorization or ratification of the action after a clear knowledge thereof Need for this provision was found, in part at least, in the situation that developed in the *Loewe v. Lawlor* case. In that decision the Supreme Court held individual members of the Hatters' local union financially liable for damages resulting from a secondary boycott. Yet many of the union members insisted that they took no part in the actions for which they were held liable.

Whatever the real situation in the Loewe case, it is true that much union action is not the result of unanimous union authorization. There is, however, a real and serious question as to how far union members can be expected to be responsible for the action taken by leaders and how far leaders can be expected to be responsible for unauthorized action of the rank and file. It seems clear that a greater degree of responsibility for actions of any group within a union must be expected, now that unions have grown so much larger and more powerful This is not intended to imply that unions try to escape responsibility; it is rather to suggest that both officers and members must assume some responsibility for actions taken by the union because unions must be responsible economic organizations if they are to continue.

Notwithstanding the limitations on the issuance of injunctions, there were certain instances under which federal courts might grant them Temporary or permanent injunctions in a case growing out of a labor dispute could be issued only after a hearing of which notice had been given to the interested party. At this open hearing it was necessary that the court be convinced that one or more of the following conditions existed. (a) that unlawful acts had been or would be committed unless restrained, in which case injunctions might be issued only against the persons actually making the threat, committing the act, or ratifying the act with actual knowledge of it, (b) that substantial and irreparable injury to complainant's property would result without the aid of injunction; (c) that the complainant

would suffer greater loss without the relief than would the defendant if the order was granted, (d) that the complainant had no adequate remedy at law, and (e) that public officials were unable or unwilling to provide adequate protection.

Despite such restrictions established on the issuance of temporary or permanent injunctions, temporary restraining orders might still be issued without a hearing of both parties if the complainant could convince the judge by testimony given under oath that failure to issue the order would result in substantial irreparable injury. The temporary orders could remain valid only five days, and for that long only if the complainant provided bond to reimburse the defendant, in case it developed that the order was improperly issued, for the losses sustained.

Another restriction required that injunctions be issued only when the complainant came into court with clean hands. He must have complied with the law and made "every reasonable effort to settle the dispute either by negotiation or with the aid of any available governmental machinery of mediation or voluntary arbitration." If an injunction was issued it could prohibit only the specific acts complained of by the petitioner.

In cases arising under the act in which a person was cited for contempt of court he was entitled to trial by jury unless the contempt was in the presence of the court "or so near thereto as to interfere directly with the administration of justice." In the case of a non-jury trial, the defendant accused of contempt might demand the withdrawal of the judge sitting in the proceeding. On such demand, the judge was obliged to retire and another was named to hear the case in question.

To close the act the term "labor dispute" was defined. It will be seen that the definition was very broad, the purpose being to remove the possibility of decisions such as in the Duplex case, in which it was ruled that there was no labor dispute because the parties did not stand in the relationship of employer and employee. With the definition in the Norris-LaGuardia Act such a ruling could not occur. A case was said to grow out of a labor dispute:

"when the case involves persons who are engaged in the same industry, trade, craft or occupation; or have direct or indirect interests therein, or who are employees of the same employer, or who are members of the same or an affiliated organization of employers or employees."

Further:

"The term 'labor dispute' includes any controversy concerning terms or conditions of employment, or concerning the association or representation

of persons in negotiating, fixing, maintaining, changing, or seeking to arrange terms or conditions of employment, regardless of whether or not the disputants stand in the proximate relation of employer and employee"

This definition was a necessary one in view of the very nature of unionism One of the advantages of unionism is that in cases especially difficult to settle aggrieved employees can have their bargaining done by some persons or organization over which the employer has no job control. To deny the existence of a labor dispute unless the disputants are employer and employee would strike at the very basis of unionism.

Such were the provisions of the federal anti-injunction act. The nature and wording of much of the act sprang directly from abuses that had manifested themselves in equity proceedings during a third of a century. Comparison with everyday injunctive practice emphasized marked new departures. The act was a carefully drawn attempt to restore the injunction to its proper place as a means of protection from irreparable damage to property rather than as a weapon frequently used against organized labor.

### Court interpretation of the Norris-LaGuardia Act

Despite the wording of the act, its early interpretation by the courts was confused, and sharply conflicting rulings were handed down by various courts, many judges in the lower federal courts virtually ignored the act and continued as before. It still was easy to decide that irreparable injury was threatened, or that no labor dispute, as defined by the act, existed[7] On the other hand, some judges denied petitions for injunctions on the basis that the new act forbade their issuance under the circumstances presented in the case. As was usually true, a ruling of the Supreme Court was needed to clarify the validity and meaning of the act

Prior to the Supreme Court's determinations of the constitutionality of the Norris Act, it reviewed a case contesting the validity of a Wisconsin anti-injunction law.[8] This ruling is of interest and importance because it indicated the probable Court opinion on the federal law. The case arose out of the attempt of the Tile Layers Union to compel Senn, a small tile-laying contractor, to sign a union agreement. Since he hired very few persons, Senn did much of the

---

[7] Segal, M J, *op cit*, pp 9-15, gives an excellent summary of the decisions of the lower courts from the time that the act was passed until its constitutionality was established by the Supreme Court in *Lauf v E G Shinner & Co, Inc*, 303 U S. 323 (1938)

[8] *Senn v Tile Layers*, 301 U S. 468 (1937).

tile laying himself, he offered to sign an agreement with the union covering his workers if the union would omit from the contract a clause that prohibited contractors from doing any of the manual labor. The time of the dispute being the early thirties when work was very scarce, the union refused to omit the prohibiting clause. Senn refused to sign and the union set up a picket line at his place of business. He asked injunctive relief, which was denied by the Circuit and Supreme Courts of Wisconsin on the grounds that the State Labor Code, containing provisions similar to the Norris Act, allowed peaceful picketing in labor disputes such as the one in question.

By a five-to-four decision the Supreme Court upheld the Wisconsin courts' denial of injunctive relief. Mr Justice Brandeis, who had dissented in the Truax case some years before, wrote the majority opinion. While it was held that the Truax case did not apply, in view of the more violent and abusive action taken by the pickets in that case, much the same reasoning was followed The question before the Court was whether the Wisconsin law violated the due process and equal protection clauses of the fourteenth amendment. According to Mr. Justice Brandeis, the peaceful picketing allowed by the Wisconsin law was clearly in keeping with the federal Constitution, in addition, the end sought by the unions was not unconstitutional. As for the publicity given by the picketing to the allegation that Senn was unfair to organized labor, the majority held that such action was no more unfair than the competitive advertising of businessmen. Thus, the law was valid, the state courts upheld.

The dissenting opinion of Mr Justice Butler was more of a denial of conclusions than a difference in reasoning The dissenters held flatly to the contention that the object of the union was unlawful, a direct contradiction of the majority ruling. Secondly, they held that the picketing was unlawful because "the signs used constitute a misrepresentation of the facts," again a contradiction of the majority

The federal anti-injunction act was ruled upon by the Supreme Court in 1938, six years after its passage. The ruling on the case at issue, *Lauf v. E. G. Shinner & Co., Inc*,[9] established the validity of the act in one brief comment: "There can be no question of the powers of Congress . . . to define and limit the jurisdiction of the inferior courts of the United States." With that question disposed of, the problem was the interpretation and application of the act, that is, whether the facts of the case warranted the injunction issued by the District Court and upheld by the Circuit Court of Appeals, in

[9] 303 U S 323 (1938).

view of the restrictions on the issuance of injunctions written into the Norris-LaGuardia Act. The case grew out of the picketing of five meat markets in Milwaukee in an attempt to force the workers in the shops to join a union. The employer told his workers they were free to join if they so desired, and they refused The picketing continued and the employer asked for and was granted an injunction maintaining that the signs of the pickets were false and misleading. The District Court held there was no labor dispute as defined by the federal law and issued the injunction, which was supported on appeal by the Circuit Court.

The majority ruling in the Lauf case was delivered by Mr Justice Roberts. In ruling on the applicability of the Norris Act to the case before the Court, the broad definition of a labor dispute written into the law was of significance. The District Court had ruled, with the subsequent support of the Circuit Court of Appeals, that there was no labor dispute, in that the picketing was an attempt of a union to bring pressure on the employees of the Shinner Company by coercing the company to direct them to join the union. But, in view of the fact that the law defined labor disputes to include "any controversy concerning . . . representation . . . regardless of whether or not the disputants stand in the proximate relation of employer and employee," the Supreme Court held that the lower court erred in ruling that there was no labor dispute Since the ruling that no labor dispute existed was in error, the injunction based on that ruling also was in error. The District Court also erred "in granting an injunction in the absence of findings which the Norris-LaGuardia Act makes prerequisites to the exercise of jurisdiction," namely· the threat of irreparable damage and the absence of adequate remedy at law for unlawful acts that have been threatened. Thus, the ruling of the lower courts was reversed.[10]

Very shortly after the *Lauf v. Shinner* ruling the Supreme Court passed on a second case arising under the Norris Act. This decision established more clearly the fact that the Norris Act offered a very real measure of protection against the use of the injunction in labor disputes. The case of *New Negro Alliance v. Sanitary Grocery Co., Inc.*,[11] grew out of the attempt of the New Negro Alliance to force

[10] Mr Justice Butler dissented again in this case. His opinion was, in essence, an approval of the ruling of the lower courts. He held that there was no dispute between employer and employees and that if the employer acceded to the union's demands to compel the workers to join the union it would be interfering with their liberty In addition, the company's business being a property right, the free access of customers to the property was necessary for that property right to be used effectively Therefore, Mr Justice Butler thought the company was entitled to equitable relief

[11] 303 U S 552 (1938)

the Sanitary Grocery Company of the District of Columbia to employ Negroes in their stores in the areas of the city in which the colored population was concentrated. When the request for the employment of Negroes was refused, one peaceful picket was placed in front of one of the stores with a placard reading, "Do your Part! Buy Where You Can Work! No Negroes Employed Here!" The statements on the placard were true; the patrolling was orderly and not coercive on any person. However, the company sought equitable relief.

On request by the grocery company, an injunction was issued that later was affirmed by the Circuit Court of Appeals. The trial judge believed the Norris Act did not apply in the case, the Court of Appeals affirmed the ruling since it did not involve terms and conditions of employment such as wages or hours. But the Supreme Court had a different opinion, the view of the lower court was "erroneous" The High Court pointed out the fact that the act when defining labor disputes did so in very broad terms, including instances in which the disputants did not stand in an employer-employee relationship. In the Court's words, the definition of a labor dispute was such as to embrace plainly "the controversy which gave rise to the . . . suit and classify it as one arising out of a . . . labor dispute."

Because the Norris Act did not concern itself with the background of a labor dispute the issue was not examined in detail. It was commented, however, that the desire for removal of discriminations on the basis of race or religion was sometimes as important to the disputants as fairness in other terms of employment. Since such discrimination was a part of the terms and conditions of employment the Norris Act applied and the District Court was held in error [12]

### Labor and the anti-trust laws after 1932

Although the rulings noted above established the validity of the Norris Act and its broad application, the atmosphere was not entirely clarified. Many judges in the lower courts followed the rulings, but some labor injunctions continued to appear. The intent of the act was not to stop completely the granting of equitable relief in labor disputes, but it was designed to restrict it sharply. Other decisions on state or federal laws were needed to indicate the applicability of the act in other types of cases. One interesting and important question that needed answering was the effect of the Norris Act on the application of the anti-trust laws to organized

[12] Justices McReynolds and Butler again dissented, denying that a labor dispute existed.

labor. This issue was ruled upon in 1940 in the case of *Milk Wagon Drivers Union Local No. 753 v. Lake Valley Farm Products, Inc.*[13]

During the depression years a system of milk distribution grew up around Chicago whereby cash-and-carry retail vendors sold the product at lower prices than those charged for the milk regularly delivered to the door by wagon drivers. Vendors and employees formed a local union affiliated with the C.I.O.; the vendors' places of business were picketed by the union of the regular milk route drivers. Since milk came into the Chicago area from outside the state, a question of action affecting interstate commerce was involved. Also, there was a subsidiary question as to whether a labor dispute existed, since the issue was between two unions

When the vendors sought an injunction against the picketing, it was denied on the grounds that a labor dispute, as defined by the Norris Act, did exist and that injunctive relief was forbidden by the law. The Circuit Court of Appeals reversed the lower court and the case was appealed to the Supreme Court. The question of whether a labor dispute existed was promptly disposed of—the broad definition of a labor dispute contained in the Norris Act covered this action. Mr. Justice Black went on to point out that the clear intent of Congress in passing the Norris Act was to restrict the widespread and indiscriminate issuance of injunctions under the anti-trust laws. Thus, in the Court's opinion, "For us to hold, in the face of this legislation, that the federal courts have jurisdiction to grant injunctions in cases growing out of labor disputes, merely because alleged violations of the Sherman Act are involved, would run counter to the plain mandate of the Act and would reverse the declared purpose of Congress." The Circuit Court ruling was reversed.

A further question of the interrelationship between the anti-trust laws and the Norris Act was ruled upon later in 1940. The problem at issue in the *United States v. Hutcheson*[14] was the enjoinability of picketing in a jurisdictional dispute. There was a dispute between the carpenters' and machinists' unions, both affiliated at that time with the A. F. of L., as to whose members should erect and dismantle certain machinery in and around an Anheuser-Busch and a neighboring brewery. The carpenters picketed the brewery and, through circular letters and their official publication, advised union members and their friends not to buy the Anheuser-Busch beer. The circumstances are remindful of those in the *Gompers v. Bucks* case thirty years earlier. Although the issuance of an injunction was

[13] 311 U. S. 91 (1940).
[14] 312 U. S. 219 (1940)

not a question at the time, the matter of the effect of the Norris Act on what constitutes a criminal violation of the Sherman Law was involved. The Court ruling was that the original anti-trust law had been modified in its application to labor by both the Clayton and Norris Acts In the Court's words, "Whether trade union conduct constitutes a violation of the Sherman Law is to be determined only by reading the Sherman Law and Section 20 of the Clayton Act and the Norris-LaGuardia Act as a harmonizing text of outlawry of labor conduct."

Perhaps because of the general objection to jurisdictional disputes, the Court recorded its inability to pass on the appropriateness of the specific action. "So long as a union acts in its self-interest and does not combine with non-labor groups, the licit and the illicit . . . are not to be distinguished by any judgment regarding the wisdom or unwisdom, the rightness and wrongness, the selfishness or unselfishness of the end of which the particular union activities are the means." And again the Court went back to the very important section of the Norris Act defining a labor dispute. In the opinion of the majority, this was a dispute under the terms of the act; since the anti-trust laws were no longer separable, in labor disputes, from the Norris Act and since judgments of the desirability of union actions were not to enter, the Court concluded that the acts of the carpenters' union were within the law

During the same year in which the Hutcheson and Lake Valley decisions were rendered still another ruling was made by the High Court on the use of injunctions in labor disputes.[15] Again, Local No. 753 of the Milk Wagon Drivers Union was involved. It was enjoined from picketing, under about the same circumstances as the Lake Valley case, by the state court. The state Supreme Court sanctioned a permanent injunction against picketing.[16] The case was appealed to the federal Supreme Court, which upheld the state court. The basic reason for this opinion, which conflicted so sharply with other decisions of about the same time, was that violence was prevalent and was inextricably tied up with the actions of the union.

Two challenging dissents to the opinion were written. The opinion of Mr. Justice Black is difficult to compare with the majority because he denied flatly that violence was involved, and the presence of violence was basic to the sanction by the majority of the ruling of the Illinois court. Elsewhere in the dissent of Justice

[15] *Milk Wagon Drivers Union of Chicago, Local 753 v. Meadowmoor Dairies, Inc.*, 312 U S 287 (1940).

[16] *The Meadowmoor Dairies, Inc v The Milk Wagon Drivers Union*, 371 Ill 377 (1939) This injunction was sanctioned despite a state anti-injunction act, the court held that the issues involved did not constitute a labor dispute as defined in the act

Black and in the separate dissent of Justice Reed it was urged that the injunction issued forbade the exercise of constitutionally guaranteed rights and peaceful assembly.[17] Justice Reed's final comment is worthy of note. "Free speech may be absolutely prohibited only under the most pressing national emergencies. Those emergencies must be of the kind that justify the suspension of the writ of habeas corpus or the suppression of the right of trial by jury. Nothing approaching this situation exists. . . ." [18]

The effects of the Norris-LaGuardia Act

Enough has been said of the decisions on anti-injunction legislation to show essentially what the courts would approve and condemn under the law.[19] The Norris Act, contrary to the experience under the Clayton Act, has been of genuine benefit to organized labor. Although it is still possible for federal courts to issue injunctions in labor disputes the number has decreased. However, as Millis and Montgomery have so aptly observed, many phrases in the federal law, such as "violence" or "irreparable damage" or "making every reasonable effort" to settle a dispute "are not so definite as one who is not well versed in the law might suppose." [20] And the question of when picketing was and was not peaceful was especially perplexing, in fact, some persons looked with doubt upon the doctrine that any picketing could be peaceful and non-intimidating. Probably a majority of the federal Supreme Court would no longer subscribe to that view, it seems certain that without a change in the composition or attitude of the Court of the late 1940's, that it will not sanction injunctions against peaceful picketing. In 1948, for those who opposed the use of injunctions in labor disputes the future seemed relatively bright, although the resort to an injunction by the federal government in the coal dispute late in 1946 [21] and the provisions of the Taft-Hartley Act dampened the optimism.

Not only is the Norris-LaGuardia Act of importance for its influence on federal court equity practice, but it is important for the

[17] Interesting enough for a brief note is the fact that in 1940 the federal High Court reversed the Illinois Supreme Court's approval of an injunction against peaceful picketing *American Federation of Labor v. Swing et al*, 309 U S 659 (1940)

[18] Since the questions of freedom of speech and rights of peaceful picketing are so often involved in the issuance of injunctions, it might be well to note briefly the decisions in the case of *Thornhill v Alabama*, 301 U S 88 (1940) The question of an injunction was not involved, an Alabama law of 1923 made it a misdemeanor to picket a place of business even though done peacefully Thornhill, who was convicted under the act, appealed it to the Supreme Court. The law was held to be an invalid prohibition of constitutionally guaranteed rights

[19] As will be shown in Ch XXV, the Taft-Hartley Labor Management Relations Act, 1947, changed the situation so that a strike is held to threaten national safety or welfare

[20] Millis, H A, and Montgomery, R E *op cit*, Vol III, p 651.

influence that it has had on state legislation. It was reported that in 1941 there were twenty-four states that had some sort of anti-injunction legislation, but not all of these laws were comparable to the federal law.[22] In 1947 it was reported that there were sixteen states that had on their statute books anti-labor-injunction laws much like the Norris Act.[23] Although state laws dealing with labor injunctions were enacted as early as 1913, in Kansas and Arizona, the more uniform and comprehensive laws on the subject did not evolve until much later, Wisconsin and Pennsylvania taking the lead in 1931 with laws that foreshadowed the federal law and the other state laws.

Generally, these state laws are for the purpose of ensuring the right of workers to organize and bargain collectively through representatives of their own choosing. The laws normally forbid state courts to issue in labor disputes injunctions that would prohibit certain acts; in addition, certain compulsory conditions are stipulated for those instances when injunctions are granted. These provisions of the laws are generally quite similar to those that were enumerated above for the federal law; they need not be repeated. In most of the laws a labor dispute is defined in a manner comparable to the definition in the Norris Act and most make provisions similar to the federal ones concerning jury trial and the proof of responsibility if a union officer or member is to be held liable for actions of the union. While most of the state laws declare yellow-dog contracts contrary to public policy, Connecticut, Maine, Massachusetts, New Jersey, and New York do not do so.

Many states have enacted anti-injunction legislation, many others have not. In the latter group, unless the change in attitude of the Supreme Court has influenced the situation, injunctions may issue as freely as ever from state courts. The experience in Ohio, a state which had not by 1948 enacted such legislation, shows that even after the passage of the federal law many injunctions still were issued in labor disputes. In five Ohio cities in the fiscal years 1934 through 1938 fifty-five injunctions were issued.[24] These were issued in fifty-one cases at the request of employers, in two cases against employers, and in two cases in inter-employee disputes.

The nature of these restraints is of interest in that they show the type of controls that may still issue from many state courts. While

[22] Millis, H. A., and Montgomery, R. E., *op. cit.*, Vol. III, p. 647.

[23] Connecticut, Idaho, Indiana, Louisiana, Maine, Maryland, Massachusetts, Minnesota, New Jersey, New York, North Dakota, Oregon, Pennsylvania, Utah, Washington, and Wisconsin. See Prentice-Hall's *Complete Labor Equipment*, Vol. 3, *State Labor Laws*.

[24] Cleveland, Columbus, Dayton, Toledo, and Youngstown. See: Mathews, R. E., and others, "Survey of Ohio Practice in Issuance of Labor Injunctions." *Ohio State University Law Journal*, June, 1939, Vol. 5, No. 3, p. 289-329.

other courts in Ohio or other states may not take exactly the same attitude toward labor, it seems reasonable to assume that somewhat similar conditions will be found elsewhere. The study of conditions in Ohio stressed the fact that injunctions are rarely written by the issuing judge; they are usually prepared by the plaintiff's legal counsel and submitted to the judge, sometimes after consultation with attorneys for the defendant, sometimes without such a discussion. The judge is free to make any changes that he considers desirable, but the nature of the restraints indicates that relatively little changing is done. With such an origin, it is not surprising that the restrictions are sometimes severe.

One significant fact shown by the study was that *ex parte* orders, those issued without hearing, composed one-fourth of all the orders issued. Another important factor was the apparent willingness to enjoin peaceful and lawful behavior. In various orders actions such as the following were enjoined. public assembly, all publicity concerning a labor dispute, persuading to join a union, peaceful picketing, and persuasion of potential employees not to seek employment. These prohibitions were in addition to the standard ones enjoining violence, insults, defamatory publicity, or threats. The conclusion by the investigators was that the injunctions issued tended to have a harmful effect on the ability of worker groups to carry their disputes with employers to a successful conclusion.

It may be said that where injunctions are unfairly issued they will be dissolved or revoked on hearing by a higher court on appeal. Such may be the case, but a subsequent removal of an injunction does not mean that justice has been done As Professor Mathews puts it, "Injunctions in labor controversies stand alone in the finality of their effect." [25] This is true because it is not possible to maintain the *status quo* in a labor dispute. One of the collaborators on the Ohio study gives an example that points up this fact. An injunction was issued restraining a local of the motion picture operators' union from trying to organize the operators of a special eight-day showing of a motion picture to be exhibited in a wrestling arena Three days after the injunction was issued the union asked for dismissal of the writ, since it was issued without notice. A week later the court sustained the motion and canceled the injunction. But by that time the order had had its desired effect, the showing was completed with non-union operators.[26] Whatever one's sympathies toward attempts by a union to organize non-union workers, the fact remains that an injunction later dissolved by the court, implicitly admitting its unwisdom, was used to stop the union just as effectively as if it had been sustained later.

---

[25] Mathews, R E, *op. cit.*, p 320.

[26] *Ibid.*, p. 205.

Justice Black's comments in his dissent in the Meadowmoor Dairies Case[27] points up this fact even more clearly perhaps than the above case Commenting on the period that the case had been in the courts, he said, "It was eight months after this (the violence of the milk strike) before the Supreme Court of Illinois directed a more stringent injunction . . , and seven years before this court sustained the injunction. . . ." As it happened, in the Meadowmoor case the federal High Court upheld the injunction. Even if the view of Justice Black had prevailed, it would have had no influence on the solution of the dispute that gave rise to the injunction Except in so far as it might serve as a precedent, the appeal and subsequent reversal of an equity order does not mean a great deal. Long before the final order is given the dispute will have been settled in one way or another.

The effectiveness of anti-injunction legislation remains to be examined. Although there have been no recent studies of the number of injunctions issued, the generally held opinion is that the Norris Act sharply decreased the number of injunctions and the sweeping nature of those that still issued from the courts Professor Segal concluded, at the close of his study of the Norris-LaGuardia Act and the Courts, that the federal Supreme Court under the new law had "gone a long way from the Bedford Stone case, *Duplex v Deering*, *Truax v. Corrigan* and the Hitchman decisions " [28] In his opinion, the act meant that organized labor was no longer so vulnerable to the constant threat of the federal labor injunction.

Since the state anti-injunction laws are so similar to the federal law, experience therewith is similar. Although not all injunctions have been stopped, the number has been decreased and the nature of the prohibitions brought more into line with what was necessary as a last resort to prevent irreparable damage to property. Professor Mathews is of the opinion that in a state that has no such law the enactment of one would make a great difference in the equity practice of the courts. Commenting on the contention that the enactment of such a statute would only declare existing practice, he expressed the opinion that the study made under his supervision met that contention squarely.[29]

The desirability of anti-injunction legislation is not easily assessed. Even if it were concluded that too many union actions are not subject to control by injunctions, the laws that imposed the restrictions on the issuance of such orders are entirely understandable. They were a part of the general enactment of pro-labor legislation that came, mostly in the 1930's, as a reaction to the traditional practice

---

[27] 312 U S 287 (1940)

[28] Segal, M J., *op cit*, p 30

[29] *Ibid*, p 319

of legislatures and the courts of dealing with workers as second-class citizens. In addition, there had been many specific abuses of the injunction as it was applied in this country to labor disputes But has the reaction gone too far; has too much union activity been declared outside the area of equitable relief? In the *United States v. Hutcheson* case, for example, a jurisdictional dispute in which the employer was caught between the contesting unions was held nonenjoinable. There is no question but that as unions grow larger and stronger the possible harmful effects of their actions become greater And with the well-developed legal theory of our society that holds intangible rights to be property, it seems unreal to argue that they should not be protected.

With stronger unions and the possibility that by economic action they can do irreparable damage to intangible property rights, questions of the extent to which these rights should be protected become more complex. Undoubtedly, the common practice up to the 1930's was, throughout the country, to restrict the actions of workers severely. That practice seems still to prevail in some cases where states have not enacted anti-injunction laws. In the federal courts and those of the sixteen states with laws like the Norris Act excessive court controls issued at the request of private employers seem, at this writing, to have been stopped Some mistakes may have been made in the interpretation and application of the laws so as to permit questionable action on the part of the unions Nevertheless, the over-all result has been beneficial, and similar laws are needed in the other states.

## Questions

1 What were the objectionable court decisions of the twentieth century that gave rise to some of the restrictions found in the Norris-LaGuardia Act?

2 Did the Norris-LaGuardia Act change in any significant manner that which previously had been held to be good injunctive practice? Defend your answer

3 Evaluate the definition of "labor dispute" that is found in the federal anti-injunction law Is it a reasonable definition? How significant has it been in the effective working of the law?

4 Has organized labor been freed to an undesirable extent, since passage of the Norris-LaGuardia Act, from the application of the anti-trust laws?

5 Was the Norris-LaGuardia Act intended to promote a "New Deal" type of philosophy of the labor movement or was it merely an attempt to correct an obvious abuse of judicial power? Why?

6 In view of the speed of the judiciary, especially in appeals cases, what are likely to be the net results of appeals of injunction cases even should the apparent result be a decision favorable to labor?

## CHAPTER XVI

# THE NATIONAL LABOR RELATIONS ACT: BACKGROUND AND PROVISIONS

### Background of the National Labor Relations Act

Questions may logically be raised concerning the need for discussion of the National Labor Relations Act at some length in view of the extensive revision of the act by the Labor Management Relations Act, 1947, commonly called the Taft-Hartley Law. However, because of the great significance of the earlier law, because a considerable portion of the principles established under it remained even after the revision, and because of the doubtful constitutionality and permanence of some of the provisions of the Taft-Hartley Law, it seems advisable to survey the National Labor Relations Act rather fully.

There is no one line of legislation or court decisions that can be traced to show the background of the National Labor Relations Act, its roots are sunk in a number of unfair labor practices of employers that were commonplace in the early 1930's and prior to that time.[1] In earlier chapters the use of the labor injunction to forestall organization of workers has been traced, noting the abuses that finally led to enactment of the Norris-LaGuardia Act and a number of similar state acts. Significantly, the Norris Act not only limited the power of federal courts to issue injunctions in labor disputes, but it declared for the first time the public policy of the federal government that workers should have the right to join unions if they so desired.

Another abuse that has been noted is the application of the anti-trust laws to organized labor This application is so entangled with the issuance of labor injunctions that it is not entirely separable, but it is clear that, whatever Congress intended when enacting the Sherman and Clayton Acts, the anti-trust laws have been used effectively against labor in many instances. This has occurred at the

[1] The unfair and discriminatory practices were numerous and varied Perhaps the best study in recent times was made by a Senate Subcommittee on Education and Labor under the chairmanship of Senator LaFollette The exhaustive hearings and data showed frequent use of labor spies, company police, and industrial munitions to discourage union organization The use of strikebreakers was common and a standard "formula" for strikebreaking was frequently used in the late 1930's Discharge and blacklisting of union men and sympathizers was common All in all, many effective means of denying workers the right to organize and bargain collectively were used

same time that larger and larger business combinations have been growing up in various industries and all parts of the country.

Another source of the new government policy was the stamp of approval upon the unionization of workers given by the federal government at the time of the first World War. During that time the government sanctioned, purely as a war measure, the right of workers to join unions. The experience that came from that period demonstrated the desirability of some sort of organization among workmen. However, while this fact seemed clear, there certainly was no agreement as to the type of organization that was desirable; nor was the theory that unionism was desirable supported by practical plans to put the theory into practice.

Similarly, the sanction of unionism found in Section 7 (a) of the N.I.R.A. was another forerunner. Again in this instance practical plans for enforcement of the sanction did not materialize.

A final bit of experience that helped to account for the new government policy came from railway labor legislation. This is yet to be examined,[2] but it should be noted here. Since 1926 the federal Congress had guaranteed the right of railway employees to join unions if they so desired. This legislation had been approved by the Supreme Court and had been working out in a relatively satisfactory manner prior to the enactment of the National Labor Relations Act.

Thus, from various abusive practices of employers toward organized labor that were widely recognized and from some slight experience with policies favoring union organization came a shift in the traditional labor policy of the federal government. This shift was accelerated by the advent of the depression of the thirties that gradually weakened the position of labor, making both organized and unorganized workers less able to handle their own problems. Wages and standards of living dropped rapidly and enhanced the downward spiral of the depression. Contrary to the assumption of many persons, the move to ensure the rights of workers to organize was not entirely a product of the Roosevelt administration; the enactment of the Railway Labor Act in 1926 and the Norris-LaGuardia Act in 1932 indicates this fact. However, the movement that was perceptible before the election of Franklin D. Roosevelt was speeded up and broadened under his guidance.

### The N.I.R.A. and the right to organize

In 1933 the federal government made its first attempt at a legislative guarantee of the right of workers to join unions if they desired

[2] See below, Ch. XX.

That the attempt was destined for judicial overthrow does not make it less significant. Under the National Industrial Recovery Act, provision was made for the preparation by representatives from various industries of codes of fair competition. For the student of labor legislation, Section 7 (a) is the portion of the Recovery Act of most interest This section required that every code of fair competition contain the following provisions·

"(1) That employees shall have the right to organize and bargain collectively through representatives of their own choosing, and shall be free from the interference, restraint or coercion of employers of labor, or their agents, in the designation of such representatives or in self-organization or in other concerted activities for the purpose of collective bargaining or other mutual aid or protection;
"(2) That no employee and no one seeking employment shall be required as a condition of employment to join any company union or to refrain from joining, organizing, or assisting a labor organization of his own choosing" [3]

It became evident before much time had elapsed that the N.I.R A., hurriedly conceived and drawn, could not be properly applied without some administrative body. This was especially true of the controversial Section 7 (a) It became more clear as numerous codes were established containing the required guarantees of labor's right to organize [4] These stated rights were new and in many instances contrary to the traditional attitude of employers. In addition, the codes contained varying provisions on matters such as minimum wage rates, maximum hours, and overtime rate. Although the original codes were prepared by representatives of industry, the provisions did not suit all the members of the various industries [5] Thus, because of the traditional opposition of a majority of employers to labor organization and the opposition of some to various other labor provisions of the codes it was certain that there would be many instances in which accusations would be made that the codes were not being observed.

Recognizing this fact, President Roosevelt established in August, 1933, a National Labor Board with three employer and three employee representatives and an impartial chairman representing the public. Senator Robert Wagner was named chairman and William

[3] Section 7 (a), N I R A, 49 Stat 195, 1933

[4] 535 industrial codes were approved by the middle of December, 1934 U S Bureau of Labor Statistics, Bulletin No. 616, *Handbook of Labor Statistics*, p 512 Washington, D C · U S Government Printing Office, 1936

[5] Occasionally labor representation was found on the industrial code-making groups In general, however, labor clauses were unilaterally written into the codes because they were required by the N I R A

Leiserson, executive secretary; the representatives of management and labor included Leo Wolman, Walter Teagle, William Green, John L. Lewis, Gerard Swope, and Louis Kirstein. The powers and duties of the board were rather vaguely stated at first. They were to include: (1) settling controversies between employers and employees that tended to impede the purposes of the National Industrial Recovery Act, (2) establishing local or regional boards, similar in composition to the national board, to which duties of the national board could be delegated, (3) reviewing the determinations of the lower boards, and (4) making rules and regulations governing the procedure to be followed in discharging its functions.

Acting under its power to establish subordinate boards, the National Labor Board set up nineteen regional labor boards by March, 1934. By July 1, 1934, the board and its regional counterparts had handled 4277 cases, settling slightly over four-fifths of them. Nearly two-thirds of the cases involved alleged violations of Section 7 (a).

In February, 1934, the President issued an order specifically directing the enforcement of Section 7 (a). In this task the board was to designate, when necessary, appropriate representatives for collective bargaining. Refusals to abide by the labor provisions of the codes were to be reported by the board to the administration of the N I R A. for action, a very weak enforcement means indeed.[6] Actually, the strongest threat to bolster enforcement was that of the removal of the "Blue Eagle," symbol of cooperation in the recovery effort. This was inadequate to provide for effective enforcement. Some concerns paid no attention to the board and its action. Consequently, it went out of existence on July 9, 1934, its functions were assumed by another board—the first National Labor Relations Board.

Meanwhile, Senator Wagner, chairman of the original National Labor Board, was learning from experience in his position on that body. He saw the ineffectiveness of appeals to patriotism as a basis for enforcing a code of behavior when some provisions of that standard conflicted with economic interests or desires. Where such conflicts, real or imagined, developed there was need of legislative standards and means of enforcement rather than of requests for observance of the law. As a result of his observations, early in 1934 the Senator introduced into Congress a bill guaranteeing to workers the right to collective bargaining by specifying as unfair a number of practices of employers that tended to deny this right. The bill

[6] Executive Order 6580, dated February 1, 1934. Executive Order 6612-A was intended to improve enforcement by providing that the board could report findings on violations, with recommendations, to the Attorney General for possible prosecution. This was in addition to referral to the Compliance Division of the N.I.R.A.

provided for an administrative board to apply the act Failing to enact this bill into law, Congress did pass a joint resolution[7] that authorized the President to create a board or boards to investigate disputes arising over Section 7 (a) or any that threatened to burden the free flow of interstate commerce These boards could conduct elections to determine appropriate representatives for collective bargaining

### The first National Labor Relations Board

When the first National Labor Relations Board was created[8] it was given essentially the functions that were authorized in Public Resolution No. 44 In contrast with its predecessor, the new board was composed of three men, all representing the public. Lloyd K Garrison, Harry A Millis, and Edwin S. Smith. As was true of its predecessor, it had little power to enforce anything and it was not an agency to administer Section 7 (a) alone. Rather, it was a dispute-settling agency, with a majority of its cases arising over allegations that Section 7 (a) had been violated

In addition to trying to settle disputes, the new board had the task of designating appropriate bargaining units and employee representatives in those units, it was hoped that this service would result in fewer disputes In naming proper bargaining representatives, the board could hold elections, the elections were to be held when the parties so agreed, and if they failed to agree the board could order that an election be held The board exercised its power to order elections in thirty-six cases. In nine instances requests for elections were denied on the grounds that an election was not in the public interest.

Since the new board was to perform nearly the same functions as the National Labor Board, it took over the regional labor board organizations. One of the weak points of the board was, as in the case of its predecessor, inability to enforce rulings Removal of the "Blue Eagle" did not put heavy pressure on an employer to comply. Although the orders of the new board were not subject to executive review, its decisions were to be transmitted to the President through the Secretary of Labor. Its activities were limited to disputes involving the right of workers to organize and to questions of representation and anti-labor discrimination.

The number of cases handled by the first National Labor Relations Board was not impressive. From July 9, 1934, until its demise on July 16, 1935, subsequent to the Schechter decision invalidating the

---

[7] Public Resolution No 44, 73rd Congress, approved by the President June 19, 1934

[8] Executive Order 6763, dated June 29, 1934.

codes, it handed down only 227 decisions However, this figure is slightly misleading. The joint resolution of Congress passed in 1934 authorized the President to establish a board or boards, as he saw fit, to handle disputes Acting under this authority, he appointed three special boards, the National Longshoremen's Labor Board, the National Steel Labor Relations Board, and the Textile Labor Relations Board. The Longshoremen's Board was named to investigate the Pacific Coast longshoremen's strike while the Steel and Textile Boards were to do in their respective industries much the same thing as the National Labor Relations Board did in others.

The Longshoremen's Board rendered its reports on the strike in question and did nothing more. On the other hand, the board in the steel industry acted upon forty-two cases and was functioning until the Schechter case stopped actions, cases pending at that time were dismissed. The textile industry board held fifty-two hearings but issued only six final decisions. This record looks especially poor in view of the fact that the board reviewed over 1600 complaints involving nearly 580 mills, the hearings held involved complaints against forty-eight mills.[9] Altogether, the functioning of the first National Labor Relations Board and the special boards acting with it was far from impressive. But the work was pioneering action that set the stage for the subsequent creation by specific legislation of the second National Labor Relations Board in 1935[10]

It is difficult to evaluate Section 7 (a) and the boards that were established to administer it. There was no agreement as to its desirability, many persons in business and the professions believing such a guarantee to be unwise and ill-advised. The section was based on the assumption that it was desirable for labor to be organized in unions independent of employer control Strong, nondominated unions would enhance the bargaining power of workers, which would in turn enable them to get for themselves more adequate wages, better working conditions, improved dispute-settling

---

[9] U S Bureau of Labor Statistics, Bulletin No 616, *Handbook of Labor Statistics* (1936 edition), pp 12-16

[10] Two other special labor boards might be named in passing, both were agencies of the recovery effort The Automotive Labor Board was established by the President in March, 1934. It was to function only in labor disputes in automotive manufacturing in which both parties agreed to present to the board and to hold themselves bound by its decision Most of its work dealt with seniority cases, but it settled a number of strikes and conducted a few collective bargaining elections The Petroleum Labor Policy Board was formed by Secretary of Interior Ickes late in 1933 to advise him on policies concerning petroleum labor and questions arising from the enforcement of the codes, it was also to attempt to settle disputes and to try to obtain compliance with the labor provisions of the codes in petroleum Most of its work arose from alleged violations of the code wage-hour provisions, although some other cases were submitted to it

methods, and so forth Such an idea was not new; the courts and the lawmakers had given lip service to it for a century, and most labor economists are strongly of the opinion that organization of workers is desirable. Whatever the attitude of certain groups with vested interests relevant to the organization of workers, the attempt of the federal government to extend such guarantees to a great number of workers all over the country was unprecedented in the United States but highly desirable. In any social or economic movement that is a pioneering one many errors are certain to be made. Undoubtedly, mistakes were made in this case, but the very mistakes highlighted pitfalls that should be avoided in the future.

The activities of the boards were also of value[11] Clearly, they could have done a better job if there had been some power of enforcement. Even without such power, the boards reported the settlement of over 1700 disputes. Not all of these disagreements hinged on the rights protected by Section 7 (a), but many did. Every instance in which the boards figured in the equitable settlement of a dispute was a contribution to current and future peace in labor relations. Another important contribution was that of holding elections, a new method of promoting collective bargaining on the basis of appropriate bargaining units and of trying to assure that bargaining was done by the representatives desired by the workers.

### The National Labor Relations Act

President Roosevelt and his advisors (and to a lesser extent, the 73rd Congress) were not easily distracted from a goal once it had been established So the ruling by the Supreme Court in the Schechter case did not stop "New Deal" experimentation Consequently, the guarantees of Section 7 (a) were soon to reappear in Congress in a separate piece of legislation. However, the policy when restated was set forth as a law rather than as a joint resolution or an executive order. The enactment restating the guarantee that had been Section 7 (a) was destined to become one of the most debatable economic controls ever passed in the United States.

It has already been noted that the federal government must use as a basis for labor regulations either the power to tax or the power to regulate interstate commerce. There was no readily observable relationship between organization and taxing power. Thus, the National Labor Relations Act,[12] proposing to guarantee labor's right to

---

[11] For the specific decisions rendered by the Boards see *Decisions of the National Labor Board,* Vol I, Parts I and II, 1934, and *Decisions of the National Labor Relations Board,* Vol I, Part III and Vol II, 1935, both published in Washington, D C. by the U S Government Printing Office

[12] 49 Stat 449, 1935

organize, was founded on the commerce power. In order to convince the public of the relationship between the regulations imposed by the law and interstate commerce, Congress preceded the act with a lengthy statement of "Findings and Policy." The statement is of interest for its reasoning, it read, in part:

> "The denial by employers of the right of employees to organize and the refusal by employers to accept the procedure of collective bargaining lead to strikes and other forms of industrial strife or unrest which have the intent or the necessary effect of burdening or obstructing commerce. . . .
>
> "The inequality of bargaining power between employees who do not possess full freedom of association or actual liberty of contract, and employers who are organized in the corporate or other forms of ownership association substantially burdens and affects the flow of commerce, and tends to aggravate recurrent business depressions by depressing wage rates and the purchasing power of wage earners in industry and by preventing the stabilization of competitive wage rates and working conditions within and between industries.
>
> "Experience has proved that protection by law of the right of employees to organize and bargain collectively safeguards . and promotes the flow of commerce.
>
> "It is hereby declared to be the policy of the United States to eliminate the causes of certain substantial obstructions to the free flow of commerce and to mitigate and eliminate these obstructions where they have occurred by encouraging the practice and procedure of collective bargaining and by protecting the exercise by workers of full freedom of association, self-organization, and designation of representatives of their own choosing, for the purpose of negotiating the terms and conditions of their employment or other mutual aid or protection."

This statement of findings and policy was, as stated, partly intended to convince the courts of a relationship between unionism and commerce. However, the statement is of interest for the economic theory implicit therein Most of the "New Deal" economists supported the doctrine that a more even distribution of income was needed to revive and retain prosperity The espousal of the right of workers to form unions independent of employer control was in part an attempt to guarantee basic rights of individual workmen, but it was also an attack on the depression. Unions were a means to an end, they could bring higher wages and greater purchasing power to workers

With the basic policy stated above, the general nature of the law could be surmised The gist of the law is found in Sections 7 and 8. Section 7 states.

"Employees shall have the right of self-organization, to form, join, or assist labor organizations, to bargain collectively through representatives of their own choosing, and to engage in concerted activities, for the purpose of collective bargaining or other mutual aid or protection."

In order to effectuate this guarantee, Section 8 listed five unfair labor practices prohibited to employers covered by the act. These were:

"(1) To interfere with, restrain, or coerce employees in the exercise of the rights guaranteed in section 7
"(2) To dominate or interfere with the formation or administration of any labor organization or contribute financial or other support to it .
"(3) By discrimination in regard to hire or tenure of employment or any term or condition of employment to encourage or discourage membership in any labor organization: Provided, That nothing in this Act . . . or in any other statute of the United States, shall preclude an employee from making an agreement with a labor organization (not established, maintained, or assisted by any action defined in this Act as an unfair labor practice) to require, as a condition of employment, membership therein, if such labor organization is the representative of the employees . . . in the appropriate collective bargaining unit
"(4) To discharge or otherwise discriminate against an employee because he has filed charges or given testimony under this Act
"(5) To refuse to bargain collectively with the representatives of his employees, . "

Such were the key prohibitions of the National Labor Relations Act, the remainder of the law defined the terms used and the broad outline of the machinery needed to administer it. It should be noted that the law as passed specified only the rights of workers and the duties of employers. Nothing was said that in any way indicated duties or responsibilities of workers or unions or any rights of employers. Probably this one-sidedness was, to the average person, the most objectionable feature of the act, in the post-World War II period it gave an excellent talking point to the act's opponents, who seized upon the occasional irresponsible acts of unions to attack the National Labor Relations Act and demand its revision or repeal.

Most labor leaders, however, defend the manner in which the law was drawn. They maintain that, without guarantees of workers' rights to organize in unions of their own choosing, many employers would refuse to allow unionization. And as for a requirement that unions bargain collectively, it is argued that such a law is not needed because collective bargaining is essentially the only purpose of unions. It may be true, in a technical sense, that no legislation is

needed to compel a union to bargain But the manner in which bargaining is done is another matter There is little doubt that the bargaining practices of some unions are not, from the start of negotiations, serious efforts to find a mutually satisfactory and workable solution to some controversial issue that has brought the parties together in a bargaining conference. Early negotiations often seem to be the time when union leaders seek to publicize their position rather than to get down to earnest examination of points in dispute.

A number of definitions in the act are of importance in understanding its meaning and coverage. As to the latter, the law extended only to employers and employees who were engaged in commerce or industries affecting commerce Thus, employees of the United States or any state or political subdivision thereof were not covered, neither were those persons who were subject to the Railway Labor Act Also, agricultural laborers and domestic servants were excluded, as were persons working for parents or spouse.

The term "commerce" was not difficult to understand, essentially, it referred to all commerce between the states or territories or between them and any foreign nation. The expression "affecting commerce" was not so clear, because it is the term that broadened the coverage of the law the exact definition is reproduced here "The term affecting commerce means in commerce, or burdening or obstructing commerce or the free flow of commerce, or having led or tending to lead to a labor dispute burdening or obstructing commerce or the free flow of commerce " Under such a definition, almost any firm that shipped goods in commerce would have been subject to the law. Although some administrative and court opinions were necessary to indicate exactly what quantity of goods should be shipped in commerce to subject a firm to the law, there was nothing in the act itself that prevented application of the law where shipments in commerce were extremely light. It probably should be noted in addition that the law did apply to workers in the District of Columbia and the Territories whether the employer shipped goods in commerce or not.

Since the law was designed to lessen the number of labor disputes that affected commerce, or to try to settle them, the term "labor dispute" also was given a very broad connotation. It was defined as "any controversy covering terms, tenure, or conditions of employment, or concerning the association or representations of persons in negotiating, fixing, maintaining, changing, or seeking to arrange terms or conditions of employment, regardless of whether the disputants stand in the proximate relation of employer and employee." This definition, similar to that in the Norris-LaGuardia Act, made it possible for non-employee representatives of an outside union repre-

senting the workers to bargain with employers. The refusal of employers so to bargain gave rise to many labor disputes under the jurisdiction of the administrative board that is to be discussed presently.

It is interesting to note that Congress did not define or give any indication of the meaning of some of the most vague terms of the act. Thus, there were no guideposts to indicate the connotation of "bargain collectively" or "restrain or coerce employees" or "the unit appropriate for the purposes of collective bargaining" As we shall see in the next chapter, the lack of any definition of some of these terms has necessitated a large amount of interpretation The omission of such definitions has given the National Labor Relations Board much leeway in making decisions. Whether this is good or bad depends on the composition of the board and the reactions of individuals

### The administrative organization

To administer the act, a three-man National Labor Relations Board was created The members, all representing the public, were first appointed for one- three- and five-year terms respectively, subsequent appointments were for five-year terms Members were paid $10,000 per annum and were eligible for reappointment. When the members of the board were appointed, the "first" National Labor Relations Board, created pursuant to Public Resolution 44, ceased to exist. Employees of the old board, records, papers, property, equipment, and unexpended funds all were transferred to the new agency The board was empowered to establish a field staff to carry out its functions. And the national board could make, amend, and rescind such rules as it deemed necessary to carry out the provisions of the act

In establishing its field organization, the board had in 1946 twenty regional offices in key cities of the United States plus offices in Hawaii and Puerto Rico. Since the great majority of cases were filed in the regional offices, these were important parts of the organization Each such office had a staff including a director, a number of examiners and lawyers, and clerical help as needed These regional offices were on the firing line, in so far as the act was concerned, interpreting and applying it as its officers saw fit, subject always to guiding decisions, or overruling, from the national office [13]

In administering the act, the task of the board was twofold· (1) to prevent or remedy unfair labor practices of employers that might

[13] When especially novel problems confronted the regional boards, they could send "Requests for Advice" to the national office Despite this fact, the regional officers had a heavy responsibility in interpreting the act

tend to discourage organization of their workers or interfere with or discourage the practice of collective bargaining, and (2) to determine appropriate bargaining units and representatives desired by workers for collective bargaining. The board did not have authority over any other type of labor dispute, a matter of wages or hours, for example, could not be brought before the board unless wages or hours were being manipulated in such a way that there was discrimination against union or potential union members. However, the board's authority was not limited to cases in which there was a formal union or union activity, unfair labor practices directed against informal or spontaneous groupings of workers were subject to the scrutiny of the board just as they would have been if directed against any independent union.[14]

Procedures under the act

It is not intended to discuss in this chapter the manner in which the law was interpreted and applied, but it is desirable to outline the general procedure under which an unfair labor practice or a representation case was handled. Let us note the manner in which the law functioned in an unfair labor practice case. First of all, the board or its representatives could not investigate such a situation on their own initiative. They might have had every reason to believe that there were unfair labor practices in existence in a certain plant, but until the time that some individual or labor union filed a charge with the regional director alleging that unfair practices had occurred the hands of the board were tied.

Once charges were filed, a field examiner was assigned the task of making an investigation to gather all pertinent facts, the employer was notified of the nature of the charge and asked to supply the regional office with his version of the state of affairs. The person who filed the complaint was encouraged to submit a written statement or affidavit giving information concerning the unfair labor practice. After the parties to the dispute supplied information the field examiner could interview persons with a knowledge of the situation. Once the investigation was completed and the report of the field examiner made, the case could be disposed of by withdrawal of the charge, dismissal, or settlement.

If the investigation indicated either that there was no violation of the unfair labor practices section of the act or that the board did

---

[14] For an excellent popular presentation of the powers and procedures of the board see Division of Labor Standards, U. S. Department of Labor, Bulletin No. 81, *A Guide to the National Labor Relations Act*. Washington, D. C.: U. S. Government Printing Office, 1946. The following pages contain much material based on that pamphlet.

not have jurisdiction over the particular issue, the regional director recommended withdrawal of the charge by the person or organization that filed. In case of withdrawal, the employer was notified and that was the end of the matter. There is one interesting fact, however, concerning the withdrawal of cases. Although the board could not act unless some person or organization filed charges, once filed, the board did not have to permit withdrawal if it did not choose to do so. The purpose involved herein was the prevention of settlements that would not have been in keeping with the principles upon which the N L R A. was based. Thus, an employer who sought to make a money payment to the workers in return for a withdrawal might not succeed in getting the charge withdrawn if the regional director decided that the settlement did not adequately live up to the standards of labor practice specified in the N L R.A.

If the aggrieved party did not wish to withdraw a complaint in compliance with the recommendation of the regional director, the latter could dismiss the case. In notifying the parties of his action, the director followed the practice of calling to the attention of the complainant the fact that he could appeal his case to the national board within ten days. That body could support the dismissal or direct further investigation.

In case the investigation of the field examiner showed that there was merit in the charge, there were two general methods of settling the matter. The one which was tried first, probably by the field examiner, was an informal settlement without proceedings The idea was that informal and voluntary settlements were the ones most likely to prove effective in the long run. For such a settlement to be acceptable, the employer had to be willing to take the action necessary to remedy the unfair labor practices found to exist. This action might consist of reinstatement of workers, bargaining collectively, or other action dictated by the findings of the investigator All such informal agreements were subject to the approval of the regional director, no cases were to be closed in the regional office without proof of compliance, including posting of notices of the agreed settlement. Failure of an employer to live up to such a settlement might have lead to the issuance of a formal complaint by the regional director

Informal settlements such as those noted above accounted for the great majority of all the unfair labor practice cases that came before the board. It is reported that up to mid-1946 over ninety per cent of all cases were withdrawn or settled informally At least two-thirds of the cases that were not withdrawn were settled by agreement of the parties in the manner outlined in the foregoing paragraph.

If the investigation indicated that the charges had a basis in fact and if efforts of the field examiner to bring about an informal settlement showed no results, a formal complaint and notice of hearing was issued. The complaint was served on all parties and contained a formal statement of the unfair practices with which the employer was charged. The latter had ten days in which to answer the complaint, setting forth his defense. This filing of the complaint was the first formal action taken in a case. The fact that the employer had only ten days in which to answer the complaint was not quite so restrictive as might be thought. In most instances he knew before the end of the field examiner's investigation and attempts at settlement precisely what the situation was and whether or not he intended to settle voluntarily or fight the case. Therefore, his preparation for defense could begin in advance.

After a formal complaint had been issued, or even after the hearings, the parties still might get together to settle the issue voluntarily, although the settlement had to be in keeping with the provisions of the law. Under such a settlement, the parties and a representative of the board signed an agreement that the board could issue an order directing certain action required to remedy the unfair labor practices and that it would be accepted. Frequently, the agreement included employer consent to a decree from the Circuit Court of Appeals that embodied the terms of the board order. All such agreements were subject to the approval of the national board. In case of failure of the employer to comply with the terms of the agreement, the board petitioned the Circuit Court for enforcement. However, in instances when the settlement included agreement to the entry of a court decree, the board would then seek to have the company held in contempt of court.

But suppose a case arose, as was infrequently true, in which all attempts at informal settlement were to no avail; what happened then? A formal hearing was held, usually near the location of the trouble spot giving rise to the case. The hearing, open to the public, was before a presiding trial examiner from Washington. Both the board and the defendant employer would be represented by attorneys at this stage, an attorney from the regional office handling the government's case. The trial examiner and all parties to the hearing had a right to call witnesses and examine or cross-examine them. Subpoenas could be issued by the trial examiner to require attendance and testimony of a reluctant person.

When the hearing was concluded, the trial examiner prepared an intermediate report summarizing his findings of fact and his recommendation for disposal of the case. His recommendation could be for dismissal or for certain actions to be taken by the employer in

order to remedy the unfair labor practices found to exist. Copies of the report were sent to all parties and to the national board. Although this report was not final, it indicated what was likely to be the ultimate action of the board and gave the parties a final basis on which to agree voluntarily without a formal order of the board However, either party had ten days within which to ask permission to appear before the national board for oral arguments on the case, either party also had fifteen days in which to file exceptions to the report

The final step in a case that was carried to the bitter end was the review of the entire record of the case by the national board, this might be with or without oral arguments by the parties involved The board could order dismissal of the complaint if it found no violation of the law. If it did find a violation, it directed the employer to cease and desist from certain labor practices proscribed by the law and to undertake certain actions to remedy the unlawful practices Along with the remedial action directed, all board orders required the employer to post notices containing the terms of the order.

Subsequent to the order of the board, the regional director from whose region the case arose contacted the employer to work out the terms under which the order was to be effectuated If the employer was willing to comply and took the necessary steps, the director made an investigation and reported the facts to the national board. If these were acceptable to the board, the case was closed, but only for as long as the employer continued to observe the terms of the directive

The act did provide that "any person who shall willfully resist, prevent, impede, or interfere with any member of the Board or any of its agents or agencies in the performance of duties pursuant to this Act shall be punishable by a fine of not more than $5,000 or by imprisonment for not more than one year, or both," but there was no provision for the enforcement of board orders If an employer was unwilling to comply with an order, the board could request the Circuit Court of Appeals to enforce it; conversely, the employer might petition the same Court to set aside the order Either party of course had the right of appeal to the Supreme Court.

When the Circuit Court reviewed a board order and directed its observance, the first actual compulsion entered the case. Failure to observe a court decree made the violator subject to punishment for contempt of court. After court direction of observance of an order, the board was to investigate to ensure compliance, and if such was not found to report its findings to the court.

The power of the board to issue orders amounted to putting the

injunction shoe on the other foot By procedures similar to court injunctions the power of a government body to direct the performance or the cessation of certain actions put many employers in a position in which they could not deal with the attempts of their workers to organize as they might have liked Essentially, labor shifted within a period of five years from a condition in which it bore the brunt of numerous injunctions to one in which it enjoyed numerous quasi-injunctive orders in its favor.

**Determination of bargaining units and representatives**

It has been said that the other function of the board was to determine the proper representative for the purpose of collective bargaining. This was essentially a double question or problem involving the determination (1) of the appropriate bargaining unit, and (2) of the proper representative of the workers in that bargaining unit. These problems again arose out of requests made to the board; it could not act on its own accord. Up through World War II either a union or, under certain conditions, an employer could petition the board to certify the proper bargaining agent. The union might file a petition at any time that it felt itself in a position to win an election or otherwise prove that it was the proper representative The employer, on the other hand, could file a petition only if two or more unions each claimed to represent a majority of the employees The purpose of this provision was so that an employer would not be able to call for an election at a time when he could influence in some way the outcome of an election While he was restricted in his right to petition for election, the employer was within his rights to refuse recognition if he had an honest doubt as to whether the union demanding recognition actually represented a majority of the employees in the appropriate bargaining unit

More needs to be said in the following chapter about the interpretation of an appropriate bargaining unit Many cases have arisen over this question, and the varied rulings are of interest and importance Here we shall only note the problem. There are a number of potential bargaining units, perhaps the narrowest would be the members of one craft working for one employer, the broadest, an industrial-type organization stretching over a wide geographical area. Between these extremes there might be craft organizations on an area-wide basis, industrial organizations on a plant-wide or multi-plant basis, or perhaps some other arrangement. Since it would be an extremely rare occasion when all persons agreed on an appropriate unit for bargaining, especially in view of the conflict between the A F of L and the C.I.O., the naming of the proper bargaining unit was not easy.

Let us assume that this matter was not a problem and that the petition for determination of the proper bargaining representative had been correctly filed on the prescribed forms. If such were the case, a field examiner from the regional office investigated to determine whether the union in question had a substantial interest in the representation of the unit. This could be proven by showing applications for membership, records of dues payment, or other such papers indicating representation of thirty per cent or more of the workers in the unit. Evidence of interest would also be assumed where the union in question was a party to a current or recently expired agreement covering all or a part of the workers Finally, interest would be assumed if the employer and the unions involved agreed among themselves to a "consent election." If the conference or other investigation conducted by the field examiner showed that a question of representation had arisen and that the petitioning union had sufficient representation among the workers, he would try to effect a voluntary and informal settlement If a question of representation had not arisen, if the union lacked sufficient representation, or if some other condition indicated there was no need of an election, the petition would be withdrawn or dismissed.

In case the petition appeared to have merit, the simplest and most obvious voluntary adjustment of the issue was by a recognition agreement. This meant that the employer and the union signed an agreement specifying the bargaining unit and the fact that the union represented a majority of the employees in the unit and that the employer recognized and would bargain with it. Such an agreement was subject to the approval of the regional director, who would require to be posted in the plant for a period of five days the text of the agreement and a notice that an interested party could contest the agreement. Failing such objection, the regional director granted approval and the case was closed.

A second type of voluntary settlement of representation cases that was allowed under the act was the consent cross-check This, like the recognition agreement, could be used only when one union was involved. In this instance, the union and company signed an agreement indicating the bargaining unit and agreeing to have a representative of the board check some specified documentary proof of union membership, such as applications for membership or dues records, against the employer's payroll of a certain date. Once the cross-check was completed, if the union was not designated by a majority of the workers, the regional director would drop the case and notify the parties. If the union had been designated by a majority, the director required posting in the plant copies of the cross-check agreement and outcome and notice of a five-day opportunity

to contest the finding. If no such objection was forthcoming after five days, the union was officially designated as the bargaining agent and the case closed.

Still another type of voluntary settlement of representation cases —one that was used frequently—was the consent election. This could be used where more than one union was involved or where there was doubt as to the validity of union records as proof of membership. In these cases, the employer and union or unions signed an agreement setting out the bargaining unit, the date of the payroll to be used to determine eligibility for voting, and the place, date, and hours of the consent election. The employer also signified his willingness to recognize and bargain with the union designated by a majority of the employees voting in the election This last point should be noted, the bargaining agent was named by a majority of the employees actually voting, not of those eligible to vote.

The techniques of holding such an election need not be examined in detail Arrangements were made by a field examiner from the regional office who usually held pre-election conferences to work out as many details as possible The actual supervision of voting and counting of the votes was done by agents of the board, with an equal number of representatives of each party present to observe and assist. Provisions were made for either party to challenge votes for reasonable cause. In case no union received a majority of the votes cast, a run-off election was required between the two unions or between one union and no-union representation, depending on which choice received the most or second largest number of votes, unless there were so many votes challenged as to affect the outcome, the run-off would of necessity result in some one choice obtaining a majority. If there were no objections within five days to the conduct of the election, the results were certified; if there were objections, the regional director investigated. In either case, his ruling in a consent election was final and binding [15]

If after a petition was filed the field examiner could get no agreement or any sort of voluntary settlement, a hearing had to be conducted. This was held, after due notice from the regional director to all interested parties, before a trial examiner [16] Unions wishing to participate in the hearing could ask permission to do so. How-

---

[15] Two other types of voluntary settlement might be mentioned. the stipulated cross-check and the stipulated election For these the formal action and certification came from the national board rather than the regional director

[16] However, late in 1945 regulations were changed to allow the regional director to conduct a secret ballot or decline to continue an investigation if no substantial issues were involved (such as the appropriate bargaining unit) See, *Eleventh Annual Report of the National Labor Relations Board*, p. 181. Washington, D. C U. S. Government Printing Office, 1947

ever, they could take no part unless their request was granted, either by the regional director prior to the hearing or by the trial examiner while the hearing was in progress. At the hearing the interested parties were heard and allowed to submit evidence, the entire purpose being to gather sufficient data to allow the board to reach a decision. After the close of the procedures the parties were allowed one week in which to file briefs concerning the case or to request a hearing before the national board.

Upon receipt of the record of the hearing the N.L R.B. reviewed the case, heard interested parties if they had been granted permission to appear, and rendered its decision. It could dismiss the petition if the unit sought was not an appropriate one for collective bargaining. The more likely decision was the direction of an election, in which case the board specified the bargaining unit for which the election was to be held, the unions that were to appear on the ballots, and the groups of employees that could participate in the election The regional director usually was required to hold the election within thirty days of the rendering of the decision.

Once the election was held, according to the procedure worked out, and the results tallied and supplied to the interested parties, each one had five days in which to file objections with the regional director. Filing of such objections called for an investigation by the director, on completion of which a report and recommendation was made to the national board. There followed another five-day period in which exceptions could be filed before that body The board might make or cause to be made a further investigation, if it saw fit, and, finally, the decision was issued either dismissing the petition, certifying a specific union as the exclusive bargaining agent, or taking other action if necessary. Of course, if there was no objection to the conduct of the election, the regional director so reported and the board certified the union receiving the majority of the votes as the exclusive bargaining agent for employees in the specified bargaining unit. In this and in the consent type of election, a run-off between the two choices receiving the highest number of votes was necessary if no one received a majority in the first balloting

There were no provisions in the act for the enforcement of decisions issued in representation cases. Actually, there was no need for such because a failure to observe the decisions would lay the company open to a charge of unfair labor practices. The determination of the proper bargaining unit and representatives was only a means to the primary goal of the law; namely: the prevention of unfair labor practices that interfered with the right of workers to organize and engage in the process of collective bargaining. There-

fore, if the board directed on the basis of an election that some one union be designated as bargaining agent, an employer who refused to recognize and bargain with the union had committed one of the five unfair labor practices listed in the act. On the filing of a complaint, the board could start proceedings on an unfair labor practice case, which, if the employer would not "cease and desist," would end in a petition for circuit court enforcement.

### Functioning of the board

The board reported that during its first ten years of activity nearly eighty-five per cent of all cases handled were disposed of at the regional level without formal action. In 38,000 representation cases, slightly over one-fourth were withdrawn or dismissed by the regional director and approximately one-half were settled by informal means Slightly under one-fourth were closed by formal action In the 36,000 unfair labor practice cases, nearly one-third were withdrawn and one-sixth dismissed by the regional director; almost forty-three per cent were settled informally and slightly over eight per cent required formal action for final closing One interesting fact is reported in connection with the elections held in representation cases About eighty-five per cent of those eligible to vote did so, a much higher proportion of those eligible than commonly vote in political elections, and of the valid votes cast, over 6,100,000, about eighty-four per cent voted in favor of some form of union representation

Such were the provisions and general practices of application of the National Labor Relations Act. As has been said, it came to be one of the most highly criticized pieces of legislation ever enacted At first glance, it is not easy to understand why the law was criticized so severely. Courts, lawmakers, and the public had given lip service for a century to the idea that workers do have the right to organize for collective bargaining But there is considerable difference between lip service to a principle and a real effort to apply that principle and make it mean something. Perhaps the shock of the N.L R.A. came not so much from the provisions of the act as from its application. When many employers found a sincere attempt to make the law meaningful rather than a formality, they began attempts to prove it unconstitutional and, failing this, to get legislative revision In the latter effort they succeeded very well in 1947 The Taft-Hartley Law was the culmination of ten years of sniping at the N.L.R.A

There is another reason why the objection to the law seems so strange It is difficult to recall a statute that in provision and practice has had so little compulsion in it Except for persons who wilfully resisted or interfered with the activities of persons performing services for the board, the only enforcement came after review of a

board order by the circuit court. And, as has been indicated above, some eighty-five per cent of all cases handled were settled without any formal action of the board Certainly, the great majority of the work of the board was done without resort to force in order to bring about action that was in keeping with the policies laid down in the act.

There seems to be only one valid conclusion. The average employer in American industry objects to the organization of his workers in unions that are outside of his control The objection is an understandable one For if workers organize in a union, the next step is to demand joint determination of some matters that previously were determined by management alone. This means that "the right to manage" is being encroached upon, and such encroachment is quite likely to bring strong objection It may be argued that this is an overstatement or that there are many employers who are quite willing to have their workers belong to unions. It is true that many employers no longer outwardly oppose union membership by their workers. Probably this is merely a matter of gradually accepting as inevitable that which was at one time effected by force

It will be noted that where union membership no longer seems open to question, employers often insert in their agreements some clause concerning the right to manage. In such provisions they are attempting to draw a line beyond which a union may not go in demanding joint determination of conditions. Thus, the difference between the person who objects to unionism among his workers and the one who seeks to put into an agreement a clause saying "these are the prerogatives of management" is the line of resistance along which they are fighting The person who opposes unionism *per se* is fighting along an outpost line of resistance, so to speak, while the other person has been forced to withdraw far enough to permit organization. The National Labor Relations Act coupled with the dynamism injected into the labor movement by the formation of the C.I.O. did much to speed such withdrawal.

Whatever the attitude toward the N L R A., it was the law of the land during a hectic twelve years and, with many revisions, survived the postwar passage of the Taft-Hartley Law Therefore, the interpretations by the courts and administrators of the meaning and applicability of the law are of interest and importance. This subject will be surveyed in the following chapter.

## Questions

1 What were the most important factors that kept Section 7 (a) of the N.I.R.A. from being an effective means of promoting union organization?

2. At the time that the National Labor Relations Act was passed how much judicial precedent was there in important labor cases for believing that the Supreme Court would hold it a valid exercise of the commerce power?

3 In view of the state of labor-management relations in the early 1930's, do you believe that the statement of unfair labor practices for employers only was defensible?

4 If you were charged with the task of determining an appropriate bargaining unit, what factors should you consider in making your decision?

5. What, in your opinion, were the most obvious weaknesses in the National Labor Relations Act?

6 Give a list of the activities which you believe were covered by each of the five unfair labor practices. What employer actions in the labor relations field were left untouched?

## CHAPTER XVII

# THE NATIONAL LABOR RELATIONS ACT
## (*concluded*)

### Constitutionality of the act

The general purpose and provisions of the N.L.R.A. and some of the procedures used in applying the act have been noted. However, the very important question of the constitutionality of the act had to be answered before it became an effective part of the law of the land, since doubt as to its validity served as an excuse for widespread violations. In addition, there was the problem of building gradually a body of principles and doctrine to indicate the manner in which the provisions of the law would be applied in various circumstances Both the constitutionality and application of the law merit careful attention.

The constitutionality of the law and the fact that it was applicable to a wide range of business enterprises were established in 1937 by five Supreme Court decisions handed down at the same time These dealt with the application of the law to three different types and sizes of manufacturing concerns, an interstate news agency, and an interstate bus line The ruling in four of the five decisions was by the narrowest possible division of the court, five to four Probably the most important of these decisions was that which concerned the Jones and Laughlin Steel Company.[1] In this case the company had been accused by the Amalgamated Association of Iron, Steel and Tin Workers of America of an unfair labor practice, it was alleged that it had discriminated against certain of this union's members by discharging them. Following the procedures outlined in the foregoing chapter, the board investigated the charge and, after deciding that it was valid, issued a complaint. Later the board issued an order to the company directing it to cease and desist from the discrimination, to reinstate ten men with back pay, and to post notices that the company no longer would discriminate against members or prospective members. The company refused to obey the order.

As was noted in the preceding chapter, the board or a company could go to the Circuit Court of Appeals for enforcement of or relief

[1] *National Labor Relations Board v. Jones and Laughlin Steel Co*, 301 U S 1 (1937)

from an order In keeping with this provision, the board asked the Circuit Court of Appeals to enforce its order The Court refused on the grounds that the order was beyond the range of federal power, since manufacture was not a part of commerce From this ruling the board appealed to the Supreme Court.

Although the company denied to the board that discharge of the men was anti-union discrimination, maintaining that the dismissals were for inefficiency or infractions of rules, it contested the board in the courts on the basis of the constitutional validity of the act. It centered its argument on three points: (1) that the act was in reality a regulation of labor relations and not interstate commerce, (2) that the act could not be applied to production employees in the plant because they were not subject to federal control; and (3) that the act violated certain constitutional provisions, namely: Section 2 of Article III and the fifth and seventh amendments.[2]

The Supreme Court, in turn, did not weigh carefully the reasonableness of the discharges This was merely good court practice, also specified by the law, which dictated that the Court accept the findings of fact of a body such as the board, unless they clearly were not supported by evidence. The Justices pointed out that the company, while criticizing the board's finding on the discharges, did not attempt to refute the board's position. They did state, in passing, however, that "the evidence supports the findings of the Board that respondent discharged these men because of their union activity and for the purpose of discouraging membership in the union." If that were the case, the next question was whether Congress could prohibit such discriminatory discharge of union men

The issue on which the Court spent most of its time was that of exactly what power was conferred on the Congress by the interstate commerce clause, in other words, how far could the clause be stretched to permit regulation of matters not directly connected with the movement of goods over state lines. As the court majority pointed out, "The authority of the federal government may not be pushed to such an extreme as to destroy the distinction, which the commerce clause itself establishes, between commerce 'among the several states' and the internal concerns of a State That distinction between what is national and what is local in the activities of commerce is vital to the maintenance of our federal system." Very shortly thereafter the Court gave general approval to the act by saying, "We think it clear that the National Labor Relations Act may

[2] Section 2, Article III and the seventh amendment both provide for trial by jury in almost all cases, the fifth amendment violation was the usual accusation of taking property without due process of law.

be construed so as to operate within the sphere of constitutional authority." However, the issue remained for decision as to precisely what acts did affect commerce sufficiently to warrant federal control. It was declared a "familiar principle that acts which directly burden or obstruct interstate or foreign commerce, or its free flow, are within the reach of the congressional power. Acts having that effect are not rendered immune because they grow out of labor disputes." No attempt was made to go beyond the rather loose wording herein and specifically indicate the circumstances under which an act would be a *direct* burden or obstruction on commerce. However, the Court did point out that it was the effect of an act upon commerce and not its nature nor the source of the injury that determined whether a certain act was to be subject to control by the federal Congress

From this it is clear that the Court recognized the possibility of labor disputes becoming sufficiently burdensome to warrant federal control under the commerce power. But did a potential labor dispute in a steel mill have a sufficient connection to commerce to justify the National Labor Relations Act? In the Court's opinion, it did. In arriving at that conclusion, the Court reiterated its belief in the right of workers to organize, a time honored doctrine which existing practices frequently did not fit And it was held that the guarantee that there be no interference with the selection of representatives was not a violation of constitutional rights but rather a recognition of the need to equalize the rights of both labor and management. "Employees have as clear a right to organize and select their representatives for lawful purposes as the respondent has to organize its business and select its own officers and agents"

There were various ways of looking at the question of the relationship to commerce of a labor dispute in the Jones and Laughlin plant. Was the manufacture of steel just one phase of a long movement of raw material from its original source, through a number of steps and processes and often across state lines, to the final consumer? Or was the manufacturing process sufficiently set aside and separable from the flow of commerce to warrant the position of the company that the activity of its workers was not affecting commerce? The Court previewed its conclusion by declaring:

> "Although activities may be intrastate in character when separately considered, if they have such a close and substantial relation to interstate commerce that their control is essential or appropriate to protect that commerce from burdens and obstructions, Congress cannot be denied the power to exercise that control."

In spite of the fact that there was a delay in the movement of raw materials into finished products at the manufacturing site, where materials might be stored for months, it was held that a stoppage of operations at that site by industrial strife would have a serious effect on commerce. From this reasoning and numerous excursions into related fields the Court came to the conclusion, regarding the case at issue, that:

"instead of being beyond the pale, we think that it presents in a most striking way the close and intimate relation which a manufacturing industry may have to interstate commerce and we have no doubt that Congress had constitutional authority to safeguard the right of . . employees to self-organization and freedom in the choice of representatives for collective bargaining."

There remained at least one other question to be considered by the Court. The company had asserted that rights guaranteed under the seventh amendment were denied to it. That amendment provides: "In suits at common law, where the value in controversy shall exceed twenty dollars, the right of trial by jury shall be preserved" The provision was held by the Court to be inapplicable in the case since it was not a suit at common law. Further, it was held inapplicable since the recovery of money damages was subordinate to the equitable relief which was sought, namely. the discontinuation of unfair and discriminatory labor practices

Thus, on the basis of the reasoning outlined above, the majority stated its opinion that "the order of the Board was within its competency and . . the act is valid as here applied" The case was remanded to the Circuit Court for action in conformity with the ruling. A milestone in Supreme Court rulings had been reached.

This same line of reasoning was used by the majority in two other cases attacking the validity of the N.L.R.A., these opinions were delivered at the same time as the Jones and Laughlin decision. In one of the cases[3] the question was whether or not a relatively large manufacturing concern not possessing or controlling an integrated series of steps in production, such as sources of raw material, means of transportation, and so forth, was subject to the act. The Fruehauf Trailer Company owned a plant located in Michigan but purchased over half of its raw materials and sold over eighty per cent of its product outside the state; it was accused of discharging members of the auto workers' local employed in the plant. The N L.R.B. found an unfair labor practice and ordered the company to cease and de-

[3] *National Labor Relations Board v. Fruehauf Trailer Co*, 301 U S 49 (1937)

sist. On company refusal to observe the order, the board turned to the Circuit Court, which refused to enforce the board ruling.

The other case of the triumvirate concerned a clothing company,[4] the Friedman-Harry Marks Company was one of the fifty largest concerns of the 3000 that made up the men's clothing industry. Despite its relative size, the proportion of the production of men's clothing for which it was responsible was very small, perhaps one-half of one per cent. However, it obtained over ninety-nine per cent of its material from outside the state and sold about eighty-three per cent outside. The President of the company was strongly opposed to the activities of the Amalgamated Clothing Workers and threatened to fire anyone who joined the organization. Finding this to be an unfair labor practice, the board directed the company to cease and desist. Company refusal caused the board to appeal to the Circuit Court, which in this case again refused to enforce the ruling.

When these two cases were argued before the High Court, the points of objection were essentially the same as those of the attorneys for Jones and Laughlin except that violation of free speech was included for good measure. The majority simply reviewed the arguments of the parties and the situation surrounding both cases and then said that the Jones and Laughlin ruling applied. Neither the absence of an integrated series of steps in production nor the small part of the total industry production attributable to one plant was sufficiently important to differentiate the cases.

That the cases could not be distinguished was the one point on which the dissenters agreed with the majority; they issued one dissent applicable to all three cases. The dissent of four members of the Court, written by Mr. Justice McReynolds, was lengthy and diametrically opposed to the opinion of the Court majority. The crux of their dissent was that the matter regulated was not a part of interstate commerce. In the words of the dissenters, the power granted by Congress to the board "puts into the hands of the Board . . . control over purely local industry beyond anything heretofore deemed possible." In their opinion, the manufacturing of goods was a process separable from the movement of raw materials, much of it across state lines, which preceded the processing, and from the distribution and marketing which followed. With that concept in mind, the dissenters declared, "It is unreasonable and unprecedented to say the commerce clause confers upon Congress power to govern relations between employees and employers in these local activities." The minority admitted that labor unrest could indirectly affect the

---

[4] *National Labor Relations Board v. Friedman-Harry Marks Clothing Co.*, 301 U. S. 58 (1937).

flow of goods in commerce, but they insisted that the relationship was much too remote to give Congress control over labor relations Considerable space was devoted to stressing their idea that a direct and proximate relationship had to exist between an act and commerce before congressional control was warranted.

For added measure, the dissenters held that the National Labor Relations Act violated the freedom of contract provisions of the Constitution. As they put it:

> "The right to contract is fundamental and includes the privilege of selecting those with whom one is willing to assume contractual relations. This right is unduly abridged by the Act now upheld A private owner is deprived of power to manage his property by freely selecting those to whom his manufacturing operations are to be entrusted We think this cannot lawfully be done in circumstances like those here disclosed."

The dissent is quite understandable from a technical point of view. It points up again, if there is any need for emphasis, the fact that decisions well-founded in judicial reasoning and legal precedents may equally well be out of step with the realities of economic life. Without question, the manufacturing operation is an intrastate process. But it is also unquestionable that the free and continued flow of goods in interstate commerce depends on the continuance of that intrastate activity without interruption Interference with the manufacturing process will disrupt the flow of goods in commerce just as surely as would interference with the movement of a train, or truck, or barge, although the stoppage would not occur so quickly in the case of the manufacturing interruption. To argue that Congress can regulate only during the actual movement of goods is to argue that it cannot attempt preventive action to try to forestall interruptions that might occur later.

In the enactment of the anti-trust laws the Congress certainly had sought to control actions outside the stream of commerce because in the future they might affect the free flow of commerce. The N.L.R A. was a sort of anti-trust law in reverse, based on the fact that a refusal to allow workers to join unions leads in many instances to unrest that would interfere with the production of goods

The argument that the act violated the freedom of contract protected by the Constitution is an unconvincing one. It is true that employers were denied the right to discriminate in their employment practices against union members or prospective members. But such a restriction did not affect the many employers who had recognized and dealt with unions over many years. It was only those employers who were opposed to unions who had liberties taken from them.

In the absence of such a protective law the freedom of many workers to belong to unions if they so desired would have been denied. The denial would not have come from positive legislative enactments, but from the action of anti-union employers who were faced with no legislative requirement to maintain a hands-off attitude toward unions among their workers In the past there had been cases galore to prove this point[5] Should the liberty of employers who oppose unions or should that of workers who would like to join unions be protected? In the cases at hand two groups of Justices considered the question and came out with opposing answers, each with impressive lists of precedent cases to bolster its opinion That which they could not find was a common basis of social and economic philosophy.

Two other cases testing the applicability of the N L.R A. were ruled upon at the same time as the three already described. Each of them presented different issues from those in the foregoing cases and must be noted separately. In one case the question was whether the act was controlling on an interstate news service.[6] The Associated Press had discharged one Morris Watson who was active in the American Newspaper Guild. The Guild in turn charged that the company was guilty of an unfair labor practice; after a hearing, the National Labor Relations Board found that such a practice existed and issued a cease and desist order. This the company refused to obey The board carried the case to the Circuit Court, which supported the board and ordered observance. When the case was appealed to the Supreme Court, the company argued, beyond the arguments given in the other cases, that the act did not apply to the Associated Press because it was a creature of the newspapers and distributed news from all parts of the world to them. Since news was being distributed to member newspapers, it was argued that the exchange of news was not a sale Further, it was argued that the application of the law to the Associated Press constituted a violation of the first amendment in that it denied freedom of the press The reasoning back of this contention was that the law could require the retention of an employee who might color the news which he edited.

These arguments were not convincing to five members of the Court Mr. Justice Roberts wrote the opinion; it was held that interstate communication of a business nature was interstate commerce and that therefore the N.L R.A. did apply to the Associated Press.

---

[5] There are roughly fifty volumes of reports of *Senate Hearings on Violations of Free Speech and Rights of Labor,* conducted by ex-Senator LaFollette from 1936 to 1939, filled with such examples

[6] *Associated Press v. National Labor Relations Board,* 301 U. S. 103 (1937).

As in the three preceding cases, the Court did not agree that the act took property arbitrarily and without due process of law. As to freedom of the press, the majority held that it was not violated, the act required neither the hiring of anyone nor the retention of an incompetent person or one who was biased in his editing of material that flowed across his desk. The prohibition of discrimination on the basis of union membership was not such as to require standards of efficiency or fairness to be dropped.

In summarizing the opinion of the Court, Mr. Justice Roberts said:

> "The business of the Associated Press is not immune from regulation because it is an agency of the press. The publisher of a newspaper has no special immunity from the application of the general laws. He has no special privilege to invade the rights and liberties of others . . . The regulations here in question have no relation whatever to the impartial distribution of news."

Mr. Justice Sutherland dissented for himself and three other members. The gist of the dissent was that the application of the law to the Associated Press was a restriction on the freedom of the press. There was much talk in the opinion about the liberties of the people and the manner in which federal controls over these liberties could be extended if the N L R A were held valid in this instance.

Only one case[7] out of the five considered was decided without dissent. In this case the law was so clearly applicable and the decision added so little to the attitude of the Court that it may be dealt with summarily. The company, which ran busses from Washington, D. C., into suburban areas in Virginia and Maryland, did not argue, as had the other four contestants, that they were not engaged in interstate commerce. However, they argued that the law attempted to regulate all employment whether interstate or not and, as this was unconstitutional, the law had to fall. If the law were unconstitutional, then it could not apply in their case regardless of the fact that their employment was in interstate commerce. Since we have noted the earlier decisions applying the law to other types of business, it is clear that the Court would hold the law applicable to the coach company. This they did by a unanimous decision upholding the Circuit Court of Appeals.

### Application of the law: coverage

Thus the constitutionality and general applicability of the act was established. But with any law there is the task of building a body

[7] *Washington, Virginia and Maryland Coach Co. v. National Labor Relations Board*, 301 U. S. 142 (1937).

of doctrine that delimits the applicability of the law and clarifies the meaning of provisions that may be rather vague In legislation as controversial as the N L R.A such a body of doctrine is of especial importance. The National Labor Relations Board has been engaged for a number of years in rendering decisions from which their doctrines can be drawn It is necessary to examine the principles laid down.

Perhaps the first matter to be noted is the coverage of the law. The five original court decisions on it sanctioned very broad coverage, but many questions still remained as to exactly what employees were included.[8] As the Friedman-Harry Marks case showed, the relative amount of goods shipped in commerce was not controlling; neither was the fact that all of a good was sold within a state necessarily controlling. An electric company whose power was sold within the state to customers engaged in commerce was held included, as were cloth manufacturers selling within the state goods that later crossed state lines. In still another instance, a concern largely engaged in purely intrastate commerce, but with a part of the company engaged in commerce was held subject to the act.[9]

The board has held that whoever controls the labor policies of a concern is considered an employer. This was true of employer's associations, however, if it could be shown that such an association was not authorized, such a finding would not be made

In some instances, a company leases out some or all of its work to independent contractors. In cases of that nature where the subcontracting appeared to be an attempt to escape the provisions of the act, the company has been held responsible as the employer. But where sufficient independence was allowed in the operations of the contractor and his employment policies, the contractor was held to be the person to whom the law applied. In a similar vein, there have been cases when two or more concerns, jointly operating some business or facility, were held responsible for unfair labor practices An example would be a mining operation carried on by one concern on land jointly owned by several.

Since the act defined an employer so as to include persons acting in the interest of an employer, questions frequently arose as to the persons thus included. The board went rather far afield in some of these issues. The wife of a foreman, herself not employed by the company but actively opposing unionization of employees, was held

[8] For a brief but very good survey of the coverage of the act see· Millis, H A , and Montgomery, R E , *op cit*, Vol III, pp 524-528 See also: *Prentice-Hall Labor Course* For a more extensive presentation of information on this subject with citations of relevant board decisions see Prentice-Hall's *Complete Labor Equipment,* Vol. 2, *Labor Relations*

[9] *Virginia Electric and Power Company v National Labor Relations Board,* 314 U. S. 469 (1941)

to come under the definition of an employer subject to the act. Similarly, a person who gave much financial aid to a company and who had much influence on the business and its labor policies was held to be an employer for purposes of the act, even though he held no office in the company. On the other hand, a chamber of commerce that took part in a labor dispute independently and not at the request of the employer was not held to come under the definition included in the act.

The definition of an employer excluded the United States and the states and their political subdivisions; that exclusion has raised a number of questions in its application For example, was the private operator of a governmentally owned vessel exempt from the act? The board ruled in the negative. A mail transportation company working under government contract whose employees were subject to dismissal at the discretion of the Postmaster General was ruled subject to the act. On the other hand, a state commission established to acquire, construct, maintain, and operate harbors was ruled to be exempt from the act. A national bank, chartered under federal rules and a member of the Federal Reserve System and the Federal Deposit Insurance Corporation, was held to be subject to the act. The relationships to the federal government did not detract from the fact that the bank was a private business enterprise.

The term employee as used in the act was almost as difficult to define. Except for excluded agricultural and domestic workers the coverage was very broad; professional workers, minor supervisory workers, maritime employees, white collar workers, temporary workers, and persons who had been discriminatorily discharged all were employees[10] The exclusion of agricultural workers was construed rather narrowly to include persons cultivating the soil, harvesting crops, and rearing and managing livestock. Under such a principle, fruit pickers, nursery workers, and hatchery workers were excluded from coverage. Persons engaged in the packing of agricultural products were included, as were persons working in greenhouses, and so forth. Persons out on strike or out of work because of a labor dispute retained their status as employees, except that sit-down strikers and those striking in breach of contract or demanding wage increases in violation of wartime controls were not protected.[11]

---

[10] Prentice-Hall's *Complete Labor Equipment*, Vol 2, *Labor Relations*

[11] The Supreme Court ruled in the case of *Fansteel Metallurgical Corporation v National Labor Relations Board*, 306 U. S 240 (1939), that persons discharged as a result of a sit-down strike were no longer employees. The Court so ruled because in its opinion a sit-down strike "was not the exercise of 'the right to strike' to which the Act referred It was not a mere quitting of work. . . . It was an illegal seizure. When the employees resorted to that sort of compulsion they took a position outside the protection of the Statute. . . ."

## Application of the act: unfair labor practices

It will be remembered that Section 8 of the act prohibited to employers five unfair labor practices. In brief these were: (1) to interfere with the right to join a union, (2) to dominate or influence a union of the employees, (3) to discriminate in hiring or tenure on the basis of union membership; (4) to discriminate against an employee for filing charges under the act, and (5) to refuse to bargain collectively with designated representatives of the workers. On all these questions, the national board had to handle the problem cases after the regional or field representatives held hearings and recommended or directed certain action But any case that was significant and unprecedented was reviewed by the national board, and any such contest was between that board and the employer who objected to the directive or finding. Rulings of the board in these contested cases that illuminated the meaning of the proscribed activities are of interest

On the first prohibition, against interference, restraint, or coercion of employees exercising their right to join a union, a large body of doctrine has been built. Clearly discriminatory discharge, blacklisting, demotion, threat of removal of a plant, offers of bonuses to loyal employees, bribes, threats of bodily harm, and so on were unfair labor practices and were so held. So were the use of strikebreakers and the villification of a union or its members. Hiring of industrial spies and the watching of union meetings or of the polling places at the time of an election were also unfair practices. What an employer could say or do without violating the law was not easily determined and would not be the same from place to place and time to time For example, an employer who had a small, relatively easily moved clothing business in a town with little other employment and an anti-union attitude on the part of the public could, by expressing a doubt that he could continue in business if his workers unionized, have a strong influence on his employees' attitudes. On the other hand, in a union center such as Detroit and with a plant that was nearly immovable a similar statement would have had little effect. Generally, where there was no tradition of anti-unionism and if an employer merely stated desires without threatening dire results if a union was chosen, the employer was permitted to make his wishes known.[12] Certainly his freedom of speech was not absolute, since the economic power he held over his workers was great;

[12] *Prentice-Hall Labor Course.* This statement agrees with the unpublished comments of one of the regional directors of the National Labor Relations Board who observed that it was not so much the giving of a preference as the intimidating threats of dire results of certain choices that would be prohibited

but he could appeal to the courts if his real freedom of speech was unreasonably restricted. There was a certain area of discretion in which the board was forced to balance the right of free speech against the coercive efforts which an employer's comments might have on his workers.

There was another difficult question that arose in connection with allegations of coercion. That was the problem of the responsibility of employers for the behavior of their supervisors Generally, if the supervisor acted within the scope of his authority, the employer was responsible. In one case, the board held, and was supported by the Supreme Court, that lead men could be held to express the employer's viewpoint even though not directly authorized to do so. As the Court viewed the question, "The employer . . . may be held to have assisted the formation of a union even though the acts of the so-called agents were not expressly authorized or might not be attributable to him on strict application of the rules of *respondeat superior.*"[13]

Section 8 (2) prohibited domination of, interference with, or contributions to a union. This was not a prohibition against small local unions; a union could be limited in its membership to the employees of one company and still be a legitimate organization, but the probability of this was not great. The following are acts that generally were thought to be indicative of an attempt at domination and therefore an unfair labor practice. Payment by the company of the wages of a union official spending all his time on union matters was an indication of employer control, as were special concessions such as providing a meeting place on company property, allowing use of company equipment, and the like. The hasty recognition of a union or the recognition of one that was only company-wide when another union was trying to organize a plant was likely to be interpreted as an indication of an unfair labor practice.[14] Generally, any evidence of financial aid, of urging by employers or their representatives of one union over another, or of granting special favors to any one union was looked upon as an indication of domination.[15]

It is important to note that the discrimination in hire, tenure, or employment conditions proscribed by Section 8 (3) did not prohibit or limit the ability of the employer to dismiss incompetents or to promote deserving workers who qualified for promotion under rules

[13] *International Association of Machinists, Tool and Die Makers Lodge No 35 v. National Labor Relations Board,* 311 U S 72 (1940)

[14] See *National Licorice Co v National Labor Relations Board,* 309 U S 350 (1939).

[15] See *Prentice-Hall Labor Course* for a summary of activities prohibited and allowed.

that were applicable to all persons employed within the plant regardless of union affiliations Discharge or threatened discharge because of union membership was clearly prohibited by the section and was held illegal by the Supreme Court.[16] Similarly, demotion of a union man in violation of his seniority rights or without regard for his proven skill was interpreted as discriminatory. The same ruling was made in cases of refusal either to reinstate a laid-off union man or to hire qualified applicants because of union membership. In deciding on whether there was discrimination, the board considered the following: the company's stated reason for action against an employee, whether the employer took similar action against other workers, whether the worker was warned of forthcoming company action, whether the company knew of the union status of the employee, the employee's record on efficiency ratings, promotions, and the like, and the attitude of the company toward unions.[17]

Section 8 (4) forbade discharge of or discrimination against a worker who filed charges; since the central issue here was again the matter of discrimination, no new problem was introduced. Section 8 (5) was not so easily disposed of, the dilemma of when that provision was being observed adequately was indeed a complex one. This section made it an unfair labor practice for an employer to refuse to bargain collectively with the representatives of his workers. Actually, more was involved than the words imply, for it was one thing to go through the motions of bargaining collectively and quite another actually to bargain in good faith. The matter of bargaining in good faith was the crux of the problem. Following are some types of action that clearly were prohibited if an employer was to be considered as exhibiting good faith in bargaining: refusing to meet or negotiate with properly chosen representatives of an appropriate bargaining unit, even though the representatives might not be employees, trying to weaken the union position by changing working conditions during negotiations, rejecting union proposals without submitting management's basis of settlement; refusing to put an agreement into writing and sign it; refusing or failing to name representatives with sufficient authority to reach an agreement and/or to make them available for conference at reasonable times and places[18] Unless there were extenuating circumstances, the employer was required to bargain even though his workers were on strike. Even if the negotiators were reinstated strikers, the obliga-

[16] *National Labor Relations Board v Pennsylvania Greyhound Lines, Inc.*, 303 U. S. 261 (1938).

[17] Division of Labor Standards, U S Department of Labor, Bulletin No. 81, *A Guide to the National Labor Relations Act*, p 5.

[18] *Ibid.*, pp 5-6

tion remained.[19] One other point should be kept in mind; the act of 1935 imposed no obligations upon unions, and an employer was not allowed to use unfair statements by union leaders as an excuse for refusing to bargain collectively.

In addition to the above unfair labor practices that could be derived from the various prohibitions, a number of further observations on employer practice may be helpful. Management was allowed to make plant rules concerning union activity when that activity occurred during working time paid for by the employer, but such a ban could not extend to rest periods, lunch time, and similar hours. If the worker lived on company property, the ban of the employer could not extend to the employee's time at home Further, an employer might not question a prospective worker about his union affiliations or require such information on application blanks Nor could an employer use outside groups such as citizens' committees for anti-union activities

Closed shop and union shop provisions presented additional problems. While these provisions are only of historical interest under the current provisions of the Taft-Hartley Law, they are worth noting Specific provision was made in the old law that agreements requiring union membership as a condition of employment were permissible. However, two conditions had to be met by such agreements the union with an agreement had to be non-company dominated and chosen by a majority of the employees voting in an appropriate bargaining unit. Failure to meet these requirements would result in dissolution of the contract. Such an agreement could not be entered upon when a question of majority representation was pending before the board. Workers could not be discharged pursuant to a closed shop agreement if they were never informed of the existence of the pact or if the union refused them membership because of activities in behalf of another union.

Another matter of historical interest is whether foremen could organize for collective bargaining. Employers naturally opposed the idea on the basis that foremen were their representatives and therefore should not be a part of a labor organization. The national board issued different opinions on the problem By 1946 its attitude seemed to be rather clearly in favor of allowing foremen to join unions. If the membership of the organization was limited to foremen only, members were entitled to board protection of their right to organize. However, if the foremen were members of the same union as the men they directed, the company could insist that they not use their position to further the cause of the union, and it

[19] See Prentice-Hall's *Complete Labor Equipment,* Vol. 2, *Labor Relations.*

could remove a foreman to a non-supervisory job if he refused to observe such a request. Altogether, the position of foremen under the act was not a clear and adequately defined one.[20]

Application of the act: the bargaining unit

Another complex question other than that of what labor practices were unfair appeared frequently. This involved the necessity of determining what was an appropriate bargaining unit. Should the craft, the plant, the company, the industry, or a geographical area be the appropriate unit for collective bargaining? On many occasions an employer was faced with two or more unions insisting that they represented the workers or some segment of them How was the proper union to be selected? It was the job of the National Labor Relations Board to give answers to both of these questions.

Although the bargaining units selected varied widely from one case to another, the board took certain factors into consideration when naming the appropriate unit. The proposed units were examined in the light of:

> "(1) the history, extent, and type of organization of the employees in the plant, (2) the history of their collective bargaining, including any contracts with their employer, (3) the history, extent, and type of organization, and the collective bargaining, of employees in other plants of the same employer, or of other employers in the same industry, (4) the skill, wages, work and working conditions of the employees, (5) the desires of the employees, (6) the eligibility of the employees for membership in the union or unions involved in the proceedings and in other labor organizations, and (7) the relationship between the unit or units proposed and the employer's organization, management and operation of the plant." [21]

It may readily be seen that a proposed bargaining unit might not appear favorably in the light of all the points listed above. On the basis of such a list of criteria, quite different units could be designated in one case as compared with another. It was said that "The Board tries to join in a single unit only such employees and all such employees as have a mutual interest in the objects of collective bargaining." [22] This principle was very difficult of application. Obviously, the smaller and more closely knit a group, the more interests

[20] The Jones and Laughlin case, 66 N L.R B 51 (1946), is a recent example of the tendency to designate foremen and supervisors as a separate bargaining unit A similar practice was common for technical and professional workers, watchmen, office and clerical workers, and similar special groups. Board orders commonly separated these groups from the production workers.

[21] *Prentice-Hall Labor Course*

[22] *Ibid*

its members will have in common. But this guide could not be followed too closely, for matters of eligibility for union membership or the organization of other plants in a company or industry might override the inclination to choose the units in which the greatest mutual interests were present. It seemed logical, therefore, to expect that a variety of opinions as to appropriate bargaining units would be handed down. This is exactly what happened.

In the matter of Globe Machine and Stamping Company[23] the board had to determine whether a craft or industrial unit was appropriate. The unions affiliated with the A. F of L insisted that appropriate units required a craftwise split-up of the employees of the Globe Company, whereas the United Automobile Workers, C.I O., urged that the entire plant was the proper unit. The board actually side-stepped the issue by saying that either unit was appropriate and that an election among the craft workers should be considered as determining Later, in the matter of Allis-Chalmers Manufacturing Company,[24] the board saw fit to exclude draftsmen and technical engineers from the plant-wide unit and to state that firemen, oilers, and maintenance electricians could if they so desired be considered as separate appropriate units.

On the other hand, the board designated a company-wide unit in the Libbey-Owens-Ford Glass Company Case.[25] In compliance with the demands of the Federation of Flat Glass Makers of America, C.I.O., the board decided that all the plants of the company should be included in one unit.[26] In another instance a still more broad bargaining unit was named. In the Shipowners' Association of the Pacific Coast case[27] the entire Pacific coast area was named as one unit for bargaining with respect to all longshoring activity. This decision was in keeping with the stand taken by the International Longshoremen's and Warehousemen's Union of the C.I O.[28]

From these examples it is clear that the criteria listed by the board as guides for determining appropriate bargaining units were so applied as to yield a wide variety of decisions. The inclination to

[23] 3 N.L R B. 294 (1937)

[24] 4 N.L R B 159 (1937)

[25] 10 N L R B. 1470 (1939).

[26] This ruling was partially reversed in 31 N L R B 38 (1941) when the board excluded one plant, that in Parkersburg, W Va, from the previously designated unit on the grounds that the Federation of Flat Glass Workers had failed to organize the plant in the two years that had elapsed

[27] 7 N L R B 1002 (1938)

[28] This designation also was modified at a later date In 32 N L R B 668 (1941) three ports in the Puget Sound area were removed from the previously designated unit on the grounds that the union had not organized those ports after the 1938 designation was made

allow employee wishes to weigh strongly was found in many instances after the Globe doctrine was laid down. The scope of prior contracts and the eligibility of workers for membership in a union representing the unit also were important factors. The failure of a union to organize workers in some part of a specified unit led in some instances to a modification in the original designation The Taft-Hartley Act was so drawn that widespread redesignation of appropriate bargaining units probably will result

### The effects of the N L R.A.

The National Labor Relations Act was on the statute books without revision for a period of twelve years. Since its constitutionality was established at the end of about two years, there was a decade in which it was administered with little question as to its legality. Its effects during this period are difficult to appraise since so many dynamic economic trends were in motion at the same time. One effect is rather clearly traceable to the act, the attempt to administer it in such a way as to protect effectively the right to organize brought a strong and concerted effort to undermine the law and to revise or repeal it. With a less forthright administration or a less dynamic labor movement, the drive to realize the purposes of the act would have lost much of its force.

One of the events of the period that makes it difficult to evaluate the act is the growth of the Congress of Industrial Organizations Not only was this grouping of unions a dynamic and driving one, but it gave the American Federation of Labor sufficient competition that the latter showed more activity than it had in a score of years This enlivened labor movement brought an enormous increase in the number of workers in unions, from about 4,000,000 in 1935 to nearly 15,000,000 in 1946. There is no doubt but that the greater drive of the unions was in good part responsible for the growth in their membership, but it also seems clear that the N.L.R A gradually brought a more receptive attitude on the part of employers toward unionization of their workers, and that it also encouraged the growth in the size and power of unions

An indication of the change in attitude that developed was the types of cases handled by the board. In 1936 unfair labor practice cases, accusations that the employer refused to allow his workers free choice in deciding whether they wished to join a union, accounted for eighty-one per cent of the cases filed with the board, whereas nineteen per cent represented requests for selection of the proper bargaining representatives Ten years later the figures were almost reversed, with 75 1 per cent of the cases filed in 1946 being representation cases and 24.9 per cent alleging unfair labor practice.

This shift seemed to indicate that more and more employers were beginning to accept the idea that allowing workers to join a union was not catastrophic. Of course some of the shift was due to the fact that during the war years the average employer was so interested in keeping his production rolling that he was not inclined to run the risk of strong union opposition In addition, if such a case were carried to a government dispute-settling agency for solution, it was likely that the union-opposing employer would lose his case.

There is another probable effect of the law that cannot be proven and will not be an acceptable point to many. Probably labor relations improved greatly under the law, the increasing proportion of representation cases before the board was an indication of this Even more indicative was the large number of agreements that existed between labor and management that were renewed year after year without publicity and fanfare The Bureau of Labor Statistics estimated in 1947 that the number of union agreements in the country was "substantially in excess of 50,000" and "that 50,000 or more agreements are rewritten in whole, or in part, each year."[29] In 1946, twelve months during which we experienced more labor disputes than in any other year, there were 4985 work stoppages arising from disputes In this peak year of our history, as far as labor disputes are concerned, there were probably nine labor-management agreements revised or renewed peacefully for every one that broke into a work stoppage, an impressive and unpublicized record.

It may be urged that this record was compiled in spite of and not because of the N.L R A., although a complete cause and effect relationship cannot be shown, it is clear that some of the credit is due the board When management and union representatives work out an agreement in good faith and with no mental reservations, they lessen the chance of misunderstandings that might arise to disrupt day-to-day relationships. A union agreement is simply the predetermination of the most common controversial issues in labor-management relations and of a general method to be followed in resolving disagreements that may arise over these or other issues Once these points are agreed upon and reduced to writing, the likelihood of misunderstandings that reach the work stoppage stage is greatly reduced.

If the preceding paragraph is correct, it follows that a measure which encourages the growth of *bona fide* unions is to be commended, more unions mean more trade agreements and more agreements mean more cases in which management and labor know what

---

[29] "Work Stoppages Caused by Labor-Management Disputes in 1946." *Monthly Labor Review*, May, 1947, Vol 64, No 5, pp 780-800

their rights and duties are. The agreements are important primarily because of the order which they introduce into the settlement of grievances and misunderstandings that might otherwise develop into work stoppages. The publicity given labor disputes to which a union is a party gives a very misleading picture of the day-to-day role of the average union, in which the prompt settlement of small but potentially important and disruptive grievances is the backbone of the job to be done

The opinion is expressed here that the N.L.R.A had a salutary effect on labor relations, but this opinion is not a widely accepted one among non-working groups. The law was subjected to much criticism from the very first and many proposed amendments were introduced in every session of Congress.[30] It was attacked especially on the grounds that it denied to employers the freedom of speech guaranteed to them by the Constitution. The difficulty of balancing free speech against the coercive effects of employers' statements has already been noted. The attackers also insisted that the administrators were biased in their application of the law On this point, it is doubtful if there was as much bias as there was an attempt to administer the law as written. The law was drafted to ensure certain rights of workers and was not a balanced piece of legislation treating all parties alike

Objections also have been raised that the board acted as both judge and prosecutor. These were based on the fact that representatives of the board determined what cases it would hear, with the parties concerned allowed to present arguments, and, once that decision was made, the board then sat to decide on the case. It was argued that a bias was certain to exist where the board reviewed the action of one of its trial examiners.

Still another objection to the law was the fact that it contained no specification of duties or responsibilities for unions and no rights for employers. This is indeed true, but it does not seem to recognize the very nature of any piece of legislation. Any law, recognizing a certain maladjustment or abuse that needs correction, proceeds to lay down rules that will, it is hoped, remedy the situation. When the act was passed, at the time of a weak labor movement in the United States and concerted anti-union opposition, it was clear that some governmental action was necessary if the right to join a union were to become a reality for many workers. Thus, the law was passed as a measure to remedy one situation and did not

---

[30] For a survey of proposed changes see Millis, H A, and Montgomery, R. E, *op cit*, Vol III, pp 534-549. For a somewhat unsympathetic evaluation of the law see. Metz, H W, *Labor Policy of the Federal Government*, pp. 104-114 Washington, D C., The Brookings Institution, 1945.

look forward to the time when the union movement had tripled in size and the economic situation gave unions much more power The purpose was to adjust an existing imbalance; as the imbalance lessened the law fit the situation more poorly.

Meanwhile, the labor unions did little to help the situation. As unions grew by leaps and bounds it became clear that effective, responsible, intelligent leadership did not grow equally rapidly. Many of the disputes that occurred during and especially after the war were ill-advised, and more and more persons developed the attitude that John Q. Public was helplessly caught in the fight between unions and employees so that regardless of which party won the battle, John lost. And with this feeling many people held the erroneous opinion that the N.L.R A. that encouraged the growth of unions was responsible for the unrest and trouble In reality, the situation was built up by economic forces outside the control of any one individual or group A major war seems inevitably to leave a legacy of economic disruption and widespread unrest.

Although the N.L.R.A. was not directly responsible for the post-war actions of unions, the law had encouraged their rapid growth, and some of these actions were not wise. The issues involved in some stoppages were relatively minor, especially in comparison to the duration of the dispute. And unless an item was significant, prolonged stoppages to force the concession were unwise in that they added to the nation-wide anti-union sentiment. A further ill-advised act of many unions was the unconditional opposition to any revisions of the Wagner Act.

It would have been wise for the two major federations of unions, the A. F. of L. and the C.I.O., to have proposed and tried to lobby-through certain amendments to the N L.R.A. Essentially, these should have stipulated a number of unfair practices for unions, such as failing to bargain collectively, certain make-work policies, carefully delimited coercive action against workers or employers, racial discrimination in membership policies, and the closed shop. When employers clearly held the upper hand, their labor practices were rightfully restricted, when the powers of numerous unions grew to match those of employers, it was time that their actions also should have been subject to certain rules that would have tended to bring them in line with public interest

Union leaders did not choose such a line of action The Wagner Act, as passed, was satisfactory to them; they wanted no change, other than the desire of the A. F of L to see the law or its administration modified so as to give more preference to craft unions In a sense, this attitude showed a lack of vision and an unwillingness to accept responsibility. It is true that most unions were anxious to

bargain collectively and were willing to make reasonable compromises, but this was not always true. However, a minority of unions would have felt the pinch of restrictions such as those outlined in the preceding paragraph and they should not have been protected. Failure to take such self-restricting action paved the way for a revision which every union, the stable and responsible as well as the others, was to feel.

When postwar opposition to the Wagner Act finally crystallized in the Taft-Hartley Law, the proposed changes were so sweeping that every union had little choice but to oppose the law in its entirety. Of course, as enacted, the Taft-Hartley Law[31] contained provisions other than those revising the Wagner Law. It cannot be said definitely, therefore, that a mild revision of the N.L.R.A would have been sufficient to stave off the much more sweeping law that was passed. However, such a move, if taken near the end of the war, would have prevented some of the irresponsible action that was so highly publicized in 1946 and 1947 and would have made for less severe attitudes. A more moderate revision that spelled out unfair labor practices for unions, once it became a part of the law, would have lessened the effectiveness of the move for a sweeping revision.

## Questions

1 In your opinion, is there any one clearly definable limit to the extension of the interstate commerce power? Why or why not?

2 What relationship did the N L.R A. have to the number and severity of labor-management disputes? Defend your opinion with all the data you can muster.

3. To what extent did the ruling of the majority of the Supreme Court in the Jones and Laughlin and other cases bear out earlier dissents by the liberal minority of previous courts? What Justices and decisions do you have in mind?

4 What are the pros and cons in the issue of whether foremen should be allowed to organize? What were the fluctuations of board opinion on this question?

5. In the case involving the Fansteel Metallurgical Corporation the Supreme Court was sharply critical of the sit-down strike In your opinion, is there a sharp and clear basic distinction between the sit-down strike and the walk-out? Why or why not?

6 Was the action of organized labór under the N.L.R.A generally wise and reasonable or was unfair advantage taken? Defend your answer with citation of as many specific instances as possible.

[31] Discussed in Ch. XXV.

## CHAPTER XVIII

# SOCIAL SECURITY: GOVERNMENT ACTION AGAINST UNEMPLOYMENT

### The need for a social security program

We come now to another area of government action that is of great significance to workers and their families. As a general proposition, however, both state and federal governments have been reluctant to enact laws that put them in the position of underwriting the economic security, or some minimum degree of it, of worker groups. However, the growth of our present-day economy brought with it more and more economic insecurities, these risks and the examples of European nations in their attempt to cope with similar insecurities made it necessary to take some action in this country.[1]

It would not be wise to argue that our modern economy is a more insecure one than we have had in the past, the truth or falsity of such a proposition would be most difficult to prove. However, the insecurities of the past were to a greater extent the result of factors that were completely or largely outside the control of men. A drought or famine or wave of illness could not be laid at the door of the behavior or misbehavior of individuals or of the economy. The maladjustments experienced periodically today, in which there may be idle men, machines, and raw material and a need for products but still no jobs available, were not often found until the modern mass-production economy developed; nor were the situations in which older persons were so obviously unneeded present in the economy

In still another particular, insecurities of the past were not so complex as are those of the average worker today. A farmer or farm laborer was one who made a living rather than one who earned money. The further one moves back toward colonial times, the larger the farm portion of our economy and the greater the portion of their essentials for living which they produced for themselves. Most of the food and much of the clothing, household goods, and

[1] The insecurities of unemployment, old age, and the lack of income of the needy trailed the enactment of workmen's compensation laws in most states In a broad concept of social security workmen's compensation should be included However, those laws are not included here since they were some of the earliest developments of modern labor legislation See Ch. X

other equipment was self-provided. Under those conditions, the ability to provide food, clothing, and shelter for one's family or dependent parents was to a greater extent within the control of the individual. In the present-day economy, with a much larger proportion of employees and smaller proportion of self- or family-employed persons, procuring a living is more roundabout and less under the control of the individual Most workers today produce but a small portion of the goods and services that they consume, rather they work for an income, and with that income, derived from doing one specialized job, they purchase the goods and services on which they live. The key to security, therefore, for the modern wage earner is a continuing wage adequate to meet or exceed his needs for the necessities and comforts of life. Current social security programs center on government provision of a minimum income for those unable to earn one owing to old age, unemployment, physical disability, or other condition not within their control.

There has been much discussion of the point that social security benefits are a threat to the maintenance of an incentive to work[2] The general thought seems to be that the threat of hunger and hardship must hang like the sword of Damocles over the average worker's head before he will do his best This philosophy was part of the keen individualism that characterized our thinking at least up to the end of the nineteenth century. Events of the twentieth century, especially the depression of the 1930's, have gradually shaken somewhat the universal faith in individualism, but it is still far from dead, and perhaps fortunately, since a considerable degree of individualism is to be desired as long as it does not become a fetish.

While it may be argued that incentive and individual initiative are basic to our economy, it does not follow that insecurity is the best means of providing that incentive The experiences of the second quarter of the twentieth century proved that there simply is not enough demand for goods and services to provide jobs for all those who want work year in and year out. Therefore, all the incentive imaginable will not be enough to provide steady jobs for all. And insecurity of job and income may discourage efficiency rather than encourage it. The advice, "Don't work yourself out of a job," is frequently given by one worker to another Set amounts of production per hour or day are not uncommon. The fear of losing a job may well lead to stretching out the work and to playing politics to assure continued employment rather than to putting more

[2] For examples of this point of view see *Social Security*, a Statement by the Social Security Committees of the American Life Convention, Life Insurance Association of America, and The National Association of Life Underwriters, scattered passages. Chicago. February, 1945.

and more faith in efficient workmanship The belief that insecurity ensures efficient workmanship is not easily proven—or disproven, for that matter.

### The uncertainty of steady employment

Unemployment is the basic type of economic insecurity in our economy, it ramifies into many other common types of insecurity. For example, even though the association is not commonly made, there is a direct relationship between the amount of unemployment and the extent of the problem of dependent old age and the dependence of handicapped and inefficient workers on public assistance. This relationship comes largely from the effect which the amount of employment has on standards of employability. Generally speaking, when there is a considerable reserve of unemployed labor, an employer or his hiring representative sees first the inabilities or defects in an applicant. But under the pressure of a short labor supply, employment officials begin to look for the abilities of the applicant, in other words, the question in this situation becomes one of what the job seeker can be used for with careful and proper placement designed to take advantage of whatever ability the person has. Thus it may develop that age, physical handicaps, limited mentality, and the like no longer stand as a bar to employment, especially with pre-job training to provide new skills or techniques.

For most unskilled and semi-skilled jobs, older persons, the blind, and the otherwise handicapped are the least desirable workers Consequently, they most quickly become submarginal as employment qualifications are raised and are the last to become intramarginal as qualifications are lowered.[3] There is, consequently, a clear relationship between the amount of unemployment and the ability of less desirable groups to get jobs. The experience during World War II when the whole group of social security problems became less severe is proof of the point that the will-o'-the-wisp full employment is the best answer of all for many of our social security problems [4]

[3] It is recognized that realistically a worker does not become submarginal or intramarginal in all jobs of any employer or for all employers at the same time However, this fact does not destroy the validity of the general position stated, see. Miller, G W, "Unemployment and Unemployability," *The American Journal of Economics and Sociology*, July, 1948, Vol 7, No 4, pp. 429-438

[4] Even if relatively full employment could be maintained year in and year out, a very doubtful condition, there would still be economic insecurities that would have to be met. Some persons are not able to work the severely handicapped, some of the aged and infirm, and widows with small children are examples Full employment would never take care of all uncertainties and of all classes of people. Some need of public assistance and other social security programs would continue

Not only is unemployment important for its influence on various security problems, it is important of its own accord There have been times in our history when there was no work available for millions of people who could not be classified under any reasonable standard as marginal. Proof of this fact is of relatively recent origin. Unemployment did not show itself as a serious long-run problem until after the first World War; it was not widely recognized as important until after 1930 Then the improvements in efficiency born of the war and postwar period began to catch up with us We found ourselves as a nation in the tragi-comic situation of being able to produce goods and services in excess of the effective demand for them. Thus, during the 1930's the nation as a whole averaged perhaps 10,000,000 persons unable to find work out of a labor force of about 50,000,000 persons [5] During a number of years the tally of those out of work was well over 10,000,000. A person out of work means a person without an income, sooner or later savings or other reserves will be exhausted and, in a civilized society, some relief in the form of money or goods must be provided. When the burden of unemployment became so heavy, in the 1930's in particular, persons began to look for the causes of the situation.

In bare outline, the basic causes of the unemployment were not hard to find. For a decade we had been able to produce more goods than we found it feasible to distribute. Although increased ability to produce would seem to be highly desirable, in our own economy it has resulted in a most complex problem On the basis of the third of a century following World War I, it seems that we are unable to distribute the output of full employment for very long except when engaged in war or in replacing the shortages induced by war [6] Thus, except for war and brief postwar periods, it is clearly demonstrable that a sizable amount of unemployment is likely to plague us at most times, although more seriously at some times than at others

Once layoffs begin in one firm, as a result of a lack of economic demand for the product of full-time work, unemployment begins to spread. The economic disturbances are somewhat comparable to

---

[5] The Bureau of the Census issues reports on the labor force and the employed every ten years Other less broadly based studies are made more frequently In addition, employer and union groups, such as the National Industrial Conference Board and the American Federation of Labor, maintain estimates of the amount of unemployment

[6] Explanations of this inability to distribute vary widely from traditional or orthodox economists to those supporting the Keynesian type of theory For a stimulating presentation of the latter approach see Dillard, Dudley, *The Economics of John Maynard Keynes* New York Prentice-Hall, Inc , 1948, Hayes, H Gordon, *Spending, Saving, and Employment* New York. Alfred A Knopf, 1945.

the disturbances on the surface of a pool of water into which a stone is dropped. Persons who are laid off because of excess inventories of some good on which they work will soon demand less clothing, recreation, perhaps food, and other goods and services Sufficient cuts in demand will bring layoffs or part-time work to others who produce or sell the goods or services that are now in less demand. In turn, these persons will curtail their demands and the cycle of unemployment-curtailed demand-further unemployment continues. Just when these effects will fade away and the trend be reversed goes too far into the realm of economic theory for discussion here.

Conditions other than increases in efficiency give rise to unemployment. The unemployment existing at any one time will not be evenly spread throughout all industries and all parts of the country the soft coal producing areas of the country were some of the most depressed in the 1930's, the carriage making industry and the harness industry have declined to almost nothing; the fertility of the land is drained or the land itself washes away and the farmers gradually drift to some other work. Meanwhile, other industries or parts of the country may be booming. But when coal miners or carriage makers find themselves out of work, it is not of much assistance to know that bakers or oil field workers are needed. Many do not have the requisite skills, and if they do, the work may be far removed from their homes In many instances, the organization of the labor market is so imperfect that the availability of jobs may not be known. Despite the effect of some of these factors on employment, the cyclical failure of the economy to absorb our full production is the paramount problem.

In view of the increasing frequency of periods of considerable unemployment and of its direct and indirect results, it became clear by the 1930's that some program intended to decrease the amount of unemployment was imperative. The events of the World War I period showed that private industry that was relatively uncontrolled was not able to offer full-time employment to all those who were willing and able to work And the events of the early 1930's, during which we pursued that elusive corner around which prosperity was lurking, did not add to the confidence of the public in the ability of uncontrolled private enterprise to offer full employment. It became more and more evident that unemployment sprang largely from conditions basic to our entire economy; these economy-wide conditions were not such as could be controlled by individual employers.

The causes were beyond the control of individual businesses, and there was no unanimity of action brought by business organizations

on a widespread program of alleviating unemployment; thus, there was a need in the early 1930's for some sort of government program to do that which business had been unable to do. Local and state governments varied widely in attitudes and financial resources, likewise in the proportion of unemployment, so a nation-wide, well-financed program could be none other than a federal program Since there never had been in this country any significant experience with government efforts to combat unemployment to which to refer, a number of different programs were tried, many mistakes were made, but the emergency was such that bold experimenting had to be done. It is now time to consider some of the measures tried.

### Government unemployment programs. public employment service

Two general types of action have been taken to combat unemployment, either of the two could be further subdivided if so desired One type of program includes those actions that seek to shorten the duration of unemployment or ease its undesirable effects Under this might be listed the system of public employment offices, the unemployment compensation program, and various public assistance programs. A second broad field of action is that which seeks to put those out of work back on the job. These actions would include public works programs and programs designed to encourage employment in private enterprise. In terms of the time of action, attempts at the creation of a system of public employment exchanges came first. It will be remembered that the first concerted effort to develop a national system of employment exchanges came during the first World War.[7] This system was curtailed after peace came about as quickly as it was built up during the war. Federal-state jealousies, criticism of the director of the service, and the general postwar desire to escape from wartime controls were some of the reasons for the hasty curtailment[8]

Aside from operating a few farm labor offices and veterans' offices, all that the United States Employment Service did between 1919 and 1933 was to provide some slight subsidies to state employment offices and gather some statistics on the employment situation Farm labor placement was carried out more effectively than was any other service, but an average of only about twenty farm labor offices were operated.[9] Such a number of offices must have been efficient, indeed, to direct nearly 900,000 persons to employment in the fiscal year of 1932. Even though the farm labor service might have been

---

[7] See Ch IX

[8] Millis, H A, and Montgomery, R E, *op cit*, Vol III, p. 62

[9] Kellogg, Ruth M, *The United States Employment Service*, p. 56 Chicago: The University of Chicago Press, 1933

well organized, it was very limited in its coverage, and no other part of the skeleton service was adequate in any sense of the word.

Because the need for a vitalized nation-wide system of employment exchanges was recognized, conferences were begun in 1919 between representatives of bureaus of the federal government, of many of the states, and of business and labor groups in an attempt to agree on a draft of a bill providing for a new employment service After various events, such a bill finally reached the hearings stage in 1928 under the sponsorship of Senator Wagner In the late winter of 1931 the bill was passed by both houses of Congress by heavy majorities. Essentially, it called for the creation in the Department of Labor of an employment service that would establish and maintain a national system of employment offices and help in inaugurating such a public system in states and their political subdivisions Of the money appropriated under the act, seventy-five per cent was to be apportioned among the states. The bill provided for the abolition of the then existing employment service

President Hoover vetoed the bill. In his veto message the President objected to the federal-state system called for in the bill It seems ironic that the President objected to the abolition of the "established employment service" in the Department of Labor, the service that was operating some twenty farm labor offices and a like number of veterans' offices As a substitute for the vetoed bill, the President asked Secretary of Labor Doak to reorganize the existing service [10] The reorganization did not produce startling results and the need for an active and well-organized service was about as great after the change as before.

In June, 1933, the Congress passed a revision of the Wagner bill that had been vetoed in 1931. The new law[11] was approved by President Roosevelt, and on July 1, 1933, the new employment service was activated. As did its predecessor, the Wagner-Peyser Act provided for the establishment of a national employment system and for cooperation with the states in promoting such a system. Up to seventy-five per cent of the federal funds appropriated could be made available to the states, in order to qualify for federal aid, state and local offices had to meet certain minimum standards of efficiency. States wishing such grants were required to agree to abide by the federal standards and match the federal grant. Under this stimulus, all the states and Alaska and Hawaii had become affiliated with the federal service before the end of 1937.[12]

[10] Kellogg, R M , *op cit*, Chs III, IV, and V

[11] U S Code 1940, Title 29, Secs 49-491

[12] U S Bureau of Labor Statistics, Bulletin No 694 *Handbook of Labor Statistics* (1941 edition), p 155

Under the authorization of the Wagner-Peyser Act, the federal government not only aided the states in the establishment and maintenance of public employment offices, but established and maintained offices of its own under the National Reemployment Service program. Under this emergency program, the reemployment service was operating in mid-year 1935 nearly 1800 district and branch employment offices; this was a sharp contrast with the approximately 150 offices functioning in 1932 under the Doak reorganization of the old employment service. For the fiscal year of 1935 about two and three-fourths million placements were reported, and by 1940 this number had grown to 3,500,000. Although early placements were largely on relief and public works projects, by 1940 about eighty-five per cent of the annual placements were in private employment [13]

As established under the Wagner-Peyser Act, the employment service was in the Department of Labor It remained there until 1939, when it was shifted to the Social Security Board. The purpose of the shift was to bring a closer relationship with the unemployment compensation functions of the Social Security Board, in view of the fact that in order to qualify for unemployment compensation a person had to register for work with the employment service and that agency had to be unable to provide work. This move was a logical one owing to the necessary coordination that must exist between placement and compensation services.

After the transfer, the employment service remained without significant change until September, 1942 By that time the war emergency was beginning to minimize claims for unemployment benefits and to emphasize the necessity of supplying labor to war industries. Therefore, the service was transferred by Executive Order 9247 to the newly created War Manpower Commission, at the same time the state employment services were taken over by the federal government [14] There they remained until November 15, 1946 when they were returned to the states.

In discussing the reestablishment of the employment service as a means of combatting unemployment, it is not meant to imply that it had an effect of decreasing the total number of unemployed. However, the work of the service might have shortened the duration of a period of unemployment. In a locality of considerable size a job seeker cannot canvass all possible employers with frequency. However, through an employment office to which, ideally, all available job opportunities are reported it is much easier to keep abreast

[13] *Ibid*

[14] See below, Ch XXIII

of the situation. Even without perfect functioning, the job-seeking problem is much simpler. One further benefit might be noted. If properly run, the public employment service should result in better placement, if this occurs, there will be fewer resignations and discharges and less unemployment resulting from these causes. It is probable, however, that job displacement for these reasons is relatively unimportant in the over-all picture of causes of unemployment.

### Other government action affecting unemployment

Another means of easing the ill effects of unemployment is by relief of some sort. Here, again, the element of reducing unemployment is slight, if more goods are demanded as a result of a relief program than otherwise would be, then the amount of unemployment may decline, but such an effect will not be marked; even without relief unemployed persons must wear some clothing, consume irreducible minimum amounts of food, and occupy shelter. Only if relief provides more than do relatives, private charity, or any such means of care will it tend to cause any appreciably larger demand. During normal or non-emergency periods relief or grants in aid have been reserved largely for those who were blind or otherwise handicapped, the needy aged, dependent children, and similar cases. However, in periods of emergency relief grants and goods have been supplied to many who were able to earn their own living if given a chance. Since the granting of relief is dependent upon proof of need to some investigator and is directed at alleviating especial hardship rather than combatting unemployment as such, it need not be discussed in any detail at this point.

There are government measures that act as a direct spur to employment. These may be either through direct employment on government projects or through various policies encouraging private enterprise to boost employment. One of the outstanding, although not the most desirable, boosters of employment is war. In time of war the number of employees of the federal government increases by leaps and bounds—in the departments of the government, in military establishments, on construction projects, in ship-repair yards, and elsewhere In addition, there is the "employment" of large numbers in the armed forces. Perhaps still more important is the enormous increase in the purchases of the government; almost every conceivable item is needed in greatly increased quantities, some in thousands of times the prewar number. As a result of the increase in government employment and its demand for more goods plus the increased demands of many employees with high earnings we attain in wartime the happy state of affairs in which almost any per-

son looking for a job is able to find one. Perhaps the most important question before the national economy today is whether it can offer relatively full employment over a long period of time without war Peace, with perhaps one-fifth of all workers unable to find a job, may be better than war, but it is neither a satisfactory nor a stable state of affairs.

There are other means of combatting unemployment short of war. One used during the early years of the Roosevelt administration was direct employment of the jobless on public works projects, including public buildings, land reclamation, building of parks and recreation facilities, and other less useful jobs. Although such work needed to be done in the 1930's and much of it still is worth while, there was considerable objection to it, the fear of government expansion and competition with private enterprise was strong, and the increased government indebtedness and taxation and alleged inefficiency on many of the jobs gave excellent grounds for criticism. Nevertheless, there are many convincing arguments in favor of government work projects as a means of combatting unemployment. There are many needed improvements in public buildings, roads, parks, land reclamation, and so forth that do not compete directly with private enterprise And there seems to be no valid reason why such work cannot be done as efficiently as under any other circumstances. However, if employment is the prime objective, as it was in the 1930 emergency, efficiency of operation may not be given the emphasis that would otherwise prevail.

Whatever the motivation, work projects are a much more desirable attack on unemployment than outright relief The product that accrues to society from the work is a benefit, and the maintenance of skill, physique, and morale, while somewhat intangible, is an important advantage of such work projects. However, for such works to be fully effective with regard to timing, type of accomplishment, extent of the program, and so forth many questions of statistics and economic theory must be answered.

In peacetime the measures that government may take to encourage private employment are wide and varied Since their effects are largely indirect, such actions are rarely thought of as labor laws or labor-related action. The type of government programs that might have such effects will only be listed here. Changes in the control of installment buying may have a temporary effect on market demand for durable goods and therefore on employment. The rediscount rates of the Federal Reserve System and our foreign trade policies will have their effect. The method of levying taxes and their level are important factors. And preparation for and the immediate aftermaths of war bring great activity to business. Other

government purchasing policies will affect the total production of goods

### Unemployment compensation

Along with the employment service, the most important legislative development directed at the problem of unemployment that came from the years between the wars was unemployment insurance, or more accurately, since there is little of the true character of insurance in the laws, unemployment compensation. Such laws were based on a recognition of the fact that some unemployment is inevitable even though some of the measures sketched above may reduce the severity of cyclical idleness. Certainly the desire to abolish cyclical unemployment will not be realized fully, and, in addition, some jobs are seasonal, some industries or plants decline while others grow, and machines break down or materials are sometimes short. Thus, whatever the program to decrease the amount of unemployment, a certain amount of it—an irreducible minimum—[15] is inescapable. Therefore, along with machinery for efficient placement of workers, an intelligent program of government action against unemployment requires that society make some provision for guaranteeing a minimum income to persons out of work through no fault of their own. If there are conditions in our economy that make it impossible for able persons to find work at some times, then at least a part of the burden of enforced idleness should be taken from the unemployed person and family.

There were many examples of unemployment compensation in foreign countries for the United States to observe before 1930, but neither the federal government nor any state had seen fit to provide any similar compensation for those persons able to work and out of work through no fault of their own Perhaps the greatest reason for this tardiness of action came from the refusal of many people to recognize that there were conditions inherent in our economy that made it impossible for all persons to keep a job at all times if they really wanted to do so There was also a lack of sufficient realization that incomes were such that it was not feasible for each worker to build large enough reserves to carry him through periods without income.

Interest in unemployment compensation was aroused before the first World War; in 1914 the American Association for Labor Legis-

---

[15] See Pearlman, L M, and Eskin, L, "Nature and Extent of Frictional Unemployment" *Monthly Labor Review*, January, 1947, Vol 64, No 1, pp 1-10, for an analysis of the nature and extent of such unemployment This article estimates that even in prosperous times some two to two and one-half million persons in the nation will of necessity be unemployed

lation prepared a model bill patterned on British legislation, which was introduced, unsuccessfully, into the Massachusetts legislature.[16] In the postwar recession of 1921 the Wisconsin legislature considered an unemployment compensation bill but did not enact it. In that state a compensation bill was reintroduced in each succeeding session of the legislature until passed in 1932, but elsewhere in the nation the theory of a permanent and growing prosperity temporarily made unemployment compensation a lost cause. After the crash of 1929 the growing amount of unemployment encouraged interest in an examination of some sort of compensation for the jobless. By 1931 a half-dozen states had named investigating committees to study the problem, and in a larger number some sort of compensation bill had been introduced In 1933 105 unemployment compensation bills were introduced in state legislatures and Congress.[17]

Meanwhile, Wisconsin had acted. The recurrent consideration in the 1920's of a compensation bill bore fruit in a special session of the legislature that passed an unemployment compensation law in January, 1932. Although it left much to be desired, it merits some attention as the pioneer such law enacted in the United States. It was in many ways a strange act [18] seeking to put pressure on employers to regularize employment or make provision for periods of unemployment. It gave employers an opportunity to establish by June, 1933 (subsequently extended to April, 1934) voluntary unemployment compensation plans for a majority of the industrial employees of the state. Failing this, the law required compulsory establishment of such plans; owing to the insufficient number of plans the act did become compulsory in April, 1934 [19] It applied to employers of ten or more persons, excluding as usual farm and domestic labor, government employees, and workers on interstate railways The law provided for the maintenance of separate reserve accounts for each employer. His contribution to the fund—none was made by the worker—was two per cent of his annual payroll, excepting salaries above $300 per month or $1500 per annum, until the reserve reached $55 per employee. When the fund reached that level, the contribution rate dropped to one per cent, where it remained until the reserve reached $75 per month, at that point, contributions stopped, to be resumed when the average fell below $75 per employee.

[16] Commons, J, and Andrews, J., *op cit*, p 298

[17] Millis, H A, and Montgomery, R E., *op. cit*, Vol II, p 141

[18] Chapter 20, Wisconsin Special Sessions Laws of 1931, it is reproduced in full in *Monthly Labor Review*, March, 1932, Vol 34, No 3, pp. 540-552

[19] U. S Bureau of Labor Statistics, Bulletin No 616, *Handbook of Labor Statistics* (1936 edition), p 819.

Benefits were to be payable after a waiting period of two weeks; ten weeks benefits in any one calendar year were the maximum amount allowed. The amount payable was one-half the average weekly wage or $10 per week, whichever was lower, with a minimum of $5 per week. One dollar per week was added if the claimant attended school during the period of idleness. Persons were disqualified if they quit their work or were discharged for misconduct or were idle because of a trade dispute. Benefits finally became payable under the act after July 1, 1935.

It will be seen that some of the provisions of the law were not adequate to meet the requirements of the section of the Social Security Act dealing with unemployment compensation, but the Social Security Act was not controlling at that time; there was at least one other serious objection to the law, however. Provision was made for separate employment compensation accounts for each employer, from which his idle workers could be paid. There is implied in this type of organization an assumption that unemployment is the responsibility of individual employers and that, therefore, those employers able to offer steady employment should be rewarded by lower contributions. Although it is true that employers can do something to regulate their work, it is unwise to assume that the crux of the problem of unemployment is within the control of the individual employer. Some occupations are seasonal and there is little that can be done to alter the fact, other employments are relatively steady with little need for attempts at regularizing, moreover, depression periods come as a result of widespread economic conditions and not of the malpractices or lack of foresight of an individual businessman. If unemployment is not a result of the practices of individuals, the provision of compensation therefor should not be on an individual basis.

While Wisconsin acted other states were not entirely idle. California, Connecticut, Massachusetts, Minnesota, Ohio, Pennsylvania, and Virginia appointed committees to study and advise on the enactment of such laws. The reports generally favored compensation laws,[20] but there was keen opposition from many sources. The opposition was successful in preventing passage of any law other than that of Wisconsin until 1935, the theory of individualism and the fear of dire results coming from the coddling of workers by the government still struck a responsive chord with many in the legislative chambers. And, in addition, the employers in any state could argue that the costs of a compensation law would put them at a competi-

---

[20] U S Bureau of Labor Statistics, Bulletin No 616, *Handbook of Labor Statistics* (1936 edition), pp 821-827

tive disadvantage with the employers of other states having no such laws.

The fear of competitive disadvantage voiced in the different states was stopped by the passage of the Social Security Act. The unemployment tax provisions of the act were drawn in such a manner that opposition to legislation was swept away, not by any particular change of heart but because it was to the financial advantage of every state to enact an adequate compensation law. Thus, the federal law did not itself establish unemployment compensation laws, but it created a situation in which the states could not well afford to ignore the problem.

The Social Security Act of 1935[21] levied on employers of eight or more persons a tax of one per cent of their payrolls in 1936, two per cent in 1937, and three per cent in 1938 and thereafter. Agricultural and domestic employees, government workers, and a few others were not covered. Provision was made, however, that not all the money paid by the employers of any one state need be lost to that state If any state saw fit to enact an unemployment compensation law that was acceptable in its provisions, ninety per cent of the tax paid by the employers would revert to the state for use only in its unemployment compensation program. In addition, from the ten per cent of the tax held by the federal government, grants could be made to the states to aid in meeting administrative costs of the unemployment compensation law. One point might well be noted here, there was no exception in the law of employees earning more than a certain amount or of salaried workers, although the tax was levied only on the first $3000 of annual income It should be noted that employers only were taxed; employees might be taxed if the states so legislated in establishing unemployment compensation, but as far as federal and most state laws were concerned, the compensation was provided for workers without requiring contributions from them.

The revenue collected through the unemployment compensation tax is paid to the federal treasury, where an unemployment trust fund is established. The amount contributed by each state is carried in a separate account, payable to that state for expenditures for unemployment compensation only if the state plan meets certain standards. These requirements include:

(1) All unemployment is to be paid for through public employment offices or other agencies approved by the Social Security Administration[22] of the Federal Security Agency.

---

[21] 49 Stat. 620, ammended significantly in 1939 and 1946

[22] Known as the Social Security Board until the reorganization of July 1946 The titles are used interchangeably herein.

(2) All moneys received for the unemployment fund must be paid immediately to the treasury.

(3) All moneys withdrawn from the unemployment trust fund must be used exclusively for unemployment compensation or for certain types of refunds.

(4) Compensation shall not be denied to a worker solely because of refusal to accept work (a) if the job is available because of a strike or lockout or other labor dispute, (b) if the wages, hours, or other working conditions on the proffered job are substantially worse than those prevailing for similar work in the locality, or (c) if as a condition of employment the individual would have to join a company union or resign from or refrain from joining a *bona fide* union.

If all of the above requirements are met, in the opinion of the Social Security Administration, a tax of only 0.3 per cent need be paid to and retained by the federal treasury. The funds accruing from the 0.3 per cent tax will in part be redistributed to the states to defray administrative costs. Any other taxes payable under the unemployment compensation program may be collected and paid by the states to the federal treasury. However, the states are not required to levy taxes in any specified manner. It will be recalled that the federal tax was levied only on employers of eight or more workers. There is no provision, however, that requires the state to tax only employers, to exempt employers of fewer than eight workers, or to levy the same tax on all employers regardless of their employment record.

If the board finds after reasonable notice and investigation that any state has denied, in a substantial number of cases, compensation due to individuals or has failed to observe other regulations noted above, it is empowered to deny grants of money to the state until the abuses are stopped. Thus, the states are subject to a relatively strict supervision by the board as a requisite to regaining the moneys paid in by the states' employers. Under the stimulus of loss of funds from failure to enact a law or to observe minimum standards once a law was passed, all states swung into action. By mid-year 1937 every state and Alaska, Hawaii, and the District of Columbia had such laws. The principle that had been so distasteful before the tax-offset plan had been legislated suddenly became acceptable—in fact, desirable. For the failure of Ohio, for example, to enact an adequate law would have meant that taxes paid by Ohio employers might be spent in California rather than in Ohio; that would never do!

The laws enacted by the states vary in many details but there are numerous similarities. Before noting the variations that are to be found, it might be well to summarize what could be considered

representative of, although not exactly the same as, any one state law. The average law would provide for the levying of an unemployment tax on employers of six or eight or more, and would exempt the same general groups exempted from the federal tax. Rates probably would be less for employers with good employment records Provision would be made for transfer of the moneys to the federal treasury. Before a person would be considered eligible for benefits, he must have registered with the employment service, waited at least a week, and been told that there was no work available. As to benefits payable, the law would set a minimum of $5 to $8 weekly and a maximum of $18 or $20 weekly. Between these limits the benefit would probably have been set at roughly half of the average weekly wage. There would be specification of a maximum number of weeks in a calendar year in which benefits could be paid to an individual, probably about twenty weeks There would probably also be some provision that a certain ratio between weeks of employment or earnings within the year and weeks of benefits be maintained, perhaps one week of benefits for every three or four weeks of employment.

Finally, a number of conditions would be specified under which an unemployed person would be disqualified from receiving benefits. These provisions would be such as to permit benefits only if the claimant is able to work and is idle through no fault of his own. Thus, a person who voluntarily quit his job or was discharged for misconduct on the job could not draw compensation; neither could the person who refused to accept suitable work. In the average case, a person idle because of a labor dispute, who is injured, or is otherwise incapable of work cannot draw benefits.

The great number of diversities in individual laws makes it unwise to attempt to mention all the variations that are to be found. However, some examination is needed to show the range of provisions; in this connection, it should be kept in mind that standards and practices of administration vary as widely as legislative provisions. Terms such as "the refusal of suitable work" and when "able to work" or the exemptions from payment allowed by a labor dispute are not at all clear. Thus, those who apply the laws can do much to make them effective or ineffective.

In noting the variations in the laws, the coverage might be examined first The federal law set the maximum size plant to be exempted as those employing no more than seven persons; approximately forty per cent of the state and territorial laws of 1946 continued this exemption. On the other hand, nearly a third covered all plants with one or more employees. State exemptions of occupational groups coincide much more closely with those of the federal

## Significant Provisions of State Unemployment Insurance Laws, September 15, 1947

| State | Size of Firm (minimum number of employees and/or size of payroll in a calendar year) | Wage or Employment Qualification (number times weekly benefit amount[1] unless otherwise indicated) | Initial Waiting Period (weeks) | | Computation of Weekly Benefit Amount[1] (fraction of high-quarter wages[2] unless otherwise indicated) | Weekly Benefit Amount[1] for Total Unemployment | | Weekly Benefit Amount[1] for Partial Unemployment (weekly benefit less wages in excess of specified earnings allowance) | Duration in 52-Week Period | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | Total | Partial | | Minimum | Maximum | | Proportion of Wages in 4-Quarter Base Period (unless otherwise indicated) | Minimum and Maximum Weeks |
| Alabama | 8 in 20 weeks | 30, and $75 01 in 1 quarter | 1 | 2 | 1/26 | $4 | $20 | $2 | 1/3 | 10–20 |
| Alaska | 1 at any time | $150 | 1 | 1 | 1/20 | 8 | 25 | 5 | 1/3 | 8–25 |
| Arizona | 3 in 20 weeks | 30, and wages in 2 quarters | 1 | 1 | 1/20 | 5 | 20 | 3 | Uniform | 12 |
| Arkansas | 1 in 10 days | 30 | 1 | 1 | 1/24 | 5 | 20 | 3 | Lesser 1/3 of base-period wages or 4 times wba times quarters with at least wages of 1/3 of high quarter | 4–16 |
| California[3] | 1 at any time and $100 in same quarter | $300 (effective 1/1/48, greater of $300, and 1/3 of high-quarter wages in the other 3 base-period quarters or 30 times wba whichever is less) | 1 | 1 | 1/20 (effective 1/1/48, 1/20–1/23) | 10 | 20 (effective 1/1/48, $25) | 3 | Weighted schedule 54–23% (effective 1/1/48, 1/2) | [4] $9^+$–23 4 (effective 1/1/48, $12^+$–26) |
| Colorado | 8 in 20 weeks | 30 | 2 | 2 | 1/25 | 6 | 17 50 | 3 | 1/3 | 10–20 |
| Connecticut[3] | 4 in 13 weeks | $240 (and effective 4/4/48, wages in 2 quarters) | 1 | 1 | 1/26, plus $2 for each dependent up to the lesser of $6 and 1/2 wba (effective 4/4/48, plus $3 for each dependent up to 1/2 wba) | 8–12 | 22–28 (effective 4/4/48 $24–36) | 2 (effective 4/4/48, $3) | 1/4 | [4] $6^+$–20 (effective 4/4/48, $6^+$–22) |
| Delaware | 1 in 20 weeks | 30 | 1 | 1 | 1/25 | 7 | 18 | 2 | 1/4 | 11–22 |
| District of Columbia | 1 at any time | 25 up to $250 | 1 | 1 | 1/23, plus $1 for each dependent, up to $3 | 6–9 | 20 | 2/5 of wba | 1/2 | [4] $10^+$–20 |
| Florida | 8 in 20 weeks | 30 and wages in 2 quarters | 1 | 1 | 1/18–1/24 | 5 | 15 | 3 | 1/4 | $7^+$–16 |

| | | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| Georgia | 8 in 20 weeks | 25, 30 40, and wages in 2 quarters | 2 | 2 | 1/23–1/26 | 4 | 18 | 3 | Uniform | 16 |
| Hawaii | 1 at any time | 30 | 1 | 1 | 1/25 | 5 | 25 | 0 | Uniform | 20 |
| Idaho | $75 in any quarter | 25–37$^+$, and $150 in 1 quarter and wages in 2 quarters | 1 | 1 | 1/19–1/24 | 10 | 20 | 5 | Weighted schedule 40–22% | 10–20 |
| Illinois | 6 in 20 weeks | $225 | 1 | 1 | 1/20 | 10 | 20 | 2 | Weighted schedule 56–33% | [4] 10–26 |
| Indiana | 8 in 20 weeks | $250 and $150 in last 2 quarters | 1 | 1 | 1/25 | 5 | 20 | 3 from other than regular employer | 1/4 | [4] 6$^+$–20 |
| Iowa | 8 in 15 weeks | 20 | 1 | 2 | 1/23 | 5 | 20 | 3 | 1/3 | 6$^+$–20 |
| Kansas | 8 in 20 weeks or 25 in 1 week | $100 in 2 quarters or $200 in 1 quarter | 1 | 1 | 1/25 | 5 | 18 | 2 | 1/3 | 6$^+$–20 |
| Kentucky | 4 in 3 quarters of preceding year each with wages of $50 in each quarter, or 8 in 20 weeks | $200 | 1 | 1 | Annual wage formula weighted schedule 2 5%–1% | 5 | 16 | 1/5 of wages | Uniform | 20 |
| Louisiana | 4 in 20 weeks | 30 | 1 | 1 | 1/25 | 3 | 18 | 2 | 1/4 | 7$^+$–20 |
| Maine | 8 in 20 weeks | $300 | 1 | 1 | Annual wage formula, weighted schedule 2%–1% | 6 | 20 | 3 | Uniform | 20 |
| Maryland | 1 at any time | 40, and $156 in 1 quarter | 0 | 0 | 1/26 | 6 | 25 | 2 | 1/4 | 10–26 |
| Massachusetts | 1 in 20 weeks | $150 | 1 | 2 | 1/20 plus $2 for each dependent, total not to exceed average weekly wage | 6 | 25[5] | 0 | 3/10 | [4 5] 5$^+$–3 |
| Michigan[3] | 8 in 20 weeks | $250 and wages in 2 quarters (effective 1/1/48, 14 weeks of employment at $8 or more) | 1 | 1 | 1/20, plus $2 for each dependent, total not to exceed average weekly wage (effective 1/1/48, 64–67% of average weekly wage if no dependents, 78–92% with 4 dependents) | 4 81 (effective 1/1/48, $6–7) | 20–28 | Lesser $3 or 1/4 of wages (effective 1/1/48, wba if wages less than 1/2 basic wba, 1/2 wba if wages are at least 1/2 basic wba) | 1/4 if $800, less than $800, lesser of 3/10 or $200 (effective 1/1/48, 2/3 of weeks of employment) | 12–20 (effective 1/1/48, 9$^+$–20) |
| Minnesota | 1 in 20 weeks | $200 | 2 | 2 | Annual wage formula, weighted schedule 3 6%–1 1% | 7 | 20 | 3 | Weighted schedule 47–22% | 12–20 |

(Continued on next page)

SIGNIFICANT PROVISIONS OF STATE UNEMPLOYMENT INSURANCE LAWS, SEPTEMBER 15, 1947 (Continued)

| State | Size of Firm (minimum number of employees and/or size of payroll in a calendar year) | Wage or Employment Qualification (number times weekly benefit amount[1] unless otherwise indicated) | Initial Waiting Period (weeks) | | Computation of Weekly Benefit Amount[1] (fraction of high-quarter wages[2] unless otherwise indicated) | Weekly Benefit Amount[1] for Total Unemployment | | Weekly Benefit Amount[1] for Partial Unemployment (weekly benefit less wages in excess of specified earnings allowance) | Duration in 52-Week Period | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | Total | Partial | | Minimum | Maximum | | Proportion of Wages in 4-Quarter Base Period (unless otherwise indicated) | Minimum and Maximum Weeks |
| Mississippi | 8 in 20 weeks | 30 | 2 | 2 | 1/26 | 3 | 15 | 2 | Uniform | 14 |
| Missouri | 8 in 20 weeks | 40 and wages in 3 quarters of 8-quarter base period | 1 | 2 | 1/25 | [7] 0 50 | 20 | 1/6 of wages | 1/4 in 8 quarters | [7] 1⁺–20 |
| Montana | 1 in 20 weeks or $500 in a year | 30 | 2 | (8) | 1/22 | 7 | 18 | (8) | Uniform | 16 |
| Nebraska | 8 in 20 weeks or $10 000 in any quarter | $200 | 2 | 2 | 1/25 | 5 | 18 | 3 | 1/3 | [4] 7⁺–18 |
| Nevada | $225 in any quarter | 30 | 1 | 1 | 1/20, plus $2 for each dependent, up to $6 | 8–14 | 20–26 | 3 | 1/3 | 10–20 |
| New Hampshire | 4 in 20 weeks | $200 | 1 | 2 | Annual wage formula, weighted schedule 3%–0 9% | 6 | 22 | 3 | Uniform | 23 |
| New Jersey | 4 in 20 weeks | $150 | 1 | 1 | 1/22 | 9 | 22 | 3 | 1/3 | 10–26 |
| New Mexico | $450 in any quarter or 2 in 13 weeks | 30 and $78 in 1 quarter | 1 | 1 | 1/26 | 5 | 20 | 3 | 2/5 | 12–20 |
| New York | 4 in 15 days | 30 | [9] 1 | (9) | 1/23 | 10 | 21 | (9) | Uniform | 26 |
| North Carolina | 8 in 20 weeks | $130 | 1 | 2 | Annual wage formula, weighted schedule 3 1%–0 9% | 4 | 20 | 2 | Uniform | 16 |
| North Dakota | 8 in 20 weeks | 28 | 1 | 1 | 1/23 | 5 | 20 | 3 | Uniform | 20 |
| Ohio | 3 at any time | 20 calendar weeks of employment and $160 | 2 | 2 | 1/20–1/28 | 5 | 21 | 2 | Depends on calendar weeks of employment | 18–22 |
| Oklahoma | 8 in 20 weeks | 20 | 1 | 1 | 1/20 | 6 | 18 | 2 | 1/3 | 6⁺–20 |
| Oregon | 4 at any time and $500 in any quarter | $300 | 1 | 1 | Annual wage formula, weighted schedule 3 3%–1 3% | 10 | 20 | 2 | 1/4 | 7⁺–20 |
| Pennsylvania | 1 at any time | 30 | 1 | 1 | 1/25 | 8 | 20 | 3 | 3/10 | 9–24 |
| Rhode Island | 4 in 20 weeks | $100 | 1 | 2 | 1/20 | 10 | 25 | 3 from odd jobs | Weighted schedule 52%–27% | 5⁺–26 |
| South Carolina | 8 in 20 weeks | 40, 30 if wba is $4 | 1 | 1 | 1/26 | 4 | 20 | 1 | Uniform | 16 |
| South Dakota | 8 in 20 weeks | $125 and $60 in 1 quarter | 1 | 1 | 1/20–1/23 | 6 | 20 | 3 | Weighted schedule 48%–22% | [4] 6⁺–20 |

| | | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| Tennessee | 8 in 20 weeks | 30 25 if wba is $5 and $50 in 1 quarter | 1 | 2 | 1/20–1/26 | 5 | 18 | 3 | Uniform | 20 |
| Texas | 8 in 20 weeks | 9 times benefit rate for 2-week period | 1 | 1 | 1/13 for 2-week period | 10 for 2 weeks | 36 for 2 weeks | 4 for 2 weeks | 1/5 | 1+–9 2-week periods |
| Utah | $140 in any quarter | 14% of average state wage and higher of $150 or 150% of high-quarter wages | 1 | 1 | 1/20 | 5–7 depending on cost of living | 17–25 depending on cost of living | 6 | Weighted schedule and percent of average state wage | 15–25 |
| Vermont | 8 in 20 weeks | 30, and $50 in 1 quarter | 1 | 1 | 1/18–1/26 | 6 | 20 | 3 | Uniform | 20 |
| Virginia | 8 in 20 weeks | 25, 20 if wba is $5 | 1 | 1 | 1/25 | 5 | 15 | 2 | 1/4 | 6–16 |
| Washington | 1 at any time | $300 | 1 | 1 | Annual wage formula, weighted schedule 3 3–1 1% | 10 | 25 | 5 | Weighted schedule 40–29% | 12–26 |
| West Virginia | 8 in 20 weeks | $300 | 1 | 0 | Annual wage formula, weighted schedule 2 7–1 1% | 8 | 20 | 3 | Uniform | 21 |
| Wisconsin[3] | 6 in 18 weeks or $10,000 in any quarter | 14 weeks of employment within 52 weeks | 2 | 0 | 84+%–51+% of average weekly wage (effective 1/1/48, 70%–51+% of average weekly wage) | 8 | 20 (effective 1/1/48, $24) | Wba, if wages less than 1/2 wba, 1/2 wba, if wages are at least 1/2 of wba | 3/5 of credit weeks of employment | 8+–24 |
| Wyoming | $500 | 25, and $70 in 1 quarter | 2 | 2 | 1/20 | 7 | 20 | 3 | 1/4 | 6+–20 |

[1] Weekly benefit amount abbreviated in columns as wba

[2] The fraction of high-quarter wages applies between the minimum and maximum amounts When state uses a weighted table, approximate fractions are figured at midpoint of brackets between minimum and maximum. When dependents' allowances are provided, the fraction applies to the basic benefit amount. With annual wage formula, fraction is minimum and maximum percentage used in any wage bracket.

[3] New provisions are applicable only with respect to claims filed on or after effective date shown

[4] If qualifying wages are concentrated largely or wholly in the high quarter, weekly benefit may be higher than the minimum and weeks of benefits for claimants with minimum qualifying wages are less than weeks of benefits for claimants with minimum weekly benefit amount and minimum qualifying wages, in Illinois, statutory minimum.

[5] Maximum augmented payment to individual with dependents not shown since highest average weekly wage may be $231 and any figure presented would be based on an assumed maximum number of dependents

[6] Weeks of duration for claimants with dependents decreased since potential benefits are the same whether or not a claimant has dependents

[7] If the benefit is less than $3, benefits are paid at the rate of $3 a week and weeks of duration are accordingly reduced

[8] No partial benefits paid, but earnings not exceeding the greater of $7 or 1 day's work of 8 hours are disregarded

[9] Benefits are paid for each accumulation of 4 "effective days" "Effective day" is defined as the 4th and every subsequent day of total unemployment in a week in which not more than $24 is paid to the individual Waiting period is 4 effective days accumulated in 1–4 weeks

FEDERAL SECURITY AGENCY, Social Security Administration Prepared by the Bureau of Employment Security for ready reference and comparative purposes Because of the impossibility of giving qualifications and alternatives in brief summary form, the state law and state Employment Security Agency should be consulted for authoritative information In general the state laws cover employment in most types of business and industry, except employment for railroads which is covered by a separate federal law

tax. Only New York provides coverage of domestics, and this only when four or more are employed. A few states include certain workers on "industrialized" farms. Government employees are almost entirely excluded.

After registering at the employment office and filing a claim, before he receives the first payment of benefits the unemployed person is required to wait for a stipulated period No benefits are payable for the waiting period. Only Maryland has no waiting period, all other states specifying either one or two weeks, one week is the more commonly specified time. Such a waiting period is defensible on a number of grounds When a person becomes unemployed, he has some income paid to him at the time or due to him shortly thereafter. This income will carry the person over a relatively short period Administratively it is wise to have such a waiting period because the processing of all claims for idleness of two or three days would add greatly to the paper work involved Finally, it is reasonable to assume that an individual should meet expenses of relatively short periods of idleness; to the government belongs the job of underwriting severe and long-lasting economic risks, but not every little one.

All laws make some provisions concerning weekly benefits, minimum and maximum payments are set and the maximum number of weeks of benefits in a calendar year specified Minimum weekly benefits range from $3 in some states[23] to $10 in others [24] Five dollars per week is the most common minimum set. Maximum benefits run as high as $28 per week in Connecticut and Michigan and as low as $15 in a number of states [25] A figure of near $20 per week is by far the most common.

Probably minimum and maximum figures are needed in the laws Certainly there is need of a minimum figure, and this should have been well above the three to five dollars weekly, found in many of the laws. If the purpose of unemployment compensation is to provide enough income to carry a person without income over a period of idleness, then in 1947, in the postwar period of enormously increased living costs, every law had an unreasonably low minimum. However, computation of benefits as a percentage of average weekly income made this criticism less valid, since wages were then at relatively high levels. Nevertheless, the minimum benefits are in need of reconsideration, even during depressions $3 to $5 per week would be an inadequate income for a worker, especially one with a family.

---

[23] Louisiana, Mississippi, and Missouri

[24] California, Idaho, Illinois, New York, Oregon, Rhode Island, and Washington

[25] Florida, Mississippi, and Virginia.

The maxima need reexamination and revision more urgently, for, unlike statutory minima, percentages of average weekly earnings cannot offset the low figure set by law. An income of $20 to $25 per week might have been a reasonable subsistence payment in 1940, but the situation has changed. Some maxima are essential, since compensation should not be so attractive as to encourage attempts at malingering, but more flexibility is needed. Perhaps the best answer to the problem is to work out maxima and minima carefully at one time, providing for variations upward and downward with fluctuations of a certain size in some specified cost of living index. This proposal is made on the assumption that unemployment compensation will continue to be used as a substitute for relief or charity rather than as a means of giving enough income to provide significant job opportunities If the philosophy were to shift toward the provision of job opportunities, the feasibility of a maximum of any sort would be in doubt.

As to the maximum number of weeks of benefits that may be paid to an individual in one year, the figure varies from twelve weeks in Arizona and fourteen in Mississippi to twenty-six in New York and Washington A common figure is near twenty weeks per year Many states provide for a ratio of total benefits payable to earnings in a prior period; the stated maximum may not be available in such cases. The justice of this provision is open to question. If all unemployment were of short duration, no question need arise, but in many instances, especially with cyclical unemployment, the period of idleness may extend over a long period. If so, the allowable benefits may be exhausted before work is found. It is reported that in 1941, a relatively prosperous year, about half of those receiving benefits had exhausted them prior to finding another job.[26]

If an unemployed person has no reserves to fall back on and exhausts his compensation benefits as well, he must become a public charge. Probably the morale problem is much greater if a man and family are on relief than if they are drawing benefits to which they consider themselves entitled as the result of work previously done. There is, however, the danger that some persons will try to abuse the law if more extensive or unlimited periods of unemployment compensation are allowed But if compensation is to provide a livable minimum income until another job can be found, then it is failing in many cases and will fail in many more when depression strikes again.

In raising funds for unemployment compensation, all states make use of merit or experience rating This means that the tax rate of

---

[26] Peterson, F , *op. cit*, p 716.

an employer is lowered if his record of employment is good. The federal law permits such adjustment of the rates of individual taxpayers. Such plans have disadvantages in so far as building up the unemployment trust fund is concerned. It was estimated that the contributions from the states and territories in 1945, when all but six[27] had rating plans, were forty-one per cent below the amount that would have been provided under the 2 7 per cent specified in the original law. The assumption back of such rating plans is that they reward good employment records, thus giving the employer an incentive to regularize his work. But, as has been stated, some industries are much more unstable or seasonal than others and the causes are largely outside the control of individual businessmen.

Few states collect any taxes from employees. In 1945 only Alabama, Rhode Island, California, and New Jersey did so.[28] In these states the employee rate ranged from 0 2 per cent to 1 0 per cent. At one time nine states collected from employees, but the number has dropped, in part at least, because war prosperity put the funds of the states in excellent condition.

Constitutionality of the unemployment compensation program

No piece of legislation as controversial and breaking as sharply with precedent as did unemployment compensation could possibly receive general public acceptance without running the gamut of court scrutiny. Two cases were started in the state of Alabama to test the unemployment compensation taxes of both the federal and state governments. Both cases were decided by the narrowest possible margin, four dissenters held in each case that the taxes were invalid In both, however, the necessary five justices were convinced that the taxes were valid ones.

In the case of *Steward Machine Co. v. Davis, Collector of Internal Revenue*[29] the validity of the federal social security tax was tested It was attacked as an unconstitutional levy that placed an excise on the right to employment; it was asserted that the tax also created classifications that were invalid because it did not affect all persons alike, employers of fewer than eight persons, those workers engaged in agriculture, and so on not being covered It was also claimed that the tax coerced the state into taking action it otherwise would not take

---

[27] Alaska, Mississippi, Montana, Rhode Island, Utah, and Washington Federal Security Agency, Social Security Administration, "Experience Rating. Operations in 1945 and Future Trends" *Social Security Bulletin*, November, 1946, Vol 9, No. 11, p 10

[28] *Ibid*

[29] 301 U. S 548 (1937).

The majority of the Court was not convinced by this attack. It recognized that with any tax there was a necessity of making certain exceptions or applying the law to groups that qualified on the basis of certain criteria. In the case at issue the exceptions and classifications were held reasonable and valid. The Court was not convinced that the law was coercive; it admitted that the taxation with a refund for those states that took action to pass unemployment compensation plans was a temptation, but denied that the states were coerced, since they were not compelled to pass such a law. This distinction between temptation encouraging a certain action and coercion is vague and perhaps not too convincing, but it aided the Court in validating the tax. The Court made one very good point in connection with the alleged coercion. Prior to imposition of the general tax on employers of eight or more there was, in fact, a sort of negative coercion discouraging the enactment of unemployment compensation laws, since the states that levied them would have been imposing taxes that put their employers at a competitive disadvantage with those of other states without such laws Under the federal law, the states were set free to take such action without fear of harming businesses within the state. For the above reasons plus some others centering on the recognition of the vast extent of unemployment as an emergency problem that transcended all state boundaries, the Court decided that the federal tax was within the constitutionally granted powers of Congress.

Perhaps the Carmichael case[30] was the more important of these two In it the unemployment tax of Alabama was considered by the Court. The state had been forbidden to collect a tax imposed by the state law that applied to approximately the same employers as the federal law, but which levied a relatively low tax on workers' wages as well. In arguing the case before the Supreme Court, the attorneys for the company attacked the tax as invalid under the fourteenth amendment because it did not apply equally to employers of all sizes and in all occupations. It was also asserted that the expenditure of revenues for unemployment relief was not for a public purpose

Again the Court was unconvinced by the attacks on the law. In its opinion, the exemptions of some occupations and of employers of less than a certain number of workers was a reasonable action by the legislature, an action, indeed, that was necessary from time to time because uniform application of all laws without some restriction or classification was not practical The Court was of the opin-

---

[30] *Carmichael, Attorney General of Alabama, et al. v Southern Coal and Coke Co*, 301 U S 495 (1937) In the same decision the case of Carmichael against The Gulf States Paper Company was considered without separate analysis

ion that expenditures for unemployment were for a public purpose—how anyone could argue otherwise in the 1930's remains a mystery.

Further, the Court held that the fact that moneys were collected from one person and perhaps expended for the benefits of others did not condemn the law. In reaching this conclusion, the Court showed a keen understanding of the impossibility of determining accurately what persons are to be blamed for unemployment. According to the opinion, "The causes of unemployment are too complex to admit of a meticulous appraisal of employer responsibility" Elaborating on this general philosophy at another point in the decision, the Court stated.

"Even if the legislature should undertake, what the Constitution does not require, to place the burden of a tax for unemployment benefits upon those who cause or contribute to unemployment, it might conclude that the burden cannot justly be apportioned among employers according to their unemployment experience Unemployment in the plant of one employer may be due to competition with another, within or without the state, whose factory is running to capacity, or to tariffs, inventions, changes in fashions, or in market or business conditions for which no employer is responsible, but which may stimulate the business of one and impair or even destroy that of another. Many believe that the responsibility for the business cycle, the chief cause of unemployment, cannot be apportioned to individual employers in accordance with their employment experience; that a business may be least responsible for the depression from which it suffers most"

Such an analysis gave a clear economic refutation to the theory, still embraced by many, that it is possible to determine individual blame for the incidence of unemployment. As a final point in their support, the Court held that the Alabama act was not an invalid product of the coercive operation of the Social Security Act, as in the Steward Machine Company case, the reasoning was that the federal law did not cross the boundary between encouragement and coercion

When Congress passed the Social Security Act in 1935, railroad employers were among the groups that were taxed until the states had enacted an adequate unemployment compensation law. However, in 1938 Congress enacted a separate law dealing with the payment of unemployment compensation to employees of railroads, sleeping car and express companies, certain other concerns performing service in connection with railroad transportation, and certain railway labor organizations. Thus there was established a uniform, nation-wide system of unemployment compensation benefits. The benefits were a flat amount per day based on annual earnings, ranging in weekly payments from $8.75 to $25. The payments were

financed by a three per cent tax on the carriers. There was no merit rating and no contribution from workers.

A significant change was made in the 1938 law in 1946; at that time the law was so modified that benefits were payable for temporary personal disability as well as for the idleness of railway workers ready, willing, and able to work. Under certain circumstances, an employee suffering from illness can now draw as much as 130 days benefits in a benefit year. Although led in this development by one state and acting at about the same time as another, the move of the federal government in this direction was an important one. It has been a well-known fact for many years that the average worker was much better off if he could become ill or suffer an accident as a result of conditions on the job than if he suffered the same inconvenience from non-occupational causes. But the hardship and problems involved are no greater and there is little more reason for offering help in the one case than in the other.

A worker does not qualify for benefits if he is drawing unemployment or old age benefits under any other law or if he is unemployed as a result of a strike in violation of the Railway Labor Act. If the worker quits work without good cause or refuses to accept suitable work, he is not considered unemployed for a period of thirty days thereafter For the first fourteen days of payable idleness there is a seven-day waiting period, so that there is only seven days unemployment compensation for that time. In subsequent periods compensation is paid only for five days per week. To claim benefits an unemployed worker must file with a designated unemployment claims agent. This agent usually is a foreman or other railroad employee not directly connected with the employment service. The worker is not required to accept a job that would bring his expulsion from the union or that would cause loss of substantial seniority rights.

The intra-war period, it has been seen, gave the nation its first extensive experience in positive action to combat unemployment Much of this action was pioneering and experimental and much of it disappeared with the advent of war prosperity, apparently not to be utilized again until the nation is faced with economic emergency. Although the postwar period has brought a legislative statement acknowledging the federal government's desire for full employment,[31] there is little to indicate that a positive program to combat unemployment will be undertaken until the nation finds itself plagued with mass unemployment. As originally drawn, the Employment Act of 1946 stated that persons had the right to useful

---

[31] Public Law 304; 79th Congress, 2nd Session Approved February 20, 1946 For summary of the law see *Monthly Labor Review*, April, 1946, Vol 62, No. 4, p. 586

employment; to make this statement meaningful, it was proposed that the President submit at the beginning of each session of Congress a report on the economic situation and on the anticipated need for expenditures to maintain full employment.

The act that finally was passed stated that the policy of the federal government was to coordinate the activities of various groups so as to encourage the providing of useful employment opportunities, a far cry from the statement of a "right to work." Under the enactment, it is the responsibility of the President to submit to Congress, within sixty days of the opening of each regular session, a report on economic conditions and trends that exist in the nation plus a review of the economic policy of the nation and of the program and legislation needed.

To aid the President in discharging his duties under the act, a three-man Council of Economic Advisors was created in the Executive Offices of the President. This council, with a relatively small staff, assists and advises the President, gathers timely economic data, and evaluates the economic programs of the government. It also develops and recommends national economic policies. The major weakness of the act is that any action taken under it must be by congressional means; the promptness and wisdom of action to combat unemployment cannot be tested until the economy is faced with a major recession or depression.

Failure to engage in active planning of methods to combat unemployment through public works and other government action narrows the anti-unemployment legacy of the 1930's to two items. a national system of public employment exchanges and a nation-wide system of unemployment compensation programs. The two are very important and are necessary parts of any program for meeting a serious wave of unemployment. But, as previously indicated, both of these measures are ways of easing the impact of unemployment or of filling jobs more promptly. Neither offers anything positive in the way of a plan for creating work or encouraging the reemployment of idle persons. Up through mid-1948 there had been no opportunity to test our ability to apply our experience of the 1930's in combatting idleness, there was little reason to believe that such a situation could last indefinitely. The employment service and compensation plans in existence meant that any new emergency could be attacked from a somewhat more advanced point than the one from which we started in the 1930's. Thus, although some progress was made in the 1930's, the amount was quite inadequate in view of the fact that unemployment seems likely to remain, over any extended period of time, one of our most complex economic problems.

## Questions

1 When is a worker unemployed? Is it possible to determine definitely when a person is willing and able to work? Why or why not?

2. To what extent is unemployment an economic problem that can be met through the action of employers and/or unions? Why?

3. What courses of action can government undertake that will tend to create jobs and thus reduce the amount of unemployment?

4 Is it feasible for the government to undertake to guarantee the right to useful employment of those able and willing to work? Why or why not?

5. In *Bailey v. Drexel* the child labor tax was held by the Supreme Court to be invalid. In the Steward Machine Company case the federal tax that encouraged the states to enact unemployment compensation laws was held valid. Were there basic differences in the two issues?

6. The United States Employment Service has been under direct federal supervision and under state control. Which do you consider the more desirable? Why?

## CHAPTER XIX

# SOCIAL SECURITY: OLD AGE AND OTHER RISKS

### The problem of dependent old age

The protections of the Social Security Act other than the unemployment compensation plans encouraged under it were not labor legislation in the sense embodying a strict application of the definition of labor legislation given at the beginning of this study. Under the provisions of the law, an attack is made on dependent old age and aid is offered in caring for the blind, for dependent children, crippled children, and to certain social services. However, since dependence in old age and problems of health and child welfare are more common among workers and their families than in the general public, some parts of the Social Security Act other than those affecting unemployment compensation should be examined

There are a number of reasons why these problems, especially that of dependent old age, fall especially heavily on worker groups. First of all is the fact that the average worker's income is not large enough to permit him, even if he has the foresight, to save or otherwise make adequate provision for an extended period of idleness in old age. The annual wage of the average worker is not more than the amount necessary to provide a healthy and decent standard of living at the time that it is being earned. Another reason why workers are especially affected is the fact that those who work in mines, mills, factories, and construction enterprises tend to be less educated than other non-farm groups in our population, the result is a tendency toward less foresight, less thought of future needs. While foresight is not entirely a matter of education it is probable that there is considerable correlation There is still another reason for noting attacks on old age insecurity in a survey of labor legislation. As workers get older, they tend to become more nearly marginal members of the labor force. Thus, when there are more persons available for work than there are jobs available, older persons are likely to feel the situation more severely than younger groups This statement will not be so true of skilled and professional persons as of the unskilled and semi-skilled manual workers The former groups are able to replace physical stamina with more knowledge and skill as they grow older; consequently, they may not

become marginal workers in the labor market as quickly. However, advancing age makes those who have only manual dexterity and physical strength to sell much less desirable, and sooner or later forces them into the submarginal group.[1] Here, again, the worker and his family have a particular interest in programs for old age security.

Even before the depression peak of mass employment had been reached the problem of old age dependency was an important one. In 1930 it was estimated by the Bureau of the Census that there were slightly over six and one-half million persons in the nation who were sixty-five years of age or older.[2] Of this number, it was estimated that perhaps 1,900,000 had no property, 2,400,000 no earnings. Thus, according to this estimate, at least one-third were destitute.[3] The number of aged persons increased; by 1935 there were seven and one-half million or more persons who were over sixty-five years of age.[4] Of this number, the Committee on Economic Security estimated that at least one-half were dependent upon others for support. The aid came primarily from friends and relatives, many not financially able to contribute to the support of others.[5]

At least one other reason for government action to provide old age security should be noted. The proportion of our population that is sixty-five years of age or older is steadily increasing and will continue to do so for many years. In 1920 there were fewer than five million persons in that age group, by 1930 it had reached six and one-half million, and by 1940 about nine million. The census of 1950 probably will show nearly eleven million in this age group, and the number will continue to increase.[6] The percentage of aged in the total population also is increasing; it was less than three per cent in 1920, about five and one-half per cent in 1930, and nearly six and one-half in 1940. Estimates are that it will be seven and one-half per cent or more in 1950 and will continue to rise until it reaches twelve and one-half per cent by 2000.

Thus, lowered birth rates and longer life expectancy complicate

---

[1] This situation is more likely to manifest itself in the ability to get a new job than to keep one. However, in any case, advancing age is a particular problem to those who have no special skill or "know-how" to offer to an employer.

[2] Fifteenth Census of the United States 1930, Population Bulletin, Composition and Characteristics of the Population, p. 9. Washington, D. C.: U. S. Government Printing Office, 1931.

[3] Rubinow, I. M., "Old Age." *Encyclopedia of the Social Sciences*, Vol. XI, p. 456. New York, The Macmillan Co., 1933.

[4] The number was approximately 9,000,000 in 1940, according to the census. Interpolating between the 1930 and 1940 figures indicates a figure somewhat in excess of seven and one-half million for 1935.

[5] *Report to the President of the Committee on Economic Security*, p. 24. Washington, D. C.: U. S. Government Printing Office, 1935.

[6] *Ibid.*, Table 13, p. 68.

the problem of old age insecurity. The greater number and proportions of aged persons makes the matter of caring for the indigent aged one that demands more and more attention and, if society fails to find a means of offering attractive employment, an increasing expenditure by society for relief.

Early old age pension plans

As has been noted, the movement for old age pensions by state and territorial governments had begun with Alaska in 1914 The movement progressed quite slowly, at the close of 1934 pension systems were in actual operation in twenty-five states and two territories. However, only eleven of the systems were in state-wide operation, the others having some counties that did not elect to care for their indigent aged in such a manner.

Even where there were state old age pension plans in existence there was no assurance that the problem of old age dependency was being adequately taken care of; the provisions of the plans varied widely For example, the average monthly pension in North Dakota was $0.69 in 1934 The highest average monthly allowance was $26.08 in Massachusetts. Only six states paid pensions averaging over $20 per month, while those in fifteen states averaged less than $10.[7] In addition, the character and quality of administration varied widely.

There is at least one other objection to state pension laws as a means of providing for old age dependency. A pension has no element of a right to an income that has been purchased through contributions to some sort of fund Rather it is a gift based on need. Although there should be no particular stigma attached to the receipt of support from a society that is unable to offer an opportunity for persons to earn a living, there is an element of discredit involved in the receipt of an old age pension. "Rum and laziness," it must be admitted, are the bases of some dependency in old age, but economic and social factors beyond the control of the individual probably are much more important causes. Nevertheless, our philosophy is such that most persons do not want to take a pension if they can avoid it. A much better method of caring for dependence in old age is through some widespread system of old age, retirement, and survivors' insurance. In such a plan, the contributions of the workers or workers and employers create an entirely different attitude toward the receipt of benefits, and the benefits are likely to be more nearly adequate

Until the passage of the Social Security Act the provision of aid

[7] U S Bureau of Labor Statistics, Bulletin No. 616, *Handbook of Labor Statistics* (1936 edition), p 601

for non-working older persons was very inadequate. Many states had made no concerted attempt to meet the problem, several of those that did enact laws had been willing only to go through the motions, and in a majority of the cases had done a very unsatisfactory job. The Social Security Act did not bring a complete answer, but it made a long stride forward toward a realistic and intelligent program for meeting dependent old age.

### Old age and survivors' insurance under the Social Security Act

By far the most important old age dependency countermeasure included in the Social Security Act was the old age and survivors' insurance program. Since this part of the act was changed considerably in 1939, the provisions as they stood just prior to World War II will be noted. Essentially, prior to 1939 the act provided for retirement benefits, since that time it has provided retirement benefits and benefits to the dependents and survivors of an insured person. This protection has been made possible by the collection from employers and employees of a tax of one per cent on payrolls and on wages up to $3000 per annum. The tax is nothing more than a forced contribution for the purchase from the federal government of an annuity payable on retirement or to survivors if certain conditions are met. Let us consider the law in greater detail.

As is true of all such legislation, there are many persons not covered by the law. In covered occupations, unlike the unemployment tax, it does apply to all employers of one or more persons. However, a number of occupations are exempt, these include agricultural labor, domestic labor, casual labor, government employment (foreign, federal, state, or local), service performed for other members of the immediate family, employment for a non-profit organization, and maritime service on non-American vessels when outside the United States. For persons engaged in other occupations for a specified period of time, and if they meet certain conditions that we must note, a retirement annuity should be available on their leaving the labor market at or after age sixty-five.

In order to qualify for benefits, certain taxes must be paid and a certain amount of income earned As originally established, the law provided for a one per cent tax on employers and a similar levy on employees (on only the first $3000 of annual wages paid by an employer to any one employee) from 1937 to 1940; from that year to 1943, 1 5 per cent, from 1943 to 1946, two per cent, from 1946 to 1949, 2 5 per cent, and thereafter, three per cent.[8] Such a plan

[8] For simply stated information on this part of the Social Security Act see: Social Security Board, "A Handbook on Federal Old-Age and Survivors Insurance." Washington, D C., U. S. Government Printing Office, 1941.

would have built up a large reserve fund, since the progression of taxes to three per cent from both employer and employee by 1949 would have brought in much more revenue than would have been necessary for the payment of benefits. Statisticians estimated that by 1980 the reserve might have been as great as $47,000,000,000, since the system would not have reached its peak number of annuity recipients until that time. The reserve probably will never be built up, since the tax continued through 1948 as one per cent on each contributor. Presumably the plan is to continue on a pay-as-you-go basis, collecting now from younger persons to pay the benefits of retired or survivor claimants. When the present taxpayers retire, their benefits will come, not from reserves which they have helped to build, but from payments by other persons—young workers who are building for themselves a right to a retirement annuity with funds actually being paid out directly to others.

A claimant for retirement income must meet certain requirements as to previous employment. In order to be fully insured for life, he must have been employed in covered occupations long enough to have earned at least $50 per quarter in a minimum of forty calendar quarters subsequent to January, 1937 (when the system went into operation). Between 1937 and the end of 1946, when 40 quarters had elapsed, a person had to have earned the minimum amount in at least one-half of the quarters from 1937 to age sixty-five, with a minimum of six quarters if that age were attained before July, 1940, this prescribed minimum number of quarters was increased by one every six months, until it was fifteen quarters for those who were retiring late in 1944. Since that time it has been a matter of earning $50 during one-half the quarters elapsed since January, 1937. After 1956 the only significant provision will be the required forty quarters for full insurance upon retirement.[9] It should be kept in mind that only quarters worked since the law became operative and only those in which at least $50 was earned in a covered occupation serve to satisfy the requirements.[10]

The benefits to which a person is entitled under the old age and survivors' insurance plan are dependent on the average earnings while engaged in covered employments and the length of time spent

[9] This will not be true of survivors' insurance for younger workers whose death leaves dependents who can qualify for benefits For these persons the requirement will continue to be minimum earnings of $50 per quarter in at least half the quarters from January, 1937, or age twenty-one, whichever came later, with a minimum of six quarters

[10] A widow and children are eligible for benefits if the deceased was either currently insured or fully insured at the time of death To be currently insured the worker must have received at least $50 in wages from covered occupations in six or more quarters out of the twelve immediately preceding the one in which he died

in such occupations. To compute the average monthly wage, the total wages earned by the worker in covered occupations after January, 1937, are divided by the total number of months in that same period of time, including any periods in which he was not engaged in a covered occupation. Thus, if a person has spent considerable periods of time in non-covered occupations, his average wage would be sharply lower, since those periods of time would have to be used in computing the average although the earnings therefor could not be. For an employee who reached age twenty-two after the law went into effect, any wages earned in covered occupations after January, 1937, are included in the calculation, but the months of any quarter before age twenty-two in which he was paid less than $50 are excluded

After the average monthly wage is computed, the monthly primary benefit of the claimant can be derived. This is done by (a) taking forty per cent of the first $50 of the average monthly wage, (b) taking ten per cent of the remainder ($250 per month or $3000 per annum is the top figure that may be used), (c) adding the results of steps (a) and (b) and taking one per cent of that total and multiplying it by the number of years in which at least $200 has been earned in a covered occupation, and (d) figuring the sum of the three steps above. For example, if a worker had an average monthly wage of $200 for a period of 15 years coverage, his primary benefit would be computed as follows: forty per cent of $50 is $20, ten per cent of the remaining $150 is $15 Adding the two gives $35, to which we add fifteen per cent of $35, or $5 25. A sum of the $35 and $5 25 indicates a total primary benefit of $40 25 per month In no case is the monthly benefit to be less than $10 or more than $85, regardless of the sum computed.[11]

In 1939 the law was modified so that additional benefits were allowable to persons with wives and dependent children and certain benefits were provided for dependents who survive an insured person. Since the dependent and survivor benefits are based on the primary benefits, it is well to examine them now. The primary benefit is that due on retirement, at age sixty-five or thereafter. The monthly addition granted for a wife, drawn only at age sixty-five and thereafter, is 50 per cent of the primary benefit; the addition for a dependent child (one under age 18 and unmarried) is also one-half the primary benefit. Similarly, fifty per cent of the primary benefit

[11] This method of computation is entirely different from that which was written into the original law In the original the benefits were computed on the basis of the total wages earned with no consideration given to length of service The present formula is one written into the law in 1939. The original method is not included here since it has no current value.

of the deceased is payable to a surviving parent over sixty-five, but only if the parent was chiefly dependent on the deceased and the deceased left neither widow nor child or, in case the deceased did leave a widow or child, only if the widow or child is not entitled to benefits.

Survivors of a fully insured person are also eligible for payments based on the primary benefit of the deceased. A widow is eligible either if she is over age sixty-five or if she has unmarried children under eighteen who are dependent. Under either of the above conditions a widow can draw three-fourths of the primary benefit. also, surviving dependent children under eighteen are entitled to a survivor benefit of one-half the primary amount. In no case are the benefits to a family group derived from one worker's insurance account to exceed the smallest of the following three amounts: (a) twice the amount of the worker's primary benefit, (b) 80 per cent of his average monthly wage, or (c) $85.

As an illustration of dependent and survivor benefits, let us calculate the amount that might have been available to dependents or survivors of the worker whose primary benefit was computed previously He had averaged $200 per month in a covered occupation and had worked at it fifteen years before retirement, his primary benefit was $40.25. After his retirement the wife would be entitled, when she reached age sixty-five, to a benefit of $20.13, together they would receive $60.38 per month If there were a dependent child, one-half benefit, $20 13, would be payable in addition. If the wife had not reached age sixty-five or the child were beyond eighteen, only the primary benefit of the worker would be paid.

If the worker died with the above monthly annuity payments due to him, the following survivor benefits could be paid The widow, over sixty-five or irrespective of age if she had dependent children, would be eligible for a monthly benefit of $30 19, three-fourths of the basic monthly benefit. Each dependent child would be eligible for a payment of $20.13, a like amount would be payable to each dependent parent over age sixty-five, but only, as stated previously, if the parent was chiefly dependent on the deceased and the latter left neither widow nor child or, in case the deceased did leave a widow or child, only if neither is entitled to benefits. But no combination of retirement and dependent or survivors' benefits based on the earnings of one person may exceed $85 or the other limits noted above

To summarize eligibility for benefits, once a worker has worked the required number of quarters, he and his dependents or survivors are eligible for benefits only if they meet certain conditions The worker must have reached age sixty-five and retired before he can

draw benefits. There is no provision in the Social Security Act for retirement, even when disabled, prior to an age of sixty-five years. Nor can a person of sixty-five receive the benefit without retirement from covered work. Receipt of $15 or more monthly as wages from covered employment disqualifies the claimant for benefits, however, any amount of earnings is allowed without disqualification if it comes from self-employment or non-covered work Dependents or survivors are eligible for benefits only when over age sixty-five or under age eighteen. The single exception to this condition is the surviving widow under sixty-five with a dependent child or children; such a person can draw her regular survivors' benefit of seventy-five per cent until the children have reached eighteen, married, died, or otherwise become non-dependent. And when the last child reaches eighteen or otherwise becomes disqualified the widow becomes ineligible until she reaches age sixty-five. Remarriage automatically disqualifies a widow or parent, as does marriage a dependent child under eighteen

All monthly benefits awarded to a retired worker are regularly payable from retirement until death unless the insured begins earning as much as $15 per month in a covered occupation, in which case benefits stop in those months when the excess amounts are earned. Benefits payable to dependent children are payable until age eighteen or marriage or adoption. Survivors' benefits for a widow or parents are payable until death or remarriage.

Lump-sum death payments can be made, under certain rather restricted conditions, to relatives or even to friends paying burial expenses. Such payments are permitted in case the deceased worker was either currently or fully insured at death If that be the case and there is no widow, child, or parent who can qualify upon application for a monthly benefit, then the lump sum is payable provided claim is made for it within two years of the death of the insured person

Any benefits due under the old age and survivors' insurance program are available as a right for which the contributions of the worker and his employer or employers[12] have paid. Nevertheless, the benefits are not automatically payable. The worker or his survivors must file a claim for benefits. In filing, there is no necessity of proving a need for the benefit because it is rightfully due to the worker. However, if a claim is never filed by the eligible claimant,

---

[12] Many persons work for a number of different employers who are in covered occupations Since a worker on his first covered job is assigned a social security number that he keeps throughout his life, unless it is changed for some reason, and since all of his contributions and those of his employers are credited to his account number, various employments are not a serious problem

no benefits are ever paid Separate blanks are to be filed by the retired worker, his wife, children, parents, or widow Still another blank is provided for application for lump-sum death payment. Considerable administrative routine is prescribed concerning the completion of forms and the proof to be filed in support of statements.

Under the old age and survivors' insurance program, the worker is given no choice as to whether he is to be covered, the nature of the occupation in which he is engaged determines that matter. However, it is up to the worker or survivor whether or not benefit claims are filed Because no test of resources is involved and the benefits are a matter of right for those who can qualify, it is probable that relatively few claims are left unfiled. From the time of the earliest payments the number of regular benefits has increased steadily. By the end of 1946 over 900,000 persons were receiving retirement benefits and 700,000, survivors' benefits. Barring unforeseen economic or legislative shifts, these figures are likely to rise steadily for a score of years or more.

At the same time that the number of benefits paid was increasing, the number of persons building up credits under the Old Age and Survivors' Insurance Program was increasing. Between 1940 and mid-year 1946 the number of living account-number holders grew from approximately 50,000,000 persons to slightly more than 76,-000,000. Not all holders of account numbers are at work at any one time, of course, but the number of workers receiving taxable wages showed a similar sharp jump in successive years. During 1937 almost 33,000,000 persons drew taxable wages. In 1945 this number was greater than 46,000,000 These increases furnish the basis for larger numbers of benefit claims in future years.

Establishment of a system of contributory old age grants will not fill entirely the need for old age security. For administrative or political reasons or both it was impractical when the Social Security Act was passed to try to cover all persons who would be in need of assistance in old age. In addition, this contributory system does not meet the needs of dependent old persons, of others leaving the labor market soon after the passage of the act, and of the self-employed no matter when they cease gainful employment. Also there are non-covered persons who are incapacitated or for some similar reason are not employed. A well-rounded program designed to combat old age dependency must include a measure to aid needy persons who cannot reap the benefits of a contributory plan.

### Current old age pension plans

The Congress was unwilling to embark upon a national system of pensions for the aged when the Social Security Act was passed. But

the failure of many states to develop programs offering adequate protection for their dependent aged showed that some federal action was necessary in order to encourage the states to make reasonable provisions for older persons unable to support themselves. Therefore, the old age assistance provisions of the Social Security Act offered financial assistance to the states that were unwilling to establish relatively adequate pension plans.

Provisions of the act offered to give to the states with acceptable pension laws one-half of the amount of the pension paid in each case, up to a maximum federal contribution of $20 This maximum was changed in 1946 to $25 [13] However,[14] in respect to quarters, beginning October 1, 1948, state will receive $15 of the first $20 paid to a needy aged person, plus fifty per cent of the amount paid in excess of $20, but with a maximum monthly payment (combined federal and state) of $50. The act in no way limits the amount of the state grant, but most states only match the federal grant because that is all that is necessary to receive the federal aid In addition to encouraging more adequate pension programs, the federal law is directed at keeping as many old persons as possible in their homes rather than in country farms and poorhouses.

In order to qualify for the federal aid, state laws must be approved by the Social Security Administration This approval is granted only if a number of standards specified in the law are met or surpassed. According to some of these, the state plan must: (1) be in effect in all political subdivisions of the state, and, if administered by them, be mandatory upon them, (2) provide for financial participation by the state, (3) designate a single state agency to administer or supervise the administration of the plan, (4) provide that persons denied old age assistance be given an opportunity for a fair hearing before such an agency, (5) provide methods of administration and selection of personnel that promise efficient operation of the plan; (6) provide for the making of reports needed by the federal Security Agency; (7) provide that the state agency shall in determining need take into consideration any other income and resources of the individual; (8) restrict the disclosure of information concerning applicants and recipients to purposes directly connected with the administration of old age assistance; (9) make no minimum age requirement of more than sixty-five years, (10) make no residence requirement in excess of five years out of the nine imme-

[13] This change in maximum federal grant resulted from the grant of $10 federal money for the first $5 of state contribution Thereafter, the federal government matched the state contribution up to $25 federal grant per case

[14] This change was made by Public Law 642, passed over the President's veto, June 14, 1948

diately preceding the application, and (11) make no citizenship requirement that excludes any citizen of the United States.

In addition to the grants made to the states for pensions as outlined above, the federal government gives to each state five per cent of the total amount granted for pensions or old age assistance. This latter sum may be used to pay for administering the state plan or for old age assistance grants or both. Whereas only half of the states had established old age pension laws prior to the enactment of the Social Security Act, all saw fit to do so thereafter.

Payments made under the old age assistance program are based on need In order to qualify for a pension under this plan, the applicant must convince an investigator that he or she has no income or resources from which to provide self-support If there is any income from property, contributions from the family, or other sources, these are considered by the public assistance officer in the determination of need, along with estimated requirements for food, clothing, medical care, housing, or other necessities On the basis of these needs and income or resources if any, a final estimate is made of the amount to be granted by the state The amount need not be the same for all pensions. It should be noted that under this plan of assistance there are no exceptions for various employments, size of the firm, the income, total previous earnings, or anything of that nature. The sole question is that of the needs of aged persons which cannot be met by other programs or plans.

### Other grants allowable under the Social Security Act

Under the Social Security Act, the federal government provides aid for the needy blind under much the same conditions as for the aged. Payments for blind persons unable to support themselves are again made on the basis of estimated need. If the federal Security Administration approves the state plan of giving pensions to the blind, it will make grants in aid in the same amounts and under the same conditions as in the case of the needy aged.

Another section of the act sets up a similar plan of aid for dependent children. In general, a dependent child is one living in a broken home with either no parental support or not enough to maintain the family as a unit In order to keep the children in their home or perhaps that of relatives rather than having them sent to a public institution, the federal government gives financial aid to the states. Grants are made on the basis of estimated needs. The United States will pay to states $9 of the first $12 paid to a dependent child, plus fifty per cent of the amount over $12, up to $27 for the first and up to $18 for each additional dependent child.

These grants should not be confused with those made to surviving

mothers and children under the Old Age and Survivors' Insurance program. Under that plan, the contributions are dependent on earnings of the deceased husband and father. Of course they are likely to be needed, but the survivors' grants can be secured without any proof of need.

In addition to the already noted sections of the Social Security Act, there are provisions for federal participation in a number of welfare services These are so far removed from the general field of labor legislation that they will only be named here Included are (1) maternal and child health services, (2) services for crippled children, and (3) child welfare services. In all of these fields of action federal grants are made for the purpose of aiding in the conduct of approved services.

The Old Age and Survivors' Insurance program, which is entirely federal in nature, the federally induced state plans for unemployment compensation, and the federally aided systems of aid for the needy aged, blind, dependent children, and for certain welfare services are the sum of the efforts by the federal government to provide social security for workers in the general economy. Other plans have been put into effect by the federal government for its own employees and for workers on interstate railways. This much development is highly commendable. Certainly the situation is much better than it was when the nation entered the depression of the 1930's In view of the fact that social changes come very slowly and that there usually is much opposition to such changes, the progress made has been rapid However, the nation is not faced with the same situation as it was when much of the program was begun. Needs change as does what constitutes adequate social protection. There have been modifications in the federal and in many of the state laws, but there is the same problem that has arisen in every instance of government regulation or control: modifications come slowly, and only after the need has long been apparent.

### Constitutionality of old age and survivors' insurance

Like unemployment insurance and almost any significant piece of legislation, the old age and survivors' insurance program had to undergo the scrutiny of the Supreme Court before its way was clear. The background of the test case[15] is somewhat unusual, a suit was brought by a shareholder of the Edison Electric Illuminating Company of Boston asking an injunction to restrain the company from paying the taxes for old age assistance. The company was willing to pay the tax and indicated that it would do so unless restrained by

[15] *Helvering, Commissioner of Internal Revenue, et al v Davis*, 301 U S. 619 (1937)

the court order The district court in which the suit was brought refused the injunction and dismissed the case. In so doing, the judge held that the tax on employees was not properly a matter to be challenged by the stockholder.

On appeal, the Circuit Court of Appeals, in a two-to-one decision, reversed the judgment of the lower court. The majority of the court held that the old age retirement benefits provided under Title II of the act were a violation of the tenth amendment, which reserved certain powers to the state The majority was also of the opinion that the tax called for by Title VIII was not an excise in the sense intended by the Constitution. From this decision the case was carried to the Supreme Court for a final ruling on the validity of the federal old age assistance program. The ruling was rendered on the same day as the Steward Machine and Carmichael decisions

In arguing the suit before the Supreme Court, the counsel for the stockholder made much of the argument, agreed to by the majority of the Circuit Court, that the tax on employment was not an excise of the type that was sanctioned by the Constitution. Quotations and definitions from sources dating back as far as Adam Smith's *The Wealth of Nations* and citing the type of excises used at other times in our history were used to try to disprove the validity of the measure. In addition, it was pointed out that the exemptions in the law were such that only about fifty-six per cent of the working population was covered. It was argued, and with some reason, that such widespread exemptions made the plan an unreasonable and inadequate one.

The arguments were not convincing, however, to the majority of the Court On the major contention that the attempt of the federal government to provide a system of old age and survivors' insurance was not expenditure for the general welfare and was a violation of the tenth amendment, the Court denial contained a number of interesting comments. It was held that.

> "Congress may spend money for the 'general welfare' . . . the line must still be drawn between one welfare and another, between particular and general. Where this shall be placed cannot be known through a formula in advance of the event There is a middle ground . in which discretion is at large The discretion, however, is not confided to the courts. The discretion belongs to Congress unless the choice is . . . a display of arbitrary power."

Thus the Court sanctioned as constitutional the spending of federal moneys for old age and survivors' benefits. At the same time they refused to overrule Congress on what was or was not in the gen-

eral welfare. And, as they pointed out, the concept of general welfare is not static and concepts a century old are not controlling.

Recognizing that the old age assistance program was a part of a broad attack on the problem of unemployment, the Court stated that "unemployment is an ill not particular but general, which may be checked if Congress so determines, by the resources of the nation." As to the extent of the problem and the efficiency of separate action by the states, the Court said, "The problem is plainly national in area and dimensions Moreover, laws of the separate states cannot deal with it effectively. Congress at least had a basis for that belief"

As to the validity of the tax as an excise sanctioned by constitutional provision, the Court ruled on the issue without discussion. In the opinion of the majority, it was valid excise and the exceptions made did not alter that fact. Therefore, the benefits provided under the old age retirement plan and the tax collected in conjunction with it were both approved. A long step forward in social progress had been taken.

Retirement legislation for railroad workers

The Congress did not extend the provisions of old age and survivors' insurance to railroad employees under the Social Security Act. Rather, as with labor relations and unemployment compensation, they enacted special legislation to apply to that group In 1934, prior to the Social Security Act, the first Railroad Retirement Act was created.[16] This law applied to all railroad, express, and Pullman employees; for them retirement was required at sixty-five years of age, with extension of work time to age seventy permitted under agreement The amount of the benefits provided was based on earnings and length of service; they were financed by a tax of two per cent on the employees' wages and a tax of four per cent on the employers' payroll.

The act was challenged in the courts at the first opportunity by the companies affected.[17] It was argued that the regulation was not reasonably connected with the control of interstate commerce, and that it therefore was not within the powers of Congress A number of other criticisms were offered, one of which was that the pooling of all funds collected was a violation of the due process clause because it discriminated against employers with the better employment records

At the time that the case came before the Court it still was pursu-

---

[16] 48 Stat 1283, 1934

[17] *Railroad Retirement Board v Alton Railroad Company,* 295 U. S 330 (1935)

ing a very conservative course. Economic conditions and the threat of presidential action to add members to the Court had not yet made any imprint on the thinking of the Justices. Mr. Justice Roberts spoke for the Court, stating the opinion of a bare five-man majority that the law in question was invalid. He stressed the point that, despite the importance of their function to the public, the railroads were privately owned and there were limits on the extent of regulations to which they could be subjected. As the court majority saw the issue, the provision of pensions was "remote from any regulation of commerce as such" The attempted action clearly lay "outside the orbit of Congressional power."

The majority also agreed that the act violated the due process clause "We conclude that the provisions of the act which disregard the private and separate ownership of the several respondents, treat them as a single employer, and pool all their assets regardless of their individual obligations and the varying conditions found in their respective enterprises cannot be justified as consistent with due process." In addition, the majority objected to the provisions of the act that would have paid pensions to persons no longer employed on the railroads.

Chief Justice Hughes and three others dissented Essentially, the divergence of opinion came from conflicting sets of social and economic values That is, the dissenters felt that the previously sanctioned legislation enhancing the opportunity of injured railway workers to receive compensation was a valid precedent for pensions Both situations were instances of government action to compensate or set the stage for compensating for "human wastage." Nor was the pooling provision invalid in the mind of the Chief Justice, he felt that pooling arrangements in state compensation laws that had been approved were adequate precedent for approving the pooling provided by the Retirement Act. Finally, the dissenters denied pointedly that the establishment of retirement pensions was outside the powers of Congress. That body could treat the railroads of the country as a group for purposes of regulation so long as particular properties were not confiscated

Congress did not take the opinion of the Court as the final answer regarding railroad employee pensions In August, 1935, it enacted two pieces of legislation to replace the one which had been disallowed [18] One of these created a new system of pensions for retired railroad employees based on the power of Congress to appropriate and spend funds for the general welfare. Its companion piece levied excise taxes on the carriers and on the income of employees

[18] Public Law 399 and Public Law 400, 74th Congress, 1st Session, approved August 29, 1935, 49 Stat. 967 and 49 Stat 974.

in order to finance the pensions, however, no direct connection was made between the pensions and the tax The tax was 3.5 per cent on wages and payrolls, up to $300 per month for any one person The benefits of the retirement plan were somewhat different from those of the act of 1934, but since the law was modified so quickly they need not be examined here.

This law did not reach the Supreme Court, however, the Alton Railroad again became a party to a test case that was ruled upon by the Federal District Court for the District of Columbia in 1936 [19] In the decisions and a subsequent oral clarification, the latter seemingly negating parts of the former, it was held that the tax levied but not the retirement act was unconstitutional, this statement hardly agrees with a passage in the decision that declared, "It necessarily follows that the two acts are inseparable parts of a whole" Even though there was conflict in the two statements of the judge, the Railroad Retirement Board acted on the oral clarification and began paying retirement annuities in July, 1936.[20]

In view of the somewhat beclouded situation with regard to pensions for railroad employees, President Roosevelt suggested in January, 1937, that employers and employees confer in order to work out a mutually agreeable plan for such pensions that could be substituted for the 1935 enactment. Acting on this request, the parties agreed to meet, and in March, 1937, they announced a plan which they proposed as a legislative substitute for the existing plan.[21] This proposal, with some modifications by Congress, was enacted into law in June, 1937.[22] A separate enactment was again passed levying taxes on employers and employees that would offset the expenses resulting from the retirement pensions [23]

The retirement act is different in one important respect from the old age and survivors' insurance provision of the Social Security Act, it provides benefits for disabled persons who fulfill minimum service requirements even though the disabled person is not at retirement age Under the law, railroad workers may retire at sixty-five years of age or later regardless of years of service, between sixty and sixty-five with thirty years service but with a deduction for each month that a male is under age sixty-five, when totally disabled at any age once they have completed 10 years service, between sixty and sixty-five if disabled for regular railroad occupation,

---

[19] *Alton Railroad Co et al. v. Railroad Retirement Board, et al*, 16 Fed Sup 955 (1936)

[20] See *Monthly Labor Review*, August, 1936, Vol 43, No 2, pp 328-330 for a review of the case and subsequent action

[21] *Monthly Labor Review*, May, 1937, Vol. 44, No 5, pp 1126-1127

[22] 50 Stat 307

[23] Public Law 174, 75th Congress, 1st Session, Approved June 29, 1937

and regardless of age if disabled for regular railroad occupation and having completed twenty years of service. Although there is no maximum benefit stated under the law, methods of computing benefits have made $120 per month the maximum until after 1966. Survivors' benefits are paid under much the same conditions as old age and survivors' insurance However, no additional allowances are made for dependents during the life of the retired person. The benefits payable to the retired worker tend to be somewhat higher than under old age and survivors' insurance In addition, the provision of disability benefits is a significant improvement.

Although the Supreme Court had approved old age and survivors' insurance in 1938, the payment of the tax involved in the new law was tested in the Supreme Court in the same year.[24] The case was brought by the state of California. It owned the State Belt Railroad in the dock and shipping area of San Francisco, and, since it moved goods in interstate and foreign commerce, was held liable for the tax. The state sought an injunction restraining the Railroad Retirement Board and the Commissioner of Internal Revenue from collecting the tax. Justice Brandeis wrote the opinion of the Court denying the injunctive relief sought. According to the opinion, irreparable injury was not involved, the board could not enforce the provisions of the act except by legal proceedings The Court felt that in any such case there was ample opportunity to be heard. Retirement benefits for railroad workers were finally a reality.

The past two chapters and Chapter X dealing with workmen's compensation laws cover the general field of social security legislation enacted in the United States The story has its good and bad points, after a very tardy beginning, our progress has been relatively rapid However, there are great gaps in the patchwork program that has evolved. Disability due to non-industrial sickness or accidents is untouched, and under programs like workmen's compensation, unemployment compensation, old age and survivors' insurance, and the various public assistance programs many persons are not protected in any way, the most commonly excluded groups being agricultural and domestic workers.

Even where groups are nominally covered there are wide differences in the adequacy of the social protection from one state or area to another. In general, the assistance given tends to fall far below any reasonable needs. In high prosperity the situation is not so bad But there is no reason to think that a high degree of prosperity will continue indefinitely. If not, the measures that have been taken up to the end of 1947 will prove to be quite inadequate in the face of the hardship that will beset the public.

[24] *California v. Latimer et al*, 305 U. S. 255 (1938).

## Questions

1. "The problem of dependent old age is only a special phase of the problem of unemployment." Evaluate this statement

2. Would there be any advantage to building, under old age and survivors' insurance, a reserve fund of forty or fifty billion dollars, as was first planned, or does a "pay-as-you-go" basis seem more desirable?

3 Is there need for both old age pension and old age and survivors' insurance plans in an adequate social security program? Why or why not?

4 What reasons are there for special retirement legislation for railroad workers? Do you consider the reasons adequate?

5 What are unions doing at the present that will influence the need for government programs for old age security? How extensive is the action? What is your evaluation of it?

6 Aside from pension plans and old age insurance programs, what actions can government undertake to help in meeting the problem of dependent old age?

## CHAPTER XX

# THE RAILWAY LABOR ACT

### Significance of railway labor legislation

Since about 1890 the federal Congress has been experimenting with labor legislation designed to promote peaceful labor-management relations on the nation's railroads. These experiments were based on the assumption that congressional power over commerce between the states included the right to take any steps thought necessary to insure an uninterrupted flow of commerce. Obviously, work stoppages arising from labor-management disputes were threats to a continuing flow of commerce.

These railway labor laws are important for a number of reasons. Since dependable railway transportation is so essential to the public, any measure designed to protect it is important. Also, the history of railway labor legislation is a long one, so that there is more experience from which to learn in this field than in any other To some extent the laws affecting railroad labor have served as prototypes for labor laws affecting the general public, and the failures have given some indication of that which is least likely to succeed when applied more widely.

Examples of railway labor measures that were adopted more widely are not hard to find. The guarantee of the right to organize in independent unions and to refuse to join a company union first appeared in the Railway Labor Act of 1926, later it was incorporated in Section 7 (a) of the National Industrial Recovery Act and still later in the National Labor Relations Act. The basic eight-hour day was granted to railroad workers by legislation in 1916; federal regulation of hours of work of non-railroad workers did not come until the 1930's, and even then the basic eight-hour day was not granted As has been noted in the preceding chapter, retirement insurance was provided for railroad workers in 1934 and for general workers in 1935, the fact that the former ran afoul of court invalidation does not detract from the fact that the plan was tried first for them.

The fact that only Congress has power over interstate commerce is undisputed. However, many questions have arisen from time to time as to just what this power includes. One of the very knotty problems that has developed is the exact determination of the

boundary line between areas reserved for state and federal action.[1] While the province of federal action is not at all clear, it has been well understood for more than half a century that the states cannot interfere in any direct manner with the activity of the federal government in regulating commerce.[2] However, the clarification that has come is not sufficient to answer all questions that have arisen. For example, there is the perennial issue of what rights can be infringed by railway labor legislation and how far; that is, just how effective is the fifth amendment. Similarly, there is the question of precisely when a condition or practice interferes sufficiently with commerce to warrant federal control. In addition, problems arise as to how far the public importance that attaches to railroad transportation warrants special legislation and treatment of railway labor problems Thus, while the general area of federal control has been sketched in by-laws and court decisions, questions of application of principles still arise

**Early railway labor legislation**

The first attempt at railway labor legislation by the federal Congress came in the Arbitration Act of 1888.[3] That measure provided for the investigation of railway labor disputes and for voluntary arbitration in cases where other efforts at settlement failed. The law remained on the statute books for ten years, however, and was, for all practical purposes, a dead letter Arbitration, which was to be agreed to voluntarily and carried out by a panel of three impartial persons, was never used The investigation provisions of the act were used in only one case: to study the Pullman Strike of 1894. Since the investigatory procedures were not a means of settling disputes and the provision for arbitration was never exercised, the Arbitration Act of 1888 was of little real importance.[4]

When it became clear that the act of 1888 was of no real significance, Congress repealed it and enacted in its stead the Erdman Act of 1898.[5] The new law dropped the investigatory features of the previous act, but included a provision for voluntary arbitration. The new arbitration provision did not require that the arbitrators be impartial; rather the panel was to be tripartite, with one member representing each party and the third chosen by the two or by other

---

[1] This issue has gone far beyond the direct regulation of the movement of goods across state lines The federal Congress has extended the commerce power very far by claiming now, with court sanction, the power to regulate that which may have an effect on interstate commerce

[2] For a brief discussion of issues and cases involved see *Prentice-Hall Labor Course*

[3] 25 Stat 501

[4] Kaltenborn, H S, *op cit*, p 37. See also: *Prentice-Hall Labor Course.*

[5] 30 Stat 424

arrangement if the two failed to agree. In addition, the law contained for the first time in this country a provision for mediation under certain circumstances, it stated that the Commissioner of Labor or the Chairman of the Interstate Commerce Commission could offer his services in helping to settle the dispute when requested by either party to do so. However, the efforts to mediate could be used only in disputes over wages, hours, and working conditions.

The functioning of the Erdman Act showed clearly the relatively ready acceptance of mediation as a means by which the government could aid in the settlement of labor-management disputes. The practice, begun on a small scale with the passage of the Erdman Act, has remained the backbone of government attempts to settle disputes. The first attempt at mediation was unsuccessful, shortly after the law was enacted the trainmen asked for help in settling a dispute in the Pittsburgh area centering around a wage issue. The railroads involved refused to cooperate, however; to them the question of wages was of such importance that it was a problem to be decided without any outside interference.[6] Although mediation does not enable an outsider to decide any issues, but only to act to encourage the disputing parties to meet on some middle ground, the refusal is not surprising in view of the general attitude of business toward government at the time.

With the failure of this first effort, no further use of the dispute-settling services provided under the act was made until 1906. Between that year and 1913, when the Erdman Act was replaced, sixty-one cases were dealt with under the law. Of these, roughly one-half were settled by mediation and arbitration. Only about ten per cent of the cases were closed by arbitration alone.[7]

Along with making the first provision for mediation, the Erdman Act is of interest and significance because of another original attempt at a certain type of regulation. Section 10 of the act, in part, forbade any employer or his agent to "require any employee or any person seeking employment as a condition of such employment, to enter into an agreement, either written or verbal, not to become or remain a member of any labor corporation, association, or organization." There was more to the prohibition, but in its entirety it amounted to an attempt to outlaw yellow-dog contracts on the railroads. This section was tested before the federal Supreme Court,[8] the question being whether the prohibition contained in Section 10 of the act was a violation of the fifth amendment to the Constitution As the Court saw the question, the prohibition was "an inva-

[6] Kaltenborn, H S, *op cit*, p 39

[7] *Prentice-Hall Labor Course*

[8] *Adair v United States*, 208 U S 161 (1908)

sion of the personal liberty, as well as of the right of property, guaranteed by that Amendment. Such liberty and right embraces the right to make contracts for the purchase of labor of others and equally the right to make contracts for the sale of one's own labor." The Court did not evaluate the relative economic freedom of which they made so much. Two dissenting opinions were delivered. The one by Mr. Justice Holmes stressed a valid point that he was to make at a later date in other dissents. In his opinion, the section in question "does not require the carriers to employ any one. It does not forbid them to refuse to employ any one, for any reason they deem good. . . . The section simply prohibits the more powerful party to extract certain undertakings, or to threaten dismissal or unjustly discriminate on certain grounds against those already employed" The point made by Justice Holmes was one which should have been apparent to anyone: an anti-discrimination law, whether it be directed at discrimination against union members, against racial minorities, religious groups, or others, is in itself an attempt to protect a weaker party that is unable to stand against certain discriminatory practices. If the parties were relatively equal in bargaining power, one could not act in a discriminatory manner against the other. Therefore, an anti-discrimination law takes away no rights but merely deprives the stronger party of the ability to exercise its strength in a discriminatory manner. Such an intervention is thoroughly in keeping with the idea of democracy.

The Erdman Act was important as a trail-blazing experiment rather than for its real accomplishments. It brought the first instances of mediation or arbitration of labor disputes by representatives of the federal government. It also demonstrated clearly the preference of industry for mediation rather than arbitration, a preference which has continued throughout the first half of the twentieth century. In addition, the act contained the first attempt by the federal Congress to protect the right of workers to join unions if they so desired. The attempt was unsuccessful, but it served as a precedent for later efforts in the same direction. These efforts finally bore fruit in the form of court sanction in the 1930's.

In 1913 a dispute developed between the engineers and fifty-two eastern railroads over wages and working conditions Bargaining failed and mediation was tried unsuccessfully. Both parties agreed to arbitrate but refused to utilize the three-man arbitration panel provided for in the act. Despite the law, a panel of seven was named, five public members being included. The panel, although capable, found itself unable to evolve an acceptable solution.[9] Al-

[9] Millis, H A, and Montgomery, R E, *op cit.*, Vol. III, p. 732

though an award was made and accepted by both parties, it was not satisfactory to either. The dissatisfaction led to conferences between union and carrier representatives and the National Civic Federation, at which a draft was prepared of a bill to correct some of the unsatisfactory provisions of the Erdman Act. The proposed bill was enacted in 1913 about as drawn by the groups that collaborated on it

The resulting Newland Act of 1913 has been discussed earlier in this study,[10] as have the events leading up to the Adamson eight-hour law[11] and the operation of the roads by the federal government. During the period of government control the railroad unions and workers made much progress. They gained a basic eight-hour day, solidified their position in collective bargaining, received wage increases, and developed boards of railroad adjustment that were to be used more extensively at a later date However, while some of the practices of the government were quite desirable, most of them were not adopted by the carriers at once when the roads were returned to them nor were they incorporated into the first railway labor legislation that was passed. However, most of the wartime practices have reappeared at a later date in federal controls.

The Esch-Cummins Act, or Transportation Act of 1920,[12] returned the railroads to the owners for private operation, with little use made of the lessons of the previous two years. Title III of the act contained the provisions for settlement of disputes between railway labor and management. Strangely, no attempt was made to provide any means of mediating disputes, although this type of action had proven to be the most effective form of government dispute-settling measures Instead of mediation machinery, the act established a Railway Labor Board to be composed of nine members, representing equally workers, carriers, and the public. This board was empowered to "hear and decide" cases brought before it, although not authorized to mediate, it did attempt mediation in a few instances.[13] Prior to "hearing and deciding" on a case by the board, it was required that all disputes be subjected to collective bargaining and an effort be made by the parties to settle. In the final analysis, the deciding meant no more than recommending a settlement, since the decisions made were not enforcible.

One of the major omissions from the act was provision for the establishment of boards of adjustment such as had functioned rela-

---

[10] 38 Stat 103 See Ch IX for a discussion of railway labor controls during the war years

[11] 39 Stat 721

[12] 41 Stat 456

[13] Kaltenborn, H S , *op. cit* , p. 47.

tively effectively during government operation. The act provided that boards could be set up if the carriers and unions so desired, but it did not make them mandatory. The carriers wanted a number of separate boards for the various companies, whereas the unions preferred national boards, as a consequence, little came of the provision permitting their establishment.

Another serious deficiency of the act was the failure to provide protection of the right of workers to join unions The act required the carriers to confer with representatives of their workers and stopped there. It did not contain any prohibition against interference with the workers in the free choice of representatives Coercive action to compel a worker to withdraw from some union or discontinue union activity or join a company union was within the law.

Failure to establish boards of adjustment threw a much heavier load on the Railroad Labor Board than would otherwise have been the case. Under these circumstances the board did yeoman service, it reported that by the end of 1925 it had disposed of more than 13,000 disputes Of these, roughly forty per cent were of a local nature with limited coverage while sixty per cent were of a more general nature with broader coverage [14] Even though the carriers and unions were required by law to exert every effort to settle grievances prior to submitting them to the board, it seems clear that too many cases were referred to it for settlement—many disputes should have been resolved by the parties involved And, as previously noted, the rulings of the board were not binding and enforcible.

### The Railway Labor Act of 1926

Neither labor nor the carriers was well pleased with the act of 1920 and the derivative rulings Both sides wished for a measure to take its place. Consequently, they engaged in a series of conferences in which they drew up a proposed new Railway Labor Act, their suggested bill was enacted in 1926 as the Railway Labor Act.[15] Many modifications of the act have been passed, but the Transportation Act of 1926 remains the basic railway labor law today. It is also of interest because many persons feel that parts of it would be of value in general labor laws. As of 1948, however, it applied only to railway and airline transportation "Railway" is taken to include Pullman and express company employers.

The general purposes of the act, as stated, are as follows

[14] Millis, H A, and Montgomery, R E, *op cit*, Vol. III, p 736
[15] 44 Stat 577

"(1) To avoid any interruptions to commerce or to the operation of any carrier engaged therein, (2) to forbid any limitations upon freedom of association among employers or any denial, as a condition of employment or otherwise, of the right of employees to join a labor organization, (3) to provide for the complete independence of carriers and of employees in the matter of self-organization, (4) to provide for the prompt and orderly settlement of all disputes concerning rates of pay, rules, or working conditions, (5) to provide for the prompt and orderly settlement of all disputes growing out of grievances or out of the interpretation or application of agreement covering rates of pay, rules or working conditions."

In essence, the act sought to avoid tie-ups of transportation that might come from a denial of the right of workers to organize or out of any dispute arising subsequent to organization. It was the first occasion during peacetime on which the government had sought to underwrite the right of any group of non-governmental employees to bargain collectively. The law was important as a forerunner of legislation that was enacted in the 1930's to extend the same right to other groups.[16] Its potential importance was great, since well-established and recognized unions encourage more stable and peaceful labor relations

The act sought to make use of both mediation and arbitration to keep labor peace. It provided in the 1926 version for a five-man National Mediation Board to mediate disputes and encourage arbitration where mediation failed[17] It could not arbitrate but could, when necessary, aid in the selection of arbitrators In case of failure to bring about a settlement or achieve agreement to arbitrate, the new board had yet another action remaining If the dispute threatened substantially to interrupt commerce between the states, the board could so notify the President, who in turn could name a special investigatory board to survey the dispute and make public its findings. During the investigation and for thirty days thereafter the conditions out of which the dispute arose could not be altered except by mutual agreement of the parties in the case

The 1926 act again permitted the establishment of boards of adjustment if the parties agreed, but these were not required.[18] The intent that the carriers and unions set up the bipartisan boards was

[16] Unlike the National Labor Relations Act, it specifically disallowed the closed shop Even before the Taft-Hartley Law the closed shop was unlawful on the railroads, this was a desire of the railroad unions who feared that otherwise closed shop contracts would be signed with company unions to the independents' disadvantage

[17] Modified in 1934, discussed later in this chapter

[18] Although the 1926 version stated that boards of adjustment should be established, so much was left unsaid in the act that there was no way of forcing their establishment Employer-union disagreement over the scope and coverage of the boards resulted in the formation of but a few.

clear, but without compulsion little was done about it. It has been estimated that some 300 system boards were established before 1934, but many important systems were without them and those in existence did not function well[19] This meant that the National Board again carried a heavy load, the board ruled that it would hear only those cases appealed from a board of adjustment With the relatively few such bodies formed, this meant that for many disputes there was no government machinery short of an emergency board to aid in settlement.

When dissolved in 1934, the Board of Mediation reported the handling of over 2500 cases. Its report showed a larger number of cases disposed of in each succeeding year. During its eight years of operation only two relatively unimportant strikes occurred on railroads and only ten emergency boards were appointed by the President[20] Despite the apparently successful functioning of the board, railway labor began to object to the act in the 1930's. The amendments of 1934 were in part the result of this opposition. Although the 1934 amendments retained the broad outline of the act of 1926, the changes were broad and significant

### The amendments of 1934

The amendments of 1934[21] dissolved the five-man Board of Mediation and replaced it with a three-man National Mediation Board. A national Railroad Adjustment Board was also established that was a bipartisan body of thirty-six members, half of them representing and paid by management and half by the unions The latter board was split into four divisions, each with specified jurisdictions to be noted later. Where the division with appropriate jurisdiction was unable to agree on the solution of some dispute before it, provision was made for an impartial "referee" to sit with the division and break the deadlock that had developed.

The sphere of authority of the new boards may be noted at this time The highest body under the act is the National Mediation Board, composed of three members appointed for three-year terms expiring in successive years The members are impartial representatives of the public, no more than two of whom may be from the same political party The board is empowered to function in the following circumstances: (1) when either or both parties to a dispute invoke its services in (a) disputes concerning changes in rates of pay, rules, or working conditions, or (b) other disputes not refer-

---

[19] Millis, H. A., and Montgomery, R. E., *op cit.*, Vol III, p. 741

[20] U S Bureau of Labor Statistics, Bulletin No 616, *Handbook of Labor Statistics* (1936 edition), p 20, Similar data reproduced in Kaltenborn, H. S., *op. cit.*, p 49.

[21] 48 Stat 1185

able to the National Railroad Adjustment Board,[22] (2) to give its interpretation of the meaning or application of agreements reached under the act, (3) when efforts to mediate fail, to try to induce the parties to agree to arbitration If they agree to arbitrate but are unable to name the impartial member or members, the board is to perform that function.[23]

The name of the National Mediation Board is an accurate one, unless the word "National" implies to those not acquainted with the board's work an ability to act in a broader field than railway labor. The board is a small impartial body that could as a last resort attempt the settlement of any railway or airline dispute that threatens an emergency. It is not an agency for enforcement of unacceptable settlements, rather it is a body to act as a go-between or compromiser to get the parties to settle or to agree to arbitration of final settlement.

Unlike the Mediation Board, the National Railroad Adjustment Board is a bipartisan body; its thirty-six members are appointed and paid by the carriers and the national railway labor organizations. Obviously, a board of thirty-six is too large to function as a body For this reason the group is split up into four divisions, the first three with ten members each and the last with six; each has a separate type of labor dispute to settle. The jurisdictions of the divisions are as follows:

(1) Disputes involving train and yard-service employees, such as engineers, firemen, hostlers and outside hostlers' helpers, conductors, and trainmen.

(2) Disputes involving machinists, boilermakers, blacksmiths, sheet-metal workers, electrical workers, car men, helpers and apprentices of the above groups, coach cleaners, powerhouse employees, and railroad-shop laborers.

(3) Disputes involving station, tower, and telegraph employees, train dispatchers, maintenance-of-way men, clerical employees, freight handlers, express, station, and store employees, signalmen, sleeping-car conductors, porters, and maids, and dining-car employees.

---

[22] In both of these instances a prerequisite to board action is that the parties have been unable to adjust the dispute in conference Parties are to give at least thirty-day notices of their desire to change any condition and to begin meetings promptly in an attempt to reach a new understanding Also, even though the board's services are not requested it can "proffer its services in case any labor emergency is found to exist at any time"

[23] If mediation fails and arbitration is refused, the board is to notify both parties in writing that its mediatory efforts have failed. For thirty days thereafter, unless arbitration is agreed to or an emergency board is created, no changes shall be made in rates of pay, rules, working conditions, or established practices in effect prior to the dispute.

(4) Disputes involving employees of carriers directly or indirectly engaged in transportation of passengers or property by water, and all other employees of carriers over which the other divisions do not have jurisdiction.

Disputes are brought to the appropriate division of the Board of Adjustment only when they have been taken through all the steps of negotiation specified in the governing agreement Then and only then may the board hear the case, as previously indicated, failure of the members of the board to agree brings in an impartial referee to break the deadlock. Awards by the several divisions of the board are made in writing and are final and binding on both parties

Any issues not resolved by the machinery already outlined may be settled either by arbitration or by an emergency board; both of these procedures merit brief examination here In the former case, the agreement is to submit to arbitration and accept the award as final and binding However, refusal to submit to arbitration is not a violation of the act Such arbitration may be by a three- or six-person panel, with equal representation of unions and carriers and the impartial party or parties chosen by representatives of the interested groups if possible The only issues that can be arbitrated are those specified in the agreement to arbitrate.

The award by the arbitration panel and the evidence of the proceedings are filed with the federal district court for the district in which the controversy arose. An award so filed is conclusive unless one of the parties petitions to impeach it on one of the following grounds: (1) that the award does not conform to the act, (2) that the award does not confine itself to the stipulations of the agreement to arbitrate, or (3) that within the panel there was fraud or corruption which affected the result of the arbitration. If there is no such petition within ten days after the decision, the court enters judgment on the award, this is final and binding except for a condition for appeal that need not be examined here. Any question as to the application or meaning of an award is to be referred back to the arbitration board or a subcommittee thereof, such a matter of interpretation is handled in the same way as an original award.

If a dispute between a carrier and its employees cannot be settled by any of the boards or procedures outlined above, and if, in the judgment of the Mediation Board, it threatens a stoppage of transportation service that would create a national emergency, a final method of attempted settlement is provided In such a case, the board is to notify the President of its opinion; thereafter the President is empowered, at his discretion, to create a special emergency board to investigate and report concerning the dispute. The report

and recommendations of the emergency board are not compulsory, but the hope has been that its investigation and report and the publicity given thereto would be sufficient to bring about a settlement. More than anything else it has been a means of using public opinion to bring the contestants to some settlement.

Once such a board is established, there is to be no change in working conditions during the time of its investigation and for thirty days after the report is made However, by mutual agreement of the parties to the controversy, changes may be made of conditions out of which the dispute arose. Essentially, the appointment of such a board is a device to postpone for sixty days a threatened strike on the railroads while various pressures are extended to induce the parties to compromise their differences and continue operation of the railroads without interruption

Although the 1926 act had included no penalty provisions, the 1934 version carries heavy penalties. Any carrier or its officers who wilfully refuse to observe the sections of the law guaranteeing the workers' right to bargain collectively may be fined not less than $1000 and not more than $20,000 or imprisoned up to six months, or both This is the penalty for each offense, each day in which there is refusal to observe the law constitutes a separate offense. The penalties apparently are window dressing, since they have never been invoked.

### The Railway Labor Act before the Supreme Court

Before noting the manner in which the Railway Labor Act has worked out, at least two court cases testing the validity of the act should be noted. The first of these cases came before the Supreme Court in 1930 [24] to test the validity of the provisions of the law that prohibited coercion or interference with the employees of a road in their choice of a union. The suit was brought into the federal district court by the union, which maintained that since its formation in 1918 it had been a representative of a majority of the railway clerks in the employ of the railroad In 1925 the union asked for an increase in wages, which was denied by the company, the dispute was submitted to the Board of Mediation While the case was pending before that body the company established a company union and sought to have its employees withdraw from the independent union and join the one fostered by the carrier

The district court granted a temporary injunction against the company, which subsequently recognized the company union, the Association of Clerical Employees-Southern Pacific Lines, as repre-

[24] *Texas and New Orleans Railroad v Brotherhood of Railroad Clerks,* 281 U S 548 (1930)

sentative of the clerical employees. The lower court then held the company guilty of contempt and directed that to purge themselves of contempt the company and its officers disestablish the company union and recognize the brotherhood as a bargaining representative until such time as the employees should by secret ballot choose their representative. The court also directed the rehiring of certain employees who had been dismissed. Punishment was prescribed in case the company did not purge itself of contempt.

In contesting the contempt finding before the Supreme Court, the company argued that the act of 1926 merely stated an abstract right and that it was not intended that it be enforced by legal proceedings Furthermore, it was argued that in so far as the statute undertook to prevent either party from influencing the other in choice of representative it was unconstitutional The free speech and liberty guaranteed by the first and fifth amendments were cited to bolster this contention.

In analyzing the case, the Court went into considerable detail concerning the reasons for the enactment of the 1926 law It pointed out that no one was satisfied with the act of 1920 and that although Congress had sought to continue as much as possible the means for amicable settlement, it "thought it necessary to impose, and did impose, certain definite obligations enforceable by judicial proceedings" The question in debate was whether the prohibition of coercion in the selection of a representative was one of these enforcible obligations. In the opinion of the Court, this was answered in the affirmative because freedom of choice of representatives of both sides was essential to the purpose of the law.

Similarly, uncoerced action was essential to amicable settlement of differences, and "there is no impairment of the voluntary character of arrangements for the adjustment of disputes in the imposition of a legal obligation not to interfere with the free choice of those who are to make such adjustments. On the contrary, it is the essence of a voluntary scheme . . . that this liberty should be safeguarded"

It was also argued that the law interfered with the right of the carrier to select and discharge employees. This the Court denied flatly and with good logic:

'The Railway Labor Act of 1926 does not interfere with the normal exercise of the right of the carrier to select its employees or to discharge them The statute is not aimed at this right of the employers, but at the interference with the right of employees to have representatives of their own choosing As the carriers subject to the act have no constitutional right to interfere with the freedom of the employees in making

their selections, they cannot complain of the statute on constitutional grounds."

Thus the act withstood its test of constitutionality. It was a case showing a grasp of problems of management-labor relations that was not to be extended to private employees other than on the railroads for some years. The enactment of the law and the court decisions both were previews of national policy and court attitude that were to be applied to most private employees almost a decade later.

The second case to be noted came before the Court in 1937[25] Its background was in many ways similar to the Texas and New Orleans case. Following the failure of the shopmen's strike in 1922, some of the shop workers formed the Mechanical Department Association of the Virginian Railway, a union closely related to the company and with expenses paid by it. The company and the association promptly signed an agreement Some years later, in 1927, the American Federation of Labor formed a local union among shop workers. After the 1934 revision of the Railway Labor Act giving the Mediation Board authority to conduct collective bargaining elections, this union demanded recognition as representative of shop craft employees.

The Mediation Board conducted an election and as a result of it certified the Federation as the accredited representative of six shop crafts—all the groups other than car men and coach cleaners. However, the carrier refused to deal with the Federation and tried to force its employees to stay out of that body; it also set up a new "independent" union among the shop workers. When the case was taken into the district court the company was directed to "treat with" the Federation and to "exert every reasonable effort to make and maintain agreements concerning rates of pay, rules and working conditions, and to settle all disputes" Further, the court restrained the carrier from making an agreement concerning the shop workers with any other organization and from fostering any other union among these persons.

When carried to the Circuit Court of Appeals, that body approved the findings of the lower court and affirmed its decree. From that decision the carrier appealed to the Supreme Court. It insisted that the rulings of the lower courts were invalid for at least two reasons. One was that the requirement that a carrier bargain with an organization certified by the Mediation Board imposed no legally enforcible obligation. Secondly, it was urged that the regulation of relations with shop employees was not a regulation of interstate commerce and that it was a violation of the due process clause of the

[25] *Virginian Railway Company v. System Federation #40,* 300 U S 515 (1937)

fifth amendment. The carrier did not contest that part of the decree of the lower court that forbade any interference with free choice of representatives by employees since the Railway Clerks case of 1930 had established the validity of that requirement.

Mr. Justice Stone delivered the opinion of the Court, a decision which sanctioned the requirements of the act and the rulings of the lower courts. On the question of whether the act validly imposed a duty to treat with the appropriate representative as certified by the Mediation Board the Court held that it was "not open to doubt that Congress intended that this requirement be mandatory upon the railroad employer, and that its command, in a proper case, be enforced by the courts." This opinion was bolstered by reference to the fact that a prolific source of labor trouble was the unwillingness of employers to meet with representatives of workers to discuss and adjust grievances. In view of this, the Court argued, the Railway Labor Act had abandoned reliance on moral suasion to accomplish its purposes.

Once it was established that the law required the carrier to treat with representatives of the workers, the next problem was to determine what the term "treat with" included. The carrier argued that this meant only to meet with the representatives when and if it chose to negotiate with them. "Not so," said the Court. Although "the statute does not undertake to compel agreement between the employer and employees . . . it does command those preliminary steps without which no agreement can be reached." These preliminary steps included, as a minimum, meeting with representatives, listening to their complaints, and making reasonable efforts to compose differences. Furthermore, such an obligation carried with it the negative duty of not negotiating or entering agreements with non-designated groups.

With regard to the injunction granted by the lower court, the carrier argued that the controversy was not one in which equitable relief was appropriate. However, the Court disallowed this contention, leaning heavily on the fact that public interest required uninterrupted transportation. And to protect public well-being, "Courts of equity may, and frequently do, go much farther both to give and withhold relief in furtherance of the public interest than they are accustomed to go when only private interests are involved."

Another question arose as to whether the "back shop" employees involved in this dispute had a relationship to interstate commerce sufficient to warrant control by federal legislation. After some review of the repair and service work done on the rolling stock of the carrier by the workers and of the fact that anything more than a temporary stoppage of this work would interrupt some or all of the

transportation service rendered, the Court held that there was a sufficient relationship.

Finally, there was the question of whether Section 2 of the act, prohibiting interference in the selection of representatives and requiring bargaining, was in conflict with the fifth amendment. The Court ruled in the negative. "The Fifth Amendment . . is not a guarantee of untrammeled freedom of action and of contract. In the exercise of its power to regulate commerce, Congress can subject both to restraints not shown to be unreasonable." And, as a *coup de grâce*, "It seems plain that the command of the statute to negotiate for the settlement of labor disputes, given in the appropriate exercise of the commerce power, cannot be said to be so arbitrary or unreasonable as to infringe due process."

So the Railway Labor Act of 1926 and the revision of 1934 stood the test of court scrutiny. Management-labor disputes were recognized as causative of interruptions of interstate transportation and, therefore, properly subject to federal control Further, denial by management of the right of workers to join unions was recognized as a prolific source of such disputes And, finally, the only reasonable interpretation of the guarantees of the fifth amendment was applied, that is, that these carry no rock-ribbed insurance of any right. All rights or privileges may be taken from a person if done in a reasonable manner—with due process of law.

### The application of the act

Meanwhile, the law was being applied and a body of experience built up If the criterion of successful operation is the minimizing of work stoppages on the railroads, then the act has been unusually successful Let us note some of the experience with the law Earlier in this chapter some of the weaknesses of the law of 1926, which led to the revisions of 1934, have been noted. The failure to establish an adequate system of boards of adjustment did more perhaps than any other single thing to restrict the effectiveness of the act of 1926.

Since the National Railroad Adjustment Board is closer to the routine, day-to-day controversies that arise out of collective bargaining, its activities will be noted first. Its function is "to hear and decide disputes involving employee grievances and controversies over the application and interpretations of agreements"[26] The breakdown of the board into four divisions, each with its specific area of authority, has been noted. This division of labor worked out relatively well, but the work has not been evenly distributed, the

[26] *Twelfth Annual Report of the National Mediation Board*, p 8 Washington, D C U S Government Printing Office, 1947

first division of the board, with jurisdiction over disputes involving trainmen and yard-service employees, is called upon to consider roughly four times as many cases as are handled by the other three divisions combined This has resulted in a large backlog of cases and very slow settlement after they are filed.

When negotiations fail, the referral of disputes to the appropriate division of the Board of Adjustment may be on the petition of either party or both parties. In either case, the appeal is to be accompanied by a full statement of the facts and all supporting data having a bearing on the issue These cases then receive a hearing as soon as possible, unless a hearing is waived. However, any consideration, either with or without hearing, may require a long time, especially if by the first division. That group at the beginning of the fiscal year of 1946 had a backlog of 4720 cases. It docketed 573 more during the year while only 141 cases were decided. During the same period slightly more than 2000 cases were withdrawn. These withdrawals were in many cases not due to attainment of a mutual settlement, but rather to dissatisfaction with the slow handling of cases by the first division

It will be recalled that the act of 1934 provided for selection of a referee to sit with a deadlocked division to decide the issue. In the fiscal year of 1946, however, the first division did not decide a single case with a referee, even though it reported forty-eight cases deadlocked at the end of the year and was especially slow in reaching agreements. On the other hand, the other three divisions all leaned heavily on the help of referees and also had not nearly so large a number or proportion of cases withdrawn. Withdrawal of cases is not to be condemned if it results in further *bona fide* negotiation between the parties toward reaching a settlement. But by the time a controversy has reached such a state, a break-off of negotiations or a strike vote may be the result rather than a jointly agreed upon settlement

The experience of the other three divisions has been quite different, in none of them has the backlog of cases even approached the number docketed or decided during the year by the first division Similarly, in no other division does the number of cases loom so large in comparison to the cases disposed of in other ways. And, as previously noted, all other divisions have made considerable use of referees, divisions two and four have settled more cases with a referee than without, while in division three roughly sixty-five per cent as many cases have been settled with a referee as were settled without. In fairness to the first division, it must be admitted that the tasks of the second, third, and fourth divisions are much less demanding than that of the first.

The tendencies of parties submitting a dispute to withdraw it from board consideration or to fail to submit it for ruling are of some importance. Since the parties are required by law to consider the rulings of the Board of Adjustment as final and binding, they are likely to think carefully before the submission of a case if previous disputes have not been handled to their satisfaction or if there are long delays involved One author reports that because of the pro-labor tenor of many of the awards, about eighty per cent of the submissions are made by the unions[27] Since the law reads that disputes "may" rather than "shall" be submitted to the Board of Adjustment, the parties may elect to bargain out the issue, or fight it out, without any aid from the outside In this case, there is no limit on their action unless a national emergency is threatened and an emergency board is named. However, prior to such a time it is relatively certain that the National Mediation Board will have proffered its services in an attempt to bring about a settlement

Perhaps the tendency to withdraw or refrain from submitting cases is responsible for the increased work load of the National Mediation Board. As has been noted, this work load is made up of three types of cases: (1) disputes involving representation, (2) disputes concerning changes in rules, working conditions, or rates of pay; and (3) the interpretation of agreements reached through mediation[28]

Since the revision of the act in 1934, representation cases have been a sizable portion of all the work done by the board; the number of such cases gradually has increased, from an average of 107 disposed of per year from 1933 to 1939 and 139 per year from 1940 to 1944 to 210 in the fiscal year of 1946. However, the proportion of the total number of cases handled consisting of representation disputes gradually has decreased, from nearly one-half in 1935-1939 to slightly more than one-third in the fiscal year of 1946.[29]

Representation cases are disposed of in a number of ways Perhaps three-fifths are settled by elections, some of which are handled quite differently from those held in National Labor Relations Board cases. Approximately one-third of the elections have been conducted entirely by mail in cases where employees were so scattered as to make ballot-box elections impractical. In ballot-box elections also, employees unable to vote at the place of the election were sent ballots by mail. Roughly one-fifth of the representation cases have

---

[27] Metz, H W, *op. cit*, p 245

[28] The third category is included owing to the fact that the Mediation Board would have been the agency that helped in the reaching of an agreement by mediation If a question of interpretation or application arises out of a regularly negotiated agreement, it must be submitted to the appropriate division of the Board of Adjustment if outside aid is desired

[29] *Twelfth Annual Report of the National Mediation Board, op. cit*, p. 12.

been disposed of by some sort of cross-checking, the remainder were closed by dismissal, if it was found that no *bona fide* representation question existed, or by withdrawal.

The bulk of the work of the Mediation Board throughout its history has been in mediation cases. From 1935 to 1939 it disposed of an average of 112 disputes per year through mediation; from 1940 to 1944 the average per year was 206; the number climbed to 379 in the fiscal year of 1946. Cases classed as having been disposed of by mediation include those in which an agreement actually was reached by mediation and a number of other dispositions as well. For example, if mediation fails and an agreement to arbitrate is reached or the case is referred to an emergency board or if the case is withdrawn during mediation, it is classed as having been disposed of by mediation Actually, in 1946 less than sixty per cent of the 379 cases listed as disposed of by mediation were closed by a mediation agreement.

A very small number of cases are referred to arbitration, an average of two per year were so submitted from 1935 to 1939, six per year from 1940 to 1944, and sixteen in 1946. The proportionate increase is not so marked as the numerical change, less than two per cent in 1935-1939 were arbitrated, as compared to more than four per cent in 1946, however It will be remembered that cases go to arbitration only by agreement of both parties to the dispute On the other hand, in every year the board has many more refusals to arbitrate than it has agreements to do so.

Interpretation of agreements has never been a time consuming task for the Mediation Board. It has only been called upon for fifteen such rulings since the amendment of the Act in 1934. In the fiscal years of 1945 and 1946 no interpretations were requested.

### Emergency boards under the Railway Labor Act

It remains now to consider the settlement of disputes through the appointment of emergency boards. Although the appointment of such boards is not an everyday occurrence, a number have been named. In the fiscal year of 1945 fifteen boards were established However, the war period brought more such emergency action than in normal years. As a part of the emergency measures to maintain labor peace, the President issued, on May 22, 1942, Executive Order 9172 "establishing a panel for the creation of emergency boards for the adjustment of railway labor disputes" This order created a nine-man National Railway Labor Panel, "for the duration of the war and six months thereafter," from which three-man panels could be named to investigate any dispute that threatened an interruption of commerce and was not referable to the National Railroad Adjust-

ment Board. The three-man groups could be named by the chairman of the nine-man panel created by the President; the chairman could name such an investigatory panel even though a strike vote had not been taken.

On February 3, 1943, the President issued Executive Order 9299, which further affected the emergency board procedure. This order was concerned with "regulations and procedure with respect to wage and salary adjustments for employees subject to the Railway Labor Act." In essence, it provided that the chairman of the National Railway Labor Panel was to name three-man emergency boards from the panel to investigate proposed changes in wage rates and salaries if the chairman thought the proposed changes did not conform to the national stabilization policy Reports from emergency boards established under either of the above executive orders were to be made to the President, as would have been the case if the boards were named under the normal procedures of the Railway Labor Act as amended.

Under these two executive orders, seventeen emergency boards were named by the chairman of the National Railway Labor Panel during the fiscal year of 1945. Fourteen of the boards were established under Executive Order 9172 and the remaining three under 9299.[30] Emergency panels in the fiscal year of 1946 rose to twenty in number. Ten such boards were named by the President under Section 10 of the act and ten were named from the National Railway Panel The opinion of the National Mediation Board is that some of the unions that should have their disputes handled by the first division of the Adjustment Board have been by-passing that body and taking strike votes in order to create a threatening situation and thus secure the naming of an emergency panel. If this is true and the practice is being used as a substitute for *bona fide* collective bargaining, it is an undesirable development.

Title II of the Railway Labor Act was approved April 10, 1936. It applied all provisions but one of the amended Railway Labor Act to "every common carrier by air engaged in interstate or foreign commerce." The exception was the section, number (3), which es-

---

[30] For a critical review and analysis of the functioning of the Railway Labor Act during the war see· Northrup, H R, "The Railway Labor Act and Railway Labor Disputes in Wartime," *American Economic Review*, June, 1946, Vol XXXVI, No 3, p 324 The tone of the article is critical of presidential intervention, which Mr Northrup apparently considered heavily biased in favor of unions While existence of the intervention cited is not to be denied, the fact is that railway labor disputes would have been especially damaging to the war economy Under such circumstances, emergency action is more understandable on railroads than in many other industries The critical attitude throughout the article is in sharp contrast with the evaluation by Kaltenborn, H. S , *op. cit*, p 72 Metz, H W., *op cit*, p 243, also gives a favorable evaluation

tablished the National Railroad Adjustment Board. Since this body had no jurisdiction over disputes between air carriers and their workers, Title II made it "the duty of every carrier and of its employees, acting through their representatives, to establish a board of adjustment of jurisdiction not exceeding the jurisdiction which may be lawfully exercised by system, group, or regional boards of adjustment" Such boards were to be established by agreement of the two parties The National Mediation Board was empowered to direct the establishment of a National Air Transport Adjustment Board of four members when it was deemed necessary to have a permanent board. After the establishment of the national board, system, group, or regional boards could be disbanded if the parties agreed to come under the jurisdiction of the national board. Up to January, 1948, the National Mediation Board had not directed the formation of the National Air Transport Adjustment Board. However, some mediation cases were being heard that concerned the air carriers and their employees. In the fiscal year of 1945 eleven mediation cases concerning the airlines were disposed of.[31] In the fiscal year of 1946 there were thirty-three mediation cases handled and twenty-four representation disputes, showing a rapid increase in the utilization of the services of the board in air transportation disputes [32]

Despite all the criticisms of the act, it has functioned well. The machinery established under it has made transportation stoppages infrequent, there is an occasional work stoppage in transportation, but a general tie-up is extremely rare The two-day nation-wide strike on the railroads in May, 1946, was the first of such magnitude in a half-century. It has been labeled "the most disruptive tie-up in the history of American Railroads" [33] Altogether, the time lost and the disruption of transportation growing out of labor disputes is, relative to the amount of work and the service rendered, negligible.

Are the principles and philosophy of the act applicable to other types of industry? Probably they are, although the machinery used to apply the principles may not be. Essentially, the act puts heavy emphasis on the use of collective bargaining in the industry and offers various aids to negotiators to enable an agreement to be reached without a final test of bargaining strength. Without any question this philosophy of reliance on collective bargaining is applicable to all sorts of industries. Mutually determined wages, hours, and working conditions specifically set down so that each

[31] *Eleventh Annual Report of the National Mediation Board*, p. 30. Washington, D C., U S Government Printing Office, 1946

[32] *Twelfth Annual Report of the National Mediation Board, op cit*, p 33

[33] *Ibid*, p 1

party knows that its representatives have had a part in determining the rules and knows what its rights and duties are mean better day-to-day relationships. It may be argued that the unions on the railroads are more stable and easier to bargain with than in many other industries. Although there may be truth in this statement, the fact that there has been federal sanction since the first World War—although rather nominal from 1920 to 1926—of *bona fide* unions and collective bargaining has had its influence on the type of unionism now present. In most cases the unions do not have to fight for their existence and can devote their time to representing their members and acting as bargaining agents.

Another principle underlying the act is equally applicable in other industries. Government action puts heavy emphasis on mediation and has kept arbitration on the basis of completely voluntary submission. Apart from assuring that both parties are allowed to organize for *bona fide* collective bargaining, the principal function of federal, state, or local governments in the field of labor disputes should be to aid in any way possible in mediation or voluntary arbitration of disputes. The nation cannot afford to embark on a program of compulsion in dispute settlement, except possibly for a very restricted list of occupations in which the element of public interest is especially high, as in the case of firemen, police, nurses, or possibly employees of gas, water, and electric companies.[34] Since the jobs of most workers are not so tied to public interest, there is room for only a very narrow application of the idea if any at all.

The virtue of establishment of special emergency boards and compulsory "cooling-off" periods before a strike can be opened is subject to much question Forcing parties who have found no basis of agreement to wait, perhaps sixty days, before testing each other's strength may do little to bring an attitude conducive to peaceful negotiation. In fact, a "cooling-off" period may well become a "heating-up" period. With the enactment of the Taft-Hartley Law, the nation probably will have opportunity to observe the validity of the thought that such delays will aid in maintaining labor peace

[34] Any proposition that certain groups in our society be required to settle any dispute without the right to strike as a last resort is one that should be carefully hedged about with safeguards Certainly society does not have a right to impose such restrictions unless it is willing to accompany them by special measures to ensure that demands and grievances will be studied and acted upon even without the stimuli of threats of work stoppage. Such special measures should include machinery for reviewing wage rates at certain intervals and maintaining a stated relationship to rates in other occupations or to the cost of living or perhaps some other factor These should also demand special protection of job rights, methods of grievance settlement, and other protections in place of freedom to fight for certain issues or demands

The prohibition of closed shop contracts within the jurisdiction of the act is of interest, since the enactment of the Taft-Hartley Law a similar provision has been generally applicable, but for years the provisions of the Railway Labor Act and the National Labor Relations Act were sharply divergent on the closed shop. Although it is not desirable to have persons in a work place who benefit from the wages, job security provisions, and other conditions for which the union has negotiated without being union members and helping support the organization, the closed shop is not necessary to eliminate such "free riders" The absence of the closed shop on the railroads does not seem to have presented a serious problem to the unions. A union shop agreement that is not hedged about seems to offer adequate opportunity for union security The philosophy toward the closed shop shown in the Railway Labor Act was a reasonable one.

## Questions

1 Are there provisions in railway labor legislation that have not yet been applied to workers in fields other than transportation? If so, what are the provisions? Why?

2. Is compulsory arbitration of all railway labor disputes that cannot be settled by direct negotiation a defensible means of solution?

3. What are the relative advantages and disadvantages of mediation and arbitration as means of settling knotty labor disputes?

4. To what extent was the Railway Labor Act of 1926 as amended the forerunner of labor laws applicable to non-railroad workers?

5. Compare or contrast the Supreme Court decisions that upheld the Railway Labor Act with those which dealt with the validity of the National Labor Relations Act.

6. Evaluate the functioning of special legislative enactments applicable especially to workers employed on the railroads What is your opinion of the wisdom of special laws for these workers?

## Part III

# INTRODUCTION

The chapters of Part III close the study with a survey of the effects of World War II and the postwar period on labor controls. These effects are noted only when the war or postwar period brought clear shifts in philosophy or in regulation. In matters such as child labor regulation or minimum wages, where there was no significant change in philosophy and the tightness of the labor market made minima less necessary, there is little need of discussion.

The war brought especially severe maladjustments in labor relations, wages, labor supply, and so forth, so the first task will be to note briefly these maladjustments and indicate alternative curative approaches thereto Following that, the method actually adopted will be discussed, as will the manner in which it has functioned.

Probably management-labor relations were more tense and uncertain in the first two years after the war than they ever have been in our modern history. To the student of labor problems and labor relations this was an understandable situation; conditions were almost perfect for such an outbreak. However, to many legislators and much of the public this turmoil represented a threat to the American way of life, and steps were taken to bring about better labor relations by means of legislative enactment. Our story will not be complete, therefore, without a review of postwar labor trouble and of the provisions of the Taft-Hartley Law. Because of the newness of the law little can be said about court attitudes toward it or the functioning of the act

A final task in any study such as this is a brief summary of the information presented in foregoing pages and the derivation of conclusions that seem warranted by the facts This is done in the final chapter.

## Chapter XXI

# THE ELIMINATION OR SETTLEMENT OF LABOR DISPUTES

### Wartime stresses in labor relations

The type of problems that arise in a war economy has been commented on at various points in other chapters. The difficulties that arose in World War II were not unique; however, the problems were more acute and the resulting action more sweeping. With the experience of the first World War as guide and the goad of a struggle for national existence, federal action, hurriedly undertaken, was surprisingly good. The economic controls of the war years were not perfect, but considering the emergency and pressures under which they evolved, they made sense and functioned relatively well

Probably the most publicized labor problem of a war period is that of labor unrest, certainly in World War II that was the case. Although it can be and has been argued that any work stoppage during a war is unwarranted, there is probably no chance, even in wartime, of a democratic society completely escaping such stoppages. Even with a pledge by labor and industrial leaders shortly after the beginning of the war that they would not engage in strikes or lockouts, some did occur This was admittedly undesirable, but the percentage of available work time so lost did not amount to more than one-tenth of one per cent, a figure sharply lower than that of prewar years[1] It must be recognized that there was not so much of a problem of work stoppages as has often been implied. Probably the reason for this was in good part the policies and actions of the federal government, which were a combination of those developed before the war and others instituted during the emergency. Some of those policies and practices already formed have been discussed earlier in this study and need be reviewed only briefly here.

One of the latter is the activity under the National Labor Relations Act, which many have criticized as the cause of many more disputes than otherwise would have occurred. The issue cannot be decided definitely, but the opposite probably is true; the thought has been advanced in this study that collective bargaining between

[1] *Monthly Labor Review*, May, 1946, Vol. 62, No. 5, p. 720.

unions and employers, once the union has been accepted and no longer has to fight for its existence, is the best way of determining labor conditions conducive to labor peace. By the outbreak of the war, owing at least in part to the policies of the N.L.R.B., unionism was well established in many mass-production industries and collective agreements were in effect. These and the policies laid down by union leaders were such as to minimize the number of disputes.

There is a second reason why the N.L.R.B. may be credited with lessening the number of disputes between management and labor. Representatives of the board are not expected to act as mediators in the settlement of disputes, it is clear, however, from the great number of cases withdrawn or otherwise settled without formal action by the board that informally the suggestions or other actions of representatives of the board result in averting many disputes that might otherwise develop into work stoppages.[2]

A second organization of some age should be noted for its actions in keeping down the number of and in settling labor disputes. The Railway Labor Act as amended gave to railroad, Pullman, express, and airline workers the right to organize and bargain collectively. It will be remembered that the Railway Labor Act, in addition to narrowing the basis of misunderstandings likely to arise in greater number without jointly determined agreements, made provision for mediation and other government activities to settle disputes. The manner in which the law was applied may have allowed issues to go to the emergency board stage prior to settlement, but actual stoppages of transportation, even in local areas, were extremely rare.

### The federal Conciliation Service during the war

Another non-emergency agency of the federal government that did much work in averting or settling disputes during the war while receiving a minimum of publicity is the United States Conciliation Service.[3] The formation and early functioning of the service during the first World War has already been noted. Its record since 1935, however, is a much more impressive one. The classification of cases handled has changed from time to time so that comparative figures are not entirely adequate, but the record shows that much work has been done. For the first time since 1919 the service was active in 1934 in more than a thousand cases, in no year since has the number gone below one thousand. Beginning in 1937 the number of cases began to rise rapidly. During the last complete fiscal year before the outbreak of war, the service was involved in over 3700 disputes.

[2] See Chs. XVI and XVII.

[3] Changed in the Taft-Hartley Law to the National Board of Mediation and Con- [illegible] Ch. XXV

This figure skyrocketed after the war broke out when more and more government effort was directed toward trying to avert work stoppages. In the fiscal year of 1944 the service was active in over 21,500 disputes. Of these it was able to settle more than 16,500, while the remainder were referred to other agencies for settlement. In addition, it was involved in over 3000 "other situations," arbitrations, technical advice, consultations, and the like.[4] If one takes into consideration all such sorts of controversies, the service was involved in approximately 75,000 matters from the outbreak to the close of hostilities.

The work of the Conciliation Service is in keeping with the general philosophy of the federal government that its function is not to settle disputes arbitrarily, but rather to aid the disputants in finding a common ground of agreement on which they can settle. All during the war, when freedom to strike and to lock out was curtailed, the commissioners of conciliation—about 300 of them at the height of the war—were putting emphasis on free negotiations and collective bargaining.[5]

The impact of war necessitated some changes, in addition to the increase in the staff, in order to meet the demands placed on the service One of the changes was to decentralize Five regional headquarters were set up in New York, Atlanta, Cleveland, Chicago, and San Francisco. This was an attempt to speed up attention to cases that developed. From this breakdown the work was directed on a regional basis, any representative of labor, management, or the public could ask for aid that was available if the parties were willing to utilize it. However, the conciliators had no power to force themselves into any dispute or to force any action. Another development of the war period was the growth of a small staff of specialists in different industries whose technical knowledge made them especially valuable in disputes in the particular industry with which each was familiar. Prior to the war when the mediation efforts of the commissioners failed, the government withdrew from the case. This was changed in two ways, during the war a dispute in which no agreement was reached was referred to the War Labor Board At the close of the war there were a number of cases in which special fact-finding commissions were set up.

The war also brought a great increase in the amount of arbitration work done In the fiscal year of 1944, for example, the service was involved in 1185 arbitrations. This work was done primarily by a staff specially trained for arbitration work, although regular

[4] *Thirty-Second Annual Report of the Secretary of Labor* (fiscal year ended June 30, 1944), p 9 Washington, D C U S Government Printing Office, 1945.

[5] For a brief history of and commentary on the service see. "U S Conciliation Service, 1913-1947" *Monthly Labor Review*, August, 1947, Vol. 65, No 2, p. 172

conciliators occasionally were assigned to arbitration. The latter was done reluctantly, however, owing to recognition of the fact that a conciliator may lose his reputation for impartiality if he arbitrates a few cases in which he is forced to take sides and make a ruling However, since submission of a case to the War Labor Board meant, in essence, compulsory arbitration, and that with a long wait involved, many persons preferred the action of the Conciliation Service and its arbitrators.

In view of the postwar legislative changes in the Conciliation Service, it is somewhat superfluous to evaluate its functioning in any detail. Much criticism has been leveled at the fact that the service was a part of the Department of Labor, many presumed it therefore to be partial toward labor. It has been argued that there would be much wider acceptance of the conciliators if there were no connection with the Labor Department. The record of taking part in about 75,000 cases during the war and settling over three-fourths of them by mediation and voluntary arbitration speaks for itself Although the postwar revisions of the service may be an improvement, the preceding organization had an impressive record.

### The National Defense Mediation Board

Although the federal government put all possible emphasis on the use of voluntary methods in the settlement of disputes, the demands of the war period were such that a plan had to be developed to handle those cases in which such methods failed. This fact was recognized by President Roosevelt well before the outbreak of the war By early 1941 the rearmament program was swinging into high gear. Rises in costs of living and a greater amount of employment put many worker groups in a frame of mind to demand, and if necessary to strike for, higher wages. From December, 1940, to March, 1941, the number of strikes more than doubled and the man-days lost due to work stoppages more than tripled.[6] Defense production and transportation were severely impeded by these strikes, some of which were violent. It was felt that existing machinery for the settlement of disputes was not proving adequate for the task at hand. In the customary manner, a new agency was set up rather than an attempt being made to improve upon the existing ones. This was the National Defense Mediation Board, established by executive order on March 19, 1941.[7]

[6] Jaffe, L. L., and Rice, W. G., "Report of the Work of the National Defense Mediation Board" (mimeographed report) Later published under the same title as Bureau of Labor Statistics, Bulletin No. 714. Washington, D C. U S. Government Printing Office, 1942 Citations herein are to the pre-publication mimeographed copy of the study

[7] Executive Order 8716

President Roosevelt, in creating the National Defense Mediation Board, declared it to be "essential in the present emergency that employees and employers engaged in production or transportation of materials necessary to national defense shall exert every possible effort to assure that all work necessary for national defense shall proceed without interruption and with all possible speed." For that reason the board was created; it was composed of eleven members, three representing the public and four each for management and labor. A board so constituted was a novel experiment in this country; no federal agency for dispute settlement had made extensive use of the idea of a tripartite board before It was a wise approach to the problem of dispute settlement, for the solutions coming from such a board are more likely to be acceptable to the disputants than are those handed down by an "impartial" person or board.

The board was authorized to act only when the Secretary of Labor certified that a management-labor controversy had arisen "which threatens to burden or obstruct the production or transportation of equipment or materials essential to national defense . . . which cannot be adjusted by the commissioners of conciliation of the Department of Labor" The authorization excluded any dispute coming within the authority of the Railway Labor Act.

Once the certification of a dispute was made by the Secretary of Labor, the board was authorized by the President to take any of the following actions: (1) to assist the parties to a dispute to settle by themselves, in other words to mediate; (2) to afford means of voluntary arbitration when the parties agreed to abide by the ruling of the arbitrators, or to name arbitrators when requested to do so; (3) to assist the parties in the establishment of methods of settling future disputes; (4) to investigate issues between employers and employees, conduct hearings, take testimony, make findings of fact and recommendations when "the interests of industrial peace so require"; and (5) to request the National Labor Relations Board to expedite its actions in disputes that involved a question of the appropriate bargaining unit

Whenever a dispute was brought to the attention of the board without certification from the Secretary of Labor the board was required to refer the matter to the Department of Labor If a dispute was certified in the prescribed manner, a panel or division of the board of not less than three persons, representing the three groups, was named to hear the case The full board could hear a dispute, but it was not common practice to do so.

The Executive Order closed with an exhortation to employers and employees that showed clearly the weakness of the whole organization as far as power to enforce any action was concerned:

"It is hereby declared to be the duty of employees and employers engaged in production or transportation of materials essential to national defense to exert every possible effort to settle all their disputes without any interruptions in production or transportation In the interest of national defense the parties should give to the Conciliation Service of the Department of Labor and to the Office of Production Management (a) notice in writing of any desired change in existing agreements, wages, or working conditions; (b) full information as to all developments in labor disputes, and (c) such sufficient advance notice of any threatened interruption to continuous production as will permit exploration of all avenues of possible settlement of such controversies so as to avoid strikes, stoppages, or lockouts."

This conclusion was indeed a confession of great weakness. A certain policy was declared and employers and employees were urged to follow certain practices. But if they did not choose to abide there was nothing to be done about it; at that time, with war for us not yet a reality, public sentiment and the attitudes of employers and employees were not cohesive enough to be marshaled as an effective means of executive pressure to secure observance of national policies. As will be seen, this lack of power of enforcement was to kill the board at the time when it was most needed No change in the power of the board was made at any time; in fact, the only change of any sort was to provide for the appointment of alternates for the regular members of the board.[8]

Even without direct power of enforcement the board was able to do good work and aid in the settlement of many disputes that would have disrupted defense production. In judging the work of the board, it is well to keep in mind that it began action in a case only after the Conciliation Service had tried to settle the dispute and failed. Even though the mediation efforts of the Conciliation Service had failed, the board tried first to mediate the cases coming before it. While authority to make findings of fact was available when meditation failed, it was reported that about seventy-five per cent of all wage and union-security cases were settled by agreement and without resort to making public recommendations.[9] Of all cases on any issue handled in the first six months of board action, only about one-third required recommendations.

In handling a case brought before it, the board asked the disputants to send to a hearing representatives who had sufficient authority to negotiate for the groups they represented At the hearing there was nothing of the air of a court or trial, the chairman of the panel allowed each party to present its position. No oaths were adminis-

[8] Executive Order 8731, dated April 4, 1941

[9] Jaffe L L, and Rice, W. G, *op cit.*, Part II, p 2

tered and no particular attempt was made to establish the validity of facts. If it became clear that the meetings were not progressing, it was customary for the joint conference to break up into meetings of employer and employee or union representatives. At this point the tripartite panel was of particular value; the panel member representing the union point of view, for example, could meet with the union group and get from its members a clearer picture of the exact ways in which they might be willing to compromise. Such split meetings were not always necessary. On the other hand, when they occurred the good offices of the partisan representatives were not always sufficient to get concessions. However, as was pointed out above, efforts at mediation succeeded in a surprising number of instances in view of the fact that the only cases certified to the board had already been the subject of an attempt at mediation by the Conciliation Service

Of course, the realization by both parties that failure to agree would bring fact finding and public recommendations followed by pressure to accept the proposals probably had an influence on the success of the efforts at mediation.[10] Where public recommendations had to be made, much more factual information had to be gathered than in mediation. As a result, the board frequently employed special representatives or investigators to dig out pertinent data and present them along with suggested solutions. In one or two cases the board itself did the investigating

Short of public recommendations, the board at some times went beyond straight mediation when it was felt that the facts involved were clear. In the later stages of hearings it sometimes let it be known to the parties that if public recommendation became necessary it would recommend a certain settlement or would not recommend another one. Such a statement, while having no official status, was enough to give one party or the other an edge in bargaining on the particular point involved in the board's statements of intended finding.

The board was criticized for failing to adopt and follow any set body of principles to guide it in making consistent decisions in similar cases.[11] In respect to some issues, at least, it was the avowed purpose of the board not to adopt any such principles but rather to work out the best solution for each case that arose. Jaffe and Rice argue that the board did follow a consistent policy in questions other

---

[10] The fact that in the North American Aviation, Federal Shipbuilding and Drydock, and Air Associates cases the President ordered government seizure and operation when the plants refused board recommendations probably also had an influence on securing acceptance (All plants were returned to private operation by January 7, 1942.)

[11] Kaltenborn, H S, *op. cit*, p 109

than that of union security.[12] They point out that it was a standard assumption of the board that workers should be guaranteed the right to organize and bargain collectively This argument is not impressive, however, in view of the fact that this right had been written into federal law and sanctioned by the courts long before the board came into being, so that it had no choice but to recognize it.[13] It is further argued that the board consistently accepted the actions of the N.L.R.A. and insisted that no collective agreement be reopened during its lifetime without mutual consent. As for wages, it was argued that local wage scales and standards and cost of living were considered in determining minima.

The arguments in defense of the consistency of the board are not convincing. It would be more convincing to say that the board did waver about considerably—but understandably. It started with no advantage of a precedent body whose mistakes it could observe and avoid; it was given only the difficult cases that had defied earlier attempts at mediation. It had no general powers of enforcement other than the possibility of seizure in emergency, so it had to try for settlements that would be accepted. In addition, its lifetime was relatively short, ending before the pressures of war became severe. Without question, if the board had functioned during the war years it would have been forced to adopt certain basic principles in order to lighten its load. The board received only 109 cases from its formation to December 7, 1941, a relatively light burden. In view of these facts, the inconsistency of the board may be criticized, but it was understandable.

The board was dealt a heavy blow by Mr. John L. Lewis of the United Mine Workers Union and the C.I.O. It came as a result of the captive coal mine case in the fall of 1941.[14] The case arose out of the attempt of Lewis to get a union shop contract covering the men in the captive mines, that is, the mines owned by the steel companies to supply themselves with coal. Negotiations on the point failing, 40,000 miners in the captive pits went on strike on September 15, 1941; this stoppage would have affected the steel output, all-important to the defense effort, before many weeks had passed The board a few days later prevailed upon the union and operators to agree to a return to work for thirty days while negotiations continued, and thereafter to give a three-day notice of intent to stop pro-

---

[12] Jaffe, L L, and Rice, W G, *op cit*, Part II, pp. 8-11

[13] The National Labor Relations Act applied only to business that affected interstate commerce, but probably without exception all defense plants from which cases might have been certified to the board would affect commerce and their workers therefore would have a legal right to organize

[14] Jaffe, L L, and Rice, W. G, *op. cit*, *passim* See also, Kaltenborn, H S., *op. cit*, pp 99-103.

duction. Hearings before a panel continued during the truce, but to no avail, late in October the union gave a strike notice

The panel urged that the strike be called off again and that the parties accept one of two proposals as a final means of settlement, both of the plans amounting to arbitration of the dispute with compulsory acceptance of the award. This Mr. Lewis refused to do, in the next few days he refused to accede to three letters from the President requesting that he agree to settle along the lines of one of the board proposals, and the strike went into effect A few days later, after a White House conference, Mr. Lewis agreed to call off the strike again and allow the full board to consider the case and make its final recommendation on November 10.

The board recommendations rejected the demand of the union for a union shop; the vote was nine to two, with employer, public, and the A. F. of L. representatives comprising the majority. The two C.I.O. representatives voted against the report and showed their disapproval by resigning from the board on the following day. Within the next two or three days all alternate members representing the C.I O. resigned, leaving the crippled board without C I O. men until it was abolished two months later.[15] No further cases involving the C.I O. were certified to the board, and it lost much of the prestige it had previously enjoyed. A few weeks after the resignations came Pearl Harbor, which gave an opportunity to reorganize the dispute-settling agency as a war measure This was done promptly.

### The National War Labor Board: organization

In view of the limited effectiveness of the N D.M.B. and of the emergency created by the outbreak of war, President Roosevelt on December 17 called a labor and industry conference to discuss labor policies for the duration of the war. The conference was attended by twelve union officials equally divided between the A. F. of L. and the C.I O. and twelve industrial leaders, with co-chairmen from outside their ranks. A number of points were readily agreed upon, but the representatives could reach no common ground as to whether the proposed dispute-settling board should be allowed to consider and rule on issues of the closed and union shop. When on December 23 the co-chairmen, William H. Davis and Senator Elbert Thomas, reported to the President, it was thought that the conference had been unsuccessful owing to inability to agree on this point.

[15] As a matter of interest, the union did get the union shop. The President finally achieved agreement to arbitration by a three-man panel composed of Mr Lewis, Benjamin Fairless of the U. S. Steel Corporation, and J. R. Steelman, Director of the Conciliation Service. By a two-to-one ruling this body granted the union's demand.

However, the President acted as if no such dispute had plagued the conference.

President Roosevelt announced acceptance of the points on which he said the conferees had agreed. These were: (1) for the duration of the war there shall be no strikes or lockouts, (2) all labor disputes were to be settled by peaceful means, and (3) a National War Labor Board was to be established for the peaceful settlement of disputes that did arise.[16] Reportedly the industrial representatives were surprised by the President's announcement, for in their mind acceptance of these points was contingent on another which excluded the closed shop from the board's authority.[17] However, they accepted the presidential pronouncement and the unions did likewise.[18] The way was paved for the establishment of the National War Labor Board, the second such body to bear that name, a similarly named body functioned during World War I.

The President acted promptly, and on January 12, 1942, he issued Executive Order 9017 creating the new board. As reasons for formation of it the President cited the declaration of war, which "demands that there shall be no interruption of any work which contributes to the effective prosecution of the war," and the points of agreement reached at the labor-management conference. The board was made up of twelve "special commissioners," equally divided among labor, management, and public representatives. Provision was made for alternate members for employer and employee representatives. The board did not have jurisdiction in disputes for which methods of adjustment had been set up (such as railway disputes) until those methods had been exhausted.

A set procedure for the settlement of disputes was specified; the steps were: (1) direct negotiations between the parties involved, (2) failing settlement in this manner, the conciliators of the Department of Labor were to be called in if they had not previously entered the case, and (3) failing successful conciliation, the case was to be certified to the new board. However, the board's hands were not tied in the event a case was not certified to it, on its own discretion and after consultation with the Secretary of Labor, it could take jurisdiction over a case.

This power of the board to act of its own volition was significantly different from that of its predecessor. In terms of the executive

[16] Reproduced in Executive Order 9017, dated January 12, 1942.

[17] Kaltenborn, H. S., *op. cit.*, p. 113.

[18] The employer representatives called attention to the dispute in their letter of acceptance. They recommended that the new board not accept questions of the closed shop. They argued that to do otherwise would intensify management-labor disputes and increase their number. They argued, to no avail, that the President should exclude this subject from the authority of the board.

order, "after it takes jurisdiction, the Board shall finally determine the dispute, and for this purpose may use mediation, voluntary arbitration, or arbitration under rules established by the Board." No longer was the board an agency that could only mediate; it could arbitrate under its own rules. What this amounted to was the creation of an agency empowered to conduct compulsory arbitration for the duration of the war.

Once the new board was established, the old National Defense Mediation Board ceased to exist. Its personnel, records, equipment, and so forth were transferred to the War Labor Board. The new body was destined to become one of the most important of the war agencies. It evolved into the key agency for the settlement of labor-management disputes and also for the stabilization of wages. Let us first note the actions of the board in settling disputes.

### The National War Labor Board: functioning

The board began its functioning as the final court of appeal for all labor disputes not settled earlier, even railway labor cases. However, on May 22, 1942, the President, by Executive Order 9172, created the National Railway Labor Panel; all railway disputes not otherwise adjusted were to go before three-man boards named from that panel. Such a board was to "have exclusive and final jurisdiction of the dispute and shall make every reasonable effort to settle such dispute." Thus the N.W.L.B. lost a little of its jurisdiction at an early date, but it still held more than it could properly care for.

By the end of November, 1942, 918 dispute cases had been referred to the board, along with over 800 wage agreements submitted for approval[19] and almost 400 arbitration agreements.[20] However, in that time it closed only 330 cases, leaving a backlog of almost 600 dispute cases alone. Even within the first year of its life objection began to be raised concerning the slow handling of business, a chorus that was to become louder as the backlog of cases grew. The slowness with which decisions were rendered was due in part to the inheritance of the more difficult cases which the National Defense Mediation Board had been unable to settle. In addition, the National Board in Washington was trying to handle too many cases directly. This might have been desirable, since precedents and policies were being formulated, but it could not long be continued. Another reason for the slow action was that the members of the board split in their opinions on more than one-fourth of the cases considered in the first year.

---

[19] See below, Ch. XXII.
[20] Kaltenborn, H. S., *op. cit.*, pp. 122-123.

The board saw fit to limit its jurisdiction in another field, in December, 1942, it stated[21] that it did not have authority to issue any directive or order in a dispute between state and municipal employees and their employing government Such a limitation probably did not greatly reduce the number of cases brought before the board.

In most instances the board used a broad interpretation as to its appropriate jurisdiction, however Perhaps the best example of this statement is the action of the board in taking up the dispute between Montgomery Ward Company and its employees in the Chicago plant and, at a later date, those elsewhere In such a case, it took a rather liberal interpretation to see a reasonably close relationship between the dispute over unionization and the effectiveness of the war effort. In addition, the board interpreted its powers as warranting the handling of cases that arose between employers and their foremen. Clearly, if the foremen worked in war plants, the dispute could affect war production, the key question herein involved was whether foremen were to be considered as employees within the meaning of the executive order and the War Labor Disputes Act

In view of the slow functioning of the board and the exclusive centralization of work in Washington, a major reorganization was effected in January, 1943. At that time the original field organization of ten regions, each with its tripartite regional advisory council, was abandoned In its stead, a twelve-region organization with Regional War Labor Boards instead of advisory councils was set up. The national board delegated authority over labor-dispute and wage- and salary-adjustment cases to the regional boards. The Washington body kept original jurisdiction in disputes that were national in character; in addition, the national board acted as a supreme court to which decisions of the regional boards could be appealed within ten days Appeal was not an automatic right, the board granted the right to appeal if (1) a significant, novel question was involved, (2) procedure was unfair to the petitioner, or (3) the decision exceeded board jurisdiction or conflicted with established policy. The board could also review a case on its own motion.

At the same time the board officially dropped the mediation function. Thereafter the representatives of the board were concerned with making findings of fact and recommendations. However, there is no question that the persons involved missed no chance of settling an issue. Whether or not the mediation function could be officially performed, it did not cease to exist in January, 1943.

---

[21] Press Release B-351, December 15, 1942.

### The War Labor Disputes Act

Up to June, 1943, the activity of the War Labor Board was based only on an executive order of the President creating the board and outlining the functions to be performed. In any case of refusal to accept board rulings, the only avenues of enforcement were an attempt to utilize publicity and governmental pressures and seizure of a plant by executive fiat. The latter had been used in only a few instances, and it was not a satisfactory basis for action. In June, 1943, Congress acted to give legal statement of a federal policy on labor disputes in war industries.[22] In many ways the law merely stated the policies and practices already in effect, but in others it went much farther.

The act conferred upon the board certain powers that it was to exercise. One was to act in labor disputes certified to it by the Conciliation Service or undertaken on its own motion. A second was to decide such disputes "and provide by order the wages and hours and all other terms and conditions . . . governing the relations between the parties." A third power was to require the attendance of persons at meetings, to issue subpoenas, and to go into federal district court for an order to obey such subpoenas. There were other minor provisions, but these three were the important ones applying to the War Labor Board Essentially, the act restated the powers being exercised by the board and added the authority to subpoena

There were, however, other sections to the act. The President was given power to direct the seizure and operation of any plant, mine, or facility engaged in war production in which there was a disruption of production such that the war effort would be "unduly impeded." Seizure could be by any department or agency of the government that the President chose. Upon seizure, the terms of employment were to remain those in effect at the time the government took possession. After taking possession, a request could be made to the War Labor Board for permission to make changes in terms of employment. Any person wilfully interfering with government operation of an occupied plant could be subject to a fine of $5000 or imprisonment for one year or both

The act also stipulated a required "cooling-off" period for war contractors and their employees. When a dispute threatened in a war contractor's firm, a representative of the employees was required to give notice to the Secretary of Labor, the National War Labor Board, and the National Labor Relations Board, such notice was to

[22] War Labor Disputes Act, Public Law 89, Ch 144, 78th Congress, 1st Session, June 25, 1943.

state the issues involved in the dispute. After the notice was given, the employer and his workers were required to continue production under the existing circumstances for at least thirty days. In the interim the National Labor Relations Board was to prepare a "strike ballot" stating the issues involved and providing for a vote on whether or not employees wished to strike. After the period of notice had expired and if the employees were certified by the N.L.R.B. as having voted in favor of the strike, it could be called. The above was not applicable to workers in a plant or facility of which the government had taken possession.

This provision probably did not bring about the labor peace that was desired. Since a thirty-day notice and strike vote were necessary before a legal strike could be called, many notices were filed long before all possible avenues of settlement had been explored. Thus, in many instances, collective bargaining was being carried on with a strike notice in the background, such an atmosphere was not conducive to effective collective bargaining. It was, in part, a recognition of this fact that caused the President to veto the act when it was submitted to him. His action was ineffective, however; the law was passed over his veto.

A final provision of the act should be mentioned, although it was not of importance as a means of maintaining labor peace in wartime This was a prohibition against any political contribution by "any national bank . . . corporation . . . or . . . labor organization." This prohibition was limited to elections of federal officials. Exactly why it was included in a war labor disputes act is not clear; there was no close and reasonable relationship between the prohibition and the evil the act sought to remedy.

The act was to be effective until six months after the duration of hostilities. It officially died on June 31, 1947, as a result of a presidential proclamation officially ending hostilities December 30, 1946.

Under the War Labor Disputes Act and the National War Labor Board a number of labor policies were laid down that are worth noting. Probably the most important of these was that concerned with the question of union security. It will be remembered that the representatives of industry who participated in the December, 1941, conference opposed strenuously any consideration by the proposed board of questions of union security The board did accept such issues and found them, in the early stages at least, to be some of their most difficult. However, the National Defense Mediation Board had left behind a few cases on such issues that offered a means of solution which was utilized and improved upon by the new board.

Although the N.D.M.B. left decisions in its record in which maintenance of membership had been awarded, it was not a new idea

with them. Studies by the Bureau of Labor Statistics indicate that such agreements were made as early as 1925. Actually, such agreements were logical developments, since most unions want as much security of membership as possible and many employers want as little as possible, a maintenance-of-membership clause, which provides essentially that all persons who are union members must retain membership as a condition of employment, is a compromise between the viewpoints of both

The National Defense Mediation Board first ran into the problem of union security in the Snoqualmie Falls lumber strike The dispute was in a white-hot stage when the Mediation Board undertook settlement. With both parties so adamant in their stand, a delicately balanced compromise was about the only possible means of settlement. Maintenance of membership proved to be the compromise that the union would accept. There were other such instances, the cases of Cheney Silk and Federal Shipbuilding and Drydock being but two. It will be remembered that the board was killed by its inability to settle the union security issue in the captive mines case

The new board encountered the issue in hundreds of cases; one of the earlier ones involved a textile plant of Marshall Field and Company and a joint board of the Textile Workers Union of America, C.I.O. The settlement reached was that the company recognized the union as the exclusive bargaining agent of the employees and granted the maintenance-of-membership clause. This was tempered somewhat by a provision stating that maintenance of membership in good standing was contingent on signed voluntary authorizations for the checkoff of union dues.

Other cases involving union security came one after another. By June 18, 1942, the board had experimented enough to devise a type of agreement to which employer members would be willing to consent. In the case involving the Ryan Aeronautical Company and the United Automobile Workers, C.I.O., the maintenance-of-membership clause reached something near its final form. Thereunder persons were allowed fifteen days after the board order in which to withdraw from the union without penalty; if they did not avail themselves of the opportunity to withdraw, they were required as a condition of employment to retain their membership in good standing. Persons hired at a later date who voluntarily became union members also were to retain membership in good standing. This plan gave a considerable degree of freedom for individual workmen in that members had an escape period during which to resign, new employees were free to join or not to join as they saw fit. If he was still a member after the escape period, however, a person's job de-

pended on keeping in good standing with the union, which gave the union in a plant a considerable degree of security.

Not only were freedom and union security blended in maintenance of membership, but, as the board saw it, three basic guarantees were provided. These were: (1) the system was a safeguard against disintegration of responsible unions within the country during and after the war; (2) it guaranteed peaceful transition from war to peace through responsible union leadership and stable union membership; and (3) it afforded the chief hope that war production would be converted into production of necessary peacetime goods after the war.[23]

It is somewhat difficult to follow the reasoning of the board with respect to the second and third items Whether maintenance of membership helped in conversion of production after the war probably cannot be proven one way or the other. As to the guarantee of a peaceful transition after the war, such was clearly not the case; the period was marked by extremes of disputes and stoppages. The only argument is that the situation might have been worse without such clauses—that too is debatable.

The enactment of the War Labor Disputes Act did not alter the functioning or rulings of the board on questions of union security. Eventually a standardized provision on maintenance of membership evolved. Although the clause was of considerable length, the more important sections were as follows:

> "All employees who, on (insert date—15 days after date of directive order), are members of the Union in good standing in accordance with its constitution and by-laws and employees who become members after that date shall, as a condition of employment, maintain their membership in the union in good standing for the duration of the collective agreement in which this provision is incorporated or until further order of the Board.
>
> "The union shall, immediately after the aforesaid date, furnish the National (Regional) War Labor Board with a notarized list of its members in good standing as of that date
>
> "The Union, its officers, and members, shall not intimidate or coerce employees into joining the Union or continuing their membership therein"[24]

Thus the maintenance-of-membership clause was well established in the policy of the board before the end of its first year Within the first eighteen months maintenance of membership had been granted

[23] Stated in the Ryan Aeronautical Company case, No. 46, June 18, 1942

[24] Bureau of National Affairs, *Wartime Wage Control and Dispute Settlement*, p 322. Washington, D. C., 1945.

in 165 cases In nearly one-fifth of the cases all employer members concurred, and in over one-third one or more members of the employer group agreed to the award.

Another problem presented itself to the board from time to time, although the issues involved were not so complex as union security, this was the question of how to handle non-compliance with arbitration awards. When such cases arose out of refusal to abide by the ruling of an arbitrator provided for in an agreement between a union and employer, they were simply handled as any other labor dispute. However, where the board directed arbitration as a means of disposing of a case that it had examined, non-compliance with the ruling of the arbitrator was another matter. Then the refusal to comply with the ruling was taken as a refusal to comply with a board order. This meant, as will be shown later, seizure of the plant or facility or perhaps denial of priorities for the procurement of scarce materials

A principle of some interest was laid down on July 22, 1942, in the decision rendered in the dispute between the J. I. Case Company and the U A W., C I.O This ruling stated that persons who were not members of the union under a maintenance-of-membership clause nonetheless were required to bring up their grievances under the procedure specified in the agreement. The employer was not to deal separately with non-members on grievances, this was laid down not as a matter of legal right, but rather on the basis that to do otherwise would disrupt healthy collective bargaining relationships.

The ruling in the dispute between the United Shoe Machinery Company, and The United Electrical, Radio and Machine Workers of America, C I.O , of October 3, 1942, was along this same line of reasoning One of the points to be ruled upon in this case was the signing of individual contracts covering the same points as the collective agreement. Again, there was no question of the legality of such agreements, but rather of the effect of the practice on collective bargaining and peaceful employer-worker relationships.

In mid-year 1942 another interesting ruling was made[25] This pointed up the intent of the board that disputes should be settled by collective bargaining whenever possible In the case, the discharge of four persons was not carried through the grievance procedure specified in the agreement between company and union Instead the case was taken to the board. That body refused to act in the dispute and directed the parties to submit their issues to the procedures specified in the agreement.

Such cases as those noted above indicate only one phase of the

[25] Babcock and Wilcox Company case, No 8, August 28, 1942

work of the National War Labor Board, that which was at first the entire task of the board and later was subordinate in importance to the administration of the Wage Stabilization Program. However, the settlement of disputes remained a difficult part of the work in that there it had more of the job of a mediator to perform than in wage cases. In many instances involving wage questions, the cost-plus contracts awarded by the government procurement agencies and the desire of employers to attract scarce labor to their plants put unions and employers in the same camp, and both in opposition to the board. The war period brought an unusual situation when in many cases labor and management both wanted higher wages and found that they had to "fight Bureaucrats" for permission to raise them.

As far as the settlement of disputes went, the board placed all possible reliance on collective bargaining as the means of best maintaining congenial labor-management relationships. A number of cases have been cited which illustrate that dependence on bargaining, undoubtedly this encouragement of collectively determined agreements to resolve differences was wise and well founded. However, the board could not put all its trust in collective bargaining. It found that even the early attempts to mediate did not bring labor peace in many instances. Throughout the war the questions of union status and union security remained knotty ones over which tempers flared and heated disputes arose. Even though established principles were laid down and the eventual solution of cases taken before the body was clear, there was no complete acceptance of the findings and decisions of the board.

### Enforcement of board rulings

With some objection throughout the war period to the rulings of the board, a means of enforcement had to be found; the prestige of the government and the urgency of effective prosecution of the war made it necessary. In mid-August, 1943, President Roosevelt stated in an executive order and in a public letter to the chairman of the W.L B. the previously developed policy of the government for the enforcement of directives of the board.[26] According to the President, Congress intentionally left compliance with the War Labor Dispute Act and the directives of the board for executive action. The measures when an employer refused to comply with an order were several. Sanctions in the form of the withholding of contracts and the denial of priorities for goods, fuel, transportation, and the

[26] Executive Order 9370 and the public letter both were dated August 16, 1943 and are reproduced in the Bureau of National Affairs' *Wartime Wage Control and Dispute Settlement*. pp. 30-31.

like were to be tried first. In the event such sanctions did not bring compliance, the plant could be seized and operated by the government. The procedure where non-compliance developed was for the board to notify the Director of Economic Stabilization, who was "to direct the application of any or all available sanctions . . . by the appropriate agencies of the government."

When a local union directed or advised its members not to accept some board ruling, the first step was likely to be efforts by international officers to induce the workers to accept the award and get back on the job. Failure to get compliance in this manner could lead to seizure of the plant, the working conditions in a seized plant were set by board order. When worker or union obstinacy caused the seizure, the board could deny benefits normally accruing to the unions, such as checked-off funds and the like In any case of seizure, the plant was to be returned to owners as soon as possible and not more than sixty days after the restoration of productive efficiency.

In case the non-compliance was by individuals, the President outlined singularly personal punishments The War Manpower Commission could be directed to cancel draft deferments or employment privileges. This, like the other means of enforcement, was primarily a threat

The President closed his letter to the War Labor Board with a comment on the general effectiveness of the board in its decisions. In the eighteen months in which the new body had functioned over a thousand cases had been decided. Of this number, only seven had been sent to the President because of persistent non-compliance. In the eyes of the Chief Executive, this was a "remarkable record, in the making of which the industry, labor and public members of the Board have each played an effective part."

In application, the sanctions to which we have referred were not very effective. Cancellation of war contracts was not an intelligent method of punishment, since it hurt the government as much as or perhaps more than it did the company to be disciplined The denial of priorities was not quite so harmful to the public but tended to have the same general effect. However, it was not employed often against management recalcitrance and was not used at all in cases of labor defiance. This meant, in the final analysis, that when compliance measures progressed beyond the public pressure and urging of acceptance of awards or rulings of the board, about all that was left was seizure, this could be done without a stoppage of production as would occur with a denial of priorities or a cancellation of contracts.

Nevertheless, seizure was not often used. It will be recalled that only three seizures took place under the old National Defense Medi-

ation Board, under the War Labor Board there were more plants and facilities taken over but the number was relatively small when compared with the total number of cases handled From the time the new board was created until mid-year 1945, almost three and one-half years, there were thirty-eight seizures reported, twenty-eight under President Roosevelt's administration and ten in the first two months under President Truman.[27] Taking the period as a whole, there was less than one seizure per month, but the number grew from year to year. For example, there were only three seizures in 1942 and there were fifteen in the first five and one-half months of 1945 Especially after V-E Day the relative amount of non-compliance increased, since the public was inclined to "let up" once one theater of the war was cleared of open hostilities. However, the power to seize and operate plants extended, under the War Labor Disputes Act, for six months beyond the legal end of hostilities, which was to be proclaimed by the President or by a joint resolution of Congress, so the power of seizure remained and was used on occasion. Between mid-August 1945 and mid-June 1946 there were nine seizures. Some of these involved large facilities and groups of workers, such as was the case with the railroads, the bituminous coal mines, and the big meat-packing concerns.[28]

The seizures described in the foregoing paragraph were not all alike. They were about evenly divided between those resulting from defiance by labor and from defiance by management When a seizure was ordered, it might be effected by any designated government agency, chosen on the basis of the nature of the business being taken over. The following government agencies seized and operated plants or facilities in one or more instances. Army, Navy, Office of Defense Transportation, Department of the Interior, Department of Commerce, War Shipping Administration, and the Petroleum Administration for War. The Army did the greatest amount of such work, taking care of about half of the plant occupations Some of the seizures were of single plants or facilities and others were of hundreds of units, as in the case of the coal mines. In most of the cases the facilities were returned for private operation within a few weeks or months, however, a few instances of management refusal were such as to require several months, and in one case several years,[29] of operation. Generally, once labor had succeeded in provoking the seizure of a plant and certain changes in

[27] "Seizures Pile Up," *Business Week*, June 23, 1945, No 825, p 17

[28] U S National Wage Stabilization Board, Research and Statistics Report No 2, *Labor-Management Disputes, Subsequent to August 17, 1945, Involving Possession of Properties by the Federal Government* Washington, D C · U S Government Printing Office, October 23, 1946

[29] Toledo, Peoria and Western Railroad

working conditions had been made, the complainants were quite willing to have the plants returned; some managements were more inclined than others to stand on a certain principle and thus give longer periods of opposition

As far as dispute-settlement methods and improvement of industrial relations are concerned, it is not clear whether the War Labor Board of the second World War left any great legacy. During the first war the espousal of the right to organize, even though in company unions, left a clear, if mixed, resultant of stronger unions and stronger company unions as well There was, it is true, an increase in union membership during the second World War, but it was due more to legislative policy than to pronouncements of the War Labor Board. There is, however, one practice, attributable in part to the board, that should be noted. The composition and functioning of the board and its predecessor emphasized the merit of tripartite groups for the settlement of management-labor disputes. As has been seen, such groups were not new, having been used in the Toledo Industrial Peace Plan and elsewhere; but this was a plan applied on a national scale for several years Since the end of the war there has been a sizable continuation of the practice in the growing numbers of local dispute-settlement plans, in fact-finding committees, and in private arbitration plans such as that in effect between the United States Steel Corporation and the United Steelworkers of America. As has previously been noted, the tripartite dispute-settling body has distinct advantages; in popularizing such plans the board did an excellent piece of work.

Perhaps another result should be credited to the board. Certainly maintenance-of-membership clauses are much more common since the war than before. No data on the percentage of union members covered by such clauses were kept prior to 1942 In that year the Bureau of Labor Statistics reported fifteen per cent so covered, this figure increased gradually to twenty-nine per cent in 1945 and dropped to twenty-five per cent in 1946[30] Since such clauses are a logical compromise between the usual position taken by management and labor on union security, they may continue as an important solution to disputes that threaten over that issue. Such clauses are also a logical step in the line of progression of a union from an open to a union shop agreement.

There is at least one other result of War Labor Board action that is significant enough to note. While the war was in progress the settlement of disputes, once submitted to the board, was very similar to compulsory arbitration. Although the enforcement of board rul-

[30] *Monthly Labor Review*, May, 1947, Vol. 64, No. 5, p 767

ings was on a non-legislative basis, the sanctions and pressures that could be used were sufficient to bring unwilling acceptance of many awards. But every time there was unwilling acceptance of a dispute there was likely to be dissatisfaction on the part of one or both parties and a growing intention to remedy the situation just as soon as controls were removed. This was not the only reason, but it was one reason why when controls were removed everything was ripe for an unprecedented wave of labor-management disputes and unrest. It was an easily understood, but nevertheless unfortunate, exercise of the freedom which we prize so highly.

## Questions

1 Is there good reason in an emergency period for the setting-up of special governmental agencies, such as the War Labor Board, to perform functions that existing agencies, such as the Conciliation Service, could assume? Why or why not?

2. Evaluate the maintenance-of-membership clause as a means of solving the issue of union security that arose so frequently during the war period

3 What are the advantages of a tripartite body representing management, labor, and the public as an agency for settling labor disputes?

4 In view of the stringencies in labor-management relations that were present during the war, would it have been wise to exclude questions of union security from the authority of the War Labor Board? Why or why not?

5. Were the means of enforcing rulings of the War Labor Board adequate? Why or why not?

6 Did the enactment of the War Labor Disputes Act give a better basis for settling labor-management disputes than had existed under the executive action of the President? Why or why not?

## CHAPTER XXII

# STABILIZATION AND CONTROL OF WAGES

### Federal wage policy prior to World War II

Except for scattered attempts during the colonial period to put ceilings on the wages that could be demanded, prior to 1940 all legislation by federal and state governments directed at wage control had sought to put a floor under wages, that is, to set minimum wages[1] This was due to the fact that once the nation got beyond the period when labor was especially scarce, and once employers began to grow in size, workers were unable to match bargaining power and the imminent danger became one of excessively low wages rather than excessively high ones.

When the nation began in the 1930's to swing toward a war economy, its labor controls were primarily those that were designed to bolster a peacetime economy plagued by insufficient demand for goods, oversupply of labor, and resultant low wages. An excellent example of this fact was the Fair Labor Standards Act, which was intended to keep hours of labor down and set a minimum wage rate of forty cents per hour for the groups covered. The Walsh-Healy and Davis-Bacon Acts were to ensure payment, on certain government contracts, of at least the prevailing wage rates of the area in which the work was done.

As the war boom took hold, unemployment began to fade, wages and prices to rise, and the demand for goods to increase at the same time that the federal government wished to command a larger and larger share of the national product. If such a situation were allowed to go unchecked it would mean increases in wages and in demand for goods by the public; the government, to get the products it wanted, would have to offer higher prices, thus hoisting the monetary cost of the war. The anti-inflation program of the government ramified into many fields; only wage policies will be noted in this division

### The development of a wage stabilization program

In 1942 there was a sharp break in federal wage policy Beginning in that year the government followed a policy throughout the

[1] See Ch. XII.

war of controlling the wages paid by private enterprise. At no time did the control amount to a freeze of all wages, it was called, more euphoniously and perhaps more accurately, a wage-stabilization program. Small segments of the task were allocated to other governmental units, but the greatest part of the job was administered by the War Labor Board. On January 30, 1942, the Price Control Act directed the various agencies concerned with the problem to work toward a stabilization of wages, costs, and prices. The President, in a message to Congress in April, 1942, also directed the board to control wages as a part of his program to stabilize prices This was said by the President to mean that, in general, wages should be kept at existing levels, but that the board should give due regard to inequalities and substandards of living

Using these guideposts, the board began to face wage cases almost from the first day of its existence. At first these cases came as disputes between labor and management as to what should be the amount of the wage increase. At that time the labor market was not sufficiently tight to make most managements willing to raise wages without a protest. There were a few minor cases and then came a demand for a general wage increase for the workers in the little steel companies[2] This dispute arose over the demand of the union for a dollar per day, twelve and one-half cents per hour wage increase and the refusal of the companies to make any offer at all. The case affected many workers and was in an industry with roughly equalized wages; it was not one in which the reasoning of substandards of living could be applied It was apparent that many more such cases would arise in the future, therefore, there was need of some rule of thumb to be used in determining just how far wages should be allowed to rise under the stabilization program.

When the case came before the board union representatives tried to get around the stabilization principle by offering the proposal that part of the raise be paid in war bonds This proposal was not acceptable. In the end, the board allowed five and one-half cents per hour by dint of somewhat unusual reasoning, not all of which is important; a part of it is of interest to us, however, for the general rule laid down thereby. The board found that costs of living had increased fifteen per cent since January 1, 1941; using this date as a base, the members ruled that employees were entitled to a raise sufficient to bring their wage rates back on a parity with the increased cost of living Nothing was said about how the principle would

[2] *In re* Bethlehem Steel Corporation, Republic Steel Corporation, Youngstown Sheet and Tube Company, Inland Steel Company, and United Steelworkers of America, C.I.O., National War Labor Board Cases, Nos. 30, 31, 34, 35, July 16, 1942.

apply if the cost of living rose still more, as there was every reason to believe that it would.

The board stated that the fifteen per cent increase formula they had evolved was their attempt "to define a solid basis of stabilization, and at the same time to fairly evaluate and correct inequities that have already resulted from the past cycle in the upward movement of prices." They set such an allowable increase and tried to use it as a guide for two basic reasons. One was that they believed the war should be fought without individual groups seeking special privileges; the other was that maximum war production demanded that fair and equitable labor standards not be broken down. This allowable fifteen per cent increase, which referred to average increases and not increases on individual rates, was to become one of the key points in the wartime wage policy of the government. There were, however, several other bases of wage policy that remain to be noted; some were the result of legislation, others of executive policies, and others of board action. The basis of wage policy will be noted first and subsequently the application of that policy by the War Labor Board and other bodies.

The first important legislation on the subject was in the Economic Stabilization Act of 1942.[8] This law dealt with the whole subject of prices and wage control, in so far as wages were concerned, it was very broad, conferring power on the President for regulation and leaving the exact nature of the regulation to be determined by the Executive. The pertinent passage of the act read. "No employer shall pay, and no employee shall receive, wages or salaries in contravention of the regulations promulgated by the President under this Act."

This law changed the situation completely as far as wage regulation was concerned. Prior to that time the only wage questions that had come before the War Labor Board were those on which the parties could not agree, with the result that the dispute had been carried to that body for settlement. Now the situation was that both employers and employees were forbidden to pay or receive wage increases not in keeping with federal policy even though they could agree through collective negotiations to do so. From October, 1942, to the end of the war wages were removed from the field of collective bargaining except in very rare instances when a change could be made without government approval This change in policy, at a time when pressures for wages increases were becoming very strong, put a heavy burden on the War Labor Board.

[8] Public Law 729, 77th Congress, Chapter 578, 2nd Session, October 2, 1942

The President acted immediately to lay down the broad policies that were to guide the War Labor Board in controlling industrial wages for the duration of the war. On the day after the Economic Stabilization Act was passed Executive Order 9250 was issued stating executive policy for the stabilization of the national economy.

The order began by establishing the Office of Economic Stabilization, whose job it was to formulate a national anti-inflation policy and to act to coordinate the activities of various government agencies that affected prices, wages, salaries, profits, rents, and so forth. That office is of interest to us only in so far as it served as a guide for the subsequent work of the War Labor Board

As to wage and salary stabilization, the order went into considerable detail. The essence of that policy and its administration was as follows. (1) no increase or decrease in wage rate (as a result of agreement, collective bargaining, or arbitration) was to be allowed unless notice of the proposed change was given the board and it, in turn, granted approval; (2) the National War Labor Board was not to approve any increase in wage rates prevailing on September 15, 1942, unless the increases were necessary to correct maladjustments or inequalities, eliminate substandards of living, correct gross inequities, or aid in the effective prosecution of the war. There was a further limitation on the power to approve wage rate increases Where the board had reason to believe that any proposed increase in wage rates would necessitate a change in the price ceiling, the increase, after approval by the board, also had to be approved by the Director of Economic Stabilization.

The third guiding proviso was that the board could not approve a wage decrease that would cut a wage rate below its highest level between January 1 and September 15, 1942, unless the decrease was necessary to correct gross inequities or aid in the effective prosecution of the war. However, the board could establish regulations to exempt small total wage increases or decreases in order to make the administration of wage stabilization more feasible.

Approximately the same controls of salaries over $5000 per year were provided as for wages. Salaries for any particular work were not to be lowered below the highest amount paid between January 15 and September 15, 1942, unless necessary to correct inequities as an aid in prosecution of the war. No increases in salaries above $5000 per year were allowed unless approved by the Director of Economic Stabilization However, a promotion to more responsible work could be accompanied by a higher salary.

A final guidepost may be of interest, although it had no significant effect on the stabilization of wages In order to correct gross inequities and to provide for greater equality in contribution to the war

effort, the Director of Economic Stabilization was "authorized to take the necessary action, and to issue the appropriate regulations, so that, in so far as practicable no salary shall be authorized . . . that . . . exceeds $25,000" after the payment of taxes and certain other specified expense.

The War Labor Board was given the great bulk of the work of administering the policies laid down by the order. It was to continue to carry out the duties outlined in Executive Order 9017 that created the board. It was also designated as the "agency of the Federal Government authorized to carry out the wage policies stated in this Order, or the directives on policy issued by the Director" (of Economic Stabilization) Furthermore, no provision with respect to wages contained in any labor agreement was valid except with the approval of the board.

Small wonder, after the issuance of Executive Order 9250, that the settlement of war time labor disputes became for the board a relatively unimportant job. That order threw all wage changes in its lap at a time when the pressure for wage increases was extreme. Sweeping power was given, but exactly what some parts of the order meant was never clear. For example, when did an inequity cease being one that was too small to warrant a wage increase and become a gross inequity that did warrant a change? Or what was a substandard of living? Or how could it be said that one policy would aid the war effort and that another would not? As will be seen, some rules of thumb were used in applying the criteria for approval of wage rate increases, but they were not very clear bases for judgment

While it seemed clear from the wording of Executive Order 9250 that all workers were subject to its wage provisions, railway workers were brought under it by a specific order a few months later.[4] The essence of this directive was that any change in railway wages, even though made in complete conformity with the specific legislation and orders applicable to them, must conform to the standards prescribed in Executive Order 9250 However, ensuring that railway wage changes met the requirements was in the future to be the job of the National Railway Panel

Executive Order 9250 did not hold the line effectively against increases in prices and wages. Therefore, in April, 1943, the President again attempted to pep up the stabilization program with a new order.[5] This new directive was referred to as the "hold-the-line order", it was to stop the inflationary spiral, which, according to the President, had only been slowed down to that date. The order

[4] Executive Order 9299, dated February 4, 1943

[5] Executive Order 9328, dated April 8, 1943.

directed the establishment of price ceilings, based on September 5, 1942, prices where possible. This, it was hoped, would relieve some of the pressure for higher wages. As far as wages were concerned, the War Labor Board and other agencies participating in the stabilization program were directed "to authorize no further increase in wages or salaries except such as are clearly necessary to correct substandards of living, provided that nothing herein shall be construed to prevent such agencies from making such wage or salary readjustments as may be deemed appropriate and may not have heretofore been made to compensate, in accordance with the Little Steel Formula as heretofore defined by the National War Labor Board, for the rise in cost of living between January 1, 1941, and May 1, 1942." However, this did not prohibit reasonable adjustments of wages and salaries in cases of promotion, reclassification, merit increase, and the like, *if* the changes would not change production costs enough to form a basis for demands for price increases

The hold-the-line order completed the legislative and executive statement of federal wage policy for the war period. There were a few slight changes from time to time, but the problem for the last two and a half years of the war was application of the policy. This was not done with perfect consistency. The War Labor Board and all other branches of the government essentially fought a delaying action rather than completely stopping wage and price increases

Under the stabilization programs and policies that were issued, a limited number of bases of wage adjustment emerged. These conditions included increases: (1) directed at correction of substandards of living; (2) made under the "little steel" formula; (3) necessary to correct intra-plant inequities, (4) up to the minimum of the tested and going rate, or in rare and unusual cases some point above the minimum; (5) on the basis of promotions, reclassifications, and the like.

With five possible justifications for upward wage revisions, it was possible in most instances where a change seemed necessary to find a reason to grant such an increase However, considering the economic pressures of the war period, a good job was done of wage and price stabilization up to the end of the war Let us note the manner in which some of the policies were applied.

As has been stated, the Stabilization Act of October 2 and Executive Order 9250 of October 3, 1942, marked the beginning of a concerted effort to stabilize Prior to that time there had been commitments to stabilize and a "little steel" formula had been evolved, but efforts were not concerted until fall, 1942. Early in October the board issued general orders allowing all wage increases approved

prior to October 3 to be put into effect.[6] Increases appearing after October 3 were to be included if they had been agreed to and formally communicated to employees before that time

Shortly thereafter the board issued an order that was intended to simplify its work. It directed that all employers of not more than eight were exempted from the provisions of Order 9250.[7] This exception was not to apply to employees whose wages and working conditions had been established on an industry or association basis under a master agreement, and regional War Labor Boards were allowed to recommend that certain employer groups in their region not be covered by the above exemption where it would have served to obstruct the stabilization policy. Under this provision, almost fifty groups of small employers in various regions were denied exemption, that is, they were governed by Order 9250 even though employing no more than eight persons. This included almost every imaginable group in one region or another, on the west coast, where the labor market was especially tight, there were more exceptions to the order than in any other part of the country; that is, more small employers were held subject to the controls of Order 9250

### Means of paying more money to workers

As needs for labor became more keen, the practice of employers was to try to fulfill their requirements by offering more money. Such a practice could not be followed at will; sometimes in order to lure workers attempts would be made to hire for new jobs at premium wages in excess of the established rates. It could be argued that such measures were not a violation of the wage-stabilization program, but the board ruled otherwise.[8] The practice was ruled to be a violation of Order 9250.

The payment of bonuses proved to be quite a problem for the board This was another possible means of attracting or keeping labor where outright higher wages could not be paid. The board ruled [9] that bonuses could be paid to employees who had been paid them in the past if the grants were not greater than they had been in the preceding bonus year. This did not prohibit any employer, even though he had not done so before, from paying a Christmas or year-end bonus up to $25 without board approval. Also, the payment of a bonus to an employee quitting his job to enter the armed forces was permissible.

[6] National War Labor Board, General Orders 1 and 3, October 7, 1942

[7] General Order 4, October 9, 1942

[8] General Order 6, October 3, 1942, amended June 27, 1944

[9] General Order 10, November 6, 1942

It is common knowledge that in many cases women are paid less than men for work of comparable quality and quantity. During the war, with the concerted desire to get all possible women to take jobs in industry, it became necessary to adjust the wages of women in order to make such work more attractive. The question arose as to whether such adjustments required board approval; the board ruled that they did not[10] The equalizing grants could be made provided that they were not used as a basis for raising price ceilings and provided also that they were subject to review by the board if it so chose. This ruling was written into Order 9328 when it was issued in April of 1943. It had no effect on the general position previously taken by the board.

Equal pay for equal work was not easy to apply, for it involved a problem of job evaluation. It would not be a case of equal pay for equal work if women and men were working at the same machines and at the same rates but a helper was provided to do the heavier lifting for the women The principle of equal pay also was applicable only for intra-plant inequities, inter-plant differences gave no basis for upward revision of women's wages.

Some agreements between unions and management provide that wage rates are to be revised upward when certain amounts of increase in the cost of living occur. However, the board put a stop to such practice.[11] Even though called for by a collective agreement, no cost-of-living wage-rate increase was allowed without board approval, which would not be granted in case the increase would amount to more than was allowable under the "little steel" formula

It has been noted that in all executive orders on the subject, wage increases to eliminate substandards of living were permissible. However, there was no indication of just what constituted a substandard of living The board issued a rule of thumb to be used that was far from overly generous.[12] It was ruled that rates could be raised to fifty cents per hour without approval. However, an employer could not raise all his wages to maintain the same differential between each class of employees simply because the raise to fifty cents per hour had narrowed the differential at the bottom. Such raises had to go before the board.

A series of three general orders issued in October, 1942, and February, 1943, proved to be about the most complicated and perhaps the most elastic of all such statements[13] These allowed wage ad-

[10] General Order 16, November 24, 1942.
[11] General Order 22, December 8, 1942
[12] General Order 30, February 18, 1943
[13] General Orders 5, 9, and 31, October 5 and 30, 1942, and February 2, 1943,

justments for individual employees under a number of conditions without approval by the board. General Order 5 allowed wage increases "incident to the application of the terms of a wage agreement" if they were due to individual promotions or reclassification, individual merit increases, length-of-service increases, or increased productivity under an incentive plan. Order 9 made similar allowances for individual increases of *bona fide* executive, administrative, and professional employees. In both of these orders it was specified that any increases resulting from the order were not to increase production costs appreciably and not to serve as basis for a demand for an increase in price ceiling.

General Order 31 really was a supplement to orders previously issued allowing non-approved individual wage increases. It was long and complicated and will only be outlined here. It allowed individual increases in wage and salary rates as a reward for improved quality and quantity of work or service There were separate provisions for employees of fewer than thirty workers and those hiring more than that number. Stripped of excess verbiage, the individual increases were allowed, but they were not to amount to more than ten cents per hour for any employee or to more than an average increase of five cents per hour for all employees in the establishment whose wages were subject to the jurisdiction of the board In addition, leeway was allowed in the section of Order 6 which had required that employees be hired at the beginning rate for the job classification for which they qualified. Under Order 31, in any one year twenty-five per cent of the persons hired could be started at rates in excess of the minimum for the classification.

A final general order remains to be noted; late in 1941 the rulings with regard to piece-rate wage-payment systems were changed[14] The establishment of a new piece-rate plan in a plant or department not previously having such plans required board approval in accordance with the order, but there were some cases in which approval was not necessary These cases were those in which there was only a rate change due to a change in method or product, however, the changed rate had to reduce to the same earnings for the same effort. A second case in which board approval was no longer required was in establishing an incentive rate for a new production item in a part of a plant where an incentive plan already was in operation. Here, again, equivalent earnings had to be maintained for equivalent effort

Such were the general orders by which the board outlined the policy which it and the Regional War Labor Boards followed Many of the orders were amended from time to time rather than re-

[14] General Order 38, October 23, 1944

maining as issued, and occasionally an order shifted the emphasis or functioning of a preceding one. All in all, there was a continuous search for some way of staving off the big, inflationary, general wage increases while still leaving room for the rewarding of initiative and effort. There was also a recognition that there were certain limits as to how minute administration could be while remaining practical as far as time and personnel were concerned.

A number of general orders of the board were issued to delegate authority so that the work load could be lightened. One of the early instances of this practice was found in General Order 13, of October 13, 1943. This document implemented a provision of Executive Order 9250 by stating the conditions which were to govern the nine-man Wage Adjustment Board for the construction industry. This body was given the job of administering the wage-stabilization program in the building and construction industry under the rules laid down by the War Labor Board and subject to review of its actions by the board. Attention has already been called to an essentially similar plan by which the National Railway Labor Panel did the stabilization job for railway workers.

A number of such orders beginning in late 1942 authorized one after another of the government departments and agencies to adjust wages of their employees, according to the principles of the wage-stabilization program. Finally, virtually all government agencies were given authority to make such adjustments. Agencies and departments delegated such power were to make their changes in keeping with the national stabilization program, as outlined in Executive Orders 9250 and 9328 and the subsequent actions taken thereunder.

In addition, the National War Labor Board and some of the Regional War Labor Boards appointed boards or commissions, created with less formality than by general orders, to administer the wage stabilization and aid in the settlement of disputes in certain industries on a national or regional basis. The rather standard provisions that the wage program would be observed and that the action could be reviewed by the national board were included in the documents creating such committees. The national board set up panels in daily newspapers, printing, publishing, airframes, telephones, non-ferrous metals (ninth, tenth, and Alaskan regions), shipbuilding, trucking, and waterway shipping. In addition, commissions were created for aircraft and lumber on the west coast. One region, number 11, created a tool and die commission and an "automotive section."

### The application of wage-stabilization policies

Although the general orders sketched in the foregoing section [illegible] which the board and its agencies were to govern

their actions, there were frequent differences between policy and practice; an examination of a few wage cases will show this. For example, the application of the "little steel" formula showed considerable elasticity, in the original "little steel" ruling, when the allowable increase of fifteen per cent above January, 1941, was stated, little steel employees were actually allowed more than a fifteen per cent increase An increase of 3 2 cents was permissible to raise their wages to fifteen per cent above January, 1941; the board allowed an additional 2.3 cents per hour for what it referred to as "time equities" This meant that had the case been handled promptly after it was filed in February, 1942 (before the President directed the stabilization of wage rates), a larger increase would have been granted A few months later exactly the same raise was allowed United States Steel on the basis that "wage policies in basic steel plants customarily follow industry-wide pattern." [15] However, in this case the request for an increase was not made until after the President's stabilization message of April, 1942, and no "time equity" was involved, even so, an increase amounting to more than fifteen per cent was granted.

Sometimes questions arose as to precisely how much of a raise workers in a plant were entitled to, since it was not common for increases in wage rates to equal exactly fifteen per cent, and in many cases wage increases put into effect were not paid to all, or even a majority, of workers The fifteen per cent allowed was a general increase and not the individual increases that might be given for merit or reclassifications However, in 1943 rather widely divergent rulings were given on this point In February it was stated that increases in day rate benefiting one-third of the employees in a company should not be considered in determining the amount of the cost-of-living adjustment under the "little steel" rule.[16] However, a few months later the board said that increases awarded to as few as ten per cent of the employees should be prorated among all employees in determining just how much of a general increase was due under the fifteen per cent rule [17]

In the latter case the board put certain strings on the granting of the fifteen per cent increase. Under that ruling, an increase of 8.8

[15] *In re* Carnegie-Illinois Steel Corporation, Columbia Steel Company, The American Steel and Wire Corporation of New Jersey, National Tube Company, Tennessee Coal, Iron and Railroad Company, and The United Steelworkers of America, C I O, No. 364, August 26, 1942

[16] *In re* Continental Rubber Works (Erie, Pa ) and United Rubber Workers of America, Local 61, C I O, National War Labor Board Case No 402, February 2, 1943

[17] *In re* Federal Bearing Company, Inc, Schatz Manufacturing Company (Poughkeepsie, N Y ), and International Union, United Automobile, Aircraft and Agricultural Implement Workers of America, Local 297, C.I.O., National War Labor Board Case No. 270S-D, July 7 1943.

cents per hour was due according to the "little steel" formula. However, the board ruled that this entire amount could not be spread equally over all employees, five cents could be granted as a general increase, but the remaining 3 8 cents were to be used for the elimination of intra-plant inequities. This latter task was to be done through negotiations, the board expressed the opinion that it would be most equitable if the bulk of the amount available for this purpose be awarded to those employees who were "underpaid in relation to other workers in the same plant." Thus, the "little steel" increase did not mean a full fifteen per cent increase for everyone in the particular plant.

On some occasions the board allowed considerably more than the fifteen per cent wage increase even though inequities or substandards were not present. An outstanding case of this type came early in 1943,[18] in that instance the board, with public members dissenting, granted approval of a wage increase after a raise of well over fifteen per cent had been given earlier. The total increases amounted to nearly thirty per cent, the case made in requesting the increase was that the company had lost personnel and would lose more to other plants if it was not allowed to raise wages. Although the board had declared that it would not attempt to remedy manpower shortages through wage increases, the boost was granted in this case for no other discernible reason

The above cases are a very few of many, but they show that even where the "little steel" formula was supposed to guide it did not always do so. In many cases it was applied and used effectively, but in many others it was not. Even where it was applied and no increases were allowed for inequities, substandards, and the like, it did not keep earnings down. This was due to the fact that hours of work and the steadiness of work changed greatly. Between 1940 and 1944 average weekly hours of work in all manufacturing increased from less than forty to approximately forty-five This increase was more significant than it seems, owing to the fact that the Fair Labor Standards Act required that hours over forty per week be compensated at time-and-a-half Thus, an increase of from forty to forty-five hours per week would bring pay for seven and one-half additional hours. The average increase in hours worked was somewhat greater than that, so the total increase was more than twenty per cent of straight-time earnings, in some war industries the upward tendency was much greater.

In applying the rule that wage rates could be raised when there

[18] *In re* American Smelting and Refining Company (Long Island City, N. Y ) and Federal Labor Union, Local 22414, A. F. of L., National War Labor Board Case No BWA-114, January 4, 1943.

were inequalities or gross inequities, the board had a very elusive dilemma that was impossible of exact definition. Such inequalities or inequities were said to exist where there were wage differences so discriminatory as to make their continuation a manifest injustice. One application of this principle was that all employees in a certain classification should be paid the same wage for equal quantity and quality of work, "regardless of color, race, sex, religion, or national origin."[19] In one case, an inequity increase was allowed when wages within a certain plant were compared with others in the area or industry.[20] However, in another ruling within two months of this decision the board denied a request for a wage increase based on a comparison with wages of other industries within the area[21] Shortly after this, it will be remembered, the President, in Executive Order 9328, removed inequities as one of the justifications for wage increases. However, this regulation did not long eliminate the granting of inequity increases. On April 12, 1943, the Director of Economic Stabilization issued a policy directive to clarify the wage adjustment powers of the board under Order 9328[22] This statement put the board back about where it was prior to the issuance of 9328 with respect to the leeway afforded in finding inequities. Parts of this directive merit closer examination

The directive opened with a statement of purpose: to supplement Executive Order 9328 It reaffirmed the power of the board to make adjustments within the fifteen per cent formula and to eliminate substandard conditions of living However, the board had the power to eliminate differentials or inequities that would impede productive efficiency, such as might develop where the board raised low rates within a plant to eliminate substandards, thus narrowing differentials for higher brackets of wages Such adjustments were not to bring wage rates above the minimum rate prevailing in the locality for similar work, however The board was also given the power to raise wage rates in rare and unusual cases where labor for critical war production could not otherwise be obtained With this directive the board continued in about the same path as it had before.

---

[19] *In re* Southport Petroleum Company (Texas City, Tex ) and Oil Workers International Union, Local 449, C I.O , National War Labor Board Case No 771, June 5, 1943

[20] *In re* Jamestown Steel Partition Company (Jamestown, N Y ) and United Electrical, Radio, and Machine Workers of America, Local 309, C I O, National War Labor Board Case No 430, January 14, 1943

[21] West Coast Airframe Companies and three union organizations, National War Labor Board Case Nos 174, 307, 557, 558, 608, 609, 610, and 673, March 3, 1943

[22] Reproduced in Bureau of National Affairs, *War Labor Reports*, Vol 8, p xiv Washington, D C, 1943.

Application by the board of its power to raise wage rates so as to eliminate substandards of living was not uniform Attention has already been called to the fact that rates of less than fifty cents per hour were considered substandard and could be raised to that figure without individual approval by the board. However, in 1942 that body directed a wage increase of seven cents per hour for a plant in which average hourly wages were sixty-four cents per hour and starting wages forty-six cents [23] Obviously, many of the workers in the plant were getting more than sixty-four cents per hour, so the desirability of a flat increase to remove substandards was open to some question On another occasion[24] the board directed a "general across-the-board increase of 12½ cents an hour, where average straight time earnings are slightly less than 50 cents an hour." Strangely enough, the starting wage of thirty cents per hour was increased twelve and one-half cents just as was the wage of persons in the higher income bracket, a peculiar application of the principle of removing substandards

Actually, if the general definition of a substandard wage means one insufficient to permit the earner with an average sized family to live at a standard of health and decency, the Board should have set this theoretical minimum well above fifty cents per hour. It is not easy to state exactly what is required in a health and decency standard and the cost of items will vary from one locality to another, but annual earnings of perhaps $1300 that would come from fifty weeks of forty-eight hours at this basic rate would not have provided a decent standard of living during the war The substandard of living doctrine sounded good but was extremely difficult to apply, and it was applied with rather wide variations.

Where there was no other basis for a wage increase, the board could allow one for the purpose of aiding in maintaining war production. One of the early cases of this type of increase was that allowed to non-ferrous metals companies in the Northwest [25] Work in non-ferrous metals plants was not pleasant and the pay was low. For that reason the companies found it difficult to hire or keep labor. A concerted plan was undertaken by several government bodies to obtain labor for the industry The War Manpower Commission restricted the movement of workers from the non-ferrous plants and instituted a drive to recruit workers; the War Production Board

[23] *In re* Mead Corporation, Heald Division (Lynchburg, Va ) and United Mine Workers of America, Local 12244, District 50, National War Labor Board Case No. 60, June 10, 1944

[24] *In re* Postal Telegraph Cable Company and American Communications Association, C I O , National War Labor Board Case No 543, May 31, 1943

[25] *In re* Non-Ferrous Metals Companies and International Union of Mine, Mill and Smelter Workers, C.I O , ten locals, cases decided on October 23, 1942.

closed the gold mines so that their employees could be available for such work, the War Department authorized the furloughing of men who were competent to work in the copper mines. The War Labor Board's part in this plan was to adjust wages upward so that more persons would be drawn to and retained in the non-ferrous metals industry. Under this plan, the board authorized wage increases up to twelve and one-half cents per hour to aid in the procurement of manpower and, thereby, the effective prosecution of the war

About one year later an interesting decision was rendered on the basis of a "rare and unusual" case in which a wage increase was necessary to allow the company to recruit and hold labor [26] In this decision the lowest or starting rate was left unchanged while the rates of labor were raised At the same time it was provided that intra-plant differentials existing before the changes were not to be restored, so that beginning workers were in a relatively worse position than they had been previously.

In a similar vein, in January, 1944, the board approved a decision of the trucking commission to grant an increase of three to four cents per hour to truck drivers in St Louis, even though the raise due under the "little steel" formula already had been given.[27] The situation was referred to as a "rare and unusual" case, but the reasoning in the opinion centered on inter-city differentials in rates paid to truck drivers. Management and labor representatives voted the ruling over the dissent of two public members.

In other cases pleas for a wage increase as a "rare and unusual" need were denied. There was no one clear method of demarking the situations that were "rare and unusual." In general, they were to be certified as such by the War Manpower Commission, but this was not always the case. This basis of increases was perhaps the most vague of all.

## Control of salaries over $5000

Meanwhile, the Commissioner of Internal Revenue had the task of stabilizing the salaries of those whose annual earnings were over $5000 and of *bona fide* executive, administrative, and professional workers even though their income was less than $5000 per annum. The rules by which the task was to be accomplished were much the same as those used by the War Labor Board. This meant that the

[26] *In re* the Boeing Aircraft Company (Seattle, Wash ) and International Association of Machinists, Aeronautical Mechanics Lodge 751, Independent, National War Labor Board Case No 557, September 4, 1943

[27] *In re* Association of Team and Truck Owners (St Louis Operators Committee) and International Brotherhood of Teamsters, Chauffeurs, Warehousemen and Helpers of America, Locals 600 and 725, A F. of L, National War Labor Board Case No. 24-966, Jan 24, 1944

regulations did not apply to enterprises employing eight or fewer workers. Approval of the Commissioner was not necessary for merit or length-of-service increases and promotions or reclassifications or for raises to correct substandards of living, to allow the fifteen per cent provided under the "little steel" formula, or to raise salaries to the minimum of the going rates for similar work in similar plants in the locality. Bonuses were allowed without approval of the Commissioner if the amount or the percentage of the grant was not in excess of the amount or percentage of similar awards in the last accounting year preceding October 3, 1942. State and local governments and the District of Columbia could adjust the salaries of their employees, subject to the authority of the Commissioner, by filing a certificate averring that the increases were in keeping with the program of salary stabilization.

All in all, the salary-stabilization program probably was not so rigidly enforced as that dealing with wages. Certainly under the idea of equality of sacrifice in the prosecution of the war, this was not desirable. However, even the board did not apply its rules with equal vigor at all times, and it is somewhat difficult to follow some of its reasoning. It would have been more desirable to have had a consistent and uniform policy, but with different persons and organizations administering the program under the general control of the Director of Economic Stabilization, it probably was almost impossible to have such uniformity.

### Control of wages in agriculture

On August 31, 1943, the Director of Economic Stabilization gave the War Food Administration the job of stabilizing wages and salaries of agricultural labor. This authority did not extend to salaries in excess of $5000 per annum. Although there were similarities between the manners in which the stabilization of agricultural wages and others were effectuated, there were also considerable differences. Probably the most marked difference in the agricultural stabilization program was the fact that increases in agricultural wages and salaries up to $2400 per annum could be made without approval of the administrator. However, the administrator had the power to lower this upper limit of free movement for certain groups in certain areas. The failure to freeze wages below $2400 was said by the administrator to be justified on three grounds: (1) wages and salaries in agriculture tended to be substandard; (2) a high disparity existed between agricultural wages and those in non-agricultural war work, and (3) the recruitment and retention of agricultural labor was a necessity for the production of adequate amounts of goods.

Officially, the stabilization program in agriculture applied even to employers of one worker. The Director of the Office of Labor in the War Food Administration was empowered to appoint State W.F.A. Wage Boards with authority to pass on applications for increases or decreases in agricultural wages. As noted previously, it was possible to set wage ceilings below the $2400 per annum figure. For such a ceiling to be established, a hearing by the appropriate wage board was to be held. Such meeting could be called on petition from the agricultural employers of a certain area or it could be held on the action of the wage board, but the ceiling could be recommended to the administrator only if a majority of the producers that would be affected so requested. However, even when filed, the recommendations were not binding on the administrator.

An increase in salary or wages higher than $200 per month or $2400 per annum required prior approval of the administrator, as did payment of more than the local ceiling if such were in effect. The burden of proving the desirability of a requested increase was upon the employer. The regulation of farm wages was like that of other types of employment in that increases in wages could not be used as a basis for price relief. Also, wage and salary payments for a certain type of job could not be lowered below the highest rate paid between January 1 and September 15, 1942.

### The effectiveness of wartime wage controls

The stabilization program of the federal government during the war was rather successful. A static condition was not maintained either for wages or prices but they were kept on a surprisingly even keel for the duration of the shooting war. Probably the most effective job was that done on wage rates. Officially, the "little steel" formula stuck during the entire war period; however, as we have noted, there were other bases of adjustment that allowed many instances of increases beyond its figure; as the war progressed, the formula was used less and less frequently as a basis for increases. And by the end of the war it was not a sound basis for wage adjustments since the over-all cost of living stood thirty per cent above the 1940 figure, while for food the increase had been forty per cent.[28]

The fact was that the government had simply made a good try at control, there was no doubt that this was worth while and that it should have been done. But the adherence to the fifteen per cent increase in wage rates and the philosophy advanced when it was first used were not realistic. Clearly, the government did not succeed in holding prices at the April, 1942, level. Therefore, if the

---

[28] *Monthly Labor Review,* July, 1947, Vol. 65, No. 1, p. 124.

purpose of the government had continued to be to allow wage-rate increases paralleling the rise in the cost of living, the situation got out of hand.

This failure to maintain the relationship between wage rates and the cost of living gave workers—especially union men—a strong basis for criticism after the war, at which time large wage increases were demanded. But for the period of the war there was another angle to the story. It has been pointed out that weekly hours of work increased sharply during the war and that most of this added work time was compensated at time-and-a-half. In addition, there was a great deal of upgrading during the war, promotion came rapidly, in part because new and more responsible tasks were learned, and in part because promotions were necessary in order to keep scarce manpower. Therefore, in the early months of 1945 average weekly earnings in manufacturing were about seventy-five per cent above the level of January, 1941.[29] Although it took more work and in many cases greater responsibility to earn their wartime living, most workers were much better off in terms of a standard of living during the war than they had been before.

This improved status was certainly due in part to the stabilization program of the government However, the degree of unionism among workers assuredly also was partly responsible. Many of the raises in the later stages of the war were given entirely voluntarily and would have been requested even without a union, but there is little question that unions did aid in improving the lot of workers during the war.

### Federal wage policy after the war

When the end of the war came near the philosophy of labor and management began to change and the task of wage stabilization became a more perplexing problem. Workers and unions began to think about cutbacks in government orders, with resultant unemployment or declines in the work week that would occur at least during the reconversion period and perhaps for longer. They wanted a free hand to go after wage raises. Management, too, wanted an end to government control and freedom to deal with workers as it saw fit.

The President and his advisors were inclined to agree to the desirability of turning the wage question back to the parties involved as soon as possible. Four days after the Japanese surrender, President Truman made the first move in that direction.[30] In an execu-

---

[29] *Monthly Labor Review*, September, 1946, Vol 63, No 3, p 470

[30] Executive Order 9599, dated August 18, 1945.

tive order he declared it to be the policy of the government to exercise the controls necessary to prevent inflation or deflation while making any practical changes in controls necessary for an orderly transition from war to peace. Section IV is of the most interest to those surveying wage stabilization; it provided:

"The National War Labor Board, and such other agencies as may be designated by the Director of Economic Stabilization . are authorized to provide that employees may, through collective bargaining with duly credited or recognized representatives of the employees involved or, if there is no such representative, by voluntary action, make wage or salary increases without the necessity of obtaining approval therefore, upon the condition that such increase will not be used in whole or in part as the basis for seeking an increase in price."

The order also directed the approval of increases that were necessary "to correct maladjustments or inequities which would interfere with the effective transition to a peacetime economy"

Government approval was still required for increases that would necessitate a price increase. In a subsequent clarification[31] it was provided that, after a trial period of six months, a wage increase could be used as a basis for price relief if the experience of that period had shown a necessity for such increases in price

The board announced in December, 1945, that the cost of living had increased thirty-three per cent since January, 1941. Therefore, the principle on which wage increases were to be allowed under the new regulations, even though such rises would affect price ceilings, was to allow a thirty-three per cent increase in wage rates above those prevalent in January, 1941.

On December 31, 1945, the National War Labor Board ceased to exist, however, its personnel and functions were inherited by the newly created National Wage Stabilization Board.[32] As events developed, the latter was only an agency for closing up the government's wage-stabilization shop, although it was supposed to reinvigorate wage stabilization. It retained the same general form and organization as its predecessor and began to work under the same principles. However, these were soon softened. Executive Order 9697, dated February 14, 1946, and supplementary regulations issued thereunder by the Economic Stabilization Director permitted wage increases for the following reasons, even though they might require price adjustments: (1) increases to make wage rates consistent with the wage pattern in the industry or local area, (2)

---

[31] Executive Order 9651, dated October 30, 1945

[32] Executive Order 9672, dated December 31, 1945.

increases to correct gross inequities; (3) cost-of-living increases necessary to aid in the effective transition to a peacetime economy, (4) increases to correct substandards of living, and (5) increases falling within standards in effect prior to August 18, 1945.

In this plan there were several ameliorating changes. One was the approval of increases to bring rates in line with the general wage pattern. The "gross inequities" basis thus was broadened to allow correction of gross inequities between related industries in a locality or in a larger area.

General Order 1 of the Stabilization Board, effective February 21, 1946, allowed employers to give wage increases until March 15 without prior approval if they in turn filed their request for price relief within thirty days after the wage boost was first reflected in payrolls A few months later this was made a continuing opportunity for employers wishing to raise wages

In the summer of 1946 Congress refused to extend the existing price control act. A few weeks after the law had been allowed to lapse it enacted much weaker controls Since the only effective way of applying wage controls was through restrictions on the adjustment of price ceilings, the experiment was for all practical purposes dead. The board continued to issue statements and to take official action, but these were of little importance, and the body came to a legal end in the winter of 1946 [33]

Actually, the Wage Stabilization Board added little of positive value to the story of government wage controls. Although the War Labor Board had to combat considerable public opposition, it was nothing like that which faced the Wage Stabilization Board War is a great coordinator of national goals and ideals, in peace, regardless of the degree of crisis that may face the nation, the same degree of coordination is difficult if not impossible to obtain. That was the problem of the new board It is clear that, from the standpoint of the most orderly reconversion, controls were removed too quickly However, it is equally clear that if the government was going to default in its stated aim of stabilizing prices and cost of living there was no sound basis for retaining strict controls over wage rates

It may be argued that if wages had been kept under control prices would not have gone so far out of line. The validity of this argument would vary widely from plant to plant and industry to industry, depending on the percentage of total costs made up of wages, the amount of profit being taken, the reducibility of other costs, and so forth However, there were many instances of price rises during the postwar period that seemed to be more than just sufficient to

[33] Executive Order 9809, dated December 12, 1946 Previously all wage and salary controls had been abolished by Executive Order 9801, dated November 9, 1946.

cover the added costs of higher wages. Coming years will yield some information as to the extent of profit taking after the war, the general level of profits, however, has shown itself to be high, probably excessive in many instances Failure to control wages after the war gave a convenient talking point to explain many, perhaps most, price rises; it did not by itself ruin our economy The complete failure to continue adequate stabilization during reconversion did cause much hardship to the public that need not have been endured had the nation not been so anxious to "get back to normal."

## Questions

1 Was it economically wise to attempt a strict control of wages during the war period? Why or why not?

2. Was it economically wise to abandon wage and price controls after the war as rapidly as was done? Why or why not?

3 How sound and reasonable were the bases on which wartime wage increases were permitted? Why do you believe each reason sound or unsound?

4 What is the relationship between wage rates and manpower supply? To what extent should manpower-supply problems have influenced board rulings on wage-rate increases?

5. The War Labor Board had authority only over wage rates. As an anti-inflation measure, what was the major weakness in this restriction of authority to rates?

6 What is your reaction to the wartime policy of limiting net salaries to a maximum of $25,000 per year? Explain.

## Chapter XXIII

# CIVILIAN MANPOWER PROBLEMS AND CONTROLS

### The growth of the war manpower problem

Another type of wartime labor problem that was fully as complex as labor-dispute settlement or stabilization of wages was that of manpower.[1] It included problems of allocating manpower to military and civilian occupations, influencing, if not determining, in what civilian industries persons should work, ensuring the use of labor reserve groups such as women, retired persons, racial minorities, and the like, and ensuring efficient utilization of civilian labor. In view of the fact that manpower problems were to such a large extent local problems, the development of a national manpower program turned out to be quite a knotty dilemma.

The manpower shortage developed slowly and did not assume a serious complexion until after the start of the war. Although there had been rapid increases in production and employment in 1940 and 1941, we entered the war with nearly four million persons still out of work. Even with that amount of unemployment there still could be very real manpower problems in certain areas, such as recruiting enough labor for a new plant or facility or training persons to do new and different jobs However, despite the local situations that were developing, we entered the war with the national manpower problem still in a relatively easy condition. This situation changed rapidly.[2]

Between December, 1941, and April, 1942, stepped-up production and conversion to war goods and the drafting of workers into the armed forces began to have their effect. By the spring of 1942 manpower requirements had assumed such large proportions, claims on the nation's manpower resources had become so competitive, and so many different governmental agencies were assuming authority

---

[1] This chapter confines itself, in so far as a separation can be made, to civilian manpower problems and controls The power of selective service and the actions that it undertook were on an entirely different basis from those taken in trying to solve civilian manpower problems

[2] Much of the information used herein was drawn from unpublished manuscripts, reports, and studies in the files of the writer, who worked with the Manpower Commission prior to entering the armed forces These sources are not cited

over segments of manpower policy, that there was a clear need for a single governmental agency to be responsible for the mobilization, allocation, and utilization of the nation's manpower.[3]

### Creation of the War Manpower Commission

Recognizing these facts, the President acted in April, 1942, to create the War Manpower Commission.[4] Under his order, a commission was set up under the chairmanship of the Federal Security Administrator, Paul V. McNutt, composed of representatives of the War, Navy, Labor, and Agriculture Departments, the Selective Service System, the Civil Service Commission, and the War Production Board. Thus, a place was allowed on the new commission for each of the agencies that would be directly affected by an integrated manpower program.

The chairman was the only person of the commission who devoted his full time to developing and applying a national manpower program. In order to do this and to carry out the functions prescribed in Order 9139, a considerable staff was assembled to do the research and spadework on the development of policies and to administer them once they were approved. The function of the commission was to deliberate on the broader aspects of national manpower policies and to represent the interests of other agencies that might be infringed upon by a certain manpower policy. To cite two hypothetical examples, the Selective Service System would have been greatly interested in a proposed policy that only males between the ages of eighteen and forty years be used in the shipyards Or the Labor Department would have objected to a plan to develop in the Manpower Commission a dispute-settling agency on the grounds that labor disputes were wasteful of manpower. Beyond representing the interests of other agencies, the members of the commission were also able to provide a greater degree of coordination between the commission and these agencies than probably would have existed without their being allowed to sit on it and to aid in determining and being acquainted with manpower policies.

The order creating the War Manpower Commission directed that it do the following:

"a Formulate plans and programs and establish basic national policies to assure the most effective mobilization and maximum utilization of the Nation's Manpower in the prosecution of the war, and issue such policy and operating directives as may be necessary thereto.

---

[3] For a brief survey of the history of the W M C see "The Activities of the War Manpower Commission," U S Employment Service, Department of Labor. Washington, D C, December 31, 1946

[4] Executive Order 9139, dated April 18, 1942

"b. Estimate the requirements of manpower for industry, review all other estimates of needs for military, agricultural, and civilian manpower; and direct the several departments and agencies of the Government as to the proper allocation of available manpower.

"c. Determine basic policies for, and take such other steps as are necessary to coordinate the collection and compilation of labor market data by Federal departments and agencies

"d. Establish policies and prescribe regulations governing all Federal programs relating to the recruitment, vocational training, and placement of workers to meet the needs of industry and agriculture

"e. Prescribe basic policy governing the filling of the Federal Government requirements of manpower excluding those of the military and naval forces, and issue such operating directives as may be necessary hereto.

"f. Formulate legislative programs designed to facilitate the most effective mobilization and utilization of the manpower of the country, and, with the approval of the President, recommend such legislation as may be necessary for this purpose."

As a nucleus around which to build the new commission, the Executive Order transferred to it the portion of the Labor Division of the War Production Board that had been doing labor-supply work, the Civil Service Commission's National Roster of Scientific and Specialized Personnel, and the Office of Procurement and Assignment of the Office of Defense Health and Welfare Service. This left the U S. Employment Service and the Selective Service System outside the commission

Since the commission had the job of gathering a staff prior to embarking on most of the above program, its first months were marked by relatively slow development. Its task was to coordinate and direct the relevant functions of various government agencies concerned with manpower aspects of the war program. But the original order left the commission in a very weak position in that it controlled none of the more significant agencies that were active in mobilizing, training, and placing the manpower of the nation. Consequently, before its first year had ended it went through two reorganizations that gave it more direct control over needed functions. The first of these moves[5] gave the chairman the job of directing the United States Employment Service, the National Youth Administration, the Apprenticeship Training Service, and the Training-within-Industry Service. With these agencies as parts of the commission it was possible to do a better job of controlling the placement and training of workers in a manner in keeping with national needs.

There still was a big need for a change in the commission. The

[5] Executive Order 9247, dated September 17, 1942

Selective Service System was busily engaged in withdrawing millions of men from our civilian labor force, there was a coordination of efforts between the two agencies, but it left much to be desired nevertheless. To take care of this situation and make other improvements, the President issued another executive order directing still further changes in the commission [6] By this order, the Selective Service System became an integral part of the commission Voluntary enlistments in the armed forces were banned, and the chairman of the W M C. was given complete authority over the recruiting and hiring of workers. The order also modified the composition of the commission; henceforth it was to include representatives of the War, Navy, Agriculture, and Labor Departments, the Federal Security Agency, War Production Board, Civil Service Commission, National Housing Authority, and a joint representative of the War Shipping Administration and the Office of Defense Transportation.

In this order the W.M.C. reached essentially its final form and composition.[7] It now had control of the more important agencies that were interested in the organization of the labor market, allocation to civilian and military needs, and the training of those who needed training. The commission's job was no longer a matter of coordinating the action of independent agencies, but rather of directing the activities of agencies under its supervision.

### The development of manpower policies

From the outset it was clear that in order to meet the manpower requirements of the armed forces and the munitions and other essential industries, the commission had to plan for an expansion in the size of the labor force and a reallocation of groups within that enlarged labor force This expansion and redistribution could not be effectively guided without a comprehensive and accurate body of information concerning the location and qualifications of the nation's manpower reserves. The success of recruitment, allocation, and training efforts depended in large part on the adequacy of labor-supply information; therefore, during its first year those directing the actions of the commission's employees made special efforts to strengthen and expand existing labor market reporting practices as a basis for program planning.

Expansion of the labor force necessitated the development of a threefold program: (1) special efforts had to be made to recruit new entrants into the labor market, (2) whenever necessary, these new

[6] Executive Order 9279, dated December 5, 1942

[7] The Selective Service System, however, was restored to its independent status, as of December 5, 1943, by Public Law 197

entrants had to be trained adequately to meet the employers' minimum job specifications; and (3) employers had to be convinced of the necessity of lowering entrance specifications and of diluting their customary work force with the largest possible number of inexperienced and unskilled personnel.

Redistribution of persons in the labor force involved the transfer of millions of workers from non-essential to essential activities, as, for example, from work in a cosmetic plant to work in an aircraft plant. Much of this transfer was automatic, induced by restrictions in many civilian industries and by the higher wages offered in most cases by war contractors. However, it was necessary to do comprehensive planning to get those who shifted jobs into the proper kind of work. Furthermore, the loss of seniority rights, the need of moving the family or living apart from them, the necessity of learning new tasks, and similar obstacles discouraged many transfers. Overcoming these reasons for reluctance to transfer also required much planning

Although not strictly a manpower problem, the absorption of the unemployed was not without some bearing. During 1942, for example, the number of unemployed dropped from about four million to one and one-half million.[8] Most of the remainder were the less desirable workers who had been out of a job for a long time They required much training to make them reasonably satisfactory and productive workers again. Transference of workers to more essential jobs also intensified the training job In the early stages of the war, in particular, the training function had a heavy load put upon it.

Another problem faced the commission early in its operations. Serious shortages of manpower developed in some local areas at the same time that large numbers of unemployed remained in others This arose out of the fact that not all areas of the country developed a tight labor market equally quickly, despite efforts to expand the labor force at the pace necessary to meet production and military requirements and despite efforts to direct the unemployed and new entrants to areas of labor demand. Throughout the first year shortages became progressively worse in many areas of intensive war production activity. In others surplus labor accumulated, and in still others available reserves were absorbed slowly Within the areas, shortages that at first were confined to highly skilled occupations, such as tool and die making, widened by the end of the war to encompass a wide variety of less skilled and even semi-skilled occupations In some areas shortages became so widespread as to include

[8] War Manpower Commission, *Manpower Statistics*, p 1 Washington, D C. U S Government Printing Office, December, 1942

all male labor regardless of the level of skill. By the time the commission was established in April of 1942 there already were acute shortages of male labor in a number of areas. The number steadily increased up to the end of 1943.

High wages, long hours of work, at overtime pay, plus the commission's efforts brought great influxes of workers into war production centers. Population shifts of this sort, while inevitable because of the geographic concentration of production, created serious situations that were not entirely problems of manpower but which affected labor turnover and other factors that indirectly affected manpower. The strain put on community facilities, such as housing, schools, transportation, and retail outlets, was so great that many families refused to go to or stay in the centers of war production. This situation emphasized the necessity of utilizing all labor reserves already within a locality: women, minority groups, handicapped workers, retired workers, and youths. Employed persons who did not want to give up their seniority rights on some regular civilian job could be used on a short shift of perhaps four hours.

The relative scarcity of workers in many areas suggested still another approach to the problem. That was to influence the allocation of contracts so that, where it was possible to do so, new ones would not be granted to plants located in the extremely tight labor-market areas.

Before the development of the stabilization program, and even to a considerable extent thereafter, labor pirating, that is, enticing away workers already employed, became a problem. As reserves of labor were depleted, many employers resorted to competitive bidding to attract workers. The wide age differentials among establishments, industries, and areas contributed much to the instability of the labor force; high rates of turnover were prevalent where workers were allowed freedom to move about from job to job.

Toward the end of 1942 the need for full utilization of manpower began to present more of a problem. Cost-plus contracts and employer concern over scarcities of labor encouraged labor hoarding in some plants, with a resultant wastage of manpower. Since this practice decreased the pool of labor available to war industry as a whole, it became necessary to urge and persuade employers to retain only those workers who could be effectively utilized, so that the *bona fide* manpower needs of all industries might be kept in a reasonable relationship to production requirements.

Within this framework the War Manpower Commission had to formulate policies for dealing with manpower problems and programs of action to carry the policies into effect. A manpower program had to be a statement of action or alternative actions to be

taken under varying conditions. The course of action that was pursued was determined in large part by purposes or objectives established as a result, not of the beliefs of manpower authorities, but of national policies made necessary by the war Since the conduct of the war was so dynamic and there were so many eventualities for which we had to plan, a wide range of techniques and devices had to be developed, weighed, and held in readiness to meet emerging situations. Thus, military successes or reversals, executive orders, the letting of contracts, and wage and price controls all affected, and in good part determined, the manpower program, although the manpower program also affected these factors. Moreover, a variety of techniques and devices had to be evolved, since the national labor market is really a network of interrelated but extremely diverse local markets. Thus, the commission had to make the best possible assumptions as to future events and plan on that basis.

The programs and policies that the W.M.C. developed to meet these many problems rounded into a far-reaching program of controls The commission tried to stick as nearly as possible to voluntary methods of handling controls, but it will be seen that it was not possible to do this in all cases.

Every wartime government organization of any size probably would have indicated a desire, if asked, to keep the functions of its Washington office and staff at the minimum consistent with coordinating the activities of the field staff and keeping them in line with national policy. In general, that was the purpose of the Washington office of the Manpower Commission. It set up a regional organization embracing twelve regions, each with its own director and Management-Labor War Manpower Committee Since the Employment Service was organized on a federal-state basis prior to its absorption by the federal government, there was a nucleus of a state organization that also was used in some of the functioning of the commission. Finally, there were in many of the tighter labor-market areas, area directors and Area Management-Labor War Manpower Committees.

As has been said, one of the big jobs of the national office was the development of policy and the coordination of field activity. Although local labor-market problems had to be handled locally, there were other functions necessary to the development of a manpower program that were best handled at Washington. It was necessary to formulate broad general policies and programs for the consideration of and possible application by officials of the Manpower Commission's regional and area offices. In order to formulate such policies, it was necessary to secure information from field and area offices and from the United States Employment Service offices on the prob-

lems they were encountering and the methods that they used in dealing with various situations.

In the War Manpower Commission this function was performed by the staff of the organization In order to make the work of the organization as realistic and as useful as possible to other government agencies, to employers, and to labor, questions and policies of national importance were developed through conferences and discussions with various government bureaus and the National Labor-Management Policy Committee, representing employers and employees throughout the nation. From the information and deliberation outlined above evolved national policy.

**The operations of the War Manpower Commission**

We have indicated that because of the local nature of most manpower problems the War Manpower Commission, in dealing with the matters outlined in the preceding pages, in large degree decentralized responsibility to its field organizations, giving them power to adapt national policies to local needs Regional directors were given broad authority for the execution of War Manpower Commission policies and activities in their regions. Area directors, responsible to the regional directors, were authorized to direct and coordinate the work of the commission in their localities By April, 1943, twelve regional directors and over one hundred area directors had been appointed. Eventually, in all important labor-market areas joint management-labor committees were established by regional directors at both regional and area levels. Regional committees advised the appropriate directors on application and development of policies in their region, reviewed the recommendation of area committees and directors, and rendered assistance in situations that were beyond the scope of the area committees.

In addition, the primary operating arm of the commission, the United States Employment Service, operated through full-time offices in about 1700 communities and part-time branch offices in nearly 500 more. Those offices faced a wide variety of circumstances and operated with a considerable degree of decentralization

An important prerequisite of effective manpower mobilization and utilization is the securing of adequate information. Early in its history the commission made rapid steps forward in laying plans to gather information Measures were taken during the first year to ensure that workers would be classified accurately on the basis of grade and skill so that long-range employment forecasts could be made. To complement this information, data were sought on the numerical and occupational manpower requirements of new and

converted war plants as well as total requirements of all essential industry. These data made possible more adequate plans for recruitment and training.

In doing all this, the Employment Service, prior to its incorporation in the commission, began a series of studies of the occupational composition of various plants. These studies were carried on and expanded into plant and industry "manning tables," which indicated the normal percentage of workers of various categories in different plants. By use of such tools, an idea could be gained of whether an employer was hoarding or was unknowingly overstaffed with respect to some particular type of labor.

Another type of needed information was supplied by the designation of occupational "families." These listed various jobs in different industries that were similar in their required skills and abilities Use of such data facilitated the transfer of workers from non-essential to essential industries and was likely to make such transfers more productive and satisfactory.

One of the early problems before the Manpower Commission was to decide how to distribute manpower when the supply was not large enough to meet all demands, a condition found in an increasingly large number of labor markets. It was clear that efforts should be concentrated toward supplying labor to essential employers when there was not enough to go around. The first problem, therefore, was to determine which industries were essential and which were not. In some instances there was no problem; the building of such items as tanks, airplanes, and ordnance materials was clearly essential. But many cases were not so clear-cut. What of a laundry for instance? Without laundry service some women who might otherwise work in war plants would not do so, or, if they did, would be absent frequently, thus disrupting production around the spot where they worked Acceptable cafeteria or restaurant facilities are another example of the same general sort.

Therefore, the first step, generally, in determining priority of referrals of available manpower was a series of decisions on the relative importance of war activities and war-supporting activities. Once such decisions were made, the next problem was to determine the necessary volume of work to be done

Experience under this system of priority services demonstrated the need of servicing the whole labor market Access to the total labor supply was hampered by restriction of any part of the employment service's field of operation. Hence, on March 26, 1943, service priority was given also to "locally needed" activities.[9] This al-

[9] United States Employment Service Operation Bulletin No B-29 was superseded by Operation Bulletin No B-66, March 26, 1943

teration in policy recognized the desirability of rendering complete service to employers engaged in both essential and less essential activities, and directed the local offices to provide as much service as staff time would permit to less essential employers

In addition to the general needs for manpower recruitment for industry, the requirements of some industries were met by specialized offices servicing them alone, such as the Central Aircraft office in Los Angeles and a central office for the referral of shipyard workers at Wilmington, California. Special offices to accelerate the recruitment of women were also established in Baltimore, Buffalo, and Cleveland.

The existence of varying degrees of tightness in labor-market areas has already been noted Appreciation of this led the commission to begin classifying areas as to their relative tightness and in the fall of 1942 to make recommendations to the War Production Board as to whether or not contracts should be awarded or renewed in certain regions Areas were classed from Group I, the tightest, to Group IV, the least tight Although in many cases the concentration of industrial facilities made it impossible to throw contracts into the easier labor-market areas, the work did have good results, after the plan went into effect there were fewer contracts placed in the extremely tight areas, but the success of the plan was indeed limited.

### The utilization of manpower reserves

One of the big jobs of the commission was that of encouraging reserve groups to come into the labor force and of persuading employers to use them. This was not always accomplished easily, the woman who had spent many years as a housewife found it difficult to bring herself to attempt to continue that job and work in a war plant as well. And many an employer, faced with the necessity of changing jobs and equipment so that women could do the work, was reluctant to try it. Similarly with handicapped workers; the idea of hiring those who came into the plant with a cane or on crutches was novel.

As the labor market became tighter and more and more people were withdrawn to go into the armed forces, the doubts of employers faded. However, even though they became amenable, it still was not always possible to hire women or other reserve groups. The problem of the commission began to be predominantly one of recruiting an adequate number of women to meet the growing demand To promote the orderly entrance of women into the labor market, the W.M.C, on October 17, 1942, issued a general policy statement on the recruitment, training, and employment of women

workers. The stated principles were as follows. (1) qualified women who were employed and registered in local offices of the United States Employment Service were to be referred to employment and training on a basis of equality with men, whenever physical requirements and other conditions permitted. (2) women without children under fourteen years of age were to be actively recruited for employment and training, while women with young children but desiring employment were also to be considered (active efforts to recruit from the latter group were to be postponed, however, until other resources of workers had been exhausted); (3) reserves of female labor were to be fully tapped before "in-migration" from other areas was sought.

Women's recruitment centers, the use of itinerant local office interviewers, intensive education and information campaigns (using press, radio, and community groups), house-to-house canvassing, and other measures all were tried as methods of recruiting under the principles outlined The campaign succeeded in that many women were added to the labor force, the number entering the labor market between March, 1942, and March, 1943, for the first time was nearly 2,000,000, with over ninety per cent going into non-agricultural occupations The success of this recruitment depended in large part on the severity of local labor shortages

Negroes constituted another large reserve of labor for which concerted efforts were expended to bring about adequate utilization During peacetime, when there was plenty of labor available, it was not uncommon to find discrimination by unions, employers, or unorganized groups of workers. This, plus long-standing tradition, meant that in many places of employment Negroes were hired for the hot, heavy, dirty, and unskilled jobs. The same prejudice and traditions carried over into the war period, and it was not unusual for an employer to cry that his production was being held up because of a lack of manpower while failing to utilize fully every available type of labor in all types of jobs [10]

Recognizing these facts, the President, in June, 1941, established a Committee on Fair Employment Practice [11] Its function was by persuasive means and not by force to encourage the full participation of all groups in the defense—and later war—effort. It had the power to investigate complaints and urge compliance, but could go no further. The committee was transferred to the War Manpower Commission with the proviso that it be retained as an organizational entity. Later it was reorganized as an independent agency,[12] but its functions remained essentially the same

---

[10] For examples see *Manpower Review*, December, 1943, Vol 10, No 12, p 5

[11] Executive Order 8802, dated June 25, 1941

[12] Executive Order 9346, dated May 23, 1943

Partially as a result of the F E.P C. and partially owing to the continuous tightening of the labor market in many areas, the practice of discrimination against non-whites declined Probably the practice of the Employment Service of refusing to serve employers who were known to discriminate had a beneficial effect in cutting down the extent of the practice However, the results of the committee action were not long-lived. With Congress unwilling to enact a fair employment practice law or to appropriate money for the wartime expedient, it ceased to function. Certainly the committee helped to cut down discrimination during its lifetime, probably it left some residue of added tolerance with many people However, in the postwar period there still are many instances of racial discrimination.[13]

The training function of the commission was one that offered, to those interested, courses ranging from pre-job training for a completely inexperienced person to a part-time, on-the-job course to improve the work of foremen and supervisors[14] Some of the programs were out-of-plant training for totally inexperienced persons such as children, women, or white collar workers preparing to take a war job As the labor markets got tighter, it became more difficult to recruit trainees for unpaid pre-employment training. By early 1943 the number taking such courses was dropping sharply, and many of those enrolled were participating on a part-time basis while keeping their regular job This did not reflect a drop in over-all training work being done, but only a shift of the job into the plants where the trainee was paid while learning. The courses were adapted as much as possible to the needs of the employees, but except for training aids within the plants they were well past their peak by mid-1943.

A final big job of the commission was that of encouraging the efficient use of manpower. In the early stages of the war there was much talk, and with reason, about hoarding and underutilization of labor As long as such practices existed, it hardly made sense for the commission to urge that women leave their homes to take up industrial jobs, that certain community services be curtailed, or that foreign labor be imported Although there had been work done on utilization earlier in the history of the commission, it was not until 1943 that a Bureau of Manpower Utilization was set up. In addi-

[13] There were many other groups of "labor reserves" that the commission worked hard to "sell" to employers However, their number and relative unimportance in the national picture preclude their discussion here For a consideration of these various reserve groups see *Manpower Review*, June, 1943, Vol. 10, No. 6, *passim*

[14] Six agencies functioned in the training program Vocational Training for War Workers, National Youth Administration, Engineering, Science, Management War Training, Rural War Production Training, Apprentice Training Service, and Training-Within-Industry.

tion to making the activities listed above, such as asking housewives to go into the war-plants, more reasonable, more effective use of manpower lessened the need for additional workers and cut some of the need for such extreme measures.

The work of this bureau was almost entirely a non-compulsory type of service rendered to employers. A relatively small corps of industrial consultants was employed whose members were available to make surveys of manpower utilization practices in various plants and advise on methods of improvement Most of this work was carried on in the field by employees from the regional offices, although a few specialists were sent out from the national office when the situation so dictated[15] The Bureau of Manpower Utilization had a function to perform that was potentially as important as any in the commission However, the tardy organization of the bureau and the heavy reliance on entirely voluntary methods kept it from fulfilling its task as well as might have been hoped

Despite all efforts to meet manpower needs, it was almost impossible to keep adequate numbers of workers in some types of low-paid, hard work. Some help in filling quotas for maintenance-of-way work on the railroads and for agriculture was given by the importation of workers from Mexico and some of the Caribbean islands Such workers had to be brought in under special agreements and rules and for limited periods of time. Between May and August, 1943, more than 15,000 Mexicans entered this country, largely for work in the Southwest.[16]

The foregoing section has sketched the parts of the program of the War Manpower Commission that relied on voluntary compliance. Probably no other government wartime program that went so deeply into everyday life made so much of a fetish of talking or cajoling people into doing what was wanted of them Urging a housewife to accept a factory job or a store clerk to drop his seniority and take a job that obviously was temporary in an aircraft plant reached rather deeply into habits and customs that were not quickly changed, in some cases more than a habit was involved A vested interest in a job, based on length of service, is an important right, to older workers in particular.

### The development of quasi-compulsory methods

The commission gradually found that in areas where labor markets were particularly tight it took more than voluntarism to do a good

[15] For a summary of various aspects of the utilization program see *Manpower Review*, October, 1943, Vol 10, No 10, articles by Frank H Sparks, Eugene G Bewkes, Carroll L Shartle, Rhea Radin, John J Skelly, and others

[16] "Mexico Helps War Effort of Our Railroads" *Manpower Review*, December, 1943, Vol. 10, No 12, p 10

job of manpower mobilization and utilization. Throughout all its existence the national office maintained an official position of favoring those methods that were acceptable to the people. But in local areas and on the entire west coast, where extreme shortages of labor made the manpower situation especially acute, there were moves away from voluntary methods. An examination of a few of these plans will show the type of controls that were imposed when the going became too rough to depend on voluntary cooperation.

Although not so inclusive in the manpower utilization practices covered, the establishment of the minimum wartime work week was a good example of sweeping, mandatory regulation of manpower policies In February, 1943, the President directed [17] that all plants and facilities must, if they were to be deemed as making full use of their labor force, schedule a work week of at least forty-eight hours. The War Manpower Commission was given the job of determining all questions of interpretation and application of the order. The chairman was allowed to prescribe a longer or shorter work week if he decided that such an exception would allow the business to contribute more effectively to the war effort.

Shortly after the appearance of the executive order the chairman issued the first general regulation concerning the interpretation and application of it. In the regulation it was provided that the minimum week of forty-eight hours would be applied to labor-market areas and to activities (industries or parts of industries). In the beginning, the chairman listed certain areas or industries to which the minimum week was applicable, thereafter, he or the regional directors could extend the required work week to other areas or industries. Unless and until an area or industry was designated as subject to the order, the employers therein were not required to lengthen their work week.

The minimum wartime work week was defined as a scheduled work week of forty-eight hours except where such (1) would have been impractical owing to the nature of operations, (2) would not have contributed to the reduction of labor requirements, or (3) would have conflicted with any federal, state, or local law limiting hours of work. In such cases, the minimum week was the greatest number of hours less than forty-eight that was feasible in the light of the operations, reduction of labor requirements, or law that made the longer week impracticable.

The extension of the work week to new areas or activities was somewhat touchy in the sense that a longer week might in some cases cause the release of workers to the ranks of the unemployed In view of this fact, it was directed that a study of the effects of the

[17] Executive Order 9301, dated February 9, 1943

longer week be made prior to its application. If it appeared that no workers would be released, the application was to go into effect at once. If it appeared that there would be workers released who could be placed promptly in suitable work, then the longer work week also should be put into effect at once. If the survey indicated the probable release of workers who could not be placed at once in suitable work, a schedule of gradual extension of the work week was to be drawn up by the employer; on approval by an authorized representative of the commission, the week would be extended to schedule, while the Employment Service sought to place the persons released.

The enforcement of the executive order and the regulations issued under it was centered in one provision. No employer could "hire any worker in an area or activity designated as subject to the provisions of Executive Order No. 9301, if the employer . . . failed in any manner to comply with the provisions of . . . these Regulations in the plant, factory or other place of employment in which the worker would be employed." An employer was not deemed to be utilizing his workers efficiently if they were scheduled for less than forty-eight hours of work per week; and if he was not using his labor force efficiently he had no right to hire more workers. If he needed more labor he should get it by extending the hours of work of his present employees. The regulation was specific on the point; he was not to hire more workers until he put his own organization in order.

Of course, it was not possible to apply such an order to every employer. The following were exempted: (1) places in which fewer than eight persons were regularly employed; (2) any place of employment principally engaged in agriculture; (3) states and their political subdivisions; (4) youths under the age of sixteen; and (5) individuals who because of other employment, study or training, household duties, or physical limitations were not available for full-time work.

The regulation was applied in critically tight labor-market areas all over the country. It was applied to the basic steel industry in the face of strong protests by steel men. It was estimated that in that one industry alone the order resulted in the release of 50,000 workers for other war production work.

A more sweeping and inclusive compulsory manpower program was developed on the west coast in the summer of 1943. That general region, especially the areas around San Diego, Los Angeles, San Francisco, Seattle, and Portland, had an extremely heavy concentration of aircraft and shipbuilding, the shortage of labor was critical and it seemed impossible to fulfill all the war production quotas set

but there were extremely high turnover rates and excessive labor hoarding and underutilization, all of which intensified the seriousness of the situation. In the summer of 1943 it was estimated that a minimum of 200,000 more war workers would be needed by the end of the year[18] It was impossible to bring that many more persons into the area; housing and transportation facilities, schools, hospitals, and other community services could not stand the strain. Much of the labor had to be found right at home.

Since voluntary methods had not succeeded in solving the manpower problem in the area, steps were taken to lay down compulsory rules and regulations. The War Production Board and the War Manpower Commission collaborated in developing the West Coast Program, since the problem of production was so closely tied into the picture. The plan developed was based on two assumptions. that manpower could be made available locally and that the volume of production could be maintained on the west coast.

The key organizations in the program were Area Production Urgency Committees and Area Manpower Priorities Committees set up in each of the five critically tight urban areas mentioned above. The composition of each is not important, but they were made up primarily of officials of important war agencies of the federal government located in that area

The first job to be done was to rate the relative urgency of production of various goods in the local area. For example, was aircraft, ship repair, shipbuilding, or some other activity the most urgently needed production? Once these ratings were made it was necessary for the Manpower Priorities Committees to translate them into labor requirements. These requirements and the priorities allocated had to take into consideration, aside from production urgency, the amount of production lag if any, utilization of labor, hoarding of labor, personnel policies, and so forth.

With the knowledge available, it was possible for the Manpower Priorities Committees to set employment ceilings stating the largest number of workers that a certain employer was allowed The ceiling might put an employer in any one of three classes: I, in which the present labor force was below ceiling and the employer might hire more persons (for these employers priorities of referral had to be set); II, in which the current labor force was at the ceiling and the employer was allowed to hire only replacements, and III, in which the labor force was over ceiling and from which plants the employment service could actively recruit workers to refer to other employers (workers employed in such plants could get statements of availability enabling them to move to jobs with higher priority).

[18] "West Coast Manpower Program." *Manpower Review*, November, 1943, Vol. 10 No 11 p 3

All establishments permitted to hire workers were to hire only from those referred to them by the Employment Service, or other channels approved by the W.M.C., such as a trade union or the Civil Service Commission No longer was the employer allowed to hunt around for his own labor supply and entice it with high wages if he could do so. In making referrals, the Employment Service was required to give attention to a worker's highest skill as well as to the urgency of the employer's need The ideal situation was to refer a worker to the employer with the highest priority rating who had a job open that would use the worker's highest skill If this could not be done, then the task was to balance worker skill in certain available jobs against the relative urgency of employers' manpower claims.

It was noted that the effectiveness of manpower utilization was considered as a factor in determining the relative priorities of different employers In addition, manpower utilization surveys and programs were an integral part of such work. Surveys were begun on the request of management or on the motion of appropriate government agencies The principal aims were to cut labor hoarding, underutilization, absenteeism, and turnover, and to improve personnel and production techniques.

Limitations were put on selective service withdrawals in plants with higher priorities. When all of the above measures failed to supply enough labor power, then the recruiting of women and others was sanctioned The plan as outlined for the west coast was the most drastic manpower program coming from the war It did not work in practice as well as it did on paper, but it did much to solve the manpower problems of the area. Of primary interest, however, is the degree of compulsion that was woven into the plan Employers told the number of workers they could hire and workers limited in their choice of jobs was a new departure.

Programs similar to that of the west coast but much milder were introduced in many local labor-market areas as their situation became acute. These local programs were adaptations of standards and controls issued for the local areas by the Washington office. While there were wide variations, the plans were basically similar to the controls developed for the west coast and other pioneering local plans. They included restriction of movement of workers from one war job to another without a release from the first employer, restrictions on hiring by individual employers, plans for discouraging migration into the tight areas, and plans for improving the effectiveness of labor utilization

In good part, the development of local programs instead of any sort of nation-wide program was due to the insistence of the National Management-Labor Policy Committee that whenever possible local

problems should be solved locally. These local plans ranged from informal discussions and agreements to formalized and rather tightly drawn programs Their effects were varied, but it was clear that many of them were genuinely helpful. The fact that in many of the areas there was a reluctance to include stringent controls detracted from their effectiveness Even during the war the value judgments of much of the public, management, and labor were such that they held on to individual freedoms at the expense of effective operation. Although there was some danger in relinquishing any right or liberty, even in wartime, too strict adherence to standards of value and behavior built up in peacetime was not in the interest of the most effective prosecution of the war.

### The value of the manpower program

By the end of 1943 the nation's manpower problems had reached their peak of acuteness and the programs followed by the commission were rather well defined and were not to change basically. One reason for the predominantly voluntary program followed by the commission was the attitude of the President, clearly seconded by Chairman McNutt, that there should be no legislation that enabled the government to order all persons in the nation into civilian jobs in which they were needed, that is, national service legislation [10] The absence of any means of compulsion put the officials of the Manpower Commission in a rather difficult position. War Labor Board officials had executive orders and, later, legislation back of them in their resolving of wage questions. But except for the executive order on the minimum wartime work week, the manpower officials had no such backing They were forced, therefore, to use those regulations and policies with which labor and the public would agree, and in a nation that encourages an economic individualism as much as does the United States, there is a rather sharp limit on acceptance of governmental restriction.

As a consequence, the manpower program was a sort of hodgepodge of activities varying sharply from one region or area to another The policy of leaving much regional and local autonomy in meeting problems also contributed to the inconsistency However, the variations in action did conceal a considerable similarity in general aims In the later stages of the war almost all regions and areas were trying to keep "in-migration" at a minimum by procuring

[10] On January 11, 1944 the President in his message on the state of the Union endorsed national service legislation subject to prior establishment of four other measures These were. (1) a realistic tax law, (2) a continuation of the law for renegotiation of contracts, (3) a law regulating food costs adequately, and (4) early reenactment of the Stabilization Act of 1942 that was to expire in June Nothing came of the endorsement, with its careful limitations

the manpower needed by essential activities at home. This meant emphasing the use of labor-reserve groups, cutting absenteeism and turnover rates, stopping labor hoarding, encouraging any modification of jobs that would make it possible for available labor to do the job, and encouraging forty-eight hours of work per week and more efficient utilization of the labor force. Almost any manpower official would have given some such list of aims if he were asked what his program included. Therefore, the varying actions of different areas, although in part a reflection of lack of understanding or initiative on the part of some persons, were also in many instances an indication of different points of view and approaches to the manpower problem of the area or region rather than different basic aims.

Shortly after the close of the war the commission was terminated,[20] but not all of its functions ceased at once The organizations that had been in existence before the war were transferred to other government agencies that were permanent parts of the federal organization, mostly to the Department of Labor However, much of the wartime work in developing area and industry programs, in encouraging manpower utilization, and in administering the minimum wartime work week was discontinued One difference between the two postwar periods, however, was that after the second war the potential core of any future manpower mobilization program, the United States Employment Service, was kept alive and given operating funds Although the local offices were returned for operation to the states in November, 1946 (the wisdom of which was debatable), they are still functioning. In view of their recognized value both as placement agencies and as a necessary adjunct of an unemployment compensation program, there seems little likelihood that there will be a repetition of the unwise cut in funds that put the service in a state of suspended animation for nearly fifteen years after the first World War.

From the above discussion it is clear that the Manpower Commission is important primarily as an example of non-legislative government controls As has been noted at other points in this study, an increasing amount of government control is coming in that manner Sweeping changes in the labor force and its composition and in ways of living and earning a living were induced without legislative force, except for the drafting of men for service in the armed forces The program was reasonably effective and much genuinely beneficial work was done It has been suggested that in some cases more coercive power would have allowed more effective work However, in view of the unwillingness of the President and Congress to enact

[20] Executive Order 9617, dated September 19, 1945.

national service legislation, which would have allowed control over civilian manpower as well as military, the manpower job that was done with the tools available was commendable.

## Questions

1. Was there any direct conflict between hours provisions of the Fair Labor Standards Act and the wartime manpower program? Explain

2 Were the manpower policies followed during the war too lenient? Should there have been a more forceful program of directing persons into important jobs and keeping them there?

3 To what extent was the manpower problem a series of local problems that needed to be handled at the local level? Why?

4 The inefficient use of manpower was one of the knotty problems faced by the Manpower Commission Do you think efficient utilization of manpower was a problem that could be handled by government action? Why or why not?

5 Was it wise for the Manpower Commission and the War Labor Board to be separate from the Department of Labor? Why or why not?

6 Evaluate national service legislation, which would give the government power to direct the activities of civilians in a manner similar to that used with the armed forces, as a means of handling manpower problems effectively

## CHAPTER XXIV

# OTHER STATE AND LOCAL LABOR CONTROLS[1]

### The place of state labor legislation

In earlier chapters frequent reference has been made to state, and infrequently to local, labor controls. It will be recalled that states, acting under their police powers, have been active in the regulation of child labor, hours of work, safety and health conditions, wages, and other matters. However, our emphasis, especially with regard to recent events, has been placed on federal legislation. This has been done in part because of the very great increase in the extent, coverage, and importance of federal legislation that has come in the years since the late 1920's. Another reason for the emphasis on federal action is the impossibility of treating comprehensively state laws that include such wide variations from one state to another However, there are certain fields of state action, in addition to those already discussed, that are of sufficient importance to merit some attention. There are also some actions of local governments that have enough influence to warrant brief discussion.

Under their police power—the power to legislate for the general welfare of the public—states can enact almost any regulation that they see fit, as long as the control does not override constitutionally protected rights and if the reasonableness required by the due process clause of the fourteenth amendment is not violated. In this connection, it should be repeated that the people have no rights, not even that of life itself, that cannot be taken if the legal proceedings by which the right is taken are reasonable The fact remains, however, that although the states have the widest latitude for regulation, concepts of what is and is not in the public interest vary widely. Therefore, the most characteristic trait of state labor regulation is the extreme variation between one state and another

For example, it has been noted that every state has some form of child labor regulation and all have enacted workmen's compensation laws, but the differences in the laws are extreme In many

[1] Not all of the materials dealt with in this chapter arose out of the war or postwar period However, since the major subject dealt with in the chapter is state labor relations laws and in these much of the development after 1939 served as a guide for postwar federal action, labor relations and other state controls are included at this point

other fields there is not even so much nominal similarity in action. Perhaps half of the forty-eight states have some laws significantly affecting labor relations, fewer than half have anti-injunction statutes, and only seven have statutes of fair employment practice. So the story goes, there are all types of good, bad, and indifferent action plus many instances of complete inaction.

There are many cases in which both state and federal governments enact regulations in the same field, such as wages or hours, for example. In such instances, the federal regulation prevails in occupations that are a part of or affect interstate commerce[2] State laws prevail in industries that are clearly intrastate, such as restaurants, laundries, retailing, and the like However, as has been noted, where the state law is the more demanding, it can be applied even in those areas subject to federal control, since enforcement of the state law would not lessen the effectiveness of the federal law. Presumably, state controls could not be enforced, however, if it could be proven that the enforcement had a harmful effect on interstate commerce

From the point of view of what is best for the entire economy, perhaps the greatest weakness in state control of labor problems is the wide variations just noted There are a number of reasons for this One is that the great diversity in legislative requirements may give the businessmen in one state a competitive advantage over those in another This situation always serves to discourage states from going ahead as leaders in the enactment of laws that may put a financial burden on their employers who compete with other businessmen from outside the state not subject to equally exacting laws Of course, lower legislative requirements will not always be sufficient to overcome other disadvantages, such as greater transportation costs or a less efficient labor supply, but if other factors are relatively equal, the competitive advantage may be marked.

Another disadvantage of state regulation is that the more exacting laws may be circumvented by the location or relocation of industry If one state has legislation concerning wages or the employment of women that is inconvenient or expensive to employers, relatively mobile industry, such as a clothing or shoe factory, may be moved. If this is not done, new plants, at least, will avoid states with such laws if other conditions influencing location are equal. The effect on the migration or selective location of an industry will depend on its cost structure and the savings that seem probable

Despite objections to and weaknesses in state labor legislation, there is and will continue to be many state enactments controlling or

[2] This would not be true where, as in the union security provisions of the Taft-Hartley Law, the federal Congress specifically gives precedence to state legislation

affecting labor. Aside from wages, hours, workmen's compensation, and other regulations previously noted, there are a number of other areas of state control that are important enough to merit attention These include: measures to lessen the number of disputes and to aid in the settlement of disputes that do arise; laws controlling discriminatory employment practices, laws restricting the activities of unions, and others. In addition, some local ordinances in roughly the same fields are of importance. Let us examine some of these laws

### State labor relations laws

State labor relations acts have not been passed in as many states as have other types of control. However, the ten such laws enacted by the beginning of 1947 were important for a number of reasons. First of all, they were important for the influence they have had on labor relations within the state boundaries The state laws also are worth noting in some detail for their influence on federal action. All of the ten state laws were passed after the National Labor Relations Act, but a number of them enacted a few years after that law took an entirely different approach to labor relations Since the states are to a considerable extent smaller areas of jurisdiction in which legislative experiments can be tried out, it is probable that the state laws influenced the provisions written into the Taft-Hartley management-labor relations act.

The ten states having labor relations acts in January, 1947, and the year of their passages are: Colorado (1943), Connecticut (1945), Massachusetts (1938), Michigan (1939), Minnesota (1939), New York (1937), Pennsylvania (1937), Rhode Island (1941), Utah (1937), and Wisconsin (1939)[3] Generally, these laws have followed in good part the National Labor Relations Act, but several of them have gone rather far into the field of mediation and arbitration of disputes[4] Where stated, the public policy underlying the acts has been that public interest and well-being demand that certain regulations of labor relations be enacted.[5]

Essentially, the provisions of the laws center around three general subjects: (1) unfair labor practices of employers, (2) election and certification of employee representatives, and (in about half the laws) (3) unfair practices of workers The unfair labor practices of employers cited in most of the laws cover the practices proscribed

[3] Prentice-Hall's *Complete Labor Equipment*, Vol 3, *State Labor Laws*

[4] Colorado, Michigan, Minnesota, and Wisconsin

[5] Yoder, Dale, "State Experiments in Labor Relations Legislation" *Annals of the American Academy of Political and Social Science*, November, 1946, Vol 248, p 130

in the original National Labor Relations Act In addition, a number of laws list spying on employees, the deduction of dues without written notice, refusal to discuss grievances, and a few other more unusual items as unfair practices [6]

The unfair labor practices of employees include the following, although the list is not complete: (1) coercion or intimidation of other employees, (2) violation of union agreement, (3) striking, picketing, or boycotting unless the action is authorized by a majority of employees, (4) sit-down strikes, and (5) coercion or intimidation of employer.[7] Various other provisions will be noted as some of the individual laws are described.

The Connecticut State Labor Relations Act of 1945 may be noted as one example of state action. Owing to its late enactment, it had the benefit of the experience of other states from which to profit. It does not follow the example of a number of the later state laws in spelling out unfair labor practices for employees There is, however, a rather comprehensive list of unfair practices for employers. These include (1) spying upon employees to learn about their collective bargaining activities, (2) preparing or keeping a blacklist of union members or sympathizers, (3) dominating or interfering with the formation of a union, (4) requiring union membership or lack of it as a condition of employment, (5) discriminating with regard to hire or tenure in favor of a company union or in opposition to an independent one, (6) refusing to bargain collectively with *bona fide* union representatives, (7) refusing to discuss grievances with representatives of employees, (8) discharging or discriminating for giving testimony under the act, and (9) interfering in any other way with the freedom of workers to organize in independent unions

Provision is also made for the labor relations board established by the act to determine appropriate bargaining units and representatives in these units In case of alleged unfair labor practices, the board holds hearings and otherwise acts in much the same manner as the national board did, except that no attorney for the state board makes any attempt to demonstrate the merits or demerits of the complaint. Of course an appeal may be made to the courts of any board order

While the Connecticut act was one of the most recent of the general labor relations acts passed by a state,[8] the New York act was one of the earliest, and it will be noted for purposes of comparison.

---

[6] Prentice-Hall's *Complete Labor Equipment*, Vol 3, *State Labor Laws.*

[7] *Ibid.*

[8] Many states have put some legislative block in the way of the closed shop or other specific practice However, these are not classed as general labor relations acts because they attack only one type of problem

It was enacted in 1937[9] for the purpose of enabling employees "to possess full freedom of association, actual liberty of contract, and bargaining power equal to that of their employers." This policy was espoused because the New York legislature held that the denial of full freedom to organize tended to depress wages and that this in turn resulted in (1) recurrent and aggravated business depression, (2) greater disparities between production and consumption, (3) unemployment, and (4) increased relief expenditures Therefore, this law, as was true of the federal act, was as much an attack on economic problems as it was an attempt to ensure respect for an individual and the collective right of working groups to form unions if they wished to do so.

The unfair labor practices are similar to those listed by the Connecticut act; they include (1) spying on employees, (2) preparing or keeping an anti-union blacklist, (3) dominating or interfering with the formation or functioning of a *bona fide* union, (4) requiring as a condition of employment membership in a company union or non-membership in a non-dominated one, (5) discrimination in terms of hire or tenure on the basis of union membership or non-membership, (6) refusal to bargain collectively with union representatives, (8) discrimination or discharge because an employee has given testimony or other information concerning violation of the act, and (9) doing any other act that interferes with the right to organize As in the Connecticut and other acts, the state labor relations board has the job of determining appropriate bargaining units and ascertaining the identity of employee representatives in those bargaining units. Appeals to the courts are allowed from any order or other action of the board in an unfair labor practice case

Like the Connecticut law, the New York law was written to extend to intrastate workers roughly the same guarantees as were contained in the national law. The body of doctrine and experience that has evolved, especially from the New York law with its longer life, shows that the two were relatively liberally administered and were of benefit to union groups. The philosophy and application of some of the state laws cannot be thus described; the Minnesota State Labor Relations Act of 1939[10] is an example. An examination of the important provisions of the act will emphasize this point of view.

The Minnesota law is one which mixes preventive and curative labor legislation; that is, the law seeks through the stipulation of certain rights and duties of both employers and employees to prevent misunderstandings and disputes from occurring. If, despite the

[9] 1937 Laws, Chap 443

[10] Acts of 1939, Chap. 440, Amended Laws of 1943, Chap. 624.

various measures, strikes or lockouts do occur, the law makes provision for conciliation that may serve to close the dispute. Before noting the dispute-settlement methods, the rights and duties of both employers and employees are of interest

The act prefaces the statement of unfair labor practices with a section guaranteeing the right of both employers and employees to uncoerced association with any organization of their choice for purposes of collective bargaining. Following is an extended list of unfair labor practices for employees or labor unions. These include: (1) striking in violation of an agreement, (2) striking without giving certain notice or observing a "cooling-off" period in certain instances, (3) seizure or occupation of property during a labor dispute, (4) picketing with less than a majority of the pickets on duty being employees of the picketed establishment, (5) picketing by more than one person per entrance when no strike is in progress, (6) interfering with the operator of a vehicle when neither owner nor operator of the vehicle is a party to the strike, (7) coercing a person into joining any labor organization or strike against his will, (8) striking without approval voted by a majority of the voting employees in the struck bargaining units, and (9) engaging in a secondary boycott against a processor of agricultural produce. All of these unfair practices except the first are declared to be unlawful acts. It is also unlawful to interfere with the free use of public roads, streets, and highways, or wrongfully to obstruct "ingress to or egress from any place of business or employment."

A list of unfair labor practices for employers is also given; they are forbidden to: (1) institute a lockout in violation of an agreement, (2) institute a lockout before giving notice of a required length or before the end of a "cooling-off" period prescribed in certain instances, (3) discriminate in hire or tenure in order to discourage union membership, (4) discriminate against or lock out an employee for giving testimony under the act, (5) spy on employees exercising their right to free and uncontrolled organization, and (6) prepare or circulate a blacklist directed against members of or sympathizers with unions Practices two, four, five, and six are declared to be unlawful acts, just why a lockout in violation of an agreement or discrimination against union members are less undesirable than the other unfair practices is not readily discernible.

An injunction by state courts to prevent or stop the commission of unfair labor practices is allowed, although infrequently used, if the writ is based on testimony in open court and is returnable in seven days However, the court has sixty days in which to decide on an application for a temporary injunction before the temporary restraining order is automatically dissolved. Such a period of time

allowed for a restraining order is more than seems warranted. It is utterly impossible to maintain the *status quo* in a labor dispute for two months.

The law carries a rather extensive section on the jurisdictional dispute and how it is to be handled. Where such a dispute exists and is used as the basis of picketing or a strike against an employer, that fact is to be certified to the Governor by the chief labor conciliator of the state agency. The Governor may at his discretion appoint a referee to hear and decide the dispute. If both unions are members of the same federation, the referee is to decide the issue on the basis of any agreement as to jurisdiction that the two unions may have signed, or the charters which they have been granted, or on the past history of the organization. Prior to the naming of a referee the disputants may submit the issue to arbitration by some labor tribunal named by the parent federation or perhaps chosen by the parties. Once a referee is named or a tribunal established, it is unlawful to strike, picket, or boycott because of the dispute

As previously noted, the act includes a number of provisions for settling disputes that have broken out instead of laying emphasis on measures that might prevent their development. An indication of the general philosophy back of the Minnesota act is given by the fact that it is administered by a labor conciliator Unless disputes occur there is no need for a conciliator, while it would be foolish to assume that any law could be so drawn as to prevent all disputes, the title of the administrator implies a different philosophy as to the proper functions of the state labor relations act than is shown in laws such as that of New York.

The dispute-settling provisions of the act are of interest. First of all, if it is desired to negotiate a new agreement or modify an existing one, a notice in writing must be given to the other party If no agreement is reached within ten days of the serving of notice, then a notice of intent to institute a strike or lockout can be given. However, no lawful strike or lockout can begin for ten days after the second notice is filed Meanwhile, the state labor conciliator may take jurisdiction over a dispute if requested by either party to do so.

If a dispute in any industry affecting public interest is not settled by the above means, there is another possible action[11] The labor conciliator notifies the Governor of the situation. Upon such notification, the Governor may but is not required to appoint a commission of three persons to investigate and report on the dispute and

[11] "Affected with a public interest" is not a clearly definable phrase. According to the law, this refers to (but is not restricted to) businesses supplying the necessities of life, safety, or health This does not clarify much, since "necessities," "safety," and "health" may be variously interpreted

the relative merits of the disputants' contentions. If the Governor decides to name a special commission, he must notify the conciliator of that fact; the conciliator in turn will notify the parties to the dispute. Once this last step has been taken, no strike or lockout or any change affecting the dispute may take place for thirty days. Meanwhile, the special commission, composed of a representative of workers, of employers, and of the public, must report to the Governor within the first twenty-five days of the same period. After the thirty-day "cooling-off" period has elapsed, unless it is extended by agreement of the principals they are free to strike or lock out as they see fit

A final means of settlement outlined in the act is arbitration Such action is to come only after written agreement of the two parties as to the terms and conditions under which it may take place. The labor conciliator may, if requested, act as a member of an arbitration tribunal or appoint members thereto. It is doubtful if a person can long retain a reputation as an impartial conciliator once he has served on a few arbitration panels in which he was forced to take a definite stand, usually favoring one party or the other

At the risk of overemphasizing state labor relations acts, the general provisions of the Wisconsin act will be reviewed This is done for two reasons. That state enacted in 1937 a statute similar to the New York law discussed earlier; two years later the law was replaced by a measure changing the emphasis sharply[12] A second reason for the examination is that Wisconsin has been regarded for years as one of the more progressive states, in so far as labor and social legislation is concerned. The title of the Wisconsin act illustrates a difference in philosophy from a strict labor relations law. the Employment Peace Act. It is founded on the stated intentions of protecting the interests of employer, employee, and the public, and not allowing the rights of disputants "to intrude directly into the primary rights of third parties to earn a livelihood."

In an attempt to ensure these rights, the act lists the unfair labor practices of employers and employees For employers these are (1) to interfere with employees in the exercise of their right to organize, (2) to form or foster a company-dominated union, (3) to discriminate in hire or tenure so as to encourage or discourage union membership, (4) to refuse to bargain collectively with representatives of a majority of the employees, (5) to bargain collectively with a minority of the employees, (6) to violate the terms of a collective agreement, (7) to refuse to accept the ruling of a tribunal whose jurisdiction previously had been accepted, (8) to discharge an

[12] Laws, 1939, Chap 57

employee for giving testimony, (9) to check off union dues except on receipt of signed individual permits to do so, (10) to spy on employees exercising their right to organize, (11) to make or circulate a blacklist, and (12) to commit any crime or misdemeanor in connection with a labor dispute.

For employees there is another long list of unfair labor practices. These include. (1) to coerce an employee into joining a union, (2) to intimidate an employer or coerce him into interfering with employees exercising their right to organize, (3) to violate any terms of a collective bargaining agreement, (4) to refuse to accept the ruling of a tribunal whose jurisdiction previously had been accepted, (5) to boycott or picket without the approval of a majority voting by secret ballot, (6) to hinder or prevent lawful work by picketing, threats, and so forth, (7) to engage in a secondary boycott, (8) to take unauthorized possession of property as a part of a labor dispute, (9) to fail to give the required notice of intent to strike, and (10) to commit any crime or misdemeanor in connection with a labor dispute.

The act is administered by a three-man employment relations board to which any controversy concerning an unfair labor practice may be submitted After a hearing before representatives of the board, a final ruling is made that is subject to court review The board also has the task of naming, when necessary, appropriate bargaining units and the proper bargaining representatives for such units. In addition, it is empowered to name a mediator to act in any dispute, such a mediator can be named with or without the request of one of the parties to the dispute

Under the law as modified in 1945,[13] an employer is allowed to sign an "all-union agreement" only if two-thirds of the *voting* employees in a unit approve by secret ballot the signing of such a contract However, the two-thirds approval is not enough unless it also represents a majority of *all* employees in the bargaining unit Thus, a closed or union shop agreement requires the approval of two-thirds of those voting in an election or a simple majority of all employees in the bargaining unit, whichever is greater

We have now examined briefly four state labor relations laws Nearly all requirements to be found in any of the states may also be found in one of these laws There are a few exceptions One is the requirement in the Colorado law that "each collective bargaining unit, local labor union, and company union" be incorporated. Another exception is the Colorado prohibition of a labor dispute to force an employer to join a union and quit working in his own business.

[13] Laws, 1943, Chap. 475, Laws, 1945, Chap 424.

Perhaps the laws are important not so much for their coverage of employees as for their influence on subsequent federal legislation. Professor Yoder speaks of the states as "laboratories for experimentation in legislation and government" [14] Certainly the experimenting of Wisconsin and Minnesota can be seen clearly in the Taft-Hartley Labor Management Relations Act.

### Other state laws affecting labor relations

Discussion of ten states with labor relations laws tends to leave an erroneous impression that only ten do anything to regulate labor-management relations. This is far from true; for example, the Bureau of Labor Statistics reported in mid-year 1947 that fourteen states had recently adopted legislative or constitutional provisions prohibiting the closed shop [15] These states are Arizona, Arkansas, Delaware, Georgia, Iowa, Maine, Nebraska, New Hampshire, North Carolina, North Dakota, South Dakota, Tennessee, Texas, and Virginia. In addition, Alabama already had a law that amounted to the same thing. Most of the laws get at the closed shop through a provision that the right to work shall not be abridged because of membership or non-membership in a union and that a contract requiring either is unlawful. In a number of other instances, closed shops are controlled if not outlawed. Attention has already been called to the Wisconsin requirement of a two-thirds-and-majority vote in favor of it In Kansas such a contract is allowed if approved by a majority vote, while in Colorado it takes the acclaim of three-fourths of those voting to justify the closed shop agreement.

A little further removed from labor-management relations but having some effect are the state laws that require union registration and financial reports from them. As of April, 1947, Alabama, Colorado, Delaware, Florida, Idaho, Kansas, Massachusetts, North Dakota, South Dakota, and Texas had such laws.[16] In each of these laws other than that of Massachusetts some regulation of the internal affairs or functioning of unions is included, matters of election and qualification of officers commonly being subjected to control The regulatory provisions other than those relevant to registration and the filing of reports have not been well received in the courts. For example, the attempt of Texas to require all union organizers to apply for a license to the Texas Secretary of State before soliciting union members was held to violate the guarantee of freedom of

[14] Yoder, D., *op cit*, p 130

[15] "Legislative Restrictions on the Closed Shop" *Monthly Labor Review*, June, 1947, Vol 64, No 6, p 1056

[16] "State Laws Requiring Union Registration and Financial Reports," *Monthly Labor Review*, June, 1947, Vol 64, No 6, p 1052. New Hampshire enacted a similar law in its 1947 legislative session.

speech made in the first amendment.[17] Similarly, the Florida attempt to require an annual license for union business agents and that such persons had to be citizens of good moral character who had lived in the United States for ten years was disallowed by the federal court. It was held to violate the National Labor Relations Act, also, the refusal to allow a union to function as such if it failed to file a report was held to conflict with that act.[18] In addition, state courts have invalidated some of the restrictions, such as that of South Dakota on the organization of agricultural workers and the Colorado requirement of incorporation.

There is at least one other field of state control that affects labor-management relations, that is the provision for aiding in the adjustment of labor disputes. Laws that put the state in the business of trying to settle labor disputes are relatively old; they began in Maryland in 1878 and spread rapidly. By 1900 twenty-five states had laws or constitutional provisions on the subject Provisions for such action continued to spread, and by January, 1943, the number of political jurisdictions with similar plans had grown to thirty-nine states and two territories.[19] These laws vary widely in detail and in means specified for their application, some provisions on the books for years remain inoperative, as is the case with the Ohio law. Although few of the states provide for action by the Governor to aid in dispute settlement, it has not been uncommon for such action to be taken Active endeavors by most states are a product of the years since 1935; the action is becoming more widespread but not too effective Salaries paid and the caliber of persons used are in many cases not conducive to the highest efficiency.

### Restrictive state controls in postwar years

Many state legislatures, in regular or special sessions, enthusiastically followed or extended in 1947 the unfriendly attitude already noted above. In that year all but seven of the states enacted some form of labor legislation. These acts ranged from the protective non-discrimination law of Connecticut to labor relations laws in some states that were almost as broad in their scope as the Taft-Hartley Law. Almost every type of labor control was enacted by one or more states, but the majority dealt with labor-management relations, union security, and secondary boycotts [20] So in many in-

[17] *Thomas v. Collins,* 323 U S 516 (1944).

[18] *Hill v Watson,* 325 U S 538 (1944)

[19] Kaltenborn, H S., *op cit*, pp 171-172; the nine states making no provision were Delaware, Florida, Mississippi, Missouri, New Mexico, North Dakota, Tennessee, Virginia, and West Virginia.

[20] For a summary of the content of these laws see. Prentice-Hall's *Complete Labor Equipment,* Vol 3, *State Labor Laws*

stances workers were subjected to federal and state restrictions in the same year. Let us note these controls briefly

Union security clauses, especially closed shop clauses, came in for much attention by the states. Arizona and Arkansas laws specified no closed or union shop, Delaware, on the other hand, did not prohibit the closed shop, but stipulated that it was not an unfair labor practice to refuse a closed shop Georgia forbade the closed or union shop, as did Iowa, similar action was taken by Nebraska and New Hampshire Maine, on the other hand, prohibited only the closed shop. New Mexico's legislature enacted an amendment to its constitution, but a favorable vote was required to make it effective. North Carolina and North Dakota imposed legislative restrictions on the two types of union agreement; South Dakota, Tennessee, Texas, and Virginia did likewise.

Eleven states thus outlawed closed and union shops and another the closed shop; usually, the maintenance-of-membership clause was included in the prohibition. Another such outlawing awaited only a favorable vote on a constitutional amendment In a few other cases, there were some restrictions put on the closed shop. Also, a number of the union security provisions prohibited or limited the checkoff of union dues Iowa carried the limitation of checkoffs furthest by allowing the deduction of dues only upon written consent of the employee *and* his or her spouse.

Strikes, picketing, and boycotts came in for considerable regulation. California, Delaware, Idaho, Iowa, Minnesota, Missouri, North Dakota, Oregon, Pennsylvania, Texas, and Utah forbade secondary boycotts. In a similar vein, mass picketing was frequently declared unlawful, and in a few states strikes in public utilities were prohibited Some states also prohibited jurisdictional strikes or required majority authorization for strikes or picketing

Other state laws were enacted, but restrictive legislation such as that outlined was the action most frequently taken. Enactment of protective labor legislation or the raising of standards, except for workmen's compensation, was indeed rare and atypical. The general anti-union sentiment so apparent in the first session of the 80th Congress was observable in many of the state capitols. There were exceptions, but the major portion of the restrictive legislation was passed in southern and midwestern states where agricultural interests still were large and powerful.

The tabular summary shown[21] on page 496 indicates the general nature of state controls on industrial relations that were enacted in 1947.

[21] Taken from *Monthly Labor Review*, September, 1947. Vol. 65, No. 3, p. 279, based on reports up to September 1, 1947

STATES ENACTING SPECIFIED TYPES OF INDUSTRIAL RELATIONS LAWS IN 1947

| Prohibition of Closed-Shops or Other Types of Union Security Agreements | Restriction of Picketing and Other Strike Activity | Prohibition of Secondary Boycotts | Restriction on Jurisdictional Disputes | Regulation of Disputes in Public Utilities | Strikes by Public Employees | Registration and Financial Reports of Labor Unions |
|---|---|---|---|---|---|---|
| Arizona [3] | Arizona | California | California | Florida | Michigan | Delaware |
| Arkansas | Connecticut | Delaware | Massachusetts | Indiana | Missouri | New Hampshire |
| Delaware | Delaware | Idaho | Michigan. | Massachusetts | New York | North Dakota [3] |
| Georgia | Georgia | Iowa | Missouri | Michigan | Ohio | |
| Iowa | Idaho | Minnesota | Pennsylvania | Missouri. | Pennsylvania | |
| Maine [1] | Michigan | Missouri | Wisconsin | Nebraska | Texas | |
| Nebraska | Missouri | North Dakota [3] | | New Jersey | | |
| New Hampshire [2] | North Dakota [3] | Oregon | | Pennsylvania | | |
| North Carolina | Pennsylvania | Pennsylvania | | Texas [4] | | |
| North Dakota [3] | South Dakota | Texas | | Virginia | | |
| South Dakota | Texas | Utah | | Wisconsin | | |
| Tennessee. | Utah | | | | | |
| Texas | | | | | | |
| Virginia | | | | | | |

[1] Permits the making or *maintenance* of "union shop" contracts

[2] Union security contracts are prohibited *only* with respect to employers having 5 or less employees

[3] Inoperative until voted upon by the people at the 1948 general election

[4] Relates only to picketing and sabotage

Thus, a general sentiment of strong conservatism was combined with the traditional attitude of rural groups to produce widespread state support of the postwar labor policy of the federal government. The trend toward liberal social legislation and controls favorable to organized labor was halted at least temporarily. The duration of the halt and the extent of the reversed trend cannot be foretold.

### State anti-injunction legislation

Another type of state labor legislation is that which controls the issuance of injunctions in labor disputes. Such laws are a very desirable adjunct to the federal anti-injunction act, since that act has no influence on the granting of injunctions by state courts State legislatures must enact such laws if they wish their courts to observe certain practices in the granting or refusal of injunctive relief in labor disputes. Although a few states had enacted such controls prior to the federal law, the majority were enacted thereafter and were patterned on that law

The first anti-injunction law enacted by a state was passed by Kansas in 1913, in the same year a revision of the Arizona statutes included a section limiting the issuance of labor injunctions. Other states followed suit slowly, and by 1932 at least ten states had such laws [22] The Norris-LaGuardia Act set a standard to be followed, and some of the states that had acted previously revised their laws while others took the initial step. By early 1947 sixteen states had laws similar in stated purpose to the federal act, these were. Connecticut, Idaho, Indiana, Louisiana, Maine,[23] Maryland, Massachusetts, Minnesota, New Jersey, New York, North Dakota, Oregon, Pennsylvania, Utah, Washington, and Wisconsin.[24]

It should be kept in mind that the anti-injunction laws do not prohibit the issuance of injunctions under appropriate circumstances Essentially, what they do is to specify good injunction practice and require that courts sitting in equity on damages allegedly arising from a labor dispute follow the prescribed practice. Since they center on injunctions in labor disputes, most of the laws define such a dispute as a controversy over terms or conditions of employment or the representation of employees in such matters, regardless of whether or not the disputants stand in the proximate relationship of employer and employee.

In such a dispute, injunctions usually may not be issued to pro-

[22] *Prentice-Hall Labor Course.*

[23] To be precisely accurate, the state of Maine should not be placed in this list, in that its law simply specifies briefly certain procedure that must be followed in the issuance of injunctions

[24] Prentice-Hall's *Complete Labor Equipment,* Vol 3, *State Labor Laws*

hibit the following acts: (1) stopping or refusing to perform work, (2) joining or remaining a member of any labor union or employer organization; (3) paying to or withholding from a person engaged in a dispute strike benefits, unemployment compensation, or other things of value, (4) aiding any person interested in a labor dispute who is prosecuting a case or being prosecuted, (5) peacefully publicizing a labor dispute and the issues involved in it; (6) assembling peacefully to act in or organize for a dispute; (7) advising or notifying anyone of an intent to do any of the above acts, (8) agreeing to do or not to do any of the above acts; and (9) advising or inducing any of the above acts by lawful means. These prohibitions are usually found in state anti-injunction laws, but they are not found in every one and some laws add other prohibitions.[25]

Although state laws establish the prohibitions listed, they usually also provide specifically that injunctions may be issued in labor disputes if certain conditions exist. These conditions include: (1) unlawful acts have been threatened and will be committed or have occurred and are likely to continue unless restrained, (2) substantial and irreparable damage to property will result unless injunctive relief is granted; (3) greater injury will result to the complainant from failure to issue an injunction than will be caused the defendant if an injunction is granted; (4) there is no adequate remedy at law, and (5) officials cannot or will not furnish adequate protection[26]

It is common but not universally true to find that injunctions may be issued only on the basis of a finding of fact filed by the court. Also, it is common to allow trial by jury for contempt unless the contemptuous act was committed in the presence of the court It is usually specified that no union, officer, or member is responsible for the unlawful acts of other members or officers unless there is clear proof of actual participation or authorization.

It is not easy to determine the effectiveness of the state anti-injunction laws, no state has kept a record of injunctions issued before and since the enactment of their restrictive laws. Officials in the states having such laws do not commit themselves publicly as to their effectiveness, those who express any opinion show a mild and guarded optimism Any comment usually is to the effect that the number of injunctions has declined because a greater effort for settlement is made prior to asking for an injunction. Whatever the effects of anti-injunction laws on the number of writs issued, if those issued appear only under the conditions outlined, the laws have done enough. There is no reason to hold that injunctions should never be granted in a labor dispute It is only when they are

[25] Prentice-Hall's *Complete Labor Equipment*, Vol 3, *State Labor Laws*
[26] *Ibid*

used without regard for proper injunctive procedure and clearly as anti-union weapons that they are indefensible.

State regulation of discriminatory employment practices

State anti-discrimination laws also are worth examination, not so much because of the number of laws as because of what they stand for and for their potentialities Essentially, the anti-discrimination laws seek to prevent employers, unions, or others from discriminating against a person because of race, creed, color, or national origin It is somewhat surprising that such laws have to be enacted in a nation that is looked upon as the hope of the world for the preservation of democracy. True believers in democracy certainly would not need legislation forbidding discrimination The fact is, however, that there is considerable discrimination by employers, unions, and workers based on race and religion. The Fair Employment Practices Committee (federal) established by executive order during the recent war was strongly opposed. Similarly, the efforts by some states to enact anti-discrimination statutes have been met by concerted opposition. Since discriminatory practices are quite common and so sharply in conflict with the essence of democratic society, the passage of laws to stop them is important.

Up to the present few states have enacted legislation against discrimination in employment. Connecticut, New York, New Jersey, and Massachusetts have effective laws. Indiana and Wisconsin also have laws, but theirs have no teeth for enforcement[27] At its 1947 legislative session Oregon enacted a law expressing state policy as being opposed to discrimination. The provisions of the four effective acts are relatively simple. They do not apply to social, fraternal, religious, or other non-profit organizations. They also do not apply to employers hiring fewer than six persons. For all other employers they prohibit discrimination on the basis of race, creed, color, or national origin. This prohibition means no discrimination in hiring, discharge, or in compensation (except for a *bona fide* occupational qualification), and in advertisement for workers. Nor may an employer discharge or otherwise discriminate against a worker because he has filed a complaint under the law. A like prohibition is leveled against unions, a labor organization may not discriminate as to membership rights or in any other way if the discrimination is based on any of the factors just mentioned.

It should be noted that the laws do not prevent all discrimination. If, for example, an employer chose to discriminate against married men or persons with red hair, this could be done as long as no matter

[27] Prentice-Hall's *Complete Labor Equipment*, Vol. 3, *State Labor Laws*.

of race or religion were involved. The laws do not forestall the fixing of job qualifications so long as the qualifications are reasonable ones applied equally to all persons.

The laws are enforced by commissions named by the Governors of the states. These bodies may receive and act upon complaints of discrimination. In acting upon cases, they may hold hearings, subpoena witnesses, require the production of records, and so on. After a hearing, the commission may issue orders directing such action as will meet the requirements of the law. In order to instigate an investigation, any person or his attorney may file a complaint, as may the attorney general of the state and the commission (in one state) or the state department of labor As to penalties involved, the laws provide that persons who wilfully resist or interfere with the law can be fined up to $500 or imprisoned up to one year or both. In addition, orders of the commissions may be enforced by injunction. Despite these provisions, enforcement action to date has been slight.

Altogether, the laws in existence to date only scratch the surface of the need. There seems little doubt that a federal fair employment practice law is some time away. For this reason, any action that is taken must come from state and local governments As we have noted, the states have started, and we shall see a few localities are beginning similar experiments. Until the time that the federal Congress sees fit and finds a way to act in this field, a great extension in state regulation is needed.

Judging from the material presented in this and earlier chapters, the scope and nature of state labor controls must be considered as wide and varied. Under their police power, there is room for almost any reasonable control that is in the public interest and which does not interfere with interstate commerce or with the standards set by federal laws. Variations in state laws are wide and in many cases unreasonable, but this is not a criticism sufficient to warrant any thought of lessening the amount of state control. It must be improved and in many areas extended; the fact that in many cases state action points the way for subsequent federal controls makes the development of more socially minded state programs imperative.

### Local government action in industrial relations

Some of the actions of local governments affect labor sufficiently to warrant consideration at this point The difficulty is, however, that little is known about the labor policies and local ordinances that exist, and the task of collecting information from hundreds of localities is great. Attention has been called previously to the great

importance of local police action in labor disputes Clearly, local police, or state militia in unusual cases, must be used to maintain order in labor disputes just as in any other kind of disturbance. However, because of the economic stakes frequently at issue in a labor dispute, the actions of the police in such a case are very important. All kinds of records of police action in labor disputes can be found, ranging from careful, judicious, and fair behavior in many cases to the brutality displayed in the Chicago Memorial Day incident of 1937[28] It is likely that the average local official or member of the police force is not well versed in labor problems and labor-dispute settlement. Their intervention is inescapable at some times, but the less there is of it the greater the chance of adequate settlement.

Aside from steps taken on the spur of the moment to maintain order in labor disputes, the officials of many of the middle- and large-sized cities of the country have certain definite policies worked out for participation in the settlement of local labor disturbances A study on this subject reported by the National Municipal League in 1941 is of interest[29] It was based on returns of a questionnaire sent to all cities with a 1930 population of 30,000 or more Since only twenty-six per cent of the questionnaires were returned in usable form, there is no way of knowing whether or not they represented a true cross section of all such cities. Of these cities, nearly forty per cent either had no set plan or adhered to a strict hands-off policy, doing no more than to maintain law and order In the opinion of the man making the study, the hands-off policy, or the lack of policy, was due primarily to the relatively small size of most of the cities reporting and the absence of many severe labor disputes. It was thought that an outbreak of strikes would bring a change in policy such that more active participation would result.

For those cities that reported a set plan of trying to aid in the settlement of labor disputes, the methods ranged from requesting the aid of the federal Conciliation Service to establishing boards of conciliation and mediation. Since twelve and one-half per cent of the cities reported the policy of asking federal conciliation aid, this number may be added to those already reported as taking no action, since calling for federal aid does not represent significant local action Combining these figures then indicates that slightly over half

[28] For a report of police action on Memorial Day, 1937, near the Republic Steel Company plant in south Chicago see. *Hearings on Violations of Free Speech and Rights of Labor* by the Senate committee investigating violations of free speech and rights of labor, chairman, Senator LaFollette, Part 14 of the Reports Washington D C U S Government Printing Office, 1937

[29] Nunn, W L, "Local Progress in Labor Peace" *National Municipal Review*, December, 1940, Vol XXIX, No 12, pp 7-27

of the reporting cities took no active part in labor-management dispute settlement.

Of the cities that engaged in active local participation in dispute settlement, the most common type of action was for the mayor, city manager, or councilmen to try to mediate. Over a third of all reporting cities—nearly three-fourths of those reporting direct action—used this type of approach. The cities so reporting were those in which the greatest number of disputes had occurred. Somewhat akin to this plan was the practice of a few cities of having special municipal employees, one of the secretaries to the mayor perhaps, whose duties were to keep an eye on the labor situation in the area and exert any possible influence to bring about settlement. New York, Los Angeles, Cincinnati, and Akron reported this form of action. Also similar was the plan used in two instances of naming special or permanent citizens' committees to act for the local government in seeking settlements.

A final method of dispute settlement was in use at the time of this survey. The best known and most publicized of these plans was that of Toledo, since that city has continued to be active in the field up to the present time, its experience will be noted. As a result of considerable labor trouble in Toledo that had required the aid of federal conciliators and of citizens in the community, Edward McGrady, then Assistant Secretary of Labor, suggested the establishment of the Toledo Industrial Peace Board. With newspaper support, the board was finally formed in late summer of 1935, it was composed of eighteen persons, five named by the Central Labor Union, five named by the Toledo Chamber of Commerce, and eight named by Mr McGrady and another government official to represent the public.[30] The first director of the board was an employee of the federal Department of Labor chosen by Mr. McGrady; he later was forced to withdraw because many other cities were asking for similar service. The withdrawal of the federal agent caused the city council to take over the board by enacting one ordinance to establish it officially as a function of the city and another appropriating funds for its support.

The functioning of the board was limited to mediation, it did not arbitrate any disputes. Between its formation and the end of December, 1941, it reported participation in 331 cases. Of these, 285 were reported as settled.[31] Such evidence is always a little misleading, in that almost all industrial disputes are settled sooner or later whether there is outside aid or not. The more crucial question, is whether the mediation service brought a more prompt or just

[30] Nunn, W L, *op cit*, pp 7-10

[31] Kaltenborn, H S, *op. cit*, p 212.

settlement, this matter can be debated, but not settled The Toledo board was discontinued in 1943 because the War Labor Board and other federal agencies were performing the same function.

In April, 1945, Toledo resumed its quest for a local solution to labor-management disputes At that time the city council authorized the mayor to appoint an eighteen-man committee, equally divided between labor, management, and public representatives, "for the purpose of studying community management of labor problems facing the City of Toledo."[32] The committee was named with union and business representatives and with a judge, the vice-mayor of the city, a college dean, and ministers of three different faiths representing the public.

After its appointment, the committee, in a series of meetings, adopted a charter or set of principles that was basic to its functioning, this was made official through ratification by the city council in February, 1946 The twelve principles agreed upon are too lengthy for complete reproduction here, but the more important ones may be summarized First of all is the stated recognition that labor has the right to organize without interference and management the right to direct operations of business There is a statement that neither labor nor management "should" discriminate because of race, creed, or color, and an avowal that productive efficiency and technological improvements are desirable. A final principle other than those concerning the formation, financing, and functioning of the committee states the desirability of voluntary utilization of mediation, fact finding, and arbitration as methods of settling labor disputes.

Submission of disputes to the committee is voluntary, and the group can only offer its services. These do not have to be accepted Compulsion, therefore, is at a minimum. When a dispute does come before the committee the first attempt at fact finding and settlement will be made by the executive secretary. If he fails, a committee or panel of members from the larger body will be named to try to mediate or, as a last resort, to obtain acceptance of arbitration These guiding principles state a generally acceptable philosophy of labor-management relations.

The record of the committee looks good. Work stoppages caused less than one-half as much lost time in 1946 as in 1945,[33] whether any of this saving or all of it is due to the committee cannot be said, but part of it probably is. It has been reported that twenty strikes

---

[32] Resolution R-71-45, adopted April 23, 1945

[33] Bureau of National Affairs, *Labor Relations Reporter*, June 2, 1947, Vol 20, No 9, pp 72-74

were averted between June 15 and December 31, 1946, through the efforts of the committee.

The new Toledo plan, which is, in essence, a modified continuation of the 1935 experiment, has drawn widespread attention Many representatives of various cities have studied it, and a few have adopted or are planning to adopt similar programs. On January 22, 1947, the mayor of Minneapolis urged the United States Conference of Mayors to study the adoption of Toledo-type plans in other cities.[34] A resolution to make such a study was adopted by the conference prior to adjournment Meanwhile, by late winter, 1947, Detroit, Louisville, and Windsor, Ontario were debating or planning labor-management-citizens committees

Like certain other matters discussed in this chapter, local committees for the settlement of labor disputes are of more importance for their potential value than for their performance to date Any movement in the direction of encouraging and aiding *bona fide* collective bargaining is a desirable one, since no other method that is compatible with economic democracy is as likely to produce long-run, healthful labor-management relations. There must be a certain legislative framework in which bargaining is carried on, but good relationships cannot be legislated into existence. That fact escaped many persons in 1947, when a sharply different philosophy was commonly held

With a federal conciliation service and a number of state services, the need for local services is not apparent In the Toledo case, however, since there was no state action in the settlement of disputes, there was not so much question. As long as there is no duplication or overlapping of services of local groups with those of others, local plans have much to recommend them. Efforts to settle issues locally instead of calling in outsiders should be able to put persons familiar with the problem on the job promptly. And the assistance of local groups, as long as they have the confidence of the disputants, is likely to be more readily accepted In addition, the tripartite body with representatives of management, labor, and the public is likely to have a more realistic outlook on all the angles of the problem than will a single person from another place

## Local ordinances against discrimination in employment

A final area of local control of social and economic problems is in the regulation of employment practices within the municipality Like their state counterparts, local ordinances are more important potentially than as a widespread current control. By mid-year 1947

[34] Associated Press release, January 22, 1947.

only Chicago, Milwaukee, and Minneapolis had passed such ordinances, although similar bills were under consideration in Buffalo, Philadelphia, St. Louis, Cincinnati, Detroit, Cleveland, Seattle, Los Angeles, Toledo, Spokane, San Diego, and Indianapolis.[35]

There are a number of reasons why local ordinances may be extended in number. First, they are likely to be easier to enact than state or federal controls because often there is more discrimination in cities than elsewhere and therefore more interest in the subject. Secondly, local enforcement may be more effective, since a local problem is to be handled. Finally, local ordinances probably can be used more effectively in educational programs than can regulations covering broader areas. Especially until federal or increased state action comes about, there is need of local controls. Even if the federal or state acts were to materialize, local controls still might be useful to improve on minimum standards set in the broader laws or to extend such regulations to groups not otherwise covered.[36]

Unlike the harmful competitive effects that child labor or minimum-wage controls are said to have on local industry, fair employment practice regulations do not threaten any disadvantage. There should be no economic hardship involved in treating persons alike regardless of race or religion.[37] In fact, it can be argued that there are social, moral, and economic benefits to be derived from such controls. The mayor of Minneapolis testified before a Senate hearing that his city expected to derive economic benefits from its ordinance. These would include an opportunity for minority groups to develop and utilize their skills fully. From this should come higher wages and standards of living, and from these greater markets for products of all workers. Moreover, public expenditures for relief, public health, and correction of delinquency and crime should decline.[38]

The first three municipal ordinances passed were very similiar in content; all applied to the municipality, all contractors working for it, and private employers in the city.[39] There are fewer exemptions

[35] Elson, A., and Schanfield, L., "Local Regulation of Discriminatory Employment Practices." *Yale Law Journal*, February, 1947, Vol. 56, No. 3, p. 435.

[36] *Ibid.*

[37] Some might argue that in certain communities business concerns might lose trade by employing members of certain races. If an effective educational program let the public know that such an employment policy was required by law, it is likely any such loss would be slight and short-lived.

[38] Testimony of Mayor H. H. Humphrey before the subcommittee on anti-discrimination of the Senate Labor and Public Welfare Committee, Washington, June 19, 1947.

[39] Minneapolis also includes a specific prohibition against discrimination by labor unions. The broad prohibition in the other two ordinances of discrimination by "any persons" would seem to be applicable to unions, but no specific mention is made of union discrimination.

from coverage than in state laws, but Minneapolis exempts domestic service, employees of religious groups, and employers hiring only one person. Some of the ordinances under consideration make similar or broader exemptions All prohibit essentially the same discriminatory practices as the state laws. The Minneapolis ordinance as it concerns private employees will serve as an example, it makes unlawful discrimination within the city "against any person in connection with any hiring, application for employment, tenure, terms or conditions of employment" [40] Fines, although not excessively high, are provided in all ordinances as enforcement measures. In addition, Milwaukee and Minneapolis allow imprisonment, the former only in case of default of the fine.

Since not all states extend the same powers to the municipalities within their boundaries, it is not certain that all cities can enact anti-discrimination ordinances directly. For example, it was decided that Detroit did not have the power to enact a measure proposed in 1946. Where such is the case it has been proposed that state legislation grant specific authority to cities to deal with the problem of discrimination [41] It is somewhat difficult to grasp the fact that in our democracy many groups are opposed to, and many legislatures are afraid to enact, laws that prohibit racial or religious discrimination Legislators should have little to lose in allowing cities the right to deal with the problem.

Enough has been said about state and local labor controls to show that they have an important influence on labor economics and labor problems. The great increase in the number of federal controls in the past few years has tended to leave the impression that states and especially smaller subdivisions no longer take any important action. This is not the case, even though federal controls expand there is much the local government can do. For example, the experience of Toledo stresses the fact that although there is a federal service to aid in settling labor disputes, much can be done at home by local persons to handle problems which arise. And the intelligence or lack of it with which public officials and the police conduct themselves when labor trouble does break out will do much to determine whether outside help is needed.

Even where federal regulations exist, state or local controls may well be passed to improve upon the minimum set in the federal law. There is no reason why the national minimum wage of forty cents per hour should not be raised in a state that wishes to do so. Or if a city wishes to cooperate in a federal or state effort, to stamp out discrimination for example, it may enact ordinances to supplement

[40] Fair Employment Practice Ordinance, adopted January 31, 1947

[41] Elson, A, and Schanfield, L, *op cit*, *passim*

those of the superior jurisdictions.[42] An increasing amount of federal control is likely to be the long-run trend in the United States, but there is no reason for states and localities to look only to Washington for action to meet their problems. Much can and should be done, and is being done, in the municipalities; as long as local controls meet or surpass those of the state and nation and as long as they are administered in an efficient, non-political manner, this is all to the good.

## Questions

1. Were the state labor relations acts forerunners of the Taft-Hartley Law? Justify your answer

2. How do you explain the wave of state laws that was enacted in the postwar period to restrict in one way or another the activities of labor unions?

3 Do you consider the development of local labor dispute-settling plans, such as the Toledo Plan, wise or unwise? Are such plans more or less desirable than state and federal conciliation services?

4. What factors explain the relatively slow development of state or federal legislation directed against racial, religious, and other discriminatory employment practices?

5 How likely is it that special emergency action by mayors or Governors will prove to be an effective means of settlement of labor disputes? Why?

6 What do you consider the logical areas for federal, state, and local labor controls? Is it reasonable to have action at two or all three levels? Under what circumstances?

---

[42] The Chicago Fair Employment Practice ordinance was labeled by the City Council as "an Ordinance providing for cooperation with the Federal Government agencies in preventing discrimination on account of race, color, or creed."

## CHAPTER XXV

# POSTWAR TENSIONS AND CONTROLS

### Postwar demands for labor curbs

Discussion of most aspects of labor controls has been carried through the post-World War II period in previous chapters This was due to the fact that no basic changes were made during the war years and immediately thereafter. However, in one broad area, that of management-labor relations, the war and postwar years brought marked differences. Those of the war years that amounted to compulsory arbitration already have been noted The large degree of compulsion in the wartime measures left a strong desire on the part of both labor and management to get back to uncontrolled methods of dealing with each other.

As a consequence, when the war was over and the government controls were removed there was a great wave of labor trouble The change was not so much in the number of strikes as in the number of workers involved and, especially, in the duration and amount of time lost. For example, where 0.1 per cent of total work time was lost in 1944 owing to strikes, 1.5 per cent of the time was lost in 1946.[1] Many of the strikes were in industries basic to our industrial production and did much to limit and restrict our reconversion efforts. They furnished the basis for a storm of protest against "irresponsible and power-mad" union officials.

The groundwork for this protest had been laid in the war period There were many strikes of very brief duration during the war, as noted, the percentage of total work time lost through strikes was very small. However, these strikes were highly publicized and much antagonism toward unions was encouraged. The possibility that the gun or ammunition not made because of the strike would cost American soldiers' lives was very commonly voiced and decried, not only by the public but by workers themselves.

Even without the groundwork, the objections to the postwar strikes would have been tremendous. For the public had gone without automobiles, radios, refrigerators, and many other durable goods during the war. After the war, with the public having more

[1] *Monthly Labor Review*, February, 1947, Vol 64, No 2, p 263.

money to spend than ever before, the work stoppages were associated with inability to get a new car, or radio, or something else. Since unions commonly took the initiative in calling for a stoppage of work when an agreement could not be reached, it was assumed that they were at fault In reality, most work stoppages are not reasonably to be attributed to any one party. Suppose a union demands $1.15 per hour and says its members will not work for less, if they have been receiving $1.05 and the employer offers to pay the same amount in a new contract, it is not necessarily the fault of the union that work stops True, the union ordered the stoppage of work, but it would have been willing to continue without interruption at $1 15 per hour. In a sense, it could be said that the ensuing work stoppage was at the same time a strike and a lockout—a strike against the $1 05 rate and a lockout against the $1.15 rate.

To a majority of Congress, and probably of the public, this form of reasoning was not convincing. In their thinking, "labor" was not at fault so much as the leaders of the unions Many were the stories, some of them unfortunately true, implying that high-handed leadership existed throughout all unions From these sprang the reasoning that the unions, and especially union leaders, were at fault and must be subjected to controls.[2]

Much of the thought on the subject centered around the idea that the government had sponsored unions in the National Labor Relations Act. That being the case, it was argued, it was time now for the government to balance the scales again, that is, to curb unions and expand the rights of management in dealing with the representatives of its workers In 1946 an attempt was made to do this; Congress enacted a bill that circumscribed many traditional union activities and practices. The measure was vetoed by President Truman.

[2] Probably the strike of the United Mine Workers in November, 1946, brought anti-union sentiment to a peak. The bituminous mines were being operated by the federal government after they were seized, in late spring, 1946, when the private operators and union failed to agree and a prolonged work stoppage threatened The union wanted to reopen the contract for further negotiations, but terms in the agreement gave the Interior Department a basis for declining to reopen The union declared the contract voided, and, following their traditional "no contract, no work" policy, members began a walk-out The government sought and got an injunction against continuance of the walk-out, it was disregarded, and a trial for contempt of court ensued On appeal to the Supreme Court, *United States v United Mine Workers of America*, 330 U S 258 (1947), a fine of $10,000 against the union president was upheld The $3,500,000 fine levied by the lower court on the union was reduced to $700,000 if the union canceled the walkout, but otherwise the full amount was to be retained

This strike, in view of relatively short supplies of coal, threatened industrial production as well as cold homes and other discomforts Many persons were convinced that if a union had so much power as the mine workers it was a threat to the public and should be curbed Probably the drive to enact union curbs was given a strong impetus by this work stoppage.

He only postponed the day of reckoning, since the opposition to organized labor simply awaited another opportunity.

During the same year Congress enacted and the President approved an anti-racketeering act.[3] This was, in part at least, due to a Supreme Court ruling that a similar law enacted in 1934 did not prohibit the New York truck drivers' union from requiring trucks coming into the city from other areas either to take on a local union man or pay a day's wages if the incoming truck continued under its regular driver.[4] The new law declared it to be unlawful for anyone to obstruct, delay, or affect commerce by robbery or extortion or to conspire, participate, or otherwise be a party to physical violence in furthering such obstruction of commerce.

Prohibition of interruption to commerce was a clear power of the Congress. The only question concerned just what extortion meant. It was defined to mean obtaining money or other property from a person without consent or with consent if such was gained by wrongful use of actual or threatened force, violence, or fear. Relatively heavy fines and imprisonment were provided for violators.

### Union attitudes toward controls

For many members of Congress, the anti-racketeering law was in no way an adequate substitute for union controls. Consequently, it was evident from the time of opening of the 80th Congress that another attempt would be made to enact legislative restrictions on the actions of labor unions. With this fact clear, a great struggle among lobbyists for and against labor controls developed, and the members of Congress were subjected to much pressure to take one stand or another on labor controls. Moreover, the President, when the measure finally reached his desk, was also subject to pressure. Even the general public was harangued by radio broadcasts and printed matter attempting to sway individual opinions.

Probably the unions used short-sighted tactics in the stand that they took on the issue. From the beginning until the day the Taft-Hartley Law was passed by Congress over the President's veto, their position was to oppose every suggestion of limitation upon the rights of unions. In the bargaining process, in order to reach some agreement, unions usually find that they are compelled to retreat at times from the early demands that they have made. However, in regard to labor controls, they took a motto which might be expressed as "no backward step." They had attained the National Labor Relations Act and they insisted that there be no changes

---

[3] 48 Stat 979, 1946

[4] *United States v Local 807 of International Brotherhood of Teamsters, Chauffeurs, Stablemen and Helpers of America*, 315 U S 521 (1942)

in it. There seemed to be a psychological block in the mind of most influential union leaders against conceding that any modifications were needed, many seemed to feel that even slight changes would pave the way for much more sweeping revisions. With so much sentiment in the Congress and all over the country for curbs on labor unions, it would have been wise for some of the more sober labor leaders to have worked with more reasonable management and congressional leaders on curbs that would have put an end to abuses by unions the existence of which even union leaders had to acknowledge. A willingness to discuss the need of some changes in the law regulating union-management relationships might have aided in bringing a much more moderate piece of legislation.

From the standpoint of justice as well as tactics, it would have been logical for the unions to have accepted certain changes. The labor movement of 1947 was considerably more powerful than that of 1935, some unions were both powerful and lacking in top quality leadership. The result was that there were cases, certainly not typical of the entire labor movement, of refusal by unions to bargain in good faith and of unfair advantage having been taken by unions of their members. Some such actions could not be justified, and for union leaders to have agreed to legislation to prohibit them would in the long run have been to do the labor movement a service in view of the public support it probably would have yielded

### The Labor Management Relations Act of 1947: general contents

Whatever the validity of such a point of view, the unions totally rejected it. In their attempt to defeat completely rather than soften and rationalize regulations, they lost, temporarily at least, very heavily when the Tart-Hartley Law was passed over presidential veto on June 23, 1947[5] The law is sweeping in its contents and makes many changes in the National Labor Relations Act and in other federal controls Each provision will need to be noted in detail, in summary, the law does the following. (1) puts a ban on the closed shop, (2) withdraws from foremen any federal protection of the right to organize, (3) guarantees more freedom of speech to employers than was allowed under the 1935 act, (4) establishes a number of unfair labor practices of unions; (5) puts limitations on strikes and lockouts resulting from termination or modification of contracts, (6) bans certain types of boycotts and jurisdictional strikes; and (7) establishes new rules for board certification of unions. In addition, the complement of the National Labor Relations Board was

---

[5] Labor Management Relations Act, 1947, Public Law 101, 80th Congress, 1st Session

increased from three to five persons and the office of General Counsel, a very powerful position, was created. Let us note pertinent provisions in detail.[6]

The statement of policy of the act is of interest. It declares that in labor relations "neither party has any right in its relations with any other to engage in acts or practices which jeopardize the public health, safety or interest." In keeping with this thought, the framers of the law declare:

"It is the purpose and policy of this Act, in order to promote the full flow of commerce, to prescribe the legitimate rights of both employees and employers in their relations affecting commerce, to provide orderly and peaceful procedures for preventing the interference by either with the legitimate rights of the other, to protect the rights of individual employees in their relations with labor organizations whose activities affect commerce, to define and prescribe practices on the part of labor and management which affect commerce and are inimical to the general welfare, and to protect the rights of the public in connection with labor disputes affecting commerce."

After the purpose of the law has been stated, the reasons or findings on which it is based are given; these amount to a statement that some employers and some unions deny the reasonable rights of the other to organize or to conduct themselves as they see fit, and that in many instances these activities tend to cause labor trouble that will obstruct commerce. The law condemns both practices. Up to this point there can be little quarrel with the new law. But not all of the act is so acceptable.

### Changes in unfair labor practices of employers

Probably the most basic changes made by the law are the modifications in the unfair labor practices of employers and the extended list of unfair practices of labor organizations. There still are five unfair labor practices in the act for employers; at first glance, they look to be the same as those in the N L R.A., but there are a few basic changes that make them quite different. The employer still is for-

[6] Many publishers, unions, and business associations have issued analyses of the Taft-Hartley Law Some of these that present varying points of view include:

*Labor Management Relations Act, 1947* New York Prentice-Hall, Inc , 1947

*Labor Management Relations Act, 1947* National Association of Manufacturers Law Digest, June, 1947, Vol IX, No 3

*Legal Department Memoranda Nos 1 and 2, Re Taft-Hartley Act,* Chamber of Commerce of the United States

*The Supervisors' Guide to the Taft-Hartley Act,* National Foremen's Institute, Inc

Six bulletins on various phases of the Taft-Hartley Law, published by the American Federation of Labor are also of interest.

bidden to refuse to bargain collectively, to dominate a union, to interfere with an employee in exercising his right to join a union, or to discriminate against an employee for giving testimony under the act. However, the prohibition against discrimination in hiring or job tenure so as to encourage or discourage union membership is changed significantly. It will be recalled that the N.L.R.A. specifically provided that the prohibition against discrimination did not prevent an employer from signing an agreement with a non-company-dominated union that made union membership a requirement to hold a job. Not so the new act, there is a proviso attached to the discrimination clause, but it is quite different. The clause is quoted in part to show the wording and coverage of the proviso. The first part of the clause states that the anti-discrimination clause does not prohibit the signing of a union shop agreement, by exclusion, the closed shop agreement is no longer allowable. As for the union shop, it is allowable only under certain circumstances, these are:

"if such labor organization is the representative of the employees . . . in the appropriate collective-bargaining unit covered by such agreement when made, and . . . if, following the most recent election held as provided . . . the Board shall have certified that at least a majority of the employees eligible to vote in such election have voted to authorize such labor organization to make such an agreement"

This proviso means that it requires an election before an employer can sign a union shop or maintenance-of-membership agreement. Further, in such an election, a majority of all the employees eligible to vote instead of a majority of those voting must cast ballots in favor of the union shop. Thus, if a certain bargaining unit has 5000 employees and only half of them choose to vote in an election, a unanimous vote in favor of a union shop would still not be sufficient to permit it. Or, if three-fourths of the eligible persons vote and cast two-thirds of their ballots in favor of the union shop, it still would not be lawful. Such a ruling is indeed a strange one to come from an elected body; it is probable that most of the members of Congress would not be there if the rules of election required that a majority of all persons eligible to vote was necessary to put a candidate into an elective office. The analogy is not perfect, but there is enough similarity to warrant comparison.

There is a further limitation on the anti-discrimination section, namely:

"that no employer shall justify any discrimination against an employee for nonmembership in a labor organization (A) if he has reasonable

grounds for believing that such membership was not available to the employee on the same terms and conditions generally applicable to other members, or (B) if he has reasonable grounds for believing that membership was denied or terminated for reasons other than the failure of the employee to tender the periodic dues and the initiation fees uniformly required as a condition of acquiring or retaining membership."

Perhaps the most significant thing about this limitation is the liberty given to employers. All that is required for them to flout a union shop clause, even after voted-in according to the rules, is to maintain that they have reasonable grounds for believing that the union is denying membership to persons who have paid or offered to pay their dues and initiation fees. Since, under a union shop agreement, an employer is free to hire whomever he pleases so long as such persons join the union within a certain period of time after their employment, it is possible to hire persons that the union would not admit to membership. Even if the union would not allow the worker, let us say a known stool pigeon, disrupter, or Communist, to join, as long as he offered to pay his initiation fees and dues it could not legally enforce a demand that he be discharged from his job.

The above restrictions of the anti-discrimination section limit the protection of unions very much. They create an unusual election requirement that amounts to a substantial stumbling block. And once a union shop is in effect, it still is not possible for a union to have dismissed from the plant a member who has broken some rule of the union as long as he keeps up to date with his dues. The union may expel the member, but in such a case, the agreement ceases to function; he may continue to work in the plant without union membership

It is important to note that the restrictions on the closed and union shop do not affect agreements that were entered into before June 23, 1947, the date of final enactment of the law. For sixty days after that date unions were free to negotiate such agreements, but pacts concluded in that period could run only for one year and not later than August 22, 1948. After August 22, 1947, closed shop agreements were no longer a fit subject for negotiation and union shop agreements could be negotiated only after the procedure already noted; that is, election. However, even if the union won a majority vote approving the demand for a union shop, the employer was not required under the terms of the law to grant it. He might refuse to do so, and unless the union could force acceptance by its own bargaining power nothing could be done about it.

There is a further limitation on the negotiation of union shop agreements. As has been noted, federal law takes precedence over

state law, but such is not the situation in this case. Provision is made that in a state having an anti-union shop law, that measure is effective despite federal law Therefore, with congressional sanction, workers in about a dozen states cannot bargain for a union shop regardless of whether or not they wish to do so.

Another provision of the act amounts to a limitation of the employer's duty to bargain. This came in by way of a restrictive definition. The law states that an employer is required to bargain with representatives of his employees under certain circumstances, in order to clarify this responsibility, the act defines the term "employee" The one factor of interest at this point is the clause in the definition stating that the term "employee" does not include "any individual employed as a supervisor." Of recent years there has been a considerable development of unionism among foremen and supervisors in the lower echelons After considerable wavering, the N.L R B. decided that foremen were to have the same right to unionize as any other group of employees The Taft-Hartley Law changes this situation considerably, no longer can a group of supervisors who wish to organize invoke federal aid to back their attempt to gain recognition The employer can refuse to recognize such a union and be within the law. Foremen or other supervisors are still free to organize if they choose, but they must do so under their own power.

### Unfair labor practices for unions

There are a number of unfair labor practices of labor organizations or their agents that are important. The justness of some of them is entirely defensible, that of others is open to question The first prohibition is the denial of the right of a union to restrain or coerce either employees in exercising their right to join or not to join a union or an employer in the selection of representatives for collective bargaining The general tenor of this prohibition is not to be criticized, but there is a great deal of leeway in interpretation possible. Because there is no definition of what "restrain or coerce" means it may be very difficult to determine when the provision has or has not been violated

The second prohibition is the counterpart of the limitation on employer discrimination previously noted. No union may try to induce an employer to discriminate against an employee because of non-membership in the union, except for non-payment of dues. As was stated, this seriously weakens the union shop clause once it has been won

Third is the statement that it is an unfair labor practice "to refuse to bargain collectively with an employer." In connection with this

prohibition, a section is devoted to the subject of what is *bona fide* collective bargaining. It is defined as "the performance of the mutual obligation of the employer and the representative of the employees to meet at reasonable times and confer in good faith with respect to wages, hours, and other terms and conditions of employment, or the negotiation of an agreement, or any question arising thereunder, and the execution of a written contract incorporating any agreement reached if requested by either party. . . ." Other parts of this section will be examined later; here it will be noted that there is still some question as to what collective bargaining includes. When a meeting is held at a reasonable time and when conferring is done in good faith are not easy to determine. However, unless a tortured interpretation of this provision develops, there is little to criticize, it will be unusual for a union to violate this section because the primary aim of conscientious unions is to bargain collectively, and when there are *bona fide* violations attempted it seems reasonable to forbid them.

A fourth prohibition denies to unions the right to engage in secondary boycotts and jurisdictional strikes These are unfair labor practices only when engaged in to accomplish certain purposes, but the prescription of the illegal goals is so broad that much common union action may be denied. For example, under this section, a union may not picket an establishment to try to compel it to stop using non-union-made goods Nor may it try to get the employees of such a plant to refuse to work on the non-union goods The jurisdictional strike is indeed hard to justify, but the prohibition of the use of the secondary boycott in some instances is a severe blow to union action Interunion solidarity demands that there be opportunity for one union to support another by the non-use of goods or other similar action However, any request for supporting action can now be interpreted as an unfair labor practice, the provision weakens union bargaining power.

Fifth, unions are prohibited from requiring workers to pay exorbitant membership fees. It is the problem of the board to determine when a fee is "excessive or discriminatory." With no exact method of determining excessiveness, a few interpretations must appear before it can be decided just how harsh this prohibition may be It is very doubtful, however, if many unions will be hurt by this provision, exorbitant fees are overpublicized and are not typical of the majority of unions.

A final statement prohibits engaging in any act that would "cause or attempt to cause an employer to pay or deliver or agree to pay or deliver any money or other thing of value in the nature of an exaction, for services which are not performed or not to be per-

formed." Although the prohibition presumably is aimed at forced hiring of "standby" local musicians, truck drivers, and the like, when non-local persons are working in an area—in other words, outright feather-bedding—it is so worded that it can be used in many other ways. For example, a paid vacation is a sum paid when services are not rendered, so are the mid-morning and mid-afternoon rest periods that are found in many plants. An attempt by a union to force such concessions from an employer might be held an unfair labor practice. It seems unlikely that such will be the interpretation, but the wording would appear to allow it.

**Limitations on the right to strike under union agreements**

Apart from the specification of unfair labor practices, the provisions of the act pertaining to bargaining procedure are sharply restrictive of common union practice. The general duty of meeting at reasonable times, bargaining, and putting the results in writing has already been noted There are further provisions, where a collective bargaining agreement exists in an industry affecting interstate commerce, it cannot be terminated or modified unless the party desiring the change does the following· (1) serves a written notice of desire of change at least sixty days prior to the termination or date of desired change, (2) offers to meet with the other party to negotiate a new or changed contract, (3) notifies the Federal Mediation and Conciliation Service within thirty days after notice of the existence of a dispute (if settlement has not been reached), and at the same time notifies the state conciliation service, if such exists; and (4) continues the existing contract in full force and effect for sixty days after such notice is given (the period is lengthened to the duration of the existing agreement if a notice was given more than sixty days in advance)

To enforce these provisions, the law provides that any employee who engages in a strike within the sixty-day period shall lose his status as an employee unless the employer chooses to retain him. This allows the dismissal of workers without any recourse to the N.L.R.B. if they strike during the required waiting period. The first year of experience under the act offered no conclusive proof as to whether or not the waiting period increases the number of settlements, judging from experience with the "cooling-off" provisions of the War Labor Disputes Act, it is doubtful if the desired result will be achieved.

As with bargaining procedure, the provision concerning majority representation in one disliked by unions. It is specified that although a properly designated union is the exclusive bargaining agent of all employees, any employee or group of employees may have

grievances adjusted "without intervention of the bargaining representative." The settlement must be in keeping with the union's agreement, however, and the representative must be allowed to attend the adjustment meeting if he chooses.

**Bargaining units and representation**

The new law has something to say about the naming of the appropriate bargaining unit. The board still has the task of designating the appropriate unit, but there are certain statutory guides as to how the units can be designated. First of all, a unit may not be named that has within it both professional and non-professional employees unless a majority of the professional employees vote in favor of being included Secondly, the board may not rule a craft unit as inappropriate for bargaining, even though previously the board has named a broader bargaining unit, unless a majority of the persons in the craft unit vote against separate representation. The third prohibition is that the board may not name as an appropriate unit one that includes guards and other employees in the same organization.

The above regulations strike a heavy blow at industrial unionism. Whatever the intent of the section noted above, it makes mandatory the separate handling of craft, professional, and guard groups unless, in the case of the first two groups, the persons therein desire to be included in the broader grouping. The whole tenor of the section is to encourage small bargaining units. It is doubtful if this provision serves in general the interests of either the employers or the employees, unless it permits anti-union employers to play one group against another Smaller units mean, for employers, more agreements to be reached, more time spent in collective bargaining, and more chances of dispute and misunderstanding. And for unions smaller units are likely to result in less bargaining power

As noted, the union shop must be voted for by a majority of those persons eligible to vote in an election to determine the question Certain conditions, however, must be met before an election may be held Presumably, only a union will ask for a union shop Therefore, an election will be held only when a union so requests and files a petition alleging that at least thirty per cent of the employees in the unit desire such an agreement If a union shop is in effect, it may be discontinued if thirty per cent or more of the employees in the bargaining unit file a petition alleging that they wish the agreement rescinded and if those desiring the change win the election that the filing of the petition brings. In either case, the board shall take a secret ballot of the workers in the unit and certify the

results to union and employer. However, in no instance may a vote be taken until one year after the previous valid election.

The board still has the task of certifying a union as the proper representative of the employees in a given bargaining unit. Under the old law, an employer could request an election only when two or more unions each demanded recognition; a union had more opportunity to request an election. Under the new law, however, the employer can request an election even when only one union asks for recognition. If a petition is filed and if the board determines that a question of representation affecting commerce exists, an election can be held. In these elections only a majority of the voting employees is necessary for certification of a union.

### Required union reports and other duties

The law provides that no action shall be taken to certify a union or investigate a dispute unless the union has filed certain documents and reports with the Secretary of Labor The required materials include the constitution and by-laws of the union and a report that includes the following. (1) name and address of the union, (2) names, titles, and salary and allowances of its three principal officers and any others for whom the salary and allowance is more than $5000 per year, (3) the manner in which these officers were put into office, (4) the initiation fee or fees required of new members, (5) the regular dues that members are required to pay to remain in good standing, (6) a detailed statement indicating membership requirements, procedure for ratification of agreements and for authorization of bargaining demands and of strikes, audit of records, rules for expulsion of members, and a number of other matters. The union also must file with the Secretary of Labor a financial report of assets and liabilities and of receipts and disbursements; copies of this report must be furnished to all members of the union

No action in behalf of a union may be taken by the N.L R.B. unless it has on file certain statements of membership in political or economic organizations pertaining to the union Each officer of a labor organization "and the officers of any national or international labor organization of which it is an affiliate or constituent unit" is required to file a statement "that he is not a member of the Communist Party or affiliated with such party, and that he does not believe in, and is not a member of or supports any organization that believes in or teaches the overthrow of the United States Government by force or by any illegal or unconstitutional methods." This section has proved to be one of the highly controversial ones in that

it can penalize local unions for the actions of officials far removed from them.[7]

The act denies to employer and union the right to agree to a checkoff of union dues without the approval of individual employees. In order for union dues to be deducted by the employer and paid to the union treasury, it is necessary that the employer have a written and signed authorization of the deduction from each individual worker. This permit may not be irrevocable for a period of more than one year or the duration of the agreement, whichever comes first Once the signed permits are filed, the law does not require that new ones be supplied each year. It does require, however, that workers be allowed to withdraw their permission of checkoff at least every year or when the agreement expires

Employers are also prohibited from contributing to union health and welfare funds unless a number of requirements are met These requirements include, but are not limited to, the following (1) contributions must be held in trust for payment of medical or hospital care, insurance, pensions, or injury benefits to employees or their dependents or families; (2) the plan of the welfare fund must be worked out in detail and stated in writing; (3) the trust fund must be audited annually, (4) contributions for pensions or annuities must be segregated and used only for those specific purposes, and (5) employers and employees must be equally represented in the administration of the fund. These requirements are not far out of line with the provisions of many current welfare funds. Although commonly financed only by the employer, joint administration of an established group of benefits is frequently found.[8]

The law also includes a very broad restriction on political contributions. Other groups also are subject to restrictions under the law, but the part dealing with labor union actions provides that it is unlawful for any labor organization "to make a contribution or expenditure in connection with any election at which Presidential and Vice Presidential electors or a Senator or Representative . . . are to be voted for, or in connection with any primary election or political convention or caucus held to select candidates for any of the foregoing offices." This provision has caused a storm of protest from labor organizations and liberal minded citizens; it has been flouted from the first by labor organizations in the hope of getting a test case before the courts. Penalties of a $5000 fine on any organization or

[7] This statement applies only to officials of the union with which the locals are affiliated, only in the case of federal locals directly affiliated with the A F of L or C I O do the affidavits of the national officers of the federations of unions have any effect on the ability of the locals to demand action on their behalf from the N L.R B

[8] *Monthly Labor Review,* February, 1947, Vol 64, No 2, p 191

of a $1000 fine and imprisonment of one year on an individual are permissible if the government decides to try to enforce this section of the act, provided the courts hold it valid. There is much question, however, as to whether this part of the law deprives certain groups of constitutionally guaranteed freedom.

Apparently in an attempt to make union-employer agreements more enforcible, the law provides that a union can be sued for a violation of a collective bargaining agreement in industries affecting interstate commerce, whatever the amount involved in the controversy. This means that the union may be sued as an entity and not as a group of individuals each separately responsible for its actions. This is not entirely an innovation, in that there had been previous instances of suits against unions; such suits were not common, however.

This provision has brought a rapid change in the content of collective agreements. The law says that unions may be sued and not that they must be, therefore, in agreements under negotiation, various unions have demanded and have had written into some of the contracts a provision that the employer will not exercise his right to sue in case of wildcat strikes, for example, or of other actions of the members.

The majority of the provisions noted above deal with management-labor relations and must be applied by the National Labor Relations Board. Obviously, its load of work was to increase heavily; two new persons were added, making a five-man body. The two new appointments probably were in part to take care of the anticipated increase in work-load and in part to permit the addition of two members sympathetic to the new act. In addition, a new position was created that of General Counsel of the Board. This man, whose appointment is by the President and subject to confirmation by the Senate, has "final authority, on behalf of the Board, in respect of the investigation of charges and issuance of complaints . . . and in respect of the prosecution of such complaints before the Board." This officer also has control over attorneys of the board and the regional staffs. He also has the job of interpreting the meaning of the new act. Indeed, the office of General Counsel is the key position in the new N.L.R.B.

Once all the formalities and requirements before the board are met, it may consider the case of a union; the procedure followed is similar to that of the old N.L.R.B. There are some differences, for example, the board will not issue a complaint on an unfair labor practice that occurred more than six months prior to the filing of the charge. After the examination of an issue, the board—in the final analysis, the General Counsel—may issue a complaint and hold a

hearing if it so chooses. After the hearing, the board has the choice of dismissing the complaint, modifying it, or issuing cease-and-desist orders if it finds unfair labor practices. When an order is not obeyed, the board has the power to petition any Circuit Court of Appeals for enforcement, similarly, a person aggrieved by a board order may request in the same courts a review of the order.

Further court action is possible under the new law, once the representatives of the board have issued a complaint charging an unfair labor practice, it can petition a district court for a temporary restraining order If the proper board representative believes there is violation of the secondary-boycott and jurisdictional-strike provisions, he is directed to seek injunctive relief. Such an order is supposed to be handed down only after hearing "unless substantial and irreparable injury . . . will be unavoidable" without its immediate issue And in granting injunctive relief, the courts are not to be limited by the Norris-LaGuardia anti-injunction act. In either of the above cases, whether the injunction is to enforce a board order or to direct a stoppage of an unfair labor practice or otherwise grant appropriate relief, failure to observe the writ makes a person liable for punishment for contempt of court. Another enforcement penalty of the act is a potential fine of up to $5000 or imprisonment up to one year or both for those persons who "willfully resist, prevent, impede, or interfere with any members of the Board or any of its agents or agencies in the performance of duties pursuant to this Act"

### Dispute settlement under the act

The law requires extensive modifications in the federal dispute-settlement machinery and also lays down new and far-reaching rules for the conduct of disputes that threaten a national emergency. The Conciliation Service of the Department of Labor was abolished and a new independent agency outside the Department created, it is called the Federal Mediation and Conciliation Service. The functions of the old Conciliation Service were transferred to the new agency, whose task is, in fact, the same as that of the service of the Labor Department. However, the fact that it is an independent agency responsible to the President might tend to give it greater stature and to make employers believe it to be more impartial than when it was a part of the Department of Labor

The policy, stated in the law, that is to guide the new agency is as follows.

"Final adjustment by a method agreed upon by the parties is hereby declared to be the desirable method for settlement of grievance disputes

arising over the application or interpretation of an existing collective bargaining agreement The Service is directed to make its conciliation and mediation services available in the settlement of such grievance disputes only as a last resort and in exceptional cases"

However, the agency is empowered to offer its services in any labor dispute in any industry if the dispute is thought to threaten a substantial interruption of commerce. The director of the new service is empowered to establish any suitable procedures that he sees fit for cooperating with state and local dispute-settlement agencies.

Since it was felt that the old service had sometimes been somewhat unrealistic and impractical in its policies, the new law created a twelve-man National Labor-Management Panel, to be appointed by the President. The members of the panel are to be equally divided between labor and management representatives It is the duty of the panel—not a full-time body, but meeting only when summoned—to advise the director of the service at his request. In particular, their advice is to be given on the way in which voluntary settlement procedures may be applied to disputes that threaten the general welfare.

Thus, except for a divorce of federal dispute-settling service from the Labor Department and the creation of the advisory body, there is no great change embodied in this part of the law It remains to be seen whether the move was a wise one. Some are of the opinion that the shift probably was made more to decrease the sphere of action of the Labor Department than to improve federal dispute-settling machinery.

Strikes by government employees and strikes that threaten to result in national emergencies are singled out for special attention in the law. Specifications for the handling of strikes by federal government employees or employees of agencies of the federal government are brief and to the point. Such strikers are to be discharged at once and to lose their civil service status They may not be reemployed by the federal government or its agencies for at least three years, and then only as new employees.

Finally, there are provisions for dealing with national emergencies threatened by labor disputes The first step in dealing with a strike or threatened strike that would affect an entire industry or a substantial part thereof and imperil national health and safety is for the President to appoint a board of inquiry to look into the issues in the dispute and report to him, making no recommendations There is no limit on the size of the board, which is, of course, not permanent and will vary in composition from one dispute to another

On receipt of the report from the board of inquiry, the President

may, if he chooses, direct the Attorney General to petition in any federal district court for an injunction directing that the strike or lockout not be called or that it be stopped if it has begun If the court finds that there is a threat to national health and safety, it is not bound by the Norris-LaGuardia Act and may grant the injunction However, such an order is subject to review by higher federal courts

On the issuance of such an injunction, the President shall reconvene the board of inquiry that previously reported on the issues involved For sixty days after the injunction is granted it is the duty of the parties to the dispute "to make every effort to adjust and settle their differences." In their attempts to settle the dispute the parties are expected to make all possible use of the services of the federal government If at the end of sixty days the dispute is unsettled, the board of inquiry is to report to the President stating the position of each party and the final offer of the employer. This report is to be made available to the public

Under this circumstance, the National Labor Relations Board is required to take within the next fifteen days a secret ballot of the employees of each employer involved in the dispute as to whether they wish to accept the final offer of settlement made by the employer. The results of the vote are to be certified to the Attorney General within five days of the balloting

When the results are certified or a settlement has been reached, whichever occurs sooner, the Attorney General is to request the issuing court to dissolve the injunction; this petition shall be granted. The President shall, on dissolution of the injunction, make a report to Congress of the steps taken, with his recommendation as to the further action which that body should take. If no action is taken and if the injunction is dissolved promptly, the parties are finally free, after a maximum of 80 days of enforced negotiation, to battle out the issue as they see fit, so long as their actions do not violate some other section of this broad act.

All sections of the law were in full effect in August, 1947, but not all provisions had become effective at the same date. Although primarily of historical interest, these varying dates may be summarized briefly. Most provisions of the law went into effect sixty days after its enactment on June 23, 1947; that is, on August 22, 1947 Thus, the prohibition against closed shops and restriction on union shops took effect then, the Conciliation Service was transferred out of the Department of Labor at that time, and prohibition of dues check off without authorization became effective. On the other hand, unfair labor practices were prohibited from the date of enactment, as were the provisions concerning national emergencies,

suits against unions, political contributions, secondary boycotts and jurisdictional disputes, and strikes by government employees If a union had an agreement containing a union security clause, closed or union shop, that was signed before June 23, 1947, it was not affected until its expiration; similar agreements reached between June 23 and August 21, 1947, could run for one year. A checkoff agreement could run until the expiration of the agreement or July 1, 1948, whichever came first. Thus, the law became effective on a piecemeal basis

**Enforcement provisions**

A number of the enforcement measures of the law have been noted in discussing various of its restrictions. Others have not been mentioned, so it is well at this point to draw them all together. There are four acts under the bill that are punishable by criminal penalties of fine or imprisonment or both. As has been noted, wilful interference with any member of the board or its agents is punishable with fines up to $5000 and imprisonment up to one year or both; violations of the restriction on political contributions are punishable with fines up to $5000 for an organization or up to $1000 and imprisonment up to one year for individuals In addition, an employer guilty of checking off dues or paying into welfare funds in violation of the law is liable to fines up to $10,000 or imprisonment of not more than one year or both. A union agent who falsifies the non-Communist affidavits required under the law is liable for $10,000 in fines and imprisonment of up to ten years. The reservation of the heaviest fine and imprisonment for the last offense is a typical result of the anti-Communist hysteria that swept the nation after the war.

It has already been noted that unions are suable for violations of collective bargaining agreements; employers are similarly liable to damage suits for such violations. A union also can be sued for injuries resulting from engaging in a secondary boycott or jurisdictional dispute. These are the only bases for damage suits against a union.

In one situation, an employer is allowed to get an injunction; that is to prevent the making or enforcing of agreements containing welfare fund or checkoff provisions in violation of the law. The board has much more leeway; it can ask for an injunction after a complaint of an unfair labor practice has been issued In addition, the representatives of the board are required to petition for an injunction in the case of a jurisdictional strike or a strike for an unlawful purpose. Finally, as noted, the Attorney General can request an injunction in a case that threatens a national emergency.

The final means of enforcement is through the cease-and-desist orders of the board, which can be carried to the courts for enforcement, and the loss of rights before the board by unions and employees Cease-and-desist orders are not a new development in the law, since the same general situation existed under the old N.L R A. Loss of any protection of employee status because of illegal strikes and of any right to government action on behalf of a union not filing proper reports seem to be relatively heavy penalties However, in the year immediately following passage of the act, the latter penalty was not sufficient to bring observance by some of the more powerful unions of the required filing of non-Communist affidavits. In fact, for a strong union that is well established and has little competition from other unions there is no strong incentive to observe this part of the law However, where one union faces competition from another that has complied with this part of the law, the inability to get on the ballot in case of an election to determine the bargaining agent gives a strong incentive for compliance.

### Evaluation of the Taft-Hartley Law

Such was the method which Congress offered to the President, in early June, 1947, for the solution of labor-management disputes. The President did not agree, presumably on the counsel of the advisers about him, that the act would do what it was supposed to do Therefore, he vetoed the bill. This was to no avail, since Congress disregarded his veto message and passed the act by the required two-thirds majority. A few of the evaluations in the President's message are of interest.[9]

The first reason given for the veto was that the bill was contrary to the traditional government policy of leaving as much freedom as possible in collective bargaining. These extended controls were, in the President's view, especially bad because the general trend of the time was to remove as many controls as possible. Secondly, President Truman thought the bill would not improve human relations in industry "Cooperation cannot be achieved by force of law We cannot create mutual respect and confidence by legislative fiat." In addition, the bill was held to be unworkable and unfair in that it did not deal equally with employers and employees. Each of these points was defended in detail, but they need not be expanded here.

Few congressional enactments have caused as much comment, discussion, and disagreement as the Taft-Hartley Law Labor

[9] The text of the veto message is quoted in Bakke, E W, and Kerr, C, *Unions, Management and the Public*, pp 881-889 New York Harcourt, Brace and Company, 1948

groups have frequently referred to it as the "slave labor bill" Other persons connected with business and professional groups have looked upon it as a desirable piece of legislation that was long overdue The gap between the two lines of reasoning did not narrow in the first year after the enactment

For example, the Department of Manufacture of the United States Chamber of Commerce stated:

> "At long last, equality before the law is recognized in federal labor legislation. Collective bargaining under the law is now accompanied by legal rights and responsibilities placed on both parties. . . . Now, too, for the first time, the Congress has come to grips with some of the abuses in the field of labor-management relations, and the new law makes far-reaching provisions to ban them."[10]

The United Steelworkers of America, whose leader is also President of the C I.O , did not see the subject in the same light. On July 2, 1947, the Executive Board of that union adopted resolutions that in part denounced the new law and board "as instruments clearly designed to oppress unions and to destroy the living standards of American workers" In a message transmitting these resolutions to the field staff, Philip Murray stated.

> "In the place of the Wagner Act and the Board which administered the Wagner Act, we have an act and a board which have been set up to *discourage* organization, not to promote it, to *undermine* unions, not to protect them, to *discourage* collective bargaining, not to encourage it, to invite law suits against unions in *the place of peaceful collective bargaining*"[11]

Any number of similar statements on one side or the other could be found if citation of more was desirable, but they would do little except emphasize, where emphasis is not needed, the diametrical opposition of those for and against the new law. It is not easy to evaluate the validity of the positions of the two parties because in good part they spring from a difference in basic attitude toward labor relations and what is a sound basis for healthful and peaceful management-labor relationship

Essentially, the proponents and opponents of the law split over the desirability of a strong labor union structure in the nation. Although few supporters of the law would admit that they are antiunion in their attitude, that probably is the case. They see the

---

[10] Labor Management Relations Act, 1947, Foreword

[11] Legal Department Memorandum No 1, *op. cit.*, pp. 1-2. (Italics Murray's )

many abuses in the labor movement that must be admitted by all, then, as a result of a deep-seated distrust of unions and union leaders, they assume that the abuses are typical of almost all unionists who find themselves in a position to practice the abuse. Once that conclusion is reached, it follows that regulation is necessary to make it unlawful for unions to engage in the abusive practice.

Probably the great majority of the persons who follow this line of reasoning base their economic thinking on the idea of a *laissez faire* economy being best. This does not mean complete *laissez faire,* but rather a government policy that leaves business relatively free to do as it pleases. It then is assumed that the general honesty of businessmen, the competition that they must face from other businessmen looking for workers, and the refusal of workers to accept substandard jobs will force payment of proper wages and the provision of reasonable conditions of work. It is assumed, without too much proof, that the bargaining power of workers even without organization or with very weak organization is adequate to cope with that of employers. In fact, in the thinking of many bargaining power is not even necessary because the interests of employers and workers are alike and, therefore, employers will automatically do that which is best for workers.

Those who oppose the Taft-Hartley Law work from an entirely different set of assumptions. They hold that workers cannot depend on either the magnanimity or enlightened selfishness of employers to bring to them good wages and working conditions. These persons argue that in order to equalize bargaining power and allow workers to demand, rather than ask for, the conditions which they want, strong, non-employer-dominated unions are needed. They argue further, and with good reason, that stable labor relations must be based on mutual respect and trust of each party for the other, and that legislation cannot provide this condition.

The foregoing paragraphs reduce to its essentials the split between those for and against the Taft-Hartley Law. It cannot be argued convincingly that the law was not intended to restrict and weaken unions, because many of the provisions could hardly have had any other basic purpose. It is hard to imagine that such was not in many minds when a favorable vote by a majority of all employees in a unit was made a necessary prerequisite to negotiation on a union shop. The curb on political contributions makes for some limitation on political action, although it does not prohibit expenditure for registration campaigns and for political education programs, it restricts the area of permissible political action. Political as well as economic action is a desirable part of the program of any union trying to use all possible means of achieving its goals. The

enactment of the law under consideration is itself proof of the desirability, from the union point of view, of political action to get and keep the "right people" in office.

The exact results of the new law are not yet discernible. While test cases on its constitutionality may be rushed, the validity of a number of questionable provisions will not be known for some time and, therefore, results cannot even be predicted. One thing is clear, even though the law may be supported in its entirety, it is not the slave labor bill that it has been called. There is no limitation on the rights of individuals to quit their work at any time. To strike, that is, to stop work but not sever the job relationship, is restricted as to time, but this is hardly sufficient to justify the reference to a slave labor bill.

No one can say to what extent unions may be broken as a result of the law. Undoubtedly, the employer who is desirous of fighting a union is given more ways of doing so. But collective bargaining with non-dominated unions has in many cases proved satisfactory to the employer as well as to workers. Many businessmen have no desire to disrupt the peaceful relationships that they have built up and will keep on dealing with unions in much the same manner as before.

On the other hand, the law has brought changes in the collective bargaining demands of unions. For example, the steelworkers' union, shortly after the law was enacted, resolved that in future contracts it would refuse to include a no-strike clause. This was decided upon as a way of coping with the provision of the law that unions may be sued for breach of contract; it did not mean that the union contemplated more strikes. There are, however, in any union wildcat strikes that occur despite all attempts of union officials to prevent them from developing. Therefore, some unions are trying to lessen the chance of suits by cutting out one provision that is likely to be violated on occasion.

Another attempt of some unions to circumvent the suability clause of the law is to demand that there be included in any agreement a provision that an employer will not avail himself of his right to sue under certain conditions. Since the law permits rather than requires suits, it is thought that such a clause included in an agreement will furnish an escape.

The typographical union developed still another means of trying to escape from this part of the law. This was to state a series of conditions under which they were willing to work. If the employer allowed these conditions, they worked; if not, they did not work. However, they refused to put the terms under which they would work in writing or to sign an agreement embodying the terms.

Shortly after this plan was evolved, the National Labor Relations Board issued a complaint against it as an unfair labor practice, since, it will be remembered, reducing an agreement to writing is one of the requirements of *bona fide* collective bargaining that is written into the law. Subsequently, a trial examiner ruled that the union had committed an unfair labor practice.

In time, other results will develop and some of the practices just noted may change or be extended. Taken as a whole, the Taft-Hartley Law probably has gone too far. That there were weak spots in federal labor-relations law is not open to question, some revisions were in order. Some unions had grown more rapidly than had the abilities of some of their leaders, others "threw their weight around" without regard for the effect of their actions on the public. But to use such a situation as a basis for a law as sweeping and restrictive as the one in question was unwise to say the least. Although labor disputes shortly after the law went into effect were at an unusually low level, it is doubtful if the Taft-Hartley Law will prove itself to be a sound basis for peaceful labor relations. It was, perhaps, a misguided but sincere effort to effect some changes that needed to be made, as its less desirable provisions become evident it may be possible to revise them.

### Postwar wage issues

A specialized phase of management-labor relations brought federal regulation in the postwar period. These particular difficulties arose out of the Fair Labor Standards Act and the interpretation of wording used therein. It will be recalled that the 1938 law provided certain minimum wages and a basic work week of forty hours beyond which employees were to be paid time-and-one-half for all hours of work in the week. But since the law did not define work it was not clear whether time spent in activities such as walking to a work place in the plant, or sharpening tools, or putting on protective clothing was to be construed as work time.

In many occupations considerable time is spent in going to and from the place of work or in performing other activities that are necessary on the job but are not a part of it, such as sharpening tools or cleaning up around a machine. The question arose as to whether such time should be compensated as a part of the period of work. In cases testing this issue the Supreme Court in 1944 and 1945 supported the claim of the United Mine Workers Union that travel time on the employer's premises should be compensated as a part of the work day.[12] In coal and metal mining and in lum-

[12] *Jewell Ridge Coal Corp v Local No 6167, United Mine Workers of America et al*, 325 U. S 16 (1945) *Tennessee Coal, Iron and Railroad Co. v Muscoda* [illegible]

bering, however, the time spent on the premises of the employer in traveling to and from work may be considerable, so that decisions such as the above did not indicate clearly the attitude that would be taken on relatively short periods of time spent in travel and preparation for the job in factories and other places of employment of like nature

In 1946, in a highly publicized case, the issue of "portal to portal" pay for factory workers came before the Court,[13] representatives of the workers bringing suit contended that employees were then able to punch the time clock as much as fourteen minutes before work time or after quitting time at lunch and at the close of the day without being paid for the extra time. Therefore, a worker could spend as much as fifty-six minutes per day on the premises of the employer without pay, however, nowhere near this amount of time was spent by most of the workers It was insisted that the workers had to check in early since not all could punch the clocks at the same time and some had to spend three or four minutes walking to their work place, putting on protective clothing, getting tools ready, or otherwise preparing for work Much the same actions had to be repeated in reverse at the close of the work period before the workers departed for home

The workers contended that the time unavoidably spent on the employer's premises, whether used in actual production or not, should be compensated by the employer. Since the Mt. Clemens Pottery Company refused to pay for such service, the dispute was taken to court. The federal district court ruled that the workers had a reasonable claim and that a relatively small amount of back pay was due for travel time and preparatory activities. The company, not satisfied with the ruling, appealed it, and the Circuit Court of Appeals reversed the ruling of the lower court, holding that the workers were not entitled to back pay. From this ruling an appeal was taken to the Supreme Court.

The High Court, although it did not determine the size of a reasonable claim in the particular case, did support the contention that time necessarily spent on the premises of the employer even though not engaged in productive work could be construed as a part of the hours "worked" on the job. In the opinion of the Court, time necessarily spent in walking from the plant entrance to the place of work and in doing tasks necessary to starting or stopping work, such as sharpening tools or cleaning the machine or place of work, could be considered work time. On the other hand, time spent in personal activities could not be so counted, similarly, the *de minimis* doctrine, which states that the law is not concerned with trifling matters, could

[13] *Anderson et al v Mt Clemens Pottery Co*, 328 U S. 680 (1946)

be applied so that insignificant amounts of walking or preparatory actions could not be held a part of the hours worked.

The case was remanded to the district court of its origin for determination of whether the workers were entitled to any back pay under the rules laid down by the Supreme Court. On a rehearing,[14] the district judge applied the *de minimis* doctrine and held that the amount of preparatory and walking time was too little to warrant compensation. Although the ruling disposed of the one case, it did not establish a principle that would dispose of other similar cases without litigation in each instance.

While the Mt. Clemens case was before the courts, especially after the ruling of the High Court, the idea of getting back pay for travel time and preparatory activities began to take hold in many unions. There was a wave of suits brought into the courts demanding back pay for such time for several years in the past. Since the Fair Labor Standards Act requires that all over forty hours of work per week must be compensated at time-and-a-half, and since most employers were running their plants during the war period more than forty hours per week, the claims ran especially high. The great number of suits and the large amount of the back pay asked caused much sentiment to be aroused against "portal to portal" suits and the actions of unions in general. There is much question as to whether it was reasonable to demand millions of dollars in back pay that might be collected because of a fortunate Supreme Court decision and not because of any dishonesty of the employer. Whether or not it was unreasonable, it was clearly unwise.

Many persons, including many congressmen, felt that the suits for back pay based on claims that pay should have been on a "portal to portal" pay basis rather than on one of time spent at the work place were unjustifiable. Since they were based on a federal law, Congress promptly took steps to put an end to the suits. The action taken is commonly referred to as the Portal Pay Act,[15] the name was not well chosen since Congress covered more than "portal to portal" wage claims.

To prove the need of such legislation, Congress opened the law with a long prefatory statement pointing out the misinterpretation of the Fair Labor Standards Act and the undesirable consequences thereof.[16] Thereupon, the lawmakers turned to the situation at hand, they divided the provisions of the law that dealt with wage

[14] *Anderson v. Mt. Clemens Pottery Co.*, 60 F. Supp. 710 (1947).

[15] Public Law 49, 80th Congress, 1st Session.

[16] The law also applied to wage claims arising under the Walsh-Healy and Davis-Bacon Acts.

claims into two parts applying to claims arising before and after the law went into effect, May 14, 1947

On claims arising prior to the effective date of the law, no distinction was made between those based on "portal to portal" pay and other wage claims. In both cases, claims were valid only if they were based on the express provision of a contract or on a custom or practice in effect in the place of work of the employer And if custom or practice was inconsistent with the contract, then the employer did not have to observe the custom Although most of the wage claims that were instituted before May 14, 1947, were probably portal pay claims, the law was much broader, if workers had no contract and had been paid less than the amount due to them for sufficiently long for such to become a custom or practice, then the law forbade a suit to collect in such cases

On claims arising after May 14, 1947, much the same general principles were followed Time spent traveling to and from the place of work or in activities preliminary or postliminary to a person's principal activities was to be compensated only if pay was required by contract, custom, or practice. Since the law does not define "custom" or "practice" or "preliminary" or "postliminary" activities, it is far from clear. In time, a body of administrative doctrine will be built up to clarify the meaning of these words.

In view of the vague language used in the law, it is not clear what its results will be. One thing is clear. it cut the ground from under most "portal to portal" pay suits, since they were not based on custom, practice or contract Presumably, that was the main purpose of the act If the law were to be used to discourage payment for extended periods of travel on the employer's property such as are necessary in mining or lumbering, for example, it would be unfortunate. However, such payments are permitted if they have been made customarily or if called for in a contract

Thus, the Congress took in 1947 its first steps to modify existing federal labor controls The Labor Management Relations Act and the Portal Pay Act both were actions essentially unfriendly toward organized labor, actions which were probably typical of the general sentiment of most non-worker groups Strangely enough, although Congress could find time for these pieces of legislation, they could not find the time to consider carefully the enactment of a fair employment practice (non-discriminatory treatment of labor regardless of color or race) law or to raise the forty-cent minimum wage, so obviously inadequate in view of rising prices.

It has been stated previously that impetuous actions on the part of organized labor in some of the work stoppages whose conditions,

impeded the national productive effort were unwise from the standpoint of public and congressional opinion, the portal pay suits were equally unfortunate. However, there is a sharp difference between correcting abuses and changing markedly the general tenor of controls and protections previously established The federal legislation reviewed in this chapter went much further than to correct abuses.

## Questions

1 Many students of labor relations say that a wave of labor disputes was to be expected at the close of World War II What is your attitude toward this opinion?

2 What are the pros and cons of the banning of closed shop agreements as was done under the Taft-Hartley Law?

3 Do you think there was need in 1947 for a revision of the National Labor Relations Act? If so, what specific revisions do you think were needed?

4 Do you consider union attitudes toward revision of the Wagner Act wise? If not, what would you suggest as a more intelligent approach?

5 The Taft-Hartley Law was aimed, in part at least, at balancing the power of unions and employers. Do you think it has succeeded in doing this?

6 Did the Portal Pay Act of 1946 change the meaning of "work time"? How would you define work time?

## Chapter XXVI

# CONCLUSIONS

### Background of labor controls

It is clear from the foregoing chapters that the American people did not reach the present stage of government control over labor relations at one jump. Rather it has resulted from a century and a half of legislative and judicial decisions and from the examples and precedents set by the British both before and after we became an independent nation. As a result of this extended period of maturation, an understanding of our present government policies requires a knowledge of many developments and practices of the past that have had an influence on the contemporary situation.

However, factors other than the legislative and judicial precedent that has evolved have influenced the structure of controls in our economy. The social and economic conditions of the time do much to shape the thought of our judges and legislators. A severe depression with many millions of unemployed brings a willingness to accept social experimentation. A strongly organized and belligerent labor movement engenders an attitude of opposition to unions. Various factors will exert their influence from time to time, thus, the conditions that give rise to certain actions include the labor problems that are especially knotty and the customs and precedents that exist. These customs and precedents are used as a basis for improvising or developing new means of dealing with problems at hand.

The history of the legislation and court action that comprises the background of our present labor controls is roughly a century and a half old. But even earlier the British had been exerting controls over labor legislation for centuries; the great part of those controls had been unfriendly toward labor, striving to protect the interests of employer groups and to discourage the organization of labor. Although this traditional attitude began to break a little at the end of the first quarter of the nineteenth century, there were by that time adequate examples of means of dealing effectively with unions of workers. As we have seen, America patterned itself readily upon these restrictive precedents.

In the latter part of the nineteenth century Great Britain and other

European nations developed a new line of action to cope with labor problems. In the late nineteenth and early twentieth century the pioneering experiments in social legislation were made These laws were a significant and constructive development in the search for means of handling the labor and social problems that arose out of modern industrial society In the United States, however, later industrialization, the slow disappearance of the frontier, and the strong spirit of individualism resulted in a very slow adoption of similar protective measures for American workmen

When the courts of this nation began to act in cases that concerned the activities of labor they had little in the form of written law for guideposts. Using their own interpretation of the common law—the customs and mores of the people—as guideposts, the courts were almost completely free to act as they saw fit It has been shown that these actions frequently were unfriendly toward organized labor

Gradually, statute law was substituted for common law, as such legislation was enacted, there were certain rather elastic limits on its content The Constitution of the United States, although far from clear and definite on many issues, contains provisions concerning the power of federal and state legislative bodies to enact laws. The great difficulty therein is the lack of adequate and clear-cut definitions of some of the terminology used. The federal Congress has the power to regulate interstate commerce, just exactly when such commerce starts and stops is not readily discernible and is not agreed upon from one time to another by members of the Supreme Court. It is very clear that interstate commerce is now construed much more broadly than it was a relatively few years ago. The power to tax is equally unclear; in many instances a measure levying excises of some form may in part be to raise revenue and in part a regulatory measure. Just how much regulation can be mixed with revenue raising and still be within the bounds of the Constitution is not clear.

Powers neither delegated to Congress nor denied to the states are reserved for the latter, the term "police power" is used to refer to the broad power of the states to regulate in order to promote the general welfare of their citizens. While this term does not appear in the Constitution, it is used to describe the powers reserved to the states. The difficulty involved is, of course, the problem of determining when a certain measure promotes the general welfare. One of the striking characteristics of our society is the great number of conflicts of interests; in such a case, almost any regulation or control benefits some persons and is harmful to others Arriving at

the proper evaluation of the benefits and detriments caused by some regulations is indeed difficult.

The Constitution also offers protections of some of the more basic rights of the people, such as freedom of speech, press, religion, assembly, and others However, it should be kept in mind that under the Constitution these are not unconditionally guaranteed, they are highly protected, and no more It might be said that individuals are given a guarantee that these basic rights will not be taken from them in an arbitrary and unreasonable manner. This is only good sense. There is no reason to be such a slave to freedom as to allow a person to exercise his right of free speech by shouting "Fire!" in a crowded theater or other gathering place Nor is there any reason to allow a maniac freedom to go where he pleases

Such denials of freedom as those just referred to obviously are reasonable However, there are many instances in which the case is not so clear-cut, this is especially true when restrictions that may affect the economic well-being of a person or group are at issue. Here is the area in which judicial decisions, based on rights protected under the Constitution, have often been far out of step with economic reality To assume that two persons or groups of persons have equal power to exercise their rights freely to contract, regardless of their economic circumstances, is to be far from the truth, unfortunately, such assumptions seem to have been basic to many court decisions and laws noted in the foregoing pages.

The conclusion is inescapable that, with a limited number of exceptions, as our society developed its own structure of legislative and judicial controls to govern labor relations and to solve labor problems, the guiding thought of legislators and members of the judiciary was unfriendly to labor It is doubtful if the persons involved thought of themselves as being unfriendly toward any group, in fact, it is a rare person who can see and understand his own bias and prejudices Nevertheless, the background, training, and environment that influenced these persons were such as to produce the point of view that has been noted.

Until the first World War the laws and decisions that evolved probably came about with little or no thought given toward any sort of over-all program. Court actions and, to a lesser extent, laws were improvisations designed to meet especially pressing problems For as long as it lasted the emergency of the war changed this situation somewhat at the federal level For the first time, uncertain but stimulating attempts at more comprehensive plans were made Administrative actions establishing dispute-settling mechanisms and sanctioning the right of workers to organize and the creation of a

system of public employment exchanges were parts of a hurriedly developed labor policy aimed at handling the most pressing labor problems in such a way as to expedite the war effort.

That much of the wartime control program was hastily conceived and administered by any means which could be seized upon did not detract from the fact that here was an attempt to fit together a number of activities comprising—although it was rather limited—a program of action. This was one of the early indications of the fact that it takes an emergency situation to bring about strong, concerted action. The more extreme the emergency and the more widespread the public acceptance of the existence of it, the greater will be the element of control.

The postwar period served to emphasize the fact that public sentiment does much to make or break a program of controls. The disappearance of a wartime psychology with the stoppage of hostilities, long before the economic effects of the war were past, made it impossible to continue some of the programs that had been set up during the war But as a nation we learned little from the economic disruptions that followed, the same story was repeated a quarter of a century later with almost no deviations from the original pattern of 1918-1920.

The period between the two wars was one of contrasts, the government policies of the 1920's and 1930's were so different that the two decades must be kept in mind as sharply unalike. In the 1920's the postwar psychology already described and the general prosperity of the time made the period one of almost no progress in federal labor controls, and also of little in the states

Probably postwar psychology and general prosperity were not the only causes of the reaction of the 1920's. There was a widespread psychological attitude that the new capitalism of prosperity based on high wages and enlightened labor policies was here to stay. In the minds of many, the well-being of management and labor lay in the same direction and employers would see to it that the interests of their workers were protected. If such were the case, there was no need for a strongly organized labor force to demand that the workers' interests be protected, similarly, there was no need of enacting protective legislation for labor.

There was still another matter that helped to explain the attitudes of the 1920's. The philosophy of economic individualism was widespread, every person had the right and the opportunity to aspire and strive for high position. According to such a philosophy, each individual should have the right to contract his services under any circumstances that he chose. Thus, minimum-wage laws, for example, were a clear violation of the thought that everyone should

be left free to pursue his own best interests in any way he saw fit. The concept of economic necessity making it impossible for many persons effectively to pursue their own best interests was not commonly held by legislators and the judiciary at that time.

### Changes in government philosophy

The decade of the 1930's was ushered in with an economy-shaking depression, the equal of which had never been seen in this nation Greater numbers of unemployed had never plagued the nation, and, especially as the depression wore on, never had so much doubt been raised as to the workability of American capitalism.

With such a shocking experience that did not pass away quickly, the Congress was needled into attempting relatively drastic action to cope with the situation. As it happened, this action was taken under a Democratic administration; it is doubtful if the identity of the political party in power was a dominant factor in the nature and extent of the experiments. The economic controls of the "New Deal" probably were more a product of the times than of the party that happened to be in power, although different groups in office would have influenced the details of the recovery program of the federal government, the broad outlines would of necessity have remained substantially the same.

There was another interesting development in the 1930's. The rights and privileges of members of the working classes were recognized and protected much more carefully than they ever had been before The theory that complete equality of treatment of employer and employee and of the well-to-do and the poor would offer equality of opportunity for all gradually was abandoned. In its place, a philosophy was developed of consciously protecting the weaker and less capable groups in our society, the depression emphasized the fact that the less fortunate and the less able persons were in many instances unable to cope with the economic problems that they faced.

With this new attitude as a basis of action, the 1930's became a period in which much progressive labor and social legislation was enacted Those laws have been noted in some detail earlier in this book, they need not be reviewed here Regulations guaranteeing the right of workers to organize and others instituting broad and effective control of wages and child labor and a system of social security legislation were a sharp break with precedent and tradition.

At the same time there was a shift in the position of certain members of the Supreme Court. Some members of that body had taken a liberal position for many years in the past, but in most instances

the opinions of Justices like Brandeis, Holmes, Cardozo, and a few others were minority statements. It was not until the late 1930's that the thinking of Brandeis on the right of workers to organize and on minimum-wage rates and other social protections became acceptable to a Court majority. This was a very important development because a change in the attitude of persons in Congress would have done little good if the High Court had not been willing to validate new and more progressive laws.

During the depression decade the attitude of the national Congress and the Supreme Court was reflected in the states. There as elsewhere a more liberal attitude than had prevailed earlier developed, and steps were taken in a considerable number of states to restrict the use of the injunction so as to ensure the right to organize and to improve child labor or minimum-wage legislation. And, under the impetus of the federal Social Security Act, unemployment compensation and old age assistance laws were enacted in all states.

The outbreak of the second World War brought a period in which labor problems were dealt with by the government in summary fashion. Labor disputes could not be fought out at that time, steadiness of production was much too important to the war effort. Similarly, wages, hours of work, the utilization of labor, and other matters demanded government policies and controls that would ensure the most effective prosecution of the war.

The practices of the government during the war were such as to keep the amount of time lost through work stoppages at a minimum and to make the record of war production extremely high. But it left in the wake of the war many instances in which governmentally imposed settlements of labor-management controversies were far from satisfactory to either party to the dispute. And with the end of the shooting war many persons felt that no holds were barred in the settlement of controversies. As a result, there was a widespread outbreak of strikes in 1946, and these stoppages caused much resentment among the public and the members of Congress.

This attitude led to a dominance of reaction in government policies that, temporarily at least, retraced some of the steps in progressive labor legislation that had been taken so slowly in the previous decade. The reaction was not so severe as union leaders would have had the nation believe, neither state nor federal laws took us back to slave labor nor to the extensive use of labor injunctions and other anti-union weapons that were common in the early 1930's. Despite this fact, the federal and state labor legislation of 1945-1947 showed a rather unfriendly attitude toward organized labor. Under the guise of equalizing the powers and privileges of unions and management, much was done in the federal Labor Management

Relations Act and in similar state laws to weaken the position of organized labor The relaxing of restrictions on the issuance of labor injunctions and the imposition of curbs on the union shop, the checkoff, political activity, and other union actions placed unions in a much less advantageous position than they had enjoyed after 1935.

There seems to be little doubt but that this was the intent and purpose of the laws. The manner in which some passages of the federal Labor-Management Relations Act were worded was such they could hardly have been drawn by persons who believed that strong labor unions are desirable With the long tradition of unions within the nation and with the Bill of Rights guaranteed by the Constitution, it was not feasible to try to say that unions were, *per se*, undesirable But although a law so saying was impractical, it was possible to attack a bit here and there so that the power of unions would be curbed Such a philosophy must have been basic to much of the postwar labor legislation enacted by state and federal lawmakers

### Probable trends in government labor controls

By late 1947, therefore, the United States had shown a considerable swing to reaction, would it continue and should it? It is quite unlikely that the shift will continue for many years. Although under the "New Deal" administration of President F. D Roosevelt, liberal or progressive legislation may have come about more rapidly than it would have under another administration, the general trend of government controls over labor problems and labor relations was discernible before 1933 The party and persons at the helm of the nation may have influenced the specific contents of the measures enacted, but it probably did not control their general nature.

If the above reasoning be sound, then the future of government labor controls is clear. The legislation and the judicial and administrative attitudes of the future must, in a broad sense, be prolabor That is, the fact must be recognized that in the American economy there are strong economic rivalries between management and labor and their points of view frequently will conflict sharply As these divergent interests are pursued, labor relations frequently come down to a test of strength between the contesting parties In such cases, in those parts of our economy where relatively large-scale business enterprise exists the bargaining power of employers and unorganized workers is likely to be quite unequal. In order to achieve a relatively adequate balance of power, the government needs to sanction, as it has been doing since 1933, the formation of independent, responsible trade unions. According to the present doctrines of the Supreme Court, union-management disputes are so

clearly related to the free and uninterrupted flow of interstate commerce that such action is within the powers of the federal government

One of the more disturbing of the phenomena observable in our economy is the increasing amount of economic insecurity that is all about us. The worker is likely to have little with which to care for himself and family during periods of unemployment, sickness, or other hardship. Therefore, the future policy of the government must be to extend and improve the social security measures now in effect Partially for economic and partially for humanitarian reasons the unemployed worker must be provided a reasonably adequate income in times when he finds it impossible to get work. The same is true of older workers no longer able to earn their own livelihood, they too should receive an adequate income despite their enforced idleness

It might be noted in passing that the problem of caring for older workers is likely to increase in size and complexity The proportion of our population that is above sixty or sixty-five years of age has grown steadily. Meanwhile, the productive ability of industrial workers per hour of work is on the increase, but our distribution of purchasing power is such that we seem able only during war and postwar periods to use all that our economy can produce. If this is the case, then the economy is faced with a number of possible actions to meet the situation. One possible means of ensuring that we utilize, whether wisely or unwisely, all we produce is to enter into a continuous or frequently recurring war The trouble with this possible action is that eventually there might be too few persons left to worry particularly about economic problems. A second approach is a very sharp redistribution of income so as to put a much larger percentage of all income in the hands of the poorer classes. There are many real problems involved in such a proposal, and politically it is a very touchy question at best Such a plan is not likely to be the one followed, if for no other reason than that it would be political dynamite. A third possibility is cutting deeply into the hours of work In part through legislation and in part through enlightened personnel practices, this general policy has been followed to the point where hours of work are rarely a problem of physical ability. But the shortening of hours of work to cope with existing or potential unemployment has been followed slightly by the "New Deal" administration and urged by some unions. In view of the fact that unions are rarely willing to take a cut in hours without an increase in wage rates to make up for the shorter work time, this idea may not be carried much further by governmental fiat.

A beginning has been made, through school-attendance laws and the retirement annuities of the Social Security Act, of shortening the number of years during which persons are active members of the labor force Politically, this may be the most logical method of trying to keep the labor force at a relatively low level Most persons are in favor of giving children the opportunity for a more extended education than has been possible in the past. And probably most persons do not object to paying social security taxes to be used for retirement benefits, since they expect to be able to draw similar benefits when they reach retirement age

To the economist who is not primarily interested in matters of political expediency, the problem is one of increasing the demand for goods or otherwise guaranteeing to workers who are not needed in productive jobs an income that is adequate to meet basic needs. In future years the matter of social security will probably loom larger and larger. Since the older workers and the unemployed do not have a right to an income from work performed, but must continue to consume food, clothing, shelter, and the like even though they are not working, it is the duty of government in a civilized society to extend a helping hand.

The position stated in this chapter must not be taken to mean that the duty of government is in all cases to protect working-class groups; in some instances they are more than able to take care of themselves. There are a number of powerful unions in the nation today that have organized virtually the whole craft or industry in which they are active, and their position is such that they are able to match or even override the bargaining strength of some of the employers with whom they negotiate.

It clearly is the duty of government to ensure that neither management nor any union be allowed an uninhibited power to negotiate or otherwise conduct its affairs entirely as it sees fit. A powerful union, just as a powerful employer, can do much that is socially undesirable In view of this fact, legislation was called for in the post-war period to state the duties of trade unions as well as their rights. In other words, there was a need, and there will continue to be a need if the union movement remains strong and powerful, to state the rights and duties of both management and labor rather than the rights of labor and the duties of management. The opinion has been expressed herein that the Taft-Hartley Act was not the piece of legislation that was needed; that it was more than an attempt to balance the rights and duties of management and labor. But the leaders of labor who took the position that no legislative responsibilities should be placed upon the labor movement showed a lack

of knowledge or a disregard for the very great influence that the actions of powerful unions can have on the public.

Since in a highly integrated economy work stoppages and labor unrest can be severely harmful to the public, some legislation to establish the duty of unions to bargain in good faith and to curb actions that are especially harmful is needed. Such laws would not limit the normal actions of most unions; those whose activities were severely curtailed thereby could not be defended. Perhaps it also is defensible to prohibit the closed shop, but any attempts to restrict the union shop, unless it was secured by fraud or violence, cannot be defended; such restrictions on the union shop as now exist should be repealed.

Perhaps in some instances controls may need to be extended further. There are groups of workers in our society whose work is so important that it should be continued without interruption at almost any cost, persons working in public utilities are an example. Employees of a hospital are another instance, as are many employees of state and local governments. It may be necessary to take from such groups the right to strike; their work is so important to the public welfare that they should not be able to stop it in concert. But such a public policy would be indefensible unless accompanied by an extension of guarantees that would enable such workers to have their grievances and demands handled promptly and justly without resort by them to work stoppages or threats of them. Ensuring prompt and peaceful settlement of grievance issues and consideration of demands would require special governmentally appointed or supervised boards created for this express purpose. Some lessons of experience along this line are now available in the railway labor policy of the government of the years since the early 1920's. Although some settlements are far from prompt, almost all are reached without actual work stoppages.

The general point of view that has been expressed in the preceding paragraphs is essentially a pro-labor one, in the sense that it is held to be generally desirable for labor controls to protect the rights of workers even if by so doing the rights of others are restricted. The reason for taking this point of view is that the lack of any considerable amount of property or savings, which is typical of the average worker, makes him much less able to withstand economic hardship than are most entrepreneurial, professional, and other groups. And, as we have said, economic insecurity is a characteristic of the American economy.

If it be true that there is much discrepancy between the economic power of different groups, then it follows that a governmental policy which treats all alike regardless of their status or circumstances is

not desirable. Inequalities give rise to a need for protective legislation, guaranteeing certain rights, that frankly is based on a philosophy of differential treatment for persons in accordance with varied circumstances It is only by such methods that we can equalize economic powers and privileges and extend a truly equal opportunity to all Such plans, if properly and effectively executed, would mean no "second-class" economic citizens, a goal that is in agreement with the basic tenets of the democratic way of life

## Questions

1 Does your study of government labor controls lead you to believe that they can be enacted and amended with enough speed to make them an adequate method of dealing with labor problems?

2 Should government policy be one of trying to prescribe the solution to a certain labor problem or should it be to try to equalize bargaining power and let labor and management reach their own solutions?

3 To what extent do you think public opinion determines the controls that are established?

4 Is it possible through government controls to do away with the economic insecurities that plague our economy and yet retain our basic individual freedoms?

5 What, in your opinion, are the greatest gaps in the social security legislation existing in the United States? Defend your answer.

6 It has been stated in this chapter that in the future government controls must, in broad outline, favor the worker, whose bargaining power is often too weak to bring about equitable employment conditions Evaluate this point of view

# APPENDICES

# Appendix I

## BIBLIOGRAPHY

The books, aıtıcles, ıeports, and court decisions lısted ın Appendix I wıll pıovıde mateııal foı further study of the subjects discussed ın the foıegoing pages There are otheı sources that may serve as well There ıs much mateııal pertınent to government labor controls contaıned in the Constıtutıon of the Unıted States and ın the laws of the land. Sınce some of these are ıncluded ın the following appendıces, none are cıted ın the bıblıogıaphy.

### BOOKS AND PAMPHLETS


1. Armstrong, Barbara, *Insuıııng the Essentıals* New York The Macmıllan Co, 1932
2. Beıman, Edward, *Labor and the Sheı man Act* New York Harper and Brothers, 1930
3. Blake, R. P. (ed ), *Industrıal Safety* New York Prentıce-Hall, Inc, 1943
4. Commons, John R, *Legal Foundatıons of Capıtalısm* New Yoık The Macmıllan Co, 1924
5. Commons, J, and Andrews, J, *Princıples of Laboı Legıslatıon* New York Harper and Brotheıs, 1936.
6. Commons, John R, and Gılmoıe, E A, *Documentary Hıstory of Amerıcan Industrial Socıety*, Vol III, *Labor Conspıı acy Cases* Cleveland· Arthur H Clark Co, 1910
7. *Complete Labor Equipment*, Vol 1, *Wage and Hour* New York. Prentıce-Hall, Inc, 1947
8. *Complete Labor Equıpment*, Vol. 2, *Labor Relations* New York Prentıce-Hall, Inc, 1947
9. *Complete Labor Equipment*, Vol 3, *State Labor Laws* New Yoık Prentıce-Hall, Inc, 1947
10. Coıwın, E S, *The Constitutıon and What It Means Today* Pııncetton. Prınceton Unıversıty Pıess, 1946
11. Coıwın, E. S, *The Presıdent. Office and Powers* New Yoık New York Unıversıty Press, 1940.
12. Daugherty, C R, *Labor Problems ın Amerıcan Industry* Boston Houghton Mıfflın Co, 1941
13. Dıllard, Dudley, *The Economics of John Maynard Keynes* New York Prentıce-Hall, Inc, 1948
14. Ellıngwood, A R, and Coombs, W, *The Government and Labor* New York A. W. Shaw Co., 1926

15. Fairley, Lincoln, *The Company Union in Plan and Practice.* New York Affiliated Schools for Workers, 1936.
16 Frankfurter, F , and Greene, N., *The Labor Injunction* New York The Macmillan Co., 1930
17 Gaer, Joseph, *The First Round* New York Duell, Sloan and Pearce, 1944
18. Gregory, C O , *Labor and the Law* New York W W Norton & Co , 1946.
19 Historical Records Survey, Works Progress Administration, *Presidential Executive Orders* New York Books, Inc , 1944
20. Kaltenborn, H S., *Governmental Adjustment of Labor Disputes.* Chicago· The Foundation Press, Inc , 1943
21 Kellogg, Ruth M , *The United States Employment Service* Chicago The University of Chicago Press, 1933
22 *Labor-Management Relations Act, 1947* New York· Prentice-Hall, Inc , 1947
23. *Labor-Management Relations Act, 1947,* National Association of Manufacturers Law Digest, June, 1947, Vol IX, No 3
24 Landis, J , and Manoff, M., *Cases on Labor Law* Chicago The Foundation Press, Inc , 1942
25 Lescohier, D. D , *The Labor Market* New York The Macmillan Co , 1923
26. Mason, A. T., *Brandeis and the Modern State* Washington: National Home Library Foundation, 1936
27 Mason, A T , *Organized Labor and the Law* Durham Duke University Press, 1925
28 Metz, H W , *Labor Policy of the Federal Government.* Washington. The Brookings Institution, 1945
29 Millis, H A , and Montgomery, R E , *Labor's Progress and Some Basic Labor Problems* New York McGraw-Hill Book Co., Inc., 1938
30 Millis, H A., and Montgomery, R E , *Labor's Risks and Social Insurance* New York. McGraw-Hill Book Co , Inc , 1938
31 Millis, H A , and Montgomery, R E , *Organized Labor.* New York. McGraw-Hill Book Co., Inc , 1945.
32 Peterson, Florence, *Survey of Labor Economics* New York· Harper and Brothers, 1947
33 *Prentice-Hall Labor Course.* New York: Prentice-Hall, Inc
34 Raushenbush, Carl, and Stein, Emanuel, *Labor Cases and Materials* New York· F S Crofts, 1941
35 Segal, M J , *The Norris-LaGuardia Act and the Courts* Washington American Council on Public Affairs, 1942
36. Smith, L. J., *Collective Bargaining* New York Prentice-Hall, Inc., 1946
37 Taft, Philip, *Economics and Problems of Labor.* Harrisburg. Stackpole and Sons, 1942
38. *Re Taft-Hartley Act,* Legal Department Memoranda Nos. 1 and 2, United Steelworkers of America

39. Taylor, A. G., *Labor Problems and Labor Law.* New York. Prentice-Hall, Inc., 1938.
40. Veblen, Thorstein, *The Theory of Business Enterprise* New York. C. Scribner's Sons, 1927
41 Ware, N J, *Labor in Modern Industrial Society* New York. D C Heath and Co, 1935
42. Webb, Sidney, and Webb, Beatrice, *The History of Trade Unionism* London Longmans, Green and Co, 1920
43 Witte, E E, *The Government in Labor Disputes* New York. McGraw-Hill Book Co, Inc, 1932.
44 Wolman, Leo, *Ebb and Flow in Trade Unionism* New York. National Bureau of Economic Research, 1936
45 Yoder, Dale, *Personnel Management and Industrial Relations,* 3rd Edition New York: Prentice-Hall, Inc, 1948.

## MAGAZINE ARTICLES

1 Acee, Alfred, "State Labor Legislation in 1947," *Monthly Labor Review,* September, 1947, Vol 65, No 3, p 277.
2 Acee, Alfred, "State Workmens Compensation Legislation," *Monthly Labor Review,* October, 1947, Vol 65, No 4, p 415.
3. Dickason, Gladys, "Women in Labor Unions," *Annals of the American Academy of Political and Social Science,* May, 1947, Vol 251, p 70.
4 Dodd, A. M, "Interstate Compacts," *U S Law Review,* February, 1939, Vol 73, No 2, p 75
5 Elson, A, and Schanfield, L., "Local Regulation of Discriminatory Employment Practices," *Yale Law Journal,* February, 1947, Vol 56, No 3, p 431.
6 Kroll, Jack, "Why Labor Is in Politics," *New York Times Magazine,* October 27, 1946, p. 15.
7. "Legislative Restrictions on the Closed Shop," *Monthly Labor Review,* June, 1947, Vol 64, No 6, p 1056
8 *Manpower Review,* monthly organ of the War Manpower Commission, Washington, U S Government Printing Office
9. Mathews, R E, "Survey of Ohio Practice in Issuance of Labor Injunctions," *Ohio State University Law Journal,* June, 1939, Vol 5, No. 3, p 294.
10 Northrup, H R, "The Railway Labor Act and Railway Labor Disputes in Wartime," *The American Economic Review,* June, 1946, Vol. XXXVI, No 3, p 324
11. Nunn, W. L, "Local Progress in Labor Peace," *National Municipal Review,* December, 1940, Vol. XXIX, No 12, pp. 7-27.
12. "State Laws Requiring Union Registration and Financial Reports," *Monthly Labor Review,* June, 1947, Vol 64, No 6, p 1052.
13 Stigler, G J., "The Economics of Minimum Wage Legislation," *The American Economic Review,* June, 1946, Vol XXXVI, No 3, p 358
14 "U. S. Conciliation Service, 1913-1947," *Monthly Labor Review,* August, 1947, Vol. 65, No. 2, p 172

15 Witte, E E, "Early American Labor Cases," *Yale Law Journal,* May, 1926, Vol. 35, No 7, p 825.
16. Yoder, Dale, "State Experiments in Labor Relations Legislation," *Annals of the American Academy of Political and Social Science,* November, 1946, Vol 248, p 130

## U. S. GOVERNMENT REPORTS AND STUDIES

1 Bureau of Labor Statistics, Bulletin No 240, *Comparison of Workmen's Compensation Laws of the United States up to December 31, 1917* Washington U S Government Printing Office, 1918
2. Bureau of Labor Statistics, Bulletin No 379, *Comparison of Workmen's Compensation Laws of the United States as of January 1, 1925.* Washington U. S Government Printing Office, 1925.
3. Bureau of Labor Statistics, Bulletin No 616, *Handbook of Labor Statistics.* Washington U S. Government Printing Office, 1936
4 Bureau of Labor Statistics, Bulletin No 694, *Handbook of Labor Statistics* Washington U. S Government Printing Office, 1942.
5 Bureau of Labor Statistics, Bulletin No 157, *Industrial Accident Statistics* Washington U. S Government Printing Office, 1915
6 Bureau of Labor Statistics, Bulletin No 619, *Labor Laws and Their Administration* Washington: U. S. Government Printing Office, 1936.
7 Bureau of Labor Statistics, Bulletin No 287, *National War Labor Board.* Washington U. S Government Printing Office, 1922
8 Bureau of Labor Statistics, Bulletin No. 672, *Problems of Workmen's Compensation Administration* Washington: U. S Government Printing Office, 1940
9 Bureau of Labor Statistics, Bulletin No 241, *Public Employment Offices in the United States* Washington. U. S Government Printing Office, 1918
10 Department of Labor, *Report of the Commission on Industrial Relations in Great Britain* Washington. U. S. Government Printing Office, 1938
11 Division of Labor Standards, U. S. Department of Labor, Bulletin No. 81, *A Guide to the National Labor Relations Act.* Washington U S Government Printing Office, 1946
12 Division of Labor Standards, U S. Department of Labor, Bulletin No 70, *How Good Is Your Workmen's Compensation Law?.* Washington U S Government Printing Office, 1944
13 Division of Labor Standards, U. S Department of Labor, Bulletin No. 62, *Principal Features of Workmen's Compensation Laws as of September, 1943* Washington: U S. Government Printing Office, 1943
14 Division of Labor Standards, U S. Department of Labor, Bulletin No 78, *State Workmen's Compensation Laws as of June 1, 1946* Washington U S. Government Printing Office, 1946.
15 Employment Service, Department of Labor, "The Activities of the

War Manpower Commission," mimeographed report of the Employment Service. Washington 1946.

16. *President's National Labor-Management Conference*, Vols I to VI Washington U S Government Printing Office, 1946.
17 *Reports of the National Labor Relations Board*, one through eleven. Washington: U. S. Government Printing Office, annually through 1947
18 *Reports of the National Mediation Board*, one through twelve Washington: U. S. Government Printing Office, annually through 1947
19 *Reports of the Secretary of Labor*, annual publications since 1913 Washington U S Government Printing Office
20 Social Security Board, *A Handbook on Federal Old-Age and Survivors' Insurance*. Washington: U S Government Printing Office, 1941.
21 *Violations of Free Speech and Rights of Labor* (hearings before a subcommittee on education and labor, U S. Senate, Parts 1 to 45) Washington U S. Government Printing Office, 1936-1939
22 Women's Bureau, U. S. Department of Labor, Bulletin No 191, *State Minimum Wage Laws and Orders* Washington U. S. Government Printing Office, 1942.

## COURT DECISIONS

1. *Adair v U. S.*, 208 U S 161 (1908)
2. *Adkins v. Children's Hospital*, 261 U S. 525 (1923)
3 *Anderson et al v Mt Clemens Pottery Co*, 328 U S 680 (1946).
4. *Bailey v. Drexel Furniture Co*, 259 U S. 20 (1922)
5. *Carmichael, Attorney General of Alabama, et al v Southern Coal and Coke Co.*, 301 U. S. 495 (1937)
6 *Commonwealth v John Hunt et al*, IV Metcalf (45 Massachusetts) 111 (1842).
7 *Coronado Coal Co. v United Mine Workers of America*, 268 U S 295 (1925).
8 *In re Debs, Petitioner*, 158 U S 564 (1895)
9 *Duplex Printing Press Co. v. Deering*, 254 U. S 443 (1921)
10 *Fansteel Metallurgical Corporation v. National Labor Relations Board*, 306 U S 240 (1939)
11. *Gompers v Bucks Stove and Range Co*, 221 U S 418 (1911)
12. *Hammer v. Dagenhart*, 247 U S 251 (1918)
13 *Helvering, Commissioner of Internal Revenue, et al. v. Davis*, 301 U. S 619 (1937)
14 *Hitchman Coal and Coke Co. v Mitchell*, 245 U S. 229 (1917)
15 *Holden v. Hardy*, 169 U S 366 (1898)
16 *Lauf v E G Shinner & Co*, 303 U S 323 (1938)
17. *Loewe v Lawlor*, 208 U S 274 (1908)
18. *Milk Wagon Drivers Union of Chicago, Local 753 v Meadowmoor Dairies, Inc.*, 312 U. S. 287 (1940)

19 *National Labor Relations Board v. Jones and Laughlin Steel Corp.,* 301 U. S 1 (1937).
20 *New York Central Railroad v. White,* 243 U. S. 188 (1917).
21 *Opp Cotton Mills, Inc. v Administrator,* 312 U S 126 (1941).
22 *Schechter Poultry Corporation v United States,* 295 U. S 495 (1935)
23 *Texas and New Orleans Railroad v. Brotherhood of Railroad Clerks,* 281 U S. 548 (1930).
24. *Truax v. Corrigan,* 257 U. S 312 (1921).
25. *United Mine Workers of America v. Coronado Coal Co,* 259 U S 344 (1922).
26 *United States v. F. W. Darby Lumber Co,* 312 U S. 100 (1941)
27 *United States v Hutcheson,* 312 U S. 219 (1940)
28 *United States v. United Mine Workers of America,* 330 U S. 258 (1947)
29 *Virginian Railway Co v System Federation #40,* 300 U S 515 (1937)
30. *West Coast Hotel Co v Parrish,* 300 U. S. 379 (1937)

## Appendix II

# CONSTITUTION OF THE UNITED STATES

We the People of the Umted States, in Oider to foim a more perfect Umon, establish Justice, insure domestic Tranquility, provide foi the common defence, piomote the general Welfare, and secure the Blessings of Liberty to ourselves and our Posterity, do ordain and establish this Constitution for the Umted States of Ameiica

ARTICLE I

Section 1 All legislative Poweis herein gianted shall be vested in a Congiess of the United States, which shall consist of a Senate and House of Repiesentatives

Section 2 The House of Representatives shall be composed of Members chosen eveiy second Year by the People of the several States, and the Electors in each State shall have the Qualifications requisite for Electors of the most numerous Bianch of the State Legislatuie

No Peison shall be a Representative who shall not have attained to the Age of twenty-five Years, and been seven Years a Citizen of the Umted States, and who shall not, when elected, be an Inhabitant of that State in which he shall be chosen

[Repiesentatives and direct Taxes shall be appoitioned among the several States which may be included within this Union, according to their respective Numbers, which shall be determined by adding to the whole Number of free Persons, including those bound to Service foi a Term of Yeais, and excluding Indians not taxed, three fifths of all other Peisons ] The actual Enumeration shall be made within thiee Years after the first Meeting of the Congress of the Umted States, and within every subsequent Term of ten Years, in such Manner as they shall by Law direct The numbei of Repiesentatives shall not exceed one foi every thirty Thousand, but each State shall have at Least one Representative; and until such enumeration shall be made, the State of New Hampshire shall be entitled to chuse three, Massachusetts eight, Rhode-Island and Providence Plantations one, Connecticut five, New York six, New Jersey four, Pennsylvania eight, Delaware one, Maiyland six, Viigima ten, North Caiolina five, South Carolina five, and Georgia three.

When vacancies happen in the Representation from any State, the Executive Authoiity thereof shall issue Writs of Election to fill such Vacancies

The House of Repiesentatives shall chuse theii Speaker and other Officers, and shall have the sole Power of Impeachment

Section 3. The Senate of the Umted States shall be composed of two Senators fiom each State, chosen by the Legislature thereof, for six Yeais, and each Senator shall have one Vote.

Immediately after they shall be assembled in Consequence of the first Election, they shall be divided as equally as may be into three Classes The Seats of the Senatois of the first Class shall be vacated at the Expiiation of the second Year, of the second Class at the Expiration of the fourth Year, and

of the thud Class at the Expuation of the sixth Year, so that one-thud may be chosen every second Year, and if Vacancies happen by Resignation, oi otherwise, duimg the Recess of the Legislature of any State, the Executive thereof may make tempoiary Appointments until the next Meeting of the Legislature, which shall then fill such Vacancies

No Peison shall be a Senator who shall not have attained to the Age of thuty Yeais, and been nine Yeais a Citizen of the United States, and who shall not, when elected, be an Inhabitant of that State for which he shall be chosen

The Vice President of the United States shall be President of the Senate, but shall have no Vote, unless they be equally divided.

The Senate shall chuse theu other Officers, and also a President pro tempore, in the absence of the Vice Piesident, or when he shall exercise the Office of Piesident of the United States.

The Senate shall have the sole Power to try all Impeachments. When sitting for that Puipose, they shall be on Oath or Affirmation. When the Piesident of the United States is tried, the Chief Justice shall pieside And no Peison shall be convicted without the Concurrence of two thirds of the Membeis present

Judgment in Cases of Impeachment shall not extend furthei than to iemoval from Office, and disqualification to hold and enjoy any Office of honor, Tiust oi Piofit undei the United States but the Party convicted shall neveitheless be liable and subject to Indictment, Tiial, Judgment and Punishment, according to Law

SECTION 4 The Times, Places and Manner of holding Elections for Senators and Repiesentatives, shall be piescribed in each State by the Legislature thereof; but the Congiess may at any time by Law make or alter such Regulations, except as to the Places of Chusing Senatois

The Congress shall assemble at least once in every Year, and such Meeting shall be on the first Monday in December, unless they shall by Law appoint a different Day.

SECTION 5. Each House shall be the Judge of the Elections, Returns and Qualifications of its own Members, and a Majoiity of each shall constitute a Quoium to do Business, but a smallei Number may adjourn from day to day, and may be authorized to compel the Attendance of absent Membeis, in such Manner, and under such Penalties as each House may piovide.

Each House may deteimine the Rules of its Pioceedings, punish its Members for disoiderly Behavioi, and, with the Concuiience of two thirds, expel a Membei

Each House shall keep a Jouinal of its Proceedings, and from time to time publish the same, excepting such Parts as may in theu Judgment iequiie Secrecy, and the Yeas and Nays of the Members of either House on any question shall, at the Desue of one fifth of those Present, be enteied on the Journal

Neithei House, during the Session of Congiess, shall, without the Consent of the othei, adjouin foi moie than thiee days, noi to any other Place than that in which the two Houses shall be sitting

SECTION 6. The Senators and Repiesentatives shall receive a Compensation foi theu Seivices, to be asceitained by Law, and paid out of the Tieasuiy of the United States. They shall in all Cases, except Treason, Felony and Bieach of the Peace, be privileged from Aniest duiing theu Attendance at the Session of theu respective Houses, and in going to and retuining fiom the same, and for any Speech or Debate in eithei House, they shall not be questioned in any other Place

No Senator or Representative shall, during the Time for which he was elected, be appointed to any civil Office under the Authority of the United States, which shall have been created, or the Emoluments whereof shall have been encreased during such time, and no Person holding any Office under the United States, shall be a Member of either House during his Continuance in Office

SECTION 7. All Bills for raising Revenue shall originate in the House of Representatives, but the Senate may propose or concur with Amendments as on other Bills

Every Bill which shall have passed the House of Representatives and the Senate, shall, before it become a Law, be presented to the President of the United States, If he approve he shall sign it, but if not he shall return it, with his Objections to that House in which it shall have originated, who shall enter the Objections at large on their Journal, and proceed to reconsider it. If after such Reconsideration two thirds of that House shall agree to pass the Bill, it shall be sent, together with the Objections, to the other House, by which it shall likewise be reconsidered, and if approved by two thirds of that House, it shall become a Law But in all such Cases the Votes of both Houses shall be determined by Yeas and Nays, and the Names of the Persons voting for and against the Bill shall be entered on the Journal of each House respectively. If any Bill shall not be returned by the President within ten Days (Sundays excepted) after it shall have been presented to him, the Same shall be a Law, in like Manner as if he had signed it, unless the Congress by their Adjournment prevent its Return, in which Case it shall not be a Law

Every Order, Resolution, or Vote to which the Concurrence of the Senate and House of Representatives may be necessary (except on a question of Adjournment) shall be presented to the President of the United States, and before the Same shall take Effect, shall be approved by him, or being disapproved by him, shall be repassed by two thirds of the Senate and House of Representatives, according to the Rules and Limitations prescribed in the Case of a Bill

SECTION 8 The Congress shall have Power To lay and collect Taxes, Duties, Imposts and Excises, to pay the Debts and provide for the common Defence and general Welfare of the United States, but all Duties, Imposts and Excises shall be uniform throughout the United States,

To borrow money on the credit of the United States,

To regulate Commerce with foreign Nations, and among the several States, and with the Indian Tribes;

To establish an uniform Rule of Naturalization, and uniform Laws on the subject of Bankruptcies throughout the United States,

To coin Money, regulate the Value thereof, and of foreign Coin, and fix the Standard of Weights and Measures;

To provide for the Punishment of counterfeiting the Securities and current Coin of the United States,

To establish Post Offices and post Roads,

To promote the Progress of Science and useful Arts, by securing for limited Times to Authors and Inventors the exclusive Right to their respective Writings and Discoveries;

To constitute Tribunals inferior to the supreme Court,

To define and punish Piracies and Felonies committed on the high Seas, and Offenses against the Law of Nations,

To declare War, grant Letters of Marque and Reprisal, and make Rules concerning Captures on Land and Water;

To raise and support Armies, but no Appropriation of Money to that Use shall be for a longer Term than two Years,

To provide and maintain a Navy,

To make Rules for the Government and Regulation of the land and naval Forces,

To provide for calling forth the Militia to execute the Laws of the Union, suppress Insurrections and repel Invasions,

To provide for organizing, arming, and disciplining the Militia, and for governing such Part of them as may be employed in the Service of the United States, reserving to the States respectively, the Appointment of the Officers, and the Authority of training the Militia according to the discipline prescribed by Congress,

To exercise exclusive Legislation in all Cases whatsoever, over such District (not exceeding ten Miles square) as may, by Cession of particular States, and the acceptance of Congress, become the Seat of the Government of the United States, and to exercise like Authority over all Places purchased by the Consent of the Legislature of the State in which the Same shall be, for the Erection of Forts, Magazines, Arsenals, dock-Yards, and other needful Buildings,—And

To make all Laws which shall be necessary and proper for carrying into Execution the foregoing Powers, and all other Powers vested by this Constitution in the Government of the United States, or in any Department or Officer thereof.

SECTION 9. The Migration or Importation of such Persons as any of the States now existing shall think proper to admit, shall not be prohibited by the Congress prior to the Year one thousand eight hundred and eight, but a tax or duty may be imposed on such Importation, not exceeding ten dollars for each Person.

The privilege of the Writ of Habeas Corpus shall not be suspended, unless when in Cases of Rebellion or Invasion the public Safety may require it

No Bill of Attainder or ex post facto Law shall be passed

No capitation, or other direct, Tax shall be laid, unless in Proportion to the Census or Enumeration herein before directed to be taken.

No Tax or Duty shall be laid on Articles exported from any State

No preference shall be given by any Regulation of Commerce or Revenue to the Ports of one State over those of another: nor shall Vessels bound to, or from, one State, be obliged to enter, clear, or pay Duties in another

No Money shall be drawn from the Treasury, but in Consequence of Appropriations made by Law, and a regular Statement and Account of the Receipts and Expenditures of all public Money shall be published from time to time

No Title of Nobility shall be granted by the United States And no Person holding any Office of Profit or Trust under them, shall, without the Consent of the Congress, accept of any present, Emolument, Office, or Title, of any kind whatever, from any King, Prince, or foreign State.

SECTION 10. No State shall enter into any Treaty, Alliance, or Confederation, grant Letters of Marque and Reprisal, coin Money; emit Bills of Credit, make any Thing but gold and silver Coin a Tender in Payment of Debts, pass any Bill of Attainder, ex post facto Law, or Law impairing the Obligation of Contracts, or grant any Title of Nobility.

No State shall, without the Consent of the Congress, lay any Imposts or Duties on Imports or Exports, except what may be absolutely necessary for executing its inspection Laws and the net Produce of all Duties and Imposts,

laid by any State on Imports or Exports, shall be for the Use of the Treasury of the United States; and all such Laws shall be subject to the Revision and Controul of the Congress.

No State shall, without the Consent of Congress, lay any duty of Tonnage, keep Troops, or Ships of War in time of Peace, enter into any Agreement or Compact with another State, or with a foreign Power, or engage in War, unless actually invaded, or in such imminent Danger as will not admit of delay.

### ARTICLE II

SECTION 1 The executive Power shall be vested in a President of the United States of America. He shall hold his Office during the Term of four Years, and, together with the Vice-President, chosen for the same Term, be elected, as follows

Each State shall appoint, in such Manner as the Legislature thereof may direct, a Number of Electors, equal to the whole Number of Senators and Representatives to which the State may be entitled in the Congress: but no Senator or Representative, or Person holding an Office of Trust or Profit under the United States, shall be appointed an Elector.

[The Electors shall meet in their respective States, and vote by Ballot for two persons, of whom one at least shall not be an Inhabitant of the same State with themselves And they shall make a List of all the Persons voted for, and of the Number of Votes for each; which List they shall sign and certify, and transmit sealed to the Seat of the Government of the United States, directed to the President of the Senate. The President of the Senate shall, in the Presence of the Senate and House of Representatives, open all the Certificates, and the Votes shall then be counted. The Person having the greatest Number of Votes shall be the President, if such Number be a Majority of the whole Number of Electors appointed, and if there be more than one who have such Majority, and have an equal Number of Votes, then the House of Representatives shall immediately chuse by Ballot one of them for President, and if no Person have a Majority, then from the five highest on the List the said House shall in like Manner chuse the President. But in chusing the President, the Votes shall be taken by States, the Representation from each State having one Vote, A quorum for this Purpose shall consist of a Member or Members from two-thirds of the States, and a Majority of all the States shall be necessary to a Choice. In every Case, after the Choice of the President, the Person having the greatest Number of Votes of the Electors shall be the Vice-President. But if there should remain two or more who have equal Votes, the Senate shall chuse from them by Ballot the Vice-President ]

The Congress may determine the Time of chusing the Electors, and the Day on which they shall give their Votes; which Day shall be the same throughout the United States.

No person except a natural born Citizen, or a Citizen of the United States, at the time of the Adoption of this Constitution, shall be eligible to the Office of President, neither shall any Person be eligible to that Office who shall not have attained to the Age of thirty-five Years, and been fourteen Years a Resident within the United States

In Case of the Removal of the President from Office, or of his Death, Resignation, or Inability to discharge the Powers and Duties of the said Office, the same shall devolve on the Vice President, and the Congress may by Law provide for the Case of Removal, Death, Resignation or Inability, both of the President and Vice President, declaring what Officer shall then act as President,

and such Officer shall act accordingly, until the Disability be removed, or a President shall be elected.

The President shall, at stated Times, receive for his Services, a Compensation, which shall neither be encreased nor diminished during the Period for which he shall have been elected, and he shall not receive within that Period any other Emolument from the United States, or any of them.

Before he enter on the Execution of his Office, he shall take the following Oath or Affirmation:—"I do solemnly swear (or affirm) that I will faithfully execute the Office of President of the United States, and will to the best of my Ability, preserve, protect and defend the Constitution of the United States."

SECTION 2. The President shall be Commander in Chief of the Army and Navy of the United States, and of the Militia of the several States, when called into the actual Service of the United States; he may require the Opinion, in writing, of the principal Officer in each of the executive Departments, upon any subject relating to the Duties of their respective Offices, and he shall have Power to Grant Reprieves and Pardons for Offenses against the United States, except in Cases of Impeachment.

He shall have Power, by and with the Advice and Consent of the Senate, to make Treaties, provided two-thirds of the Senators present concur; and he shall nominate, and by and with the Advice and Consent of the Senate, shall appoint Ambassadors, other public Ministers and Consuls, Judges of the supreme Court, and all other Officers of the United States, whose Appointments are not herein otherwise provided for, and which shall be established by Law: but the Congress may by Law vest the Appointment of such inferior Officers, as they think proper, in the President alone, in the Courts of Law, or in the Heads of Departments.

The President shall have Power to fill up all Vacancies that may happen during the Recess of the Senate, by granting Commissions which shall expire at the End of their next Session.

SECTION 3. He shall from time to time give to the Congress Information of the State of the Union, and recommend to their Consideration such Measures as he shall judge necessary and expedient; he may, on extraordinary Occasions, convene both Houses, or either of them, and in Case of Disagreement between them, with Respect to the Time of Adjournment, he may adjourn them to such Time as he shall think proper; he shall receive Ambassadors and other public Ministers; he shall take Care that the Laws be faithfully executed, and shall Commission all the Officers of the United States.

SECTION 4. The President, Vice President and all civil Officers of the United States, shall be removed from Office on Impeachment for, and Conviction of, Treason, Bribery, or other high Crimes and Misdemeanors.

ARTICLE III

SECTION 1. The judicial Power of the United States, shall be vested in one supreme Court, and in such inferior Courts as the Congress may from time to time ordain and establish. The Judges, both of the supreme and inferior Courts, shall hold their Offices during good Behaviour, and shall, at stated Times, receive for their Services a Compensation which shall not be diminished during their Continuance in Office.

SECTION 2. The judicial Power shall extend to all Cases, in Law and Equity, arising under this Constitution, the Laws of the United States, and Treaties made, or which shall be made, under their Authority;—to all Cases affecting Ambassadors, other public Ministers and Consuls;—to all Cases of admiralty

and maritime Jurisdiction,—to Controversies to which the United States shall be a Party,—to Controversies between two or more States,—between a State and Citizens of another State,—between Citizens of different States,—between Citizens of the same State claiming Lands under Grants of different States, and between a State, or the Citizens thereof, and foreign States, Citizens or Subjects

In all Cases affecting Ambassadors, other public Ministers and Consuls, and those in which a State shall be Party, the supreme Court shall have original Jurisdiction. In all the other Cases before mentioned, the supreme Court shall have appellate Jurisdiction, both as to Law and Fact, with such Exceptions, and under such Regulations as the Congress shall make

The trial of all Crimes, except in Cases of Impeachment, shall be by Jury, and such Trial shall be held in the State where the said Crimes shall have been committed, but when not committed within any State, the Trial shall be at such Place or Places as the Congress may by Law have directed

SECTION 3 Treason against the United States, shall consist only in levying War against them, or in adhering to their Enemies, giving them Aid and Comfort. No Person shall be convicted of Treason unless on the Testimony of two Witnesses to the same overt Act, or on Confession in open Court

The Congress shall have power to declare the Punishment of Treason, but no Attainder of Treason shall work Corruption of Blood, or Forfeiture except during the Life of the Person attainted

ARTICLE IV

SECTION 1. Full Faith and Credit shall be given in each State to the public Acts, Records, and judicial Proceedings of every other State And the Congress may by general Laws prescribe the Manner in which such Acts, Records and Proceedings shall be proved, and the Effect thereof

SECTION 2 The Citizens of each State shall be entitled to all Privileges and Immunities of Citizens in the several States

A Person charged in any State with Treason, Felony, or other Crime, who shall flee from Justice, and be found in another State, shall on demand of the executive Authority of the State from which he fled, be delivered up, to be removed to the State having Jurisdiction of the Crime

No Person held to Service or Labour in one State, under the Laws thereof, escaping into another, shall, in Consequence of any Law or Regulation therein be discharged from such Service or Labour, but shall be delivered up on Claim of the Party to whom such Service or Labour may be due

SECTION 3. New States may be admitted by the Congress into this Union, but no new State shall be formed or erected within the Jurisdiction of any other State, nor any State be formed by the Junction of two or more States, or parts of States, without the Consent of the Legislatures of the States concerned as well as of the Congress

The Congress shall have Power to dispose of and make all needful Rules and Regulations respecting the Territory or other Property belonging to the United States; and nothing in this Constitution shall be so construed as to Prejudice any Claims of the United States, or of any particular State

SECTION 4. The United States shall guarantee to every State in this Union a Republican Form of Government, and shall protect each of them against Invasion, and on Application of the Legislature, or of the Executive (when the Legislature cannot be convened) against domestic Violence

ARTICLE V.

The Congress, whenever two-thirds of both Houses shall deem it necessary, shall propose Amendments to this Constitution, or, on the Application of the Legislatures of two-thirds of the several States, shall call a Convention for proposing Amendments, which, in either Case, shall be valid to all Intents and Purposes, as part of this Constitution, when ratified by the Legislatures of three-fourths of the several States, or by Conventions in three-fourths thereof, as the one or the other Mode of Ratification may be proposed by the Congress, Provided that no Amendment which may be made prior to the Year One thousand eight hundred and eight shall in any Manner affect the first and fourth Clauses in the Ninth Section of the first Article, and that no State, without its Consent, shall be deprived of its equal Suffrage in the Senate

ARTICLE VI

All Debts contracted and Engagements entered into, before the Adoption of this Constitution, shall be as valid against the United States under this Constitution, as under the Confederation.

This Constitution, and the Laws of the United States which shall be made in Pursuance thereof, and all Treaties made, or which shall be made, under the Authority of the United States, shall be the supreme Law of the Land, and the Judges in every State shall be bound thereby, any Thing in the Constitution or Laws of any State to the Contrary notwithstanding

The Senators and Representatives before mentioned, and the Members of the several State Legislatures, and all executive and judicial Officers, both of the United States and of the several States, shall be bound by Oath or Affirmation, to support this Constitution, but no religious Test shall ever be required as a Qualification to any Office or public Trust under the United States

ARTICLE VII

The Ratification of the Conventions of nine States shall be sufficient for the Establishment of this Constitution between the States so ratifying the Same.

DONE in Convention by the Unanimous Consent of the States present the Seventeenth Day of September in the Year of our Lord one thousand seven hundred and Eighty seven and of the Independence of the United States of America the Twelfth. In Witness whereof We have hereunto subscribed our Names.

Go WASHINGTON
*Presidt and deputy from Virginia*

*New Hampshire.*

JOHN LANGDON
NICHOLAS GILMAN

*Massachusetts*

NATHANIEL GORHAM
RUFUS KING

*Connecticut*

WM SAML JOHNSON
ROGER SHERMAN

*New York*

ALEXANDER HAMILTON

*New Jersey*

WIL' LIVINGSTON
DAVID BREARLEY
WM PATTERSON
JONA DAYTON

*Pennsylvania*

B FRANKLIN
ROBT. MORRIS
THOS FITZSIMONS
JAMES WILSON
THOMAS MIFFLIN
GEO CLYMER
JARED INGERSOLL
GOUV MORRIS

*Delaware*

GEO READ
JOHN DICKINSON
JACO BROOM
GUNNING BEDFORD jun
RICHARD BASSETT

*Maryland*

JAMES MCHENRY
DANL CARROLL
DAN of ST THOS JENIFER

*Virginia*

JOHN BLAIR—
JAMES MADISON JR

*North Carolina*

WM BLOUNT
HU WILLIAMSON
RICHD DOBBS SPAIGHT

*South Carolina.*

J RUTLEDGE
CHARLES PINCKNEY
CHARLES COTESWORTH PINCKNEY
PIERCE BUTLER

*Georgia*

WILLIAM FEW
ABR BALDWIN

Attest·
WILLIAM JACKSON, *Secretary.*

ARTICLES IN ADDITION TO, AND AMENDMENT OF, THE CONSTITUTION OF THE UNITED STATES OF AMERICA, PROPOSED BY CONGRESS, AND RATIFIED BY THE LEGISLATURES OF THE SEVERAL STATES, PURSUANT TO THE FIFTH ARTICLE OF THE ORIGINAL CONSTITUTION

[ARTICLE I]

Congress shall make no law respecting an establishment of religion, or prohibiting the free exercise thereof, or abridging the freedom of speech, or of the press, or the right of the people peaceably to assemble, and to petition the Government for a redress of grievances.

[ARTICLE II]

A well regulated Militia, being necessary to the security of a free State, the right of the people to keep and bear Arms, shall not be infringed

[ARTICLE III]

No Soldier shall, in time of peace be quartered in any house, without the consent of the Owner, nor in time of war, but in a manner to be prescribed by law

[ARTICLE IV]

The right of the people to be secure in their persons, houses, papers, and effects, against unreasonable searches and seizures, shall not be violated, and no Warrants shall issue, but upon probable cause, supported by Oath or affirmation, and particularly describing the place to be searched, and the persons or things to be seized

[ARTICLE V]

No person shall be held to answer for a capital, or otherwise infamous crime, unless on a presentment or indictment of a Grand Jury, except in cases arising in the land or naval forces, or in the Militia, when in actual service in time of War or public danger, nor shall any person be subject for the same offence to be twice put in jeopardy of life or limb; nor shall be compelled in any criminal case to be a witness against himself, nor be deprived of life, liberty, or property, without due process of law, nor shall private property be taken for public use, without just compensation

[ARTICLE VI.]

In all criminal prosecutions, the accused shall enjoy the right to a speedy and public trial, by an impartial jury of the State and district wherein the crime shall have been committed, which district shall have been previously ascertained by law, and to be informed of the nature and cause of the accusation, to be confronted with the witnesses against him, to have compulsory process for obtaining witnesses in his favor, and to have the Assistance of Counsel for his defence.

[ARTICLE VII]

In suits at common law, where the value in controversy shall exceed twenty dollars, the right of trial by jury shall be preserved, and no fact tried by a jury, shall be otherwise reexamined in any Court of the United States, than according to the rules of the common law

[ARTICLE VIII]

Excessive bail shall not be required, nor excessive fines imposed, nor cruel and unusual punishments inflicted

[ARTICLE IX]

The enumeration in the Constitution, of certain rights, shall not be construed to deny or disparage others retained by the people

[ARTICLE X]

The powers not delegated to the United States by the Constitution, nor prohibited by it to the States, are reserved to the States respectively, or to the people

ARTICLE XI

The Judicial power of the United States shall not be construed to extend to any suit in law or equity, commenced or prosecuted against one of the United States by Citizens of another State, or by Citizens or Subjects of any Foreign State

ARTICLE XII

The Electors shall meet in their respective states and vote by ballot for President and Vice-President, one of whom, at least, shall not be an inhabitant of the same state with themselves, they shall name in their ballots the person voted for as President, and in distinct ballots the person voted for as Vice-President, and they shall make distinct lists of all persons voted for as President, and of all persons voted for as Vice-President, and of the number of votes for each, which lists they shall sign and certify, and transmit sealed to the seat of the government of the United States, directed to the President of the Senate,—The President of the Senate shall, in presence of the Senate and House of Representatives, open all the certificates and the votes shall then be counted,—The person having the greatest number of votes for President, shall be the President, if such number be a majority of the whole number of Electors appointed, and if no person have such majority, then from the persons having the highest numbers not exceeding three on the list of those voted for as President, the House of Representatives shall choose immediately, by ballot, the President But in choosing the President, the votes shall be taken by states, the representation from each state having one vote, a quorum for this purpose shall consist of a member or members from two-thirds of the States, and a majority of all the states shall be necessary to a choice And if the House of Representatives shall not choose a President whenever the right of choice shall devolve upon them, before the fourth day of March next following, then the Vice-President shall act as President, as in the case of the death or other constitutional disability of the President.—The person having the greatest number of votes as Vice-President, shall be the Vice-President, if such number be a majority of the whole number of Electors appointed, and if no person have a majority, then from the two highest numbers on the list, the Senate shall choose the Vice-President, a quorum for the purpose shall consist of two-thirds of the whole number of Senators, and a majority of the whole number shall be necessary to a choice. But no person constitutionally ineligible to the office of President shall be eligible to that of Vice-President of the United States.

ARTICLE XIII.

SECTION 1 Neither slavery nor involuntary servitude, except as a punishment for crime whereof the party shall have been duly convicted, shall exist within the United States, or any place subject to their jurisdiction

SECTION 2 Congress shall have power to enforce this article by appropriate legislation.

ARTICLE XIV.

SECTION 1. All persons born or naturalized in the United States, and subject to the jurisdiction thereof, are citizens of the United States and of the State wherein they reside No State shall make or enforce any law which shall abridge the privileges or immunities of citizens of the United States, nor shall any State deprive any person of life, liberty, or property, without due process of law, nor deny to any person within its jurisdiction the equal protection of the laws.

SECTION 2 Representatives shall be apportioned among the several States according to their respective numbers, counting the whole number of persons in each State, excluding Indians not taxed But when the right to vote at any election for the choice of electors for President and Vice-President of the United States, Representatives in Congress, the Executive and Judicial officers of a State, or the members of the Legislature thereof, is denied to any of the male inhabitants of such State, being twenty-one years of age, and citizens of the United States, or in any way abridged, except for participation in rebellion, or other crime, the basis of representation therein shall be reduced in the proportion which the number of such male citizens shall bear to the whole number of male citizens twenty-one years of age in such State.

SECTION 3. No person shall be a Senator or Representative in Congress, or elector of President and Vice-President, or hold any office, civil or military, under the United States, or under any State, who, having previously taken an oath, as a member of Congress, or as an officer of the United States, or as a member of any State legislature, or as an executive or judicial officer of any State, to support the Constitution of the United States, shall have engaged in insurrection or rebellion against the same, or given aid or comfort to the enemies thereof. But Congress may by a vote of two-thirds of each House, remove such disability

SECTION 4. The validity of the public debt of the United States, authorized by law, including debts incurred for payment of pensions and bounties for services in suppressing insurrection or rebellion, shall not be questioned But neither the United States nor any State shall assume or pay any debt or obligation incurred in aid of insurrection or rebellion against the United States, or any claim for the loss or emancipation of any slave, but all such debts, obligations and claims shall be held illegal and void.

SECTION 5. The Congress shall have power to enforce, by appropriate legislation, the provisions of this article

ARTICLE XV

SECTION 1 The right of citizens of the United States to vote shall not be denied or abridged by the United States or by any State on account of race, color, or previous condition of servitude—

SECTION 2 The Congress shall have power to enforce this article by appropriate legislation.

ARTICLE XVI

The Congress shall have power to lay and collect taxes on incomes, from whatever source derived, without apportionment among the several States, and without regard to any census or enumeration

ARTICLE XVII

The Senate of the United States shall be composed of two Senators from each State elected by the people thereof for six years and each Senator shall

have one vote The electors in each State shall have the qualifications requisite for electors of the most numerous branch of the State legislatures.

When vacancies happen in the representation of any State in the Senate, the executive authority of such State shall issue writs of election to fill such vacancies. *Provided,* That the legislature of any State may empower the executive thereof to make temporary appointments until the people fill the vacancies by election as the legislature may direct

This amendment shall not be so construed as to affect the election or term of any Senator chosen before it becomes valid as part of the Constitution

ARTICLE XVIII

SECTION 1 After one year from the ratification of this article the manufacture, sale, or transportation of intoxicating liquors within, the importation thereof into, or the exportation thereof from the United States and all territory subject to the jurisdiction thereof for beverage purposes is hereby prohibited

SECTION 2 The Congress and the several States shall have concurrent power to enforce this article by appropriate legislation

SECTION 3. This article shall be inoperative unless it shall have been ratified as an amendment to the Constitution by the legislatures of the several States, as provided in the Constitution, within seven years from the date of the submission hereof to the States by the Congress

ARTICLE XIX

The right of citizens of the United States to vote shall not be denied or abridged by the United States or by any State on account of sex

Congress shall have power to enforce this article by appropriate legislation.

ARTICLE XX

SECTION 1. The terms of the President and Vice President shall end at noon on the 20th day of January, and the terms of Senators and Representatives at noon on the 3d day of January, of the years in which such terms would have ended if this article had not been ratified, and the terms of their successors shall then begin

SECTION 2 The Congress shall assemble at least once in every year, and such meeting shall begin at noon on the 3d day of January, unless they shall by law appoint a different day.

SECTION 3 If, at the time fixed for the beginning of the term of the President, the President elect shall have died, the Vice President elect shall become President. If a President shall not have been chosen before the time fixed for the beginning of his term, or if the President elect shall have failed to qualify, then the Vice President elect shall act as President until a President shall have qualified, and the Congress may by law provide for the case wherein neither a President elect nor a Vice President elect shall have qualified, declaring who shall then act as President, or the manner in which one who is to act shall be selected, and such person shall act accordingly until a President or Vice President shall have qualified

SECTION 4 The Congress may by law provide for the case of the death of any of the persons from whom the House of Representatives may choose a President whenever the right of choice shall have devolved upon them, and for the case of the death of any of the persons from whom the Senate may choose a Vice President whenever the right of choice shall have devolved upon them.

SECTION 5 Sections 1 and 2 shall take effect on the 15th day of October following the ratification of this article.

SECTION 6 This article shall be inoperative unless it shall have been ratified as an amendment to the Constitution by the legislatures of three-fourths of the several States within seven years from the date of its submission.

ARTICLE XXI

SECTION 1 The eighteenth article of amendment to the Constitution of the United States is hereby repealed

SECTION 2. The transportation or importation into any State, Territory, or possession of the United States for delivery or use therein of intoxicating liquors, in violation of the laws thereof, is hereby prohibited

SECTION 3 This article shall be inoperative unless it shall have been ratified as an amendment to the Constitution by conventions in the several States, as provided in the Constitution, within seven years from the date of the submission hereof to the States by the Congress

## Appendix III

# NATIONAL LABOR RELATIONS ACT

[Public—No 198—74th Congress]

[S 1958]

AN ACT

To diminish the causes of labor disputes burdening or obstructing interstate and foreign commerce, to create a National Labor Relations Board, and for other purposes

*Be it enacted by the Senate and House of Representatives of the United States of America in Congress assembled,*

FINDINGS AND POLICY

Section 1 The denial by employers of the right of employees to organize and the refusal by employers to accept the procedure of collective bargaining lead to strikes and other forms of industrial strife or unrest, which have the intent or the necessary effect of burdening or obstructing commerce by (a) impairing the efficiency, safety, or operation of the instrumentalities of commerce, (b) occurring in the current of commerce, (c) materially affecting, restraining, or controlling the flow of raw materials or manufactured or processed goods from or into the channels of commerce, or the prices of such materials or goods in commerce, or (d) causing diminution of employment and wages in such volume as substantially to impair or disrupt the market for goods flowing from or into the channels of commerce

The inequality of bargaining power between employees who do not possess full freedom of association or actual liberty of contract, and employers who are organized in the corporate or other forms of ownership association substantially burdens and affects the flow of commerce, and tends to aggravate recurrent business depressions, by depressing wage rates and the purchasing power of wage earners in industry and by preventing the stabilization of competitive wage rates and working conditions within and between industries.

Experience has proved that protection by law of the right of employees to organize and bargain collectively safeguards commerce from injury, impairment, or interruption, and promotes the flow of commerce by removing certain recognized sources of industrial strife and unrest, by encouraging practices fundamental to the friendly adjustment of industrial disputes arising out of differences as to wages, hours, or other working conditions, and by restoring equality of bargaining power between employers and employees.

It is hereby declared to be the policy of the United States to eliminate the causes of certain substantial obstructions to the free flow of commerce and to mitigate and eliminate these obstructions when they have occurred by encouraging the practice and procedure of collective bargaining and by protecting the exercise by workers of full freedom of association, self-organization,

and designation of representatives of their own choosing, for the purpose of negotiating the terms and conditions of their employment or other mutual aid or protection

SEC 2 When used in this Act—

(1) The term "person" includes one or more individuals, partnerships, associations, corporations, legal representatives, trustees, trustees in bankruptcy, or receivers.

(2) The term "employer" includes any person acting in the interest of an employer, directly or indirectly, but shall not include the United States, or any State or political subdivision thereof, or any person subject to the Railway Labor Act, as amended from time to time, or any labor organization (other than when acting as an employer), or anyone acting in the capacity of officer or agent of such labor organization

(3) The term "employee" shall include any employee, and shall not be limited to the employees of a particular employer, unless the Act explicitly states otherwise, and shall include any individual whose work has ceased as a consequence of, or in connection with, any current labor dispute or because of any unfair labor practice, and who has not obtained any other regular and substantially equivalent employment, but shall not include any individual employed as an agricultural laborer, or in the domestic service of any family or person at his home, or any individual employed by his parent or spouse

(4) The term "representatives" includes any individual or labor organization

(5) The term "labor organization" means any organization of any kind, or any agency or employee representation committee or plan, in which employees participate and which exists for the purpose, in whole or in part, of dealing with employers concerning grievances, labor disputes, wages, rates of pay, hours of employment, or conditions of work.

(6) The term "commerce" means trade, traffic, commerce, transportation, or communication among the several States, or between the District of Columbia or any Territory of the United States and any State or other Territory, or between any foreign country and any State, Territory, or the District of Columbia, or within the District of Columbia or any Territory, or between points in the same State but through any other State or any Territory or the District of Columbia or any foreign country.

(7) The term "affecting commerce" means in commerce, or burdening or obstructing commerce or the free flow of commerce, or having led or tending to lead to a labor dispute burdening or obstructing commerce or the free flow of commerce.

(8) The term "unfair labor practice" means any unfair labor practice listed in section 8

(9) The term "labor dispute" includes any controversy concerning terms, tenure or conditions of employment, or concerning the association or representation of persons in negotiating, fixing, maintaining, changing, or seeking to arrange terms or conditions of employment, regardless of whether the disputants stand in the proximate relation of employer and employee.

(10) The term "National Labor Relations Board" means the National Labor Relations Board created by section 3 of this Act.

(11) The term "old Board" means the National Labor Relations Board established by Executive Order Numbered 6763 of the President on June 29, 1934, pursuant to Public Resolution Numbered 44, approved June 19, 1934 (48 Stat 1183), and reestablished and continued by Executive Order Num-

bered 7074 of the President of June 15, 1935, pursuant to Title I of the National Industrial Recovery Act (48 Stat. 195) as amended and continued by Senate Joint Resolution 133 approved June 14, 1935

NATIONAL LABOR RELATIONS BOARD

SEC 3 (a) There is hereby created a board, to be known as the "National Labor Relations Board" (hereinafter referred to as the "Board"), which shall be composed of three members, who shall be appointed by the President, by and with the advice and consent of the Senate One of the original members shall be appointed for a term of one year, one for a term of three years, and one for a term of five years, but their successors shall be appointed for terms of five years each, except that any individual chosen to fill a vacancy shall be appointed only for the unexpired term of the member whom he shall succeed The President shall designate one member to serve as chairman of the Board Any member of the Board may be removed by the President, upon notice and hearing, for neglect of duty or malfeasance in office, but for no other cause

(b) A vacancy in the Board shall not impair the right of the remaining members to exercise all the powers of the Board, and two members of the Board shall, at all times, constitute a quorum. The Board shall have an official seal which shall be judicially noticed.

(c) The Board shall at the close of each fiscal year make a report in writing to Congress and to the President stating in detail the cases it has heard, the decisions it has rendered, the names, salaries, and duties of all employees and officers in the employ or under the supervision of the Board, and an account of all moneys it has disbursed

SEC. 4 (a) Each member of the Board shall receive a salary of $10,000 a year, shall be eligible for reappointment, and shall not engage in any other business, vocation, or employment The Board shall appoint, without regard for the provisions of the civil-service laws but subject to the Classification Act of 1923, as amended, an executive secretary, and such attorneys, examiners, and regional directors, and shall appoint such other employees with regard to existing laws applicable to the employment and compensation of officers and employees of the United States, as it may from time to time find necessary for the proper performance of its duties and as may be from time to time appropriated for by Congress. The Board may establish or utilize such regional, local, or other agencies, and utilize such voluntary and uncompensated services, as may from time to time be needed. Attorneys appointed under this section may, at the direction of the Board, appear for and represent the Board in any case in court Nothing in this Act shall be construed to authorize the Board to appoint individuals for the purpose of conciliation or mediation (or for statistical work), where such service may be obtained from the Department of Labor

(b) Upon the appointment of the three original members of the Board and the designation of its chairman, the old Board shall cease to exist. All employees of the old Board shall be transferred to and become employees of the Board with salaries under the Classification Act of 1923, as amended, without acquiring by such transfer a permanent or civil service status All records, papers, and property of the old Board shall become records, papers, and property of the Board, and all unexpended funds and appropriations for the use and maintenance of the old Board shall become funds and appropriations available to be expended by the Board in the exercise of the powers, authority, and duties conferred on it by this Act.

(c) All of the expenses of the Board, including all necessary traveling and subsistence expenses outside the District of Columbia incurred by the members or employees of the Board under its orders, shall be allowed and paid on the presentation of itemized vouchers therefor approved by the Board or by any individual it designates for that purpose.

SEC 5. The principal office of the Board shall be in the District of Columbia, but it may meet and exercise any or all of its powers at any other place The Board may, by one or more of its members or by such agents or agencies as it may designate, prosecute any inquiry necessary to its functions in any part of the United States. A member who participates in such an inquiry shall not be disqualified from subsequently participating in a decision of the Board in the same case.

SEC. 6 (a) The Board shall have authority from time to time to make, amend, and rescind such rules and regulations as may be necessary to carry out the provisions of this Act Such rules and regulations shall be effective upon publication in the manner which the Board shall prescribe.

RIGHTS OF EMPLOYEES

SEC 7 Employees shall have the right to self-organization, to form, join, or assist labor organizations, to bargain collectively through representatives of their own choosing, and to engage in concerted activities, for the purpose of collective bargaining or other mutual aid or protection.

SEC 8. It shall be an unfair labor practice for an employer—

(1) To interfere with, restrain, or coerce employees in the exercise of the rights guaranteed in section 7

(2) To dominate or interfere with the formation or administration of any labor organization or contribute financial or other support to it *Provided,* That subject to rules and regulations made and published by the Board pursuant to section 6 (a), an employer shall not be prohibited from permitting employees to confer with him during working hours without loss of time or pay

(3) By discrimination in regard to hire or tenure of employment or any term or condition of employment to encourage or discourage membership in any labor organization *Provided,* That nothing in this Act, or in the National Industrial Recovery Act (U. S C, Supp VII, title 15, secs 701-712), as amended from time to time, or in any code or agreement approved or prescribed thereunder, or in any other statute of the United States, shall preclude an employer from making an agreement with a labor organization (not established, maintained, or assisted by any action defined in this Act as an unfair labor practice) to require as a condition of employment membership therein, if such labor organization is the representative of the employees as provided in section 9 (a), in the appropriate collective bargaining unit covered by such agreement when made

(4) To discharge or otherwise discriminate against an employee because he has filed charges or given testimony under this Act.

(5) To refuse to bargain collectively with the representatives of his employees, subject to the provisions of Section 9 (a).

REPRESENTATIVES AND ELECTIONS

SEC 9. (a) Representatives designated or selected for the purposes of collective bargaining by the majority of the employees in a unit appropriate for such purposes, shall be the exclusive representatives of all the employees in

such unit for the purposes of collective bargaining in respect to rates of pay, wages, hours of employment, or other conditions of employment *Provided*, That any individual employee or a group of employees shall have the right at any time to present grievances to their employer

(b) The Board shall decide in each case whether, in order to insure to employees the full benefit of their right to self-organization and to collective bargaining, and otherwise to effectuate the policies of this Act, the unit appropriate for the purposes of collective bargaining shall be the employer unit, craft unit, plant unit, or subdivision thereof

(c) Whenever a question affecting commerce arises concerning the representation of employees, the Board may investigate such controversy and certify to the parties, in writing, the name or names of the representatives that have been designated or selected. In any such investigation, the Board shall provide for an appropriate hearing upon due notice, either in conjunction with a proceeding under section 10 or otherwise, and may take a secret ballot of employees, or utilize any other suitable method to ascertain such representatives.

(d) Whenever an order of the Board made pursuant to section 10 (c) is based in whole or in part upon facts certified following an investigation pursuant to subsection (c) of this section, and there is a petition for the enforcement or review of such order, such certification and the record of such investigation shall be included in the transcript of the entire record required to be filed under subsections 10 (e) or 10 (f), and thereupon the decree of the court enforcing, modifying, or setting aside in whole or in part the order of the Board shall be made and entered upon the pleadings, testimony, and proceedings set forth in such transcript.

PREVENTION OF UNFAIR LABOR PRACTICES

SEC 10. (a) The Board is empowered, as hereinafter provided, to prevent any person from engaging in any unfair labor practice (listed in section 8) affecting commerce This power shall be exclusive, and shall not be affected by any other means of adjustment or prevention that has been or may be established by agreement, code, law, or otherwise

(b) Whenever it is charged that any person has engaged in or is engaging in any such unfair labor practice, the Board, or any agent or agency designated by the Board for such purposes, shall have power to issue and cause to be served upon such person a complaint stating the charges in that respect, and containing a notice of hearing before the Board or a member thereof, or before a designated agent or agency, at a place therein fixed, not less than five days after the serving of said complaint. Any such complaint may be amended by the member, agent, or agency conducting the hearing or the Board in its discretion at any time prior to the issuance of an order based thereon. The person so complained of shall have the right to file an answer to the original or amended complaint and to appear in person or otherwise and give testimony at the place and time fixed in the complaint In the discretion of the member, agent or agency conducting the hearing or the Board, any other person may be allowed to intervene in the said proceeding and to present testimony. In any such proceeding the rules of evidence prevailing in courts of law or equity shall not be controlling.

(c) The testimony taken by such member, agent or agency or the Board shall be reduced to writing and filed with the Board. Thereafter, in its discretion, the Board upon notice may take further testimony or hear argument

If upon all the testimony taken the Board shall be of the opinion that any person named in the complaint has engaged in or is engaging in any such unfair labor practice, then the Board shall state its findings of fact and shall issue and cause to be served on such person an order requiring such person to cease and desist from such unfair labor practice, and to take such affirmative action, including reinstatement of employees with or without back pay, as will effectuate the policies of this Act Such order may further require such person to make reports from time to time showing the extent to which it has complied with the order. If upon all the testimony taken the Board shall be of the opinion that no person named in the complaint has engaged in or is engaging in any such unfair labor practice, then the Board shall state its findings of fact and shall issue an order dismissing the said complaint

(d) Until a transcript of the record in a case shall have been filed in a court, as hereinafter provided, the Board may at any time, upon reasonable notice and in such manner as it shall deem proper, modify or set aside, in whole or in part, any finding or order made or issued by it

(e) The Board shall have power to petition any circuit court of appeals of the United States (including the Court of Appeals of the District of Columbia), or if all the circuit courts of appeals to which application may be made are in vacation, any district court of the United States (including the Supreme Court of the District of Columbia), within any circuit or district, respectively, wherein the unfair labor practice in question occurred or wherein such person resides or transacts business, for the enforcement of such order and for appropriate temporary relief or restraining order, and shall certify and file in the court a transcript of the entire record in the proceeding, including the pleadings and testimony upon which such order was entered and the findings and order of the Board. Upon such filing, the court shall cause notice thereof to be served upon such person, and thereupon shall have jurisdiction of the proceeding and of the question determined therein, and shall have power to grant such temporary relief or restraining order as it deems just and proper, and to make and enter upon the pleadings, testimony, and proceedings set forth in such transcript a decree enforcing, modifying, and enforcing as so modified, or setting aside in whole or in part the order of the Board. No objection that has not been urged before the Board, its member, agent or agency, shall be considered by the court, unless the failure or neglect to urge such objection shall be excused because of extraordinary circumstances. The findings of the Board as to the facts, if supported by evidence, shall be conclusive If either party shall apply to the court for leave to adduce additional evidence and shall show to the satisfaction of the court that such additional evidence is material and that there were reasonable grounds for the failure to adduce such evidence in the hearing before the Board, its member, agent, or agency, the court may order such additional evidence to be taken before the Board, its member, agent, or agency, and to be made a part of the transcript The Board may modify its findings as to the facts, or make new findings, by reason of additional evidence so taken and filed, and it shall file such modified or new findings, which, if supported by evidence, shall be conclusive, and shall file its recommendations, if any, for the modification or setting aside of its original order. The jurisdiction of the court shall be exclusive and its judgment and decree shall be final, except that the same shall be subject to review by the appropriate circuit court of appeals if application was made to the district court as hereinabove provided, and by the Supreme Court of the United States

upon writ of certiorari or certification as provided in sections 239 and 240 of the Judicial Code, as amended (U. S. C., title 28, secs. 346 and 347).

(f) Any person aggrieved by a final order of the Board granting or denying in whole or in part the relief sought may obtain a review of such order in any circuit court of appeals of the United States in the circuit wherein the unfair labor practice in question was alleged to have been engaged in or wherein such person resides or transacts business, or in the Court of Appeals of the District of Columbia, by filing in such court a written petition praying that the order of the Board be modified or set aside. A copy of such petition shall be forthwith served upon the Board, and thereupon the aggrieved party shall file in the court a transcript of the entire record in the proceeding, certified by the Board, including the pleading and testimony upon which the order complained of was entered and the findings and order of the Board. Upon such filing, the court shall proceed in the same manner as in the case of an application by the Board under subsection (e), and shall have the same exclusive jurisdiction to grant to the Board such temporary relief or restraining order as it deems just and proper, and in like manner to make and enter a decree enforcing, modifying, and enforcing as so modified, or setting aside in whole or in part the order of the Board; the findings of the Board as to the facts, if supported by evidence, shall in like manner be conclusive.

(g) The commencement of proceedings under subsection (e) or (f) of this section shall not, unless specifically ordered by the court, operate as a stay of the Board's order.

(h) When granting appropriate temporary relief or a restraining order, or making and entering a decree enforcing, modifying, and enforcing as so modified or setting aside in whole or in part an order of the Board, as provided in this section, the jurisdiction of courts sitting in equity shall not be limited by the Act entitled "An Act to amend the Judicial Code and to define and limit the jurisdiction of courts sitting in equity, and for other purposes", approved March 23, 1932 (U. S. C., Supp. VII, title 29, secs. 101-115).

(i) Petitions filed under this Act shall be heard expeditiously, and if possible within ten days after they have been docketed.

### INVESTIGATORY POWERS

SEC. 11. For the purpose of all hearings and investigations, which, in the opinion of the Board, are necessary and proper for the exercise of the powers vested in it by section 9 and section 10—

(1) The Board, or its duly authorized agents or agencies, shall at all reasonable times have access to, for the purpose of examination, and the right to copy any evidence of any person being investigated or proceeded against that relates to any matter under investigation or in question. Any member of the Board shall have power to issue subpenas requiring the attendance and testimony of witnesses and the production of any evidence that relates to any matter under investigation or in question, before the Board, its member, agent, or agency conducting the hearing or investigation. Any member of the Board, or any agent or agency designated by the Board for such purposes, may administer oaths and affirmations, examine witnesses, and receive evidence. Such attendance of witnesses and the production of such evidence may be required from any place in the United States or any Territory or possession thereof, at any designated place of hearing.

(2) In case of contumacy or refusal to obey a subpena issued to any person,

any District Court of the United States or the United States courts of any Territory or possession, or the Supreme Court of the District of Columbia, within the jurisdiction of which the inquiry is carried on or within the jurisdiction of which said person guilty of contumacy or refusal to obey is found or resides or transacts business, upon application by the Board shall have jurisdiction to issue to such person an order requiring such person to appear before the Board, its member, agent, or agency, there to produce evidence if so ordered, or there to give testimony touching the matter under investigation or in question, and any failure to obey such order of the court may be punished by said court as a contempt thereof.

(3) No person shall be excused from attending and testifying or from producing books, records, correspondence, documents, or other evidence in obedience to the subpena of the Board, on the ground that the testimony or evidence required of him may tend to incriminate him or subject him to a penalty or forfeiture, but no individual shall be prosecuted or subjected to any penalty or forfeiture for or on account of any transaction, matter, or thing concerning which he is compelled, after having claimed his privilege against self-incrimination, to testify or produce evidence, except that such individual so testifying shall not be exempt from prosecution and punishment for perjury committed in so testifying

(4) Complaints, orders, and other process and papers of the Board, its member, agent, or agency, may be served either personally or by registered mail or by telegraph or by leaving a copy thereof at the principal office or place of business of the person required to be served The verified return by the individual so serving the same setting forth the manner of such service shall be proof of the same, and the return post office receipt or telegraph receipt therefor when registered and mailed or telegraphed as aforesaid shall be proof of service of the same Witnesses summoned before the Board, its member, agent, or agency, shall be paid the same fees and mileage that are paid witnesses in the courts of the United States, and witnesses whose depositions are taken and the persons taking the same shall severally be entitled to the same fees as are paid for like services in the courts of the United States

(5) All process of any court to which application may be made under this Act may be served in the judicial district wherein the defendant or other person required to be served resides or may be found

(6) The several departments and agencies of the Government, when directed by the President, shall furnish the Board, upon its request, all records, papers, and information in their possession relating to any matter before the Board

SEC 12 Any person who shall willfully resist, prevent, impede, or interfere with any member of the Board or any of its agents or agencies in the performance of duties pursuant to this Act shall be punished by a fine of not more than $5,000 or by imprisonment for not more than one year, or both

LIMITATIONS

SEC 13 Nothing in this Act shall be construed so as to interfere with or impede or diminish in any way the right to strike

SEC 14 Wherever the application of the provisions of section 7 (a) of the National Industrial Recovery Act (U S. C., Supp VII, title 15, sec 707 (a)), as amended from time to time, or of section 77 B, paragraphs (l) and (m) of the Act approved June 7, 1934, entitled "An Act to amend an Act entitled 'An Act to establish a uniform system of bankruptcy throughout the United States,

approved July 1, 1898, and Acts amendatory thereof and supplementary thereto" (48 Stat. 922, pars. (1) and (m), as amended from time to time, or of Public Resolution Numbered 44, approved June 19, 1934 (48 Stat 1183)), conflicts with the application of the provisions of this Act, this Act shall prevail *Provided*, That in any situation where the provisions of this Act cannot be validly enforced, the provisions of such other Acts shall remain in full force and effect

SEC 15. If any provision of this Act, or the application of such provision to any person or circumstance, shall be held invalid, the remainder of this Act, or the application of such provision to persons or circumstances other than those as to which it is held invalid, shall not be affected thereby

SEC 16 This Act may be cited as the "National Labor Relations Act"

Approved, July 5, 1935

## APPENDIX IV

# LABOR MANAGEMENT RELATIONS ACT OF 1947

[PUBLIC LAW 101—80TH CONGRESS]

[CHAPTER 120—1ST SESSION]

[H R 3020]

## AN ACT

To amend the National Labor Relations Act, to provide additional facilities for the mediation of labor disputes affecting commerce, to equalize legal responsibilities of labor organizations and employers, and for other purposes.

*Be it enacted by the Senate and House of Representatives of the United States of America in Congress assembled,*

### SHORT TITLE AND DECLARATION OF POLICY

SECTION 1 (a) This Act may be cited as the "Labor Management Relations Act, 1947".

(b) Industrial strife which interferes with the normal flow of commerce and with the full production of articles and commodities for commerce, can be avoided or substantially minimized if employers, employees, and labor organizations each recognize under law one another's legitimate rights in their relations with each other, and above all recognize under law that neither party has any right in its relations with any other to engage in acts or practices which jeopardize the public health, safety, or interest

It is the purpose and policy of this Act, in order to promote the full flow of commerce, to prescribe the legitimate rights of both employees and employers in their relations affecting commerce, to provide orderly and peaceful procedures for preventing the interference by either with the legitimate rights of the other, to protect the rights of individual employees in their relations with labor organizations whose activities affect commerce, to define and proscribe practices on the part of labor and management which affect commerce and are inimical to the general welfare, and to protect the rights of the public in connection with labor disputes affecting commerce

## TITLE I—AMENDMENT OF NATIONAL LABOR RELATIONS ACT

SEC 101. The National Labor Relations Act is hereby amended to read as follows

### "FINDINGS AND POLICIES

"SECTION 1. The denial by some employers of the right of employees to organize and the refusal by some employers to accept the procedure of collective bargaining lead to strikes and other forms of industrial strife or unrest, which have the intent or the necessary effect of burdening or obstructing com-

merce by (a) impairing the efficiency, safety, or operation of the instrumentalities of commerce, (b) occurring in the current of commerce, (c) materially affecting, restraining, or controlling the flow of raw materials or manufactured or processed goods from or into the channels of commerce, or the prices of such materials or goods in commerce, or (d) causing diminution of employment and wages in such volume as substantially to impair or disrupt the market for goods flowing from or into the channels of commerce.

"The inequality of bargaining power between employees who do not possess full freedom of association or actual liberty of contract, and employers who are organized in the corporate or other forms of ownership association substantially burdens and affects the flow of commerce, and tends to aggravate recurrent business depressions, by depressing wage rates and the purchasing power of wage earners in industry and by preventing the stabilization of competitive wage rates and working conditions within and between industries

"Experience has proved that protection by law of the right of employees to organize and bargain collectively safeguards commerce from injury, impairment, or interruption, and promotes the flow of commerce by removing certain recognized sources of industrial strife and unrest, by encouraging practices fundamental to the friendly adjustment of industrial disputes arising out of differences as to wages, hours, or other working conditions, and by restoring equality of bargaining power between employers and employees

"Experience has further demonstrated that certain practices by some labor organizations, their officers, and members have the intent or the necessary effect of burdening or obstructing commerce by preventing the free flow of goods in such commerce through strikes and other forms of industrial unrest or through concerted activities which impair the interest of the public in the free flow of such commerce. The elimination of such practices is a necessary condition to the assurance of the rights herein guaranteed

"It is hereby declared to be the policy of the United States to eliminate the causes of certain substantial obstructions to the free flow of commerce and to mitigate and eliminate these obstructions when they have occurred by encouraging the practice and procedure of collective bargaining and by protecting the exercise by workers of full freedom of association, self-organization, and designation of representatives of their own choosing, for the purpose of negotiating the terms and conditions of their employment or other mutual aid or protection.

"DEFINITIONS

"SEC 2. When used in this Act—

"(1) The term 'person' includes one or more individuals, labor organizations, partnerships, associations, corporations, legal representatives, trustees, trustees in bankruptcy, or receivers.

"(2) The term 'employer' includes any person acting as an agent of an employer, directly or indirectly, but shall not include the United States or any wholly owned Government corporation, or any Federal Reserve Bank, or any State or political subdivision thereof, or any corporation or association operating a hospital, if no part of the net earnings inures to the benefit of any private shareholder or individual, or any person subject to the Railway Labor Act, as amended from time to time, or any labor organization (other than when acting as an employer), or anyone acting in the capacity of officer or agent of such labor organization

"(3) The term 'employee' shall include any employee, and shall not be

limited to the employees of a particular employer, unless the Act explicitly states otherwise, and shall include any individual whose work has ceased as a consequence of, or in connection with, any current labor dispute or because of any unfair labor practice, and who has not obtained any other regular and substantially equivalent employment, but shall not include any individual employed as an agricultural laborer, or in the domestic service of any family or person at his home, or any individual employed by his parent or spouse, or any individual having the status of an independent contractor, or any individual employed as a supervisor, or any individual employed by an employer subject to the Railway Labor Act, as amended from time to time, or by any other person who is not an employer as herein defined

"(4) The term 'representatives' includes any individual or labor organization.

"(5) The term 'labor organization' means any organization of any kind, or any agency or employee representation committee or plan, in which employees participate and which exists for the purpose, in whole or in part, of dealing with employers concerning grievances, labor disputes, wages, rates of pay, hours of employment, or conditions of work.

"(6) The term 'commerce' means trade, traffic, commerce, transportation, or communication among the several States, or between the District of Columbia or any Territory of the United States and any State or other Territory, or between any foreign country and any State, Territory, or the District of Columbia, or within the District of Columbia or any Territory, or between points in the same State but through any other State or any Territory or the District of Columbia or any foreign country.

"(7) The term 'affecting commerce' means in commerce, or burdening or obstructing commerce or the free flow of commerce, or having led or tending to lead to a labor dispute burdening or obstructing commerce or the free flow of commerce

"(8) The term 'unfair labor practice' means any unfair labor practice listed in section 8.

"(9) The term 'labor dispute' includes any controversy concerning terms, tenure or conditions of employment, or concerning the association or representation of persons in negotiating, fixing, maintaining, changing, or seeking to arrange terms or conditions of employment, regardless of whether the disputants stand in the proximate relation of employer and employee.

"(10) The term 'National Labor Relations Board' means the National Labor Relations Board provided for in section 3 of this Act

"(11) The term 'supervisor' means any individual having authority, in the interest of the employer, to hire, transfer, suspend, lay off, recall, promote, discharge, assign, reward, or discipline other employees, or responsibly to direct them, or to adjust their grievances, or effectively to recommend such action, if in connection with the foregoing the exercise of such authority is not of a merely routine or clerical nature, but requires the use of independent judgment

"(12) The term 'professional employee' means—

"(a) any employee engaged in work (i) predominantly intellectual and varied in character as opposed to routine mental, manual, mechanical, or physical work, (ii) involving the consistent exercise of discretion and judgment in its performance, (iii) of such a character that the output produced or the result accomplished cannot be standardized in relation to a given period of time, (iv) requiring knowledge of an advanced type in a field of science or

learning customarily acquired by a prolonged course of specialized intellectual instruction and study in an institution of higher learning or a hospital, as distinguished from a general academic education or from an apprenticeship or from training in the performance of routine mental, manual, or physical processes, or

"(b) any employee, who (i) has completed the courses of specialized intellectual instruction and study described in clause (iv) of paragraph (a), and (ii) is performing related work under the supervision of a professional person to qualify himself to become a professional employee as defined in paragraph (a)

"(13) In determining whether any person is acting as an 'agent' of another person so as to make such other person responsible for his acts, the question of whether the specific acts performed were actually authorized or subsequently ratified shall not be controlling.

"NATIONAL LABOR RELATIONS BOARD

"SEC 3. (a) The National Labor Relations Board (hereinafter called the 'Board') created by this Act prior to its amendment by the Labor Management Relations Act, 1947, is hereby continued as an agency of the United States, except that the Board shall consist of five instead of three members, appointed by the President by and with the advice and consent of the Senate. Of the two additional members so provided for, one shall be appointed for a term of five years and the other for a term of two years Their successors, and the successors of the other members, shall be appointed for terms of five years each, excepting that any individual chosen to fill a vacancy shall be appointed only for the unexpired term of the member whom he shall succeed. The President shall designate one member to serve as Chairman of the Board. Any member of the Board may be removed by the President, upon notice and hearing, for neglect of duty or malfeasance in office, but for no other cause

"(b) The Board is authorized to delegate to any group of three or more members any or all of the powers which it may itself exercise A vacancy in the Board shall not impair the right of the remaining members to exercise all of the powers of the Board, and three members of the Board shall, at all times, constitute a quorum of the Board, except that two members shall constitute a quorum of any group designated pursuant to the first sentence hereof. The Board shall have an official seal which shall be judicially noticed.

"(c) The Board shall at the close of each fiscal year make a report in writing to Congress and to the President stating in detail the cases it has heard, the decisions it has rendered, the names, salaries, and duties of all employees and officers in the employ or under the supervision of the Board, and an account of all moneys it has disbursed

"(d) There shall be a General Counsel of the Board who shall be appointed by the President, by and with the advice and consent of the Senate, for a term of four years. The General Counsel of the Board shall exercise general supervision over all attorneys employed by the Board (other than trial examiners and legal assistants to Board members) and over the officers and employees in the regional offices He shall have final authority, on behalf of the Board, in respect of the investigation of charges and issuance of complaints under section 10, and in respect of the prosecution of such complaints before the Board, and shall have such other duties as the Board may prescribe or as may be provided by law.

"SEC. 4. (a) Each member of the Board and the General Counsel of the

Board shall receive a salary of $12,000 a year, shall be eligible for reappointment, and shall not engage in any other business, vocation, or employment. The Board shall appoint an executive secretary, and such attorneys, examiners, and regional directors, and such other employees as it may from time to time find necessary for the proper performance of its duties. The Board may not employ any attorneys for the purpose of reviewing transcripts of hearing or preparing drafts of opinions except that any attorney employed for assignment as a legal assistant to any Board member may for such Board member review such transcripts and prepare such drafts. No trial examiner's report shall be reviewed, either before or after its publication, by any person other than a member of the Board or his legal assistant, and no trial examiner shall advise or consult with the Board with respect to exceptions taken to his findings, rulings, or recommendations. The Board may establish or utilize such regional, local, or other agencies, and utilize such voluntary and uncompensated services, as may from time to time be needed. Attorneys appointed under this section may, at the direction of the Board, appear for and represent the Board in any case in court. Nothing in this Act shall be construed to authorize the Board to appoint individuals for the purpose of conciliation or mediation, or for economic analysis.

"(b) All of the expenses of the Board, including all necessary traveling and subsistence expenses outside the District of Columbia incurred by the members or employees of the Board under its orders, shall be allowed and paid on the presentation of itemized vouchers therefor approved by the Board or by any individual it designates for that purpose.

"SEC. 5. The principal office of the Board shall be in the District of Columbia, but it may meet and exercise any or all of its powers at any other place. The Board may, by one or more of its members or by such agents or agencies as it may designate, prosecute any inquiry necessary to its functions in any part of the United States. A member who participates in such an inquiry shall not be disqualified from subsequently participating in a decision of the Board in the same case.

"SEC. 6. The Board shall have authority from time to time to make, amend, and rescind, in the manner prescribed by the Administrative Procedure Act, such rules and regulations as may be necessary to carry out the provisions of this Act.

"RIGHTS OF EMPLOYEES

"SEC. 7. Employees shall have the right to self-organization, to form, join, or assist labor organizations, to bargain collectively through representatives of their own choosing, and to engage in other concerted activities for the purpose of collective bargaining or other mutual aid or protection, and shall also have the right to refrain from any or all of such activities except to the extent that such right may be affected by an agreement requiring membership in a labor organization as a condition of employment as authorized in section 8 (a) (3).

"UNFAIR LABOR PRACTICES

"SEC. 8. (a) It shall be an unfair labor practice for an employer—

"(1) to interfere with, restrain, or coerce employees in the exercise of the rights guaranteed in section 7;

"(2) to dominate or interfere with the formation or administration of any labor organization or contribute financial or other support to it: *Provided*, That subject to rules and regulations made and published by the Board pursuant to

section 6, an employer shall not be prohibited from permitting employees to confer with him during working hours without loss of time or pay,

"(3) by discrimination in regard to hire or tenure of employment or any term or condition of employment to encourage or discourage membership in any labor organization *Provided,* That nothing in this Act, or in any other statute of the United States, shall preclude an employer from making an agreement with a labor organization (not established, maintained, or assisted by any action defined in section 8 (a) of this Act as an unfair labor practice) to require as a condition of employment membership therein on or after the thirtieth day following the beginning of such employment or the effective date of such agreement, whichever is the later, (i) if such labor organization is the representative of the employees as provided in section 9 (a), in the appropriate collective-bargaining unit covered by such agreement when made, and (ii) if, following the most recent election held as provided in section 9 (e) the Board shall have certified that at least a majority of the employees eligible to vote in such election have voted to authorize such labor organization to make such an agreement *Provided further,* That no employer shall justify any discrimination against an employee for nonmembership in a labor organization (A) if he has reasonable grounds for believing that such membership was not available to the employee on the same terms and conditions generally applicable to other members, or (B) if he has reasonable grounds for believing that membership was denied or terminated for reasons other than the failure of the employee to tender the periodic dues and the initiation fees uniformly required as a condition of acquiring or retaining membership,

"(4) to discharge or otherwise discriminate against an employee because he has filed charges or given testimony under this Act,

"(5) to refuse to bargain collectively with the representatives of his employees, subject to the provisions of section 9 (a)

"(b) It shall be an unfair labor practice for a labor organization or its agents—

"(1) to restrain or coerce (A) employees in the exercise of the rights guaranteed in section 7 *Provided,* That this paragraph shall not impair the right of a labor organization to prescribe its own rules with respect to the acquisition or retention of membership therein, or (B) an employer in the selection of his representatives for the purposes of collective bargaining or the adjustment of grievances,

"(2) to cause or attempt to cause an employer to discriminate against an employee in violation of subsection (a) (3) or to discriminate against an employee with respect to whom membership in such organization has been denied or terminated on some ground other than his failure to tender the periodic dues and the initiation fees uniformly required as a condition of acquiring or retaining membership,

"(3) to refuse to bargain collectively with an employer, provided it is the representative of his employees subject to the provisions of section 9 (a),

"(4) to engage in, or to induce or encourage the employees of any employer to engage in, a strike or a concerted refusal in the course of their employment to use, manufacture, process, transport, or otherwise handle or work on any goods, articles, materials, or commodities or to perform any services, where an object thereof is. (A) forcing or requiring any employer or self-employed person to join any labor or employer organization or any employer or other person to cease using, selling, handling, transporting, or otherwise dealing in the products of any other producer, processor, or manufacturer, or to cease

doing business with any other person; (B) forcing or requiring any other employer to recognize or bargain with a labor organization as the representative of his employees unless such labor organization has been certified as the representative of such employees under the provisions of section 9, (C) forcing or requiring any employer to recognize or bargain with a particular labor organization as the representative of his employees if another labor organization has been certified as the representative of such employees under the provisions of section 9, (D) forcing or requiring any employer to assign particular work to employees in a particular labor organization or in a particular trade, craft, or class rather than to employees in another labor organization or in another trade, craft, or class, unless such employer is failing to conform to an order or certification of the Board determining the bargaining representative for employees performing such work *Provided,* That nothing contained in this subsection (b) shall be construed to make unlawful a refusal by any person to enter upon the premises of any employer (other than his own employer), if the employees of such employer are engaged in a strike ratified or approved by a representative of such employees whom such employer is required to recognize under this Act,

"(5) to require of employees covered by an agreement authorized under subsection (a) (3) the payment, as a condition precedent to becoming a member of such organization, of a fee in an amount which the Board finds excessive or discriminatory under all the circumstances In making such a finding, the Board shall consider, among other relevant factors, the practices and customs of labor organizations in the particular industry, and the wages currently paid to the employees affected, and

"(6) to cause or attempt to cause an employer to pay or deliver or agree to pay or deliver any money or other thing of value, in the nature of an exaction, for services which are not performed or not to be performed

"(c) The expressing of any views, argument, or opinion, or the dissemination thereof, whether in written, printed, graphic, or visual form, shall not constitute or be evidence of an unfair labor practice under any of the provisions of this Act, if such expression contains no threat of reprisal or force or promise of benefit

"(d) For the purposes of this section, to bargain collectively is the performance of the mutual obligation of the employer and the representative of the employees to meet at reasonable times and confer in good faith with respect to wages, hours, and other terms and conditions of employment, or the negotiation of an agreement, or any question arising thereunder, and the execution of a written contract incorporating any agreement reached if requested by either party, but such obligation does not compel either party to agree to a proposal or require the making of a concession *Provided,* That where there is in effect a collective-bargaining contract covering employees in an industry affecting commerce, the duty to bargain collectively shall also mean that no party to such contract shall terminate or modify such contract, unless the party desiring such termination or modification—

"(1) serves a written notice upon the other party to the contract of the proposed termination or modification sixty days prior to the expiration date thereof, or in the event such contract contains no expiration date, sixty days prior to the time it is proposed to make such termination or modification,

"(2) offers to meet and confer with the other party for the purpose of negotiating a new contract or a contract containing the proposed modifications,

"(3) notifies the Federal Mediation and Conciliation Service within thirty

days after such notice of the existence of a dispute, and simultaneously therewith notifies any State or Territorial agency established to mediate and conciliate disputes within the State or Territory where the dispute occurred, provided no agreement has been reached by that time, and

"(4) continues in full force and effect, without resorting to strike or lockout, all the terms and conditions of the existing contract for a period of sixty days after such notice is given or until the expiration date of such contract, whichever occurs later

The duties imposed upon employers, employees, and labor organizations by paragraphs (2), (3), and (4) shall become inapplicable upon an intervening certification of the Board, under which the labor organization or individual, which is a party to the contract, has been superseded as or ceased to be the representative of the employees subject to the provisions of section 9 (a), and the duties so imposed shall not be construed as requiring either party to discuss or agree to any modification of the terms and conditions contained in a contract for a fixed period, if such modification is to become effective before such terms and conditions can be reopened under the provisions of the contract Any employee who engages in a strike within the sixty-day period specified in this subsection shall lose his status as an employee of the employer engaged in the particular labor dispute, for the purposes of sections 8, 9, and 10 of this Act, as amended, but such loss of status for such employee shall terminate if and when he is reemployed by such employer.

"REPRESENTATIVES AND ELECTIONS

"SEC. 9 (a) Representatives designated or selected for the purposes of collective bargaining by the majority of the employees in a unit appropriate for such purposes, shall be the exclusive representatives of all the employees in such unit for the purposes of collective bargaining in respect to rates of pay, wages, hours of employment, or other conditions of employment *Provided*, That any individual employee or a group of employees shall have the right at any time to present grievances to their employer and to have such grievances adjusted, without the intervention of the bargaining representative, as long as the adjustment is not inconsistent with the terms of a collective-bargaining contract or agreement then in effect *Provided further*, That the bargaining representative has been given opportunity to be present at such adjustment

"(b) The Board shall decide in each case whether, in order to assure to employees the fullest freedom in exercising the rights guaranteed by this Act, the unit appropriate for the purposes of collective bargaining shall be the employer unit, craft unit, plant unit, or subdivision thereof *Provided*, That the Board shall not (1) decide that any unit is appropriate for such purposes if such unit includes both professional employees and employees who are not professional employees unless a majority of such professional employees vote for inclusion in such unit, or (2) decide that any craft unit is inappropriate for such purposes on the ground that a different unit has been established by a prior Board determination, unless a majority of the employees in the proposed craft unit vote against separate representation or (3) decide that any unit is appropriate for such purposes if it includes, together with other employees, any individual employed as a guard to enforce against employees and other persons rules to protect property of the employer or to protect the safety of persons on the employer's premises, but no labor organization shall be certified as the representative of employees in a bargaining unit of guards if such organization admits to membership, or is affiliated directly or indirectly with

an organization which admits to membership, employees other than guards.

"(c) (1) Whenever a petition shall have been filed, in accordance with such regulations as may be prescribed by the Board—

"(A) by an employee or group of employees or any individual or labor organization acting in their behalf alleging that a substantial number of employees (i) wish to be represented for collective bargaining and that their employer declines to recognize their representative as the representative defined in section 9 (a), or (ii) assert that the individual or labor organization, which has been certified or is being currently recognized by their employer as the bargaining representative, is no longer a representative as defined in section 9 (a), or

"(B) by an employer, alleging that one or more individuals or labor organizations have presented to him a claim to be recognized as the representative defined in section 9 (a),

the Board shall investigate such petition and if it has reasonable cause to believe that a question of representation affecting commerce exists shall provide for an appropriate hearing upon due notice. Such hearing may be conducted by an officer or employee of the regional office, who shall not make any recommendations with respect thereto. If the Board finds upon the record of such hearing that such a question of representation exists, it shall direct an election by secret ballot and shall certify the results thereof

"(2) In determining whether or not a question of representation affecting commerce exists, the same regulations and rules of decision shall apply irrespective of the identity of the persons filing the petition or the kind of relief sought and in no case shall the Board deny a labor organization a place on the ballot by reason of an order with respect to such labor organization or its predecessor not issued in conformity with section 10 (c)

"(3) No election shall be directed in any bargaining unit or any subdivision within which, in the preceding twelve-month period, a valid election shall have been held Employees on strike who are not entitled to reinstatement shall not be eligible to vote. In any election where none of the choices on the ballot receives a majority, a run-off shall be conducted, the ballot providing for a selection between the two choices receiving the largest and second largest number of valid votes cast in the election

"(4) Nothing in this section shall be construed to prohibit the waiving of hearings by stipulation for the purpose of a consent election in conformity with regulations and rules of decision of the Board

"(5) In determining whether a unit is appropriate for the purposes specified in subsection (b) the extent to which the employees have organized shall not be controlling.

"(d) Whenever an order of the Board made pursuant to section 10 (c) is based in whole or in part upon facts certified following an investigation pursuant to subsection (c) of this section and there is a petition for the enforcement or review of such order, such certification and the record of such investigation shall be included in the transcript of the entire record required to be filed under section 10 (e) or 10 (f), and thereupon the decree of the court enforcing, modifying, or setting aside in whole or in part the order of the Board shall be made and entered upon the pleadings, testimony, and proceedings set forth in such transcript

"(e) (1) Upon the filing with the Board by a labor organization, which is the representative of employees as provided in section 9 (a), of a petition alleging that 30 per centum or more of the employees within a unit claimed to be

appropriate for such purposes desire to authorize such labor organization to make an agreement with the employer of such employees requiring membership in such labor organization as a condition of employment in such unit, upon an appropriate showing thereof the Board shall, if no question of representation exists, take a secret ballot of such employees, and shall certify the results thereof to such labor organization and to the employer.

"(2) Upon the filing with the Board, by 30 per centum or more of the employees in a bargaining unit covered by an agreement between their employer and a labor organization made pursuant to section 8 (a) (3) (ii), of a petition alleging they desire that such authority be rescinded, the Board shall take a secret ballot of the employees in such unit, and shall certify the results thereof to such labor organization and to the employer.

"(3) No election shall be conducted pursuant to this subsection in any bargaining unit or any subdivision within which, in the preceding twelve-month period, a valid election shall have been held

"(f) No investigation shall be made by the Board of any question affecting commerce concerning the representation of employees, raised by a labor organization under subsection (c) of this section, no petition under section 9 (e) (1) shall be entertained, and no complaint shall be issued pursuant to a charge made by a labor organization under subsection (b) of section 10, unless such labor organization and any national or international labor organization of which such labor organization is an affiliate or constituent unit (A) shall have prior thereto filed with the Secretary of Labor copies of its constitution and bylaws and a report, in such form as the Secretary may prescribe, showing—

"(1) the name of such labor organization and the address of its principal place of business,

"(2) the names, titles, and compensation and allowances of its three principal officers and of any of its other officers or agents whose aggregate compensation and allowances for the preceding year exceeded $5,000, and the amount of the compensation and allowances paid to each such officer or agent during such year;

"(3) the manner in which the officers and agents referred to in clause (2) were elected, appointed, or otherwise selected,

"(4) the initiation fee or fees which new members are required to pay on becoming members of such labor organization,

"(5) the regular dues or fees which members are required to pay in order to remain members in good standing of such labor organization,

"(6) a detailed statement of, or reference to provisions of its constitution and bylaws showing the procedure followed with respect to, (a) qualification for or restrictions on membership, (b) election of officers and stewards, (c) calling of regular and special meetings, (d) levying of assessments, (e) imposition of fines, (f) authorization for bargaining demands, (g) ratification of contract terms, (h) authorization for strikes, (i) authorization for disbursement of union funds, (j) audit of union financial transactions, (k) participation in insurance or other benefit plans, and (l) expulsion of members and the grounds therefor; and (B) can show that prior thereto it has—

"(1) filed with the Secretary of Labor, in such form as the Secretary may prescribe, a report showing all of (a) its receipts of any kind and the sources of such receipts, (b) its total assets and liabilities as of the end of its last fiscal year, (c) the disbursements made by it during such fiscal year, including the purposes for which made, and

"(2) furnished to all of the members of such labor organization copies of

the financial report required by paragraph (1) hereof to be filed with the Secretary of Labor

"(g) It shall be the obligation of all labor organizations to file annually with the Secretary of Labor, in such form as the Secretary of Labor may prescribe, reports bringing up to date the information required to be supplied in the initial filing by subsection (f) (A) of this section, and to file with the Secretary of Labor and furnish to its members annually financial reports in the form and manner prescribed in subsection (f) (B) No labor organization shall be eligible for certification under this section as the representative of any employees, no petition under section 9 (e) (1) shall be entertained, and no complaint shall issue under section 10 with respect to a charge filed by a labor organization unless it can show that it and any national or international labor organization of which it is an affiliate or constituent unit has complied with its obligation under this subsection

"(h) No investigation shall be made by the Board of any question affecting commerce concerning the representation of employees, raised by a labor organization under subsection (c) of this section, no petition under section 9 (e) (1) shall be entertained, and no complaint shall be issued pursuant to a charge made by a labor organization under subsection (b) of section 10, unless there is on file with the Board an affidavit executed contemporaneously or within the preceding twelve-month period by each officer of such labor organization and the officers of any national or international labor organization of which it is an affiliate or constituent unit that he is not a member of the Communist Party or affiliated with such party, and that he does not believe in, and is not a member of or supports any organization that believes in or teaches, the overthrow of the United States Government by force or by any illegal or unconstitutional methods The provisions of section 35 A of the Criminal Code shall be applicable in respect to such affidavits.

"PREVENTION OF UNFAIR LABOR PRACTICES

"SEC 10 (a) The Board is empowered, as hereinafter provided, to prevent any person from engaging in any unfair labor practice (listed in section 8) affecting commerce. This power shall not be affected by any other means of adjustment or prevention that has been or may be established by agreement, law, or otherwise *Provided,* That the Board is empowered by agreement with any agency of any State or Territory to cede to such agency jurisdiction over any cases in any industry (other than mining, manufacturing, communications, and transportation except where predominantly local in character) even though such cases may involve labor disputes affecting commerce, unless the provision of the State or Territorial statute applicable to the determination of such cases by such agency is inconsistent with the corresponding provision of this Act or has received a construction inconsistent therewith

"(b) Whenever it is charged that any person has engaged in or is engaging in any such unfair labor practice, the Board, or any agent or agency designated by the Board for such purposes, shall have power to issue and cause to be served upon such person a complaint stating the charges in that respect, and containing a notice of hearing before the Board or a member thereof, or before a designated agent or agency, at a place therein fixed, not less than five days after the serving of said complaint *Provided,* That no complaint shall issue based upon any unfair labor practice occurring more than six months prior to the filing of the charge with the Board and the service of a copy thereof upon the person against whom such charge is made, unless the person aggrieved

thereby was prevented from filing such charge by reason of service in the armed forces, in which event the six-month period shall be computed from the day of his discharge Any such complaint may be amended by the member, agent, or agency conducting the hearing or the Board in its discretion at any time prior to the issuance of an order based thereon. The person so complained of shall have the right to file an answer to the original or amended complaint and to appear in person or otherwise and give testimony at the place and time fixed in the complaint In the discretion of the member, agent, or agency conducting the hearing or the Board, any other person may be allowed to intervene in the said proceeding and to present testimony Any such proceeding shall, so far as practicable, be conducted in accordance with the rules of evidence applicable in the district courts of the United States under the rules of civil procedure for the district courts of the United States, adopted by the Supreme Court of the United States pursuant to the Act of June 19, 1934 (U S C., title 28, secs 723-B, 723-C).

"(c) The testimony taken by such member, agent, or agency or the Board shall be reduced to writing and filed with the Board Thereafter, in its discretion, the Board upon notice may take further testimony or hear argument. If upon the preponderance of the testimony taken the Board shall be of the opinion that any person named in the complaint has engaged in or is engaging in any such unfair labor practice, then the Board shall state its findings of fact and shall issue and cause to be served on such person an order requiring such person to cease and desist from such unfair labor practice, and to take such affirmative action including reinstatement of employees with or without back pay, as will effectuate the policies of this Act *Provided,* That where an order directs reinstatement of an employee, back pay may be required of the employer or labor organization, as the case may be, responsible for the discrimination suffered by him *And provided further,* That in determining whether a complaint shall issue alleging a violation of section 8 (a) (1) or section 8 (a) (2), and in deciding such cases, the same regulations and rules of decision shall apply irrespective of whether or not the labor organization affected is affiliated with a labor organization national or international in scope Such order may further require such person to make reports from time to time showing the extent to which it has complied with the order If upon the preponderance of the testimony taken the Board shall not be of the opinion that the person named in the complaint has engaged in or is engaging in any such unfair labor practice, then the Board shall state its findings of fact and shall issue an order dismissing the said complaint. No order of the Board shall require the reinstatement of any individual as an employee who has been suspended or discharged, or the payment to him of any back pay, if such individual was suspended or discharged for cause. In case the evidence is presented before a member of the Board, or before an examiner or examiners thereof, such member, or such examiner or examiners, as the case may be, shall issue and cause to be served on the parties to the proceeding a proposed report, together with a recommended order, which shall be filed with the Board, and if no exceptions are filed within twenty days after service thereof upon such parties, or within such further period as the Board may authorize, such recommended order shall become the order of the Board and become effective as therein prescribed.

"(d) Until a transcript of the record in a case shall have been filed in a court, as hereinafter provided, the Board may at any time, upon reasonable notice and in such manner as it shall deem proper, modify or set aside, in whole or in part, any finding or order made or issued by it.

"(e) The Board shall have power to petition any circuit court of appeals of the United States (including the United States Court of Appeals for the District of Columbia), or if all the circuit courts of appeals to which application may be made are in vacation, any district court of the United States (including the District Court of the United States for the District of Columbia), within any circuit or district, respectively, wherein the unfair labor practice in question occurred or wherein such person resides or transacts business, for the enforcement of such order and for appropriate temporary relief or restraining order, and shall certify and file in the court a transcript of the entire record in the proceedings, including the pleadings and testimony upon which such order was entered and the findings and order of the Board Upon such filing, the court shall cause notice thereof to be served upon such person, and thereupon shall have jurisdiction of the proceeding and of the question determined therein, and shall have power to grant such temporary relief or restraining order as it deems just and proper, and to make and enter upon the pleadings, testimony, and proceedings set forth in such transcript a decree enforcing, modifying, and enforcing as so modified, or setting aside in whole or in part the order of the Board No objection that has not been urged before the Board, its member, agent, or agency, shall be considered by the court, unless the failure or neglect to urge such objection shall be excused because of extraordinary circumstances The findings of the Board with respect to questions of fact if supported by substantial evidence on the record considered as a whole shall be conclusive If either party shall apply to the court for leave to adduce additional evidence and shall show to the satisfaction of the court that such additional evidence is material and that there were reasonable grounds for the failure to adduce such evidence in the hearing before the Board, its member, agent, or agency, the court may order such additional evidence to be taken before the Board, its members, agent, or agency, and to be made a part of the transcript The Board may modify its findings as to the facts, or make new findings, by reason of additional evidence so taken and filed, and it shall file such modified or new findings, which findings with respect to questions of fact if supported by substantial evidence on the record considered as a whole shall be conclusive, and shall file its recommendations, if any, for the modification or setting aside of its original order. The jurisdiction of the court shall be exclusive and its judgment and decree shall be final, except that the same shall be subject to review by the appropriate circuit court of appeals if application was made to the district court as hereinabove provided, and by the Supreme Court of the United States upon writ of certiorari or certification as provided in sections 239 and 240 of the Judicial Code, as amended (U. S C., title 28, secs 346 and 347)

"(f) Any person aggrieved by a final order of the Board granting or denying in whole or in part the relief sought may obtain a review of such order in any circuit court of appeals of the United States in the circuit wherein the unfair labor practice in question was alleged to have been engaged in or wherein such person resides or transacts business, or in the United States Court of Appeals for the District of Columbia, by filing in such court a written petition praying that the order of the Board be modified or set aside A copy of such petition shall be forthwith served upon the Board, and thereupon the aggrieved party shall file in the court a transcript of the entire record in the proceeding, certified by the Board, including the pleading and testimony upon which the order complained of was entered, and the findings and order of the Board. Upon such filing, the court shall proceed in the same manner as in the case of an application by the Board under subsection (e), and shall have the same exclusive jurisdic-

tion to grant to the Board such temporary relief or restraining order as it deems just and proper, and in like manner to make and enter a decree enforcing, modifying, and enforcing as so modified, or setting aside in whole or in part the order of the Board, the findings of the Board with respect to questions of fact if supported by substantial evidence on the record considered as a whole shall in like manner be conclusive

"(g) The commencement of proceedings under subsection (e) or (f) of this section shall not, unless specifically ordered by the court, operate as a stay of the Board's order.

"(h) When granting appropriate temporary relief or a restraining order, or making and entering a decree enforcing, modifying, and enforcing as so modified, or setting aside in whole or in part an order on the Board, as provided in this section, the jurisdiction of courts sitting in equity shall not be limited by the Act entitled 'An Act to amend the Judicial Code and to define and limit the jurisdiction of courts sitting in equity, and for other purposes', approved March 23, 1932 (U S C, Supp. VII, title 29, secs 101-115)

"(i) Petitions filed under this Act shall be heard expeditiously, and if possible within ten days after they have been docketed

"(j) The Board shall have power, upon issuance of a complaint as provided in subsection (b) charging that any person has engaged in or is engaging in an unfair labor practice, to petition any district court of the United States (including the District Court of the United States for the District of Columbia), within any district wherein the unfair labor practice in question is alleged to have occurred or wherein such person resides or transacts business, for appropriate temporary relief or restraining order. Upon the filing of any such petition the court shall cause notice thereof to be served upon such person, and thereupon shall have jurisdiction to grant to the Board such temporary relief or restraining order as it deems just and proper

"(k) Whenever it is charged that any person has engaged in an unfair labor practice within the meaning of paragraph (4) (D) of section 8 (b), the Board is empowered and directed to hear and determine the dispute out of which such unfair labor practice shall have arisen, unless, within ten days after notice that such charge has been filed, the parties to such dispute submit to the Board satisfactory evidence that they have adjusted, or agreed upon methods for the voluntary adjustment of, the dispute Upon compliance by the parties to the dispute with the decision of the Board or upon such voluntary adjustment of the dispute, such charge shall be dismissed

"(l) Whenever it is charged that any person has engaged in an unfair labor practice within the meaning of paragraph (4)(A), (B), or (C) of section 8 (b), the preliminary investigation of such charge shall be made forthwith and given priority over all other cases except cases of like character in the office where it is filed or to which it is referred If, after such investigation, the officer or regional attorney to whom the matter may be referred has reasonable cause to believe such charge is true and that a complaint should issue, he shall, on behalf of the Board, petition any district court of the United States (including the District Court of the United States for the District of Columbia) within any district where the unfair labor practice in question has occurred, is alleged to have occurred, or wherein such person resides or transacts business, for appropriate injunctive relief pending the final adjudication of the Board with respect to such matter Upon the filing of any such petition the district court shall have jurisdiction to grant such injunctive relief or temporary restraining order as it deems just and proper, notwithstanding any other provision of law

*Provided further,* That no temporary restraining order shall be issued without notice unless a petition alleges that substantial and irreparable injury to the charging party will be unavoidable and such temporary restraining order shall be effective for no longer than five days and will become void at the expiration of such period. Upon filing of any such petition the courts shall cause notice thereof to be served upon any person involved in the charge and such person, including the charging party, shall be given an opportunity to appear by counsel and present any relevant testimony: *Provided further,* That for the purposes of this subjection district courts shall be deemed to have jurisdiction of a labor organization (1) in the district in which such organization maintains its principal office, or (2) in any district in which its duly authorized officers or agents are engaged in promoting or protecting the interests of employee members. The service of legal process upon such officer or agent shall constitute service upon the labor organization and make such organization a party to the suit. In situations where such relief is appropriate the procedure specified herein shall apply to charges with respect to section 8 (b) (4) (D).

"INVESTIGATORY POWERS

"SEC. 11. For the purpose of all hearings and investigations, which, in the opinion of the Board, are necessary and proper for the exercise of the powers vested in it by section 9 and section 10—

"(1) The Board, or its duly authorized agents or agencies, shall at all reasonable times have access to, for the purpose of examination, and the right to copy any evidence of any person being investigated or proceeded against that relates to any matter under investigation or in question. The Board, or any member thereof, shall upon application of any party to such proceedings, forthwith issue to such party subpenas requiring the attendance and testimony of witnesses or the production of any evidence in such proceeding or investigation requested in such application. Within five days after the service of a subpena on any person requiring the production of any evidence in his possession or under his control, such person may petition the Board to revoke, and the Board shall revoke, such subpena if in its opinion the evidence whose production is required does not relate to any matter under investigation, or any matter in question in such proceedings, or if in its opinion such subpena does not describe with sufficient particularity the evidence whose production is required. Any member of the Board, or any agent or agency designated by the Board for such purposes, may administer oaths and affirmations, examine witnesses, and receive evidence. Such attendance of witnesses and the production of such evidence may be required from any place in the United States or any Territory or possession thereof, at any designated place of hearing.

"(2) In case of contumacy or refusal to obey a subpena issued to any person, any district court of the United States or the United States courts of any Territory or possession, or the District Court of the United States for the District of Columbia, within the jurisdiction of which the inquiry is carried on or within the jurisdiction of which said person guilty of contumacy or refusal to obey is found or resides or transacts business, upon application by the Board shall have jurisdiction to issue to such person an order requiring such person to appear before the Board, its member, agent, or agency, there to produce evidence if so ordered, or there to give testimony touching the matter under investigation or in question, and any failure to obey such order of the court may be punished by said court as a contempt thereof.

"(3) No person shall be excused from attending and testifying or from

producing books, records, correspondence, documents, or other evidence in obedience to the subpena of the Board, on the ground that the testimony or evidence required of him may tend to incriminate him or subject him to a penalty or forfeiture, but no individual shall be prosecuted or subjected to any penalty or forfeiture for or on account of any transaction, matter, or thing concerning which he is compelled, after having claimed his privilege against self-incrimination, to testify or produce evidence, except that such individual so testifying shall not be exempt from prosecution and punishment for perjury committed in so testifying.

"(4) Complaints, orders, and other process and papers of the Board, its member, agent, or agency, may be served either personally or by registered mail or by telegraph or by leaving a copy thereof at the principal office or place of business of the person required to be served. The verified return by the individual so serving the same setting forth the manner of such service shall be proof of the same, and the return post office receipt or telegraph receipt therefor when registered and mailed or telegraphed as aforesaid shall be proof of service of the same. Witnesses summoned before the Board, its member, agent, or agency, shall be paid the same fees and mileage that are paid witnesses in the courts of the United States, and witnesses whose depositions are taken and the persons taking the same shall severally be entitled to the same fees as are paid for like services in the courts of the United States.

"(5) All process of any court to which application may be made under this Act may be served in the judicial district wherein the defendant or other person required to be served resides or may be found.

"(6) The several departments and agencies of the Government, when directed by the President, shall furnish the Board, upon its request, all records, papers, and information in their possession relating to any matter before the Board.

"SEC. 12. Any person who shall willfully resist, prevent, impede, or interfere with any member of the Board or any of its agents or agencies in the performance of duties pursuant to this Act shall be punished by a fine of not more than $5,000 or by imprisonment for not more than one year, or both.

"LIMITATIONS

"SEC. 13. Nothing in this Act, except as specifically provided for herein, shall be construed so as either to interfere with or impede or diminish in any way the right to strike, or to affect the limitations or qualifications on that right.

"SEC. 14. (a) Nothing herein shall prohibit any individual employed as a supervisor from becoming or remaining a member of a labor organization, but no employer subject to this Act shall be compelled to deem individuals defined herein as supervisors as employees for the purpose of any law, either national or local, relating to collective bargaining.

"(b) Nothing in this Act shall be construed as authorizing the execution or application of agreements requiring membership in a labor organization as a condition of employment in any State or Territory in which such execution or application is prohibited by State or Territorial law.

"SEC. 15. Wherever the application of the provisions of section 272 of chapter 10 of the Act entitled 'An Act to establish a uniform system of bankruptcy throughout the United States', approved July 1, 1898, and Acts amendatory thereof and supplementary thereto (U. S. C., title 11, sec. 672), conflicts with the application of the provisions of this Act, this Act shall prevail: *Provided*, That in any situation where the provisions of this Act cannot be validly

enforced, the provisions of such other Acts shall remain in full force and effect.

"SEC 16 If any provision of this Act, or the application of such provision to any person or circumstances, shall be held invalid, the remainder of this Act, or the application of such provision to persons or circumstances other than those as to which it is held invalid, shall not be affected thereby

"SEC 17. This Act may be cited as the 'National Labor Relations Act'."

EFFECTIVE DATE OF CERTAIN CHANGES

SEC 102. No provision of this title shall be deemed to make an unfair labor practice any act which was performed prior to the date of the enactment of this Act which did not constitute an unfair labor practice prior thereto, and the provisions of section 8 (a) (3) and section 8 (b) (2) of the National Labor Relations Act as amended by this title shall not make an unfair labor practice the performance of any obligation under a collective-bargaining agreement entered into prior to the date of the enactment of this Act, or (in the case of an agreement for a period of not more than one year) entered into on or after such date of enactment, but prior to the effective date of this title, if the performance of such obligation would not have constituted an unfair labor practice under section 8 (3) of the National Labor Relations Act prior to the effective date of this title, unless such agreement was renewed or extended subsequent thereto

SEC. 103 No provisions of this title shall affect any certification of representatives or any determination as to the appropriate collective-bargaining unit, which was made under section 9 of the National Labor Relations Act prior to the effective date of this title until one year after the date of such certification or if, in respect of any such certification, a collective-bargaining contract was entered into prior to the effective date of this title, until the end of the contract period or until one year after such date, whichever first occurs

SEC 104 The amendments made by this title shall take effect sixty days after the date of the enactment of this Act, except that the authority of the President to appoint certain officers conferred upon him by section 3 of the National Labor Relations Act as amended by this title may be exercised forthwith

## TITLE II—CONCILIATION OF LABOR DISPUTES IN INDUSTRIES AFFECTING COMMERCE, NATIONAL EMERGENCIES

SEC. 201 That it is the policy of the United States that—

(a) sound and stable industrial peace and the advancement of the general welfare, health, and safety of the Nation and of the best interests of employers and employees can most satisfactorily be secured by the settlement of issues between employers and employees through the processes of conference and collective bargaining between employers and the representatives of their employees,

(b) the settlement of issues between employers and employees through collective bargaining may be advanced by making available full and adequate governmental facilities for conciliation, mediation, and voluntary arbitration to aid and encourage employers and the representatives of their employees to reach and maintain agreements concerning rates of pay, hours, and working conditions, and to make all reasonable efforts to settle their differences by mutual agreement reached through conferences and collective bargaining or by such methods as may be provided for in any applicable agreement for the settlement of disputes, and

(c) certain controversies which arise between parties to collective-bargain-

ing agreements may be avoided or minimized by making available full and adequate governmental facilities for furnishing assistance to employers and the representatives of their employees in formulating for inclusion within such agreements provision for adequate notice of any proposed changes in the terms of such agreements, for the final adjustment of grievances or questions regarding the application or interpretation of such agreements, and other provisions designed to prevent the subsequent arising of such controversies

SEC 202 (a) There is hereby created an independent agency to be known as the Federal Mediation and Conciliation Service (herein referred to as the "Service", except that for sixty days after the date of the enactment of this Act such term shall refer to the Conciliation Service of the Department of Labor). The Service shall be under the direction of a Federal Mediation and Conciliation Director (hereinafter referred to as the "Director"), who shall be appointed by the President by and with the advice and consent of the Senate The Director shall receive compensation at the rate of $12,000 per annum The Director shall not engage in any other business, vocation, or employment.

(b) The Director is authorized, subject to the civil-service laws to appoint such clerical and other personnel as may be necessary for the execution of the functions of the Service, and shall fix their compensation in accordance with the Classification Act of 1923, as amended and may, without regard to the provisions of the civil-service laws and the Classification Act of 1923, as amended, appoint and fix the compensation of such conciliators and mediators as may be necessary to carry out the functions of the Service The Director is authorized to make such expenditures for supplies, facilities, and services as he deems necessary Such expenditures shall be allowed and paid upon presentation of itemized vouchers therefor approved by the Director or by any employee designated by him for that purpose

(c) The principal office of the Service shall be in the District of Columbia, but the Director may establish regional offices convenient to localities in which labor controversies are likely to arise The Director may by order, subject to revocation at any time, delegate any authority and discretion conferred upon him by this Act to any regional director, or other officer or employee of the Service The Director may establish suitable procedures for cooperation with State and local mediation agencies The Director shall make an annual report in writing to Congress at the end of the fiscal year

(d) All mediation and conciliation functions of the Secretary of Labor or the United States Conciliation Service under section 8 of the Act entitled "An Act to create a Department of Labor", approved March 4, 1913 (U. S C., title 29, sec. 51), and all functions of the United States Conciliation Service under any other law are hereby transferred to the Federal Mediation and Conciliation Service, together with the personnel and records of the United States Conciliation Service. Such transfer shall take effect upon the sixtieth day after the date of enactment of this Act. Such transfer shall not affect any proceedings pending before the United States Conciliation Service or any certification, order, rule, or regulation theretofore made by it or by the Secretary of Labor The Director and the Service shall not be subject in any way to the jurisdiction or authority of the Secretary of Labor or any official or division of the Department of Labor.

FUNCTIONS OF THE SERVICE

SEC 203. (a) It shall be the duty of the Service, in order to prevent or minimize interruptions of the free flow of commerce growing out of labor dis-

putes, to assist parties to labor disputes in industries affecting commerce to settle such disputes through conciliation and mediation

(b) The Service may proffer its services in any labor dispute in any industry affecting commerce, either upon its own motion or upon the request of one or more of the parties to the dispute, whenever in its judgment such dispute threatens to cause a substantial interruption of commerce The Director and the Service are directed to avoid attempting to mediate disputes which would have only a minor effect on interstate commerce if State or other conciliation services are available to the parties Whenever the Service does proffer its services in any dispute, it shall be the duty of the Service promptly to put itself in communication with the parties and to use its best efforts, by mediation and conciliation, to bring them to agreement.

(c) If the Director is not able to bring the parties to agreement by conciliation within a reasonable time, he shall seek to induce the parties voluntarily to seek other means of settling the dispute without resort to strike, lock-out, or other coercion, including submission to the employees in the bargaining unit of the employer's last offer of settlement for approval or rejection in a secret ballot The failure or refusal of either party to agree to any procedure suggested by the Director shall not be deemed a violation of any duty or obligation imposed by this Act

(d) Final adjustment by a method agreed upon by the parties is hereby declared to be the desirable method for settlement of grievance disputes arising over the application or interpretation of an existing collective-bargaining agreement The Service is directed to make its conciliation and mediation services available in the settlement of such grievance disputes only as a last resort and in exceptional cases

SEC 204 (a) In order to prevent or minimize interruptions of the free flow of commerce growing out of labor disputes, employers and employees and their representatives, in any industry affecting commerce, shall—

(1) exert every reasonable effort to make and maintain agreements concerning rates of pay, hours, and working conditions, including provision for adequate notice of any proposed change in the terms of such agreements;

(2) whenever a dispute arises over the terms or application of a collective-bargaining agreement and a conference is requested by a party or prospective party thereto, arrange promptly for such a conference to be held and endeavor in such conference to settle such dispute expeditiously, and

(3) in case such dispute is not settled by conference, participate fully and promptly in such meetings as may be undertaken by the Service under this Act for the purpose of aiding in a settlement of the dispute

SEC 205 (a) There is hereby created a National Labor-Management Panel which shall be composed of twelve members appointed by the President, six of whom shall be selected from among persons outstanding in the field of management and six of whom shall be selected from among persons outstanding in the field of labor Each member shall hold office for a term of three years, except that any member appointed to fill a vacancy occurring prior to the expiration of the term for which his predecessor was appointed shall be appointed for the remainder of such term, and the terms of office of the members first taking office shall expire, as designated by the President at the time of appointment, four at the end of the first year, four at the end of the second year, and four at the end of the third year after the date of appointment Members of the panel, when serving on business of the panel, shall be paid compensation at the rate of $25 per day, and shall also be entitled to receive an allowance for

actual and necessary travel and subsistence expenses while so serving away from their places of residence

(b) It shall be the duty of the panel, at the request of the Director, to advise in the avoidance of industrial controversies and the manner in which mediation and voluntary adjustment shall be administered, particularly with reference to controversies affecting the general welfare of the country

NATIONAL EMERGENCIES

SEC 206 Whenever in the opinion of the President of the United States, a threatened or actual strike or lock-out affecting an entire industry or a substantial part thereof engaged in trade, commerce, transportation, transmission, or communication among the several States or with foreign nations, or engaged in the production of goods for commerce, will, if permitted to occur or to continue, imperil the national health or safety, he may appoint a board of inquiry to inquire into the issues involved in the dispute and to make a written report to him within such time as he shall prescribe Such report shall include a statement of the facts with respect to the dispute, including each party's statement of its position but shall not contain any recommendations The President shall file a copy of such report with the Service and shall make its contents available to the public

SEC 207 (a) A board of inquiry shall be composed of a chairman and such other members as the President shall determine, and shall have power to sit and act in any place within the United States and to conduct such hearings either in public or in private, as it may deem necessary or proper, to ascertain the facts with respect to the causes and circumstances of the dispute

(b) Members of a board of inquiry shall receive compensation at the rate of $50 for each day actually spent by them in the work of the board, together with necessary travel and subsistence expenses

(c) For the purpose of any hearing or inquiry conducted by any board appointed under this title, the provisions of sections 9 and 10 (relating to the attendance of witnesses and the production of books, papers, and documents) of the Federal Trade Commission Act of September 16, 1914, as amended (U S C 19, title 15, secs 49 and 50, as amended), are hereby made applicable to the powers and duties of such board

SEC 208 (a) Upon receiving a report from a board of inquiry the President may direct the Attorney General to petition any district court of the United States having jurisdiction of the parties to enjoin such strike or lock-out or the continuing thereof, and if the court finds that such threatened or actual strike or lock-out—

(i) affects an entire industry or a substantial part thereof engaged in trade, commerce, transportation, transmission, or communication among the several States or with foreign nations, or engaged in the production of goods for commerce, and

(ii) if permitted to occur or to continue, will imperil the national health or safety, it shall have jurisdiction to enjoin any such strike or lock-out, or the continuing thereof, and to make such other orders as may be appropriate

(b) In any case, the provisions of the Act of March 23, 1932, entitled "An Act to amend the Judicial Code and to define and limit the jurisdiction of courts sitting in equity, and for other purposes", shall not be applicable

(c) The order or orders of the court shall be subject to review by the appropriate circuit court of appeals and by the Supreme Court upon writ of certiorari or certification as provided in sections 239 and 240 of the Judicial Code,

as amended (U S C, title 29, secs. 346 and 347)

SEC. 209. (a) Whenever a district court has issued an order under section 208 enjoining acts or practices which imperil or threaten to imperil the national health or safety, it shall be the duty of the parties to the labor dispute giving rise to such order to make every effort to adjust and settle their differences, with the assistance of the Service created by this Act. Neither party shall be under any duty to accept, in whole or in part, any proposal of settlement made by the Service

(b) Upon the issuance of such order, the President shall reconvene the board of inquiry which has previously reported with respect to the dispute. At the end of a sixty-day period (unless the dispute has been settled by that time), the board of inquiry shall report to the President the current position of the parties and the efforts which have been made for settlement, and shall include a statement by each party of its position and a statement of the employer's last offer of settlement The President shall make such report available to the public The National Labor Relations Board, within the succeeding fifteen days, shall take a secret ballot of the employees of each employer involved in the dispute on the question of whether they wish to accept the final offer of settlement made by their employer as stated by him and shall certify the results thereof to the Attorney General within five days thereafter

SEC 210 Upon the certification of the results of such ballot or upon a settlement being reached, whichever happens sooner, the Attorney General shall move the court to discharge the injunction, which motion shall then be granted and the injunction discharged When such motion is granted, the President shall submit to the Congress a full and comprehensive report of the proceedings, including the findings of the board of inquiry and the ballot taken by the National Labor Relations Board, together with such recommendations as he may see fit to make for consideration and appropriate action

COMPILATION OF COLLECTIVE BARGAINING AGREEMENTS, ETC

SEC 211. (a) For the guidance and information of interested representatives of employers, employees, and the general public, the Bureau of Labor Statistics of the Department of Labor shall maintain a file of copies of all available collective bargaining agreements and other available agreements and actions thereunder settling or adjusting labor disputes Such file shall be open to inspection under appropriate conditions prescribed by the Secretary of Labor, except that no specific information submitted in confidence shall be disclosed

(b) The Bureau of Labor Statistics in the Department of Labor is authorized to furnish upon request of the Service, or employers, employees, or their representatives, all available data and factual information which may aid in the settlement of any labor dispute, except that no specific information submitted in confidence shall be disclosed.

EXEMPTION OF RAILWAY LABOR ACT

SEC 212 The provisions of this title shall not be applicable with respect to any matter which is subject to the provisions of the Railway Labor Act, as amended from time to time

## TITLE III

SUITS BY AND AGAINST LABOR ORGANIZATIONS

SEC 301 (a) Suits for violation of contracts between an employer and a labor organization representing employees in an industry affecting commerce

as defined in this Act, or between any such labor organizations, may be brought in any district court of the United States having jurisdiction of the parties, without respect to the amount in controversy or without regard to the citizenship of the parties.

(b) Any labor organization which represents employees in an industry affecting commerce as defined in this Act and any employer whose activities affect commerce as defined in this Act shall be bound by the acts of its agents. Any such labor organization may sue or be sued as an entity and in behalf of the employees whom it represents in the courts of the United States. Any money judgment against a labor organization in a district court of the United States shall be enforceable only against the organization as an entity and against its assets, and shall not be enforceable against any individual member or his assets.

(c) For the purposes of actions and proceedings by or against labor organizations in the district courts of the United States, district courts shall be deemed to have jurisdiction of a labor organization (1) in the district in which such organization maintains its principal office, or (2) in any district in which its duly authorized officers or agents are engaged in representing or acting for employee members.

(d) The service of summons, subpena, or other legal process of any court of the United States upon an officer or agent of a labor organization, in his capacity as such, shall constitute service upon the labor organization.

(e) For the purposes of this section, in determining whether any person is acting as an "agent" of another person so as to make such other person responsible for his acts, the question of whether the specific acts performed were actually authorized or subsequently ratified shall not be controlling.

RESTRICTIONS ON PAYMENTS TO EMPLOYEE REPRESENTATIVES

SEC. 302. (a) It shall be unlawful for any employer to pay or deliver, or to agree to pay or deliver, any money or other thing of value to any representative of any of his employees who are employed in an industry affecting commerce.

(b) It shall be unlawful for any representative of any employees who are employed in an industry affecting commerce to receive or accept, or to agree to receive or accept, from the employer of such employees any money or other thing of value.

(c) The provisions of this section shall not be applicable (1) with respect to any money or other thing of value payable by an employer to any representative who is an employee or former employee of such employer, as compensation for, or by reason of, his services as an employee of such employer; (2) with respect to the payment or delivery of any money or other thing of value in satisfaction of a judgment of any court or a decision or award of an arbitrator or impartial chairman or in compromise, adjustment, settlement or release of any claim, complaint, grievance, or dispute in the absence of fraud or duress; (3) with respect to the sale or purchase of an article or commodity at the prevailing market price in the regular course of business; (4) with respect to money deducted from the wages of employees in payment of membership dues in a labor organization: *Provided*, That the employer has received from each employee, on whose account such deductions are made, a written assignment which shall not be irrevocable for a period of more than one year, or beyond the termination date of the applicable collective agreement, whichever occurs sooner; or (5) with respect to money or other thing of value paid to a trust fund established by such representative, for the sole and exclusive benefit of

the employees of such employer, and their families and dependents (or of such employees, families, and dependents jointly with the employees of other employers making similar payments, and their families and dependents): *Provided*, That (A) such payments are held in trust for the purpose of paying, either from principal or income or both, for the benefit of employees, their families and dependents, for medical or hospital care, pensions on retirement or death of employees, compensation for injuries or illness resulting from occupational activity or insurance to provide any of the foregoing, or unemployment benefits or life insurance, disability and sickness insurance, or accident insurance, (B) the detailed basis on which such payments are to be made is specified in a written agreement with the employer, and employees and employers are equally represented in the administration of such fund, together with such neutral persons as the representatives of the employers and the representatives of the employees may agree upon and in the event the employer and employee groups deadlock on the administration of such fund and there are no neutral persons empowered to break such deadlock, such agreement provides that the two groups shall agree on an impartial umpire to decide such dispute, or in event of their failure to agree within a reasonable length of time, an impartial umpire to decide such dispute shall, on petition of either group, be appointed by the district court of the United States for the district where the trust fund has its principal office, and shall also contain provisions for an annual audit of the trust fund, a statement of the results of which shall be available for inspection by interested persons at the principal office of the trust fund and at such other places as may be designated in such written agreement, and (C) such payments as are intended to be used for the purpose of providing pensions or annuities for employees are made to a separate trust which provides that the funds held therein cannot be used for any purpose other than paying such pensions or annuities.

(d) Any person who willfully violates any of the provisions of this section shall, upon conviction thereof, be guilty of a misdemeanor and be subject to a fine of not more than $10,000 or to imprisonment for not more than one year, or both.

(e) The district courts of the United States and the United States courts of the Territories and possessions shall have jurisdiction, for cause shown, and subject to the provisions of section 17 (relating to notice to opposite party) of the Act entitled "An Act to supplement existing laws against unlawful restraints and monopolies, and for other purposes", approved October 15, 1914, as amended (U. S. C., title 28, sec. 381), to restrain violations of this section, without regard to the provisions of sections 6 and 20 of such Act of October 15, 1914, as amended (U. S. C., title 15, sec. 17, and title 29, sec. 52), and the provisions of the Act entitled "An Act to amend the Judicial Code and to define and limit the jurisdiction of courts sitting in equity, and for other purposes", approved March 23, 1932 (U. S. C., title 29, secs. 101-115).

(f) This section shall not apply to any contract in force on the date of enactment of this Act, until the expiration of such contract, or until July 1, 1948, whichever first occurs.

(g) Compliance with the restrictions contained in subsection (c) (5) (B) upon contributions to trust funds, otherwise lawful, shall not be applicable to contributions to such trust funds established by collective agreement prior to January 1, 1946, nor shall subsection (c) (5) (A) be construed as prohibiting contributions to such trust funds if prior to January 1, 1947, such funds contained provisions for pooled vacation benefits.

BOYCOTTS AND OTHER UNLAWFUL COMBINATIONS

SEC. 303 (a) It shall be unlawful, for the purposes of this section only, in an industry or activity affecting commerce, for any labor organization to engage in, or to induce or encourage the employees of any employer to engage in, a strike or a concerted refusal in the course of their employment to use, manufacture, process, transport, or otherwise handle or work on any goods, articles, materials, or commodities or to perform any services, where an object thereof is—

(1) forcing or requiring any employer or self-employed person to join any labor or employer organization or any employer or other person to cease using, selling, handling, transporting, or otherwise dealing in the products of any other producer, processor, or manufacturer, or to cease doing business with any other person,

(2) forcing or requiring any other employer to recognize or bargain with a labor organization as the representative of his employees unless such labor organization has been certified as the representative of such employees under the provisions of section 9 of the National Labor Relations Act;

(3) forcing or requiring any employer to recognize or bargain with a particular labor organization as the representative of his employees if another labor organization has been certified as the representative of such employees under the provisions of section 9 of the National Labor Relations Act,

(4) forcing or requiring any employer to assign particular work to employees in a particular labor organization or in a particular trade, craft, or class rather than to employees in another labor organization or in another trade, craft, or class unless such employer is failing to conform to an order or certification of the National Labor Relations Board determining the bargaining representative for employees performing such work Nothing contained in this subsection shall be construed to make unlawful a refusal by any person to enter upon the premises of any employer (other than his own employer), if the employees of such employer are engaged in a strike ratified or approved by a representative of such employees whom such employer is required to recognize under the National Labor Relations Act

(b) Whoever shall be injured in his business or property by reason or any violation of subsection (a) may sue therefor in any district court of the United States subject to the limitations and provisions of section 301 hereof without respect to the amount in controversy, or in any other court having jurisdiction of the parties, and shall recover the damages by him sustained and the cost of the suit

RESTRICTION ON POLITICAL CONTRIBUTIONS

SEC 304. Section 313 of the Federal Corrupt Practices Act, 1925 (U S C, 1940 edition, title 2, sec 251, Supp V, title 50, App , sec 1509), as amended, is amended to read as follows

"SEC 313 It is unlawful for any national bank, or any corporation organized by authority of any law of Congress, to make a contribution or expenditure in connection with any election to any political office, or in connection with any primary election or political convention or caucus held to select candidates for any political office, or for any corporation whatever, or any labor organization to make a contribution or expenditure in connection with any election at which Presidential and Vice Presidential electors or a Senator or Representative in, or a Delegate or Resident Commissioner to Congress are to be voted for, or in connection with any primary election or political convention or caucus held to

select candidates for any of the foregoing offices, or for any candidate, political committee, or other person to accept or receive any contribution prohibited by this section. Every corporation or labor organization which makes any contribution or expenditure in violation of this section shall be fined not more than $5,000, and every officer or director of any corporation, or officer of any labor organization, who consents to any contribution or expenditure by the corporation or labor organization, as the case may be, in violation of this section shall be fined not more than $1,000 or imprisoned for not more than one year, or both. For the purposes of this section 'labor organization' means any organization of any kind, or any agency or employee representation committee or plan, in which employees participate and which exists for the purpose, in whole or in part, of dealing with employers concerning grievances, labor disputes, wages, rates of pay, hours of employment, or conditions of work."

STRIKES BY GOVERNMENT EMPLOYEES

SEC. 305. It shall be unlawful for any individual employed by the United States or any agency thereof including wholly owned Government corporations to participate in any strike. Any individual employed by the United States or by any such agency who strikes shall be discharged immediately from his employment, and shall forfeit his civil service status, if any, and shall not be eligible for reemployment for three years by the United States or any such agency.

## TITLE IV

CREATION OF JOINT COMMITTEE TO STUDY AND REPORT ON BASIC PROBLEMS AFFECTING FRIENDLY LABOR RELATIONS AND PRODUCTIVITY

SEC. 401. There is hereby established a joint congressional committee to be known as the Joint Committee on Labor-Management Relations (hereafter referred to as the committee), and to be composed of seven Members of the Senate Committee on Labor and Public Welfare, to be appointed by the President pro tempore of the Senate, and seven Members of the House of Representatives Committee on Education and Labor, to be appointed by the Speaker of the House of Representatives. A vacancy in membership of the committee shall not affect the powers of the remaining members to execute the functions of the committee, and shall be filled in the same manner as the original selection. The committee shall select a chairman and a vice chairman from among its members.

SEC. 402. The committee, acting as a whole or by subcommittee, shall conduct a thorough study and investigation of the entire field of labor-management relations, including but not limited to—

(1) the means by which permanent friendly cooperation between employers and employees and stability of labor relations may be secured throughout the United States;

(2) the means by which the individual employee may achieve a greater productivity and higher wages, including plans for guaranteed annual wages, incentive profit-sharing and bonus systems;

(3) the internal organization and administration of labor unions, with special attention to the impact on individuals of collective agreements requiring membership in unions as a condition of employment;

(4) the labor relations policies and practices of employers and associations of employers;

(5) the desirability of welfare funds for the benefit of employees and their relation to the social-security system;

(6) the methods and procedures for best carrying out the collective-bargaining processes, with special attention to the effects of industry-wide or regional bargaining upon the national economy,

(7) the administration and operation of existing Federal laws relating to labor relations, and

(8) such other problems and subjects in the field of labor-management relations as the committee deems appropriate

SEC 403. The committee shall report to the Senate and the House of Representatives not later than March 15, 1948, the results of its study and investigation, together with such recommendations as to necessary legislation and such other recommendations as it may deem advisable, and shall make its final report not later than January 2, 1949

SEC 404 The committee shall have the power, without regard to the civil-service laws and the Classification Act of 1923, as amended, to employ and fix the compensation of such officers, experts, and employees as it deems necessary for the performance of its duties, including consultants who shall receive compensation at a rate not to exceed $35 for each day actually spent by them in the work of the committee, together with their necessary travel and subsistence expenses The committee is further authorized, with the consent of the head of the department or agency concerned, to utilize the services, information, facilities, and personnel of all agencies in the executive branch of the Government and may request the governments of the several States, representatives of business, industry, finance, and labor, and such other persons, agencies, organizations, and instrumentalities as it deems appropriate to attend its hearings and to give and present information, advice, and recommendations

SEC 405 The committee, or any subcommittee thereof, is authorized to hold such hearings, to sit and act at such times and places during the sessions, recesses, and adjourned periods of the Eightieth Congress, to require by subpena or otherwise the attendance of such witnesses and the production of such books, papers, and documents, to administer oaths, to take such testimony, to have such printing and binding done, and to make such expenditures within the amount appropriated therefor, as it deems advisable. The cost of stenographic services in reporting such hearings shall not be in excess of 25 cents per one hundred words Subpenas shall be issued under the signature of the chairman or vice chairman of the committee and shall be served by any person designated by them

SEC 406 The members of the committee shall be reimbursed for travel, subsistence, and other necessary expenses incurred by them in the performance of the duties vested in the committee, other than expenses in connection with meetings of the committee held in the District of Columbia during such times as the Congress is in session

SEC 407 There is hereby authorized to be appropriated the sum of $150,000, or so much thereof as may be necessary, to carry out the provisions of this title, to be disbursed by the Secretary of the Senate on vouchers signed by the chairman.

## TITLE V

### DEFINITIONS

SEC 501 When used in this Act—

(1) The term "industry affecting commerce" means any industry or activity in commerce or in which a labor dispute would burden or obstruct commerce or tend to burden or obstruct commerce or the free flow of commerce.

(2) The term "strike" includes any strike or other concerted stoppage of work by employees (including a stoppage by reason of the expiration of a collective-bargaining agreement) and any concerted slow-down or other concerted interruption of operations by employees

(3) The terms "commerce", "labor disputes", "employer", "employee", "labor organization", "representative", "person", and "supervisor" shall have the same meaning as when used in the National Labor Relations Act as amended by this Act

SAVING PROVISION

SEC. 502 Nothing in this Act shall be construed to require an individual employee to render labor or service without his consent, nor shall anything in this Act be construed to make the quitting of his labor by an individual employee an illegal act, nor shall any court issue any process to compel the performance by an individual employee of such labor or service, without his consent, nor shall the quitting of labor by an employee or employees in good faith because of abnormally dangerous conditions for work at the place of employment of such employee or employees be deemed a strike under this Act

SEPARABILITY

SEC 503 If any provision of this Act, or the application of such provision to any person or circumstance, shall be held invalid, the remainder of this Act, or the application of such provision to persons or circumstances other than those as to which it is held invalid, shall not be affected thereby

JOSEPH W MARTIN, Jr
*Speaker of the House of Representatives*

A H VANDENBERG
*President of the Senate pro tempore*

IN THE HOUSE OF REPRESENTATIVES, U S,
*June 20, 1947*

The House of Representatives having proceeded to reconsider the bill (H R 3020) entitled "An Act to amend the National Labor Relations Act, to provide additional facilities for the mediation of labor disputes affecting commerce, to equalize legal responsibilities of labor organizations and employers, and for other purposes", returned by the President of the United States with his objections, to the House of Representatives, in which it originated, it was

*Resolved,* That the said bill pass, two-thirds of the House of Representatives agreeing to pass the same.

Attest JOHN ANDREWS
*Clerk*

I certify that this Act originated in the House of Representatives
JOHN ANDREWS
*Clerk*

IN THE SENATE OF THE UNITED STATES,
*June 23 (legislative day, April 21), 1947*

The Senate having proceeded to reconsider the bill (H R 3020) "An Act to amend the National Labor Relations Act, to provide additional facilities for the mediation of labor disputes affecting commerce, to equalize legal respon-

sibilities of labor organizations and employers, and for other purposes", returned by the President of the United States with his objections, to the House of Representatives, in which it originated, and passed by the House of Representatives on reconsideration of the same, it was

*Resolved*, That the said bill pass, two-thirds of the Senate having voted in the affirmative.

Attest

CARL A LOEFFLER

*Secretary*

## Appendix V

# FAIR LABOR STANDARDS ACT

[Public—No 718—75th Congress]

[Chapter 676—3d Session]

[S 2475]

AN ACT

To provide for the establishment of fair labor standards in employments in and affecting interstate commerce, and for other purposes

*Be it enacted by the Senate and House of Representatives of the United States of America in Congress assembled,* That this Act may be cited as the "Fair Labor Standards Act of 1938".

FINDING AND DECLARATION OF POLICY

Sec 2. (a) The Congress hereby finds that the existence, in industries engaged in commerce or in the production of goods for commerce, of labor conditions detrimental to the maintenance of the minimum standard of living necessary for health, efficiency, and general well-being of workers (1) causes commerce and the channels and instrumentalities of commerce to be used to spread and perpetuate such labor conditions among the workers of the several States, (2) burdens commerce and the free flow of goods in commerce, (3) constitutes an unfair method of competition in commerce, (4) leads to labor disputes burdening and obstructing commerce and the free flow of goods in commerce, and (5) interferes with the orderly and fair marketing of goods in commerce

(b) It is hereby declared to be the policy of this Act, through the exercise by Congress of its power to regulate commerce among the several States, to correct and as rapidly as practicable to eliminate the conditions above referred to in such industries without substantially curtailing employment or earning power.

DEFINITIONS

Sec 3 As used in this Act—

(a) "Person" means an individual, partnership, association, corporation, business trust, legal representative, or any organized group of persons

(b) "Commerce" means trade, commerce, transportation, transmission, or communication among the several States or from any State to any place outside thereof

(c) "State" means any State of the United States or the District of Columbia or any Territory or possession of the United States

(d) "Employer" includes any person acting directly or indirectly in the interest of an employer in relation to an employee but shall not include the United States or any State or political subdivision of a State, or any labor or-

ganization (other than when acting as an employer), or anyone acting in the capacity of officer or agent of such labor organization

(e) "Employee" includes any individual employed by an employer

(f) "Agriculture" includes farming in all its branches and among other things includes the cultivation and tillage of the soil, dairying, the production, cultivation, growing, and harvesting of any agricultural or horticultural commodities (including commodities defined as agricultural commodities in section 15 (g) of the Agricultural Marketing Act, as amended), the raising of livestock, bees, fur-bearing animals, or poultry, and any practices (including any forestry or lumbering operations) performed by a farmer or on a farm as an incident to or in conjunction with such farming operations, including preparation for market, delivery to storage or to market or to carriers for transportation to market

(g) "Employ" includes to suffer or permit to work.

(h) "Industry" means a trade, business, industry, or branch thereof, or group of industries, in which individuals are gainfully employed.

(i) "Goods" means goods (including ships and marine equipment), wares, products, commodities, merchandise, or articles or subjects of commerce of any character, or any part or ingredient thereof, but does not include goods after their delivery into the actual physical possession of the ultimate consumer thereof other than a producer, manufacturer, or processor thereof

(j) "Produced" means produced, manufactured, mined handled, or in any other manner worked on in any State, and for the purposes of this Act an employee shall be deemed to have been engaged in the production of goods if such employee was employed in producing, manufacturing, mining, handling, transporting, or in any other manner working on such goods, or in any process or occupation necessary to the production thereof, in any State

(k) "Sale" or "sell" includes any sale, exchange, contract to sell, consignment for sale, shipment for sale, or other disposition

(l) "Oppressive child labor" means a condition of employment under which (1) any employee under the age of sixteen years is employed by an employer (other than a parent or a person standing in place of a parent employing his own child or a child in his custody under the age of sixteen years in an occupation other than manufacturing or mining) in any occupation, or (2) any employee between the ages of sixteen and eighteen years is employed by an employer in any occupation which the Chief of the Children's Bureau in the Department of Labor shall find and by order declare to be particularly hazardous for the employment of children between such ages or detrimental to their health or well-being, but oppressive child labor shall not be deemed to exist by virtue of the employment in any occupation of any person with respect to whom the employer shall have on file an unexpired certificate issued and held pursuant to regulations of the Chief of the Children's Bureau certifying that such person is above the oppressive child-labor age The Chief of the Children's Bureau shall provide by regulation or by order that the employment of employees between the ages of fourteen and sixteen years in occupations other than manufacturing and mining shall not be deemed to constitute oppressive child labor if and to the extent that the Chief of the Children's Bureau determines that such employment is confined to periods which will not interfere with their schooling and to conditions which will not interfere with their health and well-being

(m) "Wage" paid to any employee includes the reasonable cost, as determined by the Administrator, to the employer of furnishing such employee with

board, lodging, or other facilities, if such board, lodging, or other facilities are customarily furnished by such employer to his employees

ADMINISTRATOR

SEC. 4 (a) There is hereby created in the Department of Labor a Wage and Hour Division which shall be under the direction of an Administrator, to be known as the Administrator of the Wage and Hour Division (in this Act referred to as the "Administrator") The Administrator shall be appointed by the President, by and with the advice and consent of the Senate, and shall receive compensation at the rate of $10,000 a year

(b) The Administrator may, subject to the civil-service laws, appoint such employees as he deems necessary to carry out his functions and duties under this Act and shall fix their compensation in accordance with the Classification Act of 1923, as amended The Administrator may establish and utilize such regional, local, or other agencies, and utilize such voluntary and uncompensated services, as may from time to time be needed Attorneys appointed under this section may appear for and represent the Administrator in any litigation, but all such litigation shall be subject to the direction and control of the Attorney General In the appointment, selection, classification, and promotion of officers and employees of the Administrator, no political test or qualification shall be permitted or given consideration, but all such appointments and promotions shall be given and made on the basis of merit and efficiency

(c) The principal office of the Administrator shall be in the District of Columbia, but he or his duly authorized representative may exercise any or all of his powers in any place

(d) The Administrator shall submit annually in January a report to the Congress covering his activities for the preceding year and including such information, data, and recommendations for further legislation in connection with the matters covered by this Act as he may find advisable

INDUSTRY COMMITTEES

SEC 5 (a) The Administrator shall as soon as practicable appoint an industry committee for each industry engaged in commerce or in the production of goods for commerce

(b) An industry committee shall be appointed by the Administrator without regard to any other provisions of law regarding the appointment and compensation of employees of the United States It shall include a number of disinterested persons representing the public, one of whom the Administrator shall designate as chairman, a like number of persons representing employees in the industry, and a like number representing employers in the industry In the appointment of the persons representing each group, the Administrator shall give due regard to the geographical regions in which the industry is carried on

(c) Two-thirds of the members of an industry committee shall constitute a quorum, and the decision of the committee shall require a vote of not less than a majority of all its members Members of an industry committee shall receive as compensation for their services a reasonable per diem, which the Administrator shall by rules and regulations prescribe, for each day actually spent in the work of the committee, and shall in addition be reimbursed for their necessary traveling and other expenses The Administrator shall furnish the committee with adequate legal, stenographic, clerical, and other assistance, and shall by rules and regulations prescribe the procedure to be followed by the committee

(d) The Administrator shall submit to an industry committee from time to time such data as he may have available on the matters referred to it, and shall cause to be brought before it in connection with such matters any witnesses whom he deems material. An industry committee may summon other witnesses or call upon the Administrator to furnish additional information to aid it in its deliberations.

(e) No industry committee appointed under subsection (a) of this section shall have any power to recommend the minimum rate or rates of wages to be paid under section 6 to any employees in Puerto Rico or in the Virgin Islands. Notwithstanding any other provision of this Act, the Administrator may appoint a special industry committee to recommend the minimum rate or rates of wages to be paid under section 6 to all employees in Puerto Rico or the Virgin Islands, or in Puerto Rico and the Virgin Islands, engaged in commerce or in the production of goods for commerce, or the Administrator may appoint separate industry committees to recommend the minimum rate or rates of wages to be paid under section 6 to employees therein engaged in commerce or in the production of goods for commerce in particular industries. An industry committee appointed under this subsection shall be composed of residents of such island or islands where the employees with respect to whom such committee was appointed are employed and residents of the United States outside of Puerto Rico and the Virgin Islands. In determining the minimum rate or rates of wages to be paid, and in determining classifications, such industry committees and the Administrator shall be subject to the provisions of section 8 and no such committee shall recommend, nor shall the Administrator approve, a minimum wage rate which will give any industry in Puerto Rico or in the Virgin Islands a competitive advantage over any industry in the United States outside of Puerto Rico and the Virgin Islands.

No wage orders issued by the Administrator pursuant to the recommendations of an industry committee made prior to the enactment of this joint resolution pursuant to section 8 of the Fair Labor Standards Act of 1938 shall after such enactment be applicable with respect to any employees engaged in commerce or in the production of goods for commerce in Puerto Rico or the Virgin Islands.[1]

MINIMUM WAGES

SEC. 6. (a) Every employer shall pay to each of his employees who is engaged in commerce or in the production of goods for commerce wages at the following rates—

(1) during the first year from the effective date of this section, not less than 25 cents an hour,

(2) during the next six years from such date, not less than 30 cents an hour,

(3) after the expiration of seven years from such date, not less than 40 cents an hour, or the rate (not less than 30 cents an hour) prescribed in the applicable order of the Administrator issued under section 8, whichever is lower, and

(4) at any time after the effective date of this section, not less than the rate (not in excess of 40 cents an hour) prescribed in the applicable order of the Administrator issued under section 8,

(5) if such employee is a home worker in Puerto Rico or the Virgin Islands, not less than the minimum piece rate prescribed by regulation or order, or, if

---

[1] Amendment provided by Act of June 26, 1940 (Public Res. No. 88, 76th Congress).

no such minimum piece rate is in effect, any piece rate adopted by such employer which shall yield, to the proportion or class of employees prescribed by regulation or order, not less than the applicable minimum hourly wage rate. Such minimum piece rates or employer piece rates shall be commensurate with, and shall be paid in lieu of, the minimum hourly wage rate applicable under the provisions of this section. The Administrator, or his authorized representative, shall have power to make such regulations or orders as are necessary or appropriate to carry out any of the provisions of this paragraph, including the power without limiting the generality of the foregoing, to define any operation or occupation which is performed by such home work employees in Puerto Rico or the Virgin Islands; to establish minimum piece rates for any operation or occupation so defined, to prescribe the method and procedure for ascertaining and promulgating minimum piece rates, to prescribe standards for employer piece rates, including the proportion or class of employees who shall receive not less than the minimum hourly wage rate, to define the term "home worker"; and to prescribe the conditions under which employers, agents, contractors, and subcontractors shall cause goods to be produced by home workers [1]

(b) This section shall take effect upon the expiration of one hundred and twenty days from the date of enactment of this Act.

(c) The provisions of paragraphs (1), (2), and (3) of subsection (a) of this section shall be superseded in the case of any employee in Puerto Rico or the Virgin Islands engaged in commerce or in the production of goods for commerce only for so long as and insofar as such employee is covered by a wage order issued by the Administrator pursuant to the recommendations of a special industry committee appointed pursuant to section 5 (e).[1]

MAXIMUM HOURS

SEC. 7. (a) No employer shall, except as otherwise provided in this section, employ any of his employees who is engaged in commerce or in the production of goods for commerce—

(1) for a workweek longer than forty-four hours during the first year from the effective date of this section,

(2) for a workweek longer than forty-two hours during the second year from such date, or

(3) for a workweek longer than forty hours after the expiration of the second year from such date,

unless such employee receives compensation for his employment in excess of the hours above specified at a rate not less than one and one-half times the regular rate at which he is employed.

(b) No employer shall be deemed to have violated subsection (a) by employing any employee for a workweek in excess of that specified in such subsection without paying the compensation for overtime employment prescribed therein if such employee is so employed—

(1) in pursuance of an agreement, made as a result of collective bargaining by representatives of employees certified as bona fide by the National Labor Relations Board, which provides that no employee shall be employed more than one thousand hours during any period of twenty-six consecutive weeks,

(2) on an annual basis in pursuance of an agreement with his employer, made as a result of collective bargaining by representatives of employees cer-

---

[1] Amendment provided by Act of June 26, 1940 (Public Res. No. 88, 76th Congress)

tified as bona fide by the National Labor Relations Board, which provides that the employee shall not be employed more than two thousand hours during any period of fifty-two consecutive weeks, or

(3) for a period or periods of not more than fourteen workweeks in the aggregate in any calendar year in an industry found by the Administrator to be of a seasonal nature,

and if such employee receives compensation for employment in excess of 12 hours in any workday, or for employment in excess of 56 hours in any workweek, as the case may be, at a rate not less than one and one-half times the regular rate at which he is employed

(c) In the case of an employer engaged in the first processing of milk, whey, skimmed milk, or cream into dairy products, or in the ginning and compressing of cotton, or in the processing of cottonseed, or in the processing of sugar beets, sugar beet molasses, sugar-cane, or maple sap, into sugar (but not refined sugar) or into syrup, the provisions of subsection (a) shall not apply to his employees in any place of employment where he is so engaged; and in the case of an employer engaged in the first processing of, or in canning or packing, perishable or seasonal fresh fruits or vegetables, or in the first processing, within the area of production (as defined by the Administrator), of any agricultural or horticultural commodity during seasonal operations, or in handling, slaughtering, or dressing poultry or livestock, the provisions of subsection (a), during a period or periods of not more than fourteen workweeks in the aggregate in any calendar year, shall not apply to his employees in any place of employment where he is so engaged

(d) This section shall take effect upon the expiration of one hundred and twenty days from the date of enactment of this Act

WAGE ORDERS

SEC 8. (a) With a view to carrying out the policy of this Act by reaching, as rapidly as is economically feasible without substantially curtailing employment, the objective of a universal minimum wage of 40 cents an hour in each industry engaged in commerce or in the production of goods for commerce, the Administrator shall from time to time convene the industry committee for each such industry, and the industry committee shall from time to time recommend the minimum rate or rates of wages to be paid under section 6 by employers engaged in commerce or in the production of goods for commerce in such industry or classifications therein.

(b) Upon the convening of an industry committee, the Administrator shall refer to it the question of the minimum wage rate or rates to be fixed for such industry. The industry committee shall investigate conditions in the industry and the committee, or any authorized subcommittee thereof, may hear such witnesses and receive such evidence as may be necessary or appropriate to enable the committee to perform its duties and functions under this Act The committee shall recommend to the Administrator the highest minimum wage rates for the industry which it determines, having due regard to economic and competitive conditions, will not substantially curtail employment in the industry.

(c) The industry committee for any industry shall recommend such reasonable classifications within any industry as it determines to be necessary for the purpose of fixing for each classification within such industry the highest minimum wage rate (not in excess of 40 cents an hour) which (1) will not sub-

stantially curtail employment in such classification and (2) will not give a competitive advantage to any group in the industry, and shall recommend for each classification in the industry the highest minimum wage rate which the committee determines will not substantially curtail employment in such classification. In determining whether such classifications should be made in any industry, in making such classifications, and in determining the minimum wage rates for such classifications, no classification shall be made, and no minimum wage rate shall be fixed, solely on a regional basis, but the industry committee and the Administrator shall consider among other relevant factors the following

(1) competitive conditions as affected by transportation, living, and production costs,

(2) the wages established for work of like or comparable character by collective labor agreements negotiated between employers and employees by representatives of their own choosing, and

(3) the wages paid for work of like or comparable character by employers who voluntarily maintain minimum-wage standards in the industry.

No classification shall be made under this section on the basis of age or sex.

(d) The industry committee shall file with the Administrator a report containing its recommendations with respect to the matters referred to it. Upon the filing of such report, the Administrator, after due notice to interested persons, and giving them an opportunity to be heard, shall by order approve and carry into effect the recommendations contained in such report, if he finds that the recommendations are made in accordance with law, are supported by the evidence adduced at the hearing, and, taking into consideration the same factors as are required to be considered by the industry committee, will carry out the purposes of this section, otherwise he shall disapprove such recommendations If the Administrator disapproves such recommendations, he shall again refer the matter to such committee, or to another industry committee for such industry (which he may appoint for such purpose), for further consideration and recommendations.

(e) No order issued under this section with respect to any industry prior to the expiration of seven years from the effective date of section 6 shall remain in effect after such expiration, and no order shall be issued under this section with respect to any industry on or after such expiration, unless the industry committee by a preponderance of the evidence before it recommends, and the Administrator by a preponderance of the evidence adduced at the hearing finds, that the continued effectiveness or the issuance of the order, as the case may be, is necessary in order to prevent substantial curtailment of employment in the industry

(f) Orders issued under this section shall define the industries and classifications therein to which they are to apply, and shall contain such terms and conditions as the Administrator finds necessary to carry out the purposes of such orders, to prevent the circumvention or evasion thereof, and to safeguard the minimum wage rates established therein. No such order shall take effect until after due notice is given of the issuance thereof by publication in the Federal Register and by such other means as the Administrator deems reasonably calculated to give to interested persons general notice of such issuance

(g) Due notice of any hearing provided for in this section shall be given by publication in the Federal Register and by such other means as the Administrator deems reasonably calculated to give general notice to interested persons

ATTENDANCE OF WITNESSES

SEC. 9 For the purpose of any hearing or investigation provided for in this Act, the provisions of sections 9 and 10 (relating to the attendance of witnesses and the production of books, papers, and documents) of the Federal Trade Commission Act of September 16, 1914, as amended (U. S C, 1934 edition, title 15, secs 49 and 50), are hereby made applicable to the jurisdiction, powers, and duties of the Administrator, the Chief of the Children's Bureau, and the industry committees.

COURT REVIEW

SEC 10. (a) Any person aggrieved by an order of the Administrator issued under section 8 may obtain a review of such order in the circuit court of appeals of the United States for any circuit wherein such person resides or has his principal place of business, or in the United States Court of Appeals for the District of Columbia, by filing in such court, within sixty days after the entry of such order, a written petition praying that the order of the Administrator be modified or set aside in whole or in part. A copy of such petition shall forthwith be served upon the Administrator, and thereupon the Administrator shall certify and file in the court a transcript of the record upon which the order complained of was entered Upon the filing of such transcript such court shall have exclusive jurisdiction to affirm, modify, or set aside such order in whole or in part, so far as it is applicable to the petitioner. The review by the court shall be limited to questions of law, and findings of fact by the Administrator when supported by substantial evidence shall be conclusive. No objection to the order of the Administrator shall be considered by the court unless such objection shall have been urged before the Administrator or unless there were reasonable grounds for failure so to do If application is made to the court for leave to adduce additional evidence, and it is shown to the satisfaction of the court that such additional evidence may materially affect the result of the proceeding and that there were reasonable grounds for failure to adduce such evidence in the proceeding before the Administrator, the court may order such additional evidence to be taken before the Administrator and to be adduced upon the hearing in such manner and upon such terms and conditions as to the court may seem proper The Administrator may modify his findings by reason of the additional evidence so taken, and shall file with the court such modified or new findings which if supported by substantial evidence shall be conclusive, and shall also file his recommendation, if any, for the modification or setting aside of the original order The judgment and decree of the court shall be final, subject to review by the Supreme Court of the United States upon certiorari or certification as provided in sections 239 and 240 of the Judicial Code, as amended (U. S C., title 28, secs. 346 and 347)

(b) The commencement of proceedings under subsection (a) shall not, unless specifically ordered by the court, operate as a stay of the Administrator's order The court shall not grant any stay of the order unless the person complaining of such order shall file in court an undertaking with a surety or sureties satisfactory to the court for the payment to the employees affected by the order, in the event such order is affirmed, of the amount by which the compensation such employees are entitled to receive under the order exceeds the compensation they actually receive while such stay is in effect.

INVESTIGATIONS, INSPECTIONS, AND RECORDS

SEC. 11 (a) The Administrator or his designated representatives may investigate and gather data regarding the wages, hours, and other conditions and practices of employment in any industry subject to this Act, and may enter and inspect such places and such records (and make such transcriptions thereof), question such employees, and investigate such facts, conditions, practices, or matters as he may deem necessary or appropriate to determine whether any person has violated any provision of this Act, or which may aid in the enforcement of the provisions of this Act. Except as provided in section 12 and in subsection (b) of this section, the Administrator shall utilize the bureaus and divisions of the Department of Labor for all the investigations and inspections necessary under this section. Except as provided in section 12, the Administrator shall bring all actions under section 17 to restrain violations of this Act

(b) With the consent and cooperation of State agencies charged with the administration of State labor laws, the Administrator and the Chief of the Children's Bureau may, for the purpose of carrying out their respective functions and duties under this Act, utilize the services of State and local agencies and their employees and, notwithstanding any other provision of law, may reimburse such State and local agencies and their employees for services rendered for such purposes

(c) Every employer subject to any provision of this Act or of any order issued under this Act shall make, keep, and preserve such records of the persons employed by him and of the wages, hours, and other conditions and practices of employment maintained by him, and shall preserve such records for such periods of time, and shall make such reports therefrom to the Administrator as he shall prescribe by regulation or order as necessary or appropriate for the enforcement of the provisions of this Act or the regulations or orders thereunder.

CHILD LABOR PROVISIONS

SEC 12. (a) After the expiration of one hundred and twenty days from the date of enactment of this Act, no producer, manufacturer, or dealer shall ship or deliver for shipment in commerce any goods produced in an establishment situated in the United States in or about which within thirty days prior to the removal of such goods therefrom any oppressive child labor has been employed *Provided*, That a prosecution and conviction of a defendant for the shipment or delivery for shipment of any goods under the conditions herein prohibited shall be a bar to any further prosecution against the same defendant for shipments or deliveries for shipment of any such goods before the beginning of said prosecution.

(b) The Chief of the Children's Bureau in the Department of Labor, or any of his authorized representatives, shall make all investigations and inspections under section 11 (a) with respect to the employment of minors, and, subject to the direction and control of the Attorney General, shall bring all actions under section 17 to enjoin any act or practice which is unlawful by reason of the existence of oppressive child labor, and shall administer all other provisions of this Act relating to oppressive child labor.

EXEMPTIONS

SEC 13. (a) The provisions of sections 6 and 7 shall not apply with respect to (1) any employee employed in a bona fide executive, administrative, professional, or local retailing capacity, or in the capacity of outside salesman

(as such terms are defined and delimited by regulations of the Administrator), or (2) any employee engaged in any retail or service establishment the greater part of whose selling or servicing is in intrastate commerce; or (3) any employee employed as a seaman; or (4) any employee of a carrier by air subject to the provisions of title II of the Railway Labor Act, or (5) any employee employed in the catching, taking, harvesting, cultivating, or farming of any kind of fish, shellfish, crustacea, sponges, seaweeds, or other aquatic forms of animal and vegetable life, including the going to and returning from work and including employment in the loading, unloading, or packing of such products for shipment or in propagating, processing, marketing, freezing, canning, curing, storing, or distributing the above products or byproducts thereof, or (6) any employee employed in agriculture; or (7) any employee to the extent that such employee is exempted by regulations or orders of the Administrator issued under section 14, or (8) any employee employed in connection with the publication of any weekly or semiweekly newspaper with a circulation of less than three thousand the major part of which circulation is within the county where printed and published, or (9) any employee of a street, suburban, or interurban electric railway, or local trolley or motor bus carrier, not included in other exemptions contained in this section, or (10) to any individual employed within the area of production (as defined by the Administrator), engaged in handling, packing, storing, ginning, compressing, pasteurizing, drying, preparing in their raw or natural state, or canning of agricultural or horticultural commodities for market, or in making cheese or butter or other dairy products, or (11) any switchboard operator employed in a public telephone exchange which has less than five hundred stations [1]

(b) The provisions of section 7 shall not apply with respect to (1) any employee with respect to whom the Interstate Commerce Commission has power to establish qualifications and maximum hours of service pursuant to the provisions of section 204 of the Motor Carrier Act, 1935, or (2) any employee of an employer subject to the provisions of Part I of the Interstate Commerce Act

(c) The provisions of section 12 relating to child labor shall not apply with respect to any employee employed in agriculture while not legally required to attend school, or to any child employed as an actor in motion pictures or theatrical productions.

LEARNERS, APPRENTICES, AND HANDICAPPED WORKERS

SEC. 14 The Administrator, to the extent necessary in order to prevent curtailment of opportunities for employment, shall by regulations or by orders provide for (1) the employment of learners, of apprentices, and of messengers employed exclusively in delivering letters and messages, under special certificates issued pursuant to regulations of the Administrator, at such wages lower than the minimum wage applicable under section 6 and subject to such limitations as to time, number, proportion, and length of service as the Administrator shall prescribe, and (2) the employment of individuals whose earning capacity is impaired by age or physical or mental deficiency or injury, under special certificates issued by the Administrator, at such wages lower than the minimum wage applicable under section 6 and for such period as shall be fixed in such certificates.

---

[1] Amendment provided by Act of August 9, 1939 (Public No. 344, 76th Congress. 53 Stat. 1266).

PROHIBITED ACTS

SEC. 15. (a) After the expiration of one hundred and twenty days from the date of enactment of this Act, it shall be unlawful for any person—

(1) to transport, offer for transportation, ship, deliver, or sell in commerce, or to ship, deliver, or sell with knowledge that shipment or delivery or sale thereof in commerce is intended, any goods in the production of which any employee was employed in violation of section 6 or section 7, or in violation of any regulation or order of the Administrator issued under section 14, except that no provision of this Act shall impose any liability upon any common carrier for the transportation in commerce in the regular course of its business of any goods not produced by such common carrier, and no provision of this Act shall excuse any common carrier from its obligation to accept any goods for transportation,

(2) to violate any of the provisions of section 6 or section 7, or any of the provisions of any regulation or order of the Administrator issued under section 14,

(3) to discharge or in any other manner discriminate against any employee because such employee has filed any complaint or instituted or caused to be instituted any proceeding under or related to this Act, or has testified or is about to testify in any such proceeding, or has served or is about to serve on an industry committee

(4) to violate any of the provisions of section 12;

(5) to violate any of the provisions of section 11 (c), or to make any statement, report, or record filed or kept pursuant to the provisions of such section or of any regulation or order thereunder, knowing such statement, report, or record to be false in a material respect.

(b) For the purposes of subsection (a) (1) proof that any employee was employed in any place of employment where goods shipped or sold in commerce were produced, within ninety days prior to the removal of the goods from such place of employment, shall be prima facie evidence that such employee was engaged in the production of such goods.

PENALTIES

SEC 16. (a) Any person who willfully violates any of the provisions of section 15 shall upon conviction thereof be subject to a fine of not more than $10,000, or to imprisonment for not more than six months, or both. No person shall be imprisoned under this subsection except for an offense committed after the conviction of such person for a prior offense under this subsection.

(b) Any employer who violates the provisions of section 6 or section 7 of this Act shall be liable to the employee or employees affected in the amount of their unpaid minimum wages, or their unpaid overtime compensation, as the case may be, and in an additional equal amount as liquidated damages Action to recover such liability may be maintained in any court of competent jurisdiction by any one or more employees for and in behalf of himself or themselves and other employees similarly situated, or such employee or employees may designate an agent or representative to maintain such action for and in behalf of all employees similarly situated The court in such action shall, in addition to any judgment awarded to the plaintiff or plaintiffs, allow a reasonable attorney's fee to be paid by the defendant, and costs of the action

INJUNCTION PROCEEDINGS

SEC. 17 The district courts of the United States and the United States courts of the Territories and possessions shall have jurisdiction, for cause shown, and

subject to the provisions of section 20 (relating to notice to opposite party) of the Act entitled "An Act to supplement existing laws against unlawful restraints and monopolies, and for other purposes", approved October 15, 1914, as amended (U S. C., 1934 edition, title 28, sec. 381), to restrain violations of section 15.

RELATION TO OTHER LAWS

SEC. 18. No provision of this Act or of any order thereunder shall excuse noncompliance with any Federal or State law or municipal ordinance establishing a minimum wage higher than the minimum wage established under this Act or a maximum workweek lower than the maximum workweek established under this Act, and no provision of this Act relating to the employment of child labor shall justify noncompliance with any Federal or State law or municipal ordinance establishing a higher standard than the standard established under this Act No provision of this Act shall justify any employer in reducing a wage paid by him which is in excess of the applicable minimum wage under this Act, or justify any employer in increasing hours of employment maintained by him which are shorter than the maximum hours applicable under this Act.

SEPARABILITY OF PROVISIONS

SEC 19. If any provision of this Act or the application of such provision to any person or circumstance is held invalid, the remainder of the Act and the application of such provision to other persons or circumstances shall not be affected thereby

Approved, June 25, 1938.

[PUBLIC—No 344—76TH CONGRESS]

[CHAPTER 605—1ST SESSION]

[S 1234]

AN ACT

To amend section 13 (a) of the Act approved June 25, 1938 (52 Stat. 1069), entitled "Fair Labor Standards Act of 1938"

*Be it enacted by the Senate and House of Representatives of the United States of America in Congress assembled,* That section 13 (a) of the Act approved June 25, 1938 (52 Stat 1069), entitled the "Fair Labor Standards Act of 1938", be, and the same is hereby, amended by adding a new subsection 11 as follows "or (11) any switchboard operator employed in a public telephone exchange which has less than five hundred stations"

Approved, August 9, 1939.

[PUBLIC LAW 283—77TH CONGRESS]

[CHAPTER 461—1ST SESSION]

[S. 1713]

AN ACT

To amend Public Law Numbered 718, Seventy-fifth Congress, approved June 25, 1938

*Be it enacted by the Senate and House of Representatives of the United States of America in Congress assembled,* That paragraph (2) of subsection (b) of section 7 of Public Law Numbered 718, Seventy-fifth Congress, approved June 25, 1938, is hereby amended to read as follows

"(2) on an annual basis in pursuance of an agreement with his employer, made as a result of collective bargaining by representatives of employees certified as bona fide by the National Labor Relations Board, which provides that the employee shall not be employed more than two thousand and eighty hours during any period of fifty-two consecutive weeks, or".

Approved, October 29, 1941.

(Extract from)

[PUBLIC RESOLUTION—NO 88—76TH CONGRESS]

[CHAPTER 432—3D SESSION]

[H. J. Res 544]

JOINT RESOLUTION

Making appropriations for work relief and relief, for the fiscal year ending June 30, 1941.

(c) That section 5 of the Fair Labor Standards Act of 1938 is amended by adding at the end thereof the following

"(e) No industry committee appointed under subsection (a) of this section shall have any power to recommend the minimum rate or rates of wages to be paid under section 6 to any employees in Puerto Rico or in the Virgin Islands. Notwithstanding any other provisions of this Act, the Administrator may appoint a special industry committee to recommend the minimum rate or rates of wages to be paid under section 6 to all employees in Puerto Rico or the Virgin Islands, or in Puerto Rico and the Virgin Islands, engaged in commerce or in the production of goods for commerce, or the Administrator may appoint separate industry committees to recommend the minimum rate or rates of wages to be paid under section 6 to employees therein engaged in commerce or in the production of goods for commerce in particular industries An industry committee appointed under this subsection shall be composed of residents of such island or islands where the employees with respect to whom such committee was appointed are employed and residents of the United States outside of Puerto Rico and the Virgin Islands In determining the minimum rate or rates of wages to be paid, and in determining classifications, such industry committees and the Administrator shall be subject to the pro-

visions of section 8 and no such committee shall recommend, nor shall the Administrator approve, a minimum wage rate which will give any industry in Puerto Rico or in the Virgin Islands a competitive advantage over any industry in the United States outside of Puerto Rico and the Virgin Islands"

(d) No wage orders issued by the Administrator pursuant to the recommendations of an industry committee made prior to the enactment of this joint resolution pursuant to section 8 of the Fair Labor Standards Act of 1938 shall after such enactment be applicable with respect to any employees engaged in commerce or in the production of goods for commerce in Puerto Rico or the Virgin Islands

(e) Section 6 of the Fair Labor Standards Act of 1938 is amended by adding at the end thereof the following

"(c) The provisions of paragraphs (1), (2), and (3) of subsection (a) of this section shall be superseded in the case of any employee in Puerto Rico or the Virgin Islands engaged in commerce or in the production of goods for commerce only for so long as and insofar as such employee is covered by a wage order issued by the Administrator pursuant to the recommendations of a special industry committee appointed pursuant to section 5 (e) "

(f) Section 6 (a) of the Fair Labor Standards Act of 1938 is amended by adding at the end thereof the following

"(5) if such employee is a home worker in Puerto Rico or the Virgin Islands, not less than the minimum piece rate prescribed by regulation or order, or, if no such minimum piece rate is in effect, any piece rate adopted by such employer which shall yield, to the proportion or class of employees prescribed by regulation or order, not less than the applicable minimum hourly wage rate Such minimum piece rates or employer piece rates shall be commensurate with, and shall be paid in lieu of, the minimum hourly wage rate applicable under the provisions of this section The Administrator, or his authorized representative, shall have power to make such regulations or orders as are necessary or appropriate to carry out any of the provisions of this paragraph, including the power without limiting the generality of the foregoing, to define any operation or occupation which is performed by such home work employees in Puerto Rico or the Virgin Islands, to establish minimum piece rates for any operation or occupation so defined, to prescribe the method and procedure for ascertaining and promulgating minimum piece rates, to prescribe standards for employer piece rates, including the proportion or class of employees who shall receive not less than the minimum hourly wage rate, to define the term 'home worker'; and to prescribe the conditions under which employers, agents, contractors, and subcontractors shall cause goods to be produced by home workers"

Approved, June 26, 1940

[PUBLIC LAW 49—80TH CONGRESS]

[CHAPTER 52—1ST SESSION]

[H R 2157]

## AN ACT

To relieve employers from certain liabilities and punishments under the Fair Labor Standards Act of 1938, as amended, the Walsh-Healey Act, and the Bacon-Davis Act, and for other purposes.

*Be it enacted by the Senate and House of Representatives of the United States of America in Congress assembled,*

PART I

FINDINGS AND POLICY

SECTION 1. (a) The Congress hereby finds that the Fair Labor Standards Act of 1938, as amended, has been interpreted judicially in disregard of long-established customs, practices, and contracts between employers and employees, thereby creating wholly unexpected liabilities, immense in amount and retroactive in operation, upon employers with the results that, if said Act as so interpreted or claims arising under such interpretations were permitted to stand, (1) the payment of such liabilities would bring about financial ruin of many employers and seriously impair the capital resources of many others, thereby resulting in the reduction of industrial operations, halting of expansion and development, curtailing employment, and the earning power of employees, (2) the credit of many employers would be seriously impaired, (3) there would be created both an extended and continuous uncertainty on the part of industry, both employer and employee, as to the financial condition of productive establishments and a gross inequality of competitive conditions between employers and between industries; (4) employees would receive windfall payments, including liquidated damages, of sums for activities performed by them without any expectation of reward beyond that included in their agreed rates of pay, (5) there would occur the promotion of increasing demands for payment to employees for engaging in activities no compensation for which had been contemplated by either the employer or employee at the time they were engaged in, (6) voluntary collective bargaining would be interfered with and industrial disputes between employees and employers and between employees and employees would be created, (7) the courts of the country would be burdened with excessive and needless litigation and champertous practices would be encouraged, (8) the Public Treasury would be deprived of large sums of revenues and public finances would be seriously deranged by claims against the Public Treasury for refunds of taxes already paid, (9) the cost to the Government of goods and services heretofore and hereafter purchased by its various departments and agencies would be unreasonably increased and the Public Treasury would be seriously affected by consequent increased cost of war contracts, and (10) serious and adverse effects upon the revenues of Federal, State, and local governments would occur.

The Congress further finds that all of the foregoing constitutes a substantial burden on commerce and a substantial obstruction to the free flow of goods in commerce

The Congress, therefore, further finds and declares that it is in the national public interest and for the general welfare, essential to national defense, and necessary to aid, protect, and foster commerce, that this Act be enacted

The Congress further finds that the varying and extended periods of time for which, under the laws of the several States, potential retroactive liability may be imposed upon employers, have given and will give rise to great difficulties in the sound and orderly conduct of business and industry.

The Congress further finds and declares that all of the results which have arisen or may arise under the Fair Labor Standards Act of 1938, as amended, as aforesaid, may (except as to liability for liquidated damages) arise with respect to the Walsh-Healey and Bacon-Davis Acts and that it is, therefore, in

the national public interest and for the general welfare, essential to national defense, and necessary to aid, protect, and foster commerce, that this Act shall apply to the Walsh-Healey Act and the Bacon-Davis Act.

(b) It is hereby declared to be the policy of the Congress in order to meet the existing emergency and to correct existing evils (1) to relieve and protect interstate commerce from practices which burden and obstruct it, (2) to protect the right of collective bargaining, and (3) to define and limit the jurisdiction of the courts.

PART II

EXISTING CLAIMS

SEC 2 RELIEF FROM CERTAIN EXISTING CLAIMS UNDER THE FAIR LABOR STANDARDS ACT OF 1938, AS AMENDED, THE WALSH-HEALEY ACT, AND THE BACON-DAVIS ACT.—

(a) No employer shall be subject to any liability or punishment under the Fair Labor Standards Act of 1938, as amended, the Walsh-Healey Act, or the Bacon-Davis Act (in any action or proceeding commenced prior to or on or after the date of the enactment of this Act), on account of the failure of such employer to pay an employee minimum wages, or to pay an employee overtime compensation, for or on account of any activity of an employee engaged in prior to the date of the enactment of this Act, except an activity which was compensable by either—

(1) an express provision of a written or nonwritten contract in effect, at the time of such activity, between such employee, his agent, or collective-bargaining representative and his employer, or

(2) a custom or practice in effect, at the time of such activity, at the establishment or other place where such employee was employed, covering such activity, not inconsistent with a written or nonwritten contract, in effect at the time of such activity, between such employee, his agent, or collective-bargaining representative and his employer

(b) For the purposes of subsection (a), an activity shall be considered as compensable under such contract provision or such custom or practice only when it was engaged in during the portion of the day with respect to which it was so made compensable.

(c) In the application of the minimum wage and overtime compensation provisions of the Fair Labor Standards Act of 1938, as amended, of the Walsh-Healey Act, or of the Bacon-Davis Act, in determining the time for which an employer employed an employee there shall be counted all that time, but only that time, during which the employee engaged in activities which were compensable within the meaning of subsections (a) and (b) of this section

(d) No court of the United States, of any State, Territory, or possession of the United States, or of the District of Columbia, shall have jurisdiction of any action or proceeding, whether instituted prior to or on or after the date of the enactment of this Act, to enforce liability or impose punishment for or on account of the failure of the employer to pay minimum wages or overtime compensation under the Fair Labor Standards Act of 1938, as amended, under the Walsh-Healey Act, or under the Bacon-Davis Act, to the extent that such action or proceeding seeks to enforce any liability or impose any punishment with respect to an activity which was not compensable under subsections (a) and (b) of this section

(e) No cause of action based on unpaid minimum wages, unpaid overtime compensation, or liquidated damages, under the Fair Labor Standards Act of

1938, as amended, the Walsh-Healey Act, or the Bacon-Davis Act, which accrued prior to the date of the enactment of this Act, or any interest in such cause of action, shall hereafter be assignable, in whole or in part, to the extent that such cause of action is based on an activity which was not compensable within the meaning of subsections (a) and (b).

SEC. 3. COMPROMISE OF CERTAIN EXISTING CLAIMS UNDER THE FAIR LABOR STANDARDS ACT OF 1938, AS AMENDED, THE WALSH-HEALEY ACT, AND THE BACON-DAVIS ACT —

(a) Any cause of action under the Fair Labor Standards Act of 1938, as amended, the Walsh-Healey Act, or the Bacon-Davis Act, which accrued prior to the date of the enactment of this Act, or any action (whether instituted prior to or on or after the date of the enactment of this Act) to enforce such a cause of action, may hereafter be compromised in whole or in part, if there exists a bona fide dispute as to the amount payable by the employer to his employee, except that no such action or cause of action may be so compromised to the extent that such compromise is based on an hourly wage rate less than the minimum required under such Act, or on a payment for overtime at a rate less than one and one-half times such minimum hourly wage rate.

(b) Any employee may hereafter waive his right under the Fair Labor Standards Act of 1938, as amended, to liquidated damages, in whole or in part, with respect to activities engaged in prior to the date of the enactment of this Act

(c) Any such compromise or waiver, in the absence of fraud or duress, shall, according to the terms thereof, be a complete satisfaction of such cause of action and a complete bar to any action based on such cause of action.

(d) The provisions of this section shall also be applicable to any compromise or waiver heretofore so made or given

(e) As used in this section, the term "compromise" includes "adjustment", "settlement", and "release".

## PART III

### FUTURE CLAIMS

SEC 4. RELIEF FROM CERTAIN FUTURE CLAIMS UNDER THE FAIR LABOR STANDARDS ACT OF 1938, AS AMENDED, THE WALSH-HEALEY ACT, AND THE BACON-DAVIS ACT —

(a) Except as provided in subsection (b), no employer shall be subject to any liability or punishment under the Fair Labor Standards Act of 1938, as amended, the Walsh-Healey Act, or the Bacon-Davis Act, on account of the failure of such employer to pay an employee minimum wages, or to pay an employee overtime compensation, for or on account of any of the following activities of such employee engaged in on or after the date of the enactment of this Act—

(1) walking, riding, or traveling to and from the actual place of performance of the principal activity or activities which such employee is employed to perform, and

(2) activities which are preliminary to or postliminary to said principal activity or activities,

which occur either prior to the time on any particular workday at which such employee commences, or subsequent to the time on any particular workday at which he ceases, such principal activity or activities

(b) Notwithstanding the provisions of subsection (a) which relieve an employer from liability and punishment with respect to an activity, the employer shall not be so relieved if such activity is compensable by either—

(1) an express provision of a written or nonwritten contract in effect, at the time of such activity, between such employee, his agent, or collective-bargaining representative and his employer, or

(2) a custom or practice in effect, at the time of such activity, at the establishment or other place where such employee is employed, covering such activity, not inconsistent with a written or nonwritten contract, in effect at the time of such activity, between such employee, his agent, or collective-bargaining representative and his employer

(c) For the purposes of subsection (b), an activity shall be considered as compensable under such contract provision or such custom or practice only when it is engaged in during the portion of the day with respect to which it is so made compensable.

(d) In the application of the minimum wage and overtime compensation provisions of the Fair Labor Standards Act of 1938, as amended, of the Walsh-Healey Act, or of the Bacon-Davis Act, in determining the time for which an employer employs an employee with respect to walking, riding, traveling, or other preliminary or postliminary activities described in subsection (a) of this section, there shall be counted all that time, but only that time, during which the employee engages in any such activity which is compensable within the meaning of subsections (b) and (c) of this section.

## Part IV

### MISCELLANEOUS

Sec 5. Representative Actions Banned —

(a) The second sentence of section 16 (b) of the Fair Labor Standards Act of 1938, as amended, is amended to read as follows "Action to recover such liability may be maintained in any court of competent jurisdiction by any one or more employees for and in behalf of himself or themselves and other employees similarly situated No employee shall be a party plaintiff to any such action unless he gives his consent in writing to become such a party and such consent is filed in the court in which such action is brought"

(b) The amendment made by subsection (a) of this section shall be applicable only with respect to actions commenced under the Fair Labor Standards Act of 1938, as amended, on or after the date of the enactment of this Act.

Sec 6 Statute of Limitations —Any action commenced on or after the date of the enactment of this Act to enforce any cause of action for unpaid minimum wages, unpaid overtime compensation, or liquidated damages, under the Fair Labor Standards Act of 1938, as amended, the Walsh-Healey Act, or the Bacon-Davis Act—

(a) if the cause of action accrues on or after the date of the enactment of this Act—may be commenced within two years after the cause of action accrued, and every such action shall be forever barred unless commenced within two years after the cause of action accrued,

(b) if the cause of action accrued prior to the date of the enactment of this Act—may be commenced within whichever of the following periods is the shorter (1) two years after the cause of action accrued, or (2) the period prescribed by the applicable State statute of limitations, and, except as provided in paragraph (c), every such action shall be forever barred unless commenced within the shorter of such two periods;

(c) if the cause of action accrued prior to the date of the enactment of this Act, the action shall not be barred by paragraph (b) if it is commenced within one hundred and twenty days after the date of the enactment of this Act unless

at the time commenced it is barred by an applicable State statute of limitations.

SEC 7 DETERMINATION OF COMMENCEMENT OF FUTURE ACTIONS.—In determining when an action is commenced for the purposes of section 6, an action commenced on or after the date of the enactment of this Act under the Fair Labor Standards Act of 1938, as amended, the Walsh-Healey Act, or the Bacon-Davis Act, shall be considered to be commenced on the date when the complaint is filed, except that in the case of a collective or class action instituted under the Fair Labor Standards Act of 1938, as amended, or the Bacon-Davis Act, it shall be considered to be commenced in the case of any individual claimant.—

(a) on the date when the complaint is filed, if he is specifically named as a party plaintiff in the complaint and his written consent to become a party plaintiff is filed on such date in the court in which the action is brought, or

(b) if such written consent was not so filed or if his name did not so appear —on the subsequent date on which such written consent is filed in the court in which the action was commenced.

SEC. 8. PENDING COLLECTIVE AND REPRESENTATIVE ACTIONS.—The statute of limitations prescribed in section 6 (b) shall also be applicable (in the case of a collective or representative action commenced prior to the date of the enactment of this Act under the Fair Labor Standards Act of 1938, as amended) to an individual claimant who has not been specifically named as a party plaintiff to the action prior to the expiration of one hundred and twenty days after the date of the enactment of this Act In the application of such statute of limitations such action shall be considered to have been commenced as to him when, and only when, his written consent to become a party plaintiff to the action is filed in the court in which the action was brought

SEC 9. RELIANCE ON PAST ADMINISTRATIVE RULINGS, ETC.—In any action or proceeding commenced prior to or on or after the date of the enactment of this Act based on any act or omission prior to the date of the enactment of this Act, no employer shall be subject to any liability or punishment for or on account of the failure of the employer to pay minimum wages or overtime compensation under the Fair Labor Standards Act of 1938, as amended, the Walsh-Healey Act, or the Bacon-Davis Act, if he pleads and proves that the act or omission complained of was in good faith in conformity with and in reliance on any administrative regulation, order, ruling, approval, or interpretation, of any agency of the United States, or any administrative practice or enforcement policy of any such agency with respect to the class of employers to which he belonged. Such a defense, if established, shall be a bar to the action or proceeding, notwithstanding that after such act or omission, such administrative regulation, order, ruling, approval, interpretation, practice, or enforcement policy is modified or rescinded or is determined by judicial authority to be invalid or of no legal effect.

SEC 10 RELIANCE IN FUTURE ON ADMINISTRATIVE RULINGS, ETC.—

(a) In any action or proceeding based on any act or omission on or after the date of the enactment of this Act, no employer shall be subject to any liability or punishment for or on account of the failure of the employer to pay minimum wages or overtime compensation under the Fair Labor Standards Act of 1938, as amended, the Walsh-Healey Act, or the Bacon-Davis Act, if he pleads and proves that the act or omission complained of was in good faith in conformity with and in reliance on any written administrative regulation, order, ruling, approval, or interpretation, of the agency of the United States specified in subsection (b) of this section, or any administrative practice or enforcement policy of such agency with respect to the class of employers to which he belonged.

Such a defense, if established, shall be a bar to the action or proceeding, notwithstanding that after such act or omission, such administrative regulation, order, ruling, approval, interpretation, practice, or enforcement policy is modified or rescinded or is determined by judicial authority to be invalid or of no legal effect.

(b) The agency referred to in subsection (a) shall be—

(1) in the case of the Fair Labor Standards Act of 1938, as amended—the Administrator of the Wage and Hour Division of the Department of Labor,

(2) in the case of the Walsh-Healey Act—the Secretary of Labor, or any Federal officer utilized by him in the administration of such Act, and

(3) in the case of the Bacon-Davis Act—the Secretary of Labor

SEC. 11 LIQUIDATED DAMAGES —In any action commenced prior to or on or after the date of the enactment of this Act to recover unpaid minimum wages, unpaid overtime compensation, or liquidated damages, under the Fair Labor Standards Act of 1938, as amended, if the employer shows to the satisfaction of the court that the act or omission giving rise to such action was in good faith and that he had reasonable grounds for believing that his act or omission was not a violation of the Fair Labor Standards Act of 1938, as amended, the court may, in its sound discretion, award no liquidated damages or award any amount thereof not to exceed the amount specified in section 16 (b) of such Act

SEC. 12 APPLICABILITY OF "AREA OF PRODUCTION" REGULATIONS —No employer shall be subject to any liability or punishment under the Fair Labor Standards Act of 1938, as amended, on account of the failure of such employer to pay an employee minimum wages, or to pay an employee overtime compensation, for or on account of an activity engaged in by such employee prior to December 26, 1946, if such employer—

(1) was not so subject by reason of the definition of an "area of production", by a regulation of the Administrator of the Wage and Hour Division of the Department of Labor, which regulation was applicable at the time of performance of the activity even though at that time the regulation was invalid, or

(2) would not have been so subject if the regulation signed on December 18, 1946 (Federal Register, Vol. 11, p. 14648) had been in force on and after October 24, 1938.

SEC 13 DEFINITIONS.—

(a) When the terms "employer", "employee", and "wage" are used in this Act in relation to the Fair Labor Standards Act of 1938, as amended, they shall have the same meaning as when used in such Act of 1938

(b) When the term "employer" is used in this Act in relation to the Walsh-Healey Act or Bacon-Davis Act it shall mean the contractor or subcontractor covered by such Act

(c) When the term "employee" is used in this Act in relation to the Walsh-Healey Act or the Bacon-Davis Act it shall mean any individual employed by the contractor or subcontractor covered by such Act in the performance of his contract or subcontract.

(d) The term "Walsh-Healey Act" means the Act entitled "An Act to provide conditions for the purchase of supplies and the making of contracts by the United States, and for other purposes", approved June 30, 1936 (49 Stat 2036), as amended; and the term "Bacon-Davis Act" means the Act entitled "An Act to amend the Act approved March 3, 1931, relating to the rate of wages for laborers and mechanics employed by contractors and subcontractors on public buildings", approved August 30, 1935 (49 Stat 1011), as amended.

(e) As used in section 6 the term "State" means any State of the United

States or the District of Columbia or any Territory or possession of the United States.

Sec 14. Separability —If any provision of this Act or the application of such provision to any person or circumstance is held invalid, the remainder of this Act and the application of such provision to other persons or circumstances shall not be affected thereby.

Sec 15. Short Title —This Act may be cited as the "Portal-to-Portal Act of 1947".

Approved May 14, 1947.

# INDEX

## S

Y